

प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
अध्यक्ष, सस्कृत-भुष्मकालय
प्रेक्षणालय-१ अनंतारी रोड,
नगा दरियागंज, दिल्ली-६

पुनर्मुद्रणादि सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकायत्ताः

इस पुस्तक के छापने, बेचने तथा कापीराइट के सर्वाधिकार एवं 'मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास' के आधीन हैं। अनुबादक डाक्टर भास्कर गोविंद घारीकर अथवा चौम्ब्वा सस्कृत-सीरीज़ आफ्रिम, बनारस वे पास बोई अधिकार नहीं हैं। सूचनायं निवेदन है।

मुद्रा—

गिरनारायण उपाध्याय री० ए० 'विशारद'
नया ससार प्रेस, भद्रनी काशी।



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

 KAPWING

शुश्रुतद्वान्

शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन । उग्राख्याने तु परं कप्र इति मे निश्चिता मतिः ॥
टीकाकारस्थाः तर्थो ह्यतो यास्यामि हास्यताम् । प्रांशुलभ्यं फलं प्राप्सु द्वाहुरिव वामनः ॥
तथापि कृतवागद्वारे कार्येऽस्मिन् पूर्वसूरिमिः । मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

श्रीविश्वनाथजी की असीम कृपा से आयुर्वेदहस्त्रदीपिका के शारीरस्थान का दूसरा भाग पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का परम सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है। सूत्रनिदानस्थानात्मक प्रथम भाग प्रकाशित होने के पश्चात् अनेक आयुर्वेदप्रेमी डाक्टरों, वैद्यों तथा आयुर्वेदिक स्कूल, कालेज और पाठशालाओं के विद्यार्थियों ने मुझे प्रशंसात्मक अनेक चिट्ठियाँ लिखीं और इसको शीघ्र समाप्त करने का अनुरोध किया। कुछ लोगों ने सभी समय पर इस अनुरोध का स्मरण दिलाने का भी कष्ट उठाया। इसके सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का संकल्प प्रारंभ से ही मैंने कर रखा था। परन्तु जिस ढंग से ग्रंथ लिखने का काम मैंने प्राप्तुत किया, वह ढंग तार पर चलने के काम के समान कठिन होने के कारण तथा कुछ अवर्दितघटनाजनित मानसिक औदासीन्य के कारण ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का मेरा संकल्प दिन प्रतिदिन दूर होता जा रहा। तो भी शारीरस्थान, जो सुश्रुतसंहिता का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, तथा जो अपनी हुर्वेधता के कारण विद्यार्थियों के सामने सदा के लिए एक मतिकुण्ठनस्थान या उलझनस्थान बना रहा और प्रथम भाग प्रकाशित होने के समय से विद्यार्थीं जिसको पाने के लिए बहुत ही उत्कंठित रहे, समाप्त करके मैंने अपना तथा विद्यार्थियों का बहुत कुछ काम समाप्त कर लिया है।

इस भाग में भी प्रथम भाग की भाँति मूल, अनुवाद और वक्तव्य का ढंग रखा गया है। परन्तु विषय अत्यंत गहन होने के कारण वक्तव्य अधिक विस्तृत और संस्कृत तथा अङ्गेजी ग्रंथों के उद्वरण अधिक संब्लिंग संविस्तर दिये गये हैं। इसके सिवा अनेक पाठकों से सूचना मिलने के कारण संस्कृत उद्वरणों के अध्यार्यादि का निर्देश किया गया है। इस टीका के लिए जिन अनेक ग्रंथों से सहायता मिली है, उनका निर्देश प्रथम भाग में करना मैं भूल गया था। इस भाग में उन ग्रंथों में से मुख्य मुख्य ग्रंथों के नाम कृतज्ञता-पूर्वक दिये गये हैं।

प्राचीन काल में सुश्रुतशारीर शारीरविपयक ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसका प्रमाण निम्न लोकोक्ति में मिलता है—निदाने माधवः श्रेष्ठः, सूत्रस्थाने तु वाभटः। शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः, चरकस्तु चिकित्सिते ॥ इन्हीं की काल में पाद्माल्य शारीरविपयक ग्रंथों के साथ तुलना होने के कारण सुश्रुतशारीर की सारी श्रेष्ठता जांच ही। इसका प्रमाण म० म० कविराज गणनाथ सेन जो के निम्न वचनमें मिलता है—“एव त्र्योऽसौ ‘शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः’ इति प्राचीनप्रवादः; स वृद्धसुश्रुतमधिकृत्य प्रचलितो नेदानीत्वने सुश्रुते भगवत्प्रक्रिमसूयिष्ठे प्रयोक्तव्य इति निशाङ्कं ब्रूमः। इदानोन्तु हन्त ‘शारीरे सुश्रुतो नष्टः’ इत्येव युज्यते विलपितुम् ॥” (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना, चतुर्थपाद)। कविराज जी का यह मत प्रत्यक्षशारीर (Anatomy) लिखते समय प्रकट हुआ है, इस बात को न भूलना चाहिए। प्रत्यक्षशारीर सुश्रुतशारीर का एक अंश है। इसमें प्रत्यक्षशारीर के अतिरिक्त सांख्य, न्याय, वैरोपिक, वेदान्त, अनुवंशिकता (Heredity), सुप्रजाजनन (Eugenics), गर्भवृद्धिविज्ञान (Embryology), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology, Psychogeny), Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE WITH LOVE BY Avinash/S

बीरोग आर प्रसूतितन्त्र (Gynecology and midwifery), कीमारभूत्य (-Paediatrics) इत्यादि गहन विषय सूत्रमध्ये मे गागर मे सागर की भोवि भरे हुए हैं। इसलिए विवाहन जी के उपर्युक्त मत की यथार्थता एक अश के लिए ही सीमित हो जाती है, सम्पूर्ण शारीर के लिए नहीं। मेरी अल्पवृद्धि के अनुसार पाश्चात्य वैज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि से सुश्रुतशारीरात्मगत सम्पूर्ण विषयों की जाँच पढ़ाता करने पर भी उसकी नष्टता की, अपेक्षा श्रेष्ठता का ही परिचय मिलता है। यह मेरा मत फहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय पाठकगण ख्वय मेरे मत को पढ़कर कर सकते हैं।

आयुर्वेदिक मन्थों मे सुश्रुतसहित जैसा सर्वोत्तम है, वे से ही बहुत सरल भी हैं। परन्तु इसके लिए शारीरस्थान अपवाद है। इसमें अनेक गहन विषय थोड़े मे वर्णित होने वे कारण बहुत कठिनता आ गई हैं। परन्तु इस कठिनता मे मुझे पत्थरकोयले के कालपन का नहीं, हीरे की दीमि का अनुभव मिला। इसको मैंने प्रथ्य मे विद्याधियों के लिए सुलभ करने का भरसक प्रयत्न किया है। मैं जानता हूँ कि यह मेरा प्रयत्न टिही के पैर उठाकर आकाश को स्पर्श करने के साहस के समान या पूस की नाव पर चढ़कर महासागर को पार करने वाले नाविक की हिम्मत के समान, या टिहरी के चोंच मे भर भरकर नदी की सूखा बनाने भी महत्वाकान्ना के समान हास्यास्पद है। तो भी जैसा ही सका, यह धाम करके पाठकों के सामने रखा गया है।

यह स्थान परम कठिन होने के कारण इसमे दोषों की कुछ अधिकता होना स्वाभाविक हैं तथा कई विषय विवादास्पद होने के कारण प्राचीन तथा अर्बाचीन आचार्यों के मत के साथ और विरोध प्रकट करना अनिवार्य हो गया है। ये दोष प्रन्थव्यक्ति वे अहान के और विरोध पञ्चपातहीन वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं। तो भी विरोध के लिए मैं उन आचार्यों से ज्ञानाचना करता हूँ और विद्वान् चिकित्सकों और सहदय पाठकों से नम्र निवेदन करता हूँ कि आप लोग हस-चीरन्यायेन दोषों की ओर दृष्टि न देकर गुणों को प्रहण करें और लेखक का साहस चढ़ावें—

सत-हस गहिं पय, परिहरि वारि-विकार ।

काशी निधनियानम्
विजयादर्शमी
संवत् १९१०

}

निवेदक—
भास्कर गोविन्द घाणेकर

॥ श्रीः ॥

शारीरस्थानस्य विषयानुक्रमणिका

पूर्णाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः	पूर्णाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः	पूर्णाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
	प्रथम अध्याय			स्त्रीलोभाः			स्त्रीलोभाः	
१	सर्वभूतचिताशारीरोपक्रम	१	१९-२०	असुखदरलच्छण	२७	६०	पूर्वजन्म और उत्तरजन्म के गुण	
२	अन्यत्स्वरूप	१	२१	असुखदरचिकित्सा	२७	कर्मों का सर्वधं	५६	
३	अन्यत्स्वरूप से चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्तिर		२२	नारीत्व लक्षण और चिकित्सा	२८	तृतीय अध्याय		
४	ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषय	४	२३	चौबीस तत्त्वचिकित्सा	२९	१	गर्भवक्त्रान्तिशारीरोपक्रम	५७
५	प्रहृति और विहृति	५	२४	उत्क्रपकरणोपसंहार	२९	२	शुक्र और आर्तव का सौम्याग्रनेय	५७
६	तत्त्वों का अधिभूतादि भेद से	६	२५-२७	भ्रष्टुमतीचर्या	२९	स्वरूप	५७	
	वैविध्य		२८-२९	पुत्रीय आचार निष्पत्ति	३२	३	मैथुन कर्म तथा शुक्रार्तव संयोग	५७
७	चौबीस तत्त्वोंका अवेतनरूप, पुरुष		३०	प्रत्युमतीसहवासफल	३२	की प्रवित्त्या	५७	
	का चेतनत्व तथा अवेतन प्रहृति		३३	पुसवनविधि	३५	४	आत्मा के पर्याय तथा शुक्रार्तव	५७
	की प्रवृत्ति के हेतु		३४	गर्भोत्पत्ति की सामग्री	३६	संयोग में उसका अवतरण	६२	
८	प्रहृति पुरुष साधर्म्य वैधर्म्य	८	३५	विधियुक्त उत्पत्ति गर्भ के गुण	३९	५	गर्भ में लिंगभेद के हेतु	६६
९	च्युत्त तत्त्वों को त्रिगुणात्मिकता	९	३६	गर्भ के गौर कृष्णादि वर्णोंके		६	भ्रष्टुकाल की मर्यादा	७१
१०	प्रहृति के विषय में ज्ञायुवेद का			उत्पत्ति हेतु	३६	७-८	भ्रष्टुमती के लक्षण	७४
	सिद्धान्त		३७	गर्भ के नैत्रवर्णों के उत्पत्तिहेतु	४०	९	भ्रष्टुकाल के पश्चात् गर्भाशय	
११-१२	पुरुषसंभव द्रव्यसमूह सी		३८	पुरुषसमागम के समय छियों के			की स्थिति	७६
	पचमाभूतोत्पत्ति			आर्तव का विषयपैण	४०	१०	आर्तवस्वरूप और उसके स्वरूप	
१४	आयुवेद में इन्द्रियों का भोतिकर्त्त्व	१३	३९	यमलगभौतिपत्तिहेतु	४२		की युक्ति	७६
१५	इन्द्रियों के विषयग्रहणसंबंधी		४०	आसेक्य पुरुष का लक्षण	४४	११	आर्तवप्रवृत्ति और निघृत्ति काल	७६
	नियम		४१	सौगन्धिक पुरुष का लक्षण	४४	१२	समविषयम दिन और समागम	
१६	पुरुष का परिमाण	१४	४२	कुम्भीक पुरुष का लक्षण	४४		का फल	७७
१७	पुरुष का अनेक योनिगमन और		४३	ईप्टर्क पुरुष का लक्षण	४४	१३	स्योगृहीतगर्भों के लक्षण	७७
	उसके अवतरण की युक्ति		४४	नरपण्ड का लक्षण	४५	१४-१५	व्यक्त्ताभारी स्त्री के लक्षण	७६
१८	शारीर मन के साथ सयोग होने		४५	नारीपण्ड का लक्षण	४५	१६	गर्भिणी के वर्ज्य आहार-विहार	८२
	पर पुरुष के प्रकट होने वाले गुण		४६	संशुक्खंभौत अशुक्ख पण्ड	४५	१७	वर्ज्य आहार विहारादि के	
१९	सादिक्कादि युक्त मन के गुण	१६	४७	क्षीवों में ध्वजोद्धार्य			आसेवन का हेतु	८४
२०	महाभूतों के गुण	१७		की उपपत्ति	४५	१८	प्रथम मास से गर्भ का स्वरूप	८४
२१	त्रिगुणात्मक भूत संगठन	१७	४८	आहाराचार वैष्टा का संतान पर		१९	द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप	८५
२२	पंचोकरण	१८		परिणाम	५०	२०	तृतीय मास में गर्भ का स्वरूप	८६
२३	अध्यायोपसंहार	१८	४९	अनस्थित्य गर्भोत्पत्ति हेतु	५१	२१	चतुर्थ मास में गर्भ का स्वरूप	
	द्वितीय अध्याय		५०-५१	पिण्डुणविरहित गर्भो-			और माता की द्विदृश्यता	८६
३	शुक्रोणितशुद्धिशारीर	१८		त्पत्ति हेतु	५२	२२	दौहृद की उपेक्षा का फल तथा	
४	दृष्ट शुक्र का प्रजोत्पादन में		५२-५३	संपर्वृश्चिकादि तथा कुञ्ज			पूरण का महात्व	८६
	असामर्थ्य			कुणिमूकादि गर्भोत्पत्ति हेतु	५२	२३-२४	दौहृद विशेषता के अनु-	
५	वातादि से दूषित शुक्र के लक्षण	१९	५४	५० गर्भविकृति के सामान्य हेतु	५२	'सार गर्भ स्वभाव विशेषता के		
६	आर्तव के दोष	२०	५५	गर्भावस्था में मलादि के अभाव		उदाहरण	८६	
७-१०	शुक्रोपचिकित्सा			के हेतु	५३	२५	दौहृदोत्पत्ति की उपपत्ति	८८
११	अदुष शुक्र का लक्षण		५६	५६ गर्भोंके न रोने के कारण	५४	२६	पौच्छं भौतिकों के गर्भ का स्वरूप	८६
१२-१६	आर्तवदोषोपचिकित्सा		५७	माता के शास प्रश्नासादि द्वारा गर्भ		२७	छोड़े महीने के गर्भ का स्वरूप	९०
१७	अदुषार्तव लक्षण		५८	की प्राप्ति	५४	२८	सातवें मास में गर्भ का स्वरूप	९०
१८	असुख व्याख्या		५९	५८ शारीरचवाचिशेष में स्वभाव		२९	आठवें महीने में गर्भ का स्वरूप	९०
			६०	का भ्रष्टव	५४		तथा उसकी अस्थिरता	९०
			६१	५९ जातिस्मरता के हेतु	५५	३०	प्रसवकाल की मर्यादा	९१

४० गर्भेषण का मम	६३	४७ दिवास्वम और रात्रिजागरण	१२८	१८ पशु से धानरपत्य काय का
४१ गर्भवृद्धि में प्रथम अंगोत्तरिति के	६५	४८ तेजालडण	१२८	तामसत्त्व; रोगियों में चिकित्सा
मतभावानन्तर	६५	४९ गृहमालडण	१२९	के लिए हन कार्यों की प्रहृष्टि
४२ इसके संघेष में घन्वन्तरिका भवति	६६	५० हमलडण	१२१	जानने की आवश्यकता
४३ गर्भ के मातापितादि से उत्पन्न	—	५१ आलयलडण	१२१	१९ प्रहृष्टियों का उपसहार
होने वाले शरीर के लडण	६६	५२ उत्क्षेत्रलडण	१२६	पञ्चम अध्याय
४४ गर्भ के माता में प्रकट होने	—	५३ ग्लानिलडण	१२०	१ शरीरसंवयाव्याकरणशारीरोप
वालेशी तुनुंसक सूचबलडण	६७	५४ गीरवलडण	१२०	कम्प
४५ मातापिता के देवता माल्हण पर	६८	५५ मूर्छाई, अम, तन्द्रा और निद्रा	१२०	२ गर्भ और शरीर व्यायाम
त्वादि का सन्तान पर परिणाम	६८	की सप्राप्ति	१२०	३ प्रत्यक्षविभागकथन
४६ धैर्य प्रत्यगानिष्ठिति में पूर्वजन्म	—	५६ गर्भवृद्धि के हेतु	११०	४ प्रत्यक्षी की पृथक् पृथक् शणना
के घर्षणाद्यम का महाव	६८	५७-५८ गर्भवृद्धि की युक्ति	१२०	५ पृथक् पृथक् प्रत्यक्षी की संवेद्या
चतुर्थ अध्याय	—	५९ शरीर बदने पर भी दृष्टि और	—	६ प्रत्यक्षी का सविस्तार कथन
१ गर्भव्याकरणशारीरोपवम	११	रोमकूपों की व्युद्धि	१३१	७ आशायवर्णन
२ शरीर के पकादश प्राण	११	६० शरीर धीण होने पर भी नखों	१३१	८ आन्वरवर्णन
३ सात व्याचारों का निरूपण	११	और केशों की व्युद्धि	१३१	९ शरीर के बहिर्मुख सेतुस्
४ कला सव्या	१०२	६१ प्रकृति का सततविघ्वत्व	१३१	१० कण्डारावर्णन
५-६ कला स्वरूप	१०२	६२ प्रकृति बनने के हेतु	१३१	११ जालवर्णन
७-८ मासधरा कला	१०३	६३-६४ वातप्रकृति के लडण	१३१	१२ कूचार्द्वार्णन
९-१० रक्तधरा कला	१०५	६५-६० पित्तप्रकृति के लडण	१३२	१३ मासरज्जुवर्णन
११-१२ मेदोधरा कला	१०४	६६-६७ कफप्रकृति के लडण	१३२	१४ सेवनीवर्णन
१२-१४ क्षेमधरा कला	१०४	६८-६९ कफप्रकृति के लडण	१३४	१५ संवातवर्णन
१५-१६ मलधरा कला	१०५	७० मिथ्र प्रकृति	१३४	१६ सीमन्तवर्णन
१७-१८ पित्तधरा कला	१०५	७१ जीवितावस्था में प्रहृष्टि की	१३४	१७-१८ अस्थियों की सव्या
१९ शुक धरा कला	१०६	एकता	१३४	१९ शाखाओं की अस्थियाँ
२० शुक का सर्वंशरीरव्यापित्व	१०६	७८ प्रकृति दोपुरुष होने पर	१३४	२० धद की अस्थियाँ
२१ शुक्लरण मार्ग	१०६	भी भयुप्योत्तरिति में उसका	१३४	२१ शिर और ग्रीवा की अस्थियाँ
२२ शुक्लरण की युक्ति	१०६	निर्देशिका	१३५	२२ अस्थियों के प्रकार
२३ गर्भिणी में अनातंत्रं का हेतु	१०९	७३ प्रकृति मत से प्रहृष्टि का	१३५	२३-२५ अस्थियों का कार्य
२४-२० गर्भ के व्युत्तादि धर्मों	—	भौतिकत्व	१३६	२६ संधियों के प्रकार
की उत्पत्ति की कल्पना	११०	८० वस्त्रकाय के लडण	१३६	२७ उनके स्थान
२१ हृदय का स्वरूप	१११	८१ महेन्द्रकाय के लडण	१३६	२८ सर्वांग शरीर की तथा यदार्गों
२२ निद्रा का स्वरूप और प्रकार	११७	८२ वाराणकाय के लडण	१३६	की संधिसंवय
२३-२४ निद्रा का स्थान और हेतु	११९	८३ कौवेरकाय के लडण	१३७	२९ शाखाओं की संधियाँ
२५ स्वरम की उपरित्ति	१२४	८४ गांधर्वकाय के लडण	१३७	३० मध्य शरीर की संधियाँ
२६ इन्द्रियों की विकल्पता के कारण	—	८५ याध्यकाय के लडण	१३७	३१ ग्रीवा के ऊपर की संधियाँ
आमा का प्रसुस सा मालूम होना। १२५	—	८६ जटिलकाय के लडण	१३७	३२ संधिरचना के प्रकार
२७ दिवास्वम के लिए स्वेच्छा काल	—	८७ आमुरुकाय के लडण	१३७	३३ पेशीया युसिरादि संधियों का
और अस्थियों का विरुपण, उसके	—	८८ आमुरुकाय के लडण	१३७	अपरिसंवेद्यत्व
दोष, रात्रिजागरण के दोष	१२५	८९ सर्पकाय के लडण	१३७	३४ आयुसव्याद्या
२८-२९ दिवास्वम और रात्रिजागरण का	—	९० शकुनकाय के लडण	१३७	३५ शाखागत धार्यु
दोष का दोषकरता और उनको	—	९१ राष्ट्रसकाय के लडण	१३७	३६ मध्यशरीरगत धार्यु
टालने से मिठाने वाला फल	१२६	९२ पैशाचकाय के लडण	१३८	३७ उत्तरज्युवगत धार्यु
२० दिवास्वम या रात्रिजागरण का	—	९३ मेतसस्वकाय के लडण	१३८	३८-४० धार्युओं के प्रकार और
सात्प्रीकरण होने पर उनका	—	९४ आमुरु से मेतसस्वकाय का	१३८	उनके स्थान
निर्देशिका	१२७	राजसाय	१३८	४१-४२ धार्युओं का कार्य
२१ निद्रानाश के कारण	१२७	९५ पृष्ठकाय के लडण	१३८	४३ शारीरकार्य में धार्यु का महाव
२२-२४ निद्रानाश की चिकित्सा	१२७	९६ मल्यसाव के लडण	१३८	४४ धार्युविद्यान का महाव
२५ अतिनिद्रा की चिकित्सा	१२८	९७ वानस्पत्य काय के लडण	१३८	४५ पेशीयों की सव्या
			१३८	४६ शास्त्रागत पेशीयों

विषयानुक्रमणिका

४७ कोष्ठगत पेशियाँ	१६०	२६ मर्माधात से पीढ़ा होने की	२२ श्रोणिप्रदेश की अवैध्य सिराएँ	१६८
४८ ग्रीवा और सिर की पेशियाँ	१६०	उपपत्ति	२३ पार्श्वों की अवैध्य सिराएँ	१६८
४९ पेशियों का कार्य	१६१	२७ शल्यहरण में मर्मरक्षा का महसू	२४ पृष्ठ की अवैध्य सिराएँ	१६८
५० छियों की अधिक पेशियाँ	१६२	२८ अवशिष्ट मर्मों का व्याख्यान	२५ उदर की अवैध्य सिराएँ	१६८
५१ योनिगर्भाशय की पेशियाँ	१६२	२९ मर्माधात के भिन्न भिन्न परिणाम	२६ छाती की अवैध्य सिराएँ	१६८
५२ पेशियों का स्वरूप और	१६३	३० मर्मों का धातक काल और	२७ ग्रीवा की अवैध्य सिराएँ	१६८
प्रकार		अधातक मर्मों का धातकत्व	२८ हनु की अवैध्य सिराएँ	१६८
५३ पुरुषों की जननेन्द्रिय पेशियों		३१ सक्रियमर्म	२९ जिहा की अवैध्य सिराएँ	१६८
का स्त्री में प्रतिनिधि	१६३	३२ वाहुमर्म	३० नासा की अवैध्य सिराएँ	१६९
५४ सिरामर्म स्रोतसों का विवरण	१६४	३३ उदरमर्म	३१ नेत्रों की अवैध्य सिराएँ	१६९
५५-५६ योनि और गर्भाशय का		३४ छाती के मर्म	३२ कान की अवैध्य सिराएँ	१६९
स्वरूप	१६४	३५ पीठ के मर्म	३३ ललाट की अवैध्य सिराएँ	१६९
गर्भाशय में गर्भ की स्थिति	१६५	३६ ग्रीवा के मर्म	३४ शाल्यप्रदेश की अवैध्य सिराएँ	१६९
शल्यज्ञान की महत्ता	१६७	३७ सिर के मर्म	३५ सिर की अवैध्य सिराएँ	१६९
शल्यशास्त्र में मृतसंशोधन का		३८-३९ मर्मों के परिमाण	३६ नाभि से सिराओं का सर्व	
महसू	१६७	४० प्रमाणकथन का प्रयोजन	शरीर में प्रसार	१६९
१ ज्ञानवर्धन में ग्रंथावलोकन और		४१ शाखामर्मों का गौणत्व		
प्रत्यक्षदर्शन का महसू	१६७	४२ चिप्र और तलहृदय का महसू		
१ मृतशोधन की पद्धति	१६८	४३ चिप्रतलहृदयमर्मवेधचिकित्सा		
२ आत्मा को प्रत्यक्ष करने में		४४ शल्यतन्त्र में मर्मों का महसू		
चर्मचक्र का वैयर्थ्य	१७१	४५ मर्मप्रहार का महसू		
३ वैद्यकग्रंथोंका और प्रत्यक्ष ज्ञान		४६ मर्माधात से मृत्यु होने की		
का महसू	१७२	उपपत्ति		
४ष्टु अध्याय		४७-५१ पंचविध मर्माधात के लक्षण		
१ प्रत्येकमर्मनिंदेश शारीरिकम	१७३	५२ मर्मसमीप आधात के लक्षण		
२ मर्मोंकी संख्या और उनके प्रकार	१७३	५३-५४ मर्माधात में प्रयत्न परा-		
३ प्रत्येक प्रकार की संख्या	१७३	काषा की आवश्यकता	१९१	
४ पदंगों में मर्मों की संख्या	१७३	सप्तम अध्याय		
५ सर्विथरात मर्मों के नाम	१७४	१ सिरावर्णविभक्तिशारीरोपक्रम	१६३	
६ अन्तरिधि के मर्मों के नाम	१७४	२-३ सिरासंख्या, स्वरूप और	१६३	
७ ऊर्ध्वशास्त्र के मर्मोंके नाम	१७४	प्रभवस्त्यात	१९३	
८ जन्त्रधृवर्गत मर्मों के नाम	१७४	४ नाभि, प्राण और सिराओंका	१६३	
९ मार्मसमर्म	१७४	संबंध	१६३	
१० सिरामर्म	१७४	५ मूलसिरा और दोपवह सिराओं	१९५	
११ जायुमर्म	१७४	की संख्या	१९५	
१२ अस्थिमर्म	१७४	६ दोपवह सिराओंकी पृथक् संख्या	१९५	
१३ संधिमर्म	१७४	७ चातवह सिराओं का प्राकृत कार्य	१९६	
१४ धातकतानुसार मर्मों के प्रकार	१७४	८ कुपित चातवह सिराओं के कर्म	१९६	
१५ सद्यःप्राणहर मर्म	१७४	९ पित्तवह सिराओं के प्राकृत कर्म	१९६	
१६ कालान्तर प्राणहर मर्म	१७५	१० कुपित पित्तवह सिराओं के कर्म	१९६	
१७ विशल्यन मर्म	१७५	११ कफवह सिराओं के प्राकृत कर्म	१९६	
१८-१९ वैकल्यकर मर्म	१७५	१२ कुपित कफवह सिराओं के कर्म	१९६	
२० रुजाकर मर्म	१७५	१३ रक्तवह सिराओं के प्राकृत कर्म	१९६	
२१ चिप्रमर्मों का सद्यःप्राणहरत्व	१७५	१४ कुपित रक्तवह सिराओं के कर्म	१९६	
२२ मर्मों की रचना	१७५	१५-१६ सिराओं का सर्ववहत्व	१९६	
२३ सद्यःप्राणहरत्वादि की उपपत्ति	१७५	१७ चातादिवह सिराओं के लक्षण	१९७	
२४ सद्यःप्राणहरत्वादि की अन्य		१८ अवैध्य सिराविभाग	१९७	
उपपत्ति	१७६	१९ प्रत्यंगसिरापरिगणन	१९७	
२५ मर्मों में चतुर्विध सिराओं की		२० अवैध्य सिरापरिगणन	१९७	
उपस्थिति	१७६	२१ शाखागत अवैध्य सिराएँ	१९८	
	१७८			

२४ रक्तविशावण में कुदू दोष	१७ मांसवद्ध स्रोतस्	३२३	३१ अपरिस्कृत स्तन्यसेवन के दोष	२१
शोय रखने का प्रयोजन	१८ मेदोवद्ध स्रोतस्	३२४	३२ स्तन्यनाश, हेतु और चिकित्सा	२१
२५ सिरावेध में रक्त निकलने का	१९ मूत्रवद्ध स्रोतस्	३२५	३३ शुद्धस्तन्यपरीक्षा	२०३
प्रमाण	२० पुरीवद्ध स्रोतस्	३२६	३४-३६ स्तन्यदोष, हेतु और	२०३
२६ रोगानुसार शाखाओं की वेध्य	२१ गुरुवद्ध स्रोतस्	३२७	परिणाम	२०४
सिराओं के स्थान	२२ आर्तवद्ध स्रोतस्	३२८	३७-३९ शिशुरोगविज्ञानोपाय	२०५
२७ बाहु की वेध्य सिराओं के स्थान	२३ सेवनवेधकलक्षण	३२९	४० अवस्थामेड से औपचिक्रियान	
२८ रोगानुसार पीठ और बढ़ की	२४ स्रोतोवेध की साध्यासाध्यता	३३०	पद्धति	२०६
वेध्य सिराओं के स्थान	और चिकित्सा	३३०	४१ औपचारिकथन	२०६
२९ रोगानुसार जग्नुवृत्त सिरावेधन	२५ स्रोतस की व्यायाया	३३०	४२ स्तनलेप से शोधप्रियद्रव्य	२०७
के स्थान	दशम अध्याय	३३१	४३ शिशुजन्वर में प्रतप्रयोग	२०७
३० हुट्टवेधन के नाम	१ गर्भिनीवाकरणशारीरोपक्रम	३३०	४४ उबर में स्तनपानविधि	२०७
३१ हुट्टवेध सिराओं का विवरण	२ गर्भिनीसामान्यपरिचर्चा	३३१	४५ विचानादि के प्रयोग का	
३२ सिरावेध यथापूर्वक करने का	३ गर्भिनी का मासानुमासिक	३३२	निर्देश	२०७
कारण	आहार	३३२	४६ तालुकात, लक्षण और	
३३ हुट्टवेध का कारण वेद्य का	४ सूक्ष्मिकागार और नीवें मास में		चिकित्सा	२०७
अक्षयन	उस में प्रवेश	३३३	४७ नाभितुष्टिलक्षण और चिकित्सा	२०८
३४ हनेहवेदनादि की अपेक्षा	५ प्रमवसामीप्य के लक्षण	३३४	४८ गुद्धाक, चिकित्सा	२०९
सिरावेध का गुणाधिकरण	६ आमसप्रस्तवा के लक्षण	३३४	४९ इवास्थ्यरक्षक घृत	२०९
३५ सिरावेध का चिकित्सार्थक	७ प्रमव प्रथमावस्था के कर्म	३३५	५०-५० शिशुपालन के सामान्य	
३६ पचकर्म के पश्चात् लिपिद कर्म	८ „ द्वितीयावस्था के कर्म	३३५	नियम	२१०
३७ इसविश्वावण के विविध साधनों	९ प्रतिलोम गर्भ का अनुलोभ- करण	३३५	५१ स्तन्याभाव में देने वाय दूध	२१०
की इसस्थिति के अनुगार	१० गर्भाशयसंरेग की चिकित्सा	३४५	५२ अलगाशनविधि	२११
कार्यमर्यादा	११ नवजात शिशु के उपचार	३४६	५३ ग्रन्थोपर्सार्गप्रतिपेध	२११
३८ दूसरी हड़ि से जलीकादि की	१२ शिशु की स्नानविधि	३४७	५४ ग्रन्थोपर्सार्गामान्यलक्षण	२११
कार्यमर्यादा	१३ स्तन्योत्सक्तिकाल	३४७	५५ अस्थायानविधि	२११
न २८ अध्याय	१४ शिशु को मधुसर्पिरादि प्राशन-	३४८	५६ विवाहाकाल	२१०
१ घमनीवाकरणशारीरोपक्रम	विधि	३४८	५७-५८ अल्पत यादा में गर्भाधान	
२ सिराओं से घमनियों का पृथक्य	१५-१९ सूक्ष्मिकापरिचर्चा	३४९	के परिणाम	२१०
३ चौथे घमनियों के विभाग	१८-१९ सूक्ष्मिकारोग, हेतु और	३४९	५९ गर्भाधारण के लिए धूपोष्य	
४ उत्तर्वां घमनियों का कार्य	चिकित्सा	३५०	६० धी पुरुष	२११
५-६ अपोगामी घमनियों के कार्य	२० प्रयव, तृतीयावस्था, अपराहण	३५०	६० गर्भाकांतचिकित्सा	२११
७-८ तिर्यगामी घमनियों के कार्य	२१ मक्तुलक्षण	३५४	६१ हीन और उपगुप्त गर्भ,	
९ घमनीयत दिव्यों का परिमाण	२२ मक्तुलक्षिकित्सा	३५५	६२-६३ गर्भानप्रतिपेधक मासानु-	
१० घमनियों का महरू	२३ शिशुरोगाकर्म	३५६	मासिक औपचिक्रियाग	२१२
११ योत्सृ उनके नाम और संख्या	२४ नामकरणविधि	३५६	६० प्रयवों के धीर्घ से ध साल,	
१२ माणदृष्टि योत्सृ	२५ घात्री के गुण	३५७	से अधिक काल देने पर	
१३ अध्यरूप योत्सृ	२६ स्तनदोष के परिणाम	३५८	यालक वा अस्त्रायुत	२११
१४ उद्दकवट स्रोतस्	२७-२९ घात्रीगमननामनविधि	३५९	६१ गर्भिनीचिकित्सा के कुछ	
१५ स्तनवद्ध योत्सृ	३० अनियन्त्राप्रीतोष	३५९	मार्गदर्शन नियम	२११
१६ रक्तवद्ध योत्सृ		३६० त्रिवृत्तुष्टिवर्षक दोष	२११	

आयुर्वेदस्थ्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ

List of Books consulted

संस्कृत

१ ग्रन्थवेद	३० सांख्यकारिकाभाष्य गौडपादाचार्यकृत	५२ वासुशास्त्र मयकृत	८१ आयुर्वेदसंदीपनीसुश्रुतटीका हाराणचन्द्रकृत
२ अथर्ववेद	३१ वातस्थायनभाष्य न्यायसूत्रस्य	५३ अर्थशास्त्र कौटिल्यकृत	८२ आयुर्वेददीपिका चरकटीक चक्रगणिकृत
३ तंत्रिरीयसंहिता	३२ उद्योतकरवार्तिक न्यायसूत्रस्य	५४ शुक्रनीति	८३ निवंधसंग्रह सुश्रुतटीका उद्दण्डकृत
४ मनुस्मृति	३३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	५५ रतिमंजरी	८४ सर्वांगसुंदरा अष्टांगहृदय-
५ याज्ञवल्यस्मृति	३४ दरोऽनिष्ट शांकरभाष्य	५६ सिद्धान्तशिरोमणि भास्तराचार्यकृत	टीका अरुणदत्तकृत
६ दक्षस्मृति	३५ वैशेषिकसूत्रोपस्कार शांकरभिमश्रकृत	५७ गीतगोविन्द	८५ शशिलेखा अष्टांगसंग्रह-
७ पाराशरस्मृति	३६ कणादसूत्रविवृति जय-	५८ चरकसंहिता	टीका इन्दुकृत
८ आग्स्तम्स्मृति	वारायग तर्कंचाननकृत	५९ अष्टांगहृदय	८६ मधुकोष माधवनिदानटीका
९ अन्वितस्मृति	३७ वैशेषिकभाष्य चन्द्रकान्त-	६० अष्टांगसंग्रह	विजयरक्षितकृत
१० मन्वर्थमुक्तावली कुम्हूक भट्टविरचित	भट्टाचार्यकृत	६१ भेलसंहिता	८७ आतंकदर्पण माधवनिदान
११ मिताक्षरा विज्ञानेश्वर-	३८ सांख्यसूत्रभाष्य विज्ञान-	६२ शार्ङ्गधरसंहिता	टीका वाचस्पतिमिश्रकृत
विरचित	० भिक्षुकृत	६३ योगरत्नाकर	८८ शार्ङ्गधरदीपिका
१२ रामायग	३९ जयमंगला टीका	६४ भावप्रकाश	आठमस्तकृत
१३ महाभारत	(कामसूत्र) यशोधरकृत	६५ चक्रदत्त	८९ शार्ङ्गधर गूढार्थदीपिका
१४ भागवत	४० श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका	६६ वंगसेन	काशीराम
१५ देवीभागवत	शंकराचान्दकृत	६७ वृन्दमाधव	९० रसयोगसागर, प्रस्तावना-
१६ विष्णुपुराण	४१ श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका	६८ माधवनिदान	सहित
१७ कूर्मपुराण	नारायणकृत	६९ चेमकुत्तहल	९१ तर्कसंग्रह
१८ योगवासिष्ठ	४२ कठोपनिषद्	७० उमामहेश्वरसंवादे नाडी-	९२ शाकुन्तल
१९ भगवद्गीता	४३ प्रश्नोपनिषद्	ज्ञानम्	९३ रघुवंश
२० गौतमसूत्र	४४ छान्दोग्योपनिषद्	७१ नाडीज्ञानतर्पणिणी	९४ कुमारसंभव
२१ न्यायसूत्र	४५ वृहदारण्यकोपनिषद्	७२ रसार्णव	९५ विक्रमोवर्शीय
२२ वैशेषिकसूत्र	४६ ईशावास्त्रोपनिषद्	७३ काश्य संहिता	९६ नीतिशतक वैराग्यशतक
२३ सांख्यसूत्र	४७ गर्भोपनिषद्	७४ राजनिषेधद्व	९७ अमरकोष
२४ सांख्यकारिका	४८ श्वेताश्वतरोपनिषद्	७५ मदनपालनिषेधद्व	९८ मेदिनीकोष
२५ योगसूत्र	४९ मुण्डकोपनिषद्	७६ धन्वन्तरिनिषेधद्व	९९ हलायुथकोष
२६ वेदान्तसूत्र	५० पञ्चशी	७७ प्रत्यक्षशारीर, प्रस्तावना-	१०० सुभाषितरकभाण्डागार
२७ कामसूत्र-चात्स्यायनकृत	५१ पञ्चीकरणवार्तिक	सहित	१०१ मेघदत्त
२८ सांख्यव्यक्तिमिश्रकृत		७८ सिद्धान्तनिदान	१०२ उत्तररामचरित
२९ वाचस्पतिमिश्रकृत		७९ संज्ञान्वकविमर्श	
३० सांख्यप्रबन्धभाष्य		८० हारीतसंहिता	

आयुर्वेदरहस्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ
List of Books consulted
ENGLISH

- | | |
|--|--|
| 1 Anatomy by Grey | 29 Psychology of Sex by Havelock Ellis |
| 2 Physiology by W. D. Halliburton | 30 Ideal Birth by Von De Veldt |
| 3 " " Howell | 31 Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas |
| 4 Applied Physiology by Wrights | 32 Manual of Embryology by Fraser |
| 5 Physiology by Starlings | 33 Surgical Instruments of the Hindus by |
| 6 Materia Medica by Ghosh | Mukerji, G. N. |
| 7 Indian Materia Medica by Nadkarni | 34 History of Hindu Medicine by Mukerji, G. N. |
| 8 Text book of Medicine by F. W. Price | 35 Interpretation of Ancient Hindu Medicine |
| 9 " " by Savill | by Chakrabart |
| 10 " " by Osler | 36 History of Hindu Chemistry by P. C. Ray |
| 11 " " by Taylor | 37 Studies in the Medicine of Ancient India |
| 12 Preventive Medicine and hygiene by Rosenau | by Dr. Hoersle |
| 13 Physiology in Health and disease by Wiggers | 38 English Translation of Sushrut Samhita |
| 14 Manual of Pathology by Green | by Dutt |
| 15 " " Hewlett | 39 Problem of Rebirth by Hon. Ralph Shirley |
| 16 Tropical Medicine by Rogers and Magau | 40 Book of Meditations by Allen James |
| 17 Differential diagnosis by Herbert French | 41 From Unconscious to conscious by G. Geley |
| 18 Symptom diagnosis by Barton and Yater | 42 Reincarnation by Walker |
| 19 Lectures in diseases of children by Robert | 43 Metaphysics of life and death by Tudor Jones |
| | 44 Idealistic view of life by Sir S. Radhakrishnan |
| 20 Surgery by Rose and Carless | 45 Positive sciences of the Hindus by B. N. Seal |
| 21 Minor Surgery and Bandaging | 46 History of Hindu Philosophy by Das Gupta |
| 22 Midwifery by Jellat | 47 Medical Annual 1935 |
| 23 " , Ten Teachers | 48 English translation of Sushrut by |
| 24 Diseases of Women by Bland-Sutton and Jiles | Kaviraj Kunjal |
| 25 Sexual physiology by Chandra Chakrabart | 49 Sushruti Anatomy by Gangadhar Shastri |
| 26 Introduction to sexual Physiology by Marshall | Jos |
| 27 Riddle of Sex | 50 Manual of Bacteriology by Mair and Ritch |
| 28 Studies in the Psychology of Sex by Havelock | |
| | |
| | |

श्रीः ।

आयुर्वेदरहस्यदीपिकाख्यव्याख्यासमुलसिता

सुश्रुतसंहिता

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब यहाँ से सर्वभूतचिन्ता (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य— शारीरस्थान की प्रवृत्ति ‘विद्यानार्थं शारीरस्य’ (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६) है। शारीरविज्ञान में गर्भाविकान्ति (Embryology), अंगप्रत्यंगविज्ञान (Anatomy), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology) इत्यादि अनेक विषयों का समावेश होता है—शारीर चिन्तयते सर्व दैवमानुषसम्पदा । सर्वभावैयतस्तासमात् शारीरं स्थानमुच्यते ॥ (चरक, शारीर ८) । हन अनेक विषयों का सम्य परिचय तथा आकलन होने के लिए प्राचीन दृष्टपना के अनुसार सुष्टुप्ति के उत्पत्तिक्रम का तथा तदन्तर्गत मनुष्यशारीर की स्थूल और सूक्ष्म रचना का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए इस अध्याय में सृष्टिव्यक्ति का संक्षिप्त विवरण सुख्यतया कपिलमहामुनिप्रणीत सांख्यदर्शनानुसार किया गया है। सर्वभूतचिन्ताशारीर—सर्वभूतचिन्ता नामक शारीर। स्थावरजंगमात्मक अखिल भूत याने सृष्टि पदार्थ, इनकी उत्पत्ति स्थिति और कार्य इनका चिन्तन याने विवरण या विचार जिसमें किया गया है, वह अध्याय। स्थावरजंगमात्मक समस्त सुष्टुप्ति पश्चमाभूतों से उत्पन्न हुई है और चिकित्सा में हन भूतों से अधिक परे विचार करने की आवश्यकता नहीं होती—भूतेभ्यो हि पर यस्मात्तारित चिन्ता चिकित्सिते ॥ (सुश्रुत, शारीर १)। इसलिए इस अध्याय में अव्यक्त से पंचमाभूत किस प्रकार से उत्पन्न हुए हैं, इसका विचार किया है। शारीर—शारीरविज्ञान के विषयों का विवरण जिसमें होता है, उसे शारीर कहते हैं—शारीरिकभावमधिकृत्य हनोऽध्यायः शारीरः। शारीरस्थान का प्रत्येक अध्याय इस

कारण से शारीर कहलाता है—निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि गद्धिणा। विद्यानार्थं शारीरस्य मिष्यां योगिनामपि ॥ शारीरिक भावों में दार्शनिक भावों का भी समावेश होता है क्योंकि वे शारीर के मूलतत्त्व हैं (९ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो)। वेदान्तसूत्र इसी कारण से ‘शारीरिक सूत्र’ कहलाते हैं।

अब समस्त सुष्टुप्ति का आदि कारण जो प्रकृति, उसका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमपृष्ठप्रस्त्रिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेकं वहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥ २ ॥

(अव्यक्तस्वरूप—) समस्त भूतों का (आदि) कारण (परंतु स्वयं) कारणरहित, सत्त्व रज और तम इन (तीनों) के लक्षणों से युक्त, शष्ठविघरूप युक्त, और अस्तिल जगत् की उत्पत्ति का हेतु ‘अव्यक्त’ है। जैसे कि (एक) समुद्र (मरुस्य, पश्च, कष्टघ्रप इत्यादि अनेक) जलजीवों का अधिष्ठान होता है वैसे ही वही एक अव्यक्त अनेक जीवज्ञों का अधिष्ठान होता है ॥ २ ॥

वक्तव्य—सर्वभूत—सांख्यपरिभाषा के अनुसार ‘व्यक्ततत्त्व’ अर्थात् अव्यक्त को छोड़कर वाकी रहने वाले ज्ञातीस तत्त्व। अकारण—जिसके लिए कोई कारण नहीं है अर्थात् जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है—न विद्यते कारणं वस्य तदकारणम् । इसलिए ‘मूले मूलाभावादमूलं मूलम्’ (सांख्यसूत्र १, ६७) और ‘मूलप्रकृतिरविकृतिः’ (सांख्यकारिका ३) इस प्रकार सांख्यदर्शन में अव्यक्त का वर्णन किया गया है। सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्—स्थावरजंगमात्मक समस्त सृष्टि पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इनका मिश्रण होता है। ये गुण कभी भी स्वतन्त्र और अकेले नहीं होते,

१ अनेकेषां।

सीनो मिलकर रहते हैं—भव्योन्दमिभवाचेते विहृदयित
परस्तम् । तथाज्योन्याश्रदा सर्वे न निष्ठनि निराश्रया ॥ १३ ॥
सर्व न कोर्ल कवापि न रनो न तमसापा । मिलिताश सरा सर्वे
तेनांयो याप्रया स्थृता ॥ १४ ॥ अयो यमिमुनाध्येव ॥ १५ ॥
(देवीभागवत ३, ८) । इन गुणों की न्यूनाधिकता के
कारण यह पदार्थों में सोना, छोड़ा, पानी, मिट्टी, प्राणियों
का धरीर हृष्यादि नानात्व उत्पन्न हुआ है । निनको सासिवक,
राजय, सामय कहते हैं उनमें भी लीनों गुण उत्पत्ति
रहते हैं परतु ‘वर्षेऽग्नेन्मु भूमना’ हम न्याय से उनमें सर्व,
उज और सम का क्रम से प्रायश्य होता है—[गत्तमः] गिभूय
सर्व भवति भारत । उज सर्व तमशेव तम सर्व रामस्या ॥
(भगवतीता १४, १०) । सब यह पदार्थों का कारण जो
अध्यक्ष है, उसमें भी ये गुण होते हैं, यद्यकि स कार्यवाद के
अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते, वे कार्य में स्वतन्त्ररूप
से नहीं आ सकते—वस्त्रकरणादुपाशनवृणा सर्वसमवा
भागाद् । यत्तद्य ऋश्यकरणाद् कारणमायाच उत्त्वाव॑ ॥
(सारायकारिका ६) । ऐसे हृतना ही होता है कि यह पदार्थों
में गुण विश्वावस्था में याने न्यूनाधिकमात्र से और कार्य-
कर रिति में होते हैं, और अध्यक्ष में साम्यावस्था में याने
अन्यूनाधिकमात्र स और अकार्यकर रिति में होते हैं—
स्त्रवरजनमात्रा स म्यावस्था प्रहृति ॥ (सारायसूत्र १-१३) ।
साम्यावस्था यूनाधिकमात्रेनमहनमन् व्याधार्यवस्थामित्यं ।
श्व च वार्यमिति युग्मयन प्रकृतिरिति पर्यवस्तिं ॥२५॥ (अनिरुद-
दीका) । अष्टरूपम्—जटी रूपाणि दस्य तच्चोक्तम् ॥ महान्,
धद्दारा और पञ्चतन्मात्रायि ये प्रकृति के सात रूप हैं । ये
सात रूप और श्वर्य प्रकृति मिलकर अदृष्ट होते हैं । इसका
कारण यह है कि साधयशास्त्रकार शिळापुत्रकन्यायेन अध्यक्ष
के लिए रूपिद और रूपव दोनों ही मानते हैं । परतु
सातय में अष्टविषय प्रकृति के मूलप्रकृति और प्रकृतिविहृति
करके दो भेद किये गये हैं—मूलप्रकृतिविहृति महदावा
प्रकृतिविकृत्य उत्तम । (सारायकारिका ६) । वेदान्त में भी
प्रकृति का यही अष्टविषय रूप माना जाता है, परतु उसमें
प्रकृति परवश्य से उत्पन्न होने के कारण उस पर रूपव और
रूपिव दोनों आरोपित करने की आवश्यकता नहीं होती ।
जो शास्त्रकार इस तरह पुक्तों की गणना में पिता का समा-
वेश करना पसद नहीं करते तथापि रूप का अष्टविषयत्व
कायम रखना चाहते हैं, वे प्रकृति के स्थान में मन का समा-
वेश करते हैं—भूमिरोडनो वायु ख मनो उद्दित च ।
अद्वार इनोय मे चित्रा प्रकृतिरष्टा ॥ (भगवतीता ७, ४) ।
अध्यक्ष—प्रकृति या प्रधान । अध्यक्ष और अध्यक्ष के भेद
निभ्न प्रकार से साध्यकारिका में पर्यन्त किये हैं—हेतुमदनिय
मध्यापि सक्षिमनेनमदिति निदिग् । साधयव परतन्त्र अवलग्न,
विपरीयमन्त्यन् ॥१० ॥ अर्थात् अध्यक्ष अहेतुमत्, निरव, ध्यापी,
विनिक्षय, एक, अनाश्रित, अछिङ्, अनवयव और स्वतन्त्र
होता है । साधयश्वन के लीबीस तात्त्वों में केवल एक प्रकृति
तत्त्व एवं गुणविशिष्ट होते के कारण वह अध्यक्ष कहलता
है । वह—चेत्र का चारतविक अर्थं रेत या भूमि है ।
दर्शनसाधा में चतुर्विंशतितत्त्वसमुद्योग को अर्थात् शरीर
को देव कहते हैं—एवं शरीर को तेव चित्रमितीर्थेते ।
(भगवतीता १२, १) । लादीनि उद्दिष्टज्ञद्वारास्त्रा-

हम ॥ भूमिप्रकृतिरिति विवारायै वेद्य ॥ तुदीदिव्याणि पश्चैव
पश्च देवीदिव्याणि च । समनसाधा पश्चाव॑ विवारा इति सहिता ॥
इति देव समुद्दित सर्वमन्तरविक्षम् ॥ चरक, शां० १ ॥
इस शरीर का जो ज्ञाता या साधी है, वह देवज्ञ कहलता
है—प्रभ्यस्त्रय देवश्य वेतत्तुयो विदु ॥ (चरक, शां० १) ।
देवश्य के लिए ही इ, भास्मा, तुश्य (तृतीय अप्याय सुग्रे दे
देवी) हृष्यादि पर्याय प्रयुक्त होते हैं—प्रसादा वेतत्तु तुश्य ॥
(महाभारत, शान्ति० १५०) । चैत्राधातुरप्वेष स्मृत
पुष्पसदक ॥ (चरक, शां० १) । प्राय भूमि (देव) और
वीर्य का अनुभव सामने रत्नकर दर्शनगाम में शरीर को
देव छहने का दिवान पह गया होगा । जैसे कि एक देव
अनेक वीर्यों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार की अपरिधीय
उत्पत्ति कर सकता है, वैसे ही शरीररूपी देव अनेक पुरुषों
का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार के जीवनम् उत्पत्ति करता
है । अधिष्ठान—आश्रय, शरीरोपादत का विषय । औद्दाना
भाशानम्—उक्ते भवत औद्दा मत्त्वप्रदाद्यो जन्मतुदिव्यो
अध्यक्ष एक, अवेतन और अधिष्ठान रूप होता है तथ
के प्रेत अनेक, सचेतन और अध्यक्षी होता है । इस दृष्टि से
यदि समुद्र के द्वान्त का विचार किया जाव तो ‘उद्गम
औद्दा नदीनदरसरनदगादय’ यह ऊद्गंगकृत अर्थं अद्युक्त
मालुम होता है ।

अध्यक्ष अवेतन है । जब उसका सयोग चेतयिता पुरुष
के साधा होता है, तब भूतों की उत्पत्ति होती है । उसका
क्रम अब वर्णन करते हैं—

तस्मादव्यक्तान्महानुपत्यते तत्त्विन्द्र पव, सहित-
ज्ञाय महतस्तेज्ज्ञाणं एवाह्वार उत्पद्यते, स
त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तत्र वैका-
रिकादह्वारायत्तैजससद्वायाच्चक्षुजाग्राण्येवैकाद्योन्दि-
याण्युपद्यन्ते, तद्यथा—योअत्यक्चक्षुजाग्राण्य
वायस्तोपस्थायुपादमनसीति, तत्र पूर्णाणि पञ्च
तुदीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मन्दियाणि, उम
यात्मक मन्, भूतादैरपि तैजससद्वायाच्चक्षु-
न्येव पञ्चतन्मात्राण्युपत्यन्ते, तद्यथा—शब्दतन्मात्र,
स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मा-
त्रमिति, तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपसंसग्न्याः, तेषां
भूतानि व्यामिनिलानलजलोर्याः, एवमेषा
तत्त्ववत्तुविद्यात्यार्यता ॥ ३ ॥

(अध्यक्ष से सूधृत्पत्ति—) उस अध्यक्ष से उसी
स्वभाव (साध्यवस्तम स्वभाव) का महत् (बुद्धितत्त्व)
उत्पत्ति होता है, और उसी स्वभाव के (विगुणात्मक)
तुदीतत्व से उसी स्वभाव का (विगुणात्मक) अहकार
उत्पत्ति होता है । यह अहकार तीन प्रकार का है—
(१) वैकारिक (साधिक), (२) तैजस (राजत) और (३)
भूतादि (तामस) । उसमें राजत अह्वार की साधायता
द्वारा सत्त्विक अह्वार से ग्यारह इन्दिया उत्पत्ति होती है ।
जैसे—चेत्र, त्वचा, चक्षु, निदा, ध्यान, वाणी, हस्त,
छिङ्, युद्ध, पाद और मन । इनमें प्रथम पाँच झनेन्द्रियाँ
हैं, दूसरी पाँच कर्मन्दियाँ हैं और मन कर्मन्दिय तथा

ज्ञानेनिदिष्य है । राजस अहङ्कार की सद्वायता द्वारा तामस अहङ्कार में भी तरतुप्रभाव की पांच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं । जैसे—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा । उन तन्मात्राओं के विजेता हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । उन (तन्मात्राओं) से धाकाग, वायु, तेज, जल और इथियो (ये पांच भूत उत्पन्न होते हैं) । इस प्रकार यह चौरास तरवों का समुदाय दर्जन किया है ॥ ३ ॥

वक्तव्य— नदी—अव्यक्त और विगुणसाम्यावस्था में स्थित प्रकृति पुरुष का संगोग होते ही स्वयं अव्यक्तावस्था और विगुणसाम्यावस्था को घोड़ेकर व्यक्त और विगुणवैपर्ययुक्त बनेकर तर्थों को उत्पन्न करती है । इस तत्त्वपरंपरा का प्रारम्भ तभी होता है, जब प्रकृति पुरुषाविद्या होती है । इसमें प्रथम तत्त्व सदान् है । इसी की उद्दितत्व भी बहते हैं—क्षेत्रविद्या व वैज्ञानिक प्रकारात्मकताम् । नदीतत्वपरिवर्ति ग्रोके पुनितरूपे तदृक्तरूपे ॥ सारासार विचार करके किसी विषय के संबंध में निखित करना, या कार्यकारण संबंध को देखकर निश्चय (पूर्वमेय, नान्यथा) करना या अन्य प्रकार से कार्यांकार्य निर्णय करना, यह बुद्धि का कार्य है । इस प्रकार के कार्य को 'व्यवसाय या अव्यवसाय' कहते हैं—व्यवसायात्मिक बुद्धिः ॥ (महाभारत) । अव्यवसायो बुद्धिः ॥ (सांख्यसूत्र २, १३; सांख्यकारिका २३) । यह बुद्धि गुणाविद्य के अनुगम साम्बिक, राजस और तामस होती है और उसके कार्य में भी गुण के अनुसार फर्क होता है—प्रवृत्ति न निवृत्ति न कार्याकार्ये भयामये । इन्हें नीधि न या देवि तुष्टि सा पार्थ मात्तिकी ॥३॥ या धर्मगमने न कार्य नामार्थमेव न । अव्यवसाय प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥४॥ प्रथमे धर्ममिति या मन्यते तमसाद्युता । चर्वायात् विपरीक्षित बुद्धिः ना पार्थ तामी ॥५॥ (भगवद्गीता १८) । धर्मो शान विराग ऐश्वर्यन् । सात्त्विकोत्तरै, वामसत्त्वसाद्विपर्यस्तम् ॥ (सांख्यकारिका २३) । उद्दितत्व की व्यापकता और विशालता को देखकर उसको महत् संज्ञा दी गई है—उद्देश्यतत्त्वसंग्रह च रवेतरसकारार्थव्यापकवानादैश्यांशान्वितार्था ॥ तत्त्विन्द्र पूर्व—अव्यक्तस्य लिदमिय तिन्म यस्य । अव्यक्त जिस प्रकार विगुणात्मक होता है; वैसा ही जो विगुणात्मक है । परंतु भेद यह होता है कि महान् में विगुण की साम्यावस्था न होकर वैपर्यावस्था होती है और इसी कारण से उपर्युक्त सात्त्विकादि भेद होते हैं । अहङ्कार—अहं अहं करना, अभिमान या पृथक्तव । प्रकृति से महत्त्वत्व उत्पन्न होने पर भी उसका पृक्तव नष्ट नहीं हुआ था, परंतु जब अहङ्कार उत्पन्न हुआ, तब उसमें अनेकत्व और पृथक्तव आ गया और इसी अहङ्कार के कारण पानी, पर्यावरण, प्राणी, वनस्पति इत्यादि स्थावरजङ्गमात्मक अनेक वस्तुएँ तथा मनुष्यों में अभिमान उत्पन्न हुआ है । अहङ्कार बुद्धि का ही एक भेद होने से बुद्धि के पश्चात् उसकी उत्पत्ति होती है तथा बुद्धि के अनुसार उसके सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं—अहङ्कार-विमूढात्मा कर्ताऽत्मिति मन्यते ॥ (भगवद्गीता ३, ४७) । अग्रिमानोदहङ्कारः (सांख्यकारिका २४) । हस पर चाच्छपति मित्र लिखते हैं—‘यत् लत्वातोत्तिं मतं च तत्र अहमविकृतः, शक्तः षट्यदमत्र, मदर्थो षट्यामी विषयाः, मत्तो नाड्योऽनाधि-

षः शक्तिरितः, षट्योऽद्यागिरिः’ हसि योऽग्निगातः षट्योऽसाधारण-प्रत्यावरत्वाद्यद्वागः । अमुदनीय इस गुदिरप्रत्ययी कर्त्त्व-वेत्तमात्रा इति । अहङ्कार उत्पन्न होने के पश्चात् धारे की सुष्ठि के मुख्य दो विभाग होते हैं—एक वनस्पति, प्राणी, मनुष्य इत्यादि इन्द्रिययुक्त अर्थात् सेन्द्रियसुष्ठि का विभाग और दूसरा इन्द्रियविहीन अर्थात् निरिन्द्रिय सुष्ठि का (जह दुष्टि का) विभाग—जिन्दियं नैन् दूने निर्जिन्द्रियोत्तमैन् ॥ (धरक, सूत्र १) । यहाँ इन्द्रियशब्द से केवल ‘इन्द्रिय-युक्त प्राणियों की इन्द्रियों की जानि’ इतना ही धर्म अभिप्रेत है, यद्योऽनि सेन्द्रिय प्राणियों के जह धारीर का समावेश निरिन्द्रिय सुष्ठि में और धारामा का समावेश पुरुष में होता है । एसलिए सेन्द्रियसुष्ठि का विचार करते समय सांख्य-दात्त्र ये केवल इन्द्रियों का विचार होता है । सेन्द्रिय धौर विरिन्द्रिय के मिया सुष्ठि का तीसरा विभाग असम्भाव्य होने के कारण अहङ्कार के द्वे ही विभाग किये गये हैं—अभिमानोदहङ्कारः, त्वराद्विरितिः प्रथमेति दोः । एकाशकृत्यगमत्त सापदपवर्यैव ॥ (सांख्यकारिका २४) । एवं द्विरिति एव सम्पूर्ण-हङ्कारात्, न स्वयं एति ‘व्यक्तिरैत्यपरायनि ॥ (वाचस्पति मित्र) । इन्द्रियजक्षि धैष्ट होने के कारण सेन्द्रियसुष्ठि की उत्पत्ति जारिक (स्वच्छुगोलर्प) अहङ्कार से और निरिन्द्रियसुष्ठि तामस अहङ्कार से मानी गई है । परंतु पित्त और कफ के समान सत्त्व और तम पातू और निषिक्ष द्वारा होता है—उपष्ट्यमयं चढ़ात् च इतः ॥ (सांको १३) । रजश प्रवर्तकं लवेनाराचान् । (सुश्रुत, प्रथमवर्णण पृष्ठ १३७) । इसलिए लिङ्गा है—सात्त्विक एकाशमनः प्रवर्तते देहान्दहङ्कारात् । भूतादेस्तमात्रः स तामसतै त्वादुग्रह्यन् ॥ (सांको २५) । इस कारिका पर वाचस्पति मित्र लिखते हैं—तैजसात् रागानुभवं गणद्वयं भवति । वयषि रजसो न कार्योत्तर-गतिः; तथाऽपि सत्त्वतमसी स्वयमसिये श्रसगर्थे न स्वरवकार्ये कुरतः; रजस्तु चतुर्वया से यदा चालयति तदा रवकार्यं कुरत इति, तदुभयस्मिन् कार्ये सत्त्वतमसोः त्रितोषादनठरियासि रजसः कारण-विगति न व्यर्थं रजः ॥ तदाचागाम्ये वैकारशेन्द्रियाणि—यथापि अहङ्कार विगुणात्मक है तथापि इन्द्रियां सत्त्वप्रधान होती है । इनमें भी मन तथा बुद्धीन्द्रियों में कर्मन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्वोकर्प अधिक होता है । कुछ शास्त्रकार कर्मन्द्रियों को रजःप्रधान मानते हैं । श्रोत्रवृक्ष दृति—भृशोत्त्वनेन धोत्रवृत् । त्वचत्वनेनेति धरक् । चष्टे रूपं रूपवन्तं च प्रकाशवर्णीति चतुः । जित्प्रत्यनेनेति ध्राणम् । रसयत्वाद्वाद्यत्यनेनेति रसनं (जिता) । पूर्वांशि पश्च बुद्धीन्द्रियाणि—धोत्र से वाक् तक । यथापि कान, नाक, आँख ये दो दो होते हैं तथापि इन्द्रिय-संस्थानगणना की इटि से वे एक एक गिने जाते हैं—यथापि चाक्षिकी कणों नासापुटे हेतु तथाऽप्येकेन्द्रियाधिष्ठानवैनैक-मैवेति छत्वा पश्च इत्युक्तः ॥ (चक्रपाणिदृत्त) । उभयात्मक मनः—इसका अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय है और दोनों प्रकार का है । अन्य इन्द्रियों के साथ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण मन इन्द्रिय कहलाता है—इन्द्रियं च सापमयांत् ॥ (सांको २७) । इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाद्यहङ्कारोपादानवन्तं च साधर्थं, न विन्द्रियलिङ्गत्वम्, गहदहङ्कारोपादानवैनेनेति रसनं (जिता) ।

प्रहृष्टिनिमित्तम् ॥ (वाचस्पतिमित्र) । युद्धेनिर्दिप वा का कारण था है कि युद्धोनिर्दयी भर्य प्रदण थरने में प्रपूरा और समर्प होती है, जब मन उनमें अधिष्ठित हो देते हैं—मैन उरुमाराहिनिदिप्यायमेष्टमासपाति भवनि । पृथ (म) अपर्याप्तसप्तशतमात्रेण—‘प्रेषामरदयमृदिप्यायार् ॥’ (चरक ३०० ८) । चतु पदयति हृष्टिय मनमा ग तु चतुरा । मनमा चतुरा चतुरा चतुरा पदयति न ३५५ति ॥ १७ ॥ अपेनिर्दिप्यायि स्त्री ॥ पदयन्तीत्यमित्यमुते । न नेत्रियायि पदयनि । मन एराव पदय ॥ १८ ॥ ‘महाभारत, दानिति ११ ॥’ । अ-यदसना अमृता नादशास्येत्रमना अभूत लालीविति गनमा द्यौव पदयति गनमा अभूति ॥ १९ ॥ (युद्धारण्योपनिषद् १ ८ ३) । युद्धेनिर्दिप्यायि के साथ मन का संरेख हतना घनिष्ठ दोने के कारण उसके अनुष्ठान इन्द्रिय भी कहने पा सप्रदाय पृथ गया है—पदिनिर्दिप्यायि प्रसादनः (चरक, सूत्र ३९) । तद मुखो रस पदिनिर्दिप्यायि प्रसादनः (सुधुर ग्रन्थमलण्ड २६०) । मन-प्राणीनिर्दिप्यायि प्रहृष्टिशयनि कर्त्तव्य ॥ (भगवद्वीता १८, ७) । युद्धेनिर्दिप्यायि द्वारा प्राप्त ज्ञान के संरक्षण में विकीर्णीकी सरह असुक ऐसा है (संकल्प), असुक ऐसा नहीं है (विकल्प), हृत्यांदि सारासारा विचार कुद्धि के सामने कायोकार्यानियन्त्रण के लिए ध्वनिस्थित रूप से रखने का काम मन का है और कुद्धि के द्वारा सिर्यं प्राप्त होने पर उसके अनुसार कर्म-नियमों के द्वारा काम करने का कार्य मन भी करता है । हस्त तरह विरेतार और ध्वनिया करने का कार्य ध्वनिकरण कहलाता है—मैनो व्यारथामरम् (महाभारत) । इमरिप उसका समावेश कर्मनियमों में भी किया गया है—युद्धेनिर्दिप्यायि नियन्त्रण च, चतुरादीना वागादीना च गोपेषितानमेव द्वरक विषेषु ब्रह्मते ॥ (वाचस्पतिमित्र) । चरक में उपर्युक्त विचारपरम्परा संरेख में निम्न प्रकार से धैर्यन की शर्त है—इन्द्रियेनिर्दिप्यायि हि समनकेन शृणते । वल्यन्ते मनसा तृष्णे शुणो दोषोऽधर्वा च लायते विषये तत या उद्दिनिक्षयातिवा । व्यवस्थात तथा चन्तु रुद्धि वा त्रिपूर्वकर् ॥ (चरक, सा० १) । दात्मात् शब्दसर्वादि का अभिष्ठित पृथक् पृथक् सूक्ष्म मूल-हृप्य या बीज । शापस में हृनका पार्थिव (जैसे—शब्द-तन्मात्र से रूपतन्मात्र इत्यादि) वादेनियों द्वारा नहीं हो सकता । इसलिए ये तन्मात्र अविरोप कहलाते हैं—अमावायविशेषा, तेष्यो भूतानि पञ्च प्रश्नय । ते सृष्टा विदेशा शान्ता मृदाय वोराश ॥ (सा० का० ६८) । शब्दादिम् नामाचारणि शूक्ष्माणि, न चैषा शात्वायारिति उपोगोग्योम्यो विशेष इति शात्रायदर्थं । लन्मात्राविल वस्त्रदादिमि परस्परव्याहृतानि नानुभूने इत्यविशेषा वस्त्रा इति चोर्यते ॥ (वाचस्पतिमित्र) । नरिमलस्तिर्मस्तु त मात्रा तेन तन्मात्रात् स्फूटा । न शान्ता नादपि वोरासी न मृदायाविशेष ॥ (विष्णुपुराण) । विशेष—वादेनिर्दिप्यादा ध्वनिदेव गुण, जिनके द्वारा ये सम्मात आपस में विभिन्न किये जा सकते हैं । जैसे—शब्द तन्मात्र शब्दद्वय द्वारा, स्पर्शतन्मात्र इत्यर्थगुण द्वारा अन्य तन्मात्राओं से विभिन्न किया जाता है । भू—पृथिव्यादि पश्च-महात्मा । ये भूत सूख विहिनिदिप्यादा होते हैं—भूतल नम भविनिदिप्यादाविषेषगुणवत्तम् ॥ (न्यायोधिनी) । तेष्य—हृन त्वं तन्मात्राओं से एकोत्तरप्रिष्ठद्वया अकांशादि दृश्य वशमाभूत उत्तम ज्ञ होते हैं । तेष्यो भूतानि यत्

प्रधान्य' हस कारिका (१८) पर वापसति। मित्र लिखते हैं—तेवशा सावेष्यो विप्रादेवदिविष्टु प्रधान्यो भूमान्दा-
याशननानासनिनाविष्टापि प्रधान्यविष्टापि विष्टापि ॥ जीसे—
शब्दसंन्माप्त से शब्दसंगुण आकाश, शब्दसंन्माप्त सहित
एवंसंन्माप्त से शब्दसंपर्यगुण यामु, शब्दसंपर्यगुणमाप्तसहित
रूपतन्माप्त से शब्दसंपर्यगुणयुक्त तेज, शब्दसंपर्यगुण-
तमाप्तसहित रसतन्माप्त से शब्दसंपर्यगुणयुक्त
जल, शब्दसंपर्यगुणसंपर्यगुणयुक्त -से
शब्दसंपर्यगुणसंपर्यगुणयुक्त पृथिवी। चरक में भी लिखा है—
मदामूलानि य वायुस्त्रियम् विवितया । शब्द स्वर्व-
य एव च रसो गवयत्वद्युषा ॥ तेजमेवयुग्म पूर्ण
उग्निद्वये परे परे । पूर्णः पूर्णगुणयैव त्रयमयो गुणिषु रूपतः ॥
(शारीर १) । तदरच्युतिदिति—अध्यवृ, महान्, अद्वारा,
पंच शुद्धीनिधीय, मन, एव त्रयमेतिर्विद्याय, पंच तमाप्त और
पंच भद्रामूर्त इन चौधीस तत्त्वों का समुदाय—प्रदृष्टेऽपि-
स्मृतेऽद्वारात्तदात्रात्तदेव थोड़ाय । तस्मादपि वेदान्तान्तर्वाचम
प्रश्नानि ॥ (साठ० का० २२) । सुखतोक्त समुदाय ।
चौधीस तत्त्व सांख्यदर्शन के अनुमान हैं । चरकसहित
में जो चौधीस तत्त्व दिये हैं, उनमें तमाप्ताओं का उल्लेख
नहीं और उनके स्थान में पचमामूर्तों का निर्देश किया है
और पचमामूर्तों के स्थान में पचार्यों का निर्देश किया है ।
सर्वे परं, चारोंको चौधीस तत्त्वों की गणना में तमाप्ताएँ
नहीं हैं, पच हन्दिर्यार्थ हैं । चरक बहुत पुराना ग्रन्थ है।
उसके समय में सांख्यदर्शन वा उदय, हो रहा था परन्तु
उसकी नीव पक्षी नहीं हुई थी । हसलिपि उपर्युक्त फक्त
मलता है (आगे भी * ये सूक्ष्म की दिप्पणी देखो) ।
प्रधृत के समय सथा चक्रपाणिद्वय (चरकटीकाकार) के
समय सांख्यदर्शन की तात्पुर्त्वविशेषति निश्चित हुई थी ।
सर्विष्ट चक्रपाणिद्वय अपनी टीका में 'व्यादीनि' से 'तमाप्ता'
और 'पचार्या' से 'पचमामूर्त' ऐसा अर्थ करके सांख्यदर्शन
साथ समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं—जारीनि सहस्रमूल
जारीनि तन्माप्तामूर्तिभेदानि । पचार्या इन रूपता आकाशाद्य
च्छादिह्या, गुणगुणिनोर्हि परमार्थी भेदो नास्तैवास्मिन् दर्शने ॥
शारीर अ० १. ३३-३४) । परन्तु पह दूरान्वय है, सरला-
यन नहीं है ।

तत्र तुदीन्द्रियाणां शब्दादये विषयः । - कर्म-
क्रियाणां यथासहृष्टं वचनादानानन्दप्रिसर्गविहर-

(इन्दियों के विषय—) उन (इन्दियों) में सुदृगियों
 वालदादि विषय होते हैं । कमेन्दियों के क्रम से-वचन,
 वदान, जानन्द, विसर्ग और विहारा (ये विषय)

वैकल्पिक—शाश्वतों की विषय—ओत्र का विषय—शब्द, या का हप्ता, चढ़ा का रूप, जिहा का रस और ग्राम का अध्ययन। यातासहज—चारी का वचन, हस्त का आदान, वस्तु का आनन्द, गुदा का उत्तरण और पात्र का विदरण। क्रमिनियों के जैसे क्वेचु एक एक किषय होते हैं, जैसे विनियोगों के नहीं हैं। क्रमिनियों के विषयों में अनेकता ही है। इसलिए यहाँ पर वधनादानादि जो विषय बताये गए हैं, वे केवल उपलब्धात्मक समझने चाहिए। इसी

अथनेकता के कारण ग्रन्थान्तरों में कमेन्द्रियों के अर्थों के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता दिखाई देती है । जैसे हस्त के विषय में चरक में लिखा है—हस्तौ ग्रहणधारणे (शारीर १) । आनन्द—यह उपस्थ का विषय है । उपस्थ से स्त्री और पुरुष दोनों का जननेन्द्रिय अभिप्रेत है—उपस्थ रतिसम्पाद-सुखसाधनम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३, ६२ की श्रीका में विज्ञानेश्वर) । अथात् आनन्द से भैयुनजन्य आनन्द यहाँ अभिप्रेत है । इसके सिवाय प्रजोत्पत्ति के आनन्द का भी इसी में समावेश करते हैं—उपस्थ आनन्द प्रजोत्पत्त्या । (गौडपादाचार्य) । भैयुन और प्रजोत्पत्ति के सिवाय मूल, शुक्र और आर्तव इनका उत्सर्ग करना यह भी उसका स्वाभाविक कार्य होता है । इसलिए चरक में उसका कार्य विसर्ग भी चताया है—पद्यूपस्थ विसर्गर्थम् । (शा० १) ।

मन के विषयों का यहाँ पर वर्णन नहीं दिया है । चरक में इसके विषय का वर्णन मिलता है—चिन्त्यं विचार्यसूक्ष्मं च ध्येयं संकल्पयेव च । यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं शर्यसंसङ्करम् ॥ (शारीर १) । मन के विषय का विवरण पीछे ३ सूत्र के 'उभयात्मकं सतः' इसकी टिप्पणी में किया गया है ।

अव्यक्तं महान्द्वङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टो प्रकृतयः श्रेष्ठाः पोदश विकाराः ॥ ५ ॥

(प्रकृति और विकृति—) अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र यह आठ (तत्त्व) प्रकृति हैं; शेष सोलह (तत्त्व) विकार हैं ॥ ५ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों के दो विभाग किये हैं—प्रथम विभाग प्रकृति का और दूसरा विकृति का है । प्रकृति—प्रकारोतीति प्रकृतिः । तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वम् ॥ जो अन्य तत्त्वों को पैदा करती है, वह प्रकृति है । इस कारण मात्रवाचक साधारण अर्थ से यदां आगे के लिए प्रकृति शब्द प्रयोग किया गया है । 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' यह जो प्रकृति का लक्षण पीछे द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में दिया गया है, उस लक्षण के अनुसार यहाँ पर प्रकृति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि यह लक्षण केवल अव्यक्त पर लागू होता है, परन्तु 'प्रकारोति इति प्रकृतिः' यह लक्षण आठों पर भी लागू होता है । जैसे—अव्यक्त महान् को, महान् अहङ्कार को, अहङ्कार पञ्चतन्मात्र को और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों को पैदा करते हैं । सांख्यशास्त्र में प्रकृति के दो भेद किये गये हैं । (१) प्रथम भेद को मूलप्रकृति कहते हैं । यह प्रकृति दूसरे तत्त्व की उत्पन्न करती है, परन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती अर्थात् यह किसी का विकृति नहीं होती है—मूलप्रकृतिरिविकृतिः । (सा० का० ३) इस भेद में केवल अव्यक्त थाता है । (२) दूसरे भेद को प्रकृतिविकृति कहते हैं । इस भेद के तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, तथा स्वयं दूसरे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति कार्यत्वं प्रकृतिविकृतित्वम् ।

इस विभाग में महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र इन सात तत्त्वों का समावेश होता है । जैसे—महान् अहङ्कार की प्रकृति और अव्यक्त की विकृति है, अहङ्कार पञ्चतन्मात्राओं की प्रकृति और महान् की विकृति है और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति होती है ।

इस कारण से ये सात तत्त्व प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—महादाया: प्रकृतिविकृतिः सप्तः ॥ (सा० का० ३) अष्टी प्रकृतयः—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सांख्यदर्शन में प्रकृति का अष्टविधत्त्व नहीं है । यह वर्गीकरण वेदान्त के प्रभाव से सांख्यदर्शन में प्रारम्भ हुआ और यही वर्गीकरण महाभारता-न्तर्गत सांख्यशास्त्र में दिया गया है—अव्यक्तं च महात्मं च तथाऽहङ्कारमेव च । पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश पञ्चमम् । एताः प्रकृतयशास्त्रै ॥ (शान्तिपर्व ३१०) । चरक में भी यही वर्गीकरण है—खादीनि उद्दिर्घत्तमहङ्कारस्तथाएमः । भूतप्रकृति-रुदिष्टा ॥ (शा० ३) । इस सूत्र में पञ्चमहाभूतों के स्थान में उनकी तन्मात्राएँ देकर प्रकृति का अष्टविधत्त्व माना गया है । वेदान्त की कल्पना सांख्य में ठीक वेठने के लिए यह फर्क किया गया है । विकार—जो किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वयं अन्य तत्त्व से उत्पन्न होता है, वह विकार है—तत्त्वान्तराजनकत्वे सति जन्यत्वं विकारत्वम् ॥ इस विभाग में यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत मिलाकर सोलह तत्त्व समाविष्ट होते हैं क्योंकि इनसे आगे कोई तत्त्व निर्माण नहीं होते । इस पर यहाँ शब्द हो सकती है कि जब पञ्चमहाभूतों से समस्त सृष्टि के अनन्त पक्षार्थ उत्पन्न हुए हैं तब प्रकृति केवल सप्त या अष्ट और विकार केवल पोदश इस प्रकार दृश्यता करना अनुकूल है । इसका समाधन वाचस्पति मिश्र निश्च प्रकार से करते हैं—तथापि च पृथिव्यादीनां गोधृष्णश्चादयो विकाराः । एवं तद्विकारमेदानां पयोवीजादीनां दध्यहुरादयः, तथाऽपि गवादयो बोजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्वान्तरम् । 'तत्त्वान्तरो-पादानत्वं च प्रकृतित्वम्' इहाभिप्रेतमिति न दोषः सर्वैर्पां गोधृष्णादीनां स्थूलतेन्द्रियशास्त्रा च समेति न तत्त्वान्तरम् ॥ इसका तात्पर्य यह है कि गोधृष्णादि पृथिव्यादि के समान स्थूल, बाह्येन्द्रियग्राह्य और शान्तादिधर्मयुक्त होने के कारण स्थूल पञ्चमहाभूतों से भिन्न तत्त्व के नहीं हैं । इसलिए प्रकृति और विकारों की संख्या जो ऊपर निर्दिष्ट की गई है, वही सही है ।

स्वः स्वश्वैषां विषयोऽधिभूतं; स्वयमध्यात्मम्; अधिदेवतं तु—वुद्देव्यहा, अहङ्कारस्येश्वरः मनसश्चन्द्रमाः दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः पृथिवी ग्राणस्य, चांचोऽस्मिः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोमित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्थस्येति ॥६॥

(तत्त्वों का अधिभूतादि त्रिविध्य—) इनका अपना अपना, विषय अधिभूत होता है । स्वयं तत्त्व आध्यात्मिक है और अधिदेवत-बुद्धि का व्राणा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र की दिशाएँ, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, रसना का जल, ग्राण की पृथिवी, वाणी का अश्व, हाथों का हन्द, पांडों का विष्णु, गुड का मित्र और जननेन्द्रिय का प्रजापति है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—अधि—इस उपसर्ग का अर्थ तद्विषयक, तदधिष्ठित या तदधिकृत्य ऐसा होता है । अधिभूतम्—भूतेषु विद्यमानं विषयभूतं शब्दादिकम् । अध्यात्मम्—आत्मनि कार्यकारणसंबंधे शारीरे विद्यमानं धोत्रादिं । अधिदेवतम्—देवतासु विद्यमानं दिग्गादिकम् ।

महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रसूति । कैवल्यार्थम्—कैवल्यस्य भावः कैवल्यम् । अद्वितीयता, अकेलापन अर्थात् प्रकृति से वियोग । प्रकृति से सुखक होने के पश्चात् उससे वियुक्त होने की स्थिति को सांख्यदर्शनकार मोक्ष कहते हैं । यह मोक्षया वियोग तब होता है, जब पुरुष को केवल ज्ञान प्राप्त होता—जब तत्त्वाभ्यासादाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् । अविपर्यायित्युद्देश्यते शानम् ॥ (सां० का० ६४) । नास्तीत्यात्मनः कर्तुर्वनिषेधः । न मे इति सङ्गतिषेधः । नाहनिति तादात्म्यनिषेधः ॥ (विज्ञानभिज्ञ) । सचेतन पुरुष के साथ संयोग होने पर जड़ प्रकृति सृष्टि का कार्य प्रारंभ करती है और जिस प्रकार नर्तकी नाना प्रकार के नाच और हावभावों के द्वारा प्रेतकों का मनोरंजन करके उनका मन अपनी ओर आकर्षण करती है; वैसे ही प्रकृति भी पुरुष का नाना प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं द्वारा मनोरंजन करके उसको अपनी ओर आकर्षण करती है । इन विविध मनोरंजन के पदार्थों से जब तक पुरुष को आनंद होता है, उनके न मिलने से उसको दुःख होता है और वह अहङ्कार-विमूढ़ होकर सब सृष्टि का कर्तव्य अपने में मानता है, तब तक उसको मोक्ष नहीं मिलता । जब पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है कि वह स्वयं त्रिगुणातीत और अकर्ता है तथा प्रकृति त्रिगुणारम्भ और कर्ता है अर्थात् जब वह प्रकृति से अपना पृथक्वत्व समझता है और प्रकृति उससे पृथक् हो जाती है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है । इससे यह स्पष्ट है कि सुख-दुःख भोग के विना कैवल्य नहीं मिल सकता और सृष्टि पदार्थों के विना सुख-दुःख भोग नहीं होता है । इसलिए पुरुष के उपभोगार्थ और पर्याय से कैवल्यार्थ उसका संयोग होते ही प्रकृति में महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवार्थं सर्गं करोति ॥ कैवल्य सृष्ट्योत्पत्ति का यद्यपि अनित्म और सुख उद्देश्य है तथापि सुख-दुःख भोग भी उसके साथ उद्देश्य होता है, परंतु वह गौण और साध्य का साधन होने के कारण यहाँ पर अनिदिष्ट है । ‘विभुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य’ इस सांख्यसूत्र (२, १) पर विज्ञानभिज्ञ लिखते हैं—यद्यपि मोक्ष-बद्धोगोऽपि स्ते: प्रवोक्तनं तथापि मुख्यत्वान्मोक्ष एवोऽस्मि ॥ सांख्यकारिका (२१) में दोनों का निर्देश किया है—पुरुष्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंचवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ क्षीरादि हेतु—प्रकृति सर्गोत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है, इसके संबंध में सांख्यदर्शनकार क्षीर के तथा अन्य दृष्टान्त देते हैं । (१) क्षीर का दृष्टान्त—जैसे दृष्ट के स्वयं अज्ञ—अचेतन—होते हुए भी वर्त्स पैदा होते ही उसकी धृष्टि के लिए प्रवृत्ति याने उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्रधान के स्वयं अचेतन होते हुए भी पुरुष का संयोग होते ही उसके मोक्ष के लिए सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—जैसविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरक्षय । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य (सां० का० ५७) । यथा तुषोरकं गवां भक्षितं क्षीरमादेन परिणम्य वर्त्सविवृद्धि करोति, पुष्टे च वर्त्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम्, इति अहस्य प्रकृतिः ॥ (गोदपादार्थ) । सांख्यसूत्र में भी क्षीर का यही दृष्टान्त (अचेतनवेदिपि क्षीरवचेतिं प्रधानस्य ३, ५९) ।

दिया हुआ है, परंतु विज्ञानभिज्ञ उसका अर्थ ‘दृष्ट का दही में परिवर्तन’ करते हैं—यथा क्षीर पुरुषप्रयत्ननैरपेद्येण स्वयेव दधिल्पेण परिणमते, पवमनैनवेऽपि परप्रयत्नं विनाऽपि महदादिरूपपरिणामः प्रधानस्य भवनीतीयः ॥ (२) दूसरा दृष्टान्त काल का दिया है । जैसे सृष्टिवृद्धि के लिए काल का वर्षा, शीत, ग्रीष्म इत्यादि कृतुओं का चक्र स्वयं जारी रहता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति का सृष्टिचक्र जारी रहता है—रूपवद् दृष्टेवा कालादेः ॥ (सां० सूत्र ३, ६०) । अर्थे को गच्छति कृतुरितरश्च प्रवर्तते इत्यादिरूपं कालादिकर्म स्वत एव भवत्येवं प्रधानस्यापि वेदा स्यात् ॥ (विज्ञानभिज्ञ) । (३) तीसरा दृष्टान्त मनुष्यों के अवहार का दिया है । जैसे, ईश्वितार्थं प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रवृत्त अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है—श्रौतूभ्यनिवृत्यर्थ्य यथा क्रियातु प्रवर्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्दव्यक्तम् ॥ (सां० का० १८) । (४) चौथा दृष्टान्त नर्तकी का है । जैसे कि, प्रेतकों के मनोरञ्जनार्थ नर्तकी गीत वाद्य नृत्य हावभाव दृष्टादि में प्रवृत्त होती है, वैसे ही प्रकृति प्रवृत्त होती है । पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति स्वभाव से या संस्कार से होती है—स्वभावाच्चेदितमनभिसंधानाद् नृत्यवत् ॥ (सांख्यसूत्र ३, ६१) । ये दृष्टान्त प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए जैसे सूचक हैं, वैसे उसकी निवृत्ति के लिए भी सूचक होते हैं । जैसे वर्त्स पुष्ट होने पर तृणोदक शीरोत्पत्ति से निवृत्त होता है, पानी का काम समाप्त होने पर वर्षाकृतु आप से आप निवृत्त होती है, भोजन यन्नने पर मनुष्य (रसोद्या) भोजनव्यापार से निवृत्त होता है [विक्षिपेवात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके] ॥ (सांख्यसूत्र ३, ६३) । परवैराग्येण पुरुषार्थसमाप्ति प्रधानस्य सृष्टिनिवृत्तते, यथा पाके निपत्ते पाचकस्य व्याप रो निवर्तते दृष्ट्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचन-भाष्य)], और प्रेतकों का मनोरञ्जन होने पर नर्तकी रंगभूमि से निवृत्त होती है [रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथाऽस्तमानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः] ॥ (सां० का० ५६) । यथा परिपद्मये नृत्यदर्शनार्थं प्रवृत्ताया नर्तक्यास्तस्मिद्वौ निवृत्तिरित्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)], वैसे ही पुरुष के कैवल्य प्राप्त होने पर प्रकृति उससे याने पर्याय से सर्गोत्पत्ति से निवृत्त होती है ।

अत ऊर्ध्वे प्रकृतिपुरुषयैवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः । तद्यथा—उभावध्यनादो, उभावध्यनन्तौ, उभावध्यलिङ्गौ, उभावध्यपि नित्यौ, उभावध्यन-परौ, उभौ च सर्वगताविति; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा वाऽज्ञवर्मिणी प्रसवधमिण्यमध्यस्थवर्मिणा चेति, वहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अवोजधर्माणोऽप्रसवधमर्माणो मध्यस्थधर्माणाश्चेति ॥ ८ ॥

(प्रकृतिपुरुषसाधर्म्यवैधर्म्य—) अब इसके पश्चात् प्रकृति और पुरुष के साम्य और वैपर्य का व्याख्यायन करते हैं । वह (साम्य और वैपर्य) इस प्रकार का है—दोनों ही अनादि, दोनों ही अनन्त, दोनों ही अलिङ्ग, दोनों ही नित्य, दोनों

ही धपर और दोनों ही सर्वव्यापी होते हैं। परन्तु प्रकृति
एक, अचेतन, त्रितुणारमक, वीजधर्म, प्रसवधर्म, और
धर्मस्थर्यधर्म है। उसपर अनेक, सचेतन, निर्गुण, वीजधर्म
रहित, प्रसवधर्मरहित और सभ्यस्थर्यधर्म होते हैं ॥ ८ ॥

वस्त्रम्—उमावप्यनादी—दोनों में यहुत समता हाने के कारण चरकसहिता में प्रकृति और पुरुष दोनों का समोवेश अध्यक्ष में किया गया है। साधर्थवधम्—समानो धर्म साधर्थम्। विरङ्गो विसहृष्टो वा धर्मो वैधम्॥ समत और विप्रसमता। अनादिदि—नास्ति आदि वारण पूर्वकों वा यथ स। चरक में प्रकृति और पुरुष के अनादिवके सम्बन्ध में लिखा है कि आराम अनादि है, इसमें सहै नहीं है और चैत्रप्रत्यरा भी अनादि है, अत दोनों ही अनादि होने के कारण इनके अनादिवके में तरसम भेद नहीं किया जा सकता है—आदिनस्तामन, चैत्रप्रत्यर्थमनादिवम्। अनस्तयो रनादिवत कि चूर्णिति नोच्छ्रवे॥ (शा० १)। अनस्त—नास्ति भी नो यथ। यह आनन्द्य तीन प्रकार का होता है—न वृद्धिवादरागोऽनो नित्यतात्रापि वानन्। न बल्लुगोऽपि सर्वत्यादानात्व ब्रह्मिति विधा॥ अलिङ्ग—न विष्णे विष्ण यस्य तदलिङ्गम्। लिङ्गये नेमति लिङ्गमात्मारो लभण वा। लिङ्गाद्वाता अर्थक का लक्षण है। इसलिए अलिङ्ग से अध्यक्ष का वोध होता है। किंवा ‘निक्त लयतुकम्। लयसले पञ्चमहाभूतानि त मात्रेषु लीडैते तां-मेयात्मादेवि॒ये सदाहङ्करे स च बुद्धि, सा च प्राप्ताने तय यानीनि। नैव प्रधानम् तमाहिंदि प्रधानम्॥ (गौडपादाचार्य)। अपात् तिनका लक्ष नहीं होता है, उस प्रकार का। किंवा वाराणानुप्राप्तं लयामनादाव लिङ्ग नायनाम्। (साधय प्रवचन भास्य)। जो कार्यं जाग नहीं होता, वह अलिङ्ग है। सीनी दृष्टि से अलिङ्ग के यास्तदिव अर्थ में पर्क नहीं होता। अपर—न विष्टते पर छेष दस्मो वा यस्माद्। विस्ते कोई अष्ट या सूक्ष्म न हो। किंवा न हि प्रधानाद् किञ्चित्तनि पर यस्य प्रधान यार्थं स्वात्॥ (गौडपादाचार्य)। संगमं—सर्वभ्यापी, सर्वमूर्त्सवयोगी या विभु। परा—सर्वतुरप्यसापाराणा। असक्यु पुरुष भेद होने पर भी अभिभाव। विगुणा—सर्ववरजत्तमामक। ये सीन एवं प्रकृति में साम्यावस्था में और अकार्यावस्था में उपरिषत होते हैं—४१६ (४१६) इन ग्रहन तु युत्तरवद्। १५०८ो च प्रकृतिः॥ अद्यादीर्घ्योऽनित युत्तम साम्य प्रकृतिरित्यर्थं॥ (साधय प्रवचनभास्य)। धीरघमिगी—॥ यस्य धर्मो रोपयत्वं सोऽस्मा धर्मयो वीरघमिलोः धीज्ञ मै जैसे बृहोत्पति का धर्म होता है, यैसे सर्वात्पति का धर्म नियमो उपरिषत हो, एवी। इरप दृष्टि को कई बार फड़ धूल से लटे धूप की उपमा भी जाती है और इस एष्टिव्यप्रवस्थाव का धर्मन सांख्यतात्मो के अनुमार करते हैं। तथ प्रकृति को धींज ही कहते हैं—अन्दकाशग्रन्था तुर्दिवापद्या मराद्। मराद्वारप्रदा इन्द्रिया चरयोर। महामूलविशालक्ष विशेषविनाशवान्। सदा धर्मः सामुपुष्ट युगायुग चरय। आजीव तर्हंभूतानो ब्रह्मदृष्ट सत्तान्॥ (महाभारत, आधारायत्पर्व ३१)। प्रधर धर्मगी—उपमा वा दृष्टोदृशुष परिगामो वा तद्दृशे धर्मो य एवं या धर्मो न प्रधरमिगी। महाद्विदि तातों की समस्त चराचर दृष्टि को जन्म देने का धर्म विमै उपरिषत हो, एवी। अमध्य इवर्धमिगी—मध्यवस्थदृष्ट धर्मो य दीप्तसा धर्मोति अमध्यराय

पुमान् ॥११॥ 'तथा च' का अर्थ पूर्व (१० वीं) आर्या में अहेतुमत, नियम हृष्यादि प्रधान के गुण वर्णन किये हैं वैसा, अर्थात् हस्से साम्य प्रदर्शित होता है और 'तद्विपरीत' से वैपर्य प्रदर्शित होता है ।

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्वं एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वा-तन्मयत्वाच्च तदगुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषणते ॥६॥

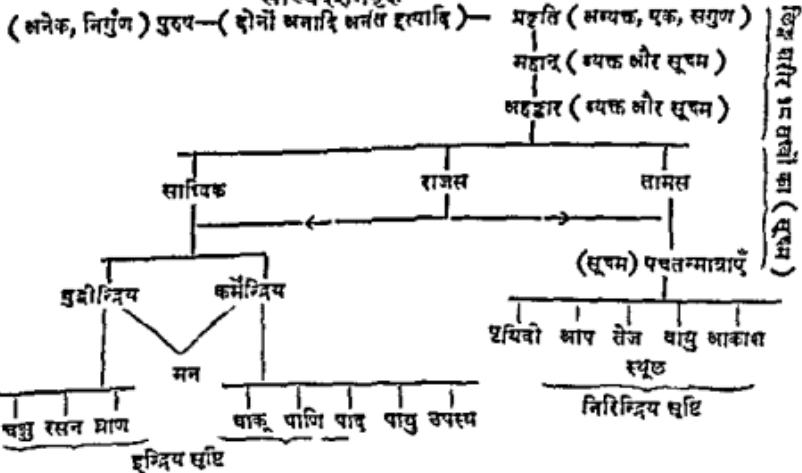
कारणानुरूप कार्य (हुक्षा करता है), हस (न्याय) के अनुसार ये सम्पूर्ण विशेष त्रिगुणात्मक होते हैं । तदञ्जन और तन्मय होने के कारण पुरुष त्रिगुणात्मक हो होते हैं, ऐसा कई (आचार्य) कहते हैं ॥ ६ ॥

वक्तव्य — कारणानुरूपं कार्यम्— सांख्यदर्शन के सत्कार्य-वाद का (२ और ७ वें सूत्र की टिप्पणी देखो) यह उपसिद्धान्त है । विशेष— हसका सामान्य अर्थ आकाशादि पञ्चमहाभूत है—तन्मात्राण्यविशेषरतेभ्यो भूनानि पश्च पञ्चम्यः । एते स्मृता विशेषः शान्ता मूढाश्च घोराश्च ॥ (सा० का० ६८) । परन्तु यहाँ पर 'भद्रादि विशेषभूतपर्यन्त' सब तत्त्व उससे अभिग्रेत हैं । कारण यह है कि, जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत त्रिगुणात्मक हैं, वैसे हुद्दि, अहङ्कार और एकादश इन्द्रियाँ भी त्रिगुणात्मक हैं । संक्षेप में, विशेष शब्द यहाँ पर व्यक्त का पर्याय है । तदगुणा एव पुरुषः—पुरुष निर्णुये है, हसका उल्लेख पिछले सूत्र में किया है । परन्तु वह भी तदगुण (प्रकृतिगुणयुक्त अर्थात् त्रिगुणात्मक) हो जाता है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है । हस मत के समर्थनार्थ वे दो कारण बताते हैं । (१) तदञ्जनत्वात्— प्रकृति से लिप्स होने के कारण । अज्ञन का अर्थ है लेप या अपद्रव्य की मिलावट । पुरुष स्वयं त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति से लिप्स होने के कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है । जैसे आदर्श स्वच्छ होते हुए भी लाल फूल की सञ्जिधि से लाल हो जाता है तथा मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन आदर्श के कारण मलिन दिलाई देता है । हसलिए सांख्यसूत्र में लिखा है—न नित्यशुद्ध-हुद्धमुक्तस्वभावस्य तथोगस्थोगादृते ॥ ७, १९ ॥ हस सूत्र के प्रबचन में विज्ञानभिन्न लिखते हैं—यथा स्वभावशुद्धस्य स्फटिकस्य रागयोगो न जपायोगं विना घटते, तथैव नित्यशुद्धादि स्वभावस्य पुरुषस्योपाधिसंयोगं विना दुर्भासयोगो न घटते ॥ हसी हृषि से उपाधिविरहित अर्थात् प्रकृतिविरहित पुरुष या आत्मा निरञ्जन कहलाता है—प्रयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो शुद्धः सत्ये मुक्तो निरञ्जनो विमुरित्यादि ॥ (श्रुति) । निष्कलं निकियः शान्तं निरञ्जनं निरञ्जनम् । अमृतस्य परः सेतुं दण्डे-ध-नभिवानलम् ॥ (इवेतावतरोपनियत) । परन्तु केवल संयोग (उपाधि) पुरुष में त्रिगुणात्मकता प्राप्त होने के लिए पर्याप्त नहीं है, वर्तोंकि तत्त्वाभ्यास से जब पुरुष को केवलज्ञान

उत्पन्न होता है तब वह पूर्ववत् त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति की उपाधि में दावीरनाश होने के समय तक (सा० का० ६४ से ६७ वेंवो) रहता है । पुरुष को त्रिगुणात्मक बनाने के लिए केवल उपाधि पर्याप्त नहीं होती, हसलिए दूसरा हेतु तन्मयत्व यताया गया है । त्रिगुणात्मता प्राप्त होने के लिये यह हेतु आवश्यक है । (२) तन्मयत्वाच्च— तद्रूप होना, सम रस होना, अभेदभाव से रहना, अपने को भूल जाना अर्थात् आसक्ति हसको तन्मयता कहते हैं । जैसे कामी पुरुष स्त्री के साथ तन्मय होकर अपने पुरुषत्व को भूल जाता है—तन्मयत्वं चास्य विक्षिप्तस्वरूपानभिव्यक्तया तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जात्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम् ॥ (व्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।३।१७) । पुरुषतन्मयत्व से उसका बुद्धादिमयत्व समझना चाहिए । हुद्दि, अहङ्कार हृष्यादि में तन्मयता उत्पन्न होने के कारण पुरुष अपने को ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता हृष्यादि मानता है यद्यपि वास्तव में वह हससे विपरीत है—न हि हुद्देगुणैविना केवलस्यादेनः संसारित्वमस्ति । हुद्दयुपाधिर्मात्र्यासानिमित्तं हि कर्तृत्वभेदकृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुश्चासारिणो नित्यमुक्तस्य सतः आत्मनः ॥ (शांकरभाष्य) । प्रकृतेः क्रियमाणानि युग्मैः कर्मणि सर्वशः । श्रद्धाद्विष्वदृग्मा कर्तार्डिमिति मन्यते ॥ प्रकृतेः गुणसंमूदाः सज्जनते युक्तमस्तु । पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुक्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं युग्मसंगोदर्य सदस्योनिजन्मस्तु ॥ सत्त्वं रजस्तम इनि युग्मः प्रकृतिसम्भवाः । निवृद्धननिति गतावादो देहे देविनमव्ययम् ॥ (भगवदीता) । यह हुद्दयादिमयत्व पुरुष में प्रतिविम्बरूपेण होता है, वास्तव में नहीं होता—सा (तदाकारता, तन्मयता) कृद्यस्थितिं बुद्धेरथाकारवत् परिणामो न सम्भवतीरथ-गत्या प्रतिविम्बरूपस्त्रपतायामेव पर्यवस्थति । अयमेव बुद्धिवृत्तिप्रति-विम्बो वृत्तिसारूप्यमितरत्रैतियोगसूत्रेण (१. ४) उक्तः । सत्त्वेऽनुत्पयमाने तदाकारानुरोधात् पुरुषोदप्यनुत्पयत् इव दृश्यते इति योगभाष्ये तदाकारानुरोधाशब्देन विशिष्यैव तापादिदुःखस्य प्रतिविम्ब उक्तः । अत पव च पुरुषस्य बुद्धिवृत्तिपरागे स्फटिकं दृष्टान्तं सूत्रकारो वद्यति—कुसुमवच्छ मणे रेति । तस्मिंश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुष्टवः । इमास्ताः प्रतिविम्बनिति सरसीव तद्वृग्माः ॥ अत दृष्टि-शब्दो बुद्धिवृत्तिसामान्यपरो युक्तिसाम्यात् । प्रतिविम्बश्च तत्तदुपाधिषु विम्बाकारश्चित्परिणाम इति । तस्मात् प्रतिविम्बस्तुपैषु पुरुषे दुःखसम्बन्धो भोगाख्योऽस्ति ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य) । इस विवरण का तात्पर्य यह है कि जैसे जल में चन्द्र का प्रतिविम्ब पड़ता है, तब उस पर जल के चञ्चलत्वादि धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में चन्द्र हिलता है ऐसा बोला जाता है परन्तु आकाशस्थ चन्द्र इन चञ्चलत्वादि धर्मों से दूर होता है, वैसे ही प्रकृति के हुद्दयादि में पुरुष का प्रतिविम्ब पड़ने पर उसके ऊपर प्रकृति के त्रिगुणत्वादि धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में पुरुष त्रिगुणात्मक है ऐसा बोला जाता है, परन्तु वास्तव में पुरुष इन धर्मों से दूर होता है । इस तन्मयत्व और तदञ्जनत्व के कारण उत्पन्न हुई त्रिगुणात्मता ये कारण दूर होने पर अर्थात् पुरुष प्रकृति से दूर होने पर दूर हो जाती है, जैसे जपापुरुष आदर्श से दूर होने पर आदर्श की लाली दूर हो जाती है—यथा उल्लद्गृहा-शिलां गृहं विच्छिव रक्षयते । तथा सदोवप्रकृतिविनिष्ठान्तिः न शोचति ॥

सुशुत्तसहिता

सांख्यदर्शनवृत्त



अब तक सांख्यदर्शन के अनुसार सर्वोत्पत्ति का जो क्रम ऊपर वर्णन किया गया है, उसका वृच पहले सुलावोध के लिए दिया गया है।

प्रकृति, मुख्य, पचमाहूभूत इत्यादि तत्त्वों के सबध में सांख्यदर्शन की जो विचारप्रगाली अब तक वर्णन की गई है, वह पूर्णतया आयुर्वेदसमत नहीं है। इसलिए विन यातों में आयुर्वेद अपनी विशेषता रखता है याते मत्तेवेद प्रकट करता है, उन यातों का अब विचार किया जाता है। प्रयम प्रकृति के सबध में आयुर्वेद का मत प्रकट करते हैं—

दैद्यके तु—

स्वमावर्मीश्वर काल यज्ञस्तु निर्याति तथा ।

परिणामं च मन्यते प्रकृति पृथुदिशनः ॥ १० ॥

आयुर्वेद में तो पृथुदशी टीक स्वभाव, ईश्वर, काल, यज्ञस्तु, विषय और परिणाम की प्रकृति (के समान आदि कारण) मानते हैं ॥ १० ॥

यत्कथ—वैद्यक—दैद्यमिहृष्य कुरो यथ । चिकित्सा शास्त्र । (१) स्वभाव—तत्त्वद्वयप्रतिवद सहज धर्म या गुण—स्वभाव स्वधय तत्त्वद्वयप्रतिवद भावोऽसाधारणकार्यार्थी स्वयं यथाइनेन् करित्वमप्य निष्ठादेशगमनादि । (शाकरानन्द इत्याधितरोपानवत् दीकाकार) । तत्र प्रकृतिहृष्ये स्वामात्रे य सुनाशाहोवयद्वय या स्वामाविको गुणपूर्णिगुणोग्रो । (चरक, विमान १) । यद्य स्वभाव निष्ठितिक्षय होता है—मात्रावो निष्प्रतिक्षय । (चरक, शाम १) । दिवा भवेत्यदेशये न मनेय तु कर्तव्यित । एष मे सहजे दोष स्वामातो दुर्तिक्षम ॥ (शामायथ ६, ३६) । यावद् स्वामावेद्य देशन न विनते । (योगवासिनि ३, ५६) । क कर्कातां प्रकरोही तैत्यग्नं, विन विनिष्ठ गुणपूर्णात् च । मात्राविद्यो कड़गा मरीचे, स्वामातन सर्वमिद प्रकृतम् ॥ (२) ईश्वर—परमात्मा, परमेश्वर जो सर्वां जगत् में व्याप्त है, जिससे यह सुधिक्षक सुमाया जाता है, जिसका न कोइं पति है, न परिचालक है, न उत्तराधिक है इत्यादि—देवरेषा महिमा त्रु लोके मत्तेवेद भास्मे न दग्धकर्म । न दद्य कवित्, परितरित तोके न चेतिगा नैव न

सत्य निकृम । न कारण वरणाधिषो न वास्य कवित्वनिश न चापि ॥ (इत्याधितरोपनिषद्) । इशावास्त्वित् ॥ सर्व वस्तिक्ष लगत्या नगद् । (इशावास्त्वोपनिषद्) । इत्येवादित्यवै न च मासीश्वे पर । ददामि च सदेश्यमीश्वरसेन वीर्तिन ॥ (३) वाल—निषेपादि युगपर्यंत भूतभवित्यवर्तमानकाङ्ग जो सर्वं जगत् का शासक है—वालो निषेप दिवाधित्यवर्यं प्रत्ययोदयको भूमो वरतान आगामीति व्यवहितमातो जनै ॥ (शकरानन्द) । काल पचति भूमानि काल सहस्रे प्रता । काल शुश्रु जागर्ति कालो हि दुर्तिक्षम ॥ नाकालो द्वियते जाय ते च नाकालो न्याहाते च वाल । नाकालो योद्वामश्युपैति नाकालो रोहिनी वीजमुद्रम् ॥ कालमूलमिद सर्वं भावामात्री सुलाशृष्टे ॥ क लोकावगता सर्वं वालो हि वलवत् ॥ (महाभारत) । (४) यज्ञस्तु—बुद्धियुक्त वर्तुव के विन मेव का वरसाना, भूमिकर होना इत्यादि घटनाओं के अवानक उत्तर्प करने वाली शक्ति । वाकतालीय य यैन साकाशकारियों का वाल शक्ति । यत्पुरुषोनां वीर्विना कात्याचित्र वर्तितिक्षुनी गर्भाधारणित्यवदि ॥ (शकरानन्द) । यज्ञस्तु कालमार्यं यथाइस्व द्वनो इवनि भूमि कर्षते, लाभालाभी मदर ॥ (नारायण, इत्याधितरोपनिषद् दीकाकार) । यद्य यज्ञालाभसुत्तुष्टे द दानीमे विमनम् । सम लिद्यातिदी च कृत्वाऽपि न विवदेत् । यज्ञस्तुष्टा नोपश्व वस्त्रादारम् वृत्तम् । तुलिन विद्या पापं भवेत् युद्धमीद्युक्तम् ॥ (भगवत्पात्रा) । (५) निषेप—यैद्यवामाजित या वर्तमान धर्मवर्धमं कर्म का फल या अद्यत । अथवा—निषेप स्वैर्यार्थं वरुणाऽकाशविनियनवाक्यं यत्पुरुषेव योविना गर्भरूपयि दृष्टे समुद्रादि रित्यादि ॥ (शकरानन्द) । निषेपियमाऽनिष्टवृष्टेऽवलति वायुविनियोगं पवत् हि निषेपलुपा । (नारायण) । इत्य हाति से 'विदेषो नियम के अनुसार होने वाले कार्य' को निषेपि कहते हैं । (६) परिणाम—प्रकृति के गुणविकास का फल या अतिम परिवर्तन, पचमाहूभूत । प्रकृतिम—प्रकरोतीति प्रकृति, आदिकारण । कि या प्रकृतिवर्च आदि कारण । पृथुनित—मोही या उदारादि वाले, दूरदर्शी, सङ्कृतिविचार न इतने वाले । मन्द ते—सांख्य

प्रकृति को आदि कारण मानते हैं, वैसे ही आयुर्वेद के पृथुदर्शी ऋषि स्वभावादि छोड़ों को प्रकृति के समान गादि कारण मानते हैं।

इस संसार में इष्टि के सामने आने वाले विविध और वेलच्छण पदार्थों को तथा विचित्र घटनाओं को देखकर मनुष्यों के दिमाग में इनके कारण के संबंध में अनेक कल्पनाएँ उठती हैं। परंतु साधारण मनुष्य इनके अपर न अधिक विचार करता है, न उसके पास अधिक विचार करने के लिए आवश्यक समय और बुद्धिसामर्थ्य होता है। भारतीय ऋषि, जो सदैव तत्त्वचिन्तन में निमग्न रहा करते थे, इस विषय के संबंध में भी अधिक विचार करते थे जिसके कल्पस्वरूप उनमें प्राचीनकाल से कई मतमतान्तर प्रचलित थे। इन मतमतान्तरों का उल्लेख जैसे यहाँ पर किया है, वैसे श्वेताश्वतरोपनिषद के प्रारंभ में सृष्टि का कारण क्या है? इस तरह पूर्व प्रश्न करके किया गया है—५ कारणं ब्रह्म कुनः स्म जाता जीवाम केन क्वच संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठितः केन सुखेनेषु वत्तमिहै ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥ कालः स्वभावो नियतिर्वृद्ध्या भूतानि योनिः पुरुष इति वित्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥ ये सब मतमतान्तर निष्ठ प्रकार के हैं। सांख्य या प्रकृतिवादी मानते हैं कि सृष्टि का कारण प्रकृति है; स्वभाववादी या लोकार्थिक स्वभाव को कारण मानते हैं; वेदान्ती, योगी और ईश्वरवादी परमेश्वर को कारण मानते हैं; कालवादी काल को कारण मानते हैं; भीमासक नियति को कारण मानते हैं; और जगन्नित्यस्वभावादी या गुणपरिणामवादी नास्तिक पंचमहाभूतों को कारण मानते हैं। इस तरह प्रत्येक पक्ष अपने मत को सत्य, या प्रधान और दूसरे के मत को असत्य, गौण या अपने मत में अन्तर्भूत मानता है। जैसे—सांख्य ईश्वर, काल, स्वभाव इत्यादि को कारण न मानते हुए प्रकृति को ही कारण मानते हैं। गौडपादाचार्य 'प्रकृतेः सुकृतातरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति' इस करिका (६१) के भाष्य में लिखते हैं—'केविदीश्वरं कारणं ब्रवते—'अज्ञो जन्मतुरनीशोऽयात्मानः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥' प्रपरे स्वभावकारणका ब्रवते—'केन शुल्केकृता हंसा मधूरः देन चित्रिताः। स्वभावेनैव' इति। अत्र सांख्याचार्य आद्य—'निरुण्यस्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेन् १११३ वा पुरुषान्निरुण्यादैव १११४ तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। यथा—शुल्केभ्यस्तनुभ्यः शुक्ल एव परो भवति कृष्णेभ्यः कृष्ण एव' इति। एवं त्रिपुण्यात् प्रधानात् त्रयो लोकाल्पितुयाः समुत्पन्ना इति गम्यते, निरुण्य ईश्वाः, सगुणानां लोकानां तस्मादुपत्तिरुच्युक्ते। अनेन पुरुषो व्यापार्यतः। तथा केषाचित् कालः कारणमिति। उक्तं च—'कालः पचति भूतानि' कालः संदर्ते जगत्। कालः सुखेषु जागति कालो हि दुरतिकामः ॥' व्यक्ताभ्यक्तपुरुषपालयः पदार्थः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स दि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रपानमेव कारणम्, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति, तस्मात् प्रकृतिरेव कारणम् ॥' वेदान्ती भी इसी तरह स्वभाव, काल इत्यादि को जगत् कारण मानने वालों को मूढ़ समझते हैं—स्वभावमेके कर्तव्यो दर्शनि कालं तथान्ये परिमुद्रामानाः॥

निष्ठ)। आयुर्वदद्रष्टा ऋषि उपर्युक्त सांप्रदायिकों के अनुसार अपनी दृष्टि संकुचित न रखकर सर्वग्राही रखते हैं और विषयानुरोध और औचित्य के अनुसार चिकित्सा-शास्त्र में इन सब मतमतान्तरों का परामर्श लेते हैं। इसलिए यहाँ पर पृथुदर्शी शब्द का प्रयोग किया गया है—पतत् सर्वानुमतं, सर्ववैद्यपरिषत्वादायुर्वेदस्य (ड्लॉण)। सुश्रुत में तथा आयुर्वेद के चरकादि अन्य ग्रन्थों में इन छोड़ों के उदाहरण मिलते हैं। (१) स्वभाव—अक्षप्रत्यज्ञनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते। सञ्ज्ञिवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्ध्रवी । तलेष्वसंभवो यथा रोगामेतत् स्वभावतः ॥ (सुश्रुत शा०)। कालस्य परिणामेन मुक्तं वृत्तात् यथा फलम्। प्रथमे स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥ (सुश्रुत, निदान)। स्वभावाद्गुरुमासां वराहमहिषादयः ॥ (चरक, सु०)। (२) ईश्वर—जाठरो भगवान्प्रज्ञिरेक्षरोऽन्नस्य पाचकः। सीद्यम्बाद्रसानाददानो विवेत्त नैव शक्यते ॥ (सुश्रुत)। स हि भगवन् प्रभवश्वाव्ययश्च भूताना भावाभावकरः विश्वर्कमा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विद्याता भावानामणुः विभुविष्णुः कान्ता लोकानां ब्रायुरेव भगवानिति ॥ (चरक)। (३) काल—कालो हि नाम भगवान् स्वयंसुरनादिस्थनिधनोऽत रसव्यापत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणां मायते ॥ (सुश्रुत)। तावेतावक्वायुसोमाश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुंसशोषदेवमनिवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ (चरक)। देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्। शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याख्यासमुद्भवः ॥ (सुश्रुत, उत्तर ६१)। (४) यद्द्वच्छ्वा—पारुष्ययुक्तश्विरवृद्धयपाको यद्द्वच्छ्वा याकमियादृक्षाचित्। यद्द्वच्छ्वा चोपगतानि पाकं पाककमेणोपर्वदेविष्णुः ॥ (सुश्रुत)। (५) नियति (अद्य) —ब्रह्मलीसउजनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मसिः पापरोगस्य प्रादुः कुष्ठस्य संभवम् ॥ कर्मजा व्याधयः केचिद्वेषजाः सन्ति चापरे। कर्मदोषोद्भवाश्वान्ये, कर्मजास्तेष्वहेतुकाः ॥ न इयन्ति त्वक्वियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसंक्षये ॥ (सुश्रुत)। निर्दिदं दैवशब्देन कर्म यद् पौर्वदेविकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपजायते ॥ न हि कर्म महात् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियानाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यन्ति तत्क्षयात् ॥ (चरक)। नियम—नियं दिवसेऽतीते संकुच्यस्त्वुजं यथा। कर्तौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संविष्यते तथा ॥ यथा वेत्तामे वेत्ता आदयित्वा महोदयेः। वेगानां तदेवाम्भस्त्रैवान्तिनिलीयते ॥ दोषवैदेये तद्दुर्देयेत ज्वरोऽस्य वा । वेगानां प्रशास्येत यथाभ्यः सापरे तथा ॥ इन्द्रियेणिन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियं तु ल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सुश्रुत)। पक्षादा द्वादशाष्टादा मासादा कुपिता मलाः। अपत्ताराम कुर्वन्ति वैगं किञ्चिद्धान्तरम् ॥ (चरक)। (६) परिणाम—ता एवीष्यः कालपरिणामात् परिणतवीर्या वलवत्यो हैमन्ते भवन्त्यापश्च। वालानामपि व्यःपरिणामात् शुक्रग्रामभर्ती भवति। इदं सर्वद्रव्याण्यभ्यवृद्धतानि सम्बद्धमिथ्याविषकानि सुण्णं दोषं वा जनयन्ति। (सुश्रुत)। जाठरेणामिना योगायदेवि रसान्वरम् । रसानां परिणामान्ते स विषाक इति स्मृतः ॥ (लघुगंगड्डय)। इन कारणों में परिणाम उपादान कारण और शैय निमित्त कारण होते हैं। संकेष में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद, शरीर में जो अनेक कार्य होते हैं, उनकी उपरपत्ति करवी दर्शनि कालं तथान्ये परिमुद्रामानाः॥

भी कारण सानता दे।

तन्मयान्येष भूतानि तदगुणान्येव चादिशेत् ।
वैश्य दत्तवृष्टिः यतस्मो भतप्राप्तो व्यजन्यत ॥ ११ ॥

तस्योपयोगोऽभिहितव्यकित्सां प्रति सर्वदा ।
अते ये इत्याद्य गुमायन्ति चिन्ता चिकित्सते ॥३॥

भूतस्या ह पर यस्मान्नास्ति चिन्ता चिन्ताकालात् ॥१४
यतोऽभिहितं—तत्सम्बन्धद्रव्यसमूहो भूतादि
द्रकः ॥१३॥

आकाशादि पञ्चमहाभूत प्राणितमय तथा मकुरिगुणुक
जानने चाहिए । इन महाभूतों से प्रवृत्तिलघुगुणक सर्वार्थ
(स्थावरजगत्मास्तक) संष्टि उपेत्त हुई है ॥ 11 ॥ उस
(सर्वार्थ स्थावरजगत्मास्तक स्थृति) का सदा से ही
चिकित्सा के लिए उपयोग कहा गया है यद्योऽकि चिकित्सा
शास्त्र में पञ्चमहाभूतों से परे विचार (करने का प्रयोगन)
नहीं होता है ॥ 12 ॥ इसलिए 'उद्धरतमवदध्यसमृद्ध
पञ्चमहाभूतोपाय' कहा गया है ॥ 13 ॥

वृत्तांशु—१.मध्य—पञ्चमहामूर्त्य, जल लक्षणम्, नेत्रवत्
चर्मी हृष्णादि । तद्वृत्तं—विग्रुणामैक । पञ्चमहाभूतों में
विग्रुण वैषम्यावस्था में होते हैं । इनका संदर्भ आरे २३ वें
सूत्र में वर्णन किया गया है । तद्वृत्त—पञ्चमहाभूतों के
लक्षणों से युक्त । महाभूतों के लक्षण—वरद्वचोलाहव
नूत्रवानित्वात्मजाम् । आकाशवायप्रगोषणे हृष्ट विक्षेप व्यक्तमम् ॥
(चरक० शा० १) । शरीर की दृष्टि से पञ्चमहाभूतों के
लक्षण—वैष्ट व युः जामाशाश्वभूतादिः संक्षिप्त द्रवम् । विक्षी
चाक्ष स्वातः शरीर पात्राभिनिकृत् । रत्नैः पञ्चमिभूतेषुक्तं
स्थावरजग्नम् (महाभारत) । ते—२शीउत्तरंमधौः ।
स्थावरजग्नमामकं प्रत्येक द्रव्यम् पञ्चमहाभूतामैक है । फैक
इतना ही है कि प्रत्येक द्रव्यगत पञ्चमहाभूतों का परिमाण
मिह्न विक्षेप होता है, जिससे दृष्टियों में भी भिन्नता ला जाती
है । पांचों महाभूतों के न्यूनाधिक भिन्नण से जो द्रव्याभिनि-
तिहृति होती है, उसको 'पञ्चीकरण' कहते हैं । भूतों के
न्यूनाधिक प्रमाण के कारण एकीकरण अवश्य प्रकार का
होता है और द्रव्य भी असन्त मिलते हैं । पञ्चीकरण का
विवरण आरे इस अध्याय के २२वें श्लोक के अन्तर्य में किया
गया है । द्रव्यव्यन्त—विक्षेप वनितः । विक्षिता प्रति—
दोषपथात् वैषम्यरूप विकार को दृढ़ करने के लिये । शरीर-
गत पञ्चमहाभूतामक दोषातुओं का वैषम्य प्राप्त होने
पर उचित आपाधों द्वारा उनके सम्भवस्था में स्थापित
करना इसको विकिरण कहते हैं—यामिः कियमिग्निने
शुरो शावः समाः । सा विकिरणा विकाराणां कर्त्तव्यिष्ठो
वरन् ॥ प्रवित्तिभूतुसाधार्यां विकिरणमित्येवत् ॥ (चरक) ।
दूसरोंपो हि परम्—पूर्वानुग्रह परम् । प्रत्येक द्रव्य के पञ्चमहा-
भूतामक संदर्भ से अधिक । विकिरण के लिये अधिकान
और उपकरण दोनों की ही जहरत होती है । पञ्चमहाभूता-
मकवारारात्रुकु तुरुष अधिकान और भूतग्राम उपकरण हैं—
तत्स्वाक्षरम् १०० ग्राम । नमः वृषुडेविपातनम् (प्रधमलण्ड घृत ८
पर सूख १० वैश्वो) । इसलिये शूतहान का सम्बन्ध अधि-
कान और उपकरण दोनों के साथ होता है । (१) भूषिणान
से दृढ़ि से—शरीरगत दोषातु शक्तिप्रयोगाद् के पञ्चमहा-
भूतामक संदर्भ ज्ञान से अधिक । शरीर में असुख दोष

भूमुखभूताधिक्षय से, अमुक धातु भूमुखभूताधिक्षय से होता है, इस प्रकार के प्रभावभूतामक शरीरवरचनाविशेषण से यदि वैष्ण भली भाँति परिचित हो तो उनकी सम्मान-धर्षण औरपरिवर्यों के उपयोग से स्थापित करने में वैष्ण की सफलता मिल सकती है। इसी दृष्टि से आगे २०वें सद्य में 'सामाजिकारप्रविशारीन' शरीर के अंगप्रदायण वर्षण किये गये हैं। चरकसहिता में भी शरीर के अद्वाप्रयोगों का विवरण हस्ती दृष्टि से (शा० ४१२) दिया गया है। इह सूत्र की टीका में 'चक्रपाणिदृश महाभूता के अनुसार अहं प्रपत्यों का वर्णकारण करने का उद्देश्य लिखते हैं—उन्नेवेद भूतवन्द्यवेनानिवापनमध्यानो इये वा दृष्टे वा सर्वे तद कारण पूनर्भूतोरपोतारतिवेशम् । शुद्धिष्यवननानायेऽ। वद्य वद्यम्—प्रभव तद्व तद्वृत्तप्रपत्येन द्रव्येण वर्षते, चौपते च तद्विपरीतेन ॥ (२) उपरक्षण की दृष्टि से—सेसार में मिलने वाले द्रव्यों के भूतात्मक संसारण ज्ञान से अधिक। इसी में मिलने वाले प्रवैक प्रदर्शी के सङ्गठन से यदि चिकित्सक भली भाँति परिचित हो तो हृष्टियुक्त दोषपथु के हासन के लिए उपरक्षण की दृष्टि वर्षण के वर्षण के लिए उचित द्रव्यों द्वारा उपयोग करके वह दोषपथातुओं की साम्यावस्था स्थापन करने में याने चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस सफलता के लिए ज्ञेत्र व्या है ? प्रकृति व्या है ? अहंव्या व्या है ? तन्मात्रा व्या है ? हृष्टादि गृहन ततों सम्बन्ध में विचार करने की बोई विशेष आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के द्रव्यविदेशपिण्डीय अध्याय में द्रव्यों के पापित्वादि भेद तथा उनके गुण-वर्षण करके (प्रथम खण्ड पृष्ठ २२५) पश्चात् लिखा —प्रेन निदानं न लानोपभित् बाति किञ्चिद्दृन्यम्—तिति कृता तं तं तु त्रिविदेशमर्थं चामिनमीद्य द्विवर्ष्युग्मत्वानि द्रव्याति कामुकाति भवन्ति ॥ वैसे ही आगे चलकर स्ती अध्याय में 'भूतोवारिवैरूपैः तस्म वाति समीक्षा' लिखा दिया द्रव्यसाकृत का दोषों के उपर हीने वाला परिवर्णन लिखा है। योडमितिहृ—सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के ३०वें सूत्र में (प्रथम खण्ड छठ १२ पर) । तत्पत्रद्वय-मूरो भवन्ति—चिकित्सा का अधिकान पुरुष है और पुरुष लियद्वयात्मक पश्चीमर्वत तत्व का नाम है। वह निरुण, विकिर्ण और शरीर हीने के कारण न उसमें दोषपथातु-पथ्य ही सकता है, च वैष्ण उपरक्षण की चिकित्सा कर सकता । इसलिए इस ससार में पुरुष अवतीर्ण होने के लिए जो चीज़ अवश्यक होती है (जैसे—हृक्षोणित, अर्धीय, सहायता हृष्टवृक्षादि आह) वे सभ उपर शब्द अधिक्रिय होती हैं। अर्थात् चिकित्सा के लिए वैष्ण का उपरक्षण पुरुषाधिक्षय है तत् प्रथमसम्भूतामक दोषपथु अहं-प्रपत्यों के साथ ही आता है, प्रथम उपरुष के साथ नहीं आता है। संचेप में यदि वैष्ण शरीर के तथा द्रव्यों के द्रव्यमभूतामक सफलन से भली भाँति परिचित हो तो इन प्रकृति हृष्टादि का गदन विचार न करने पर भी वह चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है, यह अभिग्राय भोगी ऐ विचारात्मा ।

भौतिकान चोऽन्तर्याप्यायुर्वेदे घण्यंते, तथेऽन्त्रिमाः ॥१३॥

भवति चात्र—

इन्द्रियेणन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णति मानवः ।

नियतं तुल्ययोनित्यान्नान्यमिति स्थितिः ॥१५॥

(इन्द्रियों का भौतिकत्व—) आयुर्वेद में इन्द्रियां भौतिक ही वर्णन की जाती हैं, तथा इन्द्रियों के अर्थ (भौतिक वर्णन किये जाते हैं) ॥१४॥ इस (के समर्थन) पर श्लोक है—मनुष्य (प्रत्येक) इन्द्रिय के द्वारा तुल्ययोनि होने के कारण उसके विषय का ही एकान्ततः प्रहण करता है, अन्य (इन्द्रिय) से अन्य (विषय) का (ग्रहण) नहीं (करता), यही सिद्धान्त है ॥१५॥

वक्तव्य—पायुर्वेद—इस सूत्र में सांख्यदर्शन से आयुर्वेद का मतमेद प्रदर्शित करने के लिए आयुर्वेद शब्द का उपयोग किया है। यह दूसरा मतमेद है। इन्द्रियाणि—चक्षु, श्रोत्र, ग्राण, रसन और स्पर्शन । इन्द्रियार्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । भौतिकानि—यही मतमेद है । सांख्यदर्शन वृक्ष को देखने से यह भेद स्पष्ट होगा । सांख्यदर्शन के अनुसार वैकारिक अहङ्कार से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है अर्थात् प्रस्तुत बुद्धीनिद्रियों के संबन्ध में यों कह सकते हैं कि उनकी योनि एक याने वैकारिक अहङ्कार है । तामस अहङ्कार से पांच तन्मात्राएँ और उनसे पञ्चमाभूतों की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार इन्द्रियों की और भूतों की उत्पत्ति पृथक् पृथक् होने के कारण इन्द्रियों को सांख्याचार्य भौतिक नहीं मानते ।

सांख्यसूत्र में इन्द्रियों को भौतिक मानने का स्पष्ट नियेष्ठ किया है—प्राह्दुरारित्वशुर्नेन भौतिकानि (२, २०) । परंतु वैशेषिक, न्याय और वेदान्तदर्शनों में इन्द्रियों भौतिक मानी गई हैं—त्राणसनचतुर्स्त्रक्षेत्रवाणिन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ (न्यायदर्शन १, १, १२) । पृथिव्यापत्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि (इन्द्रियकारणानि इति) (१, १, १६) । गन्ध-रसलहस्यरूपवृद्धाः पृथिव्यादिगुणात्मदर्थः ॥ (१, १, १४) । खं श्रोत्रे, स्पर्शं वायुर्दर्शने तेज उत्कटम् । स्नितं रसने, भूमिग्राणे तज्जीनिरूपितम् ॥ आयुर्वेद ने इन्द्रियोत्पत्ति के संबंध में सांख्यदर्शन को छोड़कर न्यायादि दर्शनों का आधार ग्रहण किया है । चरक में भी इन्द्रियां भौतिक मानी गई हैं—प्रबैन्द्रियद्रव्याणि खं वायुज्योतिरापो भूरिति ॥ (सू.८) । इन्द्रियेण हस्तादि—इस श्लोक में इन्द्रियों को भौतिक मानने का तत्त्व (स्थिति, सिद्धान्त) वर्णन किया है । तत्त्व का विचार निम्न तीन पहलुओं से कर सकते हैं । (१) सांख्यदर्शनानुसार पांचों इन्द्रियां वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् इन्द्रियां एक स्वरूप की होनी चाहिए । यदि यह तत्त्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियाओं का ग्रहण होना चाहिए, या पांचों से पांचों अर्थों का ग्रहण नियमाविरहित होना चाहिए, या एकाध इन्द्रिय न होने पर या न एहोने पर उसका कार्य अन्यों से होना चाहिए । परंतु इन्द्रियां इस प्रकार अर्थग्रहण नहीं करतीं, उनमें अर्थग्रहण का नियम होता है । इसलिए अनुमान से यह कह सकते हैं कि सब इन्द्रियां एककारणोत्पन्न नहीं हैं अर्थात् पांच अर्थों के लिए जैसे पांच इन्द्रियां हैं, वैसे ही पांच इन्द्रियों के लिए पांच उपादान कारण भी होने चाहिए—नाना-

प्रकृतेनामेषां सता विषयनियमो नैकप्रकृतिनाम्, सति च विषयनियमे स्वविषयग्रदणजक्षस्थां भवति ॥ (वारस्थ्यानवसाप्त्य) । कः पुनरयं नियमः । भूतगुणविशेषग्रदणसाप्तत्वम् । न सर्वमिन्द्रियं सर्वभूतगुणविशेषं गृहाति, अपि तु यज्ञातीयमिन्द्रियं भवति तस्य यो गुणविशेषं इतरेतरभूतव्यवस्थे देहेतुर्गन्धादिः सतैनैवेन्द्रियेण गृष्णत इत्यर्थं नियमः । ऐकास्मये पुनरयं नियमो न स्यात् । यदि पुनरिन्द्रियाण्येकात्मकान्येकारणानि स्युः कारणस्वभावानुविधानाकारै (स्माद्विषयव्यवस्था न स्यात् सर्वं सर्वार्थमेकं वा सर्वार्थमिति स्यात् ॥ (उद्घोतकर वाच्चिक) । (२) श्रोत्रे केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है । शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है । इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के संबन्ध में अनुभव है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का कार्य विषयग्रहणनियमयुक्त होता है । यह कार्य तथ हो सकता है, जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि—उपादान कारण) भिन्न भिन्न हो याने इन्द्रियां स्वस्वभिन्नप्रकृतिः हों (३) पहले यह वताया जा चुका है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ग्रहण से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी के गुण हैं—शब्दे वैद्यायसः-स्वर्णो वायवीयः प्रतीनितः । रूपमन्येयाम्प्रोडत्र रसो गन्धस्तु परिष्वः ॥ शब्द आकाशीय गुण है और उसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है । गंध पाथिव गुण है और उसका ग्रहण केवल ग्राणेन्द्रिय द्वारा होता है । इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस और जिहा, स्पर्श और स्पर्शन तथा गध और ग्राण ये 'तुल्ययोनि' होते हैं—भूतगुणविशेषोपलघुव्यवस्थादात्म्यम् ॥ (न्यायदर्शन ३, १, ६०) । इस सूत्र पर भाष्यकार लिखते हैं—दृष्टे दि वायादीना भूताना गुणविशेषोऽभिव्यक्तिनियमः । यथा—वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जकः, तेजो रूपव्यञ्जकः, पाथिवं क्षिद्वर्णव्यञ्जकस्यविद्वद्व्यस्थं गंधव्यञ्जकम् । अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलघुव्यवस्थादात्म्यमहे—भूतप्रकृतीनीनिद्रियाणि नाऽव्यक्तप्रकृतीनि ॥ वैशेषिक दर्शन में भी लिखा है—भूयस्त्वादग्न्यव्यञ्जकाच्च पृथिवी गन्धशाने प्रकृतिः । ८, २, ५ ॥ तथापत्तेजो वायुश्च रसस्पर्शशर्विशेषात् ॥ ८, २, ६ ॥ श्रीजयनारायण तर्कपञ्चानन भट्टाचार्य कणाद-सूत्रविधिति में लिखते हैं—व्राणेन्द्रियं पायिवं रूपादिमध्ये गन्धस्त्वैव व्यञ्जकत्वात् कुहुमग्न्यव्यञ्जकव्यञ्जकत्वादिवत् । रसनेन्द्रियं जलीयं परकीयरूपादव्यञ्जकत्वे सति परकीयरसव्यञ्जकत्वात्कर्तु-रसाभिव्यञ्जकोदकवत् । चक्षुरिन्द्रियं तैजसं गन्धादव्यञ्जकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वात् दीपरभावत् । त्वयिन्द्रियं वायवीयं रूपादव्यञ्जकत्वे सति स्पर्शव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्क्षिप्तसिलिंश्चात्यव्यञ्जकव्यञ्जकत्वात् ॥ चरक में भी लिखा है—तनानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकार-समुदायासकानामपि सतामिन्द्रियाणां तैजश्चक्षुपि, खं श्रोत्रे, ग्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपत्तेः; तत्र यद्यात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुगृहाति, तत्त्वभावाद्विभूताच्च ॥ (सू.८) । इन बुद्धीनिद्रियों के उपादान कारण महाभूत पञ्चकृत होते हैं । जैसे—ग्राणेन्द्रिय का उपादान कारण महाभूत केवल पृथिवी त होकर पंचमहाभूतों का भिन्नण है, जिसमें पृथिवीतत्व की अधिकता होती है । इस विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए ऊपर वैशेषिक सूत्र में 'भूयस्त्वात्' शब्द प्रयोग किया गया

है। इस सूत्र के भाष्य में चन्द्रकान्त भह लिखते हैं—
भयापि स्विद्य पूषिवी पवादिका, तवैव सति सा यथा
गम्भरवादागमपदाने प्रकृतिः एव रमादिमवादमहारैषिपि प्रकृतिः
स्वादित्यन आह—भयस्वादिति । वैषा पूषिवी, भयापि: स्वरस्या
पूषिवी भग्ना भग्नीपूषिवीत्वादीनामिनि भग्नमवादागम-भवनी पूषिवी
खुश्यते । वरक में भी लिखा है—एकस्तपिकतुजानि खानीमा
पिनिद्याणि तु । पव्यवन्मुद्येयनि वेष्यो उद्दिः प्रवन्ते ॥
(शा० १, २४) । इस पर चक्रणिदत्त लिखते हैं—
एकस्तपिकतैन पव्यापि पाद्योतिकानि, परं भग्नि तेऽपिक
मित्यागुर्भत्यूचयनि ॥

न चायुवेदशास्येष्यपूषिविश्यते सर्वंगतः क्षेत्रश्चा
नित्याथ्य असर्वंगतेषु च देवनेषु नित्यपुरुषव्याप्ति-
फान् हेतुनुदाहरन्ति ॥६॥

(पुरुष का अगुण—) आयुवेदशास्य में लेखन सर्वंगत
नहीं कहे जाते हैं, परंतु नित्य (कहे जाते हैं), और
असर्वंगत लेखनों में (ही आयुवेद के अपि) पुरुष नित्यता-
दर्शक हेतु बतलाते हैं ॥ ६ ॥

धक्कट्य—इस सूत्र में आयुवेद का सोव्यवदानं
से तीसरा भेद प्रदर्शित किया है । नवंग—सर्वंगापो, विभु,
सर्वमूर्तसंयोगी । च—इससे पूर्वशब्द के अर्थ से कुछ
असर्वंगता सूचित की जाती है । जैसे—आयुवेद में लेखन
सांख्यशास्त्रानुसार सर्वंगत न होने पर भी उसके अनुसार
नित्य कहाते हैं और सर्वंगत पुरुष का नित्यत्व जैसे सिद्ध
किया जाता है, वैसे असर्वंगत चेतक का भी नित्यत्व सिद्ध
किया जाता है । सांख्यदर्शनं में पुरुष विभु, अनेक और
नित्य माने गये हैं । पुरुष के नित्यत्व के सबन्ध में योगादि अन्य
दर्शनों का ऐकमत्व है । परंतु अनेकव और विभुय ये दो
लड़न परपर विरोधी होने के कारण सब दर्शनों का हनके
संवेद में ऐकमत्य नहीं है । यदि पुरुष विभु माना जाय तो
उसमें उत्तरान्ति, गति, आगति इत्यादि गमन कार्य नहीं हो
सकते तथा सर्वमूर्तसंयोगी होने के कारण वह अनेक भी नहीं
हो सकता, एक ही दोना चाहिए । यदि पुरुष विभु और
अनेक हों तो प्रत्येक शरीर में अनेक (सर्व) पुरुष उप-
स्थित होंगे और प्रत्येक जीव को सासार में जितने जीव
हैं उनके अनुभव का ज्ञान होगा । इस प्रकार का ज्ञान
नहीं होता है, इसलिए पुरुष या तो विभु और एक
या अविभु और अनेक होने चाहिए । हम विरोध को दूर
करने के लिए अन्य दर्शनकार दर्शनों में से एक गुण को हटा
देते हैं । वैदेविक, ऋष्याय और वेदान्त पुरुष को विभु और
एक भानते हैं भीर उसका अनेकव घटाकाश, मठाकाश के
समान वर्णन किया जाता है—यत्प्रसादो नाना । (वैदेविक
दर्शन ३, २, २०) । एक एवं हि भूतात्मा भूते भूते अविवित ।
एवं वृत्ता जैव उपर्यै जननद्रवद् ॥ प्रकल्पना संवेभूत-
रात्मा एव हर्यं प्रविष्टो वृत्त ॥ महावि सुश्रृत पुरुष का
अनेकव मध्य कहते हैं । इसलिए विरोधपरिहारार्थं उसका
विभुय अव्याप्त करते हैं । चरकाकाशे उपर्यै उपर्युक्त विभु और
एक भानते हैं—प्रद्युम्नकाशा येवद् यामो विभुर्व्ययं ॥
विभुय अव्याप्त प्रसादम् सर्वंगो गदान् ॥ (शा० १) । आगा
विभु मानने के कारण समस्त संसार में क्या हो रहा

है, इसका ज्ञान संघा प्रत्येक जीव के सुखदुख का
अनुभव प्राप्तेक जीव को होना चाहिये, यह आवेद
उपर्युक्त होगा है । इसका समाधान यह है कि यद्यपि
पुरुष विभु है तथा परि उसको हिन्दियों के हारा ज्ञान की
मापि होती है और ये हिन्दियों प्रत्येक शरीर में इतनन्त्र
होती है । अतः एक जीव को दूसरे जीव के सुख-दुखादि
का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता—ज्ञानादः करणेनामा-
द्यानं तद्य प्रवर्तते । करणानामैवैस्याद्योगादा न वर्तते ॥ दौरी
सर्वंगोऽप्यात्मा है तथे तंत्रहर्त्येनिधिये । सर्वः सर्वत्रयस्वात्मा
नाऽऽत्मानो वैति वेदना ॥ निरद्युत्वं मनसा दैक्षण्यानुपानिना ।
मर्वनियन्तं विद्यादैवद्योनावपि दिवनम् ॥ (शा० १) । सुश्रृत
में पुरुष अव्याप्त मानने के कारण इस प्रकार का समाधान
करने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई । पुरुष का
परिमाण—पुरुष के तीन परिमाण हो सकते हैं—सध्यम
विभु और अणु । (१) सध्यम परिमाण—इसका अर्थ
यह होता है कि जिस शरीर में पुरुष रहता है, उसकी
वह पूर्णतया व्यापारा है । इसलिए यह शरीर परिमाण
भी कहाता है । वीद शास्त्रा का परिमाण मध्यम मानते
हैं । परन्तु इसमें यह आपति होती है कि यदि पुरुष
मनुष्यजन्म से हाथी के जन्म में चला जाय तो वह
शरीरव्यापी नहीं होगा और यदि हाथी जन्म से चंडी
के जन्म में चला जाय दो उसका समावेश उसके शरीर
में नहीं होगा । इसलिए आत्मा का परिमाण मध्यम नहीं
माना जा सकता । ‘पव चामादिकार्यम्’ इस प्राप्तुत्वं
(२, २, ३४) के भाष्य में श्रीकाराचार्य लिखते हैं—
शरीराणा चानविद्यितपरिमाणात्मा मनुष्यानीरपि-
माणो भूता पुनः कैनवित् कर्वियाकैत इतिजन्म प्राप्तुत्वं
कूलं इतिशरीर व्याप्त्याद । पुत्रित्वात्-म च प्राप्तुत्वं कूलं
पुत्रित्वाशरीर स्त्रीवैष्टी । समान एव इतिविवित जन्मनि कौमार-
वीवन्त्यावित्तु दोषः ॥ (२) विभुपरिमाण—इसका अर्थ सर्व
व्यापी, जिसके सिवा कोई शृणु पदार्थ नहीं होता । परंतु पुरुष
में पूर्वदेवपरित्याग, अपरदेवगमन, परलोकगमन इत्यादि
गतिवाचक कार्य होते हैं । इसलिए यह विभु नहीं हो
सकता । श्रीकाराचार्य ‘व्याप्तान्तिगत्वात्मानां च एव’ इस प्राप्त-
स्थृत्य (२, २, १५) के भाष्य में लिखते हैं—उत्तिनित्यव्य-
गतिवृत्ताणि तु जीवत्य परिवृत्ते प्राप्तयन्ति । आमाभूताकार्य-
गत्यानीना अव्याप्तान्तिवृत्तान्तर्वृत्तं एव प्राप्तेनि । न ति
विमोक्षनमवृत्तप्रवृत्तन इन ॥ सुश्रृत में इसी कारण से (आगे
का सुश्रृत देखो) पुरुष का विभुय नहीं माना गया है ।
(३) जब पुरुष मध्यम और विभु नहीं है, तब अणु होना
चाहिए । अणु से अतिसूक्ष्मत्व का वीष्ट होता है—जातात्र
दृष्ट्यागत्य शतांश छन्दित्यत्य च । माणो जीवः स विदेशः स
चानन्तर्याम वहन्ते ॥ (वैदेवाधत्तरोपनिषद्) । पौच्छेव अव्याप्त
का एव दर्शक देखो । यहाँ पर भी असर्वंगत से आगा
का परिमाण उपर्युक्त विवरण के आधार पर अणु ही सम-
ज्ञाना चाहिए—गति च परिवृत्ते श्रीविद्यितपरित्याग-
प्राप्तयां विद्यान्तिगत्वात्मानेन वहन्ते । (ग्रन्थस्य शास्त्रकर्माण्य) ।
आयुवेदशास्यसिद्धान्तेर्व्यसर्वंगतः देवता नि-

त्याथ, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्म-
निमित्तः त पते ऽनुमानप्राणाः परमसूक्ष्माश्वेतना-
वन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सञ्जिपातेषभिद्य-
ज्यन्ते, यतोऽभिहितं—पञ्चमहाभूतशरीरिसम-
वायः पुरुष इति; स एष कर्मपुरुषपञ्चकित्साधि-
कृतः ॥१७॥

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्त में अणुरूप और नित्य पुरुष धर्म-
धर्म के कारण तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि और दैवयोनि में
संचार करते हैं । ये अनुभवयात्, अस्यन्त सूक्ष्म, सचेतन
और नित्य पुरुष शुकशोणित संयोग में प्रकट होते हैं ।
इसलिए (पहले) कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा
के संयोग को ही पुरुष कहते हैं, और यही कर्म पुरुष-
चिकित्सा का अधिकरण होता है ॥१७॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में आत्मा अणु और नित्य
चर्णन किया है । इस सूत्र में उसके अणुव और नित्यत्व के
हेतु वताये गये हैं । आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्ते—आयुर्वेदशास्त्र
में जो सिद्धान्त ग्रहण किये गये हैं, उनके अनुसार ।
तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु—यहाँ पर जो योनि के तीन
प्रकार प्रदर्शित किये हैं, उनमें संपूर्ण भौतिक सृष्टि का
समावेश हो जाता है । इनमें पशु, मृग, पक्षी, सरीसूप
(सर्पादि) और स्थावर करके तिर्यग्योनि पांच तरह
की होती है । ब्राह्म, प्राजापर्य, ऐन्द्र, पैत्र, गन्धर्व, यात्र,
राज्ञ और पैशाच करके दैवयोनि आठ तरह की होती
है । मनुष्ययोनि केवल एक तरह की होती है—अतिकृतो
दैवतैर्यग्योनध्य पञ्चधा भवति । मातुपक्षीकरितः समाप्तो भौतिकः
त्र्यः ॥ (सा० का० ५३) । सवर्णन्ति—इस संचरण में तीन
प्रकार की गतियाँ आती हैं—(१) उक्तान्ति—एक देह का
याग । (२) गति—परलोकगमन । (३) आगहि—दूसरे
जन्म में प्रवेश । ये तीनों गतियाँ एक पुरुष के सम्बन्ध में
होती हैं, जिससे उसका नित्यत्व सिद्ध होकर विभुत्व नष्ट
होता है । एक जन्म से दूसरे में प्रवेश करते समय पुरुष
अपने साथ पूर्वजन्म के सस्कारों को ले जाता है, जिनके
कारण वालक जन्म होते ही स्तनपान की अभिलापा करता
है, कुछ लोग दुक्षिमान् होते हैं, कुछ मन्ददुक्षिह होते हैं,
कुछ धार्मिक होते हैं और कुछ लोभी, तामसी हृथ्यादि
होते हैं । न्यायदर्शन में पुरुषनित्यत्व की लिङ्गि इन
उदाहरणों से ही की गई है—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यतुवन्धज्ञातस्य
हर्षभयशोकस्मृतिरुतेः । ३११६॥ प्रेत्याहाराभ्यासकृत
स्तन्याभिलापात् । ३११७॥ वीतरागजन्मादशंनात् । ३११८॥
धर्माधर्मनिमित्तम्—शुभ, पुण्य या सात्त्विक कर्मों के द्वारा
दैवयोनि में; अशुभ पाप या तामस कर्मों के द्वारा तिर्यक्योनि
में; और संमिश्र कर्मों के द्वारा मनुष्योनि में पुरुष को
जन्म मिलता है । तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य
में दैवसंग्रात की टिप्पणी भी देखो । धर्म से जिनमें पाप-
कर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, अधर्म से जिनमें पाप-
कर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, और धर्माधर्म से जिनमें
दोनों प्रकार के कर्मों की ग्राहिक तुल्यता हो ऐसे कर्म
समझने चाहि—था सत्त्वे प्रबृद्धे तु प्रलयं याति देवभूत
तदोत्तमविदां लोकान्मलान्प्रतिपथ्यते ॥ (भगवद्गीता १४।१४) ।

जैसि प्रलयं गत्या कर्मसद्गित्यु जायते । तर्थं प्रलीनस्तमसि मूढ्यो-
निपु जायते ॥१५॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्या मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघ्यगुणवृत्तिस्या अथे गच्छन्ति तामसाः ॥ १६॥ देवत्वं सात्त्विका
यन्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्तवं तामसा नित्यमित्येषा
त्रिविधा गतिः ॥ (मनुस्मृति १२।४०) । अनुमानप्राणः—
पुरुष अस्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण होने के कारण प्रत्यच्च चर्म-
चम्भुकों से उनका ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु उनके
और लघ्नों (आगे का सूत्र देखो) से अप्रत्यच्चतया
उनकी उपलब्धि होती है—सौक्ष्यादनुपलब्धिर्नामावात्
कायंतस्तुपलब्धेः ॥ (सांख्यकारिका ८) । पुरुषोपलब्धि
के सम्बन्ध में पांचवें अध्याय के ६२ वें श्लोक में कुछ विवरण
किया गया है । अतः उस श्लोक को तथा उसके वक्तव्य को
देखो । परमसूक्ष्मः—इस विषय का अधिक विवरण
तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है,
उसको देखो । इतेतात्त्वरोपनिषद् में पुरुष सूक्ष्मता का
प्रमाण निन्द्रा प्रकार से वर्णित है—वालायशतभाग्य शतधा
कल्पतत्त्वं च । भागो जीवः स विशेषः ॥ (१८) । लोहितरेतसोः
सञ्जिपातेषु—शुक्र और शोणित के संयोग में । इसका
विवरण तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया
गया है । शुकशोणित सञ्जिपात से संपूर्ण जरायुजन्य
प्राणियों का वोध होता है और पुरुष के संचरण में इसकी
आवश्यकता भी होती है, क्योंकि कर्मनुसार पुरुष को
मनुष्येतर प्राणियों में भी संचार करना पड़ता है । परन्तु
यहाँ पर हस का अर्थ मनुष्य कर सकते हैं । यतोऽभिहितम्—
सूत्रस्थान के प्रथमाध्याय के २० वें सूत्र में ।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्रणापानाद्य-
स्मैपनिमेषौ दुर्दिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विध-
क्षानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥ १८॥

(पुरुष के गुण—) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,
भाण, अपान, उन्मेष, दुर्दि, मनःसङ्कल्प, विचारणा,
स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये उस
(पुरुष) के गुण हैं ॥ १८ ॥

वक्तव्य—सुखदुःखे—सर्वेषामनुकूलतया वैदनीयं सुखम् हीं
सर्वेषां प्रतिकूलतया वैदनीयं दुःखम् । (तर्कसंग्रह) । वाधना-
लक्षणं दुःखम् ॥ (न्यायसूत्र १) । इच्छाद्वेष—काम और
क्रोध—पुलानुशासी रागः । दुःखानुशासी द्वेषः ॥ (योगसूत्र २) ।
सुखदुःख के पीछे पढ़ने से ही इच्छा और द्वेष उत्पन्न होते
हैं । प्रयत्न—कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करने की
प्रवृत्ति । प्रत्यक्ष कार्यं इससे अभिप्रेत नहीं है—प्रवृत्ति—
वाग्द्विशरीरारम्भः । (न्यायसूत्र १) । प्राण—वायुयों वक्त्र-
संचारी स प्राणो नाम देवधूर् । श्वास के द्वारा फूफकुस के
भीतर जाने वाली वायु । संत्रेष में श्वास (Inspiration) ।
अपान—प्राण के विरुद्ध याने वाहर जाने वाली वायु
(Expiration) अपान का अर्थ पांच वायु में से जो
अपानवायु होती है, वह नहीं है । चक्रपाणिदत्त भी 'प्राण-
पानाद्युच्छवासनिभासा' हसका अर्थ करते हैं । अपान का
उपयोग इस से हमेशा होता है—प्राणापानी सभी कृत्ता
नासाध्यन्तरचारिणी ॥ (भगवद्गीता ४।२७) । उमेषनिमेषी—
आंखों के पलक बन्द करने और खोलने के कर्म । इनके

कार्य के सम्बन्ध में कुछ मतभेद दिखाई देता है—
अविष्टवशी वैत सुउत्तेन न्दु—ये । वैत च सुउत्तोस्यो
विषागास्त्रिदेव ॥ (वैरोपिकमाप्य) । अविष्टवशी
सुयोगवनक कम निषेष । तदेविषागवनक कमं उ—ये ॥ (कणाद
सूत्रविष्टि) । उद्दि—ज्ञान—उद्दिदिविष्टानीत्यवर्था
—नाम ॥ (योगसूत्र १) सर्वविषागेतुरुद्दिष्टानिम् ॥
(तर्कसंपर्क) । सात्यवद्दीर्घं परं एव अभिवेत
नहीं है । मृदुरा—सूक्ष्मवायक मानसिक कार्य । कोई
बद्ध इस प्रकार की है, इस कार्य के इस प्रकार करना
चाहिए, इस प्रकार के विचार को सहरण कहते हैं । विच
रण—उद्दारोहामक वस्तुविमदं अर्थात् युक्त्युक्त प्रमाणों
के द्वारा परीक्षण करना । स्थृति—इन्द्रियों के द्वारा भूतकाल
में जो कुछ भी स्थकार हुए हैं, उनका ज्ञान—प्रत्युम्
विषागप्रोप स्थृति ॥ (योगसूत्र) अधिकार—
यही काम करना चाहिए, इस प्रकार का निश्चय—ये द्वय
कृष्णविष्टि विनिष्ठविष्टि निवाजानाप्रवचेऽप्य या तु द्वे
सोऽप्यवाय । (साक्षतस्त्रौमुदी) । विष्टोऽप्यविष्टि—
इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियायों का ज्ञान होता । युग्म—
पुरुष के यहाँ पर सोलह गुण बताये गये हैं । ये युग्म जब
किसी शरीर में मिलते हैं, तब उस शरीर को सजीव
और जब नहीं मिलते हैं, तब उस शरीर को सजीव
या सूत्रावश्या पुरुष के अविष्टान होने पर या न होने पर
होती है । इत्यलिप् ये गुण पुरुष के कहे जाते हैं और
इनकी उपरिक्षण पर अतिसूचम अतपूर्व लक्षण पुरुष का
पता ढागाया जाता है—१८ द्वे १८ सुखु दुःख प्रदर्शनना
पूर्णि । एवं स्तुतिः कुरु ये लिङ्गानि परमामम ॥ यसमाप्त
समुत्तरस्थृते लिङ्ग वैतानि जीवत । न यूत्स्वात्मिकानि
दत्तस्वात्मुर्मूलपय । शीर दि गते वित्तिष्ठ यूत्स्वात्मिकेनम् ।
पञ्चपूत्रावदेव वाद पञ्चवग्यमुच्यते ॥ (चरक शा० १०) । इस
सूत्र में सौक्यमत से आयुर्वेद का चौथा मतभेद वर्णन
किया है । सांख्यदीर्घन में भी पुरुष अनुमानप्राप्त होते हैं
और उनकी उपरिक्षण के लिए निष्ठ प्रमाण दिये गये हैं—
सहृष्टपरायनाद् विग्रहानिविषयविष्टानाप्य । पुरोऽपि
भीकृष्णामात्रं कैवल्यार्थं प्रवृत्तेय ॥ (सा० का० १०) ।
परम्परा वे निरुण अर्थात् सुखु दुःखादि से विरहित माने गये
हैं । उपर्युक्त कारिका में भी विग्रहानिविषयवाद् इत्युक्तिः
है । इसके सिवाय ११वीं कारिका में भी ‘विग्रुण अर्थं या
प्रमाण तदिती लक्षण व पुरुषं इस तरह पुरुष निरुण है,
इसका स्पष्ट निर्देश है । इस कारिका पर विषानमित्तु
अपनी कौमुदी में लिखते हैं—यथो गुणा युहुदु लोहा
अत्येति निरुणतम् । तज्ज्ञेन सुवाचीनामासगुल्वर परायित
मयाकृतम् ॥ यहाँ पर पुरुष के जो गुण वर्णन किये हैं, न व्याय
वैरोपिकमतानुसार किये गये हैं—१८ द्वे इत्यप्रवल्लुक्तं ल
ज्ञानानि लिङ्गम् । (न्यायसूत्र १) । प्रायादाननिमोदे—मेद
जीवनमोग्नीद्वयानविवाचा सबूत वे—द्वयेव वर्णनावधारमो
लिङ्गानि ॥ (वैरोपिकदीर्घन ३, ४) । चरकसहिता में भी
पुरुष के ये ही गुण बताये गये हैं ।

मूलस्मरणार्थं यहाँ पर सौक्यदीर्घन से आयुर्वेददीर्घन
के मतभेदों का कोहक दिया जाता है—

सांख्यायुपेदभत्तमेददूत्तक कोषुक

मतभेद का स्थान	सार्वत्र	आयुर्वेद
(१) वृष्टिकारण	प्रकृति	स्वभावादि इ (इत्येत १०)
(२) इन्द्रियां	प्रवैतिक	प्रैतिक इत १४
(३) पुरुष	विग्रुण विग्रुण	प्रयु और सुगुण (इत १६-१७)

सारित्रिकास्तु—आनुशस्यं सप्तिमानवित्ता
तिनिदा सत्य धर्म आत्मित्य ज्ञान वृद्धिमेधा स्मृति
र्घृतिरन्विष्प्रवृत्त्य, राजसास्तु—दु लघुहुताऽटन
शोलताऽध्यतिरहद्वार आनुतिकत्यमकारण्य दम्प
मानो हर्षः कामः ब्रोग्रव्य तामसास्तु—प्रियादिः
नास्तिस्यमग्नशोलता वृद्धिनिरोधोऽशान दुमेष
दर्पमकमशालता निद्रालुभ वेति ॥ १६॥

(मन के गुण—) अकरता (द्वायृति), अपने के
जो कुछ भी मिलता है उसमें से दूसरे को दान करने के
प्रवृत्ति, चमा, सत्य, धर्म, आदिक्षयुद्धे, ज्ञान, (धृव
सायामक) उद्दि, (धैयादि) धारण करने की विष्टि,
स्थृति, इति और अनासक्ति ये साधिक गुण हैं ।
दुःख की अधिकता, भ्रमण की प्रवृत्ति, धृता, दम्प (कपरवृत्ति,
दम्पय योग्यने की प्रवृत्ति, धृता, दम्प (कपरवृत्ति,
दीपा) ज्ञान, हर्ष, काम और क्षोष ये राज्य गुण हैं ।
मानसिक उद्दिता, नास्तिस्यवृत्ति, लघुमें की
धूर प्रवृत्ति, उद्दि का निरोध, अज्ञान, मृदता, काम न
करने की प्रवृत्ति (आलाद्य) और निद्रालुता ये तामस
गुण होते हैं ॥ १७॥

वक्तव्य—इस सूत्र में मन के साधिकादि गुण वर्णन
किये हैं । जिसमें आयुर्वास्यादि गुण अधिकता में होते हैं वह
साधिक, जिसमें दुख्वद्वलतादि गुण अधिक होते हैं वह
राज्य, और जिसमें विषादिविष्टि गुण अधिक होते हैं वह
तामस कहलाता है । इन गुणों के निरपेक्ष होने की आव
श्यकता नहीं है—दद्युग्म चा—१८ पुरुषमुवनते मरु तत्सर
देवोऽपिति त्रुत्यो गुणाद्वलयाद्वयाद् ॥ (चरक, सूत्र ८) ।
सत्यविष्टि गुणाद्वये सदृश दृश्वारमद्वयाद्यायि संस्कृते
दीन दृश्व मरुति स लापिति इति वृश्य इते एवमपरमपि
व्याहृतेन ॥ (चाक्षणागिदृश) । म दिनश्वन—धर्म, परलोक,
परेवता इत्यादि से संबंध में विचास करने की प्रवृत्ति । अस्ति
वस्त्रेवदपरामात्राऽन्विति दुदया चरोत्त्व इति । (इत्यण)
भास्त्रिक्षयम भ्रमणना परमार्थेवायमेवु ॥ (शाक्ताचार्य)
वै—भ्राणासक्ति । देवी (धृवादि धृतेन) । (चरक) ।
वृष्टि—विष्यमात्रमक उद्दि—प्राप्ति विष्यमितिः । (चरक) ।
दिवा धर्मं, मनश्वयं, विषयों से आकर्षित न होने की
विष्टि—पूर्णिमालवेन । (चरक) । मान—सासार में
अपनी हड्डत हो, इस प्रकार की महावाक्या । उद्दिनोपेव—
विष्यमात्रुद्दि—मरुति वस्त्रि त या म देवे दृश्वारमा । सर्वादीर्घ
विष्यमात्रुद्दि—प्राप्ति सा पार्व लाप्यमो ॥ (शीता १८) ।

आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्ग्रस्मूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसा-स्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो आजिष्णुता पक्षि-रमण्स्तैदयं शोर्यं च; आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैर्यं स्नेहो रेतश्च; पर्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥२०॥

(महाभूतों के गुण—) शब्द, श्रोत्र, शरीरगत अवकाश और विविक्तता ये आकाश के; स्पर्श, त्वचा, संपूर्ण चेष्टाएँ, सर्वशरीरगत स्पन्दन और हल्कापन ये वायु के; रूप, चक्षु, वर्ण, उण्णता, तेज (शरीरगत) पचनकार्य, क्रोध, तीक्ष्णता (तेज मिजाज) और शौर्य ये तेज के; रस, जिह्वा, (शरीरगत) संपूर्ण द्रवभाग, भारीपन, शीतता, खिड्धता और वीर्य ये जल के; और गन्ध, घोणेन्द्रिय, (शरीरगत) सर्व ठोस भाग और गुरुता ये पृथिवी के गुण हैं ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में प्राणियों के शारीर में पंचमहाभूतों से जो जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन किया गया है। इस वर्णन के उद्देश्य के संबंध में पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य में विवरण किया गया है। ये पञ्चमहाभूत शरीर में खाद्य द्रव्यों द्वारा प्रवेश करके उपर्युक्त भाव उत्पन्न करते हैं—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमित्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी, का आपः, किं तेजः, को वायुः, किमाकाशम् इत्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः, यदुव्यं तत्तेजः, यः सञ्चारति स वायुः, यत्सुपीरं तदाकाशमित्युच्यते । (गर्भोपनिषत्) । वेदा वायुः खमाकाशमूषामिः सलिलं द्रवः । पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पञ्चभौतिकम् ॥ (महाभारत, शा० १८४) । सर्वच्छिद्-समूहः—शरीर के भीतर जितने स्तोतस, भार्ग, वाहिनियां, छिद्र, अवकाश, आशय (जैसे रक्ताशय, आमाशय) इत्यादि होते हैं वे सब इसमें आते हैं। श्रोत्रं व्रायं तथास्यं च हृदयं कोषमेव च। आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥ विविक्तता—एक का दूसरे से पृथक्त्व । यह पृथक्त्व आकाश के बिना नहीं हो सकता और अवकाश आकाश के बिना नहीं हो सकता। इसलिए आकाशीय विकारों में इसका समावेश किया गया है। शरीरस्पन्दन—हृदय का संकोच विकास, धमनियों की फड़कन, शरीर के अंगों का स्फुरण (जैसे आँखों का) तथा अनेच्छिक अन्य गतियां जैसे आन्त्र का परिसरण (Peristalsis), गर्भाशय का संकोच इत्यादि। सर्वमूर्तसमूह—शरीर के सब द्रव और वायुरूप पदार्थों को छोड़कर सब धातु उपधातु इत्यादि साकार अवयव ।

तत्र सत्त्ववहुलमाकाशं, रजोवहुलो वायुः, सत्त्व-रजोवहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोवहुला आपः, तमोवहुला पृथिवीति ॥२१॥

(विगुणानुसार भूतसंगठन—) इन पञ्चमहाभूतों में आकाश सत्त्वप्रधान है, वायु रजःप्रधान है, अस्ति सत्त्वरजःप्रधान है, जल सत्त्वतमःप्रधान है और पृथिवी तमःप्रधान है ॥२१॥

वक्तव्य—इस सूत्र में पञ्चमहाभूतों का संगठन विगुणों के अनुसार दिया गया है। आकाश प्रकाशक होने से सत्त्ववहुल Hinduplus स्पॉर्सcord Server <https://dsc.gd/dharma>

माना गया है; वायु चल होने से रजोवहुल माना गया है; अस्ति प्रकाशक और चल होने से सत्त्ववहुल माना गया है; पानी स्वच्छ, प्रकाशक और गुरु होने के कारण सत्त्वतमोवहुल माना गया है, और अर्थात् आवरक होने के कारण पृथिवी तमोवहुल मानी गई है। विगुणों के अनुसार पंचमहाभूतों का संगठन देने का उद्देश्य यह है कि चिकित्साशास्त्र में इसकी भी कभी कभी आवश्यकता होती है। जैसे—पृथिव्यम् भस्तमोरुपं रक्तं गन्धश्च तन्मयः । तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ (सु० मूर्च्छाप्रतिषेध) ।

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।

स्वै स्वे द्रव्ये तु सर्वैर्पां व्यक्तं लक्षणमित्यते ॥ २२ ॥

ये सब (आकाशादि पंचमहाभूत) एक दूसरे में अनुप्रविष्ट समझने चाहिएँ। परंतु इन सब महाभूतों के (खास) प्रकट लक्षण (केवल) अपने अपने द्रव्य में अपेक्षित होते हैं ॥२२॥

वक्तव्य—अन्योन्यानुप्रविष्टानि-पञ्चोन्यस्यान्योन्यस्मिन् अ-नुप्रवेशः अन्योन्यानुप्रवेशः, तदुक्तानि । अनुलोम और प्रतिलोम द्वारा न प्रकार से पांचों में पांचों का प्रवेश होता है। इलहण की टीका में 'तत्र शब्दगुणमाकाशं मारुते प्रविष्टम्, आकाशमहत्तेजस्तोयानि पृथिव्यामनु प्रविष्टानि । एवं व्योमानिलानलजलो-वीर्णा परस्परमनुप्रवेशानुप्रवेशत्वेनावस्थितानामन्योन्यानुप्रविष्टत्व-सुकम्' ॥ इस प्रकार इसका अर्थ दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं मालम होता है क्योंकि इस विवरण से भूतों का अन्योन्यानुप्रवेश न होकर केवल अनुप्रवेश या अनुलोम प्रवेश होता है। जैसे—आकाश में किसी अन्य भूत का प्रवेश ही नहीं है, वायु में केवल आकाश और वायु हैं और ऊपर श्लोक में 'सर्वाण्येतानि' स्पष्टतया लिखा है। इलहणाचार्य जो अनुप्रवेश वर्णन कर रहे हैं, वह अनुप्रवेश गुणविकास (Evolution) के समय का है, स्थूल भूतों की उत्पत्ति से इसका कोई संबंध नहीं है। स्थूल भूतोंपत्ति के लिए परस्परानुप्रवेश होना चाहिए। स्वै स्वे द्रव्ये—पंचीकरण के द्वारा भूतों की बनावट इस प्रकार की होती है कि जिस जिस नाम से जो द्रव्य याने भूत पुकारा जाता है उसमें उस भूत का अधिक्य होता है और अन्यों की अद्वता होती है। इस अधिकता और अद्वता के कारण अधिकतायुक्त भूत के लक्षण प्रकट होते और न्यूनतायुक्त के लक्षण अप्रकट रहते हैं।

पंचीकरण—इस श्लोक में महाभूतों का पञ्चीकरण संक्षेप में वर्णन किया गया है। समस्त स्थावरजंगमात्मक सुष्टि जिन भूतों से उत्पन्न होती है, वे अस्ति स्वरूप के न होकर संसिद्ध स्वरूप के होते हैं। इनका मिश्रण विशेष पद्धति से होता है। इस पद्धति को पञ्चीकरण कहते हैं। पञ्चीकृत-महाभूत में पांचों के अंश उपस्थित रहते हैं। वेदान्त ग्रंथों में पञ्चीकरण के नियम निश्च प्रकार के मिलते हैं—दिधा विधाय चैकैकं चतुर्थं प्रथमं पुनः । स्वस्वेतरद्वितीयाण्यैर्योजनात् पञ्च पञ्चते ॥ (पञ्चदशी) पृथिव्यादीनि भूतानि प्रथेकं विभजेद् द्विधा । एकैकं भागमादाय चतुर्थं विभजेत् पुनः ॥ एकैकं भागमेत्यस्मिन् भूते संवेशयेत् क्रमात् । तत्त्वाकाशभूतस्य भागः पञ्च भवन्ति हि ॥ वायवादिभागाशत्वारो वायवादिष्वेवमादिशेत् ॥ पञ्चीकरणमेतत्यादित्यादित्यादृतस्ववेदिनः ॥ (सुरेश्वराचार्यकृति पञ्चीकरणार्थिक) ।

इन श्लोकों का तात्पर्य नीचे कोष्ठक से दिया जाता है। सुस्ता-
वदोष के लिये तीन कोष्ठ बनाये जाते हैं।

(१) कोष्ठ—इसमें प्रथेक भूत के दो भाग बनाये
जाते हैं—

आकाश	॥)	॥)	।
तेज	॥)	॥)	।
वायु	॥)	॥)	।
जल	॥)	॥)	।
पृथिवी	॥)	॥)	।

(२) नोड्ड—आपे के पिर चार समान भाग करके प्रथेक
भूत के पाँच विभाग बनाये जाते हैं—

आकाश	॥)	=)	=)	=)	=)	।
वायु	॥)	=)	=)	=)	=)	।
तेज	॥)	=)	=)	=)	=)	।
जल	॥)	=)	=)	=)	=)	।
पृथिवी	॥)	=)	=)	=)	=)	।

(३) कोष्ठ—प्रथेक भूत के प्रथम अवौदय के साथ दूसरे
अवौदय के बो चार भाग किये हैं, उनमें से इतरभूतों का एक
एक भाग मिलाया जाता है, जिससे पश्चीकृतमहाभूत का टीक
सङ्गठन बन जाता है—

पश्चीकृतभूत	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथिवी	
आकाश	॥)	=)	=)	=)	=)	।
वायु	=)	॥)	=)	=)	=)	।
तेज	=)	=)	॥)	=)	=)	।
जल	=)	=)	=)	॥)	=)	।
पृथिवी	=)	=)	=)	=)	॥)	।

उपर्युक्त कोष्ठ से यह स्पष्ट होगा कि पश्चीकृतमहाभूत
में उसी भूत का आधा अंश और आपे हिस्से में समान-
रूपण इतरभूत होते हैं। यही कारण है कि अन्य भूतों के
लक्षण अन्यकै होकर अधिकांश में जो भूत होता है, उसी
के लक्षण अन्यकै होते हैं और जिसका भाग अधिक होता
है तथा लक्षण प्रकट होते हैं उसी का नाम उस भूत को
दिया जाता है। इसी दृष्टि से सूक्ष्मयान के ४१वें अध्याय
में (प्रथमत्वाण् पृष्ठ २२८) लिखा है—परस्तसांगत
परस्त्यानुग्राह, परस्त्यानुप्रवेशात् सर्वेतु सर्वेतु लक्षणं लक्षणं
लक्षणं वर्चात् प्राप्तयम् ॥ इन पश्चीकृत महाभूतों के द्वारा ही
समस्त स्थावरजन्मात्मक सृष्टि तथा पीछे सूत्र २० में
वर्णन किये हुए शारीरिक भाव उपलब्ध होते हैं। पश्चीकृत
पश्चमाभूतानि तत्कार्ये च सर्वं विद्युत्पुरुष्यते ॥ (धीराह्वराकाशं)

सांख्यदर्शन में व्याप्ति स्पष्ट पश्चमाभूतों से सम्बन्ध
निरन्वित्य सृष्टि की उपर्युक्त मात्री जाती है तथापि से स्थूल
महाभूत कैसे स्थूल होते हैं, इसके सम्बन्ध में केवल
'गुणपरिणामम्' के अतिरिक्त और कोई अधिक वर्णन नहीं
मिलता। स्थूल भूतों की उपर्युक्त का विवेष विवरण वेदान्त
दर्शन में मिलता है, जो पश्चीकरण कहलाता है। पश्चीकरण
के पूर्व वेदान्त में विवृत्तरण था, जिसमें केवल तेज, आप
और पृथिवी दें सीन भूत थे। आपो चतुर्वर्ष पाँच भूतों
की उपर्युक्त सर्वसंस्त दृष्टि, जिसके आरंभ विवृत्तरण का
स्पन्दन वशीकरण में किया गया है। पीछे १०वें शृण-

में जिन महाभूतों से शारीर के विविच भाव बनाये गये हैं,
वे महाभूत किस प्रकार के होते हैं इसका वर्णन इस श्लोक
में किया गया है।

श्रद्धो प्रहृतयः प्रोक्ता विकारः पोद्दश्वैव तु ।

देववाच्य समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥२३॥

तति सुश्रुतसंहितार्था शारीरशारीर सर्वभूतिनाशारीर नाम
प्रयमोऽध्यायः ॥१॥

(उपसंहार—) भाठ प्रहृति, सोल्ह विकार और पुरुष
ये (इस अध्याय में) अपने और दूसरे के शाश्वत के अनु-
सार संचरण से वर्णन किये गये हैं ॥२३॥

वस्त्रश्च—स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः—स्वतन्त्र शश्वतन्त्र या
आयुवदशाख, और परतन्त्र मुख्यतया सांख्यदर्शन उनके
अनुसार। इस श्लोक में अध्याय का उपसंहार किया है।
प्रथेक अध्याय के अन्त में उसमें वर्णन किये हुए विषयों
का संचरण में निर्देश करने की प्रथा सुश्रुत में नहीं है।
परक्षसंहिता में प्रथेक अध्याय के अन्त में उसका उपसाहार
करने का नियम है।

इति भास्त्रकर्मणा गोविन्दामज्जेन विरक्तिनामायामुवैदराहस्य-
दीरिकार्या सुश्रुतमापादीकार्या सर्वभूतिनिशारीर नाम
प्रयमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः शुक्रैरेणितशुद्धिं शारीर व्याख्या-
स्यामः । यथोदाच भगवान् धृव्यन्तरिः ॥१॥

अब इसके पात्रा शुक्रोग्निशुद्धि नामक अध्याय का
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धृव्यन्तरि ने किया
या ॥१॥

वृष्टिय—प्रथम अध्याय के १०वें श्लोक में यह वृष्टया
गया है कि पुरुष शुक्रोग्नित के संयोग में अवरीं द्वारा होता
है। इसके पश्चात् गर्भं की शुद्धि प्रारंभ होती है। इसलिये
इस अध्याय में शुक्र और शोग्नित का विवरण किया जाता
है। आमना को अवरीं द्वारा के लिये शुक्रोग्नित शुद्ध होना
आवश्यक है—शुद्धे शुक्रांते तत्वः स्वर्वन्नेत्रवोदितिः । गर्भः
संशयो तुशुक्रांतविनिवारणी ॥ (अष्टांगहृदय, शा० १) ।
इसलिये इस अध्याय में शुक्र और आवर्त का विचार उनकी
शुद्धि की दृष्टि से किया गया है। शुद्धि—गर्भाधानयोग्यता
तथा नीरोगामोत्पादनमत्तमता जिस शुक्र और आवर्त में
हो, वही शुद्ध कहा जाता है। इस दृष्टि से इस अध्याय में
निर्देश शुक्रोग्नित के उपचार, दोष उपलब्ध होने पर उनका
स्वरूप और संचरण को निर्देश करने की विधि इन शारीरों
का विवरण किया गया है। शुक्र—गर्भाधानयोग्यता
निकलने वाला धाव (Sowen) । इसी को तेज, रेत, धीन,
धीर्य भी कहते हैं—शुक्रं तेजोरेती च धीर्योर्द्विद्यायि च ।
(अमरकोश) । देविद्या—आतंवशोग्नित का यद देवीय
है—रक्तमेत च लीला । माने मासे गर्भं देवतानुपायं शर्वं
प्रसंगनमात्मविभावात् । (अष्टांगहृदय, शा० १) । इसी को

१ श्वस्त्रपरतन्त्रः, २ शुक्रोग्निशुद्धिशारीर ।

रज या पुरुष भी कहते हैं। पुरुषों में गमोंपादक प्रक घस्तु होती है, परन्तु स्त्रियों में दो वस्तुएँ होती हैं। एक वस्तु इस्य होती है और प्रतिमास योनिद्वार से बाहर होती है। इसको आर्तवद्यशोणित या बहिःपुरुष (Monsos, Menstruation) कहते हैं। दूसरी वस्तु अदृश्य, अस्त्वंत सूक्ष्म और शरीर के भीतर ही होती है। इसको 'अन्तःपुरुष' या संदर्भ के अनुसार केवल आर्तव फूलते हैं—दृश्यादेव व्ययोंतु यदि उपर्युक्त वर्णनं दृश्यादेव पनसोदुन्द्रवादिवत् ॥ (वारस्यायन) । इसको स्त्रीज (Ovum) कहते हैं। इसकी शुद्धाशुद्धता का ज्ञान प्रत्यपत्तया होना कठिन होता है, अप्रत्यपत्तया आर्तवशोणित से ही सकलता है। इसलिए यहाँ पर प्रोगित से वायापुरुष (Menstrual blood) लेना चाहिए। इसका अधिक विवरण चौथे सूत्र के तथा ४६ श्लोक के वक्तव्य में किया गया है, उसे देखो। अब प्रथम शुक्र के दोष घटाये जाते हैं—

वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणपग्रन्थिपूयक्षीण-
मूत्रपुरीपरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥२॥

(शुक्रोप) वात, पित्त, कफ, शोणित (इनके वर्ण और लक्षणों से युक्त), शवगन्धी, गांठदार, दुर्गन्धित, पूययुक्त, चीण, मूत्र और पुरोप (की गंध से युक्त) शुक्रान् (पुरुष) सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—रेतसः—वातादि दोषों से युक्त जिनका शुक्र हो, ऐसे पुरुष । वास्तव में असामर्थ्य पुरुष में न होकर शुक्र में होता है, परन्तु शुक्रोसर्ग का कारण पुरुष होने से असामर्थ्य उसी के ऊपर आरोपित होता है। प्रजोत्पादने असमर्थ भवन्ति—प्रजोत्पादन का सामर्थ्य वीर्यान्तर्गत वीज या शुक्राणु (Spermatozon) के ऊपर और असामर्थ्य इनके दोषों के ऊपर निर्भर होता है। इसलिए अटांगसंग्रह में यही सुश्रुत का वचन 'अवीभानि' इस पद के साथ दिया गया है—वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीपरेतसित्वीजानि भवन्ति ॥ (शा० १) । वीज की हाइ से शुक्र को फल कह सकते हैं। फल में अंकुरोत्पादन शक्ति का, असामर्थ्य वीजाभाव से या वीजाप्राप्तस्थ द्वारा वात से होता है। शुक्र में भी प्रजोत्पादन का असामर्थ्य वीजाभाव से या वीजाप्राप्तस्थ से होता है। यह शुक्र में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति होती है, तब उस अवस्था को अशुक्राणुता (Azoospermia) कहते हैं। यह अशुक्राणुता दो प्रकार की ही सकती है। प्रथम प्रकार में धृपणग्रथि के भीतर, शुक्राणुओं की, उत्पत्ति नहीं होती और दूसरे प्रकार में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्य कारण से उनका नाश हो जाता है। यहाँ पर जो दोष घटाये गये हैं, उनके द्वारा प्रायः दूसरे प्रकार की अशुक्राणुता उत्पन्न होती है। पहले प्रकार की अशुक्राणुता पण्डों में पाई जाती है। आगे श्लोक ४६ देखो। अप्राप्तस्थ मुख्यतया कई प्रकार का होता है। पहले प्रकार में शुक्राणु संख्या में कम और कमज़ोर होते हैं। इसको अव्यशुक्राणुता (Oligozoospermia) कहते हैं। दूसरे प्रकार में वीर्यगत जीवाणु मृत के समान होते हैं। इस अवस्था को

नष्टशुक्राणुता (Necrozoospermia) कहते हैं। तीसरे प्रकार में शुक्र में रक्त मिला रहता है। इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं। चौथे प्रकार में शुक्र अव्यपराशिति में और सुस्थिकल से निकलता है। उसको अव्यपशुक्रता (Oligo-aperminia) कहते हैं। पांचवें प्रकार में शुक्र का उत्सर्ग होता ही नहीं। उसको शुक्रघय या अशुक्रता (A-aperminia) कहते हैं। इनके स्थितया और भी कुछ दोष ही सकते हैं। चरकसंहिता में शुक्र के निम्न आठ दोष वर्णन किये हैं—केनिं तं तनु रूपं च विवर्णं पृष्ठि पित्तिलग् । अन्यथात्-पंसस्त्रमयसादि तथाधम् ॥ (चिकित्सा ३०) । जैसे अन्तःपुरुष शियों में अदृश्य होता है, वैसे ही युरों में शुक्रगत वीज अदृश्य होता है। इसलिए जिसमें यह वीज रहता है, उस शुक्र की वर्णवेदना के अनुसार तद्रत वीज की स्थिति का अनुमान किया जाता है। अतः प्रत्येक के वर्णवेदना का स्थवरण करते हैं। आतुरिक फाल में शुक्र का अप्राप्तस्थ मालम दोने पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के हारा तद्रत शुक्राणुओं की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जिनमें प्रजोत्पादन का सामर्थ्य नहीं होता, उनको अवस्था (Sterile) और उस अवस्था को अन्धता (Sterility) कहते हैं।

तेपु वातवर्धवेदनं वातेन, पित्तवर्धवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्धवेदनं श्लेष्मणा, शोणितवर्धवेदनं कुणप-गन्ध्यन्तर्लपं च रक्तेन, अन्थिभूतं श्लेष्मवातात्म्यां, पूतिपूयनिमं पित्तश्लेष्मश्यां, द्वीणं प्राणुकं पित्त-माहताम्यां, भूत्रपुरीपग्रन्थि सञ्चिपातेनेति । तेपु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः; भूत्र-पुरीपरेतसस्त्वसाध्याः; (साध्यमन्त्यच्च इति ॥३॥

(शुक्र दोष के कारण—) इनमें वात से (शुक्र) वायु के वर्ण और लक्षणों का, पित्त से पित्त के वर्ण और लक्षणों का, कफ से कफ के वर्ण और लक्षणों का, रक्त से रक्त के वर्ण और लक्षणों का, शवगन्धी और अदृश्य, कफ वात से गांठदार, पित्त और कफ से दुर्गन्धित और पूयदार, वातपित्त से पूर्वोक्त चीण, सञ्चिपात से स्त्रेषुरीपगंध का ज्ञान होता है। इनमें शवगन्धी, गांठदार, दुर्गन्धित, पूयदार और चीणशुक्र (पुरुष) कृच्छ्रसाध्य; भूत्रपुरीपगन्धी शुक्र असाध्य और दोष साध्य होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—वातेन—'शुक्रं भवति' इति योगः । इस प्रकार प्रत्येक के साथ जोदाना चाहिए। वेदनं या वेदनम्—विदेनेति वेदनम् । उच्चण—चिकित्सति भपक् सर्वाङ्गिकाला वेदना इति ॥ [चरक, शा० १] । वातवर्धवेदनम्—रूपं फेनिल-मल्हणमल्हविच्छिन्नं सरुजं चिराच्च निपित्यते वातेन। (अष्टाहसंग्रह) । पित्तवर्धवेदनम्—सनोलमथवा पीतमल्हणं पूतिगन्थि च । दह-लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दृपितम् ॥ (चरक, चि० ६०) । शोणितवर्धवेदनम्—शुक्र में रक्त मिलने से या कामला उत्पन्न होने से शुक्र का वर्ण लाल, पीला, हरा इत्यादि हो जाता है। इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं। यह अवस्था अतिमैथुनजन्य शुक्रघय में होती है—तस्य मैथुनमाप्तमानस्थ न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्वात्; तथास्थ वायुव्यायच्छ्रमानशरीरस्यैव धमनीतुप्रविश्व शोणितवाहीनीस्तम्भः शोणितं प्रज्वायति, तच्छुक्रश्वयादस्य पुनः शुक्राणेण शोणितं

प्रवर्तते वातानुसूततिक्रम् ॥ [चरक, निदान ६] । ग्रन्थिमूर्त—गाढ़ा या गांठदार । मूर्मार्ग से वाहूर आने वाला शुक कहै रसों का मिथ्रण है । शृणु की प्रथियों में शुकाणु वरदृश होते हैं । यह रस बहुत गाढ़ा होता है और उस कारण से या अन्य कारण से उसमें शुकाणु निश्वल होते हैं । इस रस में अष्टीला (Prostata), वीर्यांशय, कौपर की प्रथियाँ और लिटर की प्रथियाँ इनका रस मिलकर शुक का सहजन बन जाता है । वाच किसी कारण से ये रस शृणुप्रायि के रस में नहीं मिलते, तब वीर्य अवरदन्त गाढ़ा होता है और मुखिल के से वाहूर निकलता है । इसके सिवाय तदृश शुकाणु निश्वल भी होते हैं । अर्थात् गर्भांशय के भीतर प्रवेश करके शीरीज के साथ मिलते में वे असमर्थ होते हैं । पूर्णिपूर्ण अष्टीला, शुकाणय या शुकोपाइक संस्थान के किसी ओर में पुराना शोथ होने से पूरे के समान शुक निकल सकता है । इस अवस्था को पूर्णशुक्रता (Pyospermia) कहते हैं । वीर्य प्राप्तुकृ—सूक्ष्मस्थान के १५वें अध्याय के १०वें सूत्र में (प्रथमस्वरूप शुक्र॑१०) शुक्रवय के लक्षण दिये गये हैं—
शुक्रवये मैदृष्टाणवेदनादश्चिम्भुत्वे चिरादा प्रसेदः, प्रसेदे चाचार-
रक्षुकृदर्शनं न । ऊपर शोणितवर्णवेदन मी देखो । यह
शुक्रवय स्वाभाविक नहीं है, अनुरूप (Acquireb) है और
अतिश्वाय से होता है । शारीर में किसी वस्तु का इय हो
करणों से होता है—एक अवैय से और दूसरा अवैयोग्य से ।
प्रथम कारणजन्य इय को अथोगाय (Disease atrophy)
और दूसरे कारण से उत्पन्न हुए इय को अतिश्वायाय (Atrophy of overstimulation) कहते हैं । शुक का
इय दोनों कारणों से हो सकता है, परन्तु सासार में काम-
प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है—लोके व्यवासायिकसचतेश
नित्यादिति अनेन तत्र वेदना ॥ (मायावत) । अथः शुक्रवय
व्यवायामावय को अपेक्षा व्यवायाधिकय के कारण प्रायः
हुआ करता है । अधिक व्यवाय के कारण शुकोपाइक धंगों
को अधिक काम करना पड़ता है । हुक्क काल तक ये अंग
किसी सहर से काम कर लेने हैं, परन्तु अन्त में वे अपना
काम करने में असमर्थ होते हैं, जिससे शुक की वर्तता
कम हो जाती है या विकृत ही नहीं होती । पूर्णिपूर्ण
गणि—शुक्राणय तथा शुक्रवाहिनियाँ मूत्राणय और
मलाणय के वीच में होती है । यदि किसी कारण मलाणय
का या मूत्राणय का या दोनों का संकरण हो जाय तो
शुक्र में दोनों दी गम्भीर धा सहज है । मल और मूत्र के
संयन्त्र से शुकाणु मर जाते हैं । इसके तिवा दोनों का
संयन्त्र ध्वनि से आप दीक भी नहीं होता । इसलिए यह
दोप्रथम असाध्य भी होता है—वातदृष्टिप्रायिक फूमः शुक्रनेत्र
प । भगवन्दारु प्रस्तर्वा वस्त्र त वरिवर्देद् ॥ (सुश्रृत) ।
चाहसंदित्ता में इन शुक्रोंों का सामान्य निदान दिया है—
अतिश्वायाद् श्वायामादस्माना च देवान् । भगवन्दोनों
मैदृष्ट न च वशेषः ॥ कृतिश्वायातिश्वलाभोप्य
हेननाम् । मारेषामस्तदाना गमनावस्था द्वारा च चिन्दोदा
इविश्वायादश्वलाभिप्रायाद् । भगवन्दोदायीचाराद्यायिदिः
वरिवृत्य च ॥ वैशाश्राम व्यवायाधिक वृद्धि वृद्धि
वृद्धि । दोनों वृद्धि समस्ता वा प्राय रेतेवाः दिः ॥ वृ
द्धि शुक्रदृष्ट्वा शुक्राणु दृश्यमि विभागः । दवा शीतलाहाम्बु
देवैति ॥

शुक्रकीयदृष्टिप्राय । न विरोहति सदृहं तथा शुक्रं शरीरिकाम् ॥
(चिकित्सा ३०) । मैदृष्ट न च गच्छतः—अयोगच्य का यह
कारण है । शस्त्रारामिक्षिभात्—अहाशं, अरमरी और शृणु
की शास्त्रिक्षिया, दारक्षिया और अस्त्रिक्षिया इनमें अविरक्ति
या दोप्रयुक्त कर्म करने से ।

आर्थवधमपि त्रिभिर्दीपैः शोणितचतुर्यैः पृथग्द-
न्द्वैः समस्तैश्चोपस्थमयीजं भवति; तदपि द्वेषप-
र्णवेदनादिविविवेयम् । तेषु कुणपग्निपूतिपूय-
तीण्मूलपुरीयप्रकाशमसाध्यं साध्यमन्यच्येति ॥ ४ ॥

(आतंव के दोष—) आतंव (शोणित) भी (वात, पित्त और कफ इन) पृथक् तीनों दोषों से, चौथे रक्त से,
(वातपित्त, वातकफ और कफपित्त के) दो दो दोषों से
तथा त्रिदोष से दूषित हुआ प्रतोतादन में अद्योग्य होता
है । उन्हें भी दोषों के बीच और छाड़ों के द्वारा समझना
चाहिए । इनमें स्वावान्धी, गांठदार, हुर्मिति, धीण और
मूत्रपुरीयसम आतंव धाराण्य होता है; अन्य (वात, पित्त
और कफ से दूषित आतंव) साध्य होता है ॥ ४ ॥

वृक्षदय—प्रातंव—पुरुषों में जैसे शुक्र वसे दियों
में आतंव होता है । परन्तु प्रजोत्पादन में पुरुष और धीं
का कार्य भिन्न होने के कारण शुक्र और आतंव में भी
भिन्नता आ जाती है । प्रजोत्पादन के लिए पुरुष को अपने
शुक्र वृक्षी की योनि में फेंकना पड़ता है और यह कार्य
समाप्तम से ही प्रायः होता है । प्रायः शब्द इसलिए प्रयुक्त
किया गया है कि अत्युक्तिक विज्ञान के द्वारा में जन्मपतियों
के समान विना समागम के भी गमोपादन के (Test tube
babies) प्रयोग हो रहे हैं । इसलिए पुरुष का शुक्र धीं-
युक्त होता है । धीं की अपना धीं वाहूर फेंकना नहीं है,
परन्तु अपने धीं के शारीर के भीतर रक्तकर पुरुष के
वीज को शारीर के भीतर प्रहण करना है । इसलिए धीं के
आतंव के दो भाग होते हैं । एक भाग यह होता है, जो
गर्भांशय और योनि की सफाई करके योनि को मैसून के
लिए सुखसंवेदनीय, गर्भांशय और योनि से शुक्राणुओं
के प्रवास के लिए योग्य बनाता है । दूसरा भाग यह है,
जो प्रयत्न गमोंसंति में भाग होता है । पहले दो आतंव
चोरित या अतिपुरुष (Monotubular blood, Monotubular
blood) कहते हैं—प्रातंव दोलिंग व्यादेशप्रियोदीपादाद्यर्थं ।
(शुधृत, द्वय १४) । दूसरे भाग के लिए आतंव, शोणित
ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं । उसको अन्तरुपुर भी कहते हैं ।
इसलिए संझें के अनुसार आतंव या दोलिंग का अर्थ करना
चाहिए । जैसे, नीचे के उदाहरणों में आतंव या दोलिंग का
अर्थ अन्तरुपुर है । इसी की धीरीज (Ovary)
होते हैं—शुक्रोदिविद्युतेनों ये भवेदोष वृद्धिः । प्रयुक्तिरूपे
तेन तसा मैलक्षण यत् ॥ (शुधृत, द्वय ५) । यह धीं-युक्तो
संदेश शुक्र धीं-युक्तो प्रियमित्रदेशे उत्पन्ने वातदेन ॥ (शुधृत,
द्वय ३५) । यह चापदोषात्मा तुले उल्लं शुक्रोदिविद्युतेन-
गमोंसंति योदेवात्मति ॥ (चरक, द्वय ३) । इस उल्लं
शुक्राणुसंति दाति गमोंसंति प्रति । इस शुक्रदृष्ट्वा देवानेन गुरु
मरेद् ॥ (मायावत) । ये दोनों भाग एक दूसरे से

वेलकुल भित्त होते हैं और दोनों एक समय पर भी नहीं होते। आर्तवस्थन्धी कुछ धर्मिक विवरण हूसी अध्याय के ४८ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अधीनम्—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता कि आर्तवशोणित पुरुषशुक्र के समान सवीज नहीं होता। उससे गर्भाशय की भीतरी स्थिति का कुछ पता लग जाता है। यदि आर्तवशोणित स्वाभाविक हो तो गर्भाशय बीजग्रहण चोग्य है, ऐसा समझ सकते हैं। यदि दोपर्युक्त हो, जैसे कि इस सूत्र में वर्णन किया है, तो गर्भाशय को बीजग्रहण के लिए अयोग्य समझ सकते हैं। इसलिए 'अधीन' से बीजविरहित ऐसा अर्थ न करके 'बीजग्रहण' के लिए अयोग्य ऐसा अर्थ करना चाहिए। अन्यभूत—जागे १७ वें श्लोक के वक्तव्य में धार्तव्य का सङ्गठन देखो।

अब शुक्रदोषों की चिकित्सा बताते हैं—

भवन्ति चात्र—

तेष्याद्यान् शुक्रदोषांखीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत् ।
क्रियाधिशेषोपर्मतिमांस्तथा चोच्चरवस्तिभिः ॥ ५ ॥

(वात, पित्त और कफजन्य शुक्रदोष की चिकित्सा—)

इनमें से प्रथम तीन शुक्रदोषों को द्विभान् वैद्य स्नेहस्वेदादि से, विशेष क्रियाओं से तथा उच्चरवस्ति से दूर करे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—स्नेहस्वेदादि—स्नेहनस्वेदनयुक्त पञ्चकम् ।
क्रियाविशेषो—विशेष गुणकर और रसायन ओषधियों द्वारा ।
जैसे—वातान्विते हिताः शुक्रे निरुदाः सानुवासनाः । ब्राह्मामपलकीयं च, पैचे शतं विरेचनम् । मागध्यमृतलोक्षाना विफलाया रसायनम् । कफोवितं शुक्रदोषं हन्याद भट्टातकस्य च ॥ (चरक, चिकित्सा ३०) । अट्टांगसुहग्रह में हन शुक्रदोषों की संपूर्ण चिकित्सा निन्न प्रकार से वर्णन की गई है—

वातिके शुक्रदोषे वसुकैर्यवकलाम्लसिदं यवक्षारप्रतीवापं संपिण्यानम् । विल्वविदारिसिदं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकभद्रादृसि तैलमनुवासनम् । छीरुलीरससिदं तैलमुच्चरवस्तिः ॥
पैचिके काष्ठेनुश्चदं द्वयुहूचीसिदं मूर्वामधुकप्रतीवापं संपिण्यानम् । विवृद्धौः सृष्टो विरेकः । पयस्याश्रीपर्णीसिदं क्षीरयुक्तमास्थापनम् ।
मधुकमुद्गपर्णीसिदं तैलमनुवासनमुच्चरवस्तिश ॥ इलेघिमके पाषाण-भेदाशमन्तकामलककायसिदं विष्पुलीमधुकचूर्णप्रतीवापं संपिण्यानम् ।
मदनफलकपाचो वमनम् । दन्तीविडहचूर्णस्तैलीढो विरेकः ।
राजवृक्षमदनफलकपायप्रगाढमास्थापनम् । मधुकविष्पलीसिदं तैल-मनुवासनमुच्चरवस्तिश ॥ (शारीर १)

पाययेत नरं सपिण्यिष्पक् कुणपरेतसि ।

धातकीपुण्यखदिरदाङ्गिमार्जुनसाधितम् ॥ ६ ॥

पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम् ।

(कुणपदोपचिकित्सा—) कुणपगन्ध शुक्रदोष में धाय के फूल, खदिर, अनार और अर्जुन इनसे सिद्ध धृत वैद्य रोगी को पिलावे अथवा शालसारादि से सिद्ध तं पिलावे ॥ ६ ॥

वक्तव्य—धातक्यादि धृत—दलहण (धातक्यादि: कलंक-कपायाभ्यां साधितम्) और हाराणचन्द्र (त्रिप्रधातक्यादीनि त्रीप्रपि पृथग्नि कायकलाभ्यामेव साधयन्ति विषजोडनन्तरोक्तपालाश-धृतसाइचयात्) के अनुसार यह धृत काय और कलंक दोनों से सिद्ध करना चाहिए। परन्तु वास्तव में यह धृत केवल

कलंक से सिद्ध करना उचित है, पर्यांकि धातकी गण न होकर पृथक् पृथक् ओषधियाँ हैं। इस संवेद में चक्रपाणिदत्त 'पिष्प-ल्यादि धृत' (च० च० ३) की दीका में लिखते हैं—पिष्पत्यादी पृते पिष्पत्यादीना विदेषानुक्तेः कपायर्वं कलंकवं चैके गृहते अथे तु वल्कमेवेच्छन्ति । यम त्रु कपायत्वं वशस्त्वं वा नौक्तं तत्र कायकलाभ्यामेव र्क्तव्यं । युक्तं सृष्टुते—कलंकाभावनिदेवे गणात्समात् प्रयोजयेत् । इति, नैव, सृष्टुतोक्तपरिभाषा द्वीयं गणविषया एव, 'गणात्समात् प्रयोजयेत्' इति वचनात्; न च पिष्पत्यादयोऽमी गणव्येनोक्ताः गणोऽपि यत्राभिकरणेन शुक्रस्त्रैव कायकलकरणम् । युक्तमन्यत्र—यत्राभिकरणेनकिंगणस्य स्नेह-संविष्टी । तत्रैव कलंकनिर्यात्विषयेते स्नेहेवेदिभिः ॥ तस्मात्कलंकमावैयैव पिष्पत्यादिव्यं जलं न चतुर्गुणं देयम् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । शालसारादि—शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के कलंक और काय से । शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के लिए प्रथम खण्ड १२० पृष्ठ देखो ।

ओषधियों का प्रयोग—धातक्यादि धृत के लिए धृत ४ सेर, जल १६ सेर और कलंक एक सेर लेना चाहिए । शालसारादि धृत के लिए शालसारादि का काय १६ सेर (कायद्वय ८ सेर, जल ६४ सेर, काय १६ सेर) लेकर ४ सेर धृत में उसका धृतपाक बनावे । फिर १ सेर कलंक, ४ सेर उपर्युक्त कायपाक का धृत और १६ सेर जल ढालकर कलंकपाक करें । मात्रा एक चतुर्थांश से एक तोला । अन्यिन्यभूते शैंटीसिद्धं पालाशो चाऽपि भस्मनि ॥ ७ ॥

(ग्रीष्मोपचिकित्सा—) गांठदार वीर्य में शटी (कचूर) द्वारा सिद्ध किंवा पलाशभस्म में सिद्ध धृत (वैद्य रोगी को पिलावे) ॥ ७ ॥

वक्तव्य—पालाशी भस्मनि—पलाशज्ञारोदक में सिद्ध धृत । रक्तगुरुम की चिकित्सा में पलाशधृत चरक में वर्णन किया है—पलाशज्ञारोदक द्वे द्वे पात्रे तैलसंपिण्योः । इसकी दीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—ज्ञारोदक चारोदकस्यादकद्वयम् । और धृतगुरुमध्यवसिद्धियोग में रक्तगुरुमचिकित्सा में लिखते हैं—पलाशज्ञारोदयेन संपिः सिद्धं पिवेत्तच सा ॥

परुपकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम् ।

(पूयदोष की चिकित्सा—) पूतिपूय (नामक शुक्रदोष) में परुपकादि और वटादि (गणों की ओपाधयों) द्वारा साधित (धृत वैद्य रोगी को पिलावे) ।

वक्तव्य—परुपकवटादि गणों की ओपाधयों के लिए प्रथम खण्ड २१६ पृष्ठ देखो ।

प्रागुक्तं वद्यते यच्च तत् कायं क्षीणरेतसि ॥ ८ ॥

(क्षीणवीर्यचिकित्सा—) क्षीणशुक्र में जो (सूत्रस्थान के दोपदातुमलज्यवृद्धिविज्ञानीय अध्याय के १० वें सूत्र में प्रथमलापण के पृष्ठ १०-११ पर चिकित्सा) पहले वर्ता चुके हैं वथा (चिकित्सास्थान के क्षीणशलीय वाजी-करणचिकित्सित नामक ३६वें अध्याय में) जो वतावेंगे, उसको करना चाहिए ॥ ८ ॥

विटप्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गमिः ॥ ९ ॥

(मलमूत्रगन्धी शुक्र की चिकित्सा—) मल (और मूत्र)

१० तोड़समिसिद्धं ० २ अस्याद्ये 'स्नेहदिव्य क्रमः कायः पदस्वेतासु विजानात्' इति कचिदधिकः पाठः ।

सम शुक में चिक्रक, उरीर (खम) और हींग से साधित थत् (रोगी को) पिलावे गए ॥

चक्रव्य—मलमूत्रशब्दी शुकदोष भसाप्य बतलाया गया है। इसलिए उसकी चिकित्सा के सब्द में इन्दु भट्टाङ्ग-संप्रग्रह की टोका में लिखते हैं—शूकपुरेवरति नाविदुषे चिकित्सा, भट्टिदुष उपेता ।

ज्ञिग्य घान्ते प्रितिक च निरुद्धमनुवासितम् ।

योजयेच्छुकदोषात् सम्यगुत्तरव्यस्तिना ॥ १० ॥

(शुकदोष की साधारण चिकित्सा—) स्नेहन, वमन, विरेचन, निष्ठु और अनुवासन से भली भाँति विशेषित किये हुए शुकदोषपीड़ित रोगी को उत्तरवस्ति से सदुक्ष करे ॥ १० ॥

चक्रव्य—इस इलोक में शुकदोषों की साधारण चिकित्सा बतलाई है। उत्तरवस्त्रयत कमं रोगी के शरीर को अधिकी तरह विशेषित करते हैं—प्रसात पुरा शोषमनेद वार्य वालानुरूप, न दि वृच्ययोगः । सिद्धन्ति देहे मलिने प्रयुक्त छिंदे धृष्णा तासिं प्रापयेण ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । यथ रित्य विद्युताना निरक्षान् संगुवासमान् । योत्तरसूरीशको विद्युतु तान् ॥ योगरित्योदये पूर्वे धूरमौसमाधिनाम् । ततो वाजो करान् योगान् शुक्रात्पत्रवर्षन् न् ॥ (आटाप्रसंग्रह, उत्तर १०) । इस प्रकार पच कमं द्वारा विशेषन करने के पश्चात् दोषा नुसार उपर्युक्त इलोकों में व्यथाये हुए शून या चरकोक निम्न साधारण घोरों का प्रयोग करने से दोष, दूर होकर शुक का छल बढ़ता है—शोरीकलेशेनैषप्रयोग्युपैष्ठिते । रक्षित्यर्दोषोद्योगिन्याप्यक्षेत्रा ॥ दुष यदा भैच्छुक तदा तस्मयुपावेद । वृत्त च लोहनीय यक्षवर्णनाश यत च ॥ प्रितिक्ष्य प्रयोगश्चेतोदोषानपोद्यति । नवि यदो रसा शानिवं वोद्युपाविता । प्रदहसा शुकरोद्युष वित्तिक्ष्य विद्येन ॥ (चिकित्सा १०) । उत्तरवस्ति—न निहातुरुद्युषेण वा सानेन दोष इत्युत्तरवस्ति । (आटाप्रसंग्रह, सूत्र २५) । जो तिस्तुद्युषेण के पश्चात् भयवा गुद से उत्तर माया से याने मृग्यामार्ग से दिवा जाता है, पह उत्तर वस्ति कहलाता है । घिरों में उत्तरवस्ति भयामार्ग में भी दिया जाता है । उत्तरवस्ति का विवरण चिकित्सारायान के १० वें भाग्यान में किया गया है ।

स्फुटिकाम द्रव्य स्त्रियम् मधुर मधुरान्वित य ।

शुक्रमिन्द्युन्ति केचिचु तैलहोडानिम तथा ॥ ११ ॥

(विद्युत शुक का व्यवह—) इस्टिक के समान (रेत), विषय (विवरिता), मधुर और मधु की ली गयी वाले द्रव्य (तारा को) (भाषाम सापारात्मता विद्युत) शुक समझते हैं। परंतु कई (भाषाम) लैंड और मधु के समान (द्रव्य) को भी (विद्युत शुक समझते हैं) ॥ ११ ॥

यत्प्रय—उपर्युक्त भेदों में दुह शुक का द्रव्यवर्ण वर्णन किया गया था। इस भेद में भूदृश लक्षणौर् 'प्रत्यवृष्ट' या तर्मो भाषामोय शुक का द्रव्यवर्ण वर्णन किया गया है । दृश—शरीर में रस, रक्त, ताला, लग्न य इत्यादि कई द्रव्य (Fluid) उपर्युक्त होते हैं । यानों में य द्रव्य दृश द्रव्य है । अन्य द्रव्यों से इसका परंपरा द्रव्य वर्णन वर्णन के द्विष्ट 'रक्षित्याम्' इत्यादि इसका दृश कर दिया गया है । या द्रव्य इस द्रव्यवर्ण का है, वह शुक है । विषय—विषयका या सापामा तुक (Viscosity) । यानी भी द्रव्य है परंतु वस्त्रमें विषयका नहीं है । इसी विषयका से वारण

मैथुन के पश्चात् घोनि में उत्सगित हुआ शुक वर्णी पर अथ स्थान करता है और मैथुनजन्म घर्वण से उत्स दूर होने योग्य की इलेप्मल कला की शान्ति करके उसी में शोषित होकर ली के शरीर की तुष्टि में सहायता करता है (तीसरे अध्याय के १५वें सूत्र के वक्तव्य में भयवाप की टिप्पणी देखो) । इस इटि से विनश्च का अर्थ शारीरुषिकर, ऐसा भी कर सकते हैं । इसी दिनशयता के काल योग्य में हुक रहने से शुक के सैपूर्ण शुकरण गार्भायय के भीतर ही में माया ले सकते हैं और प्रज्ञोरपति के लिए उनमें से सब से बलवान् हुकारु मिळ जाता है । लब हुक में दिनशयता न होकर बहु पार्वी के समान पतला रहता है, तब अधिकोंस घोनि के बाहर निकल जाता है और उपर्युक्त कार्य भली भाँति भहीं हो सकते हैं । मधु—पदार्थों की मधुरता 'भ्राणमुख्य कण्ठोद्ध जिद्धाप्राहादान' से तकाल ज्ञात होती है । परंतु हुक आरम्भसाहा (सूत्रसायान १० विषयाय के चौथे सूत्र का वक्तव्य देखो) याने विज्ञा पर शर्याय प्राप्त होने के लिए प्रसात पदार्थ नहीं है । अतः ऐसे पदार्थ की मधुरता भुमान से ही जानने चाहिए । मधुरस ते लहरों में बड़दर्पणपीठिका नामिषान् 'यह एक द्रव्य चरक और मूलत (सूत्र २२/१८) में दिया गया है । इस द्रव्य से सूत्र और शरीर की मधुरता आमुर्वं में जानने की पद्धति थी—मूलदिविशालनित विशेषिता । एवंद्विरिचिकानिधि शरीरप्रवासितलम् । अवर्यन्ति पाय दातपरवर्व मरिकाः । भवि ज्ञातानुनिष्ठस शुशमावाति सरदः ॥ मधुकोपसंपूर्णं श्वीरामापुर्वम् ॥ (चरक) । शुक के स्वयं में भी मधुर शब्द का प्रयोग इसी इटि से समाना चाहिए, व्यांकि जब शुक जमीन पर गिरता है या किसी वस्त्र पर लगता है, तब उस पर चीटिंग अक्षरित होती है । यदि रासायनिक ग्रन्तिकिया की इष्टि से मधुर शब्द का अर्थ करता हो तो इससे 'न अस्त न चारी' (Neutral) ऐसा अर्थ करना चाहिए । मधुर शब्द का प्रयोग इस भूमि से वारदाय की विद्यिता करते समय दिया गया है—परन्तु वह दुड़ रसीलतावलो रस । मधुर्व मधुरेऽप्यर्व लीलावाद रिष्यनिः (सूत्रसायान ११/११) । मधुर्व-शुक की एक विद्युत प्रकार की गम्भ होती है जिसकी तुलना किसी द्रव्य की गम्भ से पूर्णतया नहीं की जा सकती । मधुरान्वित से, इस्टिक, लेल वही समसना चाहिए कि हुक की गम्भ अधिक से अधिक मधु के साथ मिली है—मधुने गम्भेन व तो यसर । एवं—शुक का रक्षित्यामित द्रव्यवर्ण संवर्द्धन्य है—ये इस्टिक सुनि दर् । (चरक) । परंतु स्त्रय के समान हुक हृष्णमास्त्रादि का व्याय (Secretion) होने के कारण भाद्राय पर्याप्त हुक में विद्युति वैदा भ रक्ते द्रुप भी उसके वर्ण में फैल देते हैं । इस्टिक को लालादी के मतानुसार तेल और मधु के वर्ण का भी शुक हुक होता है । भद्रायायेष्वर्द में इन मर्तों का उत्तरेण किया है—प्रत्येक विषय पुरुष मधुर्व मधुर रिष्यनिः द्रुप वर्णं रामेत्प्रायाम्यवर्णं च हुक च वायाम्यवर्णं च मर्तीः (सूत्र ३) । परंतु कई भी वर्णन की शरीरवर्णन के द्रव्य वाली भालादी भौतिक, लेलवर्ण हुक दी भंडाव हृष्णराम, मधुरनी हुक की भंडाव इष्यामान दाती है—परंतु हुक द्रव्यवर्णो वारदाय भी भौतिक, वैदा द्रव्य दृष्टार्थ, विषयमें इष्यामान दाती है—परंतु हुक द्रव्यवर्णो वैदा द्रव्यवर्ण ।

शुक्र के निम्न तीन लघुण और होते हैं । सौम्य—सोमगुणभूषिष्ठ अर्थात् कफ के गुणों की अधिकता जिसमें हो, ऐसा । इस गुण का उल्लेख आगे तीसरे अध्याय के दूसरे सूत्र में किवा गया है—सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम् । अविदाहि—जिसका उत्सर्ग होते समय या उत्सर्ग होने के पश्चात् विदाह या जलन न होती हो । जलनयुक्त शुक्र का उत्सर्ग प्रायः वित्तदोष से होता है । पीछे सूत्र ३ का वक्तव्य देखो । पिच्छिल—चिपचिपा (Slimmy या Slippery) । इसी पिच्छिलता के कारण शुक्राणु शुक्र में स्फूर्ति के साथ बड़ी तेजी से गति कर सकते हैं और पिच्छिल शुक्र से लिप होने के कारण ही शुक्राणु योनि से गर्भाशय तथा वीजस्रोत (Fallopian tube) में गति करने में बहुत कम रुकावट से समर्थ होते हैं । चरक में शुद्ध शुक्र के लघुण हस्त प्रकार वर्णन किये गये हैं—महात्म मधुरं स्तिवधमविहं गुरुं पिच्छिलम् । शुक्रं बहुच वच्छुकं फलवत्तदसंशयम् ॥ (चिं० २) ।

अब इसके बाद दूषित आर्तव की विकितसा बताई जाती है—

विधिमुत्तरवस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये ।

(आर्तवशुद्धि की साधारण चिकित्सा—) आर्तवशुद्धि के लिए उत्तरवस्ति पर्यन्त विधि करे ।

वक्तव्य—उत्तरवस्त्यन्तम्—उत्तरवस्ति जिसका अन्तिम कार्य है, ऐसी विधि । अर्थात् ऊपर ६ वें श्लोक में शुक्रदोषहरण के लिए स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और उत्तरवस्ति—इन कर्मों से युक्त जो विधि बतलाई गई है, वह विधि ।

खोणां स्नेहादियुक्तानां चतस्र्व्यार्थवार्तिंपु ॥१२॥
कुर्यात्कलान् पिच्छून्धापि पश्यान्याचमनानि च ।

(वातादि चतुर्विध आर्तव दोषों की विकितसा—) चतुर्विध आर्तव दोषों में स्नेहनादि से युक्त विधियों को कल्प, पिच्छू और पथ्य आचमन (घंघ प्रयुक्त) करे ।

वक्तव्य—वत्सुपु—वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार दोषों से पीड़ित विकारों में । कल्प—यथा दोषहर धोपधियों की लुगदी योनि में धारण करना । पिच्छू—यथा दोषहर द्रव्यों के काथ में या यथा दोषहर द्रव्य क्षायसिद्ध तेल में सूई का फोया भिगोकर (Pad) योनि में धारण करना । आचमनम्—योनिप्रक्षालनोदकम् । (डलहन) । यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिससे केवल योनिप्रक्षालन के लिए युक्त धावन (Lotion) का ही वोध होता है । वातादि दोषों से पीड़ित आर्तव की चिकित्सा अर्थात् गंभीर में निम्न प्रकार से वर्णित है—

वातजे पुष्पदोषे भाज्मैमधुकमद्रदारसिद्धं सपिधानम् । काशमयं-सूदसाहसिद्धं वा चीरम् । मधुकम्भालविकालकं प्यस्तपिस्तसिद्धं प्रियकृतिलक्षणं वा योनी धारयेत् । सरलमुद्गपणीक्यायः प्रवालनम् । पित्तजे काकोलीद्यविदारीमूलकायमधुपलपदकार्थं मधुकं पुष्पकाशमयं फलकार्थं वा सशर्करं विनेत् । खेत्रचन्दनकार्थं वा सक्षोद्रं, धवधातकीलकं वा धृतेन वा मधुकमधुरसामृदीकाकलम् । शम्याकगवाक्षीरं विरेकः । चन्दनपत्याकलं योनी धारयेत् । गैरिकारिदक्षयः प्रक्षालनम् । इलैमिके कुटजकट्काक्षयगन्धाकारं विनेत् । समादिकं वा चीरीश्चप्रवालकायमेतामेव वा चूर्णं

मधुधृताभ्यां लिद्यात् । मदनकलकायायेण वसनम् । तत्कलमेव च योनी धारयेत् । लोप्रतिद्विकप्रयाः प्रक्षालनं वस्तमेषुत्रं वा ॥ (शारीर १) ।

ग्रन्थिभूते पित्रेत् पाठां ऽग्रूषणं वृक्षकाणि च ॥ १३ ॥

(ग्रन्थिभूत आर्तवचिकित्सा—) गाँठदार (आर्तव दोष) में पाठा, त्रिकहु (सोंठ, मरीच और पीपल) और कुड़ा (इनका काथ) पीवे ॥ १२-१३ ॥

दुर्गन्धिपूयसङ्काशो मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे ।

पित्रेऽद्रश्चियः क्वाथं चन्दनकाथमेव च ॥ १४ ॥

(पूयार्तवचिकित्सा—) दुर्गन्धित, पूय और मज्जासम आर्तव में भद्रश्चिय या चन्दन का क्वाथ पीवे ॥ १४ ॥

वक्तव्य—मद्रश्री—मलयपर्वतोत्थं श्वेतचन्दन—गाध-सारो मलयजो भद्रश्रीश्वन्दनोऽस्त्रियाम् । (अमरकोश) । चन्दन—हस्तसे भी श्वेत चन्दन का ही ग्रहण करना चाहिए । जब मलयज श्वेत चन्दन न मिले, तब साधारण श्वेत चन्दन का उपयोग करना चाहिए । इसको दर्शने के लिए चन्दन शब्द लिखा गया है । गयदासाचार्य चन्दन से गोशीर्षपूर्व्य चन्दन समझते हैं—गयी तु भद्रश्रीर्षं श्वेतचन्दनम्, चन्दनं गोशीर्षपूर्व्यं चन्दनं न तु रक्तचन्दनम्, तस्य हि गन्धापहरणशक्ते भावात् ॥ (दृश्यणटीका) । गोशीर्ष भी श्वेत चन्दन का ही एक प्रकार है । अमरकोपटीकाकार ज्ञारस्त्वामी के मता-तुलार गोशीर्षपूर्वतोत्पत्ति श्वेत चन्दन गोशीर्ष कहलाता है । कपायलेपयोः प्रायो युज्यने रक्तचन्दनम् । इस परिभाषा के आधार पर डलहणाचार्य चन्दन से रक्तचन्दन समझते हैं, परन्तु यहां पर यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि जहां पर श्वेत चन्दन का काम है, वहां रक्तचन्दन किसी काम का नहीं है । इस क्वाथ के सिवा 'त्रिफलाकलकाशी' चात्र धारणाचमने (अर्णांगसंग्रह) इनका भी उपयोग करे । मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे—आर्तव का यह आदिर का दोष अर्थात् मूत्रपुरीपसंकाश दोष है । चीणदोष का विवरण मूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ६१ पर) किया गया है, इसलिए उसका विवरण यहां पर नहीं किया—रीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ॥

शुक्रदोषहरणां च यथास्वमवचारणम् ।

योगोनां शुद्धिकरणं शेषास्वव्यार्थवार्तिंपु ॥१५॥

(आर्तव दोषों की सामान्य चिकित्सा—) शुक्रदोष-हारक योगों का यथाविधि सेवन शेष आर्तवविकारों में भी शुद्धिकारक होता है ॥ १५ ॥

वक्तव्य—शुक्रदोषदाराणम्—शुक्रदोषहरण के लिए ऊपर ५-१० श्लोकों में जो योग बताये गये हैं, उनका । शेषास्वव्यार्थवार्तिंपु—यह श्लोक १४वें श्लोक के अनुवन्ध में है । इस श्लोक में कुणपगन्धी, पृतिपूय और मूत्रपूरीप-प्रतीकाश हृन दोषों का विवरण किया है । अर्थात् हृन तीन दोषों को छोड़कर शेष दोषों में भी याने वात, पित्त, कफ, शोणित, ग्रन्थिभूत और चीण इन दोषों में । इस श्लोक का तार्पण यह है कि शुक्रदोषहरण श्रेष्ठ आर्तवदोषहरणी होते हैं ।

आद्वे(द्वा) शालियवं मर्यं हितं मासं च पित्रलम् ॥१६॥
 (आतंव दोयों में पथ्याहार—) आहार्यं दृश्यों में
 शालि, जौ, मद्य और पित्रवर्धक मास (आतंव दोयों के
 लिए) हितकर होता है ॥१६॥

वक्तव्य—अस्मि—प्रयत्नेऽस्ति च भूतानि सरस्वादम् वदु
च्यने। सामान्यं आहार द्रितः।

शशास्त्रकप्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।

तदार्तवं प्रश्नं सन्ति यद्वासो न विरक्षयेत् ॥ १७ ॥

(प्रशस्त आर्तव का लघु—) जो चर्ण में शारक के रक्त के समान अथवा लाडारस के समान (होकर) कपड़े को रखित न करे, उस आर्तवशोणित को (भावार्य) प्रशस्त मानन्ते हैं ॥१०॥

वत्तय—दूसरे लोक में आतंक की प्रशस्तता का वर्णन किया है। इस प्रशस्तता का विचार निम्न पहलुओं से होता है। (१) वर्ण—यहाँ तथा चरक और अष्टावसंग्रह में आतंक द्वारा उपित का वर्ण घटरोगां के रक्त के समान, लालारस के समान, बीरबहुती कीड़े के समान याने संचेप में लाल वत्तलाया गया है—आतंक युन: शशरभिलाकारसोपमं शुद्धनामः। (अष्टावसंग्रह)। उदाहरणस्वरूप च पश्चालक्षणिभूमः। इदं गोपकस्तात्त्वामात्रं शुद्धनामिरोदः। (चरक)। पाण्डाय शीरोग-विचरकों का कथन है कि स्वाभाविक राशि से अधिक जब अपेक्षित रूप से अधिक अवृत्ति देती है तब वह अतंक द्वारा उपित होता है।

आर्टवर्सोगित निकलता है, यह उसका यह लाल होता है—When abundant it may be bright red Bland-Sutton and Giles अपांत अधिक लाली आर्टवर्सोगित का प्रशास्त वर्ण नहीं कह सकते हैं। उनके मतानुसार यह गोगित सिरागत रक्त के समान किञ्चित् कृष्णवर्ण होता है—The latter (Menstrual blood) has all the characteristics of ordinary venous blood Bland Sutton and Giles इस वर्ण का स्पष्ट निर्देश आगे तीसी बेरथाय में 'रैफल्ड'—

करके किया गया है—जासेनोपचित काले भगवन्नीम्बा तदार्तवंश । वैष्णवाण्य विषय च वायुयोनिमुख नयेष ॥ भावप्रकाश में भी यही वर्ण लिखा है—१५द्वितीय कर्ण च वायुयोनिमुख नयेष । हसलिप् आत्मव्योमित का प्रशस्त वर्ण लालझुर्लं, जैसा । कि यहाँ वर्णन किया है, न समझाकर किछिक वाकापन लिये छाल समझना चाहिये । (२) राधि—आर्तव-धोयितव्यावृत्ति राधि सब तनुहस्त दियों में और सर्वावस्था में कफ सी भर्ती होती । अतः उक्तके लिये एक विशित परिमाण जर्ही हो सकता । जिसको प्रशस्त कह

निवारण वर्ष परिमाण नहीं हो सकता, जिसका प्रशस्त रूप कहा सकते हैं। जो परिमाण एक छोटी में प्रशस्त होगा, वही दूसरी में अभीष्ट अर्थात् अवधिक या लालवदर हो सकता है। इसलिए, प्रयोक्ता की में मासिकघाव के परिमाण की प्रशस्तता उसके प्रायिक मासिक घाव के परिमाण का विचार करके करनी चाहिए। What is an ordinary menstrual flow in one woman may constitute menorrhagia in another. आयुर्वेद में इसलिए निवारण परिमाण में बहुमाहर 'नैवापित्तुचतुर्वर्षात्वं शुद्धयादिदै' (पत्र) इस प्रकार परिमाण की प्रशस्तता धर्मन की पाई है। उपर्युक्त विवरण से इस शब्दार्थगत 'स्त्री' व्यष्टि का प्रयोग कितना उचित है ऐसे किस हेतु ये समाप्ति किया गया होगा, इस विषय पर अधिक विवरण

की आवश्यकता नहीं है ; अब आप और यह का प्राप्ति परिमाण पाश्चात्य प्रेयकार पक छटांक से सीन वाल छटांक तक लिखते हैं — The amount of blood lost naturally varies very much Within normal limits, but has been estimated at from 2 to 10 ounces *Ten Teacher's Midwifery*. The total quantity of blood lost at each monthly period varies from 2 to 10 ounces *Bland-Sutton or Giles*. (३) जाव की भवित्व-खियों की सम्भुरस्ती भी प्रकृति के अनुसार जाव के काल में बहुत भिन्नता देती है । अनुषुध में जाव का प्रायिक काल सीन से सा हिन का बतलाया गया है—एकदेव खीला मात्र मात्र गेहौरमनुप्राप्त यह एवं प्रवोगमनार्थ बंडमाड़ : (अटीगसंभेद) । २३ सप्तदिन यावद् । (हारीत) । मासि मासि इन खीला रस उत्तरि इदम् । (अटीगहाह्य) । इसादेव इन खीला मासि मासि इय्यं चैतैत् । (मावप्रकाश) । दिनचर्य प्रदृष्टिं कुरुते शोणि लियाः ॥ पंचरात्रानुविष्टि ॥ (चरक) । पाश्चात्य प्रेयकार भी प्राप्तः यही काल बतलाते हैं—The flow lasts from three to five days, *Halliburton's Physiology*. The number of days during which the flow persists also varies in different women within normal limits, four to 5 days being the commonest length of time, *Ten Teacher's Midwifery*, कभी कभी वीच में एक आप रोज जाव रुक जाता है और फिर से दो तीन रोज रहता है । इसलिए छँडलटन जावकाल की भर्यादा दो से सात रोज की बतलाते हैं—The flow lasts from two to seven days मुकुकोशकार 'पश्चात्रानुविष्टः' इस पर अपनी जावस्या में लिखते हैं—पश्चात्रानुविष्टवीति पश्चात्रप्रभूतप्रभूत्यानुविष्टयः । अलप्रशुद्धया पश्चात्र प्र परोऽप्रशुद्धवस्तानि । उपर्युक्त विवरण से जाववालाव का प्रशस्त काल दो से सात रोज तक होता है । इस काल से अधिक काल तक जाव का रहना साधारणतया विवार का निर्दर्शक समझना चाहिए । (५) भूतपूर्ण लहल—मलदूदादि की प्रयुक्ति के समान आतंकप्रहृति खियों के शरीर का रक्तमांवक घटते हैं । इसलिए उस समय किसी प्रकार की फीका हाही दोगी चाहिए । प्रशस्त आतंक का दही छुच्छ होता है—निरच्छाराति । (चरक) । परंतु साधारणतया यह देखता है कि अधिकतरक्षण (६०% से ५०%) खियों में आतंकप्रहृति के समय थोणीविवार में कुछ न हुआ पीका जहर लगा करती है । कुछ खियों में यह पीका शुल के समान समय होती है और उसके साथ साथ तिरदर्द, शारीरिक और मानसिक कमजोरी, ऐचेनी, रक्तमांव में विचित्रजग्नन ल्यात्यादि इलग दलप्रश्न द्वारा भासित घर्षण एक बीमारी बन जाती है । इसी की खृष्टांत्र (Dysmenorrhoea) या दाढ़ी दोनि (उत्तरायण, १८ ऐसो) कहते हैं । इस वर्षण से यह स्पष्ट है कि व्यापि रक्तमांविक और इच्छारातंक में वास्तविक भेद है तथापि व्यवहार में दोनों के वीच में लिखित मर्यादा करना बहुत कठिन है । इसलिए आर्य की प्रयुक्ति और जाव के समय में पर्याप्त जरा सी फीका

होती हो तो उसको विलकुल अप्रशस्त मानना जरूरी नहीं है । (५) आर्तवप्रवृत्तिचक्रकाल—आयुर्वेद में इस चक्र का काल एक मास का लिखा है—मासे मासे गर्भकोषभ्रुप्राप्य । (अष्टाङ्गसंग्रह) । मासनिषिपच्छदाहाति पञ्चरात्रानुवनिध च । नैवातिप्रदुलात्यपमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक) । मासे मासे नोपचित्तं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् । (सुश्रुत) । मास् या मास का अर्थ चन्द्र है और नचन्द्रों में पूर्णचक्रपरिभ्रमण करने के लिए चन्द्र को जितने दिन लगते हैं, उन दिनों के समूह को 'मास' कहते हैं । यह काल साधारणतया २८ दिनों का या चार सप्ताह का होता है । अर्थात् दो आर्तवों के बीच में २८ दिन का अन्तर आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण है । इसी हटि से आर्तव को मासिकधर्म या माहवारी कहते हैं । In human subject menstruation occurs on an average every four Weeks. Halliburton's Physiology. व्यवहार में भी यह देखा गया है कि अधिकसंख्य (७०%) घ्रियों में मासिकधर्म का काल २८ दिनों का ही होता है । वाकी घ्रियों में इससे एक दो दिन कम या अधिक लगते हैं । कुछ घ्रियों में आठ दस दिन कम या अधिक लगते हैं । इसका कारण यह है कि आर्तवचक्रकाल में स्त्री की तन्तुरुत्ती, प्रकृति और आयु के अनुसार बदल होता है । परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि बहुत थोड़े दिनों के पीछे स्त्राव का होना आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण नहीं है । धर्मशास्त्र में स्वस्य आर्तवचक्र का कम-से-कम काल २१ दिन का दिया है—अष्टादशदिनादूर्ध्वं खानप्रभृतिसंख्यया । यद्रजस्तु सुस्तपञ्चं तत्कालोत्पन्नमुख्यते ॥ (६) स्त्राव का स्फङ्खन—मासिकस्त्राव में रक्त (Blood) होता है । रक्त के सिवा गर्भाशय की श्लेषिमक त्वचा का स्त्राव या श्लेष्मा (Mucus) भी होता है । इनके अतिरिक्त गर्भाशय और योनि की शीर्ण हुई कोशायुं (cells) भी होती हैं । श्लेष्मा का स्त्राव अधिकतर आर्तवस्त्राव के एवं और पश्चात् हुआ करता है । साधारण रक्त और आर्तव रक्त में एक भेद यह होता है कि उसमें साधारण रक्त की अपेक्षा चूना (Calcium) अधिक परिमाण में होता है । दूसरा भेद यह होता है कि आर्तवरक्त साधारण रक्त की सांति जमता नहीं है । न जमने का एक कारण श्लेष्म-संयोग है । दूसरे कारण के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है । ब्लेअर वेल नामक शास्त्र का कथन है कि आर्तवरक्त में तनिं (Fibrin) नामक द्रव्य उपस्थित नहीं होता है, जो रक्त जमने के लिए आवश्यक है—It is said by Blair Bell to contain a much larger proportion of calcium salts than circulating blood, and under normal conditions no fibrin ferment. Ten Teacher's midwifery. बैक और हाइट हारस नामक शास्त्रों का कथन है कि गर्भाशय में रक्त जमता है, परन्तु गर्भाशयअधियों से फैब्रोलायसीन नामक द्रव्य उत्सर्गित होता है, जो जमे हुए रक्त को फिर से तरल बनाता है—While the solution of the clot, he believes, is brought about by a fibrolysin contained in the secretion of the uterine glands. Ibid. उपरपत्ति कुछ भी हो, आर्तवरक्त का न जमना उसकी प्रशस्तता का एक लक्षण है । जब आर्तव में कुछ खराबी होती है, तब आर्तवशोणित जमता है याने छिक्केदार या

गाँठदार बनता है और इसी का नियेंश पीछे अंथिभूत करके सूत्र ४ में किया गया है—Normal menstrual blood does not clot. It is only under abnormal conditions that clots form during menstruation. Ibid. (७) यद्यासो न विरजयेत्—जो आर्तवशोणित उससे आर्द्ध या शुष्क सफेद कपड़े को नीम गरम पानी से धोने पर विवर्ण नहीं करता है, वह प्रशस्त होता है । इसका मतलब यह है कि आर्तवशोणित से मलिन वस्त्र गरम पानी से धोने पर निर्मल याने वेदाग होना चाहिये । जीवशोणित याने शशीरधारक शोणित (Normal blood) की यही परीक्षा आयुर्वेद में वर्णन की गई है—उमयत्र च जीवरक्तपित्तयोर्ज्ञानार्थं रत्ते शुक्लं पिञ्चु प्लोतं वा त्विपेत् । तस्मिक्षावने कोश्याम्बुद्धालित्सुशुद्धे जीवरक्तम् । (अष्टाङ्गसंग्रह) । शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोश्यवारिणा । प्रकालितं विवर्णं स्यात् पित्ते, शुद्धं तु शोणिते ॥ (चरक और अष्टांगहृदय) । पाक्षारय शास्त्रज्ञों का भी ऐसा ही मत है—It is almost impossible to state whether stains have been caused by ordinary or menstrual blood. Manual of Medical Jurisprudence by Aitchison Robertson. अर्थात् वस्त्र धोने पर उस पर के रक्त के दाग अच्छी तरह न मिटाना रक्त की खराबी का लक्षण माना गया है ।

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावधि ।

अस्पृदर्दं विजानीयादतो उन्यद्रक्तलक्षणात् ॥१८॥

(रक्तप्रदर—) (पूर्वोक्त आर्तव) रक्त लक्षण से मिल, अत्यधिक मात्रा में (और) ऋतुकाल से अतिरिक्त काल में प्रसृत वही आर्तव इसलिये अस्पृदर (वैद) जान ले ॥१८॥

वक्तव्य—अतिप्रसङ्गेन—उपर आर्तवशोणितस्त्राव का चार छूटांक तक जो अधिक से अधिक परिमाण घतलाया है, उससे भी अधिक मात्रा में । अनन्तु—अनार्तव काल । ऊपर आर्तवशोणितस्त्राव का सात रोज तक जो अधिक से अधिक काल घतलाया है, वह ऋतुकाल कहलाता है । उससे अधिक याने सात रोज के पश्चात् का काल अन्तु कहलाता है । यहाँ ऋतुकाल से केवल स्वासाविक आर्तवदर्शन काल से मतलब है । गर्भधारणा की इटि से 'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति इत्यार्तवः' (सुश्रुत, शा० ६) इस्यादि जो ऋतुकाल वर्णन किया है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है । उस ऋतुकाल के सम्बन्ध में वहाँ अधिक विवरण किया जायगा । अनृतावधि—पांच सात दिन तक जो आर्तवस्त्राव का स्वाभाविक काल है, उसमें तथा उसके पश्चात् का जो अनार्तवकाल है उसमें भी कुछ दिनों तक प्रसृत अर्थात् दीर्घकालानुवन्धी । दृष्टणाचार्य का 'अनृतावलपमप्यदीर्घकालमपि प्रवृत्तमस्पृदरं विजानीयाद' यह अर्थ डीक नहीं है, क्योंकि अस्पृदर में आर्तवशोणित का प्रमाणाविक्य प्रकृति कुछ लक्षण है—रक्त प्रमाणसुरक्ष्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवहा: समाप्तिय रक्तमादाय तदजाः ॥ यस्मादिवधयत्याशु रसभावादिमानता । तस्मादस्पृदरं प्राष्टुरेत्तचन्त्रविशारदाः ॥ (चरक, शा० ३०) । प्रमाण से अधिक रक्तस्त्राव हो और काल अल्प हो, यह दोनों

२ विजानीयादिक्वानं लक्षणाविवरणम् ।

असहज है—‘प्रदीयते इति विद्वारितो मवनि’ इति प्रदर । (क्लक्षणिङ्गत) । इसलिए ‘अनुतावपि’ का ‘अल्पमध्यायीं वाकालमपि प्रदृशम्’ अर्थ करके असुधर से नष्टांतर्य का मतलब निकालना अयुक्तियुक्त है । असुधर—इसको रक्तमधूर या प्रदर कहते हैं—एक प्रदीयते वस्त्राद् प्रश्नस्तेन स्तुतः ।

(चरक) । असुधर शब्द की अनुवाचिति करते हैं—एक प्रमाणमुख्यम् इनि रुक्ष प्रमाणायिक इत्या रक्तमादाय तदज्ञो यस्माद्विवृथ्याति पवननउरभादृश्योमेत्कृपावादर्थं प्यापिसुस्तर इत्युच्यते । असुधायींते परित्रिति असुधर्भृ॑ श्वेषाऽपि निश्चित्रत्व वैद्यन्या । (चक्रपाणिङ्गत, चारकटीका) । असुधर का पाश्चात्य परिभाषा में विचार—इस श्वेष में असुधर के तीन लक्षण धर्णन किये हैं—(१) रजप्रायुक्तं, (२) वीर्घकाल प्रदृशि और (३) स्वाभाविक आर्तव के रुक्ष से असुधर के रुक्ष की भिन्नता । पाश्चात्य परिभाषा में आर्तव रुक्ष का विशेष विचार नहीं किया जाता है । काल और परिमाण का विचार होता है, और उसके निस्तुरात दो स्वतन्त्र नाम रखते रहते हैं । अर्थात् असुधर या प्रदर के लिए पाश्चात्य परिभाषा में एक नाम नहीं है । जब रक्तमध्याद अधिक परिमाण में होता है, तब उसके गर्भायांश्यप्रदर मेरोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं । इस तरह पर्याप्त दो अवस्थाओं के लिए दो दृष्टक् शब्द प्रयुक्त होते हैं, संयापि आयुर्वेद के अमुराहा दोनों का विवरण एक साथ ही किया जाता है, वर्णकि दोनों अवस्थाएँ भृत्यत सम्बन्धित हैं । जो कारण आव द्वी प्रिक्ता उपलग्न करते हैं, वे ही आगे जाकर आव के काल में शृंखल और अनियमितता उत्पन्न करते हैं—Menorrhagia passes insensibly into metrorrhagia and it is therefore convenient to consider the two conditions together Many diseases lead at first to menorrhagia and subsequently to metrorrhagia. Bland-Sutton and Giles अ यद्यक्षन्यादात्—यशाद्यक्षस्तिः निषिप्तद्वाहिति॑ इत्यादिवायपत्रिविद्याद् पूर्वोक्ताद्युक्त लक्षणाद् याकृत लक्षणः । अर्थात् वातादि के दृष्टान्तों से युक्त, श्वसे, वातिह—केनिः तु रुक्ष व द्याव चारणेन च । तिनु कोरामध्याद सर्वं आव वीर्घ्यम् ॥ पैतिक—सीनावयवाद वीर्घ्यम् अनुसन्धित हया । तिनुतारक दर्शि मुद्रुन्दूर्ध्वादितः ॥ वैपिक—रिविक्षण वात्युक्तं च युक्त विषय च शोषात् । दर्शायतुक सेप्तन च या सर्व इवादरम् ॥ (चरक, चिं० १०) । असुधर के हेतु—रिविक्षणवात्युक्तं वैपिक्षं वातादिमेयुताच । यातावदोद्यात् ॥ १५४४ आदिविद्यावात्युवनादिता च (मातसिनिदान) । विद्युताद वदनादैर्युद्यु—युक्त, विशीर्ण, बट्ट परापर विदेशी पहाड़ों का अतिसेवन, पहिले सेवन किये हुए आहार का एवन होने के एवं दूसरा आहार सेवन करना, विषय मट्टो द्वारा अतिसेवन हृत्यादि दानों से बायु इन्हिन होते अद्यार्द्युप्रदृशि करते हैं—सर्व देह नारे तातावद्युवनि च । दूसर विद्यानि विशानि विदिषनि

च ॥ आन्यौद्यकानि मेषानि कृद्यादि पावर्त दवि । शुक्रमत्व द्युरानीनि मज्जन्या द्युपितोडनिन ॥ (चरक) । पाश्चात्य वैद्यक में भी स्त्रादमय का अतिसेवन इस रोग का कारण माना जाता है—Over indulgence in food and also holistic drinking Bland Sutton and Giles पर्मप्रशान—गर्भस्त्राव या गर्भप्राप्ति का भी योग हो सकता है । गर्भ यदि पूर्णतया गर्भायांश्य से बाहर चला जाय और भीतर अपरा या अन्य कुछ भी न रहे तो गर्भायांश्य भीरे भीरे अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होने लगता है । इस अवस्था को गर्भायांश्य की इवसृति (Involution of the uterus) कहते हैं । १० वें अध्याय के १५ वें सूच का वक्तव्य देखो । यदि गर्भ निकाल जाने के पश्चात् गर्भायांश्य में गर्भ का या अपरा का कुछ अदा रह चाह तो उसकी संपृति टीक प्रकार से न होकर वह कुठ मोटा और पिलपिला रह जाता है और रक्ताधिक्य के कारण उससे रक्तस्राव अधिक होता है । इस अवस्था को शपसाइट (Sabinvolution) कहते हैं । यह अवस्था स्वाभाविक प्रसूति की अपेक्षा गर्भप्राप्ति के बाद अधिक हुआ करती है । इसलिए गर्भप्राप्ति इस रोग का जो कारण बतलाया है, वह विलकुल टीक है—A portion of placenta or of membrane may remain attached to the uterine wall, both after full time delivery and after abortion It is most frequent in the latter case Bland Sutton and Giles अतिमैयुन—अतिमैयुन से दिखों के जननेनिष्प्रक की ओर रक्तस्राव अधिकता से होता है, जिससे आर्तव आव भी अधिक हो जाता है । यह अवस्था विशेष करके विवाह के पश्चात् शुरू हुए में जब मैयुन अधिक सेवन किया जाता है तब होती है—The effect of sexual intercourse upon the menstrual flow is difficult to determine, but cases do occur in which excessive menstruation has been cured by abstinence and we can not but believe that excess in this direction must, therefore have been the cause Such cases occur chiefly in the newly married There is no doubt that sexual excess often in the first months of married life is a reflex cause of uterine congestion and may cause metrorrhagia as well as metrorrhagia Different द्रव्यानि द्युरानी द्युरुद्युल । जैसे—उंड, गाय, पो॒षा साइक्ल हृत्यादि वाहनों पर सवारी करना, चलना दिटना, प्रवास करना दौड़ना इत्यादि द्या अतिसेवन । दृष्टे—प्रैंग, गाय, पो॒षा साइक्ल हृत्यादि वाहनों पर सवारी करना, चलना दिटना, प्रवास करना दौड़ना इत्यादि द्या अतिसेवन । दृष्टे—प्रैंग व्यैष्टि धर्मी उल्लङ्घन में Bicycling Hunting Gymnastics Bicycling असुधर के कारण बताते हैं । यह कारण दृष्ट तात्पात्र नहीं है । तो—यह मातसिक विद्या का उपलग्न है । इसमें भूति, काम, दोष, विष, वित्ता हृत्यादि मातसिक उपेक्षा द्यानीं द्या योग देता है । मन—प्रैंगनाता॑ 'त्रोऽप्यादृ॒ दृष्टे' हृत्यादि वाहन में प्रदर के कारण क्यों दिये हैं । दृष्टे देव द्यै उल्लुङ्घन उल्लङ्घन में Fright Violent emotion हृष्ट वाहन निषिद्ध दिये हैं । यदि ये मातसिक विद्या अतिरिक्त ही दो पृष्ठ आप बार मात्रिक आव नहीं

ग्रां में होता है; परंतु यदि सी हन विकारों से सदैव अंतिरिक्त हो तो हन विकारों से शरीर के अन्तःग्रांवां (Internal secretions) में अधिकता होकर रक्तनिपीड (Blood pressure) भी सदा के लिए बढ़ जाता है (प्रथमवर्ण उपचार ३०६ देखो) और रक्तनिपीडाधिक्य से असूखदर होता है। अतिरिक्तणात्—बद्धग्रावितयोगेन क्षीणधातुवात् । (मधुवरोध) । इससे खाद्य पेय द्रव्यों में योग्य और पर्याप्त द्रव्य मिलने के कारण उत्पन्न हुए रोगों का समावेश कर सकते हैं; जैसे रक्त की जमने की शक्ति कम होना, प्रशीताद (Scurvy), नीलोह (Purpura) हृत्यादि । भारांभिघातात्—गर्भाशय के ऊपर बोझ पड़ना या अभिघात होना; जैसे मलावरोध, कमर पर कपड़ा कसके वांधना या पहनना, नाचना, कूदना या बाहर से कोई आघात होना । हनकारणों के अतिरिक्त निश्च कारण भी असूखदर उत्पन्न करते हैं । (१) पुफ्लुएन्जा, आन्त्रिकज्वर, मसूरिका, विपमज्वर, आमवात हृत्यादि संक्रमक रोग, वक्षदात्युदर, हृतरुपादरोग हृत्यादि । (२) गर्भाशय के विकार—कैन्सर, सार्कोका हृत्यादि हुत्यादि; अर्द्ध (Polypus), पेश्यर्द्दु (Myoma) हृत्यादि सौरभ्यादि; स्थानन्प्रस्था (Displacements); और गर्भाशय का नवीन या पुराना प्रकोप (Endometritis), गर्भाशयगत रक्ताधिक्य (Congestion), गर्भाशय के लचकीले मांसतन्तुओं की शाण जसे कठिन तन्तुओं में परिष्कृति (Fibrosis Uteri), रक्तगुरुम (Fibroids) हृत्यादि ।

असूखदरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः ॥ १६ ॥

तस्यातिवृत्तौ द्वैत्वल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृप्या ।

दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातज्ञाः ॥ २० ॥

(असूखदर के शारीरिक लक्षण)—सर्व असूखदर अंगमर्द और वेदनायुक्त होते हैं ॥ १६ ॥ उनकी अतिरिक्त जमने में कमजोरी, भ्रम (चक्र आना), मूर्च्छा (क्षिर्दूष होना), तम (आँखों के सामने अंधेरा आना), प्यास, दाह (आँखों, हाथ पैरों तथा शरीर में जलन मालम होना), प्रलाप, पाण्डुत्व (शरीर का वर्ण फीका पड़ना), तन्द्रा और वातज रोग (उत्पन्न होते हैं) ॥ २० ॥

वक्तव्य—सर्वः—ऊपर असूखदर के अनेक हेतु वर्णन किये हैं । प्रथमक हेतु से उत्पन्न हुए असूखदर में खावकाल, खावमात्रा और खाववर्ण में कुछ न कुछ फर्क हो सकता है । तब भी हन विविध कारणोत्पन्न सम्पूर्ण असूखदरों में । 'ताती एकवचनम्' हृस दृष्टि से यहाँ एकवचन का प्रयोग किया गया है । अद्वमर्दः—शरीर के विविध अङ्गों में दृष्टि की सी पीड़ा होना । सर्वदनः—कटि, वक्ष्णा, ऊत हृत्यादि गर्भाशय समीप अङ्गों में वेदना होना—कटिवट्क्ष्ण वृत्त्यांपृष्ठश्चेत्पु भावतः । कुरुते वेदना तीव्राम् । (चरक) । तस्य—प्रार्तवद्यायितस्य । दाह—यह रक्तज्ञयज्ञन्य दाह है । इसके लक्षण—धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छारुदर्दितः । चामस्त्वः क्रियार्थः स सीदेद भ्रमपीटिः ॥ यहाँ धातुक्षय से रक्तज्ञय का ही विशेष वोध है—धातुक्षयोक्तो रक्तवयोक्तः । (दृष्टि) । प्रलाप—विलाप या रंज करना । कमजोरी तथा अन्य लक्षणों से पीड़ित होने के कारण रोगी जरा सा परिमात्र करने पर भी आह भरता है । रोगाश्च वातजाः—

करप, काश्य, निद्रानाश, शिरशूल तथा अन्य स्थान के शूल अनवस्थितवित्तत्व, स्वभाव का चिदचिदापन, मलावरोध, कर्णनाद हृत्यादि ।

हृस श्लोक में असूखदर के रक्तज्ञाव के अतिरिक्त अन्य लक्षण वर्णन किये हैं । हृनमें से कुछ लक्षण गर्भाशयगत विकारजन्य होते हैं और अधिकांश लक्षण रक्तज्ञावाधिक्यजन्य होते हैं । जब रक्तज्ञाव अधिक होता है, तब शरीर में रक्त की कमी हो जाती है, जिससे शरीर के किसी भी अङ्ग को या धातु को पर्याप्त खाद्य नहीं मिलता । पेशियों में रक्त की कमी होने से वलक्षण होता है । खचा में कमी होने से पाण्डुता (Pallor) आ जाती है । आँखों में कमी होने से भ्रम, मूर्च्छा, तमोदर्शन हृत्यादि विकार होते हैं । मस्तिष्क तथा नाड़ियों में कमी होने से अनवस्थितवित्तत्व, करप, कर्णनाद, निद्रानाश, स्वभाव में फर्क, शिरशूल तथा अन्य स्थान के शूल हृत्यादि लक्षण होते हैं ।

तस्याप्या हितसेविन्यास्तमलपोपद्रवं भिषक ।

रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ॥ २१ ॥

(असूखदरचिकित्सा)—(आहार विहार हृत्यादि में) हितकर सेवन करने वाली तरुण छी के अद्य उपद्रवयुक्त असूखदर की वैद्य रक्तपित्त की विधि से अनुरूप चिकित्सा करे ॥ २१ ॥

वक्तव्य—त्रैणी—हृससे वलसत्वायुपत्वं और सर्वप्रथमस्त्वं का वोध होता है । यह सुखसाध्यता का एक लक्षण है । दितसेविनी—जिसको पहिले ही से अहितकर आहार-विहार सेवन करने की आदत न हो, तथा जो वैद्यवाद्यानुसार हितकर आहार-विहार सेवन करने में दक्षत्वात् हो । रोगी का यह एक प्रशस्त गुण है तथा सुखसाध्यता का लक्षण है । भ्रांतोपद्रव—हृससे उपद्रवों की संख्या, काल और तीव्रता हृनमें अल्पता अभिवृत है; अर्थात् जिस असूखदर में उपद्रव थोड़े हों, नये हों और सीम्य हों, ऐसा । यह कृच्छ्रसाध्यता का लक्षण है—गर्भिणी-वृद्धवालाना नात्युपद्रवविदितम् । (चरक) । हृस प्रथम श्लोकाधंग का हृसलिए मतवल यह है कि यदि रोगी में सुखसाध्यता या कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण उपस्थित हों तो वैद्य उसकी चिकित्सा करे, अन्यथा न करे—तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ञा न तत्र कुर्वति भिषक् चिकित्साम् । (माधवनिदान) । शश्वत्सत्यथासावं तृष्णादाऽज्वरान्विताम् । शीणरक्ता दुर्वलां च तामसाध्यां विवर्जयेत् ॥ (चरक) । रक्तपित्तविधानेन—उत्तरस्थान में रक्तपित्त की चिकित्सा जिस प्रकार वर्णन की गई है, उसके अनुसार—विधियासुरदरेद्येप शीणां कायां विवर्जनात् । व्रयाणामपि दोपाणां शोणितेऽपि च सर्वशः । लिङ्गान्यालोक्य कर्तव्यं चिकित्सितमनवरम् ॥ (उत्तर, अ० ४९) । योनीनो वातलाद्यानां यदुक्षमिद भेषजम् । चतुर्णा प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्विपक् ॥ रक्तातिसारिणां यज्ञ तथा शोणितपित्तिनाम् । रक्ताशसां च यत्प्रोत्तं भेषजं तत्र कारयेत् ॥ रक्तयोन्यासुरदरेन्तुवर्णं समीदय च । ततः कुर्याद्यादोर्पं रक्तस्वापनमीपथम् ॥ (चरक) । असूखदर की चिकित्सा—(१) साधारण चिकित्सा—मध्यमांस तथा अन्य उप्पन, कट्ट, खाद्य द्रव्यों को वज्रयं करके हितकर आहार सेवन करना, चलना,

पिरना, दौड़ना, सवारी करना इत्यादि को छोड़कर शारीरिक स्थान शोक, ग्रोषादि को छोड़कर मानसिक शासन केना, मैथुन उत्पन्न करना, मासिक घर्षण के पहिले विरेचन से कोइट्टुदि संबंध में निदान परिवर्जन। (२) ग्रोषपि विकिसा—इसमें विरोप करके रक्तस्थापक याने इक्षुवाद रोकने वाली (*Haemostasis*) औपचियों का उपयोग, जैसे—उप्पानुग पूर्ण, कृष्णाष्टाकावलेह, अशोकपूर्ण, लक्षोका रिट, कामदुखारस, मदरारि, मदरामतक, बोल्डब्रूड इत्यादि औपचियों का उपयोग करना। पाश्चात्य धैर्यक में गर्भांशय या रक्तस्थापन के लिए अर्गोट (*Ergot*) का उपयोग विरोपयन किया जाता है। इसके सिवाय टिप्पीसिन (*Stypticoin*), हैड्रिस्टिस (*Hydrastis*) का भी उपयोग होता है। शारोर में जब रक्तस्थाप के कारण रक्त की कमी हो जाती है, तब लोह, यजूर (*Liver*) इत्यादि शोणित घटक (*Haematinic*) औपचियों का उपयोग करना चाहिए—यहाँ भृशेदानग्राम दिग्नसामुद्रम्। (मूँ, रक्त पित्तचिकित्सा)। (३) रक्तनिक विकिसा—यदि उपर्युक्त ही प्रकार की विकिसा से फायदा न हो या रक्तनिक विकृति के लक्षण पहिले से ही मालदम होते हों तो यह गर्भांशय और योनि का दरीशन करके लगां, खड़व, प्रकोप या जो कुछ भी अन्य विकार हों, उनकी विकिसा करनी चाहिए।

दोपैरावृत्तमार्गंप्रदार्तव नशयति रियाः।

तत्र मत्स्यकुलत्याम्लतिलमाप्यमुरा हिताः।

पाने मूद्रमुद्रिभ्यश्च द्वितीयुक्त च भोजने ॥ २२ ॥

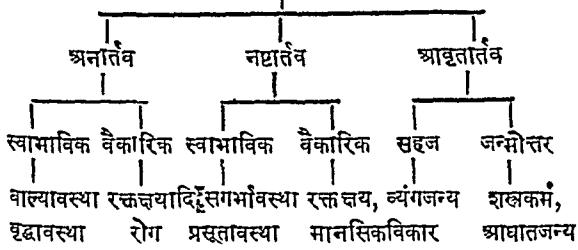
(निष्ठात्वं) यों से मार्ग आवृत होने के कारण विद्युतों का आरंभ नह जाता है। उसमें भोजन के भौं धूने के लिए मद्धुली, इलायी, कालिक (या अन्य लाटे पदार्थ), तिल, उद्धु, सुरा, गोमूर, उद्धिद, दूरी और शुक्क (सिरका) दित्तकर हैं ४३३५

वक्तव्य—दोपे—भन दोपा करो तामुकातको च, न दु विष, रिप्पूद्वी तसानिप्रतिपूद्वोरकलाप, कुन्तवादिवाऽव क्षारदत्यावत्तवलाप। (वलाप)। अथवा इस रोग में धारकर्त्तव्य और प्रतिवर्ष दीता है। माहामासांताऽ—गर्भांशय में आरंभ वरदात होने का जो इत्याविक सार्वानन्दम् (Physiological process) है, उसमें धूनों के द्वारा वाया उत्पन्न होने के कारण। नवरोपी—यी में योग्य दृष्टि में उत्पन्न दूना और प्रतिमास होने वाला आरंभ नह जाता है अद्यात् उसकी उत्पन्नि एक जाती है। मूँ—पौराण—दूने गोप्यमादेव रिदोरो दृष्टि वैरितः। 'मूलुक्तुर्क्तो' दूनाके उत्पन्नि वृद्धाविष्य प्राप्ताणि, वह दु धारकर्त्तव्य भूमुख विरेवलाप नवरोपी निटोऽप्तान्'। इस प्रकार एकी ग्रन्थ मान वरदात मूलुक्तुर्क्ता की अपनी दीदा (मूँ, अ० ४५) में दित्तते हैं। यहीं गोप्यम प्राप्त होने का कारण यह है कि वो दो मूँ धूनों होने के कारण वह वर्षित वातक का दायर बढ़े जिस के बाला है—गोप्यूर्ण और गोप्य रिट्पूर्ण वरदातविदि। (मूँग)। अर्द्धां मूँ गर्व दीदा व दु धूनों रिदोरो रिट्पूर्ण भित्रो वरदात हो। गोप्यूर्ण उपर्युक्त व वरदात—वाया यानी वातकर वाया दूना मूलुक्तुर्क्ता—वृद्धिवर्त्तविदि। (भावदाता)। अर्द्धां मूँगों भित्र विष—वातांशसंहिता (Mendiriation)

और आरंभादृशन (Amenorrhoea) वे दोनों विद्यों के शारीर के स्वासाविक घर्षण हैं। परन्तु जब ये दोनों अपने उचित समय पर नहीं होते, तब वैकारिक हो जाते हैं। यहाँ प्रथम श्लोकार्थ में आरंभादृशन का घर्षण किया देते हैं। आरंभादृशन के सीन मुख्य प्रकार होते हैं। (१) अनारंभ (*Primary amenorrhoea*)—विद्यों में वारह घर्षण की आतु से पचास वर्ष की आवृत्त तक प्रतिमास आरंभादृशन होता रहता है—जूदर्वद इश्वराको ले वर्तमानसमूक् पुन्। जारपकरणार्थां याति पश्चात् घटन्॥ (सुधुत)। अर्थात् वारह साल के एवं और पचास साल के बाद जो आरंभ इश्वन्न रहता है, वह इत्यामाविक (*Physiological*) होता है। कभी कभी आरंभादृशन के पोषण काल के कई वर्षों के बाद आरंभादृशन होता है। इसे कालान्तीत या विलगित (*Delayed*) अनारंभ कहते हैं। यह अवस्था प्रायः रक्तस्थ, राजयदमा तथा अन्य शारीरशोषक रोगों के कारण, या गर्भांशय तथा धीजकोश (*Ovary*) विलग्न से परिपक्ष होने के कारण उत्पन्न होती है। यदि यीं विद्याहृष्ट हो तो आरंभादृशन होने के एवं भी गर्भांशय हो सकती है। गर्भांशय के लिए अपरिपक्ष रह जाते हैं, जिससे यीं में आरंभादृशन कहापि नहीं होता। इस अवस्था को श्यायी (*Permanant*) अनारंभ कहते हैं। विलगित और श्यायी प्रकार वैकारिक हैं। (२) निष्ठात्वं—इससे यीकृत विद्यों में इसके एवं वरदात आरंभ दर्शन होता रहता है। इसको औपदिविक (*Secondary*) कहते हैं। सर्वांशयस्य और प्रदूषावस्था इसके इत्यामाविक कारण है—प्रत्यंतर्मुन्यास्तवदवस्थनन्तरमिति—इन तर्म पर्याप्ते रूपाविषय वरदात। (चरक)। परन्तु इत अवस्थाओं में भी कभी कभी इत्याव दीता है। अर्भांशय में उपको रागां और ऐमितिक कहते हैं—प्रत्यंत् प्रस्तुरासं गोरोद्वादुष्टु यत्। तदान्विति प्रोक्तं गोरोद्वादुष्टुरासं॥ प्रत्यित्य तु य नारी लक्षणो विद्ये एवः। नारी इत्याव प्रोक्ता मात् तु नेतिकं रत्। न तु नेतिकेन इत्यावस्था सो इत्यवाः। एकत्व, राजयदमा, मयुग्रेद, दुर्वासुद, शारीरवद्वर अम्ब विकार, महोलगामा, मस्तिष्कात्तुर्द, वित्तोरेग (*Melanocholla*), उत्तमां तथा अम्ब ग्राविति विकार इसके वैकारिक कारण हैं। यहीं प्रथम श्लोकार्थ में यीसी वैकारिक निष्ठात्व का संक्षिप्त वर्णन किया है। यात्यद्युष्टि और प्रतिवर्ष निष्ठात्व का जो कारण वरदाता है, उसका दुर्व रिट्पूर्ण वरदातविदि कारणों के दैवतर हो सकता है। (३) अर्द्धां—इसमें योग्य दृष्टि में आरंभावाद प्राप्त होता है, परन्तु वातर जाने का गार्व भरद्व दीते के कारण आरंभशोषित भीतर हो याने आवृत या ग्रन्थाव रहता है। इमलिय इस प्रकार की आवृतांश (*Cryptomenorrhoea*) कहते हैं। यह वरदोष गर्भांशयोद्या में विष न होना (*Imporforatio rectalis*) वैमित्यांश (*Absence of vagina*), योग्य-

द्वार के पद्म में (Hymen) छिद्र न होना इत्यादि सहज व्यंगों के कारण होता है; और सहज व्यंगजन्य आघृतात्तंच अधिक देखने में आता है। कभी कभी शख्कर्म या आघात के कारण गर्भाशयमुख या योनिमार्ग वंद हो जाता है; परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम देखने में आते हैं। आघृतात्तंच में मासिक धर्म के समय सिरदर्द, श्रोणी में पीड़ा, वैचनी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु योनिद्वार से शोणितस्थाव नहीं होता। इसलिए आर्तवादर्शन में आघृतात्तंच की संभावना ध्यान में [रसकर यदि आवश्यक हो तो रोगी के जननेनिय का परीक्षण जरूर करना चाहिए। अब सुखावोध के लिए आर्तवादर्शन का कोष्ठक नीचे दिया जाता है।

आर्तवादर्शन



चिकित्सा—इस बात का जरूर ध्यान रखना चाहिए कि आर्तवादर्शन रोग नहीं है, लक्षण है। इसलिए उसकी चिकित्सा कारणानुसार करनी चाहिए। स्वामाविक अनार्तव और नास्तर्तव की चिकित्सा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैकारिक अनार्तव, जो गर्भाशयादि की स्थायी अपरिपक्तता से उत्पन्न होता है, अचिकित्स्य है। वैकारिक नास्तर्तव तथा रक्तक्षयादिजनित अनार्तव कारणानुरूप चिकित्सा करने पर प्रायः साध्य होता है। आघृतात्तंच कुछ असाध्य और कुछ शास्त्रसाध्य होते हैं। उनमें ओषधि सेवन से कुछ भी फायदा नहीं होता। सर्वे से बचना, गरम कपड़े पहरना, पौष्टिक पर्याप्त और हल्का आहार सेवन करना, स्वच्छ हवा में हल्का-सा व्यायाम करना, जलदी सोना और अधिक निद्रा लेना, कोष्ठशुद्धि रखना तथा कारणानुसार ओषधि सेवन (जैसे, रक्तक्षय में लोह, संक्षिया, कुचला इत्यादि) यह आर्तवादर्शन की संचित चिकित्सा है।

क्षीणं प्राणीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ।

तथा अप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत् ॥ २३ ॥

(क्षीणात्तंच—) लक्षण और चिकित्सा के साथ क्षीण आर्तव पहिले कहा गया है। तो भी क्षीणात्तंच में नास्तर्तव के समान विधि (आचरण) करनी चाहिए ॥ २३ ॥

वक्ष्य—क्षीणं रक्तम्—क्षीणात्तंच। इसको आलिगो-मेनोहिला (Oligomenorrhoea) कहते हैं। प्राक्—दोष-धातुमलस्यवृद्धिविज्ञानीय नामक सूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में (प्रथमलक्षण पृष्ठ ११ देखो)। सलक्षणचिकित्सितम्—आर्तवद्वये यथोचित्कालादर्शनमलपता वा योनिवेदना च। तत्र संयोगनमामेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः। नष्टरक्तवत्—नास्तर्तव के समान। क्षीणात्तंच और नास्तर्तव वास्तव में दो स्वतन्त्र लक्षण नहीं हैं, एक ही लक्षण के तरतमरमक दो मेंद्र हैं। जिन विकारों से नास्तर्तव उत्पन्न होता है,

उनमें आर्तव पूर्णतया वंद होने के पूर्व कुछ महीनों तक अल्पराशि में और अनियमित काल में आया करता है; तथा जिन विकारों से क्षीणात्तंच उत्पन्न होता है, वे ही विकार अधिक तीव्र और गंभीर होने पर नष्टात्तंच उत्पन्न कर सकते हैं। यह कथन रक्तक्षयादि शरीरशोषक और दौवंल्यकर विकारों के लिए विशेष लागू हैं, और वैकारिक नास्तर्तव के ये कारण क्षीणात्तंच के भी प्रायिक कारण होते हैं। इसलिए नास्तर्तव के समान क्षीणात्तंच की चिकित्सा करने के लिए जो लिखा है, वह कथन रोगसंग्रासि की इष्टि से ठीक है—The mode onset of amenorrhoea due to anaemia is different; there is a history of a gradual diminution in quantity of the menstrual flow which becomes very scanty before disappearing altogether; in addition, there is often history of irregularity extending over several months or years. Bland-Sutton and Giles Diseases of women.

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धात्तंचा च ॥ २४ ॥

दृष्ट प्रकार दोषविरहित शुक्रयुक्त (पुरुष) और शुद्ध आर्तवयुक्त (स्त्री होती है) ॥ २४ ॥

वक्तव्य—एवम्—उपर 'स्फटिकार्भ द्रवम्' इत्यादि लक्षणयुक्त शुक्रवान् पुरुष अदुष्टशुक्र और 'शशास्कप्रतिमम्' इत्यादि लक्षणयुक्त आर्तंच वाली स्त्री शुद्धात्तंच होती है; किंवा यदि दुष्टशुक्र पुरुष और अशुद्धात्तंच स्त्री हो तो उपर दोषानुसार जो चिकित्सा वर्णन की गई है, उसका अनुशीलन करने से वे अदुष्टशुक्र और रुद्धशुद्धात्तंच हो जाते हैं।

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति व्रह्मचारिणी दिवा-स्वप्नाजनाश्चुपातस्थानानुलेपनाभ्यङ्गनस्वच्छेदनप्रधावन-हस्तनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिह-रेत्। किं कारणम्? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलतः, अञ्जनादन्वयः, रोदनाद्विकृतवद्धिः, स्थानानुलेपनाद्वुःख-शीलतः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चशीलतः, हस्तनाच्छुद्धावदन्तोष्टात्तुजिह्वः, प्रलापो चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्विहरः, अच-लेखनात् खलतिः, मास्तायाससेवनादुन्मत्तो गर्भी भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् ॥ २५ ॥

दर्भसंस्तरशायिनीं करनलशारावपणन्यतमभो-जिनों हविष्यं, द्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्ध-स्थातां चतुर्थे अहन्यहतवासां समलङ्घकतां कृतमङ्गल-स्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत्। तत् कस्य हेतोः? ॥ २६ ॥

पूर्वे पश्येद्दुस्ताता याद्वशं नरमङ्गना ।

तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥ २७ ॥

(ऋतुमती चर्या—) ऋतुकाल में प्रथम दिन से ही व्रह्मचारिणी स्त्री दिन में सोना, (आँखों में) अञ्जन ढालना, (रोकर) आँसू गिराना, स्तान करना, (चन्दनादि सुगन्धी द्रव्यों का शरीर पर) अनुलेपन करना, (तैल का) अम्बङ्ग, नद्दों को कठन, चेनी से कैवल्या, लंसलादि (चूहा) त्रोडन।

अतिशयर्थों को सुनना, केशप्रसाधन करना, (शोषण प्राप्ति की) वायु का सेवन और परिध्रम—इसको धोक दें। (उपर्युक्त दिवास्वप्नादि को छोड़देने का) वया कारण है? दिन में सोने वाली का गर्भ निद्रालु, अज्ञन से अन्धा, रोने से विहृत इष्टि का, घ्यान और अनुलेपन से हुःश्वील (चिदिष्टि स्वभाव का, तुवुकमिग्नि), सैल के अम्बद्ध से कुट्ठी (खचा के रोगों से युक्त), जख वाटने से कुनवी, तेजी से दौड़ने से चट्टल, हंसने से रथामरण के दांत, भोष्ट, ताणु और निद्रा याला, अति बोलने से बहुत बोलने वाला, अतिशयद्व सुनने से यद्या, अवलेपन में यजा, वायु और परिध्रम के सेवन से उम्मत होता है। इसलिए इस प्रकार की क्रियाओं को रथाम दे ॥ २६ ॥ दर्भेशयन पर सोने वाली, हृषेणी, शृणुप्र (मिट्टी की वाली) और पचल इसमें से पृष्ठ पर हविष्य भीजन करने वाली (उस छी) को तीन दिन तक पति से निवारण करे। ऐसे चौथे दिन शुद्धयात, नवीन वस्त्रयुक्त, (आमूर्तियों से तथा उप्तों की मालाओं से) स मर्डकृत, मंगलावरण और स्वरितिवाचन किये हुए (उस छी) को पति को दिलाये। यद्य किस लिए (किया जाता है) ॥ २६ ॥ शुद्धसनाता द्वी जिम प्रकार के पुरुष की प्रथम देलती है, उस प्रकार के अपराय को जन्म देती है। इसलिए भीतों को दिलाये ॥ २७ ॥

वक्षय—स्तु—इसका विवरण तीसरे अध्याय के पांचवें सूत्र के वक्षय में किया गया है, उसको देखो। अशावारिण—आहार-विद्वार में धन्त्यवर्द्ध के नियमों का पालन करने वाली और विशेष करके 'स्वर्त्य वीति' प्रश्न उपर भावयम् द्वयादि लघुविध मेहुन से परालूमुख। अतिशय—अतिशय उंचे, कर्कश, भयावने तथा अन्य प्रकार के कर्णकुशद्वादृ। इससे अधिक समय तक सुनने का भी अर्थ हो सकता है। अवलेपन—कुलिनविदिना के शास्त्रार्जनम् (वलहण)। कवों आदि के द्वारा वालों का ग्रनाथन करना। कुनल—खूला, काला और खुरदरा जख कुनल कहलाता है—अभिन्न तर प्रुठो ये नलों रुक्षोऽस्तिः खर। अभिन्न कुनल विषात् कुलीनविदि मितिनम् ॥ उमर—इस शब्द से यहाँ पायालयन (Insanity या Madness) अभिन्न नहीं है परन्तु शीघ्रकोपी, उग्र, अविचारी या तेजिमिता, इतना ही इसका अर्थ परिमित है। गर्भ—उपर्युक्त कर्म अतुकाल में करने वाली ही उसी काल में गर्भवती होने पर उससे होने वाली सन्तान अर्थात् कन्या या पुत्र। दविष्यम्—इन्हें दित कृष्ण। अस्ति में आहुति देने योग्य अद्य—दविष्य धारद्विष्योग्य चिदिष्टि विषयगोप्यमुस्तुपामाया मुःयत (नीतारकारि)। वालशारस्वताकैतायुक्तीर्मीरचिदिष्टियुपद्यापौराकृमरप्यन्तर्वद्यप्यद्विष्टुपावसम्पुर्णसंप्रसादेन वेदिन्द्र-दम्। इविष्यमित्येवैनैवायोग्यस्यको द्रवयम्। चणककुशिलेप्युपाकैतायावारामायामुकृष्णम् ॥ वृद्धाकाङ्क्षीद्वयोदीशी—वशाद्विष्टितीवायात्पुरोधीविदिनवलगामायाविष्टिवायादीदविष्टिता—पायस्तदीनो निष्टुष्टि ॥ (विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्यस्यूति ॥ १२४० ॥)। वायामाचार्य के अनुसार कोष्ठोपयन और कर्षण के लिए चीरितद वात्र अवलेपना में स्त्री को दिया जाता है, और तीसीगोणा लक्ष्य अर्थ दिया जाता है—वैरेय यावक स्त्री दोषोद्धरणद्वयम्। पर्यं शुद्धे इसने वा उम्रीन वदाचारिणी ॥

(अर्टांगहृष्य, शारीर १)। वावकं पदमा सिद्धमर्पय कर्मनायं भवतीवात् । लोहोप्याम्भवद्यानि च वर्जनेत् ॥ (अर्टांगसंप्रद, शारीर १)। अस्थमात्रा में भोजन देकर कर्शन करने का उत्तरय यह मालूम होता है कि गर्भधारणा निश्चिति से हो जाय। माता की हृताता या उद्यता का सम्बन्ध गर्भधारणा के साथ होता है, यह तत्त्व आधुनिक विज्ञान को मन्य हो गया है (३ अध्याय के ६ सूत्र का वक्षय देखो), परन्तु यह समय किस प्रकार से होता है, इसका एक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। गी, भौत इत्यादि लानदर्तों में भुत्यों के समान मातिक आर्तवद्याव न होकर गर्भधारणा का समय होता है। इस अवस्था को रताना या गरमाना (Hot Oestrus) कहते हैं। इस समय में मर्द दिलाने से उनमें गर्भधारणा प्रायः हात जाती है। जब नहीं होती तब फिर से वे गरमाती हैं। उस समय से दो तीन दिन खाने योगे को कम देने के पश्चात् यदि मर्द दिलाया जाय तो वे निश्चिति से गर्भधारणा करती हैं, यह अनुभव की बात है। याज्ञवल्क्यस्यूति में आमता या कर्मनु पुद्रोपादक माता गया है—यदि गन्धन् लिया क्षारा मध्य मूल च वर्नेवद् ॥ इस्य इन्द्री सु उत्तु लच्छ्य अनयेव उमान् ॥ ११० ॥ इस पर विज्ञानेद्विलिते हैं—शामता च तर्मन् रात्रे रजस्वलायतेवेव भवनि भय चेत्र भवति तदा कर्म्या आमता पुश्टोत्तर्यात्यर्थमद्वाइनिमोजीनादिना ॥ (मिताशरा)। उत्ता और तीव्रा अभ्य का नियम इसलिए किया है कि उनसे गर्भाशय में रक्ताधिक्य (Cetation) होकर आर्तवद्याव बढ़ता है। इसके कारण ग का अवस्थान गर्भाशय में नहीं हो सकता। गुदस्वाश-शुद्धा अीर्णोप्यिणायामेन, अन्तर्गुद्धा इनाना (वलहण)। यी व शुद्धि इनान पर नहीं है, आर्तवद्याव वद होने पर है—नवे तनी च संवादे विगत अीर्णोप्यिणे। नारी भवति सुनु पुस्त संसुवये तता ॥ अर्थात् शुद्धि से यहाँ गर्भाशयपुष्टि समझनी चाहिए। आर्तवद्याव वद होने पर याज्ञवल्क्य के द्वारा करने के लिए जान किया जाता है। अत, शुद्धाशुद्धा का अर्थ 'जीर्णोप्यिणायामेन अन्तर्गुद्धा इनाने विद्युत्शुद्धा जोग्य' होता है। शुद्धेऽवनि—चौथे दिन का निदेष्ट इसलिए किया है कि प्रायः उस दिन जाव वंद हो जाता है, परन्तु चौथे दिन भी रुक्षोक्ता होने वाली वहूत सी द्विष्य होती हैं। इसलिए स्मृतिप्रस्त्रों में प्रथम चार दिन समाप्त के लिए निषिद्ध वत्ताये हैं—ग्रामाद्या च संसुतु निर्विकारी च च। त्रयोदशी च, वैशाख प्रश्नला दश शत्रयः ॥ (मतुस्युति ११४ ॥)। वैद्यर्थुनिश्चाली लीला तस्मिन्स्तुमाद्व सविशेष०। वदानायेव पर्वाण्यादाश्वत्रतास्तु वर्जेत् ॥ (याज्ञवल्क्यस्यूति ११५ ॥)। रजस्वरो माती ल्लानेन स्त्री रजस्वला (मतुस्युति ११६ ॥)। आध्याचारा न तावस्त्वादो यावद्वर्तीते। रोनिरुद्धी गम्या ली शुद्धकर्मणि चैव दि ॥ (पाराशरस्यूति)। रसान रजस्वलायात्पु चतुर्वेदिने शस्यते। गम्या निषुर्चे रजस्वनानुरुचे कर्षन ॥ (आपस्तम्बस्यूति)। धर्मशाल के अनुसार रजस्वला ली सहवास के लिए जी से धर्मोग होती है, वैसे ही शुद्धकर्म के लिए भी धर्मोग मानी गई है (क्षपर पराशरस्यूति का वचन और मनु का पांचवें अध्याय का वचन देखो), मनु के इस वचन पर विज्ञानेश्वर लित्तते हैं—रजस्विनःस्त्रियादुपर निषुर्चे रजस्वला ली इनाने

शारीरस्थानम्।

ध्री दैवादिकार्मोभया भवति । स्पर्शनादिविषये^१ पुनरनुपरतेऽपि असि चतुर्थेऽहनि स्वानान्वद्वा भवति । तदुक्तं वृद्धमनुना—
चतुर्थेऽहनि संसुद्धा भवति व्यावहारिका^२ हति । तथा स्मृत्यन्तरम्—
द्वा भर्तुश्चतुर्थेऽहि स्नानेन स्त्री रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्र्ये च
मेऽहनि सुद्धति ॥ इसका मतलब यह होता है कि रज-
वला स्त्री तीन दिन तक अस्पृश्य भी होती है । धर्मशास्त्र
इस आदेश के अनुसार भारतवर्ष में रजस्वला स्त्रियों को
व गृहकर्मों से दूर रखने का रिवाज है । पाश्चात्य देशों में
प्राचीन काल में इस प्रकार का कुछ रिवाज था । इस
रिवाज की जड़ खोजने की इच्छा कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों
को हुई और अन्वेषण करने पर उनको यह मालूम हुआ
कि रजस्वला स्त्री के रक्त में रजोविष (Menstrual toxin)
होता है जो स्वेद, दूध इत्यादि के द्वारा उत्सर्गित होता है ।
यदि रजस्वला स्त्री के हाथ में फूल दिया जाय तो वह फूल
रजोनिवृत्त स्त्री की हथेली में दिये हुए फूल की अपेक्षा
जलदी सुरक्षित है । स्त्री के दूध में भी यह विष निकलता
है और वच्चे को कुछ तकलीफ देता है । प्रसूति के पश्चात् दूध
पिलाने के काल में स्त्रियों में स्वाभाविक नष्टार्तव होता है ।
उसके अनेक कारणों में यह भी एक स्वाभाविक कारण हो
सकता है । मार्शल अपनी पुस्तक में लिखते हैं—In support
of this contention Macht and Lorbin have recently
obtained evidence of the existence in the blood
of a menstrual toxin, which exudes in the sweat
and other secretions and has deleterious effect on
living plant tissues. Thus they state that a
flower held in the hand of a menstruating women
will wither more rapidly than otherwise, owing
to the action of this toxic substance which is not
present excepting at this stage in the cycle. The
menstrual toxin is believed to affect the milk in
lactating women, children sucking at such times
being liable to slight digestive disturbances. *Intro-
duction to sexual Physiology.* इससे यह स्पष्ट है कि
रजस्वला स्त्री को गृहकर्मों से निवृत्त रखने के प्राचीन तत्व
में कुछ तथ्य है और आजकल दूसरों की देखादेखी इस
रिवाज को तोड़ने की जो प्रवृत्ति जारी हो रही है, वह
प्रशंसनीय नहीं है । अदत्तवासा—नवीन अथवा स्वच्छ
शुग्र वच पहनी हुई—गुलमाल्याम्बरा । (अद्यांगसंग्रह) ।
समर्लक्ष्मा—सुगन्धी द्रव्य, पुष्प, गहने इत्यादि से विभूयित—
ग्रलङ्घः कटकादि: पुष्पादिर्वा । ग्रलङ्घियते भूयते शारीरमेमिरिति
फूत्वा गन्धग्रलयस्यापि अनकारत्वम् (अरणदत्त) । पूर्व पश्ये
द्वृत्स्नाता—ग्रातुस्नाता स्त्री में कामेच्छा अधिक होने के कारण
वह पुरुष के साथ समागम करने के लिए वहुत उत्सुक
होती है । उस समय जिस प्रकार के पुरुष को
देखती है, या जिसके ल्पणादि का चिन्तन करती
है, उस प्रकार की सन्तान उत्पन्न कर सकती है,
यदि उस चिन्तनामुख अवस्था में पुरुष-समागम करने से
उसमें गर्भधारण हो जाय । न केवल चिन्तन, परन्तु जिस
प्रकार की संतान चाहती है, उस प्रकार के पुरुष का आहार-
पिदार सेवन करने के लिए चरक में लिखा है—या या च

यथाविर्धं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य
तांस्ताज्जनपदान् मनसाऽनुपरिकामयेत् । तवो या या यैषा यैषा
जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तैप
जनपदानां मनुप्याणामाहरपिहारोपनारपिच्छानानुनिधत्वेति
वाच्या स्यात् । (शारीर ८१४) । अपनी विशेष इच्छानुसार
संतान उत्पन्न होने के लिए तदनुरूप चिन्तन नितान्त
आवश्यक है । यह चिन्तन तब हो सकता है, जब मन के
सामने बुद्धीनिद्र्यों द्वारा तदनुरूप सामग्री रखती जाय ।
बुद्धीनिद्र्यों में से नेत्र के द्वारा मन पर दिये हुए संस्कार का
जितना स्थायी परिणाम होता है, उतना दूसरे इन्द्रिय के
द्वारा कृत संस्कार का नहीं होता । इसलिए यहाँ दर्शन का
ही निर्देश किया गया है । इस प्राधान्य के सिवा दर्शन यहाँ
एक उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है और उससे स्पर्शन,
श्रवण इत्यादि का बोध होता है । ग्रन्तुकाल में स्त्री के शरीर
में आर्तव या बीज (Ovum) उत्पन्न होता है और उससे स्पर्शन,
समय स्त्री जिस प्रकार के चिन्तन में मन रहती है, उस
सन्तान उत्पन्न होती है, यह 'पूर्व पश्येत्' उस अस्थर्थ श्लोकार्थ
का तात्पर्य है । भर्तां दर्शयेदतः—उपायादो वैशो वा इति
शेषः । अर्थात् उपाध्याय या वैश घर के लोगों को इस प्रकार
की सूचना दे कि स्त्रान होने के पश्चात् स्त्री को सर्वप्रथम
पति का दर्शन करावे । पतिव्रता स्त्री के लिए पति परम-
दैवत होता है—दुःशीलः कामवृत्तो वा धर्नैर्वा परिवर्जितः ।
जीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ (रामायण) । पति के
अनुसार सन्तान होने में एक प्रकार का औचित्य है, इसलिए
स्त्री को उसी का दर्शन प्रथम कराने के लिए लिखा है ।
परंतु केवल दर्शन से काम नहीं होता है, दर्शन के समय
अनन्य मन होकर जब उसी का चिंतन किया जाता है, तब
चिन्तनानुरूप सन्तान हो सकती है—पतांरं पश्येदन्यमनाः ।
तदा हि याइशमेव पश्यति चिन्तयनि वा वादृशं प्रसूत इति ।
(अष्टांगसंग्रह) । अर्थात् जब पतिसद्वा सन्तान की इच्छा
हो, तब पतिदर्शन की औपचारिक विधि आवश्यक है—
इच्छान्ती भर्तुमदृशं पुत्रं पश्येत् परः पतिन् (ब्रह्मज्ञहृदय) ।
पुत्र से यहाँ केवल सन्तान का ही अर्थ होता है—पुत्रशब्दोऽ-
पत्यमात्रोपलक्ष्यार्थीऽत्र । (अरणदत्त) । परंतु पति के समान
पुत्र होने में सार्थकता नहीं है, उत्तम पुत्र होने में सार्थकता
है; इसलिए चरकसंहिता में पतिदर्शन की विधि का निर्देश
नहीं किया है और जिस प्रकार के पुत्र की इच्छा हो, उस
प्रकार के रूपचरितादि का चिन्तन करने के लिए लिखा है
(कृपर 'या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत' इत्यादि देखो) —
इच्छीता यादृशं पुत्रं तदूपचरितांशं ती । चिन्तयेता जनपदास्त्राचारपिच्छदी ॥ (अष्टांगहृदय) । कृपर सूत्र पद्धतीस में ग्रन्तु-
मती स्त्री के विशेष प्रकार के आचारों से विशेष प्रकार के
परिणाम घतलाये गये हैं । हनका आपस में कार्यकारण
संबंध कहाँ तक सत्य या संभवनीय है, इसका निर्णय करना
वहुत कठिन है । धंध, धधिर, विकृतदृष्टि, चट्ठल, उन्मत्त
इत्यादि कई प्रकार के आचार जब दिखाई देते हैं तब
इन विधियों कार्यों के कुछ कारण जहर होने चाहिए ।
आयुर्वेदानुसार इनकी उपपत्ति निम्न प्रकार की हो
सकती है । मनुष्यों का बीज (शुक्राण या आर्तव)

अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उसमें शारीर के सब अंग-प्रतीक इवारिपत् रूप से प्रतिस्थित होते हैं—मनुष्यीन् हि प्रत्यक्षीयमागसमुद्दायारम्भं स्वसृष्टप्रस्त्रहसमुदायप्रस्त्रवनवल्लम् । (चक्रपाणिदित्) । इस बीज में शारीर के विस धैर्य का भाग उपतस्त होता है, वह गर्भ का भाग विकृत हो जाता है—परत् यथा धात्रावदवस्थ वो वो ब्राह्मण उपतस्ते भवनि, तद्य तस्याकावयवस्थ विकृतिश्वायादेत्, नेवायादेत् चातुर्वापाद् । (चरक, शा० ३) । अतुकाळ में भीम कहु शब्दों को अधिक सुनना, रोना इत्यादि से कुरित हुए द्वयों के कारण यदि बीजगत काग, औंख इत्यादि के भाग उपतस्त हो जायें तो सम्भव है कि उस बीज से उत्पत्त होने वाले बालक में इन अर्थों की कुछ विकृति हो सके । अथवा हँसना, रोना, उजादा वक्तव्य करना इत्यादि कमों के समय छो के मन की या स्थिति या विचारों की बनावट जिस प्रकार की होती है, उसो का परिणाम अतुकाळ के समय पूर्ण पक्ष हुए छो के बीज पर होकर उसी के अनुसार उससे उपतस्त हुए वर्चे की आकृति, प्रकृति और स्वभाव इत्यादि बनते हैं । माता पिता की मन स्थिति का परिणाम याठक पर होता है, यह बात सर्वसम्मत है—*An impression upon the mother of any kind acts upon the child Eroetic Anthropology* माता की मन स्थिति का बालक पर परिणाम होने के तीन काल होते हैं : (१) माता के जिस बीज से बालक उपतस्त होता है, उस बीज के सुपक होने का काल अर्थात् अतुकाळ । इस काल में छो को भावी सन्तान सर्व प्रकार से उत्तम हो, इस दृष्टि से कैसे इहना चाहिए, इसका यही धर्मन किया गया है । (२) गर्भास्था से गर्भजन्म के समय तक का याने छो का सर्गमावस्था का काल । इस काल के इहन-सहन का विचार इ अत्याय के १५ थे सूत्र में और १० थे अत्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है । (३) जन्म के पश्चात् यद्य सरक बालक माता का दृष्टि पीता है, यद्य तक का काल । इस काल के इहन-सहन का विचार भी १० थे अत्याय के १५ थे सूत्र में किया गया है । इन तीनों कालों में से द्वितीय काल के इहन-सहन का परिणाम प्रथम और दूसी धर्मी की अपेक्षा अधिक इत्यादी होता है, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु प्रथम काल की मन स्थिति का परिणाम बहर हो सकता है और इसी सम्बन्धेन्द्रिय की कृति से २५५ सूत्र का अर्थ सम्भव चाहिए । उपर्युक्त कार्यों में से पक्ष लाग जाम करने पर बालक उस कर्म के लिए बहलाये हुए परिणाम से पीड़ित होना चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि बालक की आकृति और प्रकृति की बनावट के असंबद्ध कारण होते हैं, जिनका भवी तक टीक टीक ज्ञान नहीं हुआ है ।

ततो विषानं पुरीयमुपायाद्यायः समाचरेत् ।

कर्माते च धर्मं होनमारमेत विचारणः ॥ २८ ॥

(पुरीयविधि—) पश्चात् उपायाद्य उपीय विषान का सरकार करे । और (पुरीय) कर्म के अत भी कुदिमान् (पति) इस (निमित्तिन) कर्म को प्रारम्भ करे ॥ २८ ॥

विषान—उत्—यो का स्वाव और परिस्थिति होने के पश्चात् । यो के साथ उस रोग पुरीय का उत्तमपुरुष स्वाव, उपायपरिषान पह कर्म होना

चाहिए—चतुर्थस्थेन्येनामुत्साप संविरस्तु रानापवित्रा गुडानि वास्तविक्ष्यादवेद् पुरुष च । (चरक) । पुरीयविधातस्तु—पुरुषकामेष्टि यज्ञ । इसका बर्णन चरक शारीर के दृष्टे अध्याय में निन्दन प्रकार से किया है—तत् विकृतं प्रातुरार दिव्यावास्था विकृतवस्त्रमितीव गोम दधार्या इविडलमुपलिप्य प्रोद्व चोदेन वैदीर्मित्न् स्वापयेद र्ता पवित्रेनाहतवस्त्रसच्ये वैतर्वत्ये वाऽप्यविद्येद् राङ्ग प्रदुक्ष, राजन्यमप्यक्षुषु वैदाये चर्वावान्दुहो वा, वैश्यमप्युक्त रीरै वास्ते वा । त्वैविष्ट् पालाशीभिरुद्दीभिरुद्मीभिर्मितीं क्षमित्वा समिद्विन्मुपसामाधय बूद्धैः परिस्तीर्दे परिपिणि परिवाय लाजैः शुक्राभिष्ठ गवन्दवत्तिभिः सुमोभिष्ठक्षिरेत तत्र प्रणीयोद्वाप्त्वा पवित्रपूरुषसंस्कृत्य संपैराज्यार्थं यथोक्तश्चानाम नेवादीन् समन्तनः स्वापयेद् । ततः पुरुषका पवित्रमोर्ड दक्षिणेषु भाद्राणपुरुषविद्यान्वालभेत् सह भर्त्र्य देष्टु वृत्तामाशासाना ततस्या भाद्रासानात्या क्षतिक् प्रवापित्वमितिनिर्दिव्य योनी तस्या कामपरिपूरणार्थं वामामिति निर्वैत्येष्टिपूरुषोन्मिति कल्पयतिव्यनद्यच्चात् तन्त्रैवाम्येन स्थालीवाकमित्यार्थं विजुंयाद्यामायम् मन्त्रोदमन्त्रित्युस्त्रात् तस्य दधार् सर्वोक्त्वार्थं त्रुहेति । तत् समार्थी कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमित्वरन्ती प्रवित्यामित्वपूर्वप्रिवायेत् सह भर्त्र्य । तदो भाद्राणान् इत्यति वाचवित्याऽन्त्येष्ट भासीयात् पूर्वं पुमान् पश्चात् छो, न चोन्त्यित्वमवैष्टेत् ॥ यह पुरीय होम केवल द्वैविष्टिकों के लिए है; शूद्रों के लिए केवल नमस्कार होता है—यद्या तु नमस्कारमेव कुर्यात् (देवाप्रिदिव्यगुलपत्प्रिविद्येत्यः) । (चरक, शारीर ८) । यह पुरीय विष्टि केवल पुष्ट के लिए नहीं, हुक्षिता के लिए भी ही सकती है । यही विषान में उत्तमा शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उससे अपव्य अभिप्रेत है । समाचरेत्—स्वास्त्रामाचैत् । कर्माते—पुरुषकामेष्टि यज्ञ समाप्त होने पर । विचारणः—मर्ता जो गर्भाशान के आदाराचार विद्यार हृष्यादि के सम्बन्ध में कासी परिवित हो ।

ततोऽपराह्ने पुमान् मासं ग्रहाचारी सप्तिः द्विग्राहः स्वार्पिण्योदात्यां शाल्योदानं भुक्त्वा मासं ग्रहाचारीर्णीं तत्त्विनियां तैलमापोच्चरादारी नारी-मुपेयाद्वात्रौ सामादिविरभिविष्यास्य; विकल्पैवं चतुर्वर्ष्या पृथ्यामस्यां दशायां द्वादश्यां घोपेयादिति पुरुषकामः ॥२॥

एष्टुत्तरोत्तरं विष्टादापुरादेव्यमेव च ।

प्रजासोमाग्यमैर्वर्य यत्ते च दिव्यसेषु ये ॥३०॥

शतः परं पञ्चायां सप्तमयां नवम्यामेकादश्यां च श्रीकामः, श्रयोदशीप्रभूतयो निन्द्याः ॥३१॥

(पुरुषेष्टि के पश्चात् कर्म—) फिर (पुरुषे यज्ञ के दिन) रो पहर में मास तक ग्रहणी, हृष्टिप्राप्त उपर वृत् और दृष्टि के साथ भाव का भोजन करके मास तक ग्रहणीली, तेलस्त्रिय, (रो पहर में) तेलस्त्रियमित्याद आदार देवन की हुंडी द्वी को रात में अनुपायादि से आपासन हैकर 'पुरुषों (पुरुष) द्वीपी, द्वीपी, शारीरी, दशर्षी और बालद्वी (रात) गमन करे, इस नियम का भर्त्र में विचार कर (फिर उससे) सहजार करे ॥३१॥ इस दिवसी में प्रजा की आयु, आरोग्य, सौदर्य, ऐश्वर्य और शक्ति

धिकाधिक समझना चाहिए ॥३०॥ इसके सिवाय पांचवीं, सातवीं, नौवीं और अपारहर्वीं रात्रि में कन्यार्थी (गमन करे); तेरहवीं प्रभृति निष्ठ (होती है) ॥३१॥

वक्तव्य—मासग्—पुत्रेष्टि कर्म के पूर्व एक महीना भर। इससे यह मालूम होता है कि पुत्रेष्टि कर्म तथा यहाँ वर्णन किये हुए स्वाध्येयादि नियमों का परिपालन प्रत्युमती की चर्या के समान स्त्री में गर्भधारणा होने के समय तक प्रतिमास करने की चिर्यायां हैं। **मदाचारी—यहाँ विवाहित दम्पती का व्याचर्य अभिप्रेत है, धर्यात् प्रत्युकाल में निष्ठ दिन छोड़कर वासी सब दिनों में सहवास करना व्याचर्य कहलाता है—निन्यास्वातु नाम्यातु चियो रात्रिपु वजेयन्।** नाश्चार्येव भवति यत्र तत्राम्बे वसन् ॥ (मनुस्सृति)। पोदार्थार्थ निष्ठः स्त्रीणां तदित्यनुगमातु संविशेष । नाश्चार्येव पर्वण्यात्याश्वत्त्वं वर्जयेत् ॥ (याज्ञवल्क्यस्सृति)। युग्मास्त्रिति वहुवचनं समुच्चार्यम् । अतश्चैकारिमन्त्रिप्रती अप्रतिपिदानु स्वर्वंतु रात्रिपु गच्छेत् । एवं गच्छन्त्याचार्येव भवति ॥ (विज्ञानेश्वर)। तीसरे धर्याय के ५ वें सूत्र के वक्तव्य में पुरुष का व्याचर्य भी देखो। स्त्री के सम्बन्ध में भी व्याचारिणी का यही धर्य करना है। **सर्पिःसिग्मः सर्पिःक्षीराम्यान्—पुरुष शरीर पर पृत का मर्दन करे और घृतक्षीरप्रधान भोजन सेवन करे, क्योंकि 'शुक्रं तौम्यं' होने के कारण शुक्रपोषण के लिए धृतक्षीरादि के समान सौम्य पदार्थ उसको प्रयुक्त करने चाहिए ।** तैलविन्धां तैलमापोत्तराहारान्—स्त्री शरीर पर तैल का मर्दन करे और तैल तथा उड़द जिसमें धिक द्वारा उस प्रकार का भोजन सेवन करे क्योंकि 'आर्तवसाम्नेयम्' होने के कारण उसके पोषण के लिए तैल मापादि के समान आप्नेय पदार्थ स्त्री के लिए प्रयुक्त करने चाहिए । राशी—रात्रिग्रहणात् दिवसप्रतिपेषः ॥ (विज्ञानेश्वर)। आयुर्वेदानुसार मैथुन के लिए पूर्वरात्र विहित होती है और मध्याह्न, प्रभात, संध्याकाल, मध्यदिन निषिद्ध होते हैं—सन्ध्यापर्वत्स्वर्गम्यां च नोपेयात् प्रमदानं नरः । गोकर्णं चाधरोत्रे च तथा मध्यनिदेषु च ॥ (सुश्रृत)। सामादिभिरभिनिश्चास्य—स्त्री के साथ मैथुन करने के पूर्व उसको सामादि से उभारना, प्रेम से विशास उत्पन्न करना, लज्जा दूर करना इत्यादि कर्म वहुत धावश्यक होते हैं । **विशेषतः शुरु शुरु में जब स्त्री और पुरुष मिलते हैं, तब सामादि की बढ़ी जरूरत होती है स्त्री में प्रेम उत्पन्न होने के पूर्व और लज्जा दूर होने के पूर्व उसके साथ मैथुन करना एक प्रकार का बलाकार ही समझना चाहिये।** सामादि में कामोत्तेजक परिहासानुरागात्मक वात्स करना; गाल, स्तन, चूटबद्ध, गुदांग इत्यादि पर हाथ फेरना या इन स्थानों को गुदगुदाना, चुम्बन करना, आलिङ्गन करना, खुशबूद्धार तेलों का, पुष्पों का, उवटनों का प्रयोग, ताभूल सेवन इत्यादि कार्यिक और मानसिक अनुनयात्मक कर्मों का समावेश होता है—रत्यर्थं सव्येन वाहुनानुद्देतः परिष्वज्जः । पूर्वप्रकरणसम्बद्धैः परिहासानुरागैवत्तेभिरुद्धितिः । गूदाश्लीलानां च वस्त्रूनां समस्या परिभाषणम् । सन्तुतम्, अवृत्त वा गीतं वादित्रम् । कलासु संकाशः । विजेन्ने च यथोक्तैः रालिङ्गनादिभिरेनामुद्धर्येत् । ततो नीवीविद्विषयोक्तुमुपकर्मेत् । कुषुमसधर्माणो हि वोपितः सुकुमारोपकामः । तास्त्वनयिगतविश्वासैः प्रसभमुपकन्यमाणाः सम्प्रोगेष्विष्यो भवन्ति ।

तत्सार ताम्बैवोपचरेत् ॥ (वास्त्यायनकामसूत्र)। किंवा छान्दोग्योपनिषद् में मैथुन के हिंद्वारादि जो वर्णन किये हैं, उनके द्वारा स्त्री को धार्यासित करके—उपमन्त्रयते न हिंकारः । धृपते स प्रस्तावः । लिया सह शैते स उद्दीपयः । प्रति स्त्री सह शैते स प्रतिदारः । कालं गच्छति तत्त्विपन्नम् । परं गच्छति तत्त्विपन्नम् । पत्नदामदेव्यं भिशुने प्रोतम् ॥ (छान्दोग्योपनिषद् २१३)। **विलक्ष्यवग्—पुत्रार्थी अमुक दिनों में सहवास करे; इस वैद्यकोक्त या धर्मशास्त्रोक्त (ुग्मासु पुत्रा जानन्ते, लियो-उग्मासु रात्रिपु । तत्त्वाद्युग्मासु पुत्रार्थी संविदेशर्तवं लियन् ॥ मनुस्सृति) नियम का स्मरण रखकर उसके अनुसार अपने मन का निष्प्रय कर । पु दिवसेतु—दिवस से यहाँ रात्रि अभिप्रेत है, धर्यात् हन दिवसों के रात में स्त्री से सहवास करने पर उत्पन्न हुए प्रजा का आयुरारोग्य इत्यादि । उत्तरोत्तर—चौथी रात में सहवास करने पर उत्पन्न हुए पुत्र के आयुरारोग्यादि से छुटी रात में सहवास करने से उत्पन्न हुए पुत्र का आयुरारोग्य धिक होता है, इस तरह धिकाधिक होते होते वारहवीं रात में सहवास से उत्पन्न पुत्र का आयुरारोग्य सब से धिक होता है । कन्या के संवंध में भी यही नियम होता है । प्रजासामाय्यम्—प्रजायाः कन्यायाः पुवस्य वा सीमायं सीन्दर्यम् । प्रजा का संवंध आयुरारोग्यादि सब के साथ है । अर्णगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—तास्त्रतोत्तरामासुरारोग्यैर्यं सीमायवलवयेन्द्रियसम्पदपत्यस्य भवति ॥ अतः परं तूत्रोत्तरमेवायुरादीनां द्वासः ॥ स्त्रीकामः—कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के संवंध में आगे तीसरे धर्याय में ५ वें सूत्र में विवरण किया गया है । व्रयोदशीप्रवृत्तयः—तेरहवीं तथा धादि की तीन रात्रियां सुश्रुतमतामुसार निन्दित हैं । मनु के अनुसार प्रथम चार, अयात्रहर्वीं और तेरहवीं निन्दित हैं—तासामायाश्वत्सर्लु तिन्दितैकादर्शी च च । व्रयोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ (मनुस्सृति)। अर्णगहदयानुसार प्रथम तीन और अयात्रहर्वीं निष्ठ हैं—पूर्वस्तिस्त्रश्च निन्दिताः । एकादशी च ॥ अर्णगसंग्रह के अनुसार प्रथम तीन, एकादशी और व्रयोदशी निष्ठ हैं—एकादशी-व्रयोदशीस्तु नपुसं त्वात् । याज्ञवल्क्य के अनुसार केवल प्रथम चार निष्ठ और वाकी दिन अमावास्या, पौर्णिमा, चतुर्दशी और अष्टमी को छोड़कर प्रशस्त होते हैं—पर्वाण्याद्याश्वत्सर्लु वर्जयेत् । (याज्ञवल्क्यस्सृति)। इस तरह धर्मशास्त्र और वैद्यक के विविध ग्रंथकारों में कईं मतभेद मिलते हैं ।**

तब प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनायुध्यं पुंसां भवति, यथ तत्रादीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते; द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे चाः दृतीयेऽप्येवमसंपूर्णङ्गोऽलपायुर्वा भवति; चतुर्थे तु संपूर्णङ्गो दीर्घायुध्य भवति । न च प्रवर्तमाने रक्ते बोजं प्रविष्टं गुणकरं भवति यथा नद्यां प्रतिस्तोतः ष्टाविद्वयं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोद्धं गच्छति तद्वदेव दृष्टव्यम् । तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत् । अतः परं मासाद्वपेयात् ॥ ३२ ॥

(प्रथम विवाह में स्त्रीसहवास का फल—) इन

निन्दा रात्रियों में से (त्रय) प्रथम दिवस में छतुमती के साथ पुरुषों को मैथुनकर्म आवृत्त्यनाशक होता है, और उस दिन के मैथुन में जो गर्भ स्पायित होता है, वह (नी महिने के पश्चात्) प्रसव के समय (ग्राणों से) विसुक्त हो जाता है (मर जाता है)। दूसरे दिन में भी इसी प्रकार होता है अथवा सूतिकाशृद में (वालक मर जाता है)। तीसरे दिन में भी ऐसा ही होता है, किंवा असर्वार्थ अंगुष्ठ का अल्पायु होता है। चतुर्थ दिन में तो सर्वांगसर्पण और दीर्घायु होता है। (नीचे की ओर) बहते हुए आतंकशोणित में प्रविष्ट हुआ (शुक्रगत) वीज गुणकारक नहीं होता, जसे नदी में प्रवाह के विश्व फौंका हुआ तैरने वाला (लकड़ी का ग्रन्थ के समान हल्का) पदार्थ वापस आता है, ऊपर नहीं जाता वैसे ही (छतुमती की खी के समागम की घटना में) समझना चाहिए। हस्तलिपि (छतुमती के) नियमों का अचरण करने वाली खी को (समागम के लिपि) विराम वर्जय करे। उसके बाद महीना भर (यथोचित रात्रियों में) गमन करे ॥३२॥

वक्तुव्य—कातुलवारा मैथुनगमनम्—रजस्वला छी के साथ मैथुन करने का निषेध बैचक तथा धर्मशास्त्र में किया गया है, यहाँ तक कि चौथे दिन भी यदि रज-स्वाक होता हो तो उस दिन सहवास का निषेध किया गया है—रजस्वला प्राप्तिको नरस्त्राण्यनितमन्तम् । दृष्ट्यात्मुत्तेजस्ते हानिरप्तमधं ततो भवेत् ॥ (सुधृत, च० २४) । रजस्वलामुपर्वेदमनस्य प्रकृतिपिण दोषा मेद्यागाम्य श्वयु जनवन्ति तमुपदशमित्याचक्षते । (सुधृत, निदान) । रजस्वलभित्तान्तमलदीप्तिमालम् । (चरक, सूत्र २९) । दीर्घोरोगं चिरोत्सृष्टं तथैव च रजस्वलम् । इद्योऽप्रमदा मोहोरो गोचरेत् कामद्वयेत् । अवग्रहः प्रवर्तते । (चरक, चिकित्सा ३०) । बागमट के अनुसार रजस्वलागमन शुद्धिरोगों का एक कारण है—दोषाशुषितसारोद्यमसिना तुरजःपथाद् ॥ (अर्थांगद्वय, उत्तर ३३) । रजसाभित्तानामि नरस्य द्युपगच्छन् । प्रशा तेजो बलं चक्षुरायुक्तं प्रवीयते ॥ (मनुष्यस्ति ४११) । इन वर्णनों में रजस्वलागमन से होने वाली आपत्तियों का जो वर्णन मिलता है, वह सोलहों आने वास्तविक न होकर रजस्वलागमन निषेध का महावृद्धक है । तथापि इससे खियों में इवेतपदर और पुरुषों में मूलप्रसेकक्षोथ (प्रमेह) उत्पन्न होता है, इसको आपुनिक चिकित्सक भी मानते हैं । आपोये गए—आर्तव घाव के दिनों में समागम करने से शर्मधारणा होती है इमका इष्ट निर्देश इस वर्णन में है । इस काल में समागम करने का चिवाज समार भर में कहीं नहीं है । आर्तव घाव समागम की इष्टि से भयसूक्षक चिह्न (Danger signal) माना जाता है । परन्तु विरही कामात्मा बहुत काल के बाद मिलने के समय इस काल होने की परवानग करके समागम करते हैं—बामातुराणा न मर्य न लज्जा कहने की एक छी के इस प्रकार के समागम से भाव सन्तान द्वृष्ट थे और वे सब तन्मुखस्त थे । इग्लिप यह पर आगे 'प्रतिस्पेनः प्लाफः' द्रष्टव्य का जो इष्टान्त दिया है वह ऐकानिक नहीं मात्रम् पड़ता । इसका कारण यह है कि नदीप्रवाह के विश्व फेंका ऊंचा कागज या लकड़ का छापा निर्वाङ और गतिहीन होने के कारण उप

धार्यि नहीं जा सकता, परन्तु धार्यवसाव के लिए योनि में उत्तमर्गित शुक्र का शुक्राण सजीव और चलन होने के कारण ऊपर गर्भाशय में जा सकता है। ऐसी अवश्या में धार्यव के लिए हुए शुक्र की आमतौर से बया गति हो सकती है उसको स्थग करना यही प्लाविद्वयद्यान्त का उद्देश्य मालूम पड़ता है। प्रतिमानों विमुच्यते—प्रायः इनी हीः। प्रसव होने की स्थिति में, गर्भाशय से योनिद्वार के बाहर आने के पूर्व अर्थात् जन्म के समय बालक मृतजात (Still born) होता है। दिवीयेड्वेट्रम्—पुरुष की जातु का नाश और बालक का मृत्युवस्था में जन्म ये दोनों घटनाएँ दूसरे दिन समाप्त करने से होती हैं। सूतिकाशुरे वा—सूतिकाशुर में जब तक माता का निवास होता है, सब तक। अर्थात् दस रोज़ के भीतर अथवा अधिक से अधिक दृढ़ से तीन महीनों तक, जिओंकि हृतनी अवधि तक माता शूतिका कहलाती है—यह साध्य-भौतिकमुपसर्थका क्रेषण दिग्विकालदरविहारवन्वता विगतव्युत्तिभिन्ना स्वात्। पुनरार्नवदर्जनादिव्येके। (धर्मगतिग्रन्थ)।
सूतीयेड्वेट्रम्—पुरुष की जातु का नाश, भूतावस्था में जन्म ये दोनों, तथा सूतिकाशुर में सूत्यु ये तीनों घटनाएँ तीसरे दिन के समाप्त होती हैं। अद्यमूर्त्ति—जियके दृष्टीर की यथोचित परवरिति नहीं हुई है ऐसा अर्थात् दृष्टी, किंवा जिसके अङ्ग परिषृण् नहीं हुए हैं अर्थात् सहज व्यथा (Congenital malformation)। युक् (प्रथम खण्ड पृष्ठ १५०); किंवा अस्वामाविक विहृत व्याकार का (Monsters)। आञ्जुनिक पाक्षरथ चिकित्सकों का कथन है कि व्यष्टकाल में समाप्त करने से दूसरे प्रकार के विहृतकारी जागे उत्पत्त होने की अधिक संभावना होती है। गुणकरम्—(१) गर्भाशानकरम्। किंवा शुक्र का मुख्य गुण या कर्म गर्भाशयिति है—गर्भोत्तारश भाजुना लेण्ड एवं त्रामाद् दृश्यतः। (अष्टाह्रददय, सूत्र ११)। (२) किंवा सुख देना, कुल विस्तार करना, कुल की कीर्ति बढ़ाना, पिता के तीनों ऋणों से सुख होना ये अपर्य के गुण हैं—प्रीतिर्वैल तु शुक्र विविश्वासीति विपुल कुलम्। यदो लोकाः सु ऽर्द्धशुद्धिक्षाप्तय-संविग्नः॥ (चरक, चिकित्सा २)। अतो भी इन वैद्योक का वक्तव्य देखो। ये गुण जिस धीज से उत्पन्न हुए बालक में होते हैं, वह धीज गुणकर कहलाता है। अर्थात्काल के प्रथम तीन दिनों में दोया हुआ धीज या तो अकुरित नहीं होता, या अकुरित होने पर उत्तम हुआ बालक अशायु होने के कारण पिता के शाश से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए लिया है—न च गुणर भवनि। गुणकर धीज का धर्णन आगे इन वैद्योक में किया है—यह जाता रूपान्तः सद्वदन्धिरायुक्तः। भद्रन्धृण्यस्य मोक्षाः सत्यवा गुणिषो दिता॥ मासात्—मासात्। 'कृष्णम्' हस्ति धीः। अर्थागमन तु गम्भीरविहृतेन स्थितमपि यम्य व्यादिति। (दशष्टम)। यदि यही धीर्य लिया जाय तो 'मः' पर भामाड पैषाचाऽहस्य पास्य का तात्पर्य इम प्रकार होता है—व्यष्टकाल के प्रथम तीन दिन छोड़कर उसके पश्चात् चित्त शाश्वतों में गमन करे और इसके पश्चात् धीर ज्वरवला होने के बाद किर गमन करे। दोनों दा साप्तर्यं एक ही है, परन्तु दूर्विपर संर्वम से ऊपर भगवान् में दिया हजार धीर्य अधिक मरहर

माल्सु होता है। वैषक या धर्मशास्त्र के अनुसार महीने में सहवास कितनी बार करना चाहिए—कुछ लोगों का कथन है कि अनुसार काल में पुत्र या कन्या की हृच्छा के अनुसार समय विषम रात्रि में एक ही बार सहवास करना चाहिए। परन्तु वैदिक में या धर्मशास्त्र में इस प्रकार का नियम नहीं है। कन्या की हृच्छा करने वाले के लिए 'पश्यन्यां सप्तम्यां नवम्यां भौतिकादश्यांचं'; वैसे ही पुत्र की हृच्छा करने वाले को 'चतुर्थ्या पश्यमष्ट्यां दशम्यां द्वादश्यां च' इस तरह दिन बतलाये गये हैं। वाक्यों में 'च' का प्रयोग किया गया है, जिससे इन समय या विषम रात्रियों का समूह प्रदिव्यित होता है। इसके सिवाय आयुर्वेद में ही उत्तम सन्तति और यावदिच्छ खीगमन के लिए चारीकरण वर्णन किया गया है—ज्ञानादपत्यमनिवच्छन् गुणांश्चापत्यसंग्रहात्। वाजीकरणनित्यः स्याद्विद्यन् कामुकानि च ॥ पुमान् यथा जातवतो यावदिच्छ छियो ग्रजेत्। यथा चापत्यवान् लथो भवेत्तदुपदेश्यते ॥ (चरक)। इससे यह स्पष्ट है कि महीने में एक बार गमन यद्यपि उत्तम हो सकता है, तथापि आयुर्वेद में अभिप्रेत नहीं है। धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम चार रात्रियाँ, ग्यारहवीं रात्रि और तेरहवीं रात्रि को छोड़कर तथा महीने भर में अष्टमी, चतुर्दशी, पौर्णिमा और अमावास्या छोड़कर पूरा महीना भर सहवास कर सकते हैं—करुकालाभिगमा भी स्थात् स्वदारनिरतः सदा । पर्वदर्जं ब्रजेचैनां तद्वतो रतिकाम्यया ॥ तासामाधार्थत्वस्तु निदित्तैकादशी च या । श्वोदशी च, शेषात्तु प्रशत्ता दशरात्रयः ॥ (मनुस्मृति)। वेष्टपुंनिशाः सीणां तस्मिन् युग्मात् सुविशेषं । प्राणाचार्येव पर्वाण्याद्याशत्तस्तु वर्जयेत् ॥ यथाकामी भवेदपि लीणां वरमनुभरन् ॥ (यज्ञवल्क्यस्मृति)। पर्वाण्यादायास्यादीनि वच्यते । तानि वर्जयित्वा भावाप्रीतिर्वर्तते यस्य स तद्वतोऽन्यवाप्युपेयात् ॥ (कुलदक्षभट्ट)। सुग्रामास्विति वहुत्वनं समुच्चार्यम् । अत्रश्चैकस्मिन्वपि फ्रती अप्रतिमिद्धात् युग्मात् सर्वात् रात्रियोग्न्येत् । (विज्ञानेश्वर)। फ्रतापुषेयादनृती च पर्ववर्जम् । (गौतमसूत्र)। इससे धर्मशास्त्रानुसार भी महीने में केवल एक दिन सहवास करना इष्ट नहीं माल्सु होता है। इसलिए 'त्रयोदशीप्रभृतयो निन्याः' इसका अर्थ तेरहवीं रात्रि के पश्चात् सब रात्रियाँ निय हैं, यह अर्थ भी अयुक्त माल्सु पढ़ता है।

लघ्वगर्भायाश्चेतेष्वहःसु लघ्वमणावटशुङ्गासहदेवाविश्वदेवानामन्यतम द्वारेणाभिपुत्र्य व्रीश्चतुरो वा विन्दू दद्यादक्षिणे नासापुष्टे पुत्रकामयै, न च तात्त्विष्टोवेत् ॥ ३३ ॥

(पुंसवनविधि)—और इन दिनों में गर्भ प्राप्त हुई, पुत्र की हृच्छा रखने वाली स्त्री के दाहिने नथने में लक्षणाण, चटशुङ्ग (चट के नवीन लड्डू), सहदेवा (पीतवला), विशदेवा (रवेतवला) इनमें से किसी एक को गौ के दूध के साथ कुचलकर (उसके) तीन या चार वृङ्ग (स्त्री स्वयं) प्रदान करे; उन्हें यूके नहीं ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—लघ्वगर्भायाश्चेतेष्वहःसु—पूर्व तीन चार स्त्रीं में स्त्रीसंग के लिए निय तथा प्रशस्त दिनों का विचार

^१ अस्याये 'वामे दुष्टिकामायै' इति कविदधिकः पाठः ।

करके अन्त में प्रशस्त दिनों में स्त्रीसंग करे, इस प्रकार का विधान है। उसी के सिलसिले में यह शब्द प्रयोग है; और 'च' के प्रयोग से यह धात विलकुल स्पष्ट होती है। इसलिए 'उपर्युक्त बतलाये हुए प्रशस्त दिनों में पुरुषसमागम करने पर जिस में गर्भधारणा हुई है, ऐसी स्त्री के यह इस शब्दप्रयोग का अर्थ है। पुंसवनविधि की कालमर्यादा बतलाने के लिए हूनका प्रयोग नहीं है। लघ्वमणा—पुश्काकाररत्तात्पिन्दुमिलाविकृतच्छदा । लघ्वमणा पुत्रजननी वस्तगन्धाङ्गतिर्भवेत् ॥ अभिपुत्र्य—गोदुषध के साथ कुचलकर उसका कल्प बनावे फिर वस्त में लेकर उसको खूब निचीड़ कर रस के बैंदू नासा में छोड़ दे। पुश्कामायै—यदि कन्यायां ही तो वाम नासापुष्ट में उनके बैंदू ढाले। न निर्धारित—नासा में बैंदू छोड़ने पर वे गच्छ में झाँसे से कुछ खराश या घेचैनी माल्सु होती है। उस समय उनको धूकना न चाहिए, निगलना चाहिए। दणात्—बैंदू छोड़ने का काम पति या वैद्य या स्त्री या घर के कोई अन्य लोक करें, इसके सम्बन्ध में यहां कुछ भी लिखा नहीं है। चरक और वाभट में इस काम के लिए 'स्वयं' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर अरुणदत्त लिखते हैं—श्रीरेण कल्पीकृत्य स्वयं स्त्री दक्षिणे नासापुष्टे पुत्रार्थं सिचेत् ॥

इस सूत्र में पुंसवन कर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह विधि गर्भ को पुरुष बनाने के लिए की जाती है—पुंसवनविधि पुंसवकारकं कर्म । (चक्रपाणिदत्त)। पुमांलघ्वो जायते येन तत् पुंसवनं । शिरन् भग इत्यादि लिंगदर्शक वाणीयों की ओर पूष्पग तथा धीजकोप (Ovary) हून लिंगपोषक अन्तर्गतों की उत्पत्ति का सूत्रपात छोने के पूर्व यह विधि की जाती है। क्योंकि इन अंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पश्चात् लिंगपरिवर्तन करना कठिन है—तथोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक् । तस्मादपनग्नीं स्तियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्वर्मस्य पुंसवनमस्तै दद्यात् । (चरक, शा० द)। प्राग्व्यक्तीभावादिति यवध्य श्वीत्वं पुरुत्वं वा गर्भस्य व्यक्तिं भवति तावदेव तद्वयमाणं कर्म लिङ्गपरिवर्तिकरं भवति । (चक्रपाणिदत्त)। लघ्वगर्भी चैनां विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्वर्मस्य पुष्टे पुंसवनानि प्रयुक्तीत् । (अदांगसंग्रह)। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्व व्यक्तोः प्रयोजयेत् । (अदांगहृष्टव्य)। यह अव्यक्त्वावस्था (Indifferent stage) आधुनिक गर्भविज्ञान (Embryology) के अनुसार अधिक से अधिक छठे सप्ताह तक होती है—

This stage *(which belongs to the middle of second month) of formation is often termed the indifferent stage, but it is quite possible to distinguish the sex even now. Nevertheless, although there are sexual differences in small details at this stage, and even earlier, the fundamental arrangement of these simple parts is the same for both sexes at this time, and in this way may be said to be indifferent. *Manual of Embryology by J. E. Frazer.*

आयुर्वेद में अव्यक्त और व्यक्त अवस्था को कालमर्यादा इस अकार वर्णन की गई है—व्यक्तिस्तु दितीये मासे भवति ।

ध्रुव चतुर्णा साम्राज्याद्वयः स्याद्विषयकः ।
प्रातुषेषाम्युर्वजाना साम्राज्यादद्वयो यथा ॥ ३४ ॥

—

(गमोंत्विति की सामग्री) जसे ग्रन्तु, देश, जल और वी
द्वन् चारों के साक्षिय से अंकुरनिक्षिति से (विधि-पूर्वक उत्पन्न
होता है, जसे ही ग्रन्तु, देश, जल और वीज द्वन् चारों के
साक्षिय से गमं निक्षिति से विधिपूर्वक (उत्पन्न) होता है ॥३॥

बक्तव्य—इस श्लोक में यथं तथा अंकुर उत्पन्न होने के
लिए जो सामग्री लावशक होती है, उसका वर्णन किया
है। गमोंत्विति की घटना समझाने के लिए इस श्लोक के
द्वया द्वावा अंकुर का दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर, धृष्टि के सूचना
निरीक्षण का साक्ष देने वाला तथा सुप्रज्ञनिर्माण वाक्य
की धृष्टि से उद्भवक है। इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ प्रत्येक
शब्द गमं तथा अंकुर दोनों के लिए उपयुक्त है, केवल
शब्द गमं तथा अंकुर दोनों के लिए उपयुक्त है, केवल
परन्तु ये दोनों शब्द प्रथायकावी हैं। कन्तु—(१) अंकु
की उत्पत्ति के लिए अनुकूल काल। जैसे—शालि के लिए
बर्पा की कन्तु, जने के लिए शिविर कन्तु इत्यादि। जटु वं
यहाँ जटपूलचित चैत्रादि महीनों का अभियाय नहीं है
परन्तु तदुपलचित आदता, शीताता, दण्डाता इत्यादि वाह
परिस्थिति के समयोग का है। यदि जटपूलचित मास थोक
होने पर शीतादि का अतियोग या मिथ्यायोग हो तो अंकु
अधीया तदह से उत्पन्न नहीं हो सकता या नह दोता है
यदि मासोपलचित कन्तु विपरीत होने पर भी शीतादि परि-
स्थिति योग्य हो तो अंकुर उत्तम प्रकार से उत्पन्न होता है।
इसी तरव के आधार पर जहाँ जो चीज नैसर्गिक उत्पन्न नहीं
होती, वहाँ कृतिमत्ता शीतादि अनुकूल बनाकर उत्पन्न की
जाती है। प्रतुचर्या के सम्बन्ध में भी यही तरव चामरद में
लिखा है—देम तारिधुनीर रुद्ध रुद्ध चामरिदेवपि। चिरितद्वी-
लन ग्रस्माच्छीलादि दृष्टातिर्थ। कन्तुचरिदीशीतोपलचितोप-
प्रतिक्रिया ॥ (अटायसग्रह)। इस पर हनु लिखते हैं—
यस्मिन्द्रेव मासे शीतादयस्त्रिमि नेत्र सा चर्पा सेना । शीतातिदेव
प्रतिक्रिया कन्तुचरियोग न त्रु मासान्त्रमासान्त्रिय ॥ (२) गमं के
आधार के लिए अनुकूल काल—कन्तु नाम शोणितदण्डनोपलचितो
गमंथारयोग्य क्षीणावश्वादिवेष ॥ (कुक्लकमध)। यह काल
सोलह या बादह दिन का होता है। इन दिनों में जी में
गमंथारण होने की अधिक समावना होती है। इसलिए
इस कालविधि को गमंथारण योग्य काल या अंकुर की
तुलना में कन्तु कहते हैं। परन्तु अंकुर की धृष्टि से जैसे कन्तु
पलचित चैत्रादि मासों में योग्यता न होकर अतपूलचित
शीतादि के समय योग पर योग्यता निर्भर होती है,
जैसे ही गमं की धृष्टि से अतपूलचित सोलह या बादह
दिनों में योग्यता न होकर उन दिनों में जी के शाहीर के
भीतर जो चीज बनती है, उसके ऊपर योग्यता निर्भर होती है। यदि वह चीज सोलह दिन गमंथारण के लिए योग्य हो सकते हैं, परि वह चीज सोलह दिनों के बाहर बनती तो
सोलह दिन गमंथारण के लिए योग्य याने असंतु भी कन्तु बन जायगा;
और यदि वह चीज सप्तम भग्नोने में न घेने से पूरा महीना
गमंथारण के लिए अयोग्य बनेगा। जिस चीज के ऊपर
गमंथारण होती है, वह चीज आतंक या शीबीज (Ova)
कहलाती है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि गमं के

लिए प्रत्यु से 'स्त्रीवीज' अभिग्रेत है। प्रत्यु के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे तीसरे अध्याय के छठे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। चेत्र—(१) धनुर की उत्पत्ति और उत्तम धृदि के लिए जिस प्रकार की भूमि आवश्यक होती है, उस प्रकार की भूमि। (२) गर्भ की उत्पत्ति और धृदि जिस स्थान में होती है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय या गर्भाशय। परन्तु यह अर्थ कुछ समुचित है। इससे गर्भाशय जिस शरीर का एक हिस्सा होता है, वह शरीर याने स्त्री यह अर्थ अधिक योग्य है। आयुर्वेद में स्त्री के लिए चेत्र शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—वाजी रथग्रन्थ च चेत्रं स्त्री या प्रार्पणी॥ (चरक, चि० २)। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—जैवित्र चेत्रम्, तत्र शुक्रलप्तीत्प्रोद्यापि॥ स्त्रितिग्रन्थो में भी स्त्री के लिए चेत्र की उपमा दी जाती है—जैवभूता सृता दारी वीजभूतः सृतः पुमान्। वीजसेवसमायोगात् सभवः सर्वदेहिनाम्॥ (मनुस्मृति १३२)। इस पर कुल्लकभट्ट लिखते हैं—ग्रोहाणुतचित्स्थानं क्षेत्रं तत्तुत्या स्त्री मुनिभिः सृता॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुपादयेद्व यत्। तपौरसं विजानीयात्पुर्वं प्रथमक्षिप्तरः॥ (मनुस्मृति १३६)। साहित्य में भी चेत्र शब्द स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है—अपि नाम कुलपतेरिमसवर्णंक्षेव-संभवा स्यात्॥ (शाकुन्तल १)। तस्मै हिमाद्रेः प्रवत्तत तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व। योपित्यु तदीर्थनिपेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्ममुवोपदिष्टरः॥ (कुमारसंभव ३१६) वेदों में भी स्त्री के लिये चेत्र की उपमा दी गई है—तां पूर्णं शिवतमा-मैरथस्व यस्यां वीजं मनुष्या वपन्ति। या न ऊ उशतो विशेषयाते यस्यामुशतः प्रहरम शेषम्॥ (ऋग्वेद १०।८८।३७)। इस शास्त्र और व्यवहारप्रामाण्य के सिवा गर्भ की दृष्टि से चेत्र का अर्थ करने का दूसरा महत्व का कारण यह है कि गर्भाशय गर्भ के निवास का केवल स्थान है, उसका पोषण स्त्री के शरीर से होता है। इसके सिवा स्त्री के आहार, विहार, विचार इत्यादि का भी परिणाम गर्भ पर होता है। अम्बु—अंकुर की दृष्टि से केवल जल। उसका पोषण जिन द्रव्यों से होता है, वे द्रव्य चेत्र से मिलते हैं। गर्भ की दृष्टि से आहाररस। गर्भ का पोषण गर्भाशय से न होकर माता के आहाररस से होता है—मातुरुत्तु रस-वाहयां नाड्यां गर्भात्मिनाडी प्रतिवद्वा। साऽस्य मातुराहाररस-वीर्यमिवहति। तेनोपलेहेनास्याभिवृद्धिर्वति॥। इसलिए धृत्यु से अप्रकृतया माता का योग्य आहार भी अभिग्रेत होता है। वीज—शालि, यव, गोधूम हृत्यादि जिनसे अंकुर उत्पन्न होता है—वीहयः शालयो मुद्रास्तिला मापास्तथा यवः। यथावीजं प्रोहन्ति लगुनानीक्षवस्तथा॥ (मनुस्मृति)। गर्भ की दृष्टि से शुक्राणु (Spermatozoa) जिससे गर्भ-धारणा होती। परन्तु यहाँ पर भी जैसे चेत्र से स्त्री का ग्रहण किया जाता है, वैसे ही वीज से पुरुष का ग्रहण करना चाहिए—वीजभूतः सृतः पुमान्॥ (मनुस्मृति)। यद्यपि रेतो वीजं तथापि तदधिकरणत्वात्पुरुषो वीजमिति व्यपदिष्यते॥ (कुल्लकभट्ट)। इसका कारण यह है कि वीज की गुणसम्पन्नता पुरुष के आहार, आचार, विचार, मानसिक विकारों पर निर्भर होती है। अब इन चारों का यदि फिर से विचार किया जाय तो अंकुर की दृष्टि से नहीं चेत्र जल और वीज

ये चारों स्वतन्त्र होते हैं और अंकुरोत्पत्ति के लिए इन चारों का सानिध्य या सनिपात होना आवश्यक होता है। गर्भ की दृष्टि से प्रत्यु, चेत्र और धृत्यु पृक्ष स्त्री में समाविष्ट होते हैं और वीज पुरुष में अलाहिदा होता है। इसलिए गर्भोत्पत्ति के लिए केवल स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग काफी है। इसी लिए मनुस्मृति में लिखा है—वीजेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्॥ सामान्य—एुणसंपदता, उक्षेत्रा, दोपराहित्य, अनुपदात—प्रायेण सामन्यविधीं युणानां पराद्मुखी विश्वसुजः प्रश्निः॥ (कुमारसंभव)। यह दोपराहित्य जब स्त्री और पुरुष दोनों में होता है, तब उत्तम प्रजा निर्माण हो सकती है—विशिष्टं कुवचिद्वौजं स्त्रीयोनिस्त्रवेव कुप्रचिद्। उभयं तु समं यत्र सा प्रसुतिः प्रश्नस्यते॥ (मनुस्मृति)। वीज में उक्षेत्रा या गुण-संपदता उपस्थित होने के लिए निम्न वत्तों पर ध्यान देना चाहिए। (१) स्त्री और पुरुष के कुल—स्त्री और पुरुष दोनों के कुलों के विद्यमान तथा अविद्यमान मनुष्य स्वस्य, दीर्घायु और स्थिरेन्द्रिय होने चाहिए। वैयनसर, वातरक्त, शोणित-प्रियता (Haemophilia), रक्तनिपीडाधिक्य, राजवज्ञमा, कुष्ठ, मधुमेह, घृकरोग तथा अन्य शारीरिक विकार, अप्सारा, विविध प्रकार से उन्माद, उद्विस्ता, अव्यवस्थित-चित्तता, मस्तिष्कदौर्बल्य, लासक (Chorea), पश्चात्पात, अप्तन्त्रक तथा अन्य मानसिक विकार, कटा होठ, फटी तालु तथा अन्य शारीरिक व्यङ्ग इन अद्विलप्रभृत या खानदानी रोगों से अलिस होने चाहिए। स्त्री और पुरुष के कुल क्षतुलयोग्रह होने चाहिए। तुल्यगोविवाह (Inbreeding) कुलज दोप्रधृति को बढ़ाता है। कभी कभी स्त्री और पुरुष विवाह के पूर्व समय स्वस्य होते हैं; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके शरीर में कोई कुलज रोग नहीं है, जो उनके वीज द्वारा सन्तति में आ सके। कुछ कुलज रोग एक दो पीढ़ी के बाद आ जाते हैं, कुछ कुलज रोग अनुकूलता प्राप्त होने पर उत्पन्न होते हैं और कुछ कुलज रोग स्त्री की पुरुषसन्तति में आते हैं। इन कारणों से यह हो सकता है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्य रहते हैं; परन्तु उनके कुल में कुछ विकार हों तो उनकी सन्तति में वे स्वयं पीड़ित न होने पर भी आ सकते हैं। इसलिए वधूवर कितने भी स्वस्य क्यों न हों, उनके कुल का स्वास्थ्य जरूर देखना चाहिए—Choice of a mate must take into account the principles of heredity. Ideal Birth by Van De Velde. इस विषय के संबन्ध में आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र का मत और विशेष विवरण सूत्र २४१८ के वक्तव्य में (प्रथमखण्ड में १४८।१५० पृष्ठ पर) किया गया है, उसको देखो। (२) स्त्री और पुरुष का स्वास्थ्य—स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्य होने चाहिए। उनमें उपर्युक्त कुलज विकार न होने चाहिए; उनमें नष्टृयं, मातसर्य, कामान्धता, चिप्रकोपता, अनवस्थितचित्तता, उद्विनता, अहंकार, समाजविरोधी वर्तन करने की प्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार के मानसिक विकार न होने चाहिए। भांग, गांजा, अफीम, शराब तथा अन्य नशीली चीजों के सेवन को कुटेव न होनी चाहिए। संचेप में दोनों ही स्वस्य, सुन्दर, सुबौल, खुशमिजाज (जनप्रिय) और व्यवसनरहित होने चाहिए—सुखा और नस्था या लक्षणों विभिन्न। (चरक)

दोहरातुकोपेन त्रुच्यवीर्या त्रुतादित्वाग् । (चरक) । स्पर्शीशास्त्र-
सम्बन्धान्वयिनहृष्णीहर्षार्थानानगोदेशाभ्यन्ति त्रुतोगवक्तव्ये
महीनपितृत्रिंशितिपितोद्देश् ॥ (चट्टाक्षमपद) । ये जो अद्य के
ठिए पुण वर्णन हिये हैं, उन्होंने युगों से युक्त त्रुत भी होना
चाहिए—अत्मामूल चर्यान्वयिनोपेन लापद्वै त्रुत प्रत्यां
स्पर्शीशास्त्रप्रयाप्तान्वयिनिमित्तनामग्नेऽपितृत्रिंशितो-
गिप्रहितीर्या तथारिष्य दद त्रुतादृष्टि द्विदेश् ॥ (वस्त्र यत्त
कामसूत्र) । द्विदेश पुणेतुर्वृत्त, त्रुताधीन्द, वनविषय ।
(याज्ञवल्लभसूत्र) । जननेत्रिय का व्याप्ताद्य—धीरज्ञादिनी, गर्भादाय, योनि, शिरन,
पृथग्य हृत्यादि जननेत्रिय के प्रायग्य वस्त्र और
युद्ध होने चाहिए । रक्षप्रदर, रक्षतप्रदर उपदेश,
फिरह, सोनाक इत्यादि विकारों से प्रजननमार्गं
अनुप्रहृत होना चाहिए । अननेत्रियां पूर्णं परिपक्व होनी
चाहिए; अपरिपक्व (Undeveloped) न होनी चाहिए ।
यौवनावस्था में जननेत्रिय पूर्णं प्रायग्य न होने को अपरि-
पक्वता कहते हैं । अष्टावृद्धय में श्री जननेत्रिय की दृष्टि के
संवर्गमें लिखा है—तुदे गर्भादे मार्य रहे गुणेऽनिनेहि ।
बोवंवर्तं तुवं पूर्णे ॥ (वात०१) । गर्भाद्यायो गर्भाद्याय । ततिन्
युद्ध निनेव वातादित्वदेन वातादित्वदेन वातादित्वदेन वातादित्वदेन ॥ (अस्थग्रन्थ) । शोउनेत्रिय दृष्टि होने पर
उससे विकिञ्च साव घ्रन्ते हैं । ऐसे अपर्याप्तमार्गं में गिरा
हुआ पुण का शुभाग्नु उसके साव से निर्वलया छूत होता
है । (७) स्त्री-पुरुषों का प्रथम मानानेत्रादक वात—स्त्री और
पुण होने ही यौवनावस्था में पदार्थन करने के पश्चात्
कुछ साल तक अपरिपूर्णतीय होते हैं । जब तक ये परिपूर्ण
धीर्यं नहीं होते, तब तक उनका जीव भी परिपूर्णतीयं नहो
ता । स्त्री और पुण होनी का परिपूर्णतीयं होने का
काल भिन्न भिन्न होता है । सुश्रृत और अष्टावृत्सग्रह के
अनुसार पुरुषों का वय २२ और शिर्यों का १६ होता है—
प्रत्यक्षिये वरों वर्षे पुमान्, नारी तु शेषोऽहे । समरागमवीर्यों
की जानीशाल कुत्तोंके लिप्त् ॥ (सुश्रृत प्रथमस्तंड पृष्ठ ११५
देखो) । उत्या तोडावद्वया पञ्चविंशतिवर्षं पुण्यं पुरावे
प्रयत्नेत । (अष्टावृत्सग्रह) । उत्तम शीज उत्तम होने की
आवृद्धिशाखानुसार यह वयोमर्यादा है । कौटिल्य अर्थ-
शाल में पुण के लिये यही मर्यादा बतलाई है—
नदाव्यग्मीत्वाद्विवर्ण । अनो गोदान द्वारकम् च ॥ पाण्ड्राय
शारद्वयों के अनुसार (अर्थात् उनके देशों के लिप्त्) पुरुषों
में ३० और शिर्यों में २३ वयोमर्यादा मानी जाती है—

The most favourable age for procreation for the transmission of mental abilities for the off-spring is, according to Vaerting, the thirtieth year in the men, in the woman, not before the 23rd year Ideal birth by Van D. Felde

यह मर्यादा भारतवर्षं जैसे उत्ता देश के लिए कुछ
अधिक है । इसलिप्ति १६ से २३ वर्षे शिर्यों के लिए और २५ से
३० पुरुषों के लिए उचित वयोमर्यादा मालम होती है । इस
वयोमर्यादा के पश्चात् दीर्घशाल तक स्त्री और पुण विवाह
न करें तो उस अतिपरिपक्व अवस्था में विशेष करके शिर्यों

में, जीव कुछ रसाय हो जाता है और उत्तम हृदयं संतुष्टि
तुवृत्तं होती है । इसमें पह राष्ट्र है कि उत्तम संतुष्टि होने
के लिए एक विशेष आवृत्तंवैद्या आवृद्धय है—इत्तरोदय
वर्षावस्था पञ्चविंशतिम् । यथार्थं पुणः वर्षं कुपित्वा
न विरदेत् ॥ जातो वा न विर्त जीवेष्वोदेश दुर्विनिदेश ॥ अति
इत्याव॑ (Old, particularly old primiparae) दीप्तं
रोत्रिष्टाम-पेन वा विरेष्वोपस्थितां गर्भानां मैत्र त्रुती ।
पुरुषस्थापि एवविष्ट्य त एव दोषा समस्तिः ॥ (सुमुत्) ।
Children born before his mother is twenty one are
decidedly inferior in vitality to those of women
in the next five years. Similarly late marriage
is unfavourable for the women and her offspring.
The new born children of the old, particularly
excessively old primiparae, are even in the case
of robust mothers not exactly strongly developed
and resemble the children of too young primiparae.
Moreover, the theory that there is a deterioration
of the germ in old mother is not to be rejected
lightly and would have an influence on the qua-
lity of the offspring. Ideal birth by Van D.
Felde (८) स्त्री और पुरां में अन्तर—भारतीय वैद्य औ
परम्परागत के अनुसार वर की भवेता वर्षे उमर में धीरे
होनी चाहिए—पञ्चविंशतिवर्षों लघाव्या विवर्तुहेत् । अन्तर
पूर्विणी वातान्वयिणीं परीक्षीयै ॥ (याज्ञवल्लभसूत्र)
यदीवसी वस्त्रा प्रायान्वय न्यूनाद् ॥ (विश्वनेत्र) । पाण्ड्रा
शारद्वयों का भी मत है कि उत्तम प्रणा उत्तम होने के लिए
स्त्री पुण की भवेता उमर में कुछ दीर्घी हो—For psycho-
logical and social, but also for purely biological
reasons, it is to be desired further that the woman
should be a few years younger than the man, for she
reaches physical and mental maturity relatively
earlier than the man and her sexual capabilities
die out earlier. Ideal birth अब दोनों में निश्चिय
अन्तर कितना होना चाहिए हमका टीक प्रमाण कहन
कठिन है परन्तु साधारणतया यों कह सकते हैं कि स्त्री
और पुण में योवनावस्था प्राप्त होने के समय जो अन्तर
होता है, उससे कम अन्तर न होना चाहिये । योवनावस्था
का प्रारम्भ शिर्यों में आर्तवंदीन से और पुरुषों में शुक्रों
त्वचि से होता है । आर्तवंदीन शिर्यों में साधारणतया
१२ साल में और शुक्रोंपरित्त पुरुषों में १६ साल में होती है,
क्षृ और वर में कम से कम अन्तर इसलिए चार साल का
होना चाहिए, अधिक से अधिक अन्तर जी लाल का, जो
सुश्रृत ने दिया है, होना चाहिए । अर्थात् वर् और वर में
चार साल से कम और जी लाल से अधिक अन्तर कहावि
न होना चाहिए । वातस्थायनकामसूत्र में वृश्वर में
कम से कम तीन साल का अन्तर बतलाया है—विवर्ति
पञ्चवि न्यूनवयस्म । टीकाकार यशोधर अपनी जयमहला टीका
में वृश्वर का अन्तर चार से भाठ देते हैं—जन्मांश्वर्ण
याकृत कनिष्ठा वस्त्रे वरत् । कम्या परिणेववस्त्रा नेत्राविवाय
या ॥ (१) दो प्रसवों में अन्तर—जलदी जलदी स्थान

उत्पन्न होने से स्त्री के स्वास्थ्य में विगड़ हो जाता है, और ऐसे भिन्ने स्वास्थ्य में उत्पन्न हुई सन्तान कमज़ोर होती है। इसलिए दो गर्भधारणा के बीच में कुछ नियमित अन्तर होना बहुत आवश्यक है। इस विषय पर विचार करने से यह कहना पड़ता है कि प्रसव के कारण खराब हुआ स्त्री का स्वास्थ्य जब तक वालक उसका दूष पीता है तब तक ठीक नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री जो कुछ अच सेवन करती है, उसके एक अंश से वच्चे का भी पोषण होता है—यद्यदशनाति मातास्य भोजन हि चतुर्विधम् । तस्मादनाद्रसीभृतं वीर्यं व्रेधा प्रवर्तते । भागः शरीरं पुण्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते ॥ (भोज) । इसलिए वालक जिस समय से माता का दूष पीना छोड़ दे, उस समय से पुक वर्ष भर माता को यथेच्छ पौष्टिक साना पीना मिलने पर उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाता है और वह उत्तम बीज उत्पन्न करने में समर्थ होकर दूसरी बार उत्तम गर्भ धारण करने योग्य हो जाती है। इसलिए दो सन्तानों के बीच में २, ३ साल का अन्तर होना बहुत आवश्यक है। आगे १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथुन' की टिप्पणी में भी इस विषय का विचार किया गया है, उसको देखो। इस तरह उपर्युक्त छः गुणों से युक्त औपुरुषों का बीज उत्कृष्ट और सर्वगुणसम्पन्न होता है और उनके संयोग से उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है। अंकुर की टिं से बीज का सामग्र्य कृमिवातादि से अनुपदग्धता में, इल का सामग्र्य योग्य समय पर मिलने में, जेत्र का सामग्र्य और प्रकार की भूमि और योग्य खाद मिलने में और इनु का सामग्र्य उचित छोट्य या उष्णता में होता है—था वीजमकालामुक्तमिकीटादिदूषितम् । नाविरोहति सन्दुष्टं तथा इक्तं शरीरिणाम् ॥ (चरक, विकिरणा ३०) । सामग्र्य में इन चारों के संयोग का बोध होता है और साक्षिण्य में सामग्र्य का बोध होता है। विधिपूर्वकः—यथाविधि, यथाशास्त्र अर्थात् सुप्रजानिर्माणशास्त्र (Eugenics) के अनुसार जैसा होना चाहिए, वैसा ।

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्त्वश्चिरायुषः ।

भवन्त्यणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणो हिताः ॥ ३५ ॥

ऐसे (यथायोग्य चारों पदार्थों के संयोग से) उत्पन्न हुए (वालक) रूपवान्, सत्पवान्, दीर्घायु, कृष्णमोचन करने वाले, सत्पुत्र और पिता के हितकारी होते हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—सत्पवन्तः—गर्भ में नित्र गुण सत्व से उत्पन्न होते हैं—गुद्दसत्पवन्ति शैचमास्तिकत्वं कृतशता दाक्षिण्यं व्यवसादः शौर्यं गाम्भीर्यं दुदिमेथा स्थृतिः शुक्कवर्त्मस्विभक्तिं रभिपद्माभावस्तमोगुणविषयश्च । (अष्टांगसंग्रह) । इन गुणों से युक्त क्रत्यव्य मोक्तारः—पुत्र के लिए देव, पितृ और कृष्ण हनके तीन कृष्ण होते हैं। इन कृष्णों का परिमार्जन करना पुत्र का कर्तव्य है। इस कर्तव्य को करने वाले—वाक्षणो एव जयमानस्तिभिर्कृष्णेणाज्ञाते, यजेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, स्वाध्यायेनपिभ्यः ॥ अथवा केवल पिता की इष्टि से विचार किया जाय तो विवाह कर सन्तति उत्पन्न करके प्रजातन्तु को अविच्छेद रखना—प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः । पिता की मृत्यु होने पर उसको पिण्ड प्रदान, यदि हो सके तो गया

मैं जाकर करना—पितृकृष्णं पिण्डदानात् । एषव्या वहवः पुत्रा उणवन्तो वहुश्रुताः । तेऽपां वै समवेतानामपि कश्चिद्द्वयां ब्रजेत् ॥ (रामायण) । और पिता के पैसे का भी ऋण हो तो उसको देना—पितरि प्रोपिते प्रेते व्यसनाभिष्ठुनेऽपि वा । पुत्रपीत्रैकृष्णं देयं निद्वै साक्षिभावितम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । इन कृष्णों का शोधन करने वाले । सत्पुत्राः—इस प्रकार कृष्णमोचन करके पिता की रक्षा नरक से जो करते हैं, वे सत्पुत्र हैं—अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्तर्य यत्नतः । क्रणात् पिता मोचनीयो यथा नो नरकं ब्रजेत् । पुन्नाम्नो नरकायस्मात् पितरं त्रायते मुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ (रामायण) । अतः सब से उत्तम कृष्णमोचन का मार्ग उत्तम प्रजा उत्पन्न करना है—प्रजननं वै प्रतिष्ठा । लोके साधु प्रजायास्तंतुं तन्वानः पितृशामनृष्णो भवति । तदेव तस्मान्तुं तस्मात् प्रजननं परम वदन्ति । (तैत्तिरीय भारण्यक) ।

तत्र तेजोवातुः सर्ववर्णानां प्रभवः; स यदा गर्भोत्पत्तावव्यातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रयः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् । याद्वर्वणमाहारसुपसेवते गर्भिणी ताद्वर्वणप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते ॥ ३६ ॥

(गर्भ के गौरकृणादि वर्णों की उत्पत्ति—) पंचमहा-भूतां मैं से तेजोधातु सर्व वर्णों का उत्पत्ति हेतु है। जब वह गर्भोत्पत्ति के समय जटधातुप्रधान होती है, तब गर्भ को गौरवर्ण करती है; (जब) पृथिवीधातुप्रधान (होती है तब गर्भ को) कृष्णवर्ण (करती है); पृथिव्याकाशधातु-प्रधान कृष्णश्याम करती है; जलाकाशधातुप्रधान गौर-श्याम करती है। कई आचार्यों का कथन है कि जिस वर्ण का आहार गर्भिणी सेवन करती है, उस वर्णयुक्त संतति को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—सर्ववर्णं—शरीर के स्वाभाविक वर्ण—कृष्णः कृष्णश्यामः द्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति । (चरक) । ये शरीर के स्वाभाविक वर्ण त्वचागत मेचकि (Melanin) नामक रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के अनुसार हुआ करते हैं। नाइग्यवर्णप्रसवा—ताइवर्णः प्रसवः अपर्यं यस्याः सा । उसी वर्ण का अपव्य जिसको होता है, ऐसी स्त्री (रक्षा के वर्ण के लिए ४ अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो) । इस सूत्र में वालकों के शरीर के वर्णों में अन्तर वर्णों पड़ता है, इस विषय का कुछ तात्त्विक विवरण किया है। इस विषय का विचार करने पर वर्ण में अन्तर पड़ने के निम्न कारण मालूम होते हैं। (१) कुल, जाति या वंश (Racial)—जैसे, नींग्रों की सन्तान काली होती है, जापानी चीनी की पीली होती है और यूरोपियन की गौर-वर्ण होती है। भारतवर्ष में भी कुछ जातियां गौरवर्ण, कुछ श्यामवर्ण और कुछ कृष्णवर्ण होती हैं। (२) ग्रेज़ (Gentry or Germinal)—गौरवर्ण पुरुष और कृष्णवर्ण स्त्री के सहवास से गौरवर्ण संतति होती है, यह बीजानुगत वर्ण-भेद का उदाहरण है। (३) आहार—आहार से गर्भ की धृष्टि होती है, त्वचा भी बनती है और त्वचागत रंगद्रव्य भी बनता है। इसलिए माता के आहार का

के अन्यान्य सारीरिक और मानसिक विकास पर जैसे हुआ करता है, वेंसे उसके बर्ग पर होना भी सुकियुक है। जानिगन या कुटागत सन्तान में सापारण्यतया एक प्रकार का शरीरवर्ण उत्पन्न होने के कारणों में उनका जातीय आहार एक कारण अहर होता है। अंग्रेज, थीनी या जापानी चाहे वे किसी देश में हो अपने जातीय बर्ग के अनुसार सन्तान उत्पन्न करते हैं वर्योंकि जहाँ तक हो सके, वे अबने आहार में बदल नहीं करते हैं। (१) देश प्रकार (Climatic) —देश या प्रांत की आवश्यकता जैसी होती है, थीनी सरेनी लोगों की वज़ा की इगत बदलती है। जैसे, टार्डे मुख में होने वालों की तथा उनकी सन्तान की वज़ा गौरवर्ण होती है। काला आइमी जब टर्डे मुख में होता है, तब उसकी तथा उसकी सन्तान की वज़ा कुछ गौरवर्ण हो जाती है। वेंसे ही उग्ग प्रदेश में रहने वालों का बर्ग कुछ हँडा होता है और गोरा मतुष्य भी उच्च प्रदेश में रहने पर कुछ काला हो जाता है। (२) अवसान और रदन—महन—जिन मनुष्यों को अवसान अवसान करने के लिए जरूर ददन से काम करना पड़ता है, या गरीबी के कारण पारीर पर पूरा करवा नहीं मिलता तथा भूर में काम करना पड़ता है, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ काली हो जाती है। इसके विवर जो छाया में काम करते हैं, शारीर पर पूरा करवा पहनते हैं, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ गौरवर्ण होती है। (३) विनन—गर्भाधान के समय में सरा उसके पश्चात् सगारी—वस्त्या में छी जिस वर्षे के बालक का मन से चिन्तन करती है, उस चिन्तन का प्रभाव बालक के बर्ग पर होता है। हस्ती तत्त्व के आचार पर सौदागर जिस रंग का वज़ा थोड़ी से चाहते हैं, उसी रंग का घोड़ा थोड़ी के सामने गर्भाधान के समय लड़ा करते हैं और थोड़ी की लांबी में पही बांध लेते हैं। जब दूसरे थोड़े से गर्भाधान हो सुकता है, तब लांबी की पही खोल लेते हैं। पही खोलने से थोड़ी की नज़र सामने वाले थोड़े पर पड़ती है और उसी रंग का वज़ा प्रायः होता है। मनुष्यों में भी इसी प्रकार चिन्तन का प्रभाव बच्चों पर कभी कभी होता है। कुण्डवर्ण थी—पुरुषों की गौरवर्ण सतान और गौरवर्ण थी—पुरुषों की कृष्णवर्ण सतान की उत्तरविका समयसंत इसी तत्त्व पर हो सकता है। इस विषय में यूरोपियन की एक आवश्यकिका प्रमिद है। एक यूरोपियन दृष्टिकोण के बाह्य काले रंग की सन्तान हुई है। कारण यह साक्षित हुआ कि गर्भाधान के समय छी की इटि पलग के सामने टोगे हुए एक हवशी के चित्र पर पढ़ी थी। आकुवें में भी लिखा है—स्कैप्ला याहुरा पुत्र दंपूचरिताथ थो। चिन्तनेनां वनपदा रनदाचापरिच्छरी ॥ (अठार्हग्रहय) । माता के चिन्तन का परिणाम बालक पर कहे होता है, इस विषय के अधिक विवरण के लिए प्रथम लक्षण का १५१ एक देखें। इन कारणों का संवित्र निर्देश अष्टागत्यस्प्रह में लिन्न प्रकार से मिलता है—त्रि हुए हुके छुंगाण्डामि या गर्भस्व गौरव, वैतामे कृष्णव, मध्यामे द्वयमत्वद् । नथा चोरादिमुरुपाण्डुर योगान्मातुरुदक्षिणाच गौरत, निलात्रविदादिना कृष्ण, भ्यानिकाण्डी इवामता । देयारालामुक्तिष्ठवर्षेन्द्र । कागयनित्या इवान (चनपनि) । (चरक) ।

तथा दृष्टिमगमप्रतिपद्मं तेजो जात्यन्धं करोते,
तदेव रक्तानुगतं रक्तात्, पित्तानुगतं पित्तात्,
श्लेष्मानुगतं शुभ्लात्, वातानुगतं वित्तात्
मिति ॥ २७ ॥

(नेत्रवर्ण की उत्तरति—) दृष्टिमगम में अधारत तेजो-
भातु (याढ़क की) जन्मान्व करती है। यही रक्तानुगत
(होने पर) रक्तात्, पित्तानुगत (होने पर) पित्तात्
(पीली थालीं वाला), श्लेष्मानुगत (होने पर) शुभ्लात्
(और) वातानुगत (होने पर) वित्तात् (करती है) ॥ २८ ॥

बाध्य—हम सूत में भाँतों की जम्मवात् विहृतियाँ
बर्णन की हैं। वे विहृतियाँ गम्भीवर्णनित के समय भाँतों
की यथोवित शृदि न होने से होती हैं। अवध—
जम्मान्वता नेत्रों की उत्तरति न होने से (अनेकता
Anophthalmos), इटिनाही, इटिपटल (Retina
या इटि के लिए आवश्यक अन्य अगों की ठी
शृदि न होने से होती है। यह अन्यता पूर्ण
या अपूर्ण दोनों प्रकार की हो सकती है। रसाव, निशां
शुल्मादम्—ये सीनों भेद हृष्णमण्डल (Iris) के वर्णानुमा
किये हुए मालस पड़ते हैं। हृष्णमण्डल संकोचविस्तार
शील नेत्र का सचिद्वद्व पर्दा है, जो प्रकाश की सीधातीवीकृत
के अनुसार सदैव रिहुडा और फैला करता है। इस परे
की बीच की तह अनेकिकृत मासितनुज्ञों से बनती है।
इनके संकोचविकास से युनकी छोटी और बड़ी होती है।
इन मासितनुज्ञों के प्रियुले पृष्ठ पर शोही सेलों की एक
तह होती है। इनके अगले पृष्ठ पर सेवोजक घातुओं की
सेलों की तह होती है, जिसमें रसायाहिनियाँ और नायिदों
के अग्र होते हैं और हम सूत के अगले पृष्ठ पर भी सेलों
की एक तह होती है। इस तरह इस पर्दे में चार तह होती हैं,
और मासितनुज्ञों की तह छोड़कर शेष सीनों की सेलों
में द्वायाविक अवस्था में रंग (Pigment) कण काढ़ी
होते हैं, जिनके कारण भाँति काली काली दिलाई देती है।
यदी भाँतों का प्रकृतिवर्ण है। जब रंग मध्यम होता है,
तब भाँति पिण्डल या भूसर दिलाई देती है। जब रंग कम
होता है, तब छोटी (शुकुर्वण्) दिलाई देती है और जब
यहुत दी कम होता है, तब (Albinoism) भीतरी रक्त
कादिनियों के रक्त के कारण युलावी या लाल लाल दिलाई
देती है। इस तरह तेजोवितु से नेत्रवत् रंगदृश्य दीक न
बनने से ये तीन वर्ण के दोष उत्पन्न होते हैं। विकाशम्—
मंगापन, हिरार्थाइ, पलक का छोटा बड़ा या टेवा होना
इत्यादि नेत्र के आकार में स्तरावी करने वाले विकार।

भवस्ति व्याघ्र—

धूतपिण्डो यथैगम्भाग्निः प्रग्लोयते ।

प्रिसपूर्यार्तं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥ ३८ ॥

जैसे कि अपि के आवित होने से धूतपिण्ड द्वीपूद
द्वीप के लेता है, घोड़े ही पुरुषों के समागम से छियों का
आर्तव (एक होकर पिण्ड याने कोप से बादर) प्रसरण
करता है ॥ ३८ ॥

वक्ष्य—प्रतुकाल के प्रारंभिक तीन हिन्दों में थोड़ी

से वाहर वहने वाला रक्त और उसके पश्चात् शरीर के भीतर उत्पन्न होकर और भीतर ही रहकर गर्भधारणा में भाग लेने वाला पदार्थ ये आर्तव शब्द के दो अर्थ होते हैं, इसका उत्तेजना इस अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। यहाँ आर्तव का दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इस अर्थ से आर्तव को स्त्री-वीज (Ova) कहते हैं। आर्तव क्या है?—जैसे कि पुरुषों में शुक्रोतप्ति के लिए दो शुक्रग्रन्थियाँ (धृष्ण) होती हैं, वैसे ही स्त्रियों में गर्भाशय के पार्श्विक वंधनों में स्थित दाहिनी ओर एक और वाईं और एक-दो आर्तवग्रन्थियाँ या वीजकोष होते हैं। इनका आकार और परिमाण चिह्निया के अपेक्षा जैसा होता है। हन वीजकोषों में स्त्री के जन्म के समय ७०००० के लगभग अपक वीज होते हैं, जो धीरे धीरे पक्ष होते जाते हैं। जो वाल्यावस्था में पक्ष होते हैं, वे कोष के बाहर नहीं आते, भीतर ही भीतर तीण होते हैं। जो वीज युवावस्था में पक्ष होते हैं, वे कोष की दीवाल को तोड़कर बाहर आते हैं। प्रायः एक मास में एक ही वीज पक्ष होकर कोष के बाहर निकलता है और इसको वीजविपाक (Ovulation) कहते हैं। वीजविपाक का प्रायिक काल मासिक स्राव के समय से बाहर दिनों का माना जाता है। वीजकोष से बाहर आया हुआ विपक्ष वीज का व्यास $\frac{1}{2}$ दे $\frac{1}{2}$ इन्च द्वारा के लगभग होता है और नंगी आंखों से यह एक सूचम विन्दु जैसा दिखाई देता है। जो वीजकोष के बाहर आता है, वह या तो उदरगुहा में नष्ट होता है, या वीजवाहिनी में प्रवेश करता है जहाँ शुक्राण से उसका संयोग होकर गर्भ उत्पन्न होता है या गर्भाशय और योनि में से शरीर के बाहर चला जाता है। यह वस्तु अतिसूचम होने के कारण इसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता और गर्भोत्पादक आर्तव का उत्तेजन साधारण आर्तवशोणित से ही किया जाता था तथापि वह मलरहित, वीजभूत, सूचम, आर्तवशोणित का स्राव बन्द होने पर फिर स्त्री के शरीर में उत्पन्न होने वाली और अपने स्थान से प्रसरित होकर शुक्र के साथ मिलने वाली, पुरुष के समागम से जिसकी उत्पत्ति जलदी होती है ऐसी, आर्तवस्राव प्रारम्भ से केवल सोलह दिन स्त्री के शरीर में रहने वाली वस्तु है, हनना स्वरूपनिदर्शक वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। इस वर्णन का आधुनिक धारी-कार्यविज्ञान की इष्टि से विचार करने पर, आयुर्वेदोक्त गर्भजनक आर्तव स्त्रीवीज (Ova) होता है और इसी अर्थ से यहाँ आर्तव शब्द प्रयुक्त हुआ है। दलहणाचार्य साफ लिखते हैं कि स्त्रीपुरुषसमागम से प्रवर्तित हुआ आर्तव शुक्र के साथ मिलकर गर्भसंभवहेतु होता है—ननु पुराणामार्तवमुपचारित्वं स्त्रियों स्वयमेव विनिवृत्तं नूतनं स्वरूपं स्त्यानीभूतसिव प्रवर्तितुमस्तमं तत् कथमार्तवसंचारो येन तत्संस्यं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशद्याह—घृतेत्यादि। पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयस्वर्पजनोष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तत्र विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुमवति। इस श्लोक का तारपर्य यह है कि गर्भजनक आर्तव प्रवर्तन या आधुनिक परिमापानुसार वीजविपाक का कार्य जो स्त्रीशरीरगत अनेक स्वामीविक सहायक कारणों के द्वारा एक नियत

होने से नियत समय के पूर्व होता है। अर्थात् स्त्री का पुरुष के साथ समागम वीजविपाक कार्य को उद्विपित (Provoke) करके वीज को शीघ्रता से कोष के बाहर प्रवर्तित करता है। आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी यही कथन है—

In general, I believe I admit that in the majority of cases the ovum is set free from the Graafian follicle on the twelfth day after the commencement of the last menstruation. While it may perhaps happen more frequently that, if an orgasm in copulation happens to take place, the follicle bursts prematurely. I would regard it as probable that the said boy births came from premature ovulations provoked by coitus which produce ova not yet quite mature. Ideal birth.

इस उपमा में घृतपिण्ड वीजकोष के लिए, घृत वीज के लिए और अस्त्रि मैथुन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कुछ प्राचीन टीकाकार इस श्लोकगत आर्तव से शुक्र समस्ते हैं—प्रन्ते तु—पृष्ठकुम्हो यथैवायिमाश्रितः प्रवितीयते। विसर्पत्यार्तवं पुंसां तथा स्त्रीणां समागमे—इत्यत्र यथाऽस्तर्वशब्देन शुक्रमुच्यते तथा स्त्रीणां चार्तवमित्यत्रापि आर्तवशब्दः शुक्र पवर्तते न तु रजसि। (शिवदाससेन)। परन्तु यहाँ पर भी शुक्र शब्द स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए शुक्र शब्द कभी कभी प्रयुक्त होता है—जीर्णस्योः सुसंयोगे यथादी विसुजेत्पुमान्। शुक्रं ततः पुमान् वीरो यायते वलवान् इदः॥ अथ चेदनिता पूर्वं विसुजेदक्षसंयुतम्॥ ततो रूगान्विता कन्या यायते दृढसंहता॥ (धारुवाह, धरुणदत्त की शारीर १-५ की टीका में उद्धृत)। यद्यपि स्त्रियों के शुक्रजन्मवाण के सम्बन्ध में ढलहणाचार्य इस श्लोक की टीका में निन्न श्लोक उद्धृत करते हैं—योपितोऽपि स्त्रवन्त्येव युक्तं पुंसां समागमे। गर्भस्य तत्र किञ्चित् करोतीति न चिन्यते॥ (धृद्वाग्भट)। इस श्लोक का तारपर्य यह है कि जैसे स्त्री के समागम में पुरुष से शुक्र निकलता है, वैसे ही पुरुष के समागम में स्त्री से शुक्र निकलता है परन्तु वह गर्भोत्पादक न होने के कारण उसका विचार करने का कारण नहीं है।

वाग्भटाचार्य के इस श्लोक का विचार करने के पूर्व समागम के समय स्त्री-पुरुषजननेन्द्रिय से जिन चीजों का स्राव होता है, उसके संबंध में आधुनिक शास्त्रज्ञों ने जो कुछ विवरण किया है, उसका ज्ञान आवश्यक है। पुरुष जब मैथुन करने लगता है, तब उसके मूरुद्वार से स्वच्छ लसदार तरल की कुछ वृङ्गें निकला करती हैं। यह तरल अष्टीला (Prostate) और कौपर की ग्रन्थियों का स्राव होता है, जो मैथुन की रगड़ को कम करने के लिए रोगन की तरह काम में आता है। इसमें शुक्राणु नहीं होते। थोड़ी देर पीछे मैथुन के अन्त में दूसरा अत्यन्त चिपचिपा और लसदार तरल बैग के साथ आता है। यह तरल शुक्र है, जिसमें शुक्राणु होते हैं। मैथुन के समय स्त्री की योनि से भी कुछ तरल निकलता है। यह तरल योनि की श्लेष्मल त्वचा से तथा योनिहरसमीपर्वती ग्रन्थियों (Bartholinian glands) से निकलता है।

उसकी रसा करता है। योकी देर पीछे जब मैथुनजयम् आनन्द परमोच को टक तक पूँछता है, तब पुरुषों के समान धी के गर्भाशय से दूसरा चारीय चिपचिपा पदार्थ उत्थर्गित होता है। इस तरल का गर्भापादन से कोई संघरण नहीं है—

The process of erection in women is accompanied by the pouring out of fluid which previously bathes all parts of the vulva round the entrance to the vagina. This is a bland more or less odourless mucus which under ordinary circumstances slowly and imperceptibly suffuses the parts. There is however a real ejaculation of fluid, which as usually described, comes largely from glands, situated near the mouth of the vagina. *Psychology of sex by Havelock Ellis.*

इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि इस रेलोकात आरंव का अर्थ धीवीज है, जिसके लिए कभी कभी शुक्र शब्द का भी प्रयोग होता है और यिन्होंने शुक्र का अर्थ धीवीज या योनिगत चार होता है और संदर्भ के बनुमार उनसे दर्खित अर्थ निकालना चाहिए।

धीजे उत्तरायुना चिद्र द्वौ जांपौ दुलिमागतौ ।

यमापित्यभिष्येते धर्मतत्पुरसरौ ॥३६॥

(धनेक गर्भापति हेतु) अन्तर्वाणु के द्वारा धीज विमक होने पर गर्भाशय में अवर्तीय हुए दो पापी वीज यम कहलाते हैं ॥३६॥

वक्ष्याय—प्रनवाणु—पकादायान्तर्वाणुं वायु अर्थात् वापान वायु जिसका संबंध आरंव, शुक्रगम्भ शुक्रादि के साथ होता है। किंवा पश्चमाहामूत्तरांतर्वाणु वायु जिसके हारा गर्भ में विभजन का कार्य होता है—त वेतनवर्तिन वायुनिम बति। (शारीर ४२)। जोडे जिन्हें—हस्तके दो अर्थ हो सकते हैं और उनके बनुमार अनेक गर्भोत्तरि होती है। (१) धीवीज वृक्षक पृथक् होने पर। साधारणतया प्रतिमास धीवीजों से केवल एक धीज बाहर निकलता है और जब उसका संयोग शुक्राणु के साथ होता है, तब गर्भ उत्पत्ति होता है। कभी कभी वाम और दक्षिण धीजोंपर से एक एक या कभी एक ही से दो धीज बाहर आते हैं। इस तरह साधारणतया एक और दक्षिण दो या तीन धीज हर महीने में बाहर आते हैं। धीसमानाम के समय उत्सर्गित शुक्र में कठोरी शुक्राणु होते हैं और एक धीज को फ़र्टिलिज (Fertilize) करने के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। शास्त्रों की यह राय है कि जन्म के समय यों के धीवीजोंपर में ५०००० के लगभग अपक धीज होते हैं। इनमें से की की गर्भाशयाग्रोरय अत्यु तनमें से दूसरा धीज सकल होते हैं। इस प्रकार असदृश शुक्राणु और अनेक धीवीज होने पर भी लियों में कई महीनों तक गर्भाशया नहीं होती या गर्भाशया होने पर प्रायः एक ही गर्भ का आधान होता है। इसका कारण यह है कि बाहर आये हुए धीज कई बार दररुहा में ही

नहीं हो जाते हैं। जो धीजवाहिनी में आहार शुक्राणु के साथ मिलते हैं, वे ही सकल होते हैं। अतः अनेक पक धीज बाहर आने पर भी धीजवाहिनी में आने में असमर्थ होने के कारण वद्धपत्ता (Multiple Pregnancy) उत्थर नहीं होती। जब अनेक धीज धीजवाहिनीयों में आ सकते हैं, तब यह घटना उत्पन्न होती है। इस प्रकार दो उत्पत्त्व धीजों से उत्पत्त हुए पमल धीजात्मक (Bimovular) और उत्पत्त धीजों से उत्पत्त हुए त्रिक, चतुर्थ अनेक धीजात्मक (Multiovular) कहलाते हैं। प्रतिमास धीज का दासर्ग करना, उसके वयासामान धीजवाहिनी में ले जाना, गर्भ का दासर्ग, प्रतिमास आरंव का दासर्ग ये कर्म अपानवायु के हैं—राजाचारायोऽपान्। काले इर्षति चापदम्। सोहोट एन्ड्रूस्युलायार्चन-पर्यः ॥ (सुधुत, निदान १)। इसलिए धूवीजात्मक वद्धपत्ता अपानवायु के कारण समझ सकते हैं। (२) दूसरे प्रकार से भी वद्धपत्ता होती है। एक ही धीज शुक्रसंयुक्त होने के बाइ दो भागों में वृद्धतया विमक (Complete division) होने से। इस प्रकार से उत्पत्त हुए अपत्यों को एक्वीजात्मक (Uniovular) कहते हैं। इसमें भी दो प्रकार हैं—दो केन्द्रसुख धीज से होने वाले, और एक केन्द्रसुख धीज शुक्राणु से संगत होने के बाइ दो भागों में वृद्धतया युग्ममार्जन (Complete diebotomy) होने पर होने वाले। इस प्रकार की वद्धपत्ता पंचमधार्यात्मक धायु के कारण समझ सकते हैं।

एकधीजात्मक अपत्यों को विशेषार्थ—(१) एक धीज से साधारणतया ही ही गर्भ हुआ करते हैं, परन्तु अधिक दीन भी हो सकते हैं—

Triplets may be developed from three ova or from two ova, one of which has a double nucleus or conceivably from a single ovum. *Ten Teachery's Midwifery.*

(२) युग्म धालों में एकधीजात्मक अपत्यों का प्रमाण बद्धत कर होता है। द्विकेन्द्रायात्मक धीज से होने वालों का प्रतिशत प्रमाण बाह्य और एकेन्द्रायात्मक धीज से होने वालों का ८० होता है। जब रेग्नों का लिङ् एक होता है और अपरा भूसन दिल्लाई होती है। एक ही होती है। (३) युग्मी शुद्धि (शुक्रवान्) द्विकेन्द्री कभी विद्यमर्द्दि होती है और इनका तर्प (AII-शुद्धि नहीं होता)। (४) इनमें कालपूर्व देव कारण—भी समावना भी अधिक होती है।

अनेकधीजात्मक अपत्यों को विशेषार्थ—(१) इनमें प्रत्येक गर्भ शुक्रसंयुक्त उत्पत्त धीज से उत्पत्त होता है। (२) युग्मों में द्विधीजात्मक अपत्यों का प्रमाण एकधीज अपत्यों की अपेक्षा छ से जाठ गुण अधिक होता है। अथवा १० प्रतिशत युग्म वालक द्विधीजात्मक होते हैं। (३) दोनों का लिङ् एक या भिन्न हो सकता है। परन्तु अपरा और गर्भ के आवश्यक सदृश उत्पत्त होते हैं। (४) इनमें शुद्धि दीक और समान होती है, दोनों का सोब समान होता है और प्रायः इवास्य भी ढीक होता है। (५) प्रायः योग्य समय पर प्रसव होता है।

वद्धपत्ता का प्रमाण—अनेक देसों के प्रसुतिगृहों के

द्वितीयों का विचार कर हेलिन नामक शास्त्रज्ञ ने यह आनुमानिक नियम बताया है कि प्रत्येक अस्सी प्रसवों में एक युग्म (Twins) उत्पन्न होता है, प्रत्येक ६४०० प्रसवों में एक त्रिक (Triplet) उत्पन्न होता है, और प्रत्येक ११२०० प्रसवों में एक चतुष्क (Quadruplet) उत्पन्न होता है। पंचक (Quintlet) और पट्टक (Sextlet) अपत्य बहुत कम होते हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में नियम करना कठिन है—

We may mention as a curiosity, that according to a formula given by Hellin, there is one twin-birth in 80 births, one triplet in 80×80 and one quintlet in $80 \times 80 \times 80$. Ideal Birth.

बहुप्रसव राष्ट्र में युग्मों की संख्या उपर्युक्त प्रमाण से भी अधिक हुआ करती है—

As a rule, the more fertile a nation the more twin pregnancies will there be. Ten Teacher's Midwifery.

इनकी आयुर्मर्यादा—साधारणतया युग्म वालक सजीव प्रसूत होते हैं और साधारण अपत्य के समान आयुर्मर्यादा होती है। विक वालक भी सजीव प्रसूत होते हैं और युग्म के समान जी सकते हैं। चतुष्क, पञ्चक और पट्टक वालक सजीव प्रसूत हो सकते हैं, परन्तु प्रायः जीते नहीं। एक नींगों स्थी-से छः अपत्य हुए थे। उनमें पांच पुन और एक कन्या थी। उनमें एक वालक दो दिन तक जीवित रहा, चार तीन दिन तक जीवित रहे और एक चार रोज के बाद मर गया।

बहुपत्यता के हेतु—अनेक अपत्य क्यों उत्पन्न होते हैं? ऐसे विषय का संतोषजनक उत्तर आज का विज्ञान नहीं है सकता। तथापि निम्न कारण सहायता करते हैं। (१) कुलजप्रवृत्ति—बहुपत्यता में कुछ कुलजप्रवृत्ति सिद्ध हुई है। यह कुलजप्रवृत्ति स्थी में अधिक होती है, क्योंकि आखिर में अनेक अपत्य उत्पन्न होने का कार्य स्त्रीवीजगत प्रवृत्ति पर निर्भर होता है परन्तु यह प्रवृत्ति पुरुष के दीज में भी कभी कभी दिखाई देती है, क्योंकि एक घर के कई भाइयों को युग्म हुए हैं और एक पुरुष से अनेक स्त्रियों में भी युग्म हुए हैं। पुरुष के शुक्राणुओं में यह प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न होती है, इसका भी संतोषजनक उत्तर देना कठिन है क्योंकि प्रथम प्रसव में अधिक होते हैं। अधिक उम्र की स्थी में प्रथम प्रसव में अधिक होते हैं। (२) प्रसव क्रम—प्रथम प्रसव में युग्म होने की सम्भावना सब से अधिक होती है, दूसरे प्रसव में सब से कम होती है और तीसरे से फिर धीरे धीरे बढ़ने लगती है। जिस नींगों स्थी के छः अपत्यों का ऊपर निर्देश किया गया है, उसको प्रथम बार चार, दूसरी बार तीन, तीसरी बार तीन और चौथी बार छः, इस तरह चार प्रसवों में कुल सोलह अपत्य हुए थे। बहुपत्यता के कारण एक स्थी के ४४, उसकी एक वहन के ४१ और दूसरी वहन के २६ अपत्य हुए थे।

आयुर्वेद में बहुपत्यता की उपपत्ति—बहुपत्यता के एकवीजात्मक और अनेकवीजात्मक करके दो कारण इस वक्तव्य के

प्रारंभ में आयुर्निक पाशात्य कल्पना के अनुसार वताये गये हैं। आयुर्वेद में इसके संबंध में निम्न वचन मिलते हैं— गिनति याद्वद्युधा प्रपतः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रदृष्टः । तावन्त्य-पत्यानि वधाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते ॥ (चरक, शारीर २) । शुक्रार्तवेऽनिलेन खण्डशो भिन्ने वधाविभागमपत्यानामुत्पत्तिः । (अष्टांगसंग्रह, शारीर २) । मिश्रीभूतं च शुक्रार्तवं स्वविशिष्टहेतुकोऽनिलो यदा खण्डशः करोति वदा वहूनामपत्यानां संभवः । (इन्दु) । शुक्रार्तवं पुनः । वायुना वहूशो भिन्ने यथात्वं वहुपत्यता । (अष्टांगहृदय, शारीर १) । यदा तु कलं वायुस्तद् द्विधा कुमते वडी । यमो तदा संभवतः कृष्णात्रेयवचो यथा ॥ (भेडसंहिता, शारीर १) । इन वचनों में 'मिश्रीभूतं शुक्रार्तवं' 'कलत' (तीसरे अध्याय का १८वां सूत्र और उसका वक्तव्य देखो) इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि आर्तव और शुक्र संयुक्त होने के परचात् उसमें विभाग होने के कारण वहुपत्यता उत्पन्न होती है, यह आयुर्वेद के सब अंथकारों का मत है। यह मत आयुर्निक परिभाषा 'के अनुसार एकवीजात्मक (Uniovular) अपत्यों के लिए लागू है। इस हाइ से 'वीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने' इसका स्पष्टीकरण 'अतिवृद्धेनात्वर्वायुना मिश्रीभूते शुक्रार्तवे द्विधा खण्डशो भिन्ने सति' ऐसा होता है। व्यवहार में यद्यपि एकवीजात्मक वहुपत्यता हुआ करती है तथापि उसका प्रमाण बहुत कम होता है और अनेकवीजात्मक वहुपत्यता अधिक हुआ करती है। तिस पर भी आयुर्वेद में अनेकवीजात्मक वहुपत्यता का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के अनुसार पुरुष के शुक्र में और स्त्री के आर्तव में प्रत्येक समय एक ही दीज (उत्पादक अंश) होता है, ऐसी कल्पना होती है। इनके संयोग से एक अपत्य उत्पन्न होता है और जब हनके संयोग के कई विभाग हो जाते हैं तब कई अपत्य उत्पन्न होते हैं। पशुओं की बहुपत्यता के सम्बन्ध में भी आयुर्वेद की यही कल्पना है, जिससे उपर्युक्त कथन की सत्त्वता स्पष्ट होती है—एकरसारमेयादिविकृतिपु त्वनेनैव विधिना सदाऽनेकपत्यता । (अरण्डाद्यत्त, अष्टांगहृदय, शारीर १) । वायुस्तवश्वराहाणो देहेण वलवान् पुनः । स तत्र कलं भित्वा करोति वहुपुत्रताम् ॥ (भेडसंहिता, शारीर १) । इसमें संदेह नहीं कि जानवरों में वहुपत्यता मनुष्यों के समान हुआ करती है, इसलिए मनुष्यों की वहुपत्यता की आयुर्वेद की कल्पना जैसी एकदेशीय है, वैसी जानवरों की वहुपत्यता की भी हो जाती है। वास्तव में मनुष्यों में वहुपत्यता अधिकतर अनेक दीजों से होती है और सूकर सारमेयादि पशुओं में भी ऐसी ही होती है। सूकरसारमेयादि जाति में वहुपत्यता स्वभाव है। मनुष्य-जाति में, यद्यपि उसको विकृति नहीं कह सकते तथापि यह, स्वभाव नहीं है अर्थात् स्वभावविरोधी कार्य होने में कुछ कारण होना चाहिए। आयुर्वेद इसके लिए पूर्वकर्म या पूर्वपाप कारण मानता है—कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते । (चरक) । तीसरे अध्याय का ४८वां श्लोक और उसका वक्तव्य देखो।

यमो मे न्यूनाविक वृद्धि का है—जब दो अपत्य एक दीज के विभिन्न होने से होते हैं, तब प्रायः एक अपत्य दूसरे से तील में अधिक रहता है। इसका कारण यह होता है कि दोनों की अपरा एक होती है और दोनों के रक्तप्रसिद्धमण

पण्डकं श्रुणु पञ्चमम् ॥४३॥

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।

नतः स्त्रीचेष्टिनाकारो जायते षण्डसंक्षितः ॥४४॥

(नरण्ड—) पांचवां पण्डक सुनो ॥४३॥ जो पुरुष (अपनी) स्त्री में क्रतुकाल में मोहवदा स्त्री की तरह प्रवृत्त होता है, तब स्त्री के समान हावभाव करने वाला और आकार का पण्ड नामक (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥४४॥

वक्तव्य—अद्वनेव—मैथुन के समय स्त्री नीचे उत्तान और पुरुष ऊपर होना चाहिए—उत्तान तन्मना योगित्तिष्ठदः सुसंस्थितैः । (अष्टांगहृदय) । पुरुष को स्त्री के नीचे होने का वैद्यक में निषेध किया है—न चासावधिस्तिष्ठेत् । तथाहि स्त्रीचेष्टः पुमान् जायते पुंशेष्टा स्त्री । (अष्टांगसंग्रह) । अद्वनावदुत्तानो भूत्वा व्यवायति । (ढल्हण) । कामशास्त्र में इसका निषेध नहीं है । परन्तु यह आसन काम तृप्ति के लिए है सन्तानोत्पत्ति के लिए नहीं कहा है । इस प्रकार के आसन को 'पुरुषायित' कहते हैं और यह आसन पुरुष तब ग्रहण करता है, जब मैथुन के समय वह थक जाता है परन्तु उसकी कामेच्छा पूरी नहीं होती—नायकस्थ सन्तानाभ्यासाद् परिश्रमसुपलभ्य रागस्थ चानुपशमम्, अनुमता तेन तम्भोऽवपात्य पुरुषायितेन साहाय्यं ददात् ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । स्त्रीचेष्टिता-कारः—स पुमान् स्त्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतः स्वमेद्भूत्योर्वै-प्रदेशेऽपरपुरुषाद् वैर्यन्त्युति कारयति । (ढल्हण) । स्त्री के समान शरीर का आकार, स्त्री के समान हावभाव करना, वैष करना और पुरुष से प्रेम करना इत्यादि ।

ऋतौ पुरुषवद्वा ऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि ।

तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेत्वरचेष्टिता ॥४५॥

(नारीण्ड—) अथवा यदि स्त्री भी क्रतु समय में (मोहवदा) पुरुष की तरह प्रवृत्त हो, तो यदि कन्या उत्पन्न होगी तो वह पुरुष के समान चेष्टा करने वाली होगी ॥४५॥

वक्तव्य—पुरुषवद्—पुरुष को नीचे करके स्वयं पुरुष के समान ऊपर होकर—पुरुषमधः कृत्वा व्यावायं कुरते यदि । नरचेष्टिता—ज्ञीरुपादपि पुंशत् खियमारह्य तथोनौ स्वयोनिन्दर्यणं करोति । (ढल्हण) । पुरुष के समान हावभाव करना, वैष करना और स्त्री से प्रेम करना इत्यादि ।

आसेक्यश्च सुगन्ध्यो च कुम्भीकञ्च्चर्यकस्तथा ।

सरेत्सस्त्वमी ह्रेया अशुक्रः षण्ड(ण्ड)संक्षितः ॥४६॥

(सशुक और अशुक पण्ड—) आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भीक तथा ईर्यकं ये (चार नपुंसक) सशुक जानने चाहिएँ, पण्ड नामक (नपुंसक) शुक्ररहित है ॥४६॥

वक्तव्य—सशुक—आसेक्यादि चार पुरुषों में एक विशेष भवस्था में सिर्फ ध्वजोच्छाय होता है और उस समय शुक्रभी गिरता है याने ये प्रजोत्पादन में समर्थ होते हैं । पैचम पण्ड में प्रायः ध्वजोच्छाय नहीं होता तथा शुक्र भी नहीं गिरता; अर्थात् यह प्रजोत्पादन में असमर्थ है । यह वन्ध्य (Sterile) कहलाता है । आसेक्यादि पुरुष एक विदेश प्रकार के नपुंसक (Impotent) हैं । इनका विदेश विचार आमे के लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः ।

हर्पात्स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छायस्ततो भवेत् ॥४७॥

(ध्वजोच्छाय की उपपत्ति—) इस विप्रकृति के द्वारा हर्प (उत्पन्न होने) से उनकी शुक्रवह सिराएँ फूल जाती हैं, जिसके कारण ध्वजोच्छाय होता है ॥४७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसेक्यादि नपुंसकों में ध्वजोच्छाय की युक्ति वर्णन की है । शुक्रवहसिरा—घृषण और शिशनगत रक्तवाहिनियाँ । ध्वजोच्छाय—शिशनोत्थापन (Erection of the penis) । ध्वजोच्छाय मैथुन के समय की एक प्राकृतिक और आवश्यकीय स्थिति है । ध्वजोच्छाय के विना मैथुन नहीं हो सकता । स्त्रियों में भी मैथुन के समय उनकी भगविशिरिनका (Olitoris) का उच्छ्वाय होता है; परन्तु स्त्रियाँ निश्चेष्ट होने के कारण उच्छ्वाय के विना भी मैथुन हो सकता है—तर्ता हि पुरुषोऽधिकरणं युवतिः । (कामसूत्र) । अनया विप्रकृत्या—शुक्रप्राशनादि उपर्युक्त विपरीत प्रक्रियाओं के द्वारा । इन प्रक्रियाओं का वैपरीत्य समझने के लिए ध्वजोच्छाय में शिशन में होने वाला परिवर्तन स्वाभाविक तौर से कैसे होता है, इसका ज्ञान बहुत आवश्यक है । ध्वजोच्छाय में शिशन शिथिल, छोटा और सिकुड़ा हुआ रहता है । जब पुरुष का मन कामुक होता है, तब शिशन पहले से बहुत छूट, मोटा और लम्बा हो जाता है । पुरुष का शिश कितना ही मोटा और लम्बा क्यों न हो तथा योनि कितनी ही चौड़ी क्यों न हो, जब तक शिश खूब सख्त नहीं होगा, तब तक उसका प्रवेश योनि में नहीं होगा और मैथुन भी असंभव होगा । शिश्वित्यान ठीक न होना यह नपुंसक (Impotent) का एक लक्षण है । शिश की बनावट में मूत्रप्रसेकधरा (C:ipora spongiosa) एक और शिश्वार्थिका द्वी (Corpora cavernosa) इस तरह तीन पेशियाँ भाग लेती हैं । स्पंज के समान इन पेशियों में बहुत से गहर (Caverns) होते हैं, जो शिथिलावस्था में रिक्त रहते हैं । जब पुरुष का मन मैथुनप्रवण होता है, तब ये अवकाश रक्त से भरकर तन जाते हैं (स्फुटत्वमायान्ति) । रक्त आने का मार्ग खुलने के साथ साथ रक्त लौटने का मार्ग बंद हो जाता है । जैसे, गाढ़क (एक प्रकार का मोटा कपड़ा) की एकमुखी नलिका में पानी भरकर दूसरा मुख कसके बांधने से उस नली में सख्ती आ जाती है, वैसे ही शिश के अवकाश विस्फुटित होकर उनमें रक्त भरकर लौटने का मार्ग बंद होने से शिशन में सख्ती आ जाती है । यह सख्ती मैथुन समाप्त होने के समय तक याने वीर्य निकलने के समय तक रहती है । उसके पश्चात् रक्त लौट जाता है और शिश पहिले के समान शिथिल पद जाता है ।

शिशनगत ये परिवर्तन कैसे होते हैं?—शिश्वित्यान रक्तप्रसेकण का नियन्त्रण मस्तिष्क और कटिविभागगत केन्द्रों के द्वारा होता है । सुंदर स्त्री, स्त्री का कर्णमुख गान, सुगन्धित फूलों की गंध, ताम्बूल सेवन, सीशरीर का सर्व इन कामोत्तेजक जर्दों का संवेद पांचों ज्ञानेन्द्रियों से होने पर उनको सूचनाएँ इन इन्द्रियों के केन्द्रों में पहुंचती हैं, तबां से लोगों के लिए जल्दी हैं जापनिक

विद्वानों का कथन है कि कामुक विषयों की सूचनाओं का मनम करने का कोई पृक् रथन या केन्द्र नहीं है, मस्तिष्क का सर्वांग विहित्स्तर (Cerebral cortex) यह काम करता है—

The higher sexual centres are situated in the brain. Their exact location is not known. It seems that the whole cortex is capable of receiving and transmitting sexual stimuli. The human mind is omni-sexual. *Riddle of Sex*

कामुक सूचनाओं का मन से प्रहण होने पर कुछ से मैथुन करने का निश्चय हुआ हो तो मस्तिष्क से सूचना तारों द्वारा कटिविभागात सुपुश्च के जननेन्द्रियसंबंधी केन्द्र को जाती है। यहाँ से जननेन्द्रिय में रक्त पहुँचाने वाली वाहिनियाँ विस्फारित होकर उनमें काफी रक्त भर जाता है और जननेन्द्रिय से रक्त ले जाने वाली वाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं, जिससे आया हुआ रक्त लौट नहीं सकता और इसका उत्थान होता है। कटिविभागात सुपुश्चकेन्द्र जननेन्द्रिय से नाड़ियों द्वारा आई हुई सूचना के अनुसार प्रतिक्रिया (Reflex action) के द्वारा जननेन्द्रिय को उत्थित करने में सहायता होता है। इस तरह स्पर्शादि कामुक विषयों का इन्द्रियों द्वारा प्रहण मन को उत्तेजित करने का प्रधान मार्ग है और उत्तेजित मन मैथुनक्रम का प्रधान आधार है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शब्दस्पर्शादि वाक्य अर्थ प्रत्यक्ष होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि मन इन अर्थों को चिन्तन द्वारा मानसप्रत्यक्ष कर ले, तब भी वह उत्तेजित हो सकता है। इस तरह शब्दस्पर्शादि कामुक अर्थों का जननेन्द्रियों द्वारा या चिन्तन द्वारा प्रत्यक्ष करके उत्तेजित होकर मैथुन करने में समर्थ होना यह मन की प्रकृति है, इससे विपरीत विप्रकृति है। अब पृक् एक अर्थ का विचार किया जाता है।

(१) सू—सूदूर, सुडील, जवान, वश्वालकर से विभूषित या नम छी, छी का गुब्बा, केशकलाप, स्तन, नितम्ब, जघन इत्यादि अंग, छी के वस्त्र अलंकार या अन्य पदार्थ, छी की तस्वीर या मूर्तियाँ तथा अन्य कामोर्चेनक वस्तुओं में से एक या अनेकों के प्रत्यक्ष दर्शन या मानसिक चित्तन से विशेषत्वापन होना प्रकृति है। इसके सिवाय मनुष्यों के या जानवरों के मैथुनिक कर्म चित्र में या प्रवृत्त देखने पर विशेषत्वापन होना यह भी प्रकृति है। परन्तु यदि उपरिनिर्दिष्ट इस्यों में से एक दृश्य के प्रत्यक्ष दर्शन के सिवाय अन्य दृश्यों से उत्थापन नहीं होता और केवल उसी दृश्य से होता है, तब वह विप्रकृति हो जाती है। इत्यर्थक इस प्रकार की विप्रकृति है। दूसरे का व्यवाय देखने से हप्तिन होने की विप्रकृति को अंग्रेजी में Scopophilia or mixoscopy or voyeurism कहते हैं—

Founded on the sense of vision also we find a phenomenon bordering on the abnormal which is by Moll termed Mixoscopy. This means sexual pleasure derived from the spectacle of other persons engaged in natural and perverted sexual

notions Studies in the Psychology of sex by Havelock Ellis.

(२) रस—फामोरेजक अर्थात् घाजीप्रण द्रव्यों के सेवन से काम को और वराना इसमें कोई खराती नहीं होती है, परन्तु किसी पदार्थविदेश के सेवन के त्रिना मैथुन में असामर्थ उत्थापन होना यह विप्रकृति है। आसेवय इस प्रकार की विप्रकृति है, जिसमें सुस्थमैथुन (Fellatio) और शुक्रप्रापन के सिवा वाम, हर्ष और उत्तेजना प्राप्त नहीं होती। शुक्र में वाजीप्रण के युगु तुच्छ ऐसे विपरीत होने में दिलाई है देते हैं—

Semen is thus a natural stimulant and physiological aphrodisiac. When held for some time in the mouth, remarked John Hunter, it produces warmth similar to spices which lasts for some time. The stimulation produced by the injection of semen would appear to form in some cases a part of the attraction exerted by Fellatio. De Sade emphasized this point and in a case recorded by Howard semen appears to have acted as a stimulant for which the craving was as irresistible as that for alcohol in dipsomania. *Ibidem*

(३) गंभ—सर्प तथा अन्य जानवरों में ग्राहेन्द्रिय द्वारा तीक्ष्ण होती है और इस तीक्ष्णता के कारण वे ग्राहेन्द्रिय का अनेकविध उपयोग कर लेते हैं। मनुष्यों में ग्राहेन्द्रिय उतनी तीक्ष्ण नहीं है जौर उसकी उपयोगिता द्वहुत कम है तथापि सुगन्धित सेल, द्रव्य, उप्प इत्यादि की गप्त से मन प्रसन्न होता है और समर्थ मस्तिष्कस्त्वान कुछ उत्तेजित हो जाता है। अपने पुराने ग्रन्थों में ही और उल्लेख के द्वारी की गप्त वर्णन करके गप्त के अनुसार पदिनी, चित्रिणी इत्यादि मेद किये हैं—पदिनी पदागन्धा रसामाधुगन्धा व चित्रिणी। शक्तिनी चारगन्धा रसाक्षिण्याद्या च इतिनी॥ भवति कमलनेत्रा नासिना चुद्रभा अविलुच्यम् चारवेणी कुशाग्नी। शुद्धचतुरस्तुपीला गीवावायानुरक्ता सकृन्तनुसुदेशा पदिनी पदागन्धा॥ (इतिमजरी)। यह गन्ध की कृपना कुछ होरों को केवल काल्पनिक मालूम होती है, परन्तु आनुनिक विद्वानों का भी कथन है कि छी और उल्लेखों में गुवाहास्या में एक विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न होती है—In both sexes, puberty, adolescence, early manhood and womanhood are marked by a gradual development of the adult odour of skin and excreta, in general harmony with the secondary sexual developments of hair and pigment. *Psychology of Sex*

अब मैथुन की दृष्टि से गप का विचार किया जाव तो यों कहना पड़ता है कि ग्राहेन्द्रिय और जननेन्द्रिय म जरूर कुछ सम्बन्ध है और पृक् के उत्तेजित हो जाने से दूसरा भी उत्तेजित हो जाता है। जानवरों में प्राय शरीर की, विशेष करके जननेन्द्रिय की, गप की सूंघफर ही मैथुन से प्रहृति और उत्तेजना जाती है, क्योंकि उनकी शरीर की गप और

ग्राणेन्द्रिय दोनों ही तीक्ष्ण होती हैं। मनुष्यों में शरीर की गंभीर तथा ग्राणेन्द्रिय दोनों ही उतनी तीक्ष्ण न होने के कारण मैथुन में शरीर की गंभीर को सुंघकर प्रचुर होने की प्रवृत्ति याने प्रकृति नहीं होती। हाँ, मैथुन के समय सुगन्धित तैल, इत्र, पुण्यमाला इत्यादि का उपयोग स्त्री के शरीर पर करने से उनकी गन्धों का कामोत्तेजक प्रभाव जहर कुछ पदता है और मैथुन में कुछ सहायता होती है, परन्तु यह प्रभाव गौण है। कुछ लोगों में गन्ध का, विशेष करके जननेन्द्रिय की गंध का कामोत्तेजक प्रभाव यहुत अधिक दिसाई देता है और ये लोग प्रायः उस गन्ध के सिवाय मैथुन करने में असमर्थ होते हैं, यह विप्रकृति है। सुगन्धों नपुंसक इसी वर्ग का है—

Olfactory influences play a certain part in various sexually abnormal tendencies and practices which do not proceed from an exclusively olfactory fascination. Thus, Cannilingus and Fellatio derive part of their attraction more especially in some individuals from a predilection for odours of sexual parts. In many cases smell plays no part in attraction. 'I enjoy cunnilingus if I like the girl very much inspite of the smell.' We may associate this impulse with the prevalence of those practices among sexual inverters in whom olfactory attraction are often specially marked. It is certain also that a great many neurasthenic people and particularly those who are sexually neurasthenic are particularly by susceptible to olfactory influences. A neurasthenic sensitivity to odours is frequently accompanied by lack of sexual vigour. *Studies in the Psychology of Sex*

(४) स्पर्श—यह कामोत्तेजन का बड़ा प्रभावशाली इन्डियार्थ है। पुरुष का स्त्री के शरीर से और स्त्री का पुरुष के शरीर से स्पर्श होते ही दोनों के शरीर में विजली की सी चमक पैदा होकर मन कामग्रवण होता है। कण्ठद्वयन (गुदगुदाना), चुम्बन, आलिङ्गन और प्रत्यक्ष मैथुन स्पर्श के ही विविध प्रकार हैं। यद्यपि शरीर की सम्पूर्ण त्वचा में कामोत्तेजक शक्ति होती है तथापि कुछ स्थान ऐसे हैं कि जहाँ यह शक्ति विशेषरूप से होती है। इनको कामकटिवन्य (Erogenic zones) कहते हैं। ये कामकटिवंधे अधिकतर उन स्थानों में होते हैं, जहाँ वाह्य त्वचा का स्लेपमाल त्वचा से संयोग होता है। जैसे—मुख, योनिमुख, गुद, स्तनाश्री इत्यादि। इनके सिवाय ऊरु, कच्छा आदि अन्य स्थान भी होते हैं। इन कटिवंधों का आपस में या जननेन्द्रिय से संयोग होने पर कामवेग बढ़ता है। इसलिए समागम के समय स्त्री-पुरुष कामवेग को बढ़ाने के लिए इन स्थानों की संयोगपरिवृत्ति (Permutations and Combinations) करते हैं। अर्थात् योनिमुखन, स्तनमुखन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि कार्य, जो प्रायः अस्वाभाविक कहलाते हैं, वास्तविक स्वाभाविक हैं। परन्तु यदि

इन कर्मों का उपयोग मैथुन के बदले किया जाय, या हृनमें से एकाध कर्म के सिवाय अन्य कामुक इन्ड्रियाओं से शरनोत्थान न हो तो यह विप्रकृति हो जाती है। कुम्भीक नपुंसक इस विप्रकृति का उदाहरण है, क्योंकि गुदमैथुन के सिवाय उसमें शिश्नोत्थापन नहीं होता।

(५) शब्द—कर्णमधुर गान, स्त्री के बोल, कोकिला के शब्द सुनकर तवीयत प्रसन्न होती है और कामवेग बढ़ता है; यह प्रकृति है। परन्तु यदि किसी विशेष शब्द के सिवाय कामवेग विकल्प ही न बढ़ता हो तो वह विप्रकृति हो जाती है। इस प्रकार का यहाँ कोई उदाहरण नहीं है।

कामुक विप्रकृति—उपर्युक्त आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष कामुकविप्रकृति के जो अनेक प्रकार होते हैं, उनमें से एक प्रकार की विप्रकृति के (Sexual aberrations या Perversion) उदाहरण हैं। आसेक्यादि जिस विप्रकृति के उदाहरण हैं, उसकी विशेषता यह होती है कि एक विशिष्ट अवस्था में सिर्फ मनुष्य मैथुन करने में समर्थ होता है और उसके निवाय पण्ड रहता है। इस अवस्था को Fetishism (फेटिशिज्म) कहते हैं। यह अवस्था मानसिक दौर्वल्य के कारण होती है—

Although the man be impotent under what might be termed ordinary or usual circumstances, he is able to perform the sexual act under unusual or special conditions. This condition of affairs is a psychoneurosis, the man being impotent unless there are special and unusual circumstances attending the act, and to this state of affairs the name fetishism is given. *Index of differential diagnosis by Herbert French.*

चरकसंहिता में संस्कारवाही नाम से इसी विप्रकृति का वर्णन किया है—शुक्राशयद्वारविघट्नेन संस्कारवाहां कुरुतेऽनिलश । (शारीर २)। संस्कार का अर्थ अष्टांगसंग्रह में इस प्रकार वर्णन किया है—नव संस्कारो वाजीकरावस्तयोऽन्यवहारशेतोहर्षणानि च। विशिष्ट संस्कार के पश्चात् शुक्रवह सिराएँ विस्फुट होकर जिसको मैथुन में सामर्थ्य आ जाता है, वह संस्कारवाही है—संस्कारेण वस्तिवायीकरणादिना परं यस्य शुक्रमदृष्टदारं सद प्रवर्तते स संस्कारवाहः। (चक्रपाणिदत्त)। संस्कारेण वाजीकरणादिना स्त्रीगमनाय संवाहयत इत्यर्थः। (इन्दु)। अत्र च संस्कारवाहैन सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिक-कुम्भीका अन्तर्भावनीयाः, यत एतेऽपि संस्कारविशेषैवैव शुक्रत्वजनित। (चक्रपाणिदत्त)। इस अवस्था का कारण विकृत वायु है। स्वाभाविक वायु 'सर्वेन्द्रियाणामुयोजकः, हर्षोत्ताहयोर्योग्निः' है, और विकृत होने पर 'मनो व्यावर्तयति' अर्थात् मनोव्यावर्तन इस अवस्था का कारण सिद्ध होता है। यही कारण आत्मिक परिभाषा में Psycho neurosis करके उपर्युक्त हर्षर्थ फ्रेंच के उद्धरण में दिया है। अतः Fetishism के लिए 'संस्कारवाहिता' शब्द प्रयोग कर सकते हैं।

नरपण और नारीपण—ये भी कामुक विप्रकृति के उदाहरण हैं। पुरुषपण देखने में स्त्री के समान होता

है। उसकी मानसिक स्थिति भी रुटी के समान होती है। रुटी के समान चेष्टा करने की उसकी इच्छा होती है और रुटी के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४३-४५ वें श्लोक के वक्तव्य में दलहण की टीका देखो। नारीण्ड की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह रुटी होने पर भी सब काम मर्दाना करना चाहती है। शारीरिक कोई भी वैपरीत्य न होकर रुटी में पुरुष के और पुरुष में रुटी के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीण्ड कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्सुअल इन्वर्शन (Sexual inversion) होनी सेक्सुआलिटी (Homo sexuality) या हर्मोफ्रोडिटिकी परिभाषा में साथको सेक्सुअल हर्मोफ्रोडिटिसम (Psychosexual hermaphroditism) कहते हैं। इन पढ़ों की शारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर दलहण का जो कथन दिया है, टीक बताता ही कथन 'हेवेलाक एडिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverters there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverters to the masculine type. This occurs both in physical and psychic respects. Among female inverters there is some approximation to the masculine attitude and temperament though this is by no means always conspicuous. *Psychology of sex*

नरपण अशुक है और अनुमान से नारीण्ड अनार्ददी होती है, अर्थात् पुरुष वन्य और नारी वन्या दोनों ही प्रजातियाद्वय में असमर्थ होते हैं। यह कथन भी टीक मालूम होता है। कारण यह है कि इन नरनारीण्डों की अन्तर्माण्डि जननेनिदयां अपक या शीतावीय (Infantile) हुआ करती हैं—

The sexual organs in both sexes are sometimes over developed, or perhaps more usually, under developed, in a slight approximation to the infantile type. Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate some degree of infantilism. *Psychology of sex*

जिम मनुष्य में ईंटिक आर्कर्पन अपने लिङ्ग के मनुष्य की ओर होता है, उसे समलिंग्नी (Homosexual) और उस अवस्था को समलिंग्नता (Homosexuality) कहते हैं। जब यह अवस्था सहम या जन्मन दोनों होती है, तब उसे ईंटिक विपर्यास (Sexual inversion) कहते हैं। हेवेलोक पॉलिस की इस व्यापार्या के अनुगाम नरनारीण्ड Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिंग्नी मनुष्य सहम प्रवृत्ति के नहीं होते, ये अशुक नहीं होते। ये रुटी और पुरुष दोनों की ओर आर्कर्पन होते हैं। इसलिए द्विलिंग्नी (Bisexuals) कहलाते हैं। इन समलिंग्नियों में दलहणीयुन, गुदमीयुन, मुमायीयुन इत्यादि अनेक ईंटिक विपर्य लिखे हैं और मन्त्रावाहित्य भी ही स्थाना है। इसलिए, आसेंस्यादि पुरुष समलिंग्नियों के विविध प्रकार समझा रखते हैं।

कामुक या लैटिक विप्रकृति (Sexual aberration) प्रवर्त—आशुलिक काल में पाश्चात्य विद्वानों ने का विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई प्रनिर्णीत किये हैं। उनका विवरण संचेप में नीचे जाता है—

(अ) कामेच्चा या विपर्य (अयोग और अनियोग) (१) कामजड़ता (Sexual frigidity)—इस विपर्य मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या कभी व उसका अभाव होता है। (२) नामोलटना (Erotic Satyrism, Nyrophomantia)—इसमें पुरुष या कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

(आ) शाम का मिथ्यादोग (Parasthesia sexualis) (१) लत्यविपर्याद—

(क) आत्मलिंग्नता (Auto sexuality)—इसमें उ या रुटी का कामुक आर्कर्पन अपने शरीर की ओर होता और हस्तमैयुन, दिवा या रात्रि के स्वम, कामुकिन्द इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको अ व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिंग्नता (Homosexuality, sexual inversion)—(१) दिलिङ्गी—इसमें पुरुष और रुटी दोनों ओर आर्कर्पन होता है। (२) इसमें केवल अपने लिङ्ग व्यक्ति की ओर आर्कर्पन होता है। (३) मानविक प्रकृ दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है। (४) शारीरिक आहृति दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है।

नारीण्ड और नरपण इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आर्कर्पन होना (Bestiality)—उत्ता, विली, सूखर, गौ, घोड़ी, घरकी इत्यादि जानवर का उपयोग किया जाता है। इसको 'तिर्यंग्योनिगम' कहते हैं।

(घ) लौंगेवानी या कुमारप्रियता (Paedophilia)—छोटेलाटे को मल वज्रों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) मुरुंदवानी या शत्रप्रियता (Necrophilia)—स शरीर पर प्रेम करना।

(१) द्वृविपर्य—

(च) शिरन और थोनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों अनन्द प्राप्त करना (अयोनिगमन), या किसी असाधार घल या किया से आनन्द प्राप्त करना (Fetichism)। असेंस्यादि चतुर्विधि पुरुष हस्ती वर्ग में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य में अपने गुणात दूसरों को सार्वजनिक स्थानों में दिखाने के प्रवृत्ति होती है।

(ज) काममूरता (Sodism, Masochism)—इसमें कामुकविपर्य के अतिरिक्त दूसरे पर कर्त्तव्याधेन प्रहर करना इत्यादि प्रूक्षम बरने की प्रवृत्ति होती है।

(झ) काम का विपरीतकालोदय (Parodoxia ॥१॥ पृष्ठी)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उत्तर होता है। जैसे—दियों में बारद साल के पूर्व और पुरुषों

पंद्रह साल के पूर्व कामवासना प्रबल होना । किंवा घुट्टा-वस्ता में काम फिर से प्रबल होना ।

इन लैंड्रिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुश्रुत के श्लोकों के अतिरिक्त और भी मिलते हैं—कामार्ता हि प्रकृति-कृषणाचेतनाचेतनेषु । (मेघदूत ५) । नहि जातवलाः सर्वेनराश्रापत्यभागिनः । वृहच्छरीरा वलिनः सन्ति नारीपु दुर्वलाः ॥ सन्ति चाल्पवलाः खीजु वलवन्तो वहुप्रजाः । प्रकृत्या चावलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्वलाः ॥ नराश्वकवत् केचित् ब्रजन्ति वहुशः खियम् ।

गजवच्च प्रसिद्धन्ति केचित् वहुगामिनः ॥ कालयोगवलाः केचित् केचित् भ्यसनप्रवाः । केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृपाः केचित् स्वभावतः ॥ (चरक, चिकित्सा २) । नान्योर्मि नायोनौ व्यवायं गच्छेत् । (चरक) । तिर्यग्नोनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम् । दुष्ट्योनौ विसर्गं तु वलवानपि वर्जयेत् ॥ (सुश्रुत) । तिर्यग्नेनिरजादिः । अयोनि मुख्येषु नम्, यथा दाक्षिणात्याः खियो मुखे मैथुनं कारयन्ति । (डल्हण) । खीयोगेयै पुरुषाणामपि अलव्यवृत्तीनां वयोनिषु विजातिषु खीप्रतिमासु केवलोपमर्दनाचामिप्रायनिष्टिर्व्याख्याता । धवेयिकां सर्वां दासीं वा पुरुषवदलंकृत्याकृतिसंयुक्तैः कन्दमूलफलावयवैरपदव्यार्दितमामिप्रायं निर्वत्येयुः ॥ वियोनिषु वालोरुक्षकादिषु, विजातिषु एडीवदवादिषु । खीप्रतिमासु खीप्रतिकृतिषु समुलीर्णखीलिङ्गादिषु । कन्दा आलुककदत्यारीनाम् । मूलं तालकेतकीनाम् ।

फलमलायुकर्णीनाम् । (वात्स्यायनकामसूत्रस्य [ज्येष्ठंगलादीकायाम्, यशोधरः]) । खियमयोनौ गच्छतः पूर्वस्साहसदण्डः, पुरुषमधिमेहतश्च । मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्नेनिष्वासनः । दैववप्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्मृतः । खीपुंसयोमेषु नार्थेनाङ्गविनेद्यायां रहस्योलसंभाषायां वा चतुर्विशतिपणः खिया दण्डः, पुंसो द्विगुणः ।

कैशनीवीदन्तनान्यावलम्बनेषु पूर्वस्साहसदण्डः । (कौटिलीय अर्थशास्त्र) । इसके सिवाय 'औपरिष्कम्' और 'प्रहणनयोगा' इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक विपर्यय के ही हैं । उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—

कष्टमनार्थवृत्तमनादृत्यमिति वात्स्यायनः । तथादन्यदपि (प्रस्तराचाहनन्) देशसात्म्यात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुजीत ॥ तदैतत्त न कार्य समयविरोधादसभ्यत्वाच्च ।

ये लैंड्रिक विपर्यय अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक, क्या सभ्य और क्या असभ्य, सभी लोगों में संसार भर में प्रचलित हैं, क्योंकि कामाहुर मन क्या करेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं—अर्थस्यात्य रहस्यत्वाच्चलत्वान्मनस्तथा । कः कदा, किं कुलः कुर्यादिति को शातुर्महिः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । कामातुराणां न भयं न लज्जा । (सुभापित) । शास्त्राणां विषयस्तावद्यावनमदरसा जनाः । प्रवृत्ते रविचके तु नैव शास्त्रं न च क्रमः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । लैंड्रिक विपर्यास के कारण—इन लैंड्रिक विपर्यस्तों (Sexual perverts) को धार्मिकदृष्ट्या पातक का ढर दिखाया जाता था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको धृणा से देखते थे और राजकीयदृष्ट्या विपर्यस्तकाम करने पर उनको दण्ड दिया जाता था और अब भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी संभावना होती है । परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और भविष्यकाल में होंगे । प्राश्नात्य देशों में गत अर्धशताब्दी में मानसशास्त्र के साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी चिकार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भावकान्ति, शरीर-कार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के

इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर प्राश्नात्य शास्त्रज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यथापि वात्स्य और युवावस्था में खराव संगति के कारण मनुष्यों को खराव आदतें लग सकती हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण ही विपर्यस्त होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत होती है । इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिवलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के दीजों का दोष (Hereditry)—माता पिता के धन के लिये जैसे उनकी प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा अधिकारी होती है । यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके दीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है । कामुक विपर्यास-युक्त मातापिता की प्रजा में कामुक विपर्यास उत्पन्न हो सकता है । (२) जन्मबलप्रवृत्ति (Anomalies of development)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता के आहार-चिह्न आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात छोता है, वैसे ही लैंड्रिक विपर्यास भी उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के पश्चात् वात्स्यावस्था और युवावस्था में खराव संगति के कारण या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी धृष्टि होती है । (३) अन्तःतावी ग्रंथियों (Endocrine glands) के दोष—गर्भ में पुस्त्व और स्त्रीत्व के लिए योग्य वाय और आभ्यन्तरीय जननेन्द्रियां उत्पन्न करना, जन्म के पश्चात् योग्य वय में उनकी धृष्टि करना, दाढ़ी मूँछें, स्तन-धृष्टि इत्यादि अज्ञकविशेषों की धृष्टि करना तथा स्त्री और पुरुष के लिए योग्य मनोधृत्ति को बनाना इत्यादि सब कार्य शरीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःताव से होते हैं । इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए दीजग्रंथि (Ovary), का स्त्राव और पुरुषत्व के लिए पृष्ठण का स्त्राव महत्व का है । इनके सिवाय अधिधृक्तग्रंथि (Suprarenal), ग्रीवाग्रंथि (Thyroid), थायमस (Thymus), पोषणकग्रंथि (Pituitary) इत्यादि अनेक ग्रंथियां लैंड्रिक कार्य में सहायता करती हैं । गर्भवस्था में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारी-पण्डता, स्वलिङ्गता, कामजड़ता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता इत्यादि अनेक लैंड्रिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं । इन ग्रंथियों की विकृति प्रायः आदिवल और जन्मबल के कारण ही हुआ करती है । इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि लैंड्रिक विप्रकृतियां प्रकृतिगम्भव होती हैं और विप्रकृति और प्रकृति वास्तव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से उत्पन्न हुए भेद हैं—

The elements of pathology are already to be found in the physiological, and pathological processes are still following the laws of physiology. Every normal man in matters of Sex, when we examine him carefully enough, is found to show some abnormal elements and the abnormal man is merely manifesting in a disordered or extravagant shape some phase of the normal man. Psychology of sex विपर्ययों की उत्पत्ति के संबंध में प्राश्नात्य शास्त्रज्ञ

है। उसकी मानसिक स्थिति भी स्त्री के समान होती है। स्त्री के समान बेटा करने की उसकी इच्छा होती है और स्त्री के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४५-४६ वें श्लोक के वक्तव्य में डलहृण की टीका देखो। नारीपण की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह स्त्री होने पर भी सब काम महाना करना चाहती है। नारीरिक कोई भी वैपरीत्य न होकर स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीपण कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्युअल इन्वर्शन (Sexual inversion), होमो सेक्युअलिटी (Homo sexuality) या हार्मोनीटिक की परिभाषा में साथकों सेक्युअल हर्मोनेटिक्सम (Psycho-sexual hermaphroditism) कहते हैं। इन पांडों की नारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर डलहृण का जो कथन दिया है, टीक वैसा ही कथन 'हवेलाक पुलिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverters there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverters to the masculine type. This occurs both in physical and psychic respects. Among female inverters there is some approximation to the masculine attitude and temperament though this is by no means always conspicuous. *Psychology of sex*

नरपण अशुक है और अनुमान से नारीपण अनातंत्री होती है, अर्थात् पुरुष बन्ध की नारी घन्या दोनों ही प्रजोत्पादन में असमर्प होते हैं। यह कथन भी टीक मालूम होता है। कारण यह है कि इन नरनारीपणों की अन्तर्माण्डि जननेन्द्रियों अपक या शौश्रवीय (Infantile) हुआ करती है—

The sexual organs in both sexes are sometimes over developed, or perhaps more usually, under developed, in a slight approximation to the infantile type. Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate some degree of infantilism. *Psychology of sex*

जिस मनुष्य में ऐन्ट्रिक आवर्णं अपने लिङ्ग के मनुष्य की ओर होता है, उसे समलिंग्नी (Homosexual) और उस अवस्था को समलिंग्नता (Homosexuality) कहते हैं। यह यह अवस्था सहज या जननम होती है, तब उसे ऐन्ट्रिक विपर्याप्ति (Sexual inversion) कहते हैं। हेलोइन प्रूटिम की इस व्यायाम के अनुमान नरनारीपण Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिंग्नी मनुष्य सदृश प्रतिनि के नहीं होते, वे अशुक नहीं होते हैं। ये स्त्री और पुरुष दोनों की ओर आवर्णित होते हैं। इसलिए बिलिंग्नी (Bisexuals) कहलाते हैं। इन समलिंग्नियों में हम्ममैथुन, गुरमैथुन, सुगमैथुन इत्यादि अनेक ऐन्ट्रिक विपर्याप्ति हैं और संस्कारवादित्र भी हो सकता है। इत्यादि, आसेस्ट्रादि पुरुष समलिंग्नियों के विविध प्रकार समझ सकते हैं।

इसुक या लैक्टिक विप्रकृति (Sexual aberration) के प्रकार—आऽनुविक काल में पाश्चात्य विद्यालयों से कामुक विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई प्रकार निर्णीत विचे हैं। उनका विवरण सचेत में नीचे दिया जाता है—

(अ) पामेच्या वा विपर्यय (अयोग और अनियोग)—(१) कामजङ्गता (Sexual frigidity)—इस विपर्यय में मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या कभी कभी उसका अभाव होता है। (२) वामोत्पत्ता (Eroticism Satyriasis, Nymphomania)—इसमें पुरुष या कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

(आ) बाम का मिथ्यालोग (Parasthesia sexualis)

(१) लक्ष्यविपर्यय—

(क) आमलिंग्नता (Auto-sexuality)—इसमें या स्त्री का कामुक आवर्णं अपने शरीर की ओर होता और हस्तमैथुन, दिवा या रात्रि के स्वप्न, कामुकचिन्त इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको अव्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिंग्नता (Homosexuality, sexual inversion)—(१) दिलिंगी—इसमें पुरुष और स्त्री दोनों और आकर्षण होता है। (२) इसमें केवल अपने लिङ्ग व्यक्ति की ओर आकर्षण होता है। (३) मानसिक प्रहृष्ट दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है। (४) नारीरिक आहृति दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के राग होती है।

नारीपण और नरपण इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आवर्णं होना (Bestiality)—जल्ता, विझी, सूअर, गौ, घोड़ी, बकरी इत्यादि जानवरों का उपयोग किया जाता है। इसको 'तिर्यग्योनिगमन' कहते हैं।

(घ) दौंडिवाजी या कुमारप्रियता (Paldophilia)—दौंडिवाजे को माल बच्चों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) सुरुद्वाजी या शवप्रियता (Necrophilia)—या शरीर पर प्रेम करना।

(१) हेतुविपर्यय—

(च) शिशन और योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों हे अनन्द प्राप्त करना (अयोनिगमन), या किसी असाधारण वस्तु या किया से अनन्द प्राप्त करना (Fetichism)! आसेस्ट्रादि चतुर्विध पुरुष हस्ती वर्ग में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य में अपने गुरुत्वादी दूसरों को सार्वजनिक रूपानों में दिखाए हैं।

(ज) कामकूता (Sodism, Masochism)—इसके कामुकविपर्यय के अतिरिक्त दूसरे पर कामनासाधेन प्रहृष्ट करना इत्यादि स्वरूप में करने की प्रक्रिया होती है।

(झ) काम का विपरीतालेख (Parodoxy प्रदर्शनीयता)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उदाय होता है। जैसे—दियों में बारह रात के पूर्व और पुरुषों

पंद्रह साल के पूर्व कामवासना प्रवल होना । किंवा धृद्धा-वस्था में काम फिर से प्रवल होना ।

इन लैंगिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुधुत के श्लोकों के अतिरिक्त और भी सिलते हैं—शामार्ता हि प्रकृति-शृण्णादनेतनाचेतनेषु । (मेघदूत ६) । नहि जातवलाः सर्वेनराशा-पत्यभागिनः । बृहच्छ्वरीरा वलिनः सन्ति नारीपु दुर्वलाः ॥ सन्ति चातपवलाः स्तीपु वलवन्तो वहुप्रजाः । प्रकृत्या चावलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्वलाः ॥ नराश्टकवत् केचित् व्रजन्ति वहुशः क्षियम् । गजवध प्रसिद्धन्ति केचित् वहुगामिनः ॥ कालयोगवलाः केचित् केचिदभ्यसनभ्रुवाः । केचित् प्रयत्नैर्व्यञ्जन्ते वृपाः केचित् त्वभावतः ॥ (चरक, चिकित्सा २) । नन्यर्योर्न नायोनी व्यवायं गच्छेत् । (चरक) । विर्यग्नोनावयोनी च प्रामशुकविधारणम् । दुष्योनी विसर्गं तु वलवानपि वर्जयेत् ॥ (सुश्रुत) । तिर्यग्नोनिरजादिः । अयोनि सुखमैथुनम्, यथा दाक्षिणात्याः स्त्रियो सुखे मैथुनं कारयन्ति । (दल्हण) । स्त्रीयोगेणैव पुरुषाणामपि अलव्यवृत्तीनां विवेनिपु विजातिपु स्त्रीप्रतिमासु केवलोपमर्दनाद्याभिप्रायनिवृत्तिर्याख्याता । धात्रियिकां सर्वां दात्सां वा पुरुषवदलंघत्वाक्षतिसंयुताः कन्दमूलफलावयवैरपदब्यैर्वाऽत्माभिप्रायां निर्वत्येयुः ॥ वियोनिपु वालोरुक्षादिपु, विजातिपु एठीवडवादिपु । स्त्रीप्रतिमासु स्त्रीप्रतिकृतिपु समुक्तीर्णस्त्रीलिङ्गादिपु । कन्दा आलुकदल्लादीनाम् । भूलं तालकेतकीनाम् । फलमलादुकर्कीनाम् । (वास्त्यायनकामसूत्रस्य [जयमंगलादीकायाम्, यशोधरः]) । स्त्रियमयोनी गच्छतः पूर्वस्साहसदण्टः, पुरुषमधिमेहतश्च । मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्नोनिवासमनः । दैवतप्रविमानां च गमने द्विगुणः स्त्रुतः । स्त्रीपुंसयोर्मैथुनर्थेनाद्विचेष्यायां रहश्यशीलसंभायायां वा चतुर्विशतिपणः स्त्रिया दण्टः, पुंसो द्विगुणः । कैशरीवीद्वन्तनस्त्रावलम्बनेषु पूर्वस्साहसदण्टः । (कौटिलीय अर्थशास्त्र) । इनके सिवाय 'ओपरिष्टकम्' और 'प्रहणनयोगा' इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक विपर्यय के ही हैं । उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—कष्टमन्यवृत्तमनादृत्यमिति वात्स्यायनः । तथादन्यदपि (प्रस्तराद्यादनन्) देशास्त्रात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुक्तीत ॥ तदेतत्त न कार्यं समयविरोधादसम्यवाच ।

ये लैंगिक विपर्यय अत्यन्त ग्राचीन काल से अव तक, क्या सम्भ और क्या असम्भ, सभी लोगों में संसार भर में प्रचलित हैं, क्योंकि कामातुर मन क्या करेगा, इसका कोई डिकाना नहीं—अर्थस्यास्य रहस्यतावच्चत्वान्मनस्तथा । कः करा, किं कुवः कुर्यादिति को शासुर्महरि ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । कामातुराणां न भव्य न लज्जा । (सुभाषित) । शाकाणां विषयस्तावद्यावन्मदरसा जनाः । प्रवृत्ते रतिक्रमे तु नैव शाश्वन च क्रमः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । लैंगिक विपर्यास के कारण—इन लैंगिक विपर्यस्तों (Sexual perverts) को धार्मिकदृष्ट्या पातक का डर दिखाया जाता था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको धृणा से देखते थे और राजकीयदृष्ट्या विपर्यस्तोंकाम करने पर उनको दण्ड दिया जाता था और अब भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी संभावना होती है । परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और भविष्यकाल में होंगे । पाश्चात्य देशों में गत अर्धशताब्दी में मानसशास्त्र के साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी विचार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भादक्रान्ति, शारीरकार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के

७ सु० सं०

इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि वाल्य और युवावस्था में स्वाव संगति के कारण मनुष्यों को खराय आदतें लग सकती हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण ही विपर्यस्त होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत होती है । इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिवलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के दीजों का दोष (Hereditv)—माता पिता के धन के लिये जैसे उनकी प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा अधिकारी होती है । यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके दीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है । कामुक विपर्यास-युक्त मातापिता की प्रजा में कामुक विपर्यास उत्पन्न हो सकता है ।

(२) जनस्वलप्रवृत्ति (Anamolies of development)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता के आहार-विहार आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है, वैसे ही लैंगिक विपर्यास भी उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के पश्चात् वाल्यावस्था और युवावस्था में स्वाव संगति के कारण या जननेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी धृद्धि होती है ।

(३) अन्तःस्नावी ग्रंथियों (Endocrine glands) के दोष—गर्भ में पुरुष और स्त्रीत्व के लिए योरु वाह्य और आम्यन्तरीय जननेन्द्रियां उत्पन्न करना, जन्म के पश्चात् योरु वय में उनकी धृद्धि करना, दाढ़ी मूँछें, स्तन-धृद्धि इत्यादि व्यक्तिक्षेपों की धृद्धि करना तथा स्त्री और पुरुष के लिए योरु मनोवृत्ति को बनाना इत्यादि सब कार्य शारीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःस्नाव से होते हैं । इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए धीजप्रंथि Ovary का स्त्राव और पुरुषत्व के लिए धृष्टपत्र का धृष्टपत्र का है । इनके सिवाय अधिकृत्क्रंथि Suprarenal, ग्रीवाग्रंथि (Thyroid), थायमस (Thymus), पोपणक्रंथि (Pituitary) इत्यादि अनेक ग्रंथियां लैंगिक कार्य में सहायता करती हैं । गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारी-पण्डता, स्वलिङ्गता, कामजडता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता इत्यादि अनेक लैंगिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं । इन ग्रंथियों की विकृति ग्रायः आदिवल और जन्मवल के कारण ही हुआ करती है । इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि लैंगिक विप्रकृतियां प्रकृतिप्रभव होती हैं और विप्रकृति और प्रकृति वात्सव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से उत्पन्न हुए भेद हैं—

The elements of pathology are already to be found in the physiological, and pathological processes are still following the laws of physiology. Every normal man in matters of Sex, when we examine him carefully enough, is found to show some abnormal elements and the abnormal man is merely manifesting in a disordered or extravagant shape some phase of the normal man. Psychology of sex

लैंगिक विपर्ययों की उत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्य शास्त्रज्ञों

के अनुसार उपर जो सीन कारण दिये हैं, वे ही सीन कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यही बड़ी धार्थर्यजनक और सतोप-जनक व्याधि है (१) लादिवलप्रवृत्ति दोष—ददा तु लिया शोषितगमीशया दोषा किञ्चित् प्रदृशयन्ति तदा यो गमो भवनि तस्य गर्भस्य यस्य यस्य माहौजस्यादयस्य बीजे बीजाशी वा दोष प्रोपेषापचौ त तदमवयव विकृनिराविशति । एवमेव पुनो दया शुकारथै बीजे भीम प्रदृश्यन्ति, इत्यादि योजयेदन्त्य पूनिप्रज्ञ तथा पुरुषाकृतिप्राप्त पुरुष त्रृष्णुखिन नाम जनयति । (अष्टाहस्रश्छ्रांग)। इसके सिवाय सुश्रुत में आसेक्यादि पद्धविषय पञ्च और चरक में द्वितीया, बीजी इत्यादि यस्तु शुक्रशोणितदोषपञ्चन्य ही वर्णन किये हैं । (२) जन्मबलप्रवृत्ति दोष—तीजाम वर्षांश्यावलदोर्पै मातुस्तुदाहारविहारदोर्पै । कुर्वन्ति दुष्टा विवियानि दोषा सत्यानवर्येऽप्यद्विवैक्यानि ॥ (चरक) । इसमें इन्द्रिय-वैकृत के भीतर लैकिंग विपर्यय आ जाते हैं । शुक्राशय गर्भ-गत्यस्य गत्वा करोति वायु पवननिदित्यवद् । वायुद्विदेषादप्सृष्टो तु यस्य नाश गतो वानिकपञ्जद स । शुक्राशयद्वारविषट्टुनेन सर्स्वार वायु द्वि खरोति वायु । वायुद्वीलत् (गर्भिणी) दुर्बुद्धप्रस्तुति स्त्रीण वा । अभियात्री परोपायानिमित्तु यैषं वा । यदुविनियो दुर्बलमल्लशुक्रमनपय वा । (चरक) । (३) स्त्रीकर और पुरुषकर भाग दोष—ददा तु अद्या शोखिते गर्भाशयादीज भागावयव खीरकराणा च शरीरदीनभागानामेददेश प्रदोष मापत्ते तदा स्वाकृतिमूलिकामतिव वार्ता नाम जनयति । यदा त्वस्य दीर्घी दीनभागावयव पुरुषराणा च शरीरदीनभागानामेददेश प्रोपेषापचौ तदा पुरुषाकृतिभविष्यमुक्त तुल्यप्रिय नाम जनयति । (चरक) । स्त्रीकर दीर्घी भाग के सर्वथ में चक्रपाणिदक्ष लिखते हैं—खीरकराणा शरीरदीनभागानामेति खीत्यन्तकरणो पद्योगमराजादिनक्षेत्रवागानामद् । वैसे ही ‘पुरुषग्रामिनि पुरुषत्वलक्ष्मदमूलप्रत्येकोमराज्यादिनक्षेत्रवागानामद्’ भी कह सकते हैं । सत्रेप में स्तन इमश्च इत्यादि खीत्य पुरुषव-व्यक्तक लोगों की उत्तरति करने वाले भाग का दोष । आघुनिक शारीरिकार्यविज्ञान के अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि पुरुष और खीरक व्यक्तक लोगों की उत्तरति का काम विशेष अन्त व्यावी प्रथियों के रस से होता है—

The main spring of puberty lies in the sexual hormone, the hormone, so we have learned, is a product of internal secretion by the sex glands. The testicles in the male and the ovaries in the female are the workshops and supply stations of sexual hormone. Now, sexual hormone is not a new ingredient of puberty. It has existed before and some authorities have reserved for it the formidable task of sex differentiation in the embryo. It decides the issue between male and female. Secondary sexual characteristics one being developed. The larynx grows longer. The voice gets deeper. A crop of hair appears on the face and upper lip of the male. The testicles grow larger. The female breasts swell. The girdle becomes fatter. The Riddle of the sex.

प्रक्रमिति के कथन का मैल हम उद्दरण के साथ इन्हें पर खीरकर और पुरुषकर भाग आघुनिक प्रक्रमिता

के अनुसार sexual glands समझ सकते हैं । आसेक्यादि चतुर्विधि पुरुष नपुसक हैं । उनमें एक विशेष सर्स्वार से व्यज्ञेच्छाय होता है, अन्यथा उनमें व्यज्ञेच्छाय नहीं होता । इस अवस्था को सस्कारवाहित्य (Fetichism) बताते हैं । नपुसकत्व (Impotency) का यह कारण है । इसके सिवाय और भी कई कारण होते हैं, उनका यहां सचेप में विचार विया जाता है ।

नपुसकता (Impotence) के कारण—(१) शिश और वृपण के विकार—दोषात्मात् । (अष्टाहस्रश्छ्रांग) । वदनि शोषमहेदाद् । (चरक) । जैसे शिशन का सहजत्यग्या, निर्दम्पकश, वृपण-चय, शिश का अमाव, शिश का कर्कट (बैन्सर), शीपद, जल वृपण (मूरजावृद्धि) इत्यादि ।

(२) शारीरिक विकार—सारीना च सच्याद् । बाता दीना च वैष्णवात्वैवानशनाच्छ्रुमात् । (चरक) । अनिस्थीलाद् (अष्टाहस्रश्छ्रांग) । भरया, सच्याद् । (चरक) । मधुमेह, वातरक, जरा, पोष-प्रथि का व्यार्थ ठीक न होता (Hypopituitarism), अनिस्थीलय, पिरग की चौथी अवस्था के मरितिक सुमुनामत विकार, च-रेश्म का परिणाम धातक रसचय, राजवृद्धमा, पिरग और विप्रमज्जर दैर्घ्यल इत्यादि ।

(३) मानसिक विकार—विलया, खीणा चातिनिवैष्णवाद्, खीणामसवनाद्, खीरोददशनाद्, असदात्मात्, शोकचिन्ता भवकासाद् । (चरक) । अविद्यात्, खीणामशीलाद्, त्रोशत (अष्टाहस्रश्छ्रांग) । मन, मस्तिक और मैथुनकर्म के सबध में पोछे इसी वस्त्रव के प्रारम्भ में जो विवरण किया गया है, उस से मानसिक विकारों का नपुसकता के साथ वित्तना घना सबध है, इसका व्योग हो जायगा । जब तक पुरुष का मन मैथुन की ओर नहीं लगेगा तब तक जननेनियुक्त में खूब इन्स्वर्चय महीं होगा और व्यज्ञेच्छाय भी ठीक नहीं होगा । इसलिय मैथुन के समय ‘तन्मया होना बहुत आवश्यक है—उर्मगे मैथुनाहारशोषने रसात् तामना । (सुश्रुत) । उपर्युक्त मानसिक विकारों से पुरुष का मन मैथुन से पराड़मुख हो जाता है, जिसमें व्यज्ञेच्छाय ठीक न होने के कारण मैथुन नहीं हो सकता । इस विषय का कुछ अधिक विवरण सुश्रुत चिकित्सास्थान के २५वें अध्याय में होता । व्यथाता के भी प्राप्त ये ही कारण होते हैं । पांचे २ सूत्र का वक्तव्य तथा इ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में पुरुष की मन स्थिति वीटिष्णी भी देखो ।

आहाराचारेष्टाभियांदशीभिः समन्वितौ ।
स्त्रीपुसी समुपेयतां तयोः पुचोऽपि ताहादः ॥५८॥
(आहाराचारेष्टा का सन्तुति पर परिणाम—) जिस प्रकार के आहार, आवार और लैटार्जी से युक्त होवर की ओर पुरुष समानम करते हैं, उस प्रकार की सन्तान उनमें (उत्पत्त) होती है ॥५८॥

वक्तव्य—उप—कन्या या पुत्र—उपर्युक्तस्वामी पूष्टलाभ्योऽत् । (अष्टाहस्र) । मूरुपेयताम—इसमें केवल समागमकाल अभियेत नहीं है, समागमावृद्धकाल भी इसमें समाविष्ट है । इसको गर्भपाणकाल (Procreation period) कहते हैं । इस काल की अवधि आयुर्वेद के अनुसार अधिक से अधिक एक महीने

की समझ सकते हैं—मासं ब्रह्मचारी, मासं ब्रह्मचारिणीम् । (सुव्र २९ देखो)। यह एक महीने का काल स्त्री की दृष्टि से उचित है, क्योंकि एक महीने में केवल एक ही बीज कोप से पक होकर बाहर निकलता है, जिससे गर्भधारणा हो सकती है। पुरुष की दृष्टि से एक महीने की अवधि कुछ अधिक है, क्योंकि उसके वृषण में प्रतिदिन असंख्य शुक्राणु उत्पन्न होते हैं। परन्तु च्यवहार के लिए अधिक से अधिक एक महीने की अवधि दोनों में भी उचित समझी जा सकती है। पाश्चात्य शास्त्रज्ञ मद्य, अकीम इत्यादि नशोली चीजों का वर्जन गर्भधारण के पूर्व एक महीना भर करने को कहते हैं—

Prospective parents who in intentional procreation wish to give life to a child with the best possible predispositions must be advised not to drink alcohol for a long time—at least four weeks. This period is not chosen arbitrarily. It is based at least for the women, on the consideration that a poisoned follicle and vitellus developed from it might damage and endanger embryo and pregnancy. This abuse (opium and morphia, etc.) might be discontinued at least for the period (one month) claimed above for preparation for the act of procreation, *Ideal Birth*.

इस एक महीने के काल में स्त्री और पुरुष का जिस प्रकार का आहार होगा, विहार होगा, मानासक स्वास्थ्य होगा; उसी के अनुसार अपत्य भी स्वस्थ या अस्वस्थ, सबल या निर्वल, आनंदी या दुःखी, चब्बल या स्थिर हो जायगा। इसलिए जिस प्रकार के अपत्य की इच्छा हो, उस प्रकार के अपत्य के लिए उचित आहार, विहार, आचार, विचार, चिन्तन इत्यादि शारीरिक और मानसिक कर्म स्त्री और पुरुष दोनों को ही एक महीना भर के लगभग करने चाहिए—इच्छेतां यादेशं पुत्रं तदूपस्थिरितांश्च तौ। चिन्तयेतां जनपदांस्तवदाचारपरिच्छदी॥ (अष्टांगहृदय)। Ideal Birth में भी लिखा है—

By procreation, we want to transmit our ego and make it go on living in our children and children's children. And therefore because we want to and must give our best we should set a certain time for concentration on the duty in which we prepare body and mind.

पैषे सत्र २४वें का भी वक्तव्य देखो ।

पदा नार्याद्युपेयातां वृपस्यन्त्यौ कथंचन

मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४६॥

(अनस्थिगर्भोत्पत्तिहेतु—) जब अत्यन्त कामातुर हुई दो स्त्रियां समागम करती हैं और किसी तरह से एक दूसरे में शुक्र का उत्सर्ग करती हैं, तब अनस्थि (गर्भ) पदा होता है ॥४६॥

वक्तव्य—वृपस्यन्ती—घृपम की इच्छा करने वाली गौ, यह दृष्टका योगार्थ है। ती की दृष्टि से घृप के समान मैथुन कर्म में वलवान् पुरुष के साथ समागम की इच्छा करने वाली भर्यान् अत्यन्त कामातुर—‘वृपं पुरुषमात्माधिनिष्ठन्’ इति

वृपस्यन्ती । रावणावरजा तत्र राघवं मठनातुरा । अभिपेदे निदाधारी व्यालीव मलयद्वम् ॥ कलवानाहं वाले कनीशासं भजस्व मे । इति रामो वृपस्यन्ती वृपस्कन्धः शशोस ताम् ॥ (रसुवंश १२)। शुक्र—स्त्रियों में मैथुन के आनन्द से योनिगर्भाशय से एक प्रकार का चिपचिपा स्वाव स्वता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यह पुरुषों के समान गर्भजनक शुक्र नहीं है, न इसका गर्भोत्पत्ति से कोई संवंध है; इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद में किया गया है—योपितोऽपि स्ववन्येव शुक्रं पुसां समागमे । गर्भस्य तत्र किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। इस विषय के संवंध में अस्तु अष्टांगहृदय की टीका में लिखते हैं—तदेवं तरुणीनां कुसुमशराकान्तमानसानां तथाविधेन पुरुषसंयोगेन विनाऽपि केवलात् स्मृतिसंस्पर्शदर्शनाच्चितप्रस्तुतरेतसां किमिति गर्भो न जायते ? । शुक्रार्तवं हि गर्भकारणम् । तत्र सन्निहितमैवेति केचित् । तात्र ब्रूमहे । पुंशुकामावात् । पुंशुकं हि स्त्रीरोत्तरक्तयुक्तं गर्भकारणम् । न च तदत्रास्ति । तदभावावाहर्भस्याऽनुपत्तिः । तथा च संयहेऽप्यध्यगीष—। यूरोप में उच्चां शताब्दी तक मैथुन के समय के इस योनिगर्भाशयगत स्वाव को स्त्रीशुक्र ही कहते थे और गर्भधारणा के लिए उसे आवश्यक मानते थे—

This mucous ejaculation was in former days regarded as analogous to the seminal ejaculation in men and hence essential to conception. The belief that mucus poured out in women during sexual excitement is feminine semen and therefore essential to conception had many remarkable conjectures and was wide spread until the seventeenth century. *Studies in the Psychology of sex.*

आयुर्वेद में इस प्रकार का अज्ञान स्त्रीशुक्र के संवंध में नहीं था, यह उपर्युक्त अस्तु और वाभट के वचनों से स्पष्ट है । अनस्थि—अस्थिविरहित, कोमलास्थियुक्त या विकृतास्थियुक्त । ‘अ’ से अभाव, अल्पता और अप्राप्तस्त्व तीनों का वोध हो सकता है ।

इस श्लोक में नारीपण्डों (Female Homosexual) का उल्लेख है । नारीपण्ड स्त्रियों से प्रेम करती है, स्त्रियों से कासुक चेष्टा करती है, वेप आकृति इत्यादि में पुरुषों का अनुकरण करने की इच्छा करती है । जो द्विलिङ्गी नारीपण्ड (Bisexual) होती है, वह स्त्री से भी प्रेम करती है और किसी पुरुष की पत्नी होकर भी रह सकती है । इस श्लोक का अभिप्राय—(१) स्त्रीशुक्र से गर्भोत्पत्ति का विचार किया जाय तो इस कथन को प्रत्यक्षविरोधी, आयुर्वेदविरोधी और अनार्प मानकर इस श्लोक को प्रतिस्त समझ सकते हैं । (२) यदि अनस्थि याने कोमलास्थि विकृतास्थि युक्त बालकों के विकारों (जैसे—Rickets, Osteogenesis Imperfecta, Frigilitas Ossium इत्यादि) की दृष्टि से उत्पत्ति का उत्पत्ति में माता पिता के कुर्कम के साथ इनकी उत्पत्ति का संवंध किया गया होगा, जैसे कि नरनारी-पट की उत्पत्ति में माता पिता के कुछ विपरीत कर्म का संवंध लगाया गया है । पूर्वापर संदर्भ से द्वितीय अर्थ अधिक उचित माल्यम पड़ता है ।

ऋत्साता तु या नारी स्वत्वे मैथुनमावहेत् ।

आर्तन वाप्रदाय कुलो गर्भ करोति हि ॥५०॥
मासि मासि विवर्त गर्भेण्या गर्भलक्षण् ।
कललं जायते तस्य वर्जितं पैतृकर्मणः ॥५१॥

(विकृतगर्भोत्पत्ति) परन्तु यदि शुक्रजाता सी स्वप्न में मैथुन का अनुभव करे तो बायु आर्तव को गर्भांशय में ले जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥५०॥ (इस प्रकार की) गर्भिणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास बढ़ते जाने हैं, (परन्तु) उसका (वह गर्भ) पिण्डगुणविहित (केवल) कलं बनता है ॥

बत्तव्य—स्वप्न में मैथुनमालवेद—पुरुषसमागम के समय तथा समागम का चिन्तन करने से जैसे छियों की योनि गर्भांशय से शुक्रजाव होता है, वैसे हा स्वप्न में मैथुन का दृश्य देखने पर पुरुषों के समान छियों में भी योगिनगर्भांशय से शुक्रजाव होता है—

Inquiries into the lives of girls reveal numerous incidents of orgastic dreams resulting, probably, in secretions from cervix and other parts, such as seen in normal intercourse. *Re die of sex*

गर्भलक्षण—आर्तव का बंद होना, प्रातर्वंमन इत्यादि जो तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र में वर्णन किये हैं। पैठकैयुही—गर्भ में केश, श्यश्रु, नल, अस्थि, सिरास्नायु इत्यादि धातु पिता से उत्पन्न होते हैं, तीसरे अध्याय का ४२वाँ सूत्र देखें। इन धातुओं से विरहित गर्भ उत्पन्न होता है।

इन श्लोकों के भी पिङ्गले श्लोकों के अनुसार दो अर्थ कर सकते हैं। (१) श्ली के आतंडे के साथ स्वप्न में मैथुन कर्म अनुभव करने पर उपचार हुए थी के शुक्र का संयोग गर्भोत्पत्ति के लिए धृथास नहीं है, इसका विचार पिङ्गले श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अतएव इन श्लोकों को अतार्पय या प्रसिद्ध मानना। सुकृत के प्राचीन दीक्षाकार दीक्षाचार्य इन श्लोकों को नहीं पढ़ते हैं—ऐसी द्वावनि इसकी जटिलाचार्यता न बढ़ावनी । (दलहणीका)। (२) अथवा अस्थि धातु इत्यादि से विरहित विहृत गर्भ की उत्पत्ति के लिए विशाहित श्ली का स्वप्नमैथुन कारण मानना। पूर्वार्प सदर्भ से दूसरा अर्थ प्रशस्त है।

कुमों से मनुष्यों को पराहृत करने के लिये प्रत्येक शाश्वत अपने अधिकारात्मक उसका खाराव फल बतलाता है। तैसे—अर्थात् ऊरुकम के लिए दण्ड होता है, घनमत्तु प्रायश्चित्त या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्याश्रव इमी जन्म में रोगोत्पत्ति या सतति में रोगोत्पत्ति बतलाता है। तैसे—प्रानश्चाणियापाद श्याम शश्रु उत्पन्न करियाय । (पूर्वोत्तम)। लिंगमयोनी गच्छत् पूर्वस्त्रासदण्ड, पुरुषमपिमेवदथ । (बीटिलीय अर्थशास्त्र)। मण्डपीसज्जनवधरवद्वरणादिति । वस्त्रि पाप रोगस्य प्राप्तु उद्दर्श सम्बन्ध ॥ (सुधृत)। इस श्लोक से रक्षगुल का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निश्च कारणों से यह अर्थ अध्यार्थ मालम पक्षता है—(१) पूर्वार्प सदर्भ से ये श्लोक गर्भ की विहृत के सम्बन्ध में हिते रखे हैं। रक्षगुल गर्भ की विहृत नहीं है, गर्भांशय की विहृत है, जिसमें गर्भ के समान दृश्य होते हैं—प्रानश्चाणिय । (२) चारक, सुधृत, वामपट तथा आयुर्वेद के अन्य श्लोकों

में रक्षगुल के कारणों में स्वप्नमैथुन का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। (३) यदि ग्रथकार इससे रक्षगुल समझता तो उचरतन्त्र में जहाँ पर इसका विवरण किया गया है, वहाँ का उल्लेख यहाँ पर कर देता, जैसे कि पारिवारिक कार के बारे में किया गया है—न चेतरधारवद्वा परिजावेद, वस्त्र विसागो न्यव (उत्तरस्थाने चारपाकविधि अध्याय)

सर्पनुवृथिकुप्पाण्डविहृतादृतयश्च ये ।

गर्भस्वेते लियाद्यैव वेयाः पापहृता भृशम् ॥ ५२ ॥

गर्भा वातप्रकोपेण दौहृदे वायमानिते ।

भवेत् कुञ्जं कुणि... पशुर्मूको मिन्मिन एव च ॥५३॥

मातापिनोस्तु नास्तिस्त्यादशुभैश्च पुरुषतः ।

यातादीनां च कोपेन गर्भा विहृतिमान्युयात् ॥५४॥

(गर्भ की विहृतियाँ और उनके हेतु—) सर्प, शूद्रिकूप्पाण्ड (इत्यादि के समान) विहृताकारी जो छियों गर्भ (होते हैं), वै अकरसर पाप कर्मों से (होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥५२॥) वातप्रकोप से, अथवा दीहृद व अदमानना करने से गर्भ कुबड़ा, कुणि (जिसका हाथ विक्षया खराब हो गया है ऐसा), पशु (लंगादा या विहृत पैका), शूद्र (शूद्रा), अथवा मिन्मिन (जिसका उचारा नामा में होता है ऐसा, सातुनासिक वाक) होता है ॥५३॥ माता पिनोस्तु नास्तिस्त्यादशुभैश्च पुरुषतः से और वातादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भ विहृति को प्राणुगा करता है ॥५४॥

बत्तव्य—सप्तवृथिकादि—इससे सर्प धृशिकादि व अर्थ न करना चाहिए। मनुष्योनि में जन्म लेकर जिनक शीर मुत्तु वी वास्तविक आकृति से भिज जाता है, ऐसे विहृताकारी गर्भ इस शब्दावयोग से अभिभ्रेत हैं विहृताकृतय—गर्भ में जो अनेक विहृताकार दिलाई देते हैं वे श्लोकों की अविहृदि, अवृद्धि और अवृष्टिं इन कारणों से होते हैं । ये विहृताकार Anomalies of foetal developments or Congenital malformations बहलाते हैं। इनमें कटा होता, कटी तालु, टेप पैर, विहृत हस्त अंगुलियों का अधिक, कम या संकुप होना, उनका अभाव, गुदा या स्वप्नदार का न होना, सिर का बड़ा होना, मस्ति व्यवरण और सुउडाग्राम की अधियाँ । (See nomencl.) इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं। इनमें से विशेष प्रवार की विहृताकारता को Monstrosity या Teratia वहते हैं और विहृतगर्भ को Monsters (रास्त) बहते हैं। सर्पादि उत्तराहरण हस्ती वर्ण के हैं। आड़ुनिक काल में इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(अ) रुक्तारुप (Single monomers)—इसमें केवल एक ही गर्भ की विहृतियाँ आती हैं। इनके स्तर विमाण विशेष हैं—(१) नाभिगिरी Omphaliosis—इनमें नाभि द्वारा नाभि के नीचे के लंबों का पोषण होता है, परन्तु दृश्य विर इत्यादि उपर के लंबों का पोषण नहीं होता । कभी कभी मृदुप्रिष्ठ के समान यह अनस्त्रिय और निराकारी (An dismal) भी होता है। इस प्रकार के हृदयहीन (Acardio) गर्भ एकविजोत्पत्ति त्रुम गर्भों में

कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं । (२) प्रात्मजीवी (Auto-soul)—इसमें नाभिनाडी द्वारा प्रारम्भ में सभी अंगों की धृष्टि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी अंग की धृष्टि रुक जाती है । जैसे—किसी में अध्यात्मा या ऋध्यशास्त्रा की धृष्टि ठीक नहीं होती, वह शास्त्रविकारी (Terra omnia-lingu) कहलाता है; किसी में शास्त्राणु संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल ठीक नहीं बनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में खोपड़ी या मस्तिष्क की धृष्टि ठीक नहीं होती या विलक्षण नहीं होती, उसे शीरपिंडिकारी (Terato encephalians) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Terato cophilians) कहलाता है । (३) परोपजीवी (Parasito —इसमें नाभिनाडी भी नहीं होती । ये केवल निराकारी ल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर चाँदे की ह चिपककर उसी से रस ग्रहण किया करते हैं । इलिए ये परोपजीवी कहलाते हैं ।

(चा) सयुक्ताकात Double monsters—इसमें गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं । इसके निम्न विभाग किये वे हैं—(१) तुम्ह आत्मजीवी (Double auto-life)—इसमें दो पूर्ण गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं Terato pugnans —यथा नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक होकर ऊपर का जुड़ा होता (Terodelphian) है; या दोनों के शीर्ष पृथक होकर ए अंग जुड़ा रहता (Terotodymos) है । (२) गतपरोपजीवी (Auto-parasito —इसमें परोपजीवी गर्भ दूसरे गर्भ पर जुड़ा रहता है । जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे के केवल हाथ पैर जुड़े रहते हैं, या एक के ऊपर में दूसरा गर्भ मिलता है । दो जुड़े हुए गर्भ प्रायः एकदीजात्मक ही गाँयों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते हैं । पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

विक्रान्तिं गर्भ की उत्पत्ति के कारण—पाश्रात्य वैद्यक में गर्भ की जन्मज विक्रान्ति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये हैं । आयुर्वेद में इसके छुः कारण बताये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है । (१) पापकर्म—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण, तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म । माता पिता के पापाचरण में खियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन हृत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं । (२) वीजदोष—इसमें माता के वीज का तथा पिता के शुक्राण के दोषों का समावेश होता है । (३) गर्भशयदोष—फिरंग, सोजाक, गर्भशययोग, प्रदर हृत्यादि विकार हसमें आते हैं । (४) माता के आहार-विहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात के आहार-विहार का समावेश होता है । तत्पूर्व के आहार-विहार के दोषों का समावेश नं० २ और ३ में होता है । (५) माता के श्रद्धाविवाह का तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धाविवाह का विवरण सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय के खंड सूत्र के वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ १९०—१९१) में किया गया है । इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना

चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है । धर्मशास्त्र और परमार्थ की दृष्टि से 'आस्तिक्यं धृष्टधानवा परमार्थवागमार्थेषु' इस प्रकार आस्तिक्य की व्याख्या की गई है । इसकी विलक्षण अवस्था को नास्तिकता कहते हैं—'प्रास्तिक्यं धृष्टधानवा ग्रायुवेंदोपदशेषु' और इसकी विलक्षण अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं । जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही ज्ञायुवेंद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है । एक वार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के घारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य-ग्रासि के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल तुरन्त मिलता है । वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है । गर्भाधान के पूर्व बताये हुए नियमों की मातापिता को क्या आवश्यकता है ? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है ? गर्भिणी को आहार-विहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है ? हृत्यादि । इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहार-विहार करते हैं, जिससे बातादि दोष प्रकुपित होकर गर्भ की स्वाभाविक धृष्टि में बाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं । (५) कानदोष—काल से माता-पिता की आयु, समागमकाल, गर्भधारणकाल तीनों का बोध होता है, और माता-पिता का अतिवाल या अतिधृष्ट होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भधारण होना, निपिद्ध समय में मैथुन करना, अशुभ काल पर गर्भाधान होना हृत्यादि वातों का समावेश काल के दोषों में होता है । याज्ञवल्क्यस्मृति और चरक में ये ही दोष बतलाये गये हैं—गालकमीत्सवीजानां दोषै-मातुस्तैर्यैव च । गर्भस्थ वैकृतं दृष्टमद्वीनादि जन्मतः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३१६६) । वीजात्मकमीत्सवीयकालदोषै मातुस्तथाहारविहार-दोषै । कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियैकृतानि । वर्णात् कायाशमनामृतवेगास्तरोः सरित्स्ववसि संस्थितस्य । यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्थ कुक्तो नियतस्य दोषाः ॥ (शास्त्रीर २) ।

मलात्पत्त्वाद्योगाच्च वायोः पकाशयस्य च ।

वातं मूत्रपुरीयाणि न गर्भस्यः करोति हि ॥५५॥

(गर्भविस्था में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पकाशय की आयु के अयोग से गर्भ-शयस्य (वालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है ॥५६॥

वक्तव्य—मलात्पत्त्वाद्—गर्भशयस्थ वालक के पचन और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं । श्वसन के अकार्यकारित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है । पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह मुख द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है । गर्भस्थ वालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है । इसलिए पकाशय में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अजानस्य साक्षात्क्रापानामुप्रवेशादसततत्वाच्च रसस्य गर्भस्थ स्तूजमलासंभवः । (अट्टांगसंग्रह) । परन्तु आन्त्र की क्षेप्त्रमल कला की दूरी फूटी कोशाँ (सेले) इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है । वित्त के कारण इसका वर्ण हरी काला सा रहता है । वित्त के कारण इसका वर्ण हरी काला सा रहता है ।

आर्तय यायुरादाय कुद्रो गर्भं करीति हि ॥५०॥
मानि मासि विवर्जत गर्भेण्या गर्भलक्षण् ।
पतलं जापते तस्या धजित् पैतृगुणेण ॥५१॥

(विहृतगर्भेत्वत्ति) परन्तु यदि अनुवाना स्त्री स्वप्न में मैथुन का अनुभव करे तो यापु आर्तय को गर्भाशय में से जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥५०॥ (इस प्रकार की) गर्भाणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास वर्तते जाते हैं, (परन्तु) उसका (वह भाग) पिण्डगविहित (केवल) कल्पन बनता है ॥

वक्तव्य—उमेर मैथुनमार्दव—सुरक्षमानम के समय तथा समानम का चिन्तन करने से जैने खियों की योनि गर्भाशय से शुक्राव दोता है, वैसे ही स्वप्न में मैथुन का दृश्य देखने पर युर्पों के समान खियों में भी योनिगर्भाशय से शुक्राव दोता है—

Inquiries into the lives of girls reveal numerous incidents of orgiastic dreams resulting, probably, in secretions from cervix and other parts, such as seen in normal intercourse & life of sex.

गर्भनवय—आर्तव का वैद होना, ग्रावर्बमन इत्यादि जो तीसरे अध्याय के १२वें सूत्र में वर्णन किये हैं। पैतृगुणे—गर्भ में केश, रम्फु, नख, अस्ति, सिरास्तायु इत्यादि धातु पिता से उत्पन्न होते हैं; तीसरे अध्याय का ४२वां सूत्र देखो। इन धातुओं से विवरित गर्भ उत्पन्न होता है।

इन शोकों के भी विवृले स्त्रोकों के अनुसार दो अर्थ कर सकते हैं। (१) शी के आर्तव के साथ स्वप्न में मैथुन कर्म अनुभव करने पर उत्पन्न हुए स्त्री के शुक्र का सयोग गर्भेत्वाद्यन के लिए यांत्रं नहीं है, इसका विचार विवृले शोक के वक्तव्य में किया गया है। अतएव इन शोकों को अनार्थं या प्रदिष्ट सामना। सुश्रुत के ग्राचीन टोकाकार जेजाटाचार्य इन शोकों का नहीं पढ़ते हैं—दोमो द्वावपि इतोरो जेजाटाचार्येण न पठन्ति । (दल्हणटीका) । (२) अथवा अस्ति आयु इत्यादि से विवरित विहृत गर्भ की उत्पत्ति के लिए विवाहित शी का स्वप्नमैथुन कारण मानना। पूर्वापर संदर्भ से दूसरा अर्थ प्रशस्त है।

कुकमों से मनुष्यों को परापृत करने के लिये प्रत्येक दाढ़ अपने अधिकाराद्युसर उसका स्त्राव कल बतलाता है। जैसे—अर्थशास्त्र कुकमं के लिए दृढ़ देता है, धर्मशास्त्र प्रायश्चित या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्यसाङ्ग इसी जन्म में रोगोत्पत्ति या स्त्राति में रोगोत्पत्ति बतलाता है। जैसे—अनास्त्वायागिपद स्त्राव श्रम्भूत संतुष्टावग । (धृतीरत्म) । विश्वमयोनी गच्छत् पूर्वस्त्रावस्त्रिष्ठ, पुरुषमविभृतय । (कौटिलीय अर्थात्स्त्र) । ब्राह्मीसञ्जनवपरवृद्धादिभि । वसनि पाप-रोगप्राणु दृश्यव समवर्त् ॥ (सुश्रुत) । इस शोक से रक्षुलम का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निश्च कारणों से यह अर्थ अध्याये मालाम पढ़ता है—(१) पूर्वापर संदर्भ से ये शोक गर्भ की विहृति के सम्बन्ध में हिते गये हैं। रक्षुलम गर्भ की विहृति नहीं है, गर्भाशय की विहृति है, जिसमें गर्भ के समान लक्षण होते हैं—सप्तगर्भलिङ्ग । (२) चक्र, सुश्रुत, वामपट तथा आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों

में रक्षुलम के कारणों में स्वप्नमैथुन का उल्लेख कही भी नहीं मिलता है। (३) यदि अधिकार इसमें रक्षुलम समझता तो उत्तरतन्त्र में जहाँ पर इसका विवरण किया गया है, वहाँ का उल्लेख यहाँ पर कर देता, जैसे कि पानीष-चार के बारे में किया गया है—न वैतरादरात्मा परित्यात्मै, वत्य विलारोऽप्य (उत्तरस्याने धाराकविधि अध्याय)

सर्पं गृथिकृपाण्डिष्टात्तयथ ये ।

गर्भांस्त्वेते वियाद्यै देयाः पापट्टा भृशम् ॥५२॥ गर्भों यात्रप्रकोपेण दौड़दे यामानिते ।

मवेत् कुञ्जः कुणिः पहुर्मूर्को मिन्मिन पर च ॥५३॥ मातापिनोस्तु नास्तिक्यादशुमैथु पुराणतैः ।

वातादीनां च कोपेन गर्भों विहृतिमाच्युतात् ॥५४॥

(गर्भ की विहृतियाँ और उनके हेतु—) सर्पं शृष्टि शृपाण्ड (इत्यादि के समान) विहृताकारी जो खियों गर्भ (होते हैं), वे अक्सर पाप कर्मों से (होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥५॥) यात्रप्रकोप से, अथवा दौड़दे वै अवमानना करने से यां गर्भं कुवडा, कुणि (जिसका हाथ विकर या स्त्राव हो गया है ऐसा), पहुँ (लंगाया वा विकृत पै का), मूर्क (गैंगा), अथवा मिन्मिन (जिसका उचार नामा में होता है ऐसा, सानुलासिक वाक्) होता है ॥५३॥ माता पिता की नास्तिक्या से पूर्वन्मध्यत अशुभ कर्म से और वानादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भं विहृति को प्रहुआ करता है ॥५४॥

वक्तव्य—पर्वद्विधादि—इससे सर्पं शृष्टिकादि का अर्थ न करना चाहिए। मनुष्ययोनि में जन्म लेकर जितका शारीर भूम्य की वास्तविक आहति से मिल होता है, एसे विहृताकारी गर्भं इस शब्दप्रयोग से अभिप्रेत है ।

विहृताकारी—गर्भ में जो अनेक विहृताकार इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं । इनमें से विशेष प्रकार चैंडी की अतिवृद्धि, अचूटि और अर्धचूटि इन कारणों से होते हैं । ये विहृताकार Anomalies of foetal development or Congenital malformations कहलाते हैं । इसमें कटा होने, फटी तालु, टेटा पैर, विहृत हृत, अंगुष्ठियों का अधिक, कम या संयुक्त होना, उनका अभाव, गुणा या सूबद्वार का न होना, सिर का बड़ा होना, मरित प्लावरण और सुशुप्तावरण की अधियाँ (Merengocoe) इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं । इनमें से विशेष प्रकार चैंडी की विहृताकारता को Monstrosity या Teratosis कहते हैं और विहृताकारी को Mons ore (राहस) कहते हैं । सर्पादि उदाहरण इसी कार्य के हैं । आशुकिक काल में इनका वर्गीकरण निश्च प्रकार से किया गया है—

(अ) श्वेतकारत (Single monotony)—इसमें केवल एक ही गर्भ की विहृतियाँ आती हैं। इनके तीन विभाग दिये हैं—(१) नाभिजीवी Omphalosito—इसमें नाभि नाई द्वारा नाभि के नीचे के अंगों का पोषण होता है, परन्तु हृदय सिर इत्यादि ऊपर के अंगों का पोषण नहीं होता । कभी कभी शृदुषिण के समान यह अवस्थि और निराकारी (Anidius) भी होता है । इस प्रकार के हृदयहीन (Acardiac) गर्भं एकवीजोत्पत्ति सुरु गर्भों में

कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं । (२) आत्मजीवी (Autonome)—इसमें नाभिनादी हारा प्रारम्भ में सभी धन्गों की धृदि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी धन्ग की धृदि रुक जाती है । जैसे—किसी में वैधानिक शास्त्रात्मा या ऊर्ध्वात्मा की धृदि टीक नहीं होती, वह शास्त्रविकारी (Tora omnianus) कहलाता है; किसी में शास्त्राएँ संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल टीक नहीं चनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में शोपड़ी या मस्तिष्क की धृदि टीक नहीं होती या विलक्षुल नहीं होता, उसे शोपविकारी (Porato encephalitus) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Toronto cophiliensis) कहलाता है । (३) परोपजीवी (Parasito)—इनमें नाभिनादी भी नहीं होती । ये केवल निराकारी कहल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर चांदे की तरह चिपककर उसी से रस ग्रहण करते हैं । इन्हिन् ये परोपजीवी कहलाते हैं ।

(बा) सयुक्तरादात्—Double monsters—इसमें गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं । इसके निम्न विभाग किये गये हैं—(१) उग्र आत्मजीवी (Ondole auto-ite)—इसमें दो गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं Terato pagrius—या नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक होकर ऊपर का जुड़ा ता (Teradelphian) है; या दोनों के शीर्ष पृथक होकर २ धन्ग जुड़ा रहता (Tornotomes) है । (२) अपरोपजीवी (Auto parasito)—इसमें परोपजीवी गर्भ दूसरे गर्भ पर जुड़ा रहता है । जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे केवल हाथ पर जुड़े रहते हैं, या एक के उटर में सुरा गर्भ मिलता है । दो जुड़े हुए गर्भ ग्रायः एकत्रीजातक गर्भों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते । पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

विकृनकृति गर्भ की उत्पत्ति के लारण—प्रश्नात्मा वैद्यक में भी की जन्मज विकृति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये गये हैं । आयुर्वेद में इसके छः कारण चताये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है । (१) पापकर्त—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण, तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म । माता पिता के पापाचरण में स्त्रियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन इत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं । (२) बीजदोष—इसमें माता के बीज का तथा पिता के शुक्राण के दोषों का समावेश होता है । (३) गर्भायोदय—फिरंग, सोजाक, गर्भाशयशोथ, प्रदर इत्यादि विकार इसमें आते हैं । (४) माता के आहारनविहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात् के आहारनविहार का समावेश होता है । तत्पूर्व के आहारनविहार के दोषों का समावेश न० २ और ३ में होता है । (५) माता के श्रद्धाविधात वा तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धाविधात का विवरण सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय के खंड सूत्र के वक्तव्य (प्रथमसृष्टि पृष्ठ १९०-१९१) में किया गया है । इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना

चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है । धर्मशास्त्र और परमार्थ की इष्टि से ‘प्रास्तिक्यं श्रद्धाननदा परतायेवागमार्घेषु’ इस प्रकार आस्तिक्य की व्याख्या की गई है । इसकी विस्तृद अवस्था को नास्तिकता कहते हैं । वैद्यकीय इष्टि से इसकी व्याख्या निम्न प्रकार कर सकते हैं—‘प्रास्तिक्यं श्रद्धाननदा तायुवंशीपदेशेषु’ और इसकी विस्तृद अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं । जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही आयुर्वेद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है । एक चार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के बारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य-प्राप्ति के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल उत्तर मिलता है । वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है । गर्भाधान के पूर्व वताये हुए नियमों की माता-पिता को क्या आवश्यकता है ? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है ? गर्भिणी को आहारनविहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है ? इत्यादि । इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहारनविहार करते हैं, जिससे चातादि दोष प्रकृष्टि होकर गर्भ की स्वाभाविक धृदि में वाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं । (५) कालदोष—काल से माता-पिता की आयु, समागमकाल, गर्भाधारणकाल तीनों का दोष होता है, और माता-पिता का अतिवाल या अतिवृद्ध होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भाधारण होना, निपिद्ध समय में मैथुन करना, अयुभ काल पर गर्भाधान होना इत्यादि वातों का समावेश काल के दोषों में होता है । याज्ञवल्यस्मृति और चरक में ये ही दोष वतलाये गये हैं—कालकर्मात्मवीजानां दोषैः मौतुस्तैव च । गर्भस्थ वैकृतं इष्टमद्दीनादि जन्मतः ॥ (याज्ञवल्यस्मृति ३१६६) । वीजात्मकर्मात्मवीजालदीपै मौतुस्तथाहारविहार-दोषैः । कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेण्ड्रियवैकृतानि । वर्णसु काषायमधनान्मुवेगास्तरोः सरित्वोत्सिं संस्थितस्य । यथैव कुर्याद्विकृतिं तथैव गर्भस्थ कुक्षी विश्वतस्य दोषाः ॥ (शारीर २) ।

मलात्पत्त्वाद्योगाच्च वायोः पकाशयस्य च । वातं मूत्रपुरीपाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५५॥

(गर्भाशयस्थ में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पकाशय की आयु के अयोग से गर्भाशयस्थ (वालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है ॥५६॥

वक्तव्य—मलात्पत्त्वात्—गर्भाशयस्थ वालक के पचन और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं । श्वसन के अकार्यकरित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है । पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह मुख द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है । गर्भस्थ वालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है । इसलिए पकाशय में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अजावस्थ साक्षात्क्रान्तानुप्रवेशादमलत्वाच्च रसस्य गर्भस्थ श्वृजमलासंभवः । (अष्टांगसंग्रह) । परन्तु आन्त्र की श्वेष्मल कला की दृष्टी फूटी कोशाएँ (सेले) इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है । पिच के काम्प इसका वर्ण हांग काला सा रहता

है। कमी कमी गर्भोदक के पीने से, जिसमें व्यवा की कोशार्दृं और बाल रहते हैं, उसमें व्यवा की कोशार्दृं और बाल भी मिलते हैं। इस मल का उत्सर्ग प्राय जन्म के पश्चात् हुआ करता है। छचिद् जन्म के पूर्व गर्भोदक में इसका उत्सर्ग होता है। गर्भस्थ शिशु के पश्चात्य में मिलने वाला यह मल रग में व्यक्ति के समान होने के कारण मेंटोनिअम (Meconatum) कहलाता है। अयामाच वायो पक्षायवर्द—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) वायु—जघोवान। इसकी उत्पत्ति पक्षायवर्द मल के सड़ने से होती है। गर्भस्थ वालक में मलामाव होने से अयोवायु का भी अभाव होता है। इसलिए इस पक्षायवर्द का अर्थ 'पक्षायवर्द अयोवायु' के असभव से' पेसा कर सकते हैं। (२) किंवा पक्षायवायु से अपानवायु भी समझ सकते हैं, जो मल मूत्रादि के उल्लंग का काम करता है—पक्षायनलदोडान काले कार्यत लायवर्। समीराय शुकून्मूरुम गर्भोदायवर् ॥ भूत्यशरीर का कार्य सुचाह रूप से चलने के लिए उसमें मस्तिष्कनादीस्थान, भृत्यनस्थान, पाचनस्थान, रक्तवहस्थान इत्यादि कई स्थान बनाये रखे हैं। इनमें से रक्तवहस्थान माता के रक्तवहस्थान के सहयोग से गर्भ के पोषण का कार्य किया करता है। शेष स्थान कार्य करने के लिए, वस्तु या विषय न होने के कारण अकार्यवर्द होते हैं। इस दृष्टि से 'पक्षायवर्द अयोवोगाच' इसका अर्थ 'अपानवायु की अकार्यवर्तिता से' कर सकते हैं। अपानवायु का कार्य मलमूरु अपानवायु को नीचे उल्लंगित करने का है। यह अपानवायु अकार्यवर्द होने के कारण गर्भस्थ शिशु, मूत्रादि और अयोवायु का उल्लंग नहीं करता है। मूत्र न करो—गर्भ का रक्तवहस्थान वार्य करता है। माता से शुद्ध रक्त आना है और गर्भ के शरीर में जो अशुद्ध रक्त बनता है, वह फिर माता के शरीर में जाकर शुद्ध होता है। शरीर में रक्त की शुद्धि व्यवा, कुरुकुस और धूक इन तीन लोगों से होती है। गर्भस्थ शिशु की व्यवा और कुरुकुस अकार्यवर्द होते हैं, परन्तु धूक में रक्त की दृढ़ शुद्धि होकर मूत्र बनता है और उसका उत्सर्ग भी गर्भोदक में होता है क्योंकि यह देखा गया है कि पांचवें सप्ताह से प्रसूति के समय तक गर्भोदक में मिह (Ureus) की दृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और उसमें गर्भ के मूत्र में मिलने वाले द्रवण भी मिलते हैं—

The gradual increase in the amount of urea present up to its maximum at full time has been taken as an indication that the foetus urinates in utero. Further, the salts found in the amniotic fluid are very similar to those commonly present in foetal urine. Ten Teacher's Midwifery

इस धूक का तापर्य इन्होंने ही समझना कि जन्म के पश्चात् जैसे मामूल का उल्लंग होता रहता है, उम प्रकार जन्म के पूर्ण नहीं होता है।

जरायुला मुप्र च्छ्यं कण्ठे च वर्जयेति ।

यायोमार्गिनोद्यायन न गर्भस्थ प्रयोदिति ॥५६॥

जरायुला के द्वारा मुप्र इका हुआ होने के कारण, कह से कण्ठ लिप्त होने के कारण भी वायु के मार्ग में रक्षाकृ होने के कारण गर्भस्थ शिशु होता नहीं ॥५६॥

वक्तव्य—जरायु—गर्भ के आधरण (Foetal membranes) । जो वालक जन्म होते ही बड़े जोर से चिह्नित है, वह जन्म के पूर्व माता की कुण्डि में क्यों नहीं रोता इसके कारण इस श्लोक में वर्णन किये हैं। वर्णे च कण्ठे वालक के मुख और कण्ठ में सेप्ता जहर उपस्थित होता है। यदि वालक स्वस्थ हो तो वह माता की सुरुचि और सुखकर कुण्डि से बाहर आने पर जोर से रोता है। रदन शास्त्रप्रशास किया का प्रारम्भ है। कभी कभी श्लोक की राशि अधिक होती है, जिससे वालक की शास लेने तथा रोने में कठिनाई होती है। इसलिए जन्म होते। वालक का मुख और कण्ठ हृद के काया से साफ करने लिए कहा गया है—यथात् दालोषिज्ञाप्रामार्जनारेति डग्लुसा मुप्रतिलिपिनवद्या मुप्रभानिपोषानवार्पनविजुमत्ता (चरक) । १०वें अध्याय का ११वाँ सूत्र और उसके वक्तव्य देखो ।

नि श्वासोच्छ्वाससहोभस्वप्रान् गर्भोऽधिगच्छनि ।
मातुनिव्यसितोच्छ्वाससहोभस्वप्रामसमधान् ॥५७॥

माता के निधास, उच्छ्वास, संचोभ तथा स्वर उत्तम हुए निधास, उच्छ्वास, संचोभ और स्वरों को ग्राप होता है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिभाव यह है कि उत्तक वालक माता के उदर में होता है, तब उत्तक वह माता और शरीर के एक लंग के समान होता है और माता के प्रदेश भले या उत्ते कर्म का परिणाम जैसे उसके शरीर पर होते हैं, वैसे ही गर्भ के ऊपर भी होता है। माता जब शायो उच्छ्वास करती है, तब उसके रक्त वीं शुद्धि होती है और उसके साथ साय गर्भ के रक्त वीं शुद्धि होती है। माता जब सोती है, तब उसके शरीर के साथ साय गर्भ को भी आराम मिलता है। माता जब भोजन खरती है, तब उसके शरीर के पोषण के साथ गर्भ की भी पोषण होता है। माता जब सेंदुर्य होती है, तब उसके शरीर पर जो दुरुपीण होता है वही परिणाम गर्भ पर भी होता है। सेंदुर्य में गर्भ के प्रत्येक कर्म के साथ साय गर्भ भी वही कर्म बरता है जान प्रदत्ता है। इसलिए यही गर्भ पर भी होता है। मोता है, न धूक देता है, धूक देता है, न धूक देता है । नि श्वासोच्छ्वाससहोभस्वप्रान् भीतर सौंप देता है। साथ मानसिक प्रयोगदि विकार । ये सब उपलब्ध हैं। इन प्रयोग के शारीरिक और मानसिक वियांत्रों का योग होता है तीसरे अध्याय के ११वें श्लोक का पक्ष भी देखो ।

सप्तिवेशः शरीराण् दन्तानां पतनोद्देश्यै ।

तत्त्वेवसंमयो यथा रोमणादेतत् स्वभागतः ॥५८॥

दाँतों का सप्तिवेश, दाँतों का गिरना और देह होना दृष्टें और तनुवें में धातों का न होना यह स्वभाव से होता है ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—उत्तिरोद—याद और भीतरी रक्षा । माना में अनन्त प्रकार के शारीरिकों जीव होते हैं और उन्हें शरीर का संविकाश भिन्न भिन्न होता है, जिसमें एक प्रकार का जीव दूसरे प्रकार के जीव से पद्धताना जाता है। १०वें

पतनोद्भवौ—दाँतों का द्विजत्व । एक बार उत्पन्न हुए दाँतों का गिरना और फिर से उत्पन्न होना । तलेशु—हस्तपादतलेशु ।

प्रत्येक प्रकार की बनस्पति से उसी प्रकार की बनस्पति की उत्पत्ति, प्रत्येक प्रकार के प्राणी से उसी प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति, मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति, माता के उदर में मासानुमासिक गर्भ की धृद्धि, दस ही महीने में पूर्ण धृद्धि होकर जन्म होना, युवावस्था में पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति, स्त्रियों में मासिक रजःप्रवृत्ति, स्तनवृद्धि, पुरुषों में डाढ़ी मूँछें उत्पन्न होना, स्त्रियों में न होना, घृद्वावस्था में रजो-निवृत्ति, मृत्यु इस प्रकार के संसार के असंख्य कार्य स्वभावानुसार होते जाते हैं । आधुनिक विज्ञान इन असंख्य कार्यों के लिए कितने ही कारण क्यों न खोज लें; एक अवस्था ऐसी आती है, जिसके लिए कारण देना मुश्किल होता है और अन्त में स्वभाव की ओर अंगुलि निंदेश करना पड़ता है । प्रथमखण्ड के ३६३—३६४ पृष्ठों पर ‘कालस्य परिणामेन मुक्तं कृनाद् यथा फलम् । प्रपञ्चे स्वभावेन नान्यथा पवित्रुं ध्रुवम् ॥

इसका तथा १०वें अध्याय के १४वें श्लोक का वक्तव्य देखो । वभाव कारणों का कारण है, जिसके अनुसार सृष्टि का त्येक कार्य हो रहा है । इसलिए कुछ लोक ‘स्वभाव’ को ही सृष्टि का आदि कारण मानते हैं—स्वभावमेंके क्षयों विद्वनि कालं तथान्ये परिमुहामानाः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । स्वभाव को अंग्रेजी में नेचर (Nature) कहते हैं । पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रत्येक कार्य का कारण खोजने की कोशिश करते हैं और जहाँ तुद्धि कार्य नहीं कर सकती, वहाँ नेचर पर सौप देते हैं, याने एक दृष्टि से पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वभाववादी हैं । अब यहाँ शरीरादि के सक्रियेश के लिए जैसे स्वभाव कारण माना गया है, वैसे ही पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं—

Ninety percent of our physical and a large percentage of our mental make up are due to hereditary influences. There are different races, different nationalities and different individuals whom we recognize at the first glance. How is this accomplished? It is the secret of heredity, the question is—what is heredity? Heredity is the treasure chest of Nature. Everything is preserved in its repository. *The Riddle of Sex.*

तीसरे अध्याय के ४२वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो ।

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रवृद्धयः ।

भवन्ति सत्त्वभूयिषुः पूर्वजातिस्मरन नराः ॥५५॥

(जातिस्मरता के कारण—) पूर्वजन्मों में (ज्ञान विज्ञानादि) भावित, शास्त्रों (के अनुसार आचरण करने) में तुद्धि रखने वाले और सत्त्वभूयिषु नर जातिस्मर होते हैं ॥५५॥

वक्तव्य—भाविताः—जैसे उचित द्रव्यों की भावना देने से ओपोधि की गुणवृद्धि होकर वह अधिक कार्यकर होता है, वैसे ही उचित ज्ञानविज्ञानसंपन्न शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन स्वभावनाओं से जिनकी गुणवृद्धि हुई है, अर्थात् सुसंस्कृत । **शास्त्रवृद्धि—**शास्त्रान्तर्गत नियमों के ऊपर विश्वास सखकर उनके अनुसार वर्तन करने की तुद्धि

जिनमें है, ऐसे । **पूर्वदेहेषु—**इस जन्म के पहले अनेक जन्मों में । एक जन्म में पुरुष को जो कुछ भी अनुभव होता है, उसके संस्कार मृत्यु के बाद लिंगशरीर के साथ जाते हैं और दूसरे जन्म में आविर्भूत होते हैं । उस जन्म के संस्कार प्रथम जन्म के संस्कारों के साथ मृत्यु के बाद तीसरे शरीर में चले जाते हैं । इस तरह जन्म-जन्मान्तर के संस्कार छकटे होते जाते हैं । यद्यपि शरीर वदलता है तथापि आत्मा और मन के द्वारा सब जन्मों के संस्कारों की परम्परा कायम (अविच्छिन्न) रक्खी जाती है—शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गते । देहादेहान्तरं यति द्वामिवच्छाश्वोऽव्ययः ॥ मनो हि जन्मान्तरसंगतिशम् ॥ (रघुवंश) । स्तपादि स्तप्तप्रभवः प्रतिद्वः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ॥ (चरक शा० २) । मनसो मनस्त इति; पूर्वजन्मन्यव्यवहिते यादृद् मनः, इह जन्मन्यपि तादृगेव मनो भवति । उत्तमं चान्यत्र—जन्म जन्म यदभ्यर्त्तं दानं-मध्ययनं वपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥ (चरक पाणिदत्त) । **पूर्वजातिस्मराः—**पूर्वजन्मवृत्तान्ते स्मरन्ति इति पूर्वजातिस्मराः । पूर्वजन्म का स्मरण जिनको है, ऐसे । जातिस्मरता पूर्वजन्म या पुनर्जन्म के सिद्धान्त के ऊपर अधिष्ठित होती है । यदि पुनर्जन्म केवल कल्पना की सृष्टि हो तो जातिस्मरता का विचार ही करने की आवश्यकता नहीं है । इसलिए प्रथम पुनर्जन्म का थोड़ा सा विचार किया जायगा । पुनर्जन्म भारतीय तत्त्वज्ञान (Philosophy) का मौलिक सिद्धान्त है । शरीर की मृत्यु के साथ शरीरगत आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देह में ग्रास संस्कारों के साथ दूसरे देह में चला जाता है, यह पुनर्जन्म का सूत्र है—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयानि नवानि देही ॥ (भगवद्गीता २१२) । मृतो नष्ट इति प्रोक्तो मन्ये तत्त्वं मृषा क्षसत् । स देशकालान्वरितो भूत्वा भूवादनुभूते ॥ (योगवासिष्ठ ४७६६) । अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरण-मूर्च्छनश्च । विमृत्यु प्राक्तं भावमन्यं पश्यति सुवत् ॥ (द्व०१० ३१) । आशापादशत्रवादा वासनाभावधारिणः । कायात्कायपु-पायान्ति वृत्ताद् वृक्षमिवाण्डजाः ॥ (धाखद्व०२६) । इस्लाम और क्रिश्वियन धर्म में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं है । उनके अनुसार शरीर के साथ आत्मा का भी नाश होता है और वह कथामत के दिन (Dooms day) तक कविस्तान में पड़ा रहता है । यह कथामत की कल्पना विचारी मनुष्य को जँचने लायक नहीं है । परन्तु जब तक अंधश्रद्धा के दिन थे, तब तक लोग इस कल्पना पर विश्वास करते थे । आधुनिक ज्ञानयुक्त विज्ञान के युग में लोक इसकी युक्तायुक्तता पर विचार करने लगे और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पुनर्जन्म की कल्पना न केवल युक्तियुक्त है, अपितु आत्मा की इष्टि से आवश्यक घटना है । माता-पिता से अपत्य की भौतिक शरीर मिलता है तथा कुछ कुलसंचारी (Hereditary) गुणदोष भी मिलते हैं, परन्तु इससे अपत्य के सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक गुणदोषों की उत्पत्ति लगाता मुश्किल होता है । पुनर्जन्म यही एक ऐसी घटना है कि जिसके आधार पर कठिन से कठिन प्रश्नों का भी उत्तर दिया जा सकता है । ये विचार निश्च पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरणों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं—

I am for personal purposes, convinced of the persistence of human existence beyond bodily death. Sir Oliver Lodge We conclude, then, that our death is our birth to a life beyond W Tudor Jones, Reincarnation teaches that soul enters this life, not as a fresh creation, but after a long course of previous existences on this earth and else where. The ancient doctrine of transmigration seems the most rational and most consistent with god's wisdom and goodness E D Walker's Re-incarnation It is not unreasonable conclusion to arrive at that the bodies which parents supply by their own sexual intercourse are tenanted in the first instance by spirits from another world attracted to them by some form of spiritual sympathy and that accordingly the parents of the physical form can not strictly speaking be regarded as the originators of the consciousness which inhabits it. The human germplasm is, even when seen under a microscope hardly distinguishable from that of an animal. Is it to be supposed that it contains within itself the undeveloped powers of a man of genius? Or may we not rather believe that the reincarnating ego possessed these powers before his birth into this world as an inheritance from his past lives? The hypothesis is plausible because it and it alone meets the facts of the case in innumerable instances. *Problem of Rebirth by Hon Ralph Haverley*

पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनुमान और युक्ति के आधार पर सिद्ध करना पड़ता है। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं के बराबर मिलते हैं। यदि ये प्रमाण बहुतायत से मिलते तो पुनर्जन्म की आविष्कृति और उसकी सिद्धि में भारतीय तत्त्वज्ञान की कोई विशेषता नहीं रहती तथा इसलमी और क्रिश्चियन धर्म में कथामन की व्यष्टिना नहीं आती। जातिस्मरता पूर्वजन्म पिछ करने का जिन्दा प्रमाण है। भारतवर्ष के पुराणों में तथा साहित्य-प्रथाओं में जातिस्मरता के कई उदाहरण मिलते हैं। महाकवि वाणी की काम्यमय कादम्बरी की कथा में जातिस्मरता मिलती है। परन्तु आजकल नास्तिकता के कारण इनको कठिन समझते हैं। यात्राय देशों में जातिस्मरता के सम्बन्ध में भी जब खोज होने लगती, तब उन देशों में प्राचीन काल से आयुर्विक काल तक इसके कई उदाहरण मिले। राष्ट्रशाले ने अपनी पुनर्जन्म की उपलक्ष में जातिस्मरता के कई उदाहरण दिये हैं, जिनमें अलेक्जांड्रिना सामोना (Alexandrina Samonia) और निरिया Nv. 1 के उदाहरण वहे अद्भुत और उद्घोषक हैं। भारतवर्ष में हाल में मधुरा की धारादारी का उदाहरण मरण हो गया है। इसमें भी उल्लेख उपर्युक्त उल्लक में है। संचेप में, जातिस्मरता पौराणिक या कविकल्पना नहीं है, एक सिद्ध पन्ना है और जातिस्मर मनुष्य जैसे प्राचीन

काल में थे, वैसे वर्तमान काल में मिलते हैं और भविष्य में भी मिलेंगे, तथा जैसे भारतवर्ष में मिलते थे और मिलते हैं, वैसे सप्तर के अन्य देशों में भी थे और इस समय मिलते हैं।

इस शोक में जातिस्मरता उल्लंघ होने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन किया है। इसमें सत्त्वव्याधान्य विशेष महत्व का गुण है, क्योंकि सत्त्व के द्वारा मोक्ष मिलता है, यात्रवल्लभस्मृति में जातिस्मरता के ये ही कारण बताये हैं—आचारोंपासन बद्धारायेषु विवेकिण। तदन्तर्माननुदान सद्गतिंगिर शुभा ॥ (३१४६)। नारात्ममसा सत्त्वशुद्धिं निश्चान शम । एतेवायै सुदुर सत्त्वयोग्यमुखी भवेत् ॥ (३१९९)। दृष्ट्वस्तुतेष्वद्वानात्सत्त्वयोगात् परिवाशात् । कर्मसा सक्रियाद्य सत्ता योग प्रवर्तते ॥१६०॥ शरीरसंक्षये यथ सन सत्त्वशमीश्वरम् । अविलुप्तमि सम्ब्रजातिस्मरतामियाद् ॥ १६१॥ जातिस्मरता मोक्ष मिलने का एक साधन माना गया है। इस अन्तिम शोक की दीका में विज्ञानेश्वर विख्यते हैं—जातिन्द्रियादुभूतकृमिदीदिनानामर्वामादिमुद्भूतैर्द्वस्मरत्वं प्राप्नुयात् । तत्स्मरणेन च ज्ञानोद्गेतस्तद्विच्छेदकारी मोक्षे प्रवर्तते । मनुस्मृति में भी जातिस्मरता उल्लंघ होने का कारण और उसके पछले ये ही बताये हैं—ज्ञान्यासे सत्तं शोचेन तपसै च । अद्वैतेण च भूताना जाति स्मरनी पौरी कोर ॥४११५४॥ पौरिकी सत्तरज्ञाति श्रद्धावास्त्रने तुरु । श्रद्धा व्यासुन चावलग्ननन्त मुलामुलु ॥ १११ ॥ आज जातिस्म मनुष्यों के जो थोड़े उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, उनके परि शीलन से जातिस्मरता के कारणों का सथा उसके फलों के कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। भविष्य में अधिक उदाहरणों का अन्वेषण करने पर कार्यकारण और कार्यकाल इनके सम्बन्ध में कुछ निर्णय किया जा सकता है।

अब पूर्वजन्म से उत्तरजन्म वा सम्बन्ध बताया जाता है—कर्मणा च दितो येन तदाप्नोति पुनर्मवे ।

अन्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥६०॥

इति सुधुतसंहिता शारीर्स्वाने शुद्धयोग्यिन

शुद्धिशारीर नाम द्विर्योजयाद् ॥२॥

जिस कर्म के कारण (जीव) उन्नर्जन्म में प्रेरित होता है, उसी के अनुसार (उस जन्म में सब कुछ) प्राप्त करता है, और पूर्वजन्म में अन्यास किये हुए जो गुण होते हैं, उन्हीं को (दूसरे जन्म में) धारण करता है ॥६०॥

वक्तव्य—सम्मा—शुभाशुभ, धर्माधर्म, पापपुण्य, राज्य तामस इत्यादि विविध प्रकार के कर्म प्राणी करता है और उन्हीं की भैरवा से वह जन्मान्नमात्र से ऐसा जाता है—शुभाशुभाश्वा कर्मया प्रेरया समन्वये गते । देवोदेहान्तर शारीर कृमिवच्चाक्षात्तद्वय ॥ दृष्ट—तदत्तुरूपम् । जिस कर्म से और प्रेरित होता है, उसी के अनुरूप पछल वह दूसरे जन्म में भोगता है । उत्तम कुल में जन्म, अधिम कुल में जन्म, धर्मादय विद्वानी कुल में जन्म, शारीर, व्यड्य या स्वास्थ्य दीक न होना, विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होना, नाना प्रकार की योनि में प्रवेश इत्यादि काम पूर्वकांमुनासार होते हैं—पूर्व व्याप वक्तव्य ॥ नद्योदीमज्जनवपरवस्त्राणां च । दर्शन पापरोग्यस्त्र प्राप्तु कुष्ठर्य सम्बन्ध ॥ (सुश्रुत) । भवन्ति ये ताह तिद्विदेव रजस्तमस्त्र च कर्मेतु ॥ (चरक, शारीर १) ।

यथा हि भरतो वर्णवर्णयत्यात्मनस्तनुम् । नानारूपाणि कुर्वण्णस्थात्मा कर्मजात्मनः (याज्ञवल्क्यस्मृतिः ३।१६२) । तमेवात्मा तत्त्वकर्मफलोपभोगार्थं कुञ्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यादत्ते ॥ (विज्ञानेश्वर) । अभ्यस्ताः—जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्यवर्तं तपः । तैनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्ते पुनः ॥ उपनिषद् और गीता के निन्द्र वचनों में इसी श्लोक का तत्त्व दिया है—अथ खण्ड क्रतुमयः पुरुषो यथाकृतुरस्मिद्दोके द्वारा भवति तथेतः प्रेत्य भवति स करु कुर्वते ॥ (छांदोग्य ३।१४) । नहि कल्याणशूलकश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति । प्राप्य पुण्यं कृतां लोकानुपित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽपि जायते ॥ (भगवद्गीता ६।४१) । अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमतान् । तत्र तं हुदिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते ततो भूयः संसिद्धौ द्रुतनन्दनः ॥४३॥ पूर्वाभ्यासेन तैनैव हिते शोषिष्य सः ॥४४॥ ये ये वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तमेवैति कौन्तेय सदा तद्वाभावितः ॥ (गीता ३।६) । इति भास्तरशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दोपिकायां सुश्रृतभापाटीकायां शारीरस्थाने शुक्रोणित-शुद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो गर्भावकान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः । पथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से गर्भावकान्ति नामक शारीर का व्याख्यान हरते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥ वक्तव्य—गर्भावकान्ति—अत्र हि शुक्रोणितं गर्भाशय-शमात्मप्रकृतिविकारसंमूच्छितं गर्भं इत्युच्यते, तस्यावकान्तिः, उपगमनमवतरणमिति यावत् गर्भावकान्तिः ॥ (ढल्हण) । गर्भस्यावकान्तिमेलक उत्पत्तिरिति यावत् ॥ (चक्रपाणि) । गर्भस्यावकान्तिरवक्षमणं संप्राप्तिः । यथाऽगर्भो गर्भतां संपद्यत इत्यर्थः । (शश्वदत्त) । अत्र गर्भशब्देन मनःसंयोगान्वेतनेनात्मनाधिष्ठानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते । तस्यावक्षमणं प्राप्तिः स्वल्पतामः । (इन्दु) । गर्भावकान्ति अध्याय के प्रारम्भ में अष्टांगसंग्रह में इन्दु लिखते हैं—पुरुस्य निषेकात् प्रश्नति योग-क्षेमी यथा संभवतः, यथा च मातरि तिष्ठति, यथा च न व्यापद्यते, अन्यापन्नं च यथा सुखं सूक्ष्मे इति प्रदर्शनार्थं संवधयायारभः ॥ इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ का वास्तविक अर्थ शुक्रशोणितसंयोग (Fertilized ovum या embryo) है, और गर्भावकान्ति का अर्थ शुक्रशोणितसंयोगप्रद्विति (Process of the fertilization of ovum) है । तथापि इस अध्याय में, जैसे कि इन्दु ने बताया है, गर्भ की नौ महीने की मासानुमासिक वृद्धि वर्णन की गई है । इसलिए गर्भावकान्ति का अर्थ गर्भपरिवृद्धि (Development of the foetus) समझना चाहिए ।

सौम्यं शुक्रमार्तवमाश्रेयमितरेपामध्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्थयेनुना विशेषेण; परस्परोपकारापर-स्परानुग्रहात्परस्परानुप्रवेशाच्च ॥२॥

शुक्र सौम्य और आर्तव आग्नेय है, परन्तु (भूतों का) आपस में उपकार, अनुग्रह और प्रवेश होने के कारण

(जल और अग्नि के अतिरिक्त) अन्य भूतों का भी इनमें एक विशिष्ट अल्पमात्रा में सान्निध्य होता है ॥२॥

वक्तव्य—सौम्यम्—सोमस्येदं सौम्यम् । सोम से उत्पन्न हुआ अर्थात् जलोत्पन्न । आनन्देय—प्रग्रहिदमान्येयम् । अग्नि से उत्पन्न हुआ अर्थात् तेजोत्पन्न । परन्तु इसी सूत्र में जो विचार-सरणि प्रकट की गई है, उसी के अनुसार जलभूयिष्ठ और तेजोभूयिष्ठ । अग्नुना विशेषण—अल्प परन्तु अनुपेक्षणीय मात्रा में । सान्निध्यम्—उपस्थिति । परस्परोपकारात् इत्यादि—समस्त स्थिति पश्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न हुई है, अर्थात् ये पाचों महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं । परन्तु केवल अग्नुवेश से एक में पाचों का सान्निध्य नहीं हो सकता क्योंकि तेज़ और जल जैसे कुछ भूत परस्पर विरोधी होते हैं, जो आपस में मिलने पर परस्पर नष्ट हो जाते हैं । इस शंका को दूर करने के लिए परस्परानुग्रह और परस्परोपकार ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सत्त्वादि त्रिगुण परस्पर विरोधी होने पर भी ग्रन्थीपत्र (सांख्यकारिका १३) उपकारक और अनुग्राहक होते हैं, जैसे वातात्तदि त्रिदोष सर्प और उसके विष के समान (विषं घोरमहीनिव ॥ चरक, चिं २६) परस्परोपकारी होते हैं, वैसे ही पृथिव्यादि त्रिगुण परस्पर विरोधी होने पर भी सृष्टिवृत्ति के काम में परस्परोपकारी होते हैं । अन्यथा, जैसे चक्रपाणिदत्त ने शक्ता प्रदर्शित की है—तत्कि पात्र-भीतिकद्व्याप्तेभिर्विद्यते तयोर्विरोधात्प्रभावीतिकं द्रव्यं न स्वात्, तोयाद्विगुणतिरेकाद्वाइत्तरसो न स्वात् । —उसके अनुसार स्थिति की उत्पत्ति होना असम्भवनीय हो जाता । इन द्रव्यों में जो भूत अधिक होता है, उसके अनुसार नाम नहीं दिया जाता । जो अल्पमात्रा में होते हैं, उनका नाम नहीं दिया जाता । प्रथम अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य तथा प्रथमखण्ड का पृष्ठ २२८ भी देखो ।

तत्र र्षीपुसयोः संयोगे तेजः शारीराद्वायुरुदीर्घति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमधिप्रतिपद्यते संसूज्यते चार्तवेन ततोऽश्रीषोमसंयोगात् संसूज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते ॥३॥

(मैथुनकर्म—) स्त्री और पुरुष के समागम के समय वायु शरीर से तेज को प्रकट करती है, फिर तेज धूर वायु के सहयोग से व्यारित हुआ शुक्र योनि की ओर चल देता है और आर्तव के साथ (चहाँ) मिलता है; (इस प्रकार आर्तव रूप) अग्नि और (शुक्ररूप) सोम के संयोग से उत्पन्न हुआ वह गर्भ तत्त्वशाल गर्भाशय में आश्रय करता है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में 'योनिमधिप्रतिपद्यते' तक मैथुनकर्म (Phenomena of coitus) वर्णन किया है और शेष भाग में शुक्रार्तवं संयोग (Fertilization of the ovum) और उसका गर्भाशयगमन वर्णन किया है । यही वर्णन भावप्रकाश में कुछ अधिक विस्तार से मिलता है, इसलिए यहाँ दिया जाता है—कठों र्षीपुसयोंगे मकारध्वजवैगतः । मेद्रोयोन्मिसंवर्षपूच्चरीरोभानिलाहतः ॥ पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो द्रावयतेऽथ तत् । वायुमेहनामोर्णं पातयत्यज्ञनाभगेः ॥ तत् संसूत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति । तत्र शुक्रवदायातेनात्मवेन युतं भवेत् ॥ (प्रथमखण्ड) ।

वायु—मैथुनकर्म में यथि पाँचों हन्दियाँ पाँचों हन्दियाँ पर काम करती हैं तथापि स्वर्ण पर त्वगिन्द्रिय अधिक काम करती है, इसलिए मैथुन को स्फर्णसुख कहते हैं—कुरक्षामात्रकपत्राभूमिना इता पद्मभिरेव पद ॥ हेलाक एलिस का भी यही कथन है—

This abbreviated courtship, by which tame scence is secured or heightened even in the repetition of acts of coitus, which have become familiar, is mainly tactile *Psychology of Sex*

त्वचा में वायु की अधिकता होती है—पश्चेत्त्वयितो वायु स्पर्शने च त्वगिन्द्रियम् ॥ (चरक)। इसलिए मेडोनि अभिसर्वप से तथा स्त्री के शरीर के संस्पर्श से वायु उत्तेजित होती है। आुनिक शारीरिकार्य के अनुसार मस्तिष्कस्थान (Nervous system) विशेष काके मस्तिष्क और सुवृक्षा के कामुक केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं। तेज शरीरादाहुल्यीयनि—वायु की उत्तेजना के दो परिणाम होते हैं, पक्ष सर्वदैधिक और दूसरा लैट्रिक। परन्तु ये दोनों परिणाम एक अवस्था के दो रूप हैं। इस अवस्था को 'तेजोदीरण' वह सकते हैं। तेज के उत्तरा, वित्त, अधि, शक्ति, सूर्यि, धृति, जोश, फोर इत्यादि कई अर्थ होते हैं। चक्राणिदाच चरक दीका (चिकित्सा १२१७) में लिखते हैं—तज तेज शब्द पित्तानलसेहरतियतितु भीयो च बतते। परन्तु सब अर्थों में अन्तर्भूत कल्पना एक ही है। यह तेज या उत्पन्ना तभी उत्पन्न हो सकती है, जब आदमी का हृदय वलवान् हो और रक्त गरम हो। मैथुन के समय स्त्री के स्पर्श से तथा मेडोनि अभिसर्वप से जब मन और वात उत्तेजित होते हैं, सब हृदय भी उत्तेजित होता है। उसकी गति शीघ्र और जोरदार होती है। समस्त शरीर में खून का दौरान तेजी से चलता है। चेहरा और आंखें छाल हो जाती हैं। इन का भार बढ़ता है। शरीर में उत्पन्ना मालाम होने लगती है। त्वचागत रक्ताहिनियाँ फैल जाती हैं। पसीना आने लगता है। सांस उठली और तेज हो जाती है, सरेप में शरीर के रोम-सीम में तेज उदीर्ण हो जाता है। यह अवस्था जैसे सर्व शरीर में होती है, वैसे ही शिख में होती है और उसी के कारण शिख अव्यन्त ढड़ हो जाता है। इसकी शुक्कि हितीय अध्याय के ४०५४५ श्लोक के वक्तव्य में वर्णन की गई है। इस अवस्था को तेजोदीरण (Tume scence) कहते हैं। जब यह अवस्था अत्युत्तम कोटि को प्राप्त हो जाती है, तब वात और तेज दोनों के सहयोग से शुक्कि वडे जोर के साथ योनि में फैला जाता है। इस अवस्था को तेजस्तलन (Detumescence) कहते हैं। हेलाक एलिस इन अवस्थाओं के वर्णन में तेज (Fire), फोर (Force) शब्द का ही प्रयोग करते हैं—

Tumescence is the piling on of the fuel, detumescence is the lapsing out of the devouring flame whence is lighted the torch of life to be handed on from generation to generation. In tumescence the organism is slowly wound up and force accumulated; in the act of detumescence the accumulated force is let go, and by its liberation

the sperm bearing instrument is driven home *Psychology of Sex*

शुष्मास्तलन के समय कभी कभी हृदय की गति शौर रक्तमार वेद वृत्ता है, जिससे दुर्वलहृदय और अव्याधित लोगों में मूर्ढ़ा, झींहामेद, अपस्मार, पचायात, मृत्यु भी हो जाते हैं—अपित्व रत्न प्लोहा शुभमूर्ढ़ा च जायने ॥ (सुशुत, चिं २४)। हेलाक एलिस अपनी उत्ताक में लिखते हैं—

Fainting, vomiting have been noted. Epilepsy has not been not infrequently recorded. Lesions of various organs, even rupture of the spleen, have sometimes taken place. In men of mature age the arteries have at times been unable to resist the high blood pressure, and cerebral haemorrhage with paralysis has occurred. In elderly men the excitement of intercourse has sometimes caused death. *Psychology of Sex*

खी में भी पुरुष के समान उपर्युक्त उत्तेजनार्थे उत्पन्न होते हैं—स्त्रील उपर्युक्त वेक्टोरिपि रसयातिर्दृश्या । (कामनून)। परन्तु पुरुष का कार्य सक्रिय होने से उसमें स्त्री की अपेक्षा उपर्युक्त उत्तेजनार्थे अधिक तीव्र हुआ करती है—जांग हि पुरुणोधिरण तुक्ति । अनुधा हि जांग क्रिया प्रति परन्ते, अव्यय चालाः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। योनि मनिप्रयत्ने—योनि से यहाँ गर्भाशय अभियेत है। मैथुन के अनन्त में शुक्र चाहे भगद्वार पर गिरे, चाहे अन्तर्भूमि में गिरे, चाहे गर्भाशय के मुख पर गिरे, उसकी गति सर्वदा योनि की ओर होती है, क्योंकि पाश्चात्य शाश्वतों का यह कथन है कि उस समय भगद्वार से लेकर योनि तक के आंगों में इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है कि भगद्वार पर गिरा हुआ शुक्र भी भीतर योनि की ओर खींचा जाता है। उस समय गर्भाशय भी नीचे की ओर आता है, खींचा और छोड़ा होता है और उसका मुख प्रसारित (व्यात्तमुख) हो जाता है, जिससे उसके मुख पर गिरा हुआ शुक्र शीघ्र भीतर आ सकता है और अन्तर्भूमि में गिरे हुए शुक्र के लिए भी उसके भीतर प्रविष्ट होने में सहायता होती है। इसके सिवाय शुक्राङ्गओं में भी गति करने की शक्ति होती है, जिसकी सहायता से वे गर्भाशय की ओर चल पड़ते हैं। मायाप्रकाश में इसका संशिष्य वर्णन किया है—उत्त संयुक्त यानि गर्भाशय प्रति ।

So far as the evidence goes, it would seem that in women, the uterus becomes shorter broader and softer during the orgasm, at the same time descending lower into the pelvis, with its mouth open intermittently. Owing to the combined activities of the semen and vagina during sexual excitement, it is possible for the semen to reach the uterus even when it has only been effused at the entrance of the vagina. *Psychology of Sex*

संस्कृते चालवेन—मैथुन के अन्त में जितना शुक्र निकलता है, उसमें धीस करोद के लगभग शुक्राण होते हैं।

मनुष्यजाति में गर्भाधान के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है, और जब एक शुक्राणु का स्त्री-वीज के साथ संसर्ग हो जाता है, तब उस वीज में कुछ ऐसा परिवर्तन होता है कि फिर उसमें दूसरा शुक्राणु प्रवेश नहीं कर पाता । इसलिए यद्यपि, असंख्य शुक्राणु गर्भाशय की ओर दौड़ मारते होंगे तथापि उनमें जो सब से प्रवल और चपल होता है, वही आर्तव के साथ मिलने में सफल होता है । यदि कमवशात् स्त्री के दो वीज हों तो दो शुक्राणुओं से दो गर्भों का आधान होकर युग्म उत्पन्न हो जाता है । शुक्र और आर्तव का संयोगस्थान—पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने मनुष्ये-तर प्राणियों में इस विषय का अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि उनमें शुक्राणु और स्त्रीवीज का संयोग वीज-वाहिनी (Fallopian tube) में उसके औदर्यसुख (ostium-abdominale) के पास होता है और उसके आधारपर मनुष्यजाति में भी दोनों के संगम का वही स्थान माना गया है । आयुर्वेद में दोनों का संगम कहाँ होता है इसका ठीक ठीक निर्देश नहीं मिलता, परन्तु वह गर्भाशय के बाहर होता है इतना निश्चित से चताया है और यह बात इसी सूत्र के 'संस्कृते चातवेन, ततः संस्कृतमानो गर्भो गर्भाशयमनु प्रतिपत्तं' इस बाक्य से स्पष्ट होती है । परन्तु शुक्रजोणित के संगम का स्थान गर्भाशय के बाहर चताते हुए गर्भ बनने का स्थान गर्भाशय ही चताया गया है । यह विरोध नहीं है, पाश्चात्य पौराणिय परिभाषा का भेद है । आयुर्वेद में पाश्चात्य परिभाषा के समान शुक्रजोणितसंगम को गर्भनहीं कहते, परन्तु शुक्रशोणितसंगम में 'जीव' का संयोग होने पर उस त्रिसंयोगी अंग को (पंचम-अध्याय २ सूत्र) गर्भ कहते हैं—'मुद्रे शुक्रार्तवे तत्वः (जीवः) स्वकर्मक्लेशाचादितः । गर्भः संपथते शुक्रिवशाद्विनिरवारणी ॥ अष्टांगहृदय ॥ शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्भाशयगतं जीवोड़कामाति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वत्तं चरक शारीर ३ ॥ अथ गर्भशोदेन मनसंयोगाच्छेतनेनात्मनाधिनिरानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते ॥ इन्दु, अष्टांगसंग्रह ॥ आगे के सूत्र की भी टिप्पणी देखो । भावप्रकाश में दोनों के संगम का स्थान गर्भाशय चताया है— तत्र (गर्भाशय) शुक्रवदायातेनार्नवेन उतो भवेत् ॥ भावमिश्र के इस मत की भी पुष्टि कुछ पाश्चात्य शास्त्रज्ञ करते हैं । वे कहते हैं कि यद्यपि शुक्रजोणित के संयोग का स्थान प्रायः वीजवाहिनी में होता है तथापि गर्भाशय में भी दोनों का संयोग होकर गर्भ का आधान हो सकता है—

The meeting of the sex cells and their conjugation occurs in all probability most frequently in the outer part of the fallopian tube. This statement, can not, of course be expected to rest on direct observation in the human subject, but it is considered probable because the corresponding situation is known to be the site of fertilization in other animals. On the other hand, the possibility of fertilization in the uterus can not be denied, although it seems very unlikely that the ovum, after its sojourn in the tube, would be in a condition fit enough physiologically to admit

of fertilization and development; *Manual of Embryology by Frazer.*

स्त्री वीज स्वयं गतिहीन होता है, परन्तु कोप से उदर-गुहा में आने पर वीजवाहिनी द्वारा परिवर्ती अंचलों (Fimbriae) से उत्पन्न हुई लहरों में फैसल कर उनकी ओर चला जाता है, और वाहिनी में घुसता है । वाहिनी भीतर से लोमदा (Ciliated) होती है । इन लोमों की दिशा और गति गर्भाशय की ओर होती है । इसके सिवाय वाहिनी में भी एक प्रकार की पुरस्कारणगति (Peristaltic wave) होती है । पुरस्कारण और लोम इनकी सहायता से वीज धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर चला जाता है और यदि उसका संयोग शुक्राणु से न हुआ तो मासिक स्थाय के साथ वह भगद्वार से शरीर के बाहर चला जाता है । प्रायः शुक्राणु से उसका संयोग वीजवाहिनी के मुख के पास होता है, क्योंकि शुक्राणु गतियुक्त होता है । शुक्राणुओं की गति के सम्बन्ध में अनेकों के अनेक मत होते हैं, परन्तु साधारण मत यह है कि एक इच्छ का अन्तर तय करने के लिए पाँच से दस मिनट का समय लग जाता है और गर्भाशयसुख से वीजवाहिनी द्वारा तक पहुँचने के लिए देह धृते का समय काफी हो जाता है । इसका अर्थ यह है कि मैथुन के थोड़े धृते के पश्चात् शुक्राणु वीजवाहिनी में पहुँच सकते हैं । उस स्थान में वीज मिलने पर दोनों का संयोग होकर गर्भधारणा होती है । यदि न मिल तो शुक्राणु उदर-गुहा में चला जाता है और वहाँ यदि वीज मिल जाय तो उदर में भी गर्भधारणा होती है । इस अवस्था को औदर्य गर्भावस्था (Abdominal pregnancy) कहते हैं । कभी कभी स्त्रीवीज के पीछे पढ़ा हुआ शुक्राणु इधर उधर वीज न मिलने पर सीधा वीजकोप पर चला जाता है और यदि पक्ववीज वहाँ मिल जाय तो उससे संयुक्त होकर गर्भधारणा करता है । इस अवस्था को वीजकोपस्थ गर्भावस्था (Ovarian pregnancy) कहते हैं । ये दोनों अवस्थाएँ भयानक होती हैं । क्योंकि ये स्थान गर्भवृद्धि के लिए योग्य न होने के कारण अकाल में विदीय होकर रक्तस्राव होता है और उसी से रोगी की मृत्यु हो जाती है । शुक्राणु और वीज का संयोग—शरीर की प्रत्येक कोशा में न्यूएंट होती है । उस न्यूएंट में कुछ रंगद्रव्य होता है, उसे अश्विणि (Chlamyomia) कहते हैं । कोशाविभाजन के समय यह रंगद्रव्य कई सूत्रों में विभक्त होता है । इनको पित्र्यसूत्र (Chromosomes) या रंगवस्तु (Chromatin body) कहते हैं । प्रत्येक जाति के ग्राणियों में इन सूत्रों की संख्या निश्चित होती है । मनुष्यजाति में इनकी संख्या ४८ होती है । स्त्रीवीज पक होने के समय उसमें कई बार विभजन होकर न्यूएंटिगत सूत्रों की संख्या २४ हो जाती है और बाकी का हिस्सा उसके ऊपर के आवरण में (Zona pellucida) मिलकर नष्ट हो जाता है । शुक्राणु पक होने के समय भी इसी प्रकार का विभजन होकर उसकी न्यूएंट में भी २४ सूत्र रह जाते हैं । यह न्यूएंट शुक्राणु के सिर और ग्रीवा में ही रह जाती है, पुच्छ में नहीं होती । इन पित्र्यसूत्रों या क्रोमोसोमों के द्वारा ज्यक्षि के गुणदोष सन्तुति में आ जाते हैं । ग्राचीन परिभाषा के अनुसार इन पित्र्यसूत्रों को वीज का वीजभाग कह

सकते हैं, जिसमें व्यक्ति के प्रत्येक धौग-प्रथमंग का सूक्ष्म चित्र मिलता है—अस्य यस्य हातावयवस्थ बीजमाग उपर तसी भवति, नस्य तस्यादावयवस्थ विकृतिरूपवायते, नेपयवायते कानुपानापाद्। (चतुर्क, शारीर ३)। मनुष्यरीजं हि प्रत्यगं बीजमागमसुदायात्मक स्वसृष्टप्रत्यगसुनुदायरूपपुरुषवग्नश्च। (चतुर्पाणिदत्त)। कुछ योदे फक्क से आँखिनक विद्वान् भी चक्रपाणिदत्त के अनुसार ही बीजवात शरीररचना के सम्बन्ध में लिखते हैं—

Each chromo some contains a certain number of genes. They occur in pairs a set for black eyes, some for fair skin and a number of them for crooked nose Riddle of sex.

आदिवलप्रवृत्त या कुलत (Hereditary) रोगों में शुक्रशोणित में जो दोष होता है, वह इन क्रोमोसोम्स में ही होता है और इन्हीं के द्वारा संतति में प्रवेश करता है। दोपो के अनुसार शक्ति के गुण भी इन्हीं के द्वारा संतति में जाते हैं। प्रथम विभाग में पृष्ठ १४८, १४९ और आगे चौथे सूत्र के वर्तम्य में ‘जीव क्या है?’ देखो। इस तरह विभजन के द्वारा प्रथा हुए श्वरीज के पास कई शुक्रणु पूँछ सकते हैं, परन्तु केवल प्रक जो सब से सबल होता है, भीतर प्रवेश कर सकता है। उसका सिर ऊपर के आवरण में से भीतर घुस जाता है और वीज के केन्द्र के साथ मिल जाता है। उसकी पूँछ सिर से अडगा होकर वाहा आवरण में विलीन हो जाती है। इस तरह २४ शुक्राणु के और २४ श्वरीज के पिण्यसूत्र संयुक्त होकर पूर्ववृत् ८८ पिण्यसूत्रों का एक जीव बनता है, जिसमें माता के और पिता के समर्पण गुण-दोष आ जाते हैं और यही गर्भ है। संजेप में शुक्रशोणित समांग से दोनों पिण्यसूत्रों का संयोग अभिप्रेत है। पिण्यसूत्रों की संख्या में कदापि पूँदि नहीं होती है।

गर्भाशयनउत्पत्तते—एवं दोनों का संयोग होने पर गर्भ की प्रारंभिक कोशा विभक्त होने लगती है और एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इस तरह शुद्ध शुद्ध होती है। इस शुद्धि के साथ साथ धीरे धीरे गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है और प्रायः पौँच से दस दिन में गर्भाशय में आधय लेता है। हारागच्छन् ‘अनु’ का गर्भाशय के एक विशिष्ट भाग के साथ सम्बन्ध समझते हैं—गर्भाशयविकृत्यनुभागेऽवे वर्षप्रवचनीय। गर्भाशयस्यात्मविवेष योतालूपीयमात्वर्तिनित्येन्द्र, तद्यति हि न्यस्यालूपीये त्वावर्त्ते गर्भ शय्या प्राणितिः। इन। प्रथमेष प्राणीति॥ यदृ करन भी ठीक है, क्योंकि शीजवाहिनी से आया हुआ गर्भ गर्भाशय के द्वितीय में याने तृतीय भावात्मते में (Fundus of the uterus) में चिपक जाता है।

कभी कभी गर्भ शीजवाहिनी में अधिक दिनों तक रहता है। इसके कारण भी तक ठीक मात्रम नहीं हुए हैं। अधिक दिन रहने पर उसमें चिपकने का लोग (Imphibious), उत्तर दोता है और वह वहीं चिपककर अधिक रहता है। इस अवस्था को मटिकागर्भवया (Tubal Pregnancy) कहते हैं। और इसके और शीजवोपर्य गर्भाशयश्चों के अनुसार यह अवस्था भी शतरनाक होती है। गर्भाशय

के लिए अनेक बार मैतुकम्ब की आवश्यकता को है—मनुष्यों में यह हमेशा देरा जाता है कि द्वी और उरुदोनों प्रजोत्पादनव्योग्य होते हुए भी एक बार समागम करके अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते। उनको महीने में कई बार और इस प्रकार कई महीनों तक समागम करना पड़ता है, तब जाकर गर्भाशयरणा होती है। इसके सम्बन्ध में चरकाचार्य हिंदू विधिनोंपरस्तकृतशरीरों द्वीपुरुषयोनिशीभावामापन्नों योनावनुप्रहारायामप्राप्तुष्टे गर्भाशयै गर्भाशयिनिवर्त विवेषतेन। यथा—निम्नें वास्तविक सुप्रतिकिञ्चित् रजतस्मृदि युणुप्रिनियातदेव रागमिनिवर्तयति, लद्य। (शारीर ८) योनिनियोधामनसोऽभिनाशाकुवाद्याहारविद्वादोषात्। अवान योगदासद्वयम् गर्भ विवरित्विति स प्रजापति॥ (शारीर २)। पुरुषस्यानुप्रहारेनैव। लिङ्गाशास्त्रप्रदुष्येनिनियत्वाद्यावय यदा भवति समर्पणं करुताते, यदा चानयोलाभासुके सहर्णं शुक्रोयिनिसंसर्गमनार्थीशयगत वैक्षेपदकामति तदा गर्भोऽभिनिवर्तते॥ (शारीर ३)। इन उद्दरणों के अनुसार उपर्युक्त प्रभ का उत्तर यह होता है कि एकान्ते गर्भाशयरण के लिए जो शर्ते आवश्यक होती हैं, वे प्रायः पूरी न होने के कारण अनेक समागम निष्कल होते हैं और जब शर्ते पूरी हो जाती हैं, तब समागम सफल होता है। इसलिए इन शर्तों का विचार उच्च विस्तार के साथ किया जाता है। (१) कठुकाल—महीने में कुछ दिन ऐसे होते हैं कि उन दिनों में समागम करने पर गर्भाशय की संभावना अधिक होती है, उनको कठुकाल कहते हैं—लीण गर्भाशयोग्यवर्ष्योपलक्षित वाल कठु॥ (विशेषकर)। इसका अधिक विवरण हस्ती अध्याय के ६ सूत्र के वर्तम्य में किया गया है। इन दिनों के अतिरिक्त दिनों में किया हुआ समागम प्रायः निष्कल होता है। समागम करने पर भी गर्भाशयप्रतिवर्णक (Birth Control) जो उपाय होते हैं, उनमें कठुकालातिरिक्त दिनों में समागम करना एक उपाय होता है—

Women desirous to avoid pregnancy must beware of the Ideas of the pre and early postmenstrual period The Riddle of sex

अर्थात् कठुकाल (Genetic period) और अनुकाल (Age-usual period) ये जो दो भेद किये गये हैं, वे ठीक हैं। (१) जो वी अनुपर्यि—कठुकाल में गर्भाशय होने का सुष्य कारण यह है कि उन दिनों में धीजकोष से वीज चाहर निकलता है। वीजी कभी वीज चाहर निकलने पर भी शीजवाहिनी में न आकर उदरगुहा में नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में कठुकाल में भी गर्भाशय नहीं हो सकती। (२) योनि गर्भाशय वी शुद्धि—योनि गर्भाशय शुद्ध होने पर उनकी स्फैयाल तथा ताप उत्पन्न होता है, तथ इनका यात्रा शुक्राणुओं के लिए यात्रक होता है, जिससे उत्तम शुक्राणु भी योनि में प्रविष्ट होने पर नष्ट या घट हो जाते हैं। इसलिए गर्भाशय और मार्ग की शुद्धि की मद्दत यहीं है—Alterations of the secretions from vasa, cervix, uterus and tubes endangers the life of the spermatozoa Riddle of Sex (५) की ओर इस—

गर्भधारणा होने के लिए स्त्री के मन में अपत्य होने की प्रवल इच्छा होनी चाहिए। इसलिए आयुर्वेद में स्थान स्थान पर प्रजामिळ्यन्ती, पुत्राशिपां कर्म, गुणवत्सुप्राधीं, पुत्रमिळ्यन्ती, इत्यादि अपत्य की आतुरतादर्शक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार की आतुरता जब मन में होती है, तब 'तदर्थ्यभिनिवृत्तकर कर्म' सफल होता है। यानहें वेले गर्भधारणा के मानसिक स्वास्थ्य (Mental Hygiene of conception) के अन्त में लिखते हैं—

In this sense, I desire of every women that she should experience her longing for a child not only with every fibre of her body but also with every impulse of her soul. Ideal Birth.

अपत्य के लिए जब इच्छा करके समागम किया जाता है, तब जस्तर अपत्य उत्पन्न होता है। प्रतिदिन सीधुरुप जो समागम करते हैं, वह अधिकतर मैथुन से केवल आनन्द प्राप्त करने के लिए होता है। स्त्रियों की दृष्टि से अगर विवाह किया जाय तो मैथुन सफल होने से स्त्रियाँ बहुत दिनों तक के लिए फैस जाती हैं, वार वार जल्दी फैसने से उनकी जिम्मेदारी बढ़ती है और स्वास्थ्य खराब होता है; इसलिए भावतः उनमें मैथुन की इच्छा कम होती है। ऐसी वस्था में पुरुष जब सुशी की जवर्दस्ती से उसके साथ मागम करता है, तब उसका मन न मैथुन में होता है, न है अपत्य की इच्छा करती है। इसलिए गर्भधारणा नहीं होती—विनाम गर्भ न खर्चे, विशुणां वा प्रजां जनयति। (चरक, एतंसंग्रह)। अर्थात् तन्मना होने से मैथुन में आनन्द नहीं होता है, आनन्द के साथ उसके गर्भाशय से ज्ञारीय गति स्वतां है, जो पुरुष के शुक्राणुओं के लिए फायदेमन्द होता है। इस स्वाव के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय के ३८वें लोक का वक्तव्य देखो। यदि आनन्द प्राप्त न होने के शरण गर्भाशय से ज्ञारीय स्वाव न निकले तो योनि के स्वाव में जो अम्ल होता है, उससे शुक्राणु नष्ट था स्वाव हो जाते हैं—

The vaginal secretion is slightly acid, when mixed with spermatic fluid and uterine discharge it becomes slightly alkaline—the medium most suitable for preservation of the sperm cells. Riddle of the Sex.

मानसिकदृष्ट्या भी तन्मय होकर आनन्द प्राप्त होने से गर्भधारणा होती है और गर्भ भी उत्तम प्रकार का होता है—

I have made mention above of the importance of the woman's orgasm for the high value of the offspring Ideal Birth.

(२) खो की मनःरिति—काम, क्रीध, भीति इत्यादि विकारों से यदि स्त्री का मन मैथुन के समय तथा उसके पूर्व और पश्चात् विगड़ा हुआ हो तो गर्भ का आधान ठीक नहीं हो सकता है, क्योंकि इन विकारों से अन्तःस्त्रीय ग्रंथियों के स्राव (Hormones of the ductless glands) विकृत हो जाते हैं, जिससे स्त्रीवीज फलित होने पर भी गर्भाशय में नहीं टिकता है—तत्राशिता छुपिता पिपसिता भीता विनामः शोकार्ता कुद्दा न गर्भ धर्चे विशुणां वा प्रजां जनयति।

(चरक)। इसके उल्टे 'स्त्रीमनस्तं गर्भारणान्'। (चरक)।

Since the firmness of the settlement of the fertilized ovum in the uterine mucous membrane is dependent on the vitellus; further, since the nature of this organ with internal secretion is influenced by the frame of the mind, the psychical equilibrium, it seems comprehensible that a fertilized ovum in consequence of the disturbances of this kind may be expelled soon after its embedding or also at some other later date. In the former case, we have a menstrual period delayed for a few days. Ideal Birth.

(६) स्त्री की कामशान्ति—सैषुन के समय स्त्री और पुरुष दोनों को ही सुख होता है, परन्तु दोनों की कामशान्ति का तत्त्व भिन्न है। पुरुषों में कामशान्ति कुछ जल्दी होती है और उसके लिए शुक्रोत्सर्ग जैसी एक स्वाभाविक वटना रक्ती गई है। स्त्रियों में इस प्रकार की कोई घटना नहीं है, जिससे उनकी कामशान्ति आप से आप ही जाय। स्त्रियों में कामशान्ति एक मानसिक अवस्था है, जिसके लिए पुरुष को समागम के प्रारम्भ से कोशिश करनी पड़ती है। यदि इस प्रकार का प्रयत्न न किया जाय तो उनकी शान्ति मुश्किल से होती है और वे असंतुष्ट रह जाती हैं। इसी दृष्टि से दिला है—ज्ञानामयुणः वासः ॥ वास्त्यायन कामसूत्र में भी लिला है कि प्रारम्भ से चुम्बनादि द्वारा स्त्री की कामेच्छा पूरी करने की कोशिश की जावे और जब उनकी कामेच्छा पूरी होने को आवे, तब पुरुष अपनी पूरी कर लेवे। स्त्री की कामेच्छा पूरी न होने से गर्भधारणा नहीं होता—जातेभेदाद् दन्त्योः सदृशं सुर्वामप्यते । तस्मात्तथोपचर्या स्त्री यथाये प्राप्त्युदात्रित्वश् ॥ चिरवेंगे नायके लियोऽनुरुद्धर्यन्ते । शीघ्रवगस्य भावमनासाद्यावसानेऽभ्यसूर्यन्तो भवन्ति । नष्टस्थां भावप्राप्तीं गर्भसंभव इति वाप्रवीयाः ॥२१॥ आधुनिक विज्ञान भी इस तत्त्व को मानता है—

The sexual gratification of women is even a part of the act of fecundation, for her share in that act is not purely passive. Mathew Duncan placed stress on this need of sexual pleasure in the women in order to ensure fecundation. Psychoogy of sex by H. Ellis. In the female the complete orgasm satisfying the desire is not generally consummated so rapidly as in the male, with whom seminal ejaculation is accomplished in a few minutes or even less. The culminating point in the female orgasm occurs slightly after that of the male, and is said to be marked by the expulsion of mucus through the os uteri. The mucus is then partly withdrawn into the uterus along with the semen, coition sometimes takes place without the orgasm in the female being completed or even without its occurring at all, but this is abnormal and such coitions are

apt to be sterile, probably because the orgasm may be an essential factor in bringing about ovulation (or release of the ova). *Sexual Physiology* by Marshall

गर्भधारणा के लिए कामशान्ति की आवश्यकता है इस लिए होती है कि उसमें स्त्री के धीजकोप से वीज (आतंक) स्वतन्त्र होने में सहायता होती है। स्वरोदास, विही इत्यादि मनुष्यतर प्राणियों में मैथुन के समय ही धीज कोप से स्वतन्त्र होते हैं। मनुष्यों में यथापि इस प्रकार की आवश्यकता नहीं होती तथापि मैथुन और कामशान्ति धीनोत्तरमें जट्ठक सहायता करते हैं। इस विषय का कुछ विवरण इससे अध्याय के 'एव पिण्डे यथैवाक्षित्र प्रविशीदेते' इस (५७ व) श्लोक के बक्तव्य में किया गया है। (७) मैथुन का आसन—धीर्यग्रहण के लिए वह आसन उत्तम होता है, जिनमें योनि में उत्तर्गत हुआ शुक आमानी से गर्भशय की ओर जा सके। जिन आसनों में इसके लिए कठिनाई होती है, उन जामनों में मैथुन करने से प्रायः गर्भधारणा नहीं होती, यह अनुबंधसिद्ध है। आयुर्वेद में इसलिए, वतलाया है कि गर्भधारणा के लिए अनुदृढ़ आसन स्त्री की उत्तान स्थिति याने चित लेटना है। इसी स्थिति में धीर्य निकलने के पश्चात् उसका ग्रहण करने के लिए स्त्री को दियपिल अवस्था में और योनि नीचकर पद पद्मरुद्धारा और सो जाना चाहिए—उत्ताना तथना योनिति निश्चिन्तौ सुत्रित्वैर्वते ॥ (अष्टाग्रहदृश्य)। तस्मादुत्तान धीज गृहीयता। तथा यथास्थानेव तिष्ठित दोषा ॥ (अष्टाग्रहसप्त्रह)। न च युज्ञा पाक्षणा वा संवेन।

If an unsuitable posture be assumed during intercourse, the woman may remain sterile.

अर्थात्, मैथुन में आपन इह करने से या उत्साह अवस्था में वीर्य निकलने पर प्रकटम स्फार हो जाने से तथा पश्चात् योनि प्रचालन करने से सर वीर्य बाहर चला जाता है और गर्भधारणा नहीं होती। (८) उला वी मन स्थिति—उत्तर अव्याप्तिता, सुधिता हृष्यादि स्थि के लिए जो दोष वर्णन किये हैं, वे उलुव के लिए भी लागू हैं—उलेख प्येट एवं शोण। अर्थात् मुद्रा, भीत या अन्य विकारों से सुकु पुरुष स्थि में गर्भ का आधार नहीं कर सकता। अब सबोर मीडों काष्ठपूरी समुद्रवायाम् ॥ (चरक)। इसका अधिन प्राय पढ़ है कि उलुव कितना ही स्वस्य क्षयों न हो यदि मैथुन के पूर्व तथा मैथुन के समय वह शरीर से और मन से अत्यन्त भासन हुआ हो या क्रोध, शोक, भय आदि से व्याप्त हुआ हो तो उसके द्वारा मैथुन रेता दोष उत्पन्न हो जाता है कि वह शुक्र गर्भ का आधार नहीं कर सकता—पुरुषप्रेयादिना पूर्व मैथुनवायागतुपानरेतस्वपुरुष, तथापुको भेत्त वेत तु मैथुनमवैष्टि दृष्टयो वायीनामदुर्लिङ्गेत् । मैथुनमजे ति इम्पुरिना युरुद्विभमाप्तो ॥ (चक्रताणिदत्त)। पाकार्य एविदों का भी क्षय है कि पुरुष के द्वारा मैथुनाग्राही की वरप्रियता पूरक सी भी नहीं होती। एक ही पुरुष में शारीरिक और मानसिक स्थानस्थावरण के भनुमार शुक्राग्र कभी कम होने दें, कभी अधिक होते हैं और कभी होते ही नहीं—

After physical or mental exhaustion, stren-

ous intercourse, or following invalidating disease, the ejaculate may be free from sperm cells. *The Riddle of Sex.*

(९) दिल्लीवान ठीक न होना—गर्भधारणा के लिए पुरुष का वीर्य गर्भाशयमुख के ऊपर या आसपास गिरना आवश्यक है। यह कार्य शिशु का उत्थान अच्छी तरह होने से हो सकता है। शारीरिक या मानसिक धक्कावट, किसी काम की चिन्ता, क्षीर इत्यादि से शिश्वाशयान ठीक नहीं होता परन्तु आदत के कारण जब पुरुष समाजमें करता है, तब वीर्य भगद्दार के आसपास गिर जाता है, और शुक्राणु नहीं जा सकते।

इस तरह से अयोग्यकाल, स्थीरीज का अभाव, स्थीरीज की अनिच्छा, मैथुन के समय कामवेग का अभाव तथा मानसिक वैपरीत्य, योनि का हुएताव, वीर्य में शुक्राणुओं की अनु पर्याप्ति, विशेषतान दीक न होने से, अयोग्य श्यान में वीर्यवर्धन इत्यादि अनेक कारणों से प्रतिदिन का स्थी-पुरुषों का स्वयंग धन्य हो जाता है। यदि उपर्युक्त नियमों अनुसार सयोग होगा तो 'अवध्य एव संयोग स्याद्य' तामन् ॥ (शास्त्राग्रहण ॥)

क्षेत्रादौ वैश्यिता स्पृष्टा धाता द्रष्टा थोता रसयिता
 पुरुषः स्त्री गन्ता सादो धाता धत्ता यः कोऽसापि
 येवमादिभिः पर्यायवाचकेनामभिरभिघोयते दैवसगा
 दक्षयोऽन्ययोऽचिन्तयो भूतायना सहान्यक्ष सत्तरज
 स्तमोमिदं वासुरं रपरेष्य भारैरयुनाऽभिप्रेयमाणं,
 गामाशयमनप्रविश्यावतिष्ठु ॥ ४ ॥

(जीव पर्याय और उसका गम्भ में अवतरण) हेरन्,
दृष्टिता, स्थैता, ग्राता, द्राता, श्रोता, रसविता तुर्प
वटा, गन्ता, साझी, धाता, घजा इत्यादि पर्याय
प्राचक नामों से (अर्थात् प्राचों से) जो उपुत्तरा जाता है वह
(चेतन स्वय) अहय, अचिन्त्य (और) अध्यय (होते
ए भी) दैव के सग से (सूक्ष्म) भूत, सरव रव तम,
व आमुर या अन्य भाव इन से तुकु पायु से प्रेरित हुआ
भास्यम् में प्रविष्ट होकर रात्काल (शुक्र भात्यं के संयोग में)
वस्त्राण करता है ॥ ४ ॥

यह अध्ययन—एडिले सूत्र में गर्भ की उत्पत्ति का विवरण ही निर्दिष्ट इटि से याने आयुनिक विश्वास (Med en 8 1900) की इटि से किया गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र की इटि से यह और भारतवंश महाभूताम्बक अताधार अचेतन है। उसमें विवरण्य प्राप्त होने के लिए चेतनावान् आमा या उरा का नके साथ संदेश होना आवश्यक है। इसलिए गर्भ की विद्यावस्था में शुक्र, शोणित और आमा तीनों का विवरण अताधार दिया जाता है—शुक्रोंगितीसूक्ष्मो तु रुद्धिः उग्रो गर्भदृष्टा मरनि ॥ यथा सत्यमेव शुक्रोंगितीशनं प्राप्तं शोणिताम्बत न माति, तथा संदेशाद्विति ॥ (चतुर्क) ॥ अतः यथ मुलवर्णनाम्बक आमा के पर्याय नाम रिखे हैं । उपर्युक्त शारीरी रूपी ऐप्रकार जाता—इति गर्द दी ट्रैट वेट विकिनीदेन । उन्होंने वेति तं प्राप्तं एवं इति नदिर् ॥ सामाजिका 1211 ॥ । किं एवं रूपं ऐप्रमें प्राप्तं इति

आमा—गात्मा चेतय रथुक्तः संवृत्तः प्राकौरुद्यौः । तेरेव तु विनिर्मुक्तः परमाभेद्याग्रहः ॥ (महाभारत) । वेदवित्ता—सुख-हुत्सुकि का अनुभव करने वाला—पुरुषः तुरदुःखानां भोक्तुरुचे हैंस्त्रव्ये । पुरुषः प्रकृतिश्वो हि उड्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ॥ (भगवद्गीता १३।२१) । वत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ॥ (सांख्यकारिका ५१) । जीवसंसोऽन्वरतामान्यः सहजः सर्वदैहिनान् । येन वेदस्ये सर्वं तुरदुःखं च जन्मातु ॥ (मनुस्मृति १२।३२) । नन्सो ज्ञापविता ॥ (दल्हण) । स्पष्टा, ग्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसग्रिता—पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा मिलने वाले ज्ञान का ज्ञाता । यथापि नेत्र रूप को देखते हैं तथापि रूप का ज्ञान आत्मा को होता है, नेत्र को नहीं—आत्माऽः करण्योग्यान्यानं तत्य प्रवर्तते । (चरक) । किंवा इन्द्रियों के द्वारा कार्य करने वाला याने कर्ता, ज्ञापक—कर्ता दि करण्योरुक्तः कारणं सर्वदैहिनान् ॥ (चरक) । पुरुषः—पुरि लिङ्मे श्रेते इति पुरुषः । लिङ्म शरीर में जो नियास करता है । जटा—शरीर में चैतन्य उत्पत्त करने वाला—येतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुचिते । शरीर हि गते तदिनम् शूल्यागारसंवेतनम् ॥ (चरक) । गता—एक देह से दूसरे देह में गमन करने वाला—देशादेशान्तरं याति क्रिमिदच्छाश्वोऽव्ययः ॥ जाती—ज्ञानवान् होने के कारण आत्मा साक्षी कहलाता है—जः ताक्षीत्युच्यते नायः; ताक्षी त्वात्मा यतः त्यृदः । (चरक) । किंवा ज्ञानवान् होने के कारण तटस्य के समान तुरदुःखादि से विचलित न होने वाला—निर्विकारः परमत्वात्मा, द्रष्टा पश्यति दि क्रियाः ॥ (चरक) । द्रष्टा ताक्षी, तैन यनिर्विद्या परमशान्तः साक्षी सन्भगतः क्रिया: सर्वा: पद्यश्च रागदेपादिना तुर्जते, वथाऽऽस्तमापि सुख-दुःखापलभमानोऽपि न रागादिना तुर्जते । (चक्रपणिदत्त) । धाता—पंचमहाभूतात्मक शरीर को धारण करने वाला । वक्ता—योलने वाला । यह उपलक्षण है, इससे पाँचों कर्म-निद्रियों का कर्ता आत्मा है, यह अर्थ समझना चाहिये—ऐतेन कर्मेन्द्रियाणामपि वचनादानविहरणोत्सर्वदिशाप्ययमेव हैतुः । (दल्हण) । दैवसंगात्—प्रारब्ध कर्म का फल भोगने के सिवाय जीव का छुटकारा नहीं होता, यह वेदान्तशास्त्र का भूत है—शरीरारभक्त कर्म योगिनोऽयोगिनोऽपि च । विना फलो-प्रोगेन नैव नश्यत्यसंशयम् ॥ वर्तमानशरीरेण संपन्नं कर्म देहिनः । इह वाऽसुत्र वाऽधृत्य ददाति स्वफलं शुक् ॥ प्रारब्धशेषं विच्छिन्नं पुनर्वेदान्तरेण तु । भुज्क्ते देही त्वो भुज्क्ते तद्भुवति कः पुमान् ? ॥ (पराशर) । भोगेन त्वितरे त्वपतित्वा संपदते ॥ (वेदान्तसूत्र) । कभी यह फल एक जन्म में समाप्त होता है, कभी अनेक जन्म की आवश्यकता होती है—अवश्यमनुभौत्तत्वं प्रारब्धस्य फलं जैवः । देहेनैकेन वाऽन्येन युग-पदा क्रमेण वा ॥ (पराशर) । दैव से एक या अनेक पूर्व जन्म के प्रारब्ध कर्म का वोध होता है, जिसके फल जीव को वर्तमान जन्म में भोगने पदते हैं—तैवं पुरा यत् क्रममुच्यते तु । वैवसामकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम् ॥ (चरक) । उस पौर्वदैहिक कर्म के फलरूप संग या वधन के कारण । आत्मा उर्पुरुक्त गुणों से युक्त होने पर भी अपने पूर्वकर्मों में फँसते के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है—क्षेत्रज्ञा नित्यात्मा तिर्यग्योनिमानुपदेवेषु संचरन्ति धर्मार्थमनिमित्तम् ॥ (सुश्रुत, शा० १) । पूर्वकर्म की कल्पना आधुनिक पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं—

The individual never being other than what he has made himself in the course of his evolution by the immense series of representations he has gone through, it follows that every thing that is within his field of consciousness is his own doing, the fruit of his own efforts, his own sufferings and his own joys. Every act, even every desire and inclination, has an inevitable reaction in one or other of his existences. Gustave Geley. From the Unconscious to the Conscious.

अचिन्त्य—जो मन और उद्दिकी चिन्तनशक्ति के बाहर होता है—मनस्तु परा बुद्धियों उद्देः परतस्तु सः । (गीता) । यतो वाचा निवर्तते आपाप्य मनसा सह ॥ भूतात्मना सह—भूतात्मा के साथ । वेदान्त के अनुसार पंचतत्त्वात्रा या 'देहवीजभूत सूक्ष्म' को भूतात्मा कहते हैं—योऽस्यात्मनः कारणिया तं चेत्रं प्रनक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते तुष्टैः ॥ (मनुस्मृति) । यः पुनरेप व्यापारान् करोति शरीरात्म्यः स पृथिव्यादिभूतारब्धवद् भूतात्मैवेति पण्ठितैरुच्यते । (कुल्लक भट) । वेदान्तस्त्रुते में भी लिङ्मा है—जदन्तरप्रतिपत्ती रहति संपरिष्वक्तः (शा० १९) । तदन्तरप्रतिपत्ती देहान्तरप्रतिपत्ती देहवीजै-भूतस्त्रमैः संपरिष्वक्तो रहति गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम् ॥ (शांकरभाष्य) । सांख्यशास्त्रानुसार भूतात्मा से 'लिङ्मशरीर' का वोध होता है । यह लिङ्मशरीर अठारह तत्त्वों का वनता है—महदादि-सूक्ष्मपर्यन्तम् । (सांख्यकारिका) । महदहद्वारैकादशेन्द्रिय-पञ्चतत्त्वात्मपर्यन्तम् । एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम् ॥ (सांख्य-तत्त्वकौमुदी) । चरक में भी लिङ्मा है—भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुपूर्वमैनोजयो देहमुपैति देहात् । (शा० २) । इस सूक्ष्म शरीर का आकार व्यवहार के लिए अंगुष्ठमात्र माना जाता है—ततः सत्यवतः कायात् पश्यवद् वशद्यतम् । अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चक्षर्वत्वाद्यमः ॥ (महाभारत) । अन्वज्ञम्—(१) तत्काल, अल्पकाल में । तत्कालमेव न ज्ञानात्मरे । (दल्हण) । इसका संवर्ध गर्भोत्पत्ति के समय भूतग्रहण के साथ निश्च चरक वचनानुसार हो सकता है—तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो युग्माग्रहणाय प्रवर्तते । यथा—प्रलयात्म्ये सिद्धुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरं युग्मान् धातून् वाच्यादिकांश्चतुरः, तथा देहग्रहणोऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरं युग्मान् धातूम् वाच्यादिकांश्चतुरः । सर्वमपि तु खलवेतद्युग्मोपादानमणुना कालेन भवति ॥ (शा० ४) । (२) हाराणचन्द्र अत्र से इन्द्रियः समझते हैं—अन्वज्ञमित्यतुः सहार्थे कर्मप्रवचनीयः, अकैरनिद्र्यैः सहेत्यः ॥ भावः—सांख्यशास्त्रानुसार सत्त्व रज तम इन गुणों के कारण उद्दिकी में जो विविध स्थित्यन्तर होते हैं, उनको 'भाव' कहते हैं, और सत्त्वादि के न्यूनाधिक प्रमाण के अनुसार इन भावों की संख्या भी अनेक होती है । ये भाव पुरुष में सुवास या वस्त्र में रंग के समान लिङ्म शरीर में रहते हैं और इन भावों के अनुसार दैव, मनुष्य या पशुयोनि में जीव भ्रमण करता है—संसरति निरुपसोगं भावैरपिवासितं लिङ्मम् । (सांख्यकारिका) । इस कारिका पर वाचस्पति भित्र लिखते हैं—शर्माद्यर्थमशानाशानवैराग्या-वैराग्ये शर्मानैश्वर्याणि भावाः, तदन्विता उद्दिः, तदन्वितं च

दृग्म शरीरमिति तदपि भावैरविषासितम् । यथा प्राचिनबन्धव कुरुमसम्पकाद्वरक तदामोदवसंगा मनवति । तस्माद्ग्रावैरविवासित (वात्ससरति) ॥ (सारायतश्वकौमुदी) । इहसके सिवाय कलङ्घ-बुद्धुदादि गर्भके, वालययोवनादि वाल के जो स्थित्यन्तर होते हैं, वे भी 'भाव' ही कहलाते हैं, परन्तु ये शारीरिक हैं । इह तरह शारीरिक और धीर्घिक दो प्रकार के भाव होते हैं—इष्ट वराणप्रयिण वायाश्रियेण्य कलनाचा । (सारायकारिका) । यहाँ धीर्घिक भावों से सरबत्त है, क्योंकि वे नित हैं और आगम के साथ एक देह से दूसरे देह में जाते हैं, और इन्हीं के कारण उच्च नीच यानि में जीव जन्म लेता है । शारीरिक भाव प्रयोक जन्म के भिन्न भिन्न होते हैं और मायुर के साथ मिल जाते हैं । स्तरजन्मसोभिन्नेवायुरेष्ट भाव—सारके कारण धर्म, शाश्वत, वैराग्य और पेश्वय ये चार दैवासुर भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव श्राव, प्राजापय, पेन्द्र, प्रैत्र, गान्धर्व, यात्र, राजस और पैशाच इन अष्टविष दैवासुर योनि में जन्म लेता है । तम के कारण अधमे, अज्ञान, अवैराग्य, अनैक्षण्य ये चार तैर्यमाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव पशु, चूग, पशी, सरीसृप और स्यावर इन तैर्ययोनियों में जन्म लेता है । रुजोकुक दोनों के मिश्रण से धर्माधर्मादि अष्टविष दैवासुर और पाशाव (अर) भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव मनुष्ययोनि में जन्म प्राप्त करता है—तृष्णियों शान विरागमैश्वर्यम् । सातिक्षणे तदृपु तत्त्वसमर्पितप्रयस्तन् ॥ अष्टविषलो दैवतैर्यग्नेनक प्रवाप भवति । मानुषवृक्षकृषि तमासो भीनिक सर्ग ॥ ऊर्ध्वं सत्त्वं विशालस्त्वमो विशालश्च मूला सर्ग । मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्भपयन् । (सारायकारिका) । मनुष्य योनि में सरब रज तम तीनों गुण उपस्थित होते हैं (प्राय रज का प्राधान्य मनुष्ययोनि में भावते हैं), दैविक भाव होते हैं, पाशाविक भाव भी होते हैं और सुख तथा दुःख भी रहता है । यह कार्य धर्माधर्मादि अष्टविष भावों से होता है । अत आष्टविष भावों को प्रदीर्घित करने के लिए स्तरजन्मसोभिन्नेवायुरेष्ट यह शब्द प्रयोग किया गया है ।

सार्वशास्त्रानुसार जीव इन भावों से अधिवासित होने के कारण चार चार जन्म लेता है, वेदान्तशास्त्रानुसार जीव प्राक्तन कर्मों (दैवसंग) से अधिवासित होने के कारण यात्र चार जन्म लेता है । अर्थात् 'भाव' और 'कर्म' पर्याय वाची शब्द हैं । मुश्तसहिता में सार्वत्र और वेदान्त दोनों का काफी परिचय मिलता है । इहलिपि जीव के जन्मप्राप्ति के कारण चतुर्लाने के लिये दोनों शाखों के शब्द यहाँ (दैवसंग और भाव) प्रयुक्त किये हैं, जैसे कि आजकल के अंग्रेजी लिखे पढ़े परिचर व्याख्यान या लेख में एक ही कल्पना को प्रकट करने के लिए देशी और अंग्रेजी शब्द प्रयोग में दाते हैं ।

दलहृताचार्य भाव से 'मन' समझते हैं, और दैवासुरादि भावों का संवेद चीये अध्याय में सारिवक, राजस और तामस काय के जो प्रकार वर्णन किये हैं, उन्हीं के साथ करते हैं—उन शिविति ॥ दैवासुरेष्ट भावैव विनुमा प्रेर्वमाण भाव मत्व सत् दृष्टय । तेन देवादीनां सातानां सत्त्वमि सत्तिकै भावै, चमुरादीनां रुणां चन्द्रिमि राजसेभावै, पश्चादीनामपरेष्ट दिविष्टामसेभावै । सत्त्वस्य च मन पर्याप्त्य प्रेरकत्वं दन्तान्वरे

प्रतिपादितम् । तदुक चरणे—‘शस्त्र छतु सत्त्वमुपरादिय यत्तीव शूक शूरीरेणाभिसत्त्वाभिति इति । इह तरह यदि भाव और मन समस्ता जाय तो ये मन के भेद दैवसंग याने पूर्वक के कारण ही होते हैं—मनसो मनस्त इति । पूर्वजासम्बद्धादिः शाइऽस्त, इह ज्ञ-संघ विषयां शूकग्रे मनो भवति । उक चाप्त—‘जन्म जन्म वद्यस्त दानसंययन तप । तनैवाभ्यासयोगेन तदेवाद्यस्तते पुन ॥ इति । अत्रापि च मनउत्तर्त्यौ यमांसज्ञानाभिति बोधम् । तेन कर्मवादेव भग्नोभे भवति ॥ (चक्राणिदृच्छक, शारीर ३५६) । बाहुना—मैयुन के समय हैं से उडीपित होकर जो वायु शूक को घेंटी है, उसी वायु से प्रेरित हुआ । गर्भाशयमनुप्रविष्यावाविष्टु—या गर्भाशयमनु प्रविष्य दोहितरसो सज्जिपातेष्वविष्टुते । (प्रथम अध्याय का १७५० सूत्र देखो) । शुकशोणित सदोग्य गर्भाशय में आने के पश्चात् उसमें जीव या आत्मा प्रवद्ध करने पर गर्भ उत्पन्न होता है यह गर्भोत्तिकी दार्शनिक कल्पना है और इसका उल्लेख पीढ़ी तीसरे सूत्र के बक्षय में किया गया है । अब प्रश्न यह है कि जीव गर्भाशय में ही शुकशोणित के साथ क्यों मिलता है, वाहर क्यों नहीं मिलता ? इस प्रश्न का दार्शनिक समाधान यह है कि जीव अपने पूर्वकों के अनुमार सुख दुःख भोगने के लिए शुकशोणित संदोग्य में अवशीर्ण होता (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) है । यह सुख दुःख भोगने का कार्य शुकशोणित सदोग्य वड कर जीवीर (१ च० अध्याय सूत्र २ देखो) बनने पर ही हो सकता है । गर्भाशय को छोड़ कर अन्य स्थान में रहे हुए शुकशोणित सदोग्य को परिवर्तित होकर शारीर बनने का अवसर ही नहीं (पिछले सूत्र के बक्षय में औदृष्ट जीवोपत्थ और नलिकागत गर्भपारणा देखो) मिल सकता । इह लिए उन स्थानों में रहे हुए शुकशोणित संसर्ग में जीव का प्रवेश अर्थ होता है और गर्भाशय में पूर्वे हुए शुकशोणित संसर्ग को प्रथाकाल बढ़ाने के लिए अवसर मिलने के कारण जीव का प्रवेश सफल होता है । इह लिए जीव गर्भाशय में ही उसमें प्रवेश किया करता है ।

जीव विस्तके जरिये गर्भाशय में प्रवेश वरता है—‘दर्था गर्भोत्तिके लिए आत्मा की आवश्यकता हाती है तथा केवल आत्मा स्वयं शुद्ध दुःख निर्मिय, ज्ञानी होने के कारण उसको जन्म लेने की कोई जरूरत नहीं होती । जब वह वासनाधित हो जाता है, तब जन्मरण के फेरे में पड़ता है । यह आत्मा शुद्धि, अहकार, मन द्वा इन्द्रिय और पश्चात्नामात्र इन तत्त्वों के साथ भ्रमा बरता है—भूमि-द्वैत्यर्थमृलैरत्नाकादाचत्र विकुलस्त । न वस्त्रा तैयावनाभिन्नां न चायद्वाराप्रिकार्त्तेव ॥ (चरक) । इस समूह को ‘लिङ्गशरीर अतिवाहिक शारीर’ या संपै में ‘जीव’ कहते हैं । शुकशोणित के सदोग्य में मिलने पायी यहीं सीखी चीज है, जिसके सिवाय गर्भ नहीं उत्पन्न होता—वशपि शुकरजनी कारणे तथावि दैवातिवाहिक शुक्रमभूत रूप शारीर मायुन, तैव ते शारीर जनवन, नामयन । वहीं शूरीणामातिवाहिकाशारीरनिरेष गर्भ जनयेत्, दानसंस्त्रियी जीवापिता जनयेत्, न तु जनयति, तत्त्वानामस्पृष्टमभूतादेव । शूरस्पृष्टशूक्रशोणित्युक्तप्रभृत्यनेति ॥ (चक्राणिदृच्छ) । यह

जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए गर्भाशय में प्रवेश करते समय इसका दर्शन नहीं होता—तेजो यथाकरशमीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम् । नेन्यनं दृश्यते गच्छत्सत्त्वे गर्भाशयं तथा ॥ (अष्टांग-हृदय) । परन्तु दिव्यदृष्टि से इसका भी दर्शन हो सकता है—कर्मात्मकत्वात् तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् । (चरक) । यह जीव शुक्र के समान हर्षोदीरित वायु से प्रेरित होता है । इसी जीव से भौतिकदृष्ट्या भी अपत्य उत्पन्न होता है । इसी लिए ‘आत्मा पुत्रः’, ‘आत्मजः’, ‘अज्ञादद्वात् संभवसि हृदयादभिजायसे । आत्मा वै पुत्रानामस्ति स जीव शरदां शतम् ॥’ हृत्यादि वाक्प्रचार प्रचलित हैं । इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि जीव पुरुष के वीर्य में ही अधिष्ठित होकर उसी के साथ गर्भाशय में प्रवेश करता है । चरकसंहिता में पुरुष के वीर्य का वर्णन भी इसी प्रकार मिलता है—नथा सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापनीजो मित्रीभावं गच्छति, तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादद्वात् संभवति । स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्च-धिष्ठितश्च वीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यन्ते नवेनाभिसंसर्गमेति । (शारीर ४) । यहाँ ‘अधिष्ठितश्च’ से ‘जीवाधिष्ठितश्च’ समझना चाहिए । योगवासिष्ठ (३१५) में जीव रेत में अधिष्ठित होकर एक देह से दूसरे देह में प्रवेश करता है, यह स्पष्ट लिखा है—नर्तिन् देहे शरीरभूते वाते चानिलतां गते । चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽविष्टिते । ‘जीव’ इत्युच्यते तस्य नामाण्योर्वासनावतः । इतोऽय-महमादिष्टः स्वर्कर्मफलभोजने । गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् । रेतसामधिष्ठिष्ठित गर्भजित्रिमोनिते ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जीव शुक्र में उपस्थित रहता है, शुक्र के साथ पुरुष के शरीर से वायु द्वारा वाहर आता है और शुक्र के साथ गर्भाशय में भी प्रवेश करता है ।

जीव क्या है?—वेदान्तसाक्षात्कानुसार जीव की कल्पना अद्युत उच्च प्रकार की है, परन्तु इतनी उच्च कल्पना का यहाँ विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । वैद्यकशास्त्र में जीव से कोई सिद्ध अर्थ निकलता है था नहीं, जो ग्रहण करने पर जीव के अधिकांश कार्यों को भली भाँति प्रदर्शित कर सके, इसी दृष्टि से इसका उत्तर देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है और इसी दृष्टि से इस अर्थ की ओर देखना चाहिए । जीव अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्मचक्षु से अदरश्य परन्तु दिव्यचक्षु से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से वाहर आने वाला, वीर्य में जिसके होने से गर्भ होता है, न होने से गर्भ नहीं होता ऐसा पदार्थ है, संरैप में यह वीर्य का वीज है । योगवासिष्ठ (३१९) में जीव को मनुष्य का वीज कहा है—संसुप्त-करणस्त्वेवं वीजां यात्यसी (जीवः) नरे । वद्वीजं योनिगतिं गर्भो भवति मात्रति ॥ आशापाशशतावदा वासनाभावधारणिः ।

यायात्मायमुपायान्ति वृक्षाद् वृक्षमिवाण्डजाः ॥ इससे यह स्पष्ट है कि वैद्यकशास्त्र में शुक्रात गर्भोत्पादक वीज को ‘जीव’ कह सकते हैं । अब आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार शुक्रात गर्भोत्पादक अंग को [स्पर्मोद्देहुआ (Spermatozoa)] कहते हैं । इसी का निर्देश शुक्राणु करके पीछे किया गया है । यह शुक्राणु जीव के समान अतिसूक्ष्म, अणु-

स्वरूप, चर्मचक्षु से अदरश्य परन्तु दिव्यचक्षु (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र Microscope) से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से वाहर आने वाला, जिसकी उपस्थिति पर शुक्र की गर्भोत्पादक शक्ति होती है, जिसकी अनुपस्थिति पर वीर्य की गर्भोत्पादक शक्ति जाती रहती है, ऐसा पदार्थ है । विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड में ८६ पृष्ठ देखो । इस तरह दोनों में पूर्ण अभेद होता है । अब जीव के वासना, संस्कार, गुणदोष हृत्यादि आनुप्रस्त्रिक धर्मों का विचार करना है । ये धर्म जीव के साथ रहते हैं और जिस देह में जीव अवस्थान करता है, उस देह में प्रकट होते हैं । पूर्वजन्म, उन्नर्जन्म इनकी सिद्धि इन धर्मों के ऊपर ही की जाती है । अब शुक्राणुओं का इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह सिद्ध हुआ है कि उसकी न्यूट्रिटिं में कुछ पित्र्यसूत्र (Chromosome) होते हैं, जो कुल्ज शारीरिक और मानसिक गुणदोषों को अपने साथ ले जाते हैं, याने ये कुल्जप्रवृत्ति (Heredity) के वाहक होते हैं । इस कुल्जप्रवृत्ति का विवरण पूर्वजन्म के संस्कार अर्थात् जीव के आनुपरिगक धर्मों पर ही किया जाता है—

The self seeking for rebirth obtains embodiment in the frame offering the necessary conditions. The physical body derived from the parents according to the laws of heredity is appropriated by the conscious self. Sir Radhakrishnan 'Idealistic View of Life.' We appear in the world not as clear slates for the writing of environment and circumstance, but as slates already inscribed. For example, we inherit talents. "An eye for beauty, a taste for music, which are not common qualities of the species but individual variations. We can not believe that the rise of the self with a definite nature is simply fortuitous" Therefore, we must presuppose a past for the self, in which the individual inheritance which it brings with it into the world has been built up. Radhakrishnan's arguments for rebirth summed up by Joad in counter attack from the East.

अर्यात् मनुष्य की बुद्धि, वासना, मन, स्वास्थ्य, रोग हृत्यादि शारीरिक और मानसिक विकार जो प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव के आनुषंगिक धर्मों पर निर्भर होते हैं आधुनिक कल्पना के अनुसार शुक्राणु गत पित्र्यसूत्रों पर निर्भर होते हैं । इसलिए वैद्यकशास्त्र में जीव के लिए आर्तवस्योगी शुक्राणु समझने से प्रायः सभी व्यावहारिक वात्तों का स्पष्टीकरण हो जाता है । इसके साथ साथ यह भेद भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव का संसरण केवल पुरुष के द्वारा होता है, परन्तु आधुनिक कल्पना के अनुसार पुरुष के समान चीज़ में भी वीज (Ova) होता है और उस वीज में भी माता के संस्कारवह पित्र्यसूत्र होते हैं, और किसी व्यक्ति में जो पूर्व संस्कार दिखाई देते हैं, वे माता पिता के संयुक्त संस्कार से बनते हैं ।

तत्र शुक्रयादुल्यात् पुमान्, आर्तवयादुल्यान्
स्त्री, साम्यादुभयोन्तु सकारात्मि ॥ ५ ॥

(यमें में टिक्कमेडे के कारण—) शुक्रार्तव के संयोग में
(तत्र) शुक्रवादुल्य से हुए, आर्तवादुल्य से खी और दोनों
की समता से मपुसक पैदा होता है ॥ ६ ॥

धर्मस्थ—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि शुक्र और
आर्तव के संयोग के समय में शुक्र और आर्तव की स्थिति के
भनुमार गमन का लिङ्ग निवित होता है । चरक में भी लिखा
है—एवमिनिवर्त्मनवस्य गमनस्य श्वीपुरुषते हेतु पूर्वपुक्ष । यथा
दि वीमनमुनयत्वा श्वी श्वी मङ्गलमनुविधीयते वीहित्वा मीहित्वा
यतो वा यवत् तथा श्वीपुरुषावपि यथोक्त हेतुभिमायमनुविधीयते ।
पाश्चाय शाश्वतों का भी श्वीपुरुष की उपर्यि के सम्बन्ध में
यही मत है—

The theory, which is supported by an enormous amount of evidence, postulates that sex is definitely determined at fertilization. Halliburton's Physiology The sex of the future embryo is determined at the time of fertilization. Manual of Embryology by Frazer

अब प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है । तीव्रे सूत्र के
वक्तव्य में यह बताया गया है कि शुक्राणु और श्वीबीज में
पिण्डसूत्रों की संख्या ४४ होती है और पक होते समय
विभंगन के कारण इनकी संख्या आधी २७ हो जाती है ।
अधिक अव्ययण से यह सिद्ध हुआ है कि इन में कुछ लिंग-
सूत्र (Sex chromosomes) होते हैं । श्वीबीज में इनकी
संख्या सम या अधिकार के लिए दो समझ सकते हैं, जिससे
विभंगन के द्वारा पक हुए प्रत्येक श्वीबीज में श्वीत्व
वाहक सूत्र (X chromosome) आ जाता है । शुक्राणु में
पुरुषवजनक Y सूत्र पूक होता है, जिसका विभाग विभंगन
के समय नहीं होता । परिणाम यह होता है कि विभंगन
के पक हुए शुक्राणुओं में आधे शुक्राणु पुरुषवजनक सूत्रपुक्ष
होते हैं और आधे शुक्राणु पुरुषविभिन्न होते हैं । अधिकार के लिए
यों कह सकते हैं कि वीर्य में आधे शुक्राणु प्रभवित्यु
(Dominant) होते हैं, जो श्वीबीज के साथ मिलने पर
उत्पन्न होने वाले गमन में पुरुष पैदा कर सकते हैं, और आधे
निर्वाल होते हैं जो श्वीबीज के साथ मिलने पर होने वाले
गमन में पुरुष पैदा नहीं कर सकते, अर्थात् श्वीबीज वालवान्
होकर गमन की होता है । कुछ वैज्ञानिक शुक्राणुओं में
पिण्डसूत्रों की संख्या ४४ मानते हैं जिससे विभंगन के
द्वारा पक होकर जब ये वीर्य में आते हैं, तब आधे २७ सूत्र
युक्ष और आधे २३ सूत्रपुक्ष होते हैं । २३ सूत्रपुक्ष शुक्राणु
विवर्त्त होते हैं, जो श्वीबीज के साथ मिलने पर अपना
पुरुष प्रकट नहीं कर सकते । २४ सूत्रपुक्ष शुक्राणु सबल
होते हैं, जो श्वीबीज के साथ मिलने पर अपना पुरुष
प्रकट कर सकते हैं । इस उपर्याचि के अनुमान गमन में श्वीत्व या
पुरुष वरप्रकृति होना शुक्राणु के प्रकार के ऊपर निर्भर होता
है । अब योनि में चयुत शुक्र में दोनों प्रकार के शुक्राणु
सम्पर्कना में होते हैं और सभी श्वीबीज के साथ मिलने
के लिए भीतर की ओर दौड़ते हैं । इस युद्धोदेश में किस
प्रकार का शुक्राणु सब से पहले भीतर पुरुषकर श्वीबीज के

साथ संयुक्त होता, यह एक दैवयोग (Chance) है ।
इस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता ।
इसलिए शारीरिक मध्ये प्रति रूप संवाद, वन्या, पुरुष
शुक्राधिक भवत । नपुमार समावेन, यथेन्द्रा पारमेवदी ॥ अप
पर पारमेवदी इदा, अदृष्ट्य वलवद्वात् ज्ञानन्तरम् । (शृङ्गार-
वीचिका) । पाश्चाय शाश्वत भी खी पुरुष की उपर्यि में
दैवयोग ही प्रप न मानते हैं—

Sex is inherited. The germcells transmit sex according to the mendelian laws. (But) it is a matter of chance which sex is favoured by Nature. Middle of Sex

इस सूत्र में पुत्र या कन्या की उपर्यि के सम्बन्ध में जी
उपर्यि वर्णन की है, यह सर्वमान्य है—रेतेन वन्या
मधिकेन, पुरुषं शुक्रेण (अधिकेन) : (चरक) । पितृ रेतोऽविवेद्य
पुरुषो, मातृ रेतोऽविवेद्य लो, उभयोन्तर्जनुत्पत्त्वात् पुत्रो भवति ।
(गर्भोपनिषद्) पुमान्तु सोऽधिके मुक्ते ली वृत्त्वाधिके जिया ।
समेतुमानुविद्यो वा श्वीरुलो च विवर्यं । (मनुस्मृति) ।
वार्याणां च वाराणादुविपादितात्तरसभागां च प्रतिषेधे । तत् एव
च शुक्रस्य वाकुल्यात् पुमानार्दवस्य वाकुल्यात् ली तयो लाभेन
नपुरस्वरम् । (अष्टांगसंग्रह) । अपै ये विवरस्य लक्ष्यमनु-
गच्छति, तथा च तिलेस्वरिताम् एव नायते न मापा । अत एव
च वाराणादुविपादितात्तरस्य शुक्रस्य वाकुल्यात् पुमान्
जयते । (इन्दु) । वामपट और इन्दु के कथन का यह
एष अर्थ है कि शुक्र में पुरुषकर और आर्तव में श्वीकरक
शक्ति होती है और यह कथन आधुनिक वैज्ञानिकों के लिंग-
सूत्रों Y Chromosome or X chromosome के तत्र के
साथ मिलता है ।

शुक्रादुल्य—वाकुल्य के कई अर्थ हो सकते हैं । (१)
राशि की अधिकारता—ननु, शुक्रवादुल्यात् पुमान्, इति वरामादुल्यम् ।
यत् आर्तवस्वेद वाकुल्यमुक्तम्, ‘आर्तवं चतुर्वैलिप्रसारात्, मुक्ते तु
प्रसिद्धमावस्थं—इति, नैव, याव मात्रमातृत्वं गमाद्विवादस्थितं मतरित्वं
गमननन लावदेवायामात्मम्, अवावा स्वमानापेक्षया शुक्राणुविद्योर्या
कुल्यमन्तरस्य लाभिष्येत् । (इदहण) । (२) कार्यकर शक्ति की
अधिकारता—कार्यकर शक्ति से वर्धा शुक्र या आर्तव की गमन
जनक शक्ति अभियेत नहीं है, पुरुष या श्वीकरक शक्ति
अभियेत है वैज्ञानिक गमधारणा होने के पश्चात् का यह
प्रश्न है—अपै त्वालायां एव मुवन्ति शुक्रात्मव्यन्तूपादिः सामर
लीयेण भवति । (इदहण) । शुक्रस्य वाकुल्याद्वात् वात्सामर्द्दलभ्य
तत्राच । पुरैतो ये वलवदलये लोरोऽभिषूप् पुरमस्य वारलता
वाति । (अल्यदृष्ट) । इन्हीं तत्र अवपता से राशि की
कार्यकर शक्ति की अवपता या अभाव इनका योग्य
होता है—यावविद्यत्वं कारणवायादमात्मात् । (अल्यदृष्ट) । इन्हीं
से राशि की अधिकारता की अप्रयोजकता व्यव्य इदहण को भी
मालदृष्ट हुई है और गमनन तथा श्वीपुरुष वैदेवतन की
इष्टि से भी राशि का कुछ भी महाव नहीं है । इसलिए
शाकुल्य से शुक्राणु की पुरुषकर शक्ति की अधिकारता
समझनी चाहिए और अवपता से पुरुषकरक शक्ति की अवपता
या अभाव समझना चाहिए । इस अर्थ के अनुमान आधुनिक
उपर्याचि का विचार करने पर दोनों के तत्र में मेल हो जाता
है । जब शुक्राणु पुरम् (याव श्वीमोसोम) युक्ष होता है

जाने शुक्राहुल्य होता है, तब पुत्र पैदा होता है। जब शुक्राणु उससे विरहित होता है याने शुक्राल्पता और पर्याय से आर्तवाधिक्य होता है, तब कन्या होती है।

आर्तवादाहुल्य—शुक्राहुल्य के समान इससे भी स्त्री-वीज की गर्भ में स्त्रीवजनक शक्ति समसनी चाहिए। यह वाहुल्य शुक्राणु में पुंसवजनक शक्ति के अभाव में हो सकता है, इस बात का उल्लेख ऊपर किया गया है। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि स्त्रीवीजों में भी स्त्रीवजनक और पुंसवजनक दो प्रकार के वीज स्वभाव से ही हुआ करते हैं। यदि स्त्रीवजनक (Female determinant) वीज से गर्भ पैदा हो तो कन्या पैदा होती और यदि मुंसवजनक (Male determinant) वीज से गर्भ पैदा होगा तो पुत्र होगा। मनुष्येतर प्राणियों के वीज की परीक्षा करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि दोनों प्रकार के वीजों के रासायनिक संगठन में कर्फ होता है। मनुष्यों में इस प्रकार की परीक्षा असम्भव है, परन्तु उसके साथ साथ यह मालम हुआ है कि दक्षिण वीजकोप से पैदा होने वाले वीज मुंसवजनक और वाम वीजकोप से पैदा होने वाले वीज कन्याजनक होते हैं, तथात् वामकोप के वीज प्रवल और दक्षिणकोप के वीज अल्पवल होते हैं। यदि दैवयोग से वामकोप के वीज से शुक्राणु का संयोग हुआ तो कन्या होगी। पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की इस विचारसरणि को जोडोशीनर का मत (Otto Schöner's theory) कहते हैं। कन्या या पुत्र की उत्पत्ति के लिए निम्न प्रकार से इस मत का कायदा उठा सकते हैं। यदि स्त्री प्रसूत होकर पुत्र हुआ हो तो वह दक्षिण वीजकोप के वीज से हुआ है। प्रसुतकाल के पश्चात् जब फिर आर्तवदर्शन होगा, तब उस समय वीज वामकोप से निकलेगा। उसके बाद दक्षिण से, फिर वाम से। इस तरह सियों का वीज पर्याय से निकला करता है। इस नियम के अनुसार प्रसूति के समय से मासिक धर्म की तिथियाँ लिखकर रखने पर प्रत्येक मासिक धर्म का संबंधकन्या या पुत्र के साथ है, इसका निर्णय होता है और उद्दनुसार खीपुरुप समागम कर सकते हैं।

हन मतों के अतिरिक्त और कई मत कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन काल में प्रचलित थे और आधुनिक काल में भी वैज्ञानिकों में प्रचलित हैं। उनका संजेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है।

शारीरस्वास्थ्य और आहार—शुक्राधिक्य और आर्तवाल्पता हृत्यादि से कुछ लोग शुक्राधार पुरुप और आर्तवाधार स्त्री हृनकी पुष्टा और कृगता समझते थे, और पुत्रोत्पादन के लिए पुरुप को पौष्टिक आहार-विहार और स्त्री को लघु आहार-विहार दिया करते थे—लिया: शुक्रोधिकों स्त्री त्यात् पुमान् पुंसोधिकों भवेत्। तस्माच्छकविवृद्धयर्थं वृद्धं दिनर्थं च सेवयेत्॥ वाजीकरण के सम्बन्ध में पुरुपों को अथात् पर्याय से शुक्र को पुष्ट करके पुत्रोत्पादन का भी हेतु था—वाजीकरणमन्वच्छेत् पुरुपो नियमात्मवान्। तदायत्ती हि धर्मार्थां प्रतिश्वय यश एव च। पुत्रस्यायतनं होतद् गुणाश्वते सुताश्वयः। (चरक)। वृद्ध्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पितुः संपादयतीलर्यः। (चक्रपाणिदत्त)। ततः पुष्पदर्शने प्रथमदिवसाद् मध्यति व्रक्षाचारिणी अल्पं कर्शनार्थमश्वनीयात्। (अद्यांगसंग्रह)।

एवं गच्छन् लियं ज्ञामां मध्यां मूलं च वर्जयेत्। सुत्य इन्दी सञ्चतुत्रं लक्ष्ययं जनयेत् पुमान्॥ (याज्ञवल्यस्मृति)। इसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—एवमुक्तेन प्रकारेण लियं गच्छन् ज्ञामां गच्छेत्। ज्ञामता च तस्मिन् काले रजस्वला-वर्तनेव भवति। प्रथं चेत् भवति तदा कर्तव्या ज्ञामता पुत्रोत्पत्यर्थं-मल्पाऽस्तिन्मध्यभोजनादिना। (मिताधरा)। पुत्रोत्पादन के लिए पुरुप का पौष्टिक आहार सहायता करता है या नहीं, इस विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिक निश्चिति से नहीं कह सकते हैं परन्तु गर्भोत्पादन के समय स्त्री की ज्ञामता पुत्रोत्पत्ति में सहायता करती है, यह उनका भी मत है—

The measures which aim at altering the momentary condition are more important in practice. In this case it is thus a question of physical condition shortly before and during the sexual union which is to lead to the desired child. For this purpose, the woman who hopes to give birth to a son can have short measure in food. *Ideal Birth.*

शारीरिक और मानसिक स्थान्त्रिक तथा अपत्योत्पादन की हृत्यादि में यदि पुरुप स्त्री से प्रवल हो तो पुत्र होगा, यदि स्त्री प्रवल हो तो कन्या होगी—

The sex of the child is determined by the relative vigour of the parents. The father, from maturity, force of will, or superior strength of the precreative function may give the masculine development, or the mother, from similar causes; may give the feminine. *Esoteric Anthropology* by Dr. Nicholas.

पुरुप का नाशचर्य—पुत्रोत्पत्ति के लिए जो समागम होता है, उसमें पुरुप को व्याशचर्य पालन का उपदेश होता है—मासं व्रक्षाचारी (पीछे दूसरे अध्याय का २९वाँ सूत्र देखो)। इस व्याशचर्य से अपत्य पुमान् और उत्तम गुणान्वित होता है, इस बात का समर्थन आधुनिक वैज्ञानिक भी करते हैं—

Various considerations make the demand for a certain abstinence before copulation seem well founded. This may be traced not only to the improvement of theova and spermatozoa but also to the increase in the sexual power of attraction. Thus if the man has been continent during menstruation, or best of all, for a few days longer, and then after very strong sexual exigence undertakes copulation with the desire for a boy, then the probability is certainly/greater...for achieving the birth of a boy. *Ideal Birth.*

समागम का काल—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में आतंचलाद्वद् होने के बाद आठ से बारह दिन गर्भधारणा के लिए योग्य बतलाये गये हैं। उनमें सम दिन पुत्र के लिए और विषय दिन कन्या के लिए (हितीय अध्याय का २९वाँ सूत्र देखो) योग्य माने गये हैं (आगे १२वाँ श्लोक देखो)। सीरेल

(Siegel) नामक शास्त्र ने अपने अनुभव पर यह नियम बनाया है कि पहले भी दिन से समागम करने पर गर्भारण हो जाय तो उत्र होते हैं; इस से औदृढ़ दिन में गर्भारण होने पर उत्र और कन्या सम संख्या में होते हैं, वसके बाद लेससर्वे दिन तक कन्याएँ होती हैं और अन्तिम दिनों में गर्भारण नहीं होती या होने पर उत्र होता है। यह नियम निरपवाद नहीं है, परन्तु इससे पहले यह जल्द सान्त छोटा होता है कि प्रारंभिक दस बारह दिनों में उत्र होने की सम्भावना बहुत अधिक होती है। यहाँ सम और विषम रात्रि का जो नियम दिया है, उस पर उत्रादा और देने की जल्दत नहीं क्योंकि यदि याहूचर्य, खाद्य पैशाचि वार्ता पर पुओलिटि की इटि से घ्यान दिया, जाय तो विषम दिनों में उत्र उपच हो सकता है। 'पुमान् पुसोडिके शुक्' इस श्लोक की भगुस्थिति की टीका में उर्दूकम्बल लिखते हैं—‘पुसो बीडिपैक्डयुमास्विं पुत्रो जायते। खोर्दीजेऽपिके खुमास्वसि दुवितेव। अयो धृष्णाहारादिना निन वीशापिक्व भार्यायाश्वाहारात्साश्वदिना बीजाल्पवद्वमवग्युमा स्वपि पुश्त्रिनिं, ग दव्यमिति दव्यितम्॥ अथ समागमकाल का और कन्या-उत्र की उत्पत्ति का व्याप संबंध है। यथापि इस प्रथ का टीक टीक उत्तर देना कठिन है तथापि स्त्रीजी की वकापक्ता के साथ उसका सर्वथ माना जाता है। स्त्रीजी भारतवर्द्धन के बाद धारहर्वे दिन पक्ष होकर कोप के बाहर आता है। परन्तु मैथुन के कारण वह इस काल के पहिले भी बाहर आ जाता है, इस बात का उल्लेख पीछे 'विसपति भारत नार्वस्त्वा पुसा सामग्रे (अध्याय २ श्लोक ३८) इस श्लोक के तथा इस अध्याय के लौसरे सूत्र के वक्षव्य में किया गया है। जो उत्पत्ति काल के पूर्व मैथुन के कारण बाहर आता है, यह अपक (Premature) होता है याने वह में अल्प होता है, जिससे उससे होने वाला गर्भ भी बनता है। जब योग्य काल में बाहर आये हुए याने परिपक्व स्त्री से गर्भ बनता है, तब बलाविक्षय के कारण कन्या होती है। जब महीने के लालिर के दिनों में समागम होता है तब स्त्री अतिपक (Over maturity) याने उर्दूल होने के कारण उत्र होता है या स्त्री नष्ट होने के कारण गर्भारण नहीं होती। अल्पदत्त जन एव च शुक्रय नाह्याज्ञायते पुमान् (शारीर १५) इस श्लोक की टीका में उत्र और कन्या की उत्पत्ति के संबंध में निम्न श्लोक देते हैं—‘विश्वादिना तूक्ष्म—स्त्रीपुसयो दुक्षयोगे व्यादी विसुदेतुमान्। शुक् ततु पुमान् बीरो च यते वृत्तवाच् इष्ट ॥ अथ वेदान्तिना पूर्व विसुदेत्तुक्षयुतम् ॥ ततो स्त्राविता न या नायै दृवदसदा ॥ इस श्लोक का अर्थ यदि स्त्रीगृह के मतानुसार निन्द्र प्रकार से किया जाय तो उत्र और कन्या की उत्पत्ति की उपर्यि टीक समझने में आती ही और जिस तत्त्व के इष्टीकरण के लिए यह श्लोक दिया गया है, उस तत्त्व का सम्बन्ध होता है। यथा— द्वी पुरुष के समागम के समय यदि उत्र का शुक्र प्रयाम दरसायित हो और समागम की उत्तेजना से पश्चात् स्त्री का द्वीज दरसायित हो तो वह स्त्री अर्थपक अतपक अल्पवल होने के कारण उत्र उपच होता है। यदि समागम के समय द्वीसीज पहिले दरसायित हुआ हो और पश्चात् शुक्र उत्तरायित

हो सो थीज परिषक अतपूर्व प्रवल होने के कारण बन्ध तरफ
होती है। यदि इस प्रकार से अर्थ न किया जाए तो इस श्लोक
का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता।

अन्य मार्ग—पहिले यह बताया जा सका है कि दूसरे सदल और निर्वाल दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं। सदल से पुरुष और निर्वाल से कन्या उत्पन्न होती है। ये यदि एक दूसरे से पृथक किये जायें तो इन्हाँके अनुसार पुरुष या कन्या उत्पन्न करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यह पृथक करने का काम बहुत कठिन है। इत्थापि शास्त्रज्ञों की यह राय है कि पुस्तवकारक शुक्राणु दूसरे प्रकार के शुक्राणुओं से अधिक चपल, सदल और कठिनाईयों के साथ सरलता से सुकावला करने वाला होते हैं। इसलिए भीतर पहुँचने के रास्ते में कठिनाईयाँ होने पर भी यदि यन्हें धारणा हो जाय तो अधिकतर पुरुष उत्पन्न होता है। जिसी में प्रथम बार पुरुष अधिक होते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि उनका अपश्यमार्ग सकट और क्षुद्रण्ड होने के कारण अधिकतर पुस्तवनक शुक्राणु भीतर पहुँच सकते हैं। शुक्रोत्सर्यं गर्भांश्यवृद्धारे के पास करने की क्षमता योनिन्द्रार के पास करने से शुक्राणुओं की अधिक उम्मति भी उनके मार्ग में अद्वितीय उत्पन्न करती है। क्षुद्रकुण्ड के प्रारम्भिक दिनों में अधिक पुरुष उत्पन्न होने के कारण है, उनमें उस समय अपश्यमार्ग की चारीय प्रतिक्रिया एक कारण माना जाता है। यदि अपश्यमार्ग की चारी प्रतिक्रिया न हो तो मौसुम के समय शिरनाप्र पर जला सागरात् द्विष्टारीय (सोदा वायकार्बेनिट) मुक देने से काम न जाता है।

उपरुक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आत्मवेदन के मुख्यालयाकार प्रमाणन्, आतंवाहुक्याकार खीं यह पुनर-कन्या की अपरिषद के संबंध में जो बाहुदृश्य का नियम बताया है, वह वेदवृक्त थीं ही और इसी की आधिकारिक परिभाषा में प्रभुत्व का नियम (Law of dominance) कहते हैं और इसी के अधीन प्रथम संघ में लिंगनिर्णय होता है—

That sex is inherited pursuant to the law of dominance and in accordance with the mendelian rules. *Fiddler of Sex.*

वह प्राचलय के होता है तथा कैसे किया जा सकता है, इस विषय का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण किसी गणितीय भी पुरुष या कन्या होगी इसका उत्तर नहीं है सकते, वह किसी विद्यार्थी की को निश्चित मार्ग बता सकते हैं। वैज्ञानिक केवल वहखले अनुभव और हिसाब किताब के आधार पर समाध्यता चित्त कर सकते हैं—

While we know something about the mechanism of heredity, we know little indeed of the forces controlling it, so as to be able to make its statutory laws apply in each individual case. What we can do is to consult statistics and find

वर्गों की विभिन्नता की वजह से इनकी विवरणीय विविधता होती है।

की हत्ती संदिग्धता होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से पुन्नीयविधि (द्वितीय धर्माय के २८वें श्लोक का वक्तव्य देखो), समागम के समय शुभ नहर्त्रों की उपस्थिति 'वृक्षा वृष्टिपूर्णः सोमः सर्वथाइभिन्नः । भगोऽथ मित्रावल्ल्यी वीरं दधतु मे उत्तमः' इत्यादि मन्त्रों का पठन आदि अनेक दैवी उपाय प्रयुक्त होते थे । इन उपायों को सहेतुकता विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती । हस्तलिए विज्ञानवादी तथा नास्तिक इन कर्मों पर विश्वास नहीं करते हैं । विश्वास या ध्रदा मन का एक वडा धर्म है, जिससे मनोवल बढ़ता है और संसार में जो चाहे वह चीज उससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है—श्रद्धामयोदयं पुरुषो यो यच्छः स एव सः । (गीता) । जिनका इन उपायों पर विश्वास नहीं है, उनके लिए हनसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता परन्तु जिनका विश्वास है, उनके मन को हनसे शान्ति मिलती है और उस शान्ति का परिणाम इच्छार्थी प्राप्त होने में होता है । इच्छित अपत्य प्राप्त करने के लिए जो दैवी उपाय प्रयुक्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में 'वानहे वेलहे' जैसे सुप्रसिद्ध जर्मन शास्त्रज्ञ के विचार वहुत ही जँचे उदार और विचारणीय हैं—

I do not presume to judge the numerous theories of this kind (Ancient incantation ceremonies and superstitious rites) in which sometimes, under all kinds of mysterious overgrowths, there lies hidden a true observation of nature; and I leave to each individual the belief which gives him most satisfaction or makes him happy. Finally, there is much in the world which has an effect without exact science being able to compute it in figures or by mechanism. Besides, it can hardly be maintained that astrology, for example, stands on weaker foundations than the compensating tendency, etc. Ideal Birth.

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पुत्र या कन्या प्राप्त करने के लिए कोई भी एक उपाय पर्याप्त नहीं है, अनेक उपायों का संयोग करना चाहिए, क्योंकि गर्भ का लिङ्गनिर्णय भी वास्तविक अनेक कारणों के सहयोग से होता है । हस्तलिए निम्न उपायों को अझीकार करने से पुत्र उत्पन्न होने की सम्भाव्यता वढ़ती है—

जिस महीने में दक्षिण कोप से वीज का उत्सर्ग होगा, उस महीने का निर्णय करके उस महीने के ऋतुकाल के प्रारम्भिक नौ दिनों में समागम करो । समागम से पूर्व आठ दस दो तक व्याहर्चर्य धारण करो और स्त्री के लिए अल्पाहार रखो । समागम के पूर्व तथा समागम के समय पुत्र की इच्छा मन में धारण करो, तथा शुक्र का उत्सर्ग गर्भद्वारा के पास न करके योनिद्वार के पास करो । यदि योनि में कुछ अन्तर हो तो मैथुन के समय शिशन पर जरा सा ज्ञारातु ध्यज्ञारीय (सोदावाईकार्य) छिड़को । यह सब कुछ करने पर भी पुन्नीयता का वादा नहीं किया जा सकता, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए ।

पुंसवनविधि का श्रौतित्व—शुक्र और आर्तव के वलावल पर गर्भ के आधान के समय उसके लिङ्ग का भी आधान होता है, यह आयुर्वेद का मत आज के विज्ञान से भी सिद्ध हुआ है ।

इसका उल्लेख हस्त वक्तव्य के प्रारम्भ में किया गया है । ऐसी अवस्था में जब कि गर्भ के लिङ्ग का निर्णय हुआ है, लिंगपरिवर्तन का प्रयत्न अस्वाभाविक, असुलिंगुक्त अतपुर निरथंक मालम पड़ता है । यह शक्ता प्राचीन ऋषियों के सामने थी और उसका उत्तर भी आचार्यों ने ऐसा उत्तम दिया कि जो पुंसवनविधि का श्रौतित्व सिद्ध करके हरएक काम के लिए भूत भविष्य वर्तमान काल में मार्गदर्शक हो जाता है—तत्र यदि प्रावृत्तेन कर्मणा स्त्रीगर्भः कर्तुमाविस्तदा पुरुषप्रयत्ने सत्यपि पुंगर्भः कर्तु न शक्यते । तस्मातुंसवनमनर्थकमेवत्याशंवायाह । (धर्मगद्धत्त) । इस आशङ्का को सामने रखकर वाग्मताचार्य उत्तर देते हैं—वली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते । (अष्टांगग्रहदय) । इसका अभिग्राय यह है कि यदि वलंवान् प्रयत्न किया जाय तो दैवदत्त लिङ्ग में भी परिवर्तन कर सकते हैं । आधुनिक विज्ञान का भी यही मत है—

We may not know exactly, what sex is; but we do know that it is mutable, with the possibility of one sex being changed into another sex, Psychology of Sex. In man and all classes of animals with separate sexes it is true that sex appears to be fixed.....Nevertheless.....there is the possibility of an artificial change of sex which can be effected even in individuals fairly far or already completely developed in the direction of one sex. Ideal Birth.

निम्न श्रेणी के प्राणियों में लिङ्गपरिवर्तन के प्रयोगों में आज भी सफलता मिल गई है, और मनुष्यों में यद्यपि आज पूरी सफलता नहीं मिली तथापि भविष्य में, जो वहुत दूर नहीं है, पूरी सफलता मिलने की आशा है । यह परिवर्तन कैसे हो सकता है, इसका विचार अब नपुंसक के विवरण में किया जायगा ।

साम्यादुभयोनपुंसकम्—नपुंसक के कई अर्थ होते हैं । (१) पंड—तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः सः १ भवत्यपुमान् पुमान् ॥ (चरक) । स पुमान् ज्योपु पुरुषव्यापारकरणासमर्थत्वात् अपुमान् भवति । (चक्रपाणिदत्त) । इसको इम्पोटंट (Important) कहते हैं । नपुंसकता के जन्मोत्तर कारणों का विचार पीछे २ अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । कभी कभी नपुंसकता धृष्टपौर्णों का अभाव, धृष्टपौर्णों की ठीक धृष्टि न होना या उदरगुहा में दोनों की स्थिति इत्यादि सहज कारणों से होती हैं । वातिकपंड (Anorohism) इस प्रकार का विकार है—वात्यमिदोषाद् वृष्टियो तु यस्य नाशं गतौ वातिकपंडः सः । (चरक) । (२) क्वीव, हिज़ा (Eunuch, cast-rate)—इच्छके धृष्टपौर्ण वचपन में निकाल दिये जाते हैं, जिससे इनका पुरुषत्व नष्ट होता है । कभी कभी यौवन प्राप्त होने के पूर्व धृष्टपौर्ण का अन्तःस्नाव नष्ट होता है, इससे नपुंसक राज्ञ (Eunouchoid gigantism) उत्पन्न होता है । इन दोनों प्रकारों में पुरुषत्व की कमी होती है, परन्तु उसमें श्रीत्व का अंश नहीं होता है । (३) दिलिङ्गीया श्रीयुंसलिङ्गी—जिसमें दोनों के लिङ्ग मिलते हैं, ऐसे व्यक्ति । कुछ टीकाकार नपुंसक से (न पुमान् न स्त्री) जिसमें १०८ के लिङ्ग नहीं मिलते, ऐसे व्यक्ति समझते हैं—

दरा तु एवाहंदयो साम्य तुन्यत्वं मदति हनान ली पुमान्
ज्ञायेऽपि तु निहाइयानिहितं हीत यो जायते। (अरणदत्त)।

खीपुसुलिङ्गोति रोपुसापाराणानिकाचक्षुरादिलिङ्गयुक्तं।
योनि तु शीपुसयोरसापाराणान्युपस्थितवत्सनदमहत्प्रभूनि दानि
साम्य न समवत्तिः। अपापाराणानि लिङ्गाणि धृदेन शुगेण
रक्षेन वा ज्ञायनि, इह समदत्तशुकराभेन गारायवनरक्षितिः
मोपरपरवजादिविषेपलिहमवनम्। (चक्रपाणिदत्त)।

परतु यद अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि 'कारणादुपिधिवितान् दावाणो
तत्त्वस्तप्तम्' इह न्याय से अप शुक और अतांक दोनों
कारण भीज्ञद हैं, तथ उनके लक्षण गर्भ में न मिलना
धर्मवय है। इसके विवाय जिसमें दी-पुरुष के कुछ भी
लक्षण न मिले और बाहूत मनुष्य की हो ऐसे व्यक्ति
मिलते नहीं। जिसमें दोनों के व्याधित्रय लक्षण हीं, ऐसा
व्यक्ति कभी कभी निष्ठ सड़ना है और उसको

स्थानिक्षिलिंगी (Hermaphrodite) और उस विषय को
स्थानिक्षिलिंगावस्था (hermaphroditism) कहते हैं।

नपुसक से यहाँ व्याधित्रिलिंगी व्यक्ति अभिप्रेत है। जिस
व्यक्ति में उपर्युक्त लक्षण वीजोरीप और दोनों के वादाध्यजन
मिलते हैं, उसको यथार्थ (True) नपुसक कहते हैं।
खायुवेद के अनुसार शुक्रशोणित के बल की ठीक साम्या
वस्था से पक्षी तुतीया प्रवृत्ति उपर्युक्त हो सकती है। परतु
समाध्यना (Probability) की इष्टि से दोनों की ठीक
साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है। इसलिए यथार्थ
नपुसक उपर्युक्त होना भी बहुत कठिन है। पाश्चात्य दावटों
का कथन है कि संसार के साहित में अब तक केवल यात्रा
यथार्थ नपुसकों का पता मिलता है—

In the world's literature there are on record but twelve true hermaphrodites. Medical Annual 1935 Upto 1914, only five cases of unmistakable hermaphroditism have been reported. Since then a few more have been added. Altogether, there are about twelve such cases on record. Riddle of 'sex'

साम्यावस्था ठीक न होने से एक लिंग की अविक्षता
और दूसरे लिंग की कुछ कमी हो देसे व्यक्ति देखने में
अधिक मिलते हैं और इस प्रकार को अव्यार्थ Pseudo,
spurious) नपुसक कहते हैं। लिङ्गाधिकता के अनुसार
अव्यार्थ नपुसकता के दो भेदों किये जाते हैं। (१) जिसमें
उपर्युक्त होता है परतु जिसके बाहू व्यञ्जनों में दोनों का
मिश्रण होता है, उसे पुरुषीलिंगी (Androgynoid)
और उस अवस्था को पुरुषीलिंगता (Androgyny) कहते हैं। चरक में लक्षणात्मिका या तुण्डिकाभासक एक सहज
पुरुषाध्यापत्ति वर्णन की है—यदा तस्य वीजे दोनोंगानाद्यत
पुरुषवर्णाण च शरीरवीनामानामेकदेयं प्रदेशाध्यापत्ते तदा
पुरुषात्मिभूदिष्टुरुपं लक्षणात्मिक नाम जनवति ता पुरुष
व्याधित्रिलिंगता। (शा० ४)।

(२) यद व्याधित्रिलिंगमी
मालूम वही है। (३) जिसमें वीजोरीप होता है, जो
सुधृतया ची है परतु जिसमें पुरुष के भी बाहू अवनक
मिलते हैं, उसे शीपुसलिंगी (Gynandromorph) और उस
अवस्था को शीपुसलिंगी (Gynandry) कहते हैं। चरक में

सान्ता या वाता नामक एक शीघ्रापत्ति वर्णन की।
एह इस प्रकार की माद्रम पहड़ी है—यदा तस्य वीजिं
गमीरावीद्वागानामेवरेदा प्रदेशाध्यापत्ते, तदा त्वर्णां
भूषिषामप्रियं वाता नाम जनवति, तो शीघ्रापत्ति वाचदौ
(शा० ४)। वार्तागुपुविदियो व्यावेशदा एव मवति न
मदादामान्वयमिति मृदते। (चक्रपाणिदत्त)। इसका कारण
है कि दोनों के हारीर में लिंगानुषार लेन्टिक्ल प्रीति
तपस्थित रहने से 'व्यावेशदा एव मवति', परतु बादजन
नेन्द्रिय विकृत होने से व्यावायामाध्यं नहीं होता। संकेत
में दी और उठा दोनों के लक्षण उपरित्व होने से जिसके
न पुरुष न ची (न पुमान् न ची) कह सकते हैं, ऐसे
व्यक्ति, परतु नपुसक का जाये है।

नपुसक क्यों होता है?—इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व
गमीं की वृद्धि गर्भावय में किस प्रकार से होती है, इस
विषय का विचार आवश्यक है। शुक और शोषित का
संयोग होने पर जो जीव उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि
उसी लक्षण से शुक होती है, परन्तु जो सप्ताह तक उसने
न ची के लक्षण मिलते हैं न पुरुष के, याने वह खील
पुरुषत्व विरहित (Neuter) होता है। इस अवस्था के
अव्यक्षावस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे अवस्था
के दृष्टे रलोक के बताये भैं किया गया है। इस अवस्था
के पश्चात् जननिद्रा के स्थान में दोनों के लिए साधारण
(Wolfian body) नामक एक अग उत्पन्न होता है।
उसके साप साध या कुछ पीछे दोनों लिंगों की प्रतिविधि
(स्त्रीम रूप में उपर्युक्त और वीजोरीप) भी उपर्युक्त होती
है। किर और घी वृक्ष या आर्तव के प्रावहय के अनुसार
'पुरुषावस्था हि जीवये' इस न्याय से एक अधिक का नाम
होकर दूसरी प्रथि जोर पकड़ती है और गर्भ सी वा
पुरुष होता है। संकेत में प्रथम उपर्युक्तावस्था और
पश्चात् एकसाधारणावस्था होकर ची या पुरुष उपर्युक्त
होता है। कुछ सर्वेवज्ञानिक उपर्युक्तावस्था मात्र
नहीं कहते हैं। उनका कथन है कि प्रारम्भ से गर्भ में ची
या पुरुष के स्त्रीम रूप उपस्थित होते हैं—

It must be recognized that there is in this idea of there being a 'neuter' or general basis in which the characters of men and women are grafted, nor is there any reason for looking at woman as a modified man, or vice versa. So far as cellular structure is concerned, the individual must be, from inception either male or female. Manual of Embryology by Frazer

एकसाधारणावस्था, याने खील या पुरुषत्व, व्यक्ति
में अन्तर्वादी प्रथियों के समूहविदोष से उपर्युक्त होती है।
पुरुषाधित अन्तर्वादी प्रथिसमूह जिसमें काम करता है
वह पुरुष, और वीजोरीपाधित अन्तर्वादी प्रथिसमूह
जिसमें काम करता है वह ची होती है। अन्तर्वादी
प्रथियों में पूर्वे पिंडियुटी सुधृतया तथा धायमस, शायराहा,
अधिकृष्ट लक्षण कई प्रथियों का लिंगाध्यत्ति में वीजोरीप संबंध
आता है। इसका उल्लेख द्वितीय अवस्था में भैंसे रलोक के
बताये में किया गया है। इन प्रथियों के अतिरिक्त, अयोग और

भिद्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैक्षिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु हृत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उमयसाधारणावस्था, चीच में उमयसाधारणलिङ्गग्रथियुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्थावी ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्गग्रथियों की घृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गप्रथियों का नाश इस क्रम से गर्भावस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्गग्रथियों का कार्य बराबर जारी रहे तो यथार्थ नयुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रन्थि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नयुंसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वाभाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान नहीं दे सकता—

We are still in the dark concerning the inner mechanism of those malformations. We are at a loss to account for the underlying condition which is responsible for the sudden shift from a predestined direction into a series of developmental adventures. Riddle of Sex.

आयुर्वेद के अनुसार दीजों की समयलता, उपतस्ता और माता के आहार-विहारादि के दोष इस अवस्था के कारण होते हैं—वीजात्समांशुदृपत्तस्तीजात् स्त्रीयुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः। वीजात्समांशुदृपत्तशाहरविहारदोषैः ॥ (चरक, शा० २)। गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनवाहा लिङ्ग स्थापन होते ही सकता है?—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गर्भ में यथापि आधान के समय से शुक्र या आर्तव के प्रावल्य के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की हृच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा परिणाम करने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री हो तो स्त्रीकर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथियों का उपयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह कार्य माता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओषधियाँ, ग्रंथियों के सत्त्व Hormones) हृत्यादि का उपयोग करके उसके शरीर के परिवर्तन (Metabolism), में घटावटी करने से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को असुक प्रकार का आहार-विहार, असुक प्रकार की जलवायु (Climate), असुक ओषधियाँ, असुक ग्रंथियों के सत्त्व असुक मात्रा में प्रदान करना हृत्यादि का निश्चित सूत्र अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और निम्न श्रेणि के प्राणियों में इन उपायों द्वारा सफलता मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग करने में कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

लिङ्गपरिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रज्ञों का यह कथन

है कि उमयसाधारण अवस्था (Bisexual Phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त होती है, जिसमें उसमें घृणग्रंथि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर जननेन्द्रिय के पिण्ड (Genital ridge) बढ़कर वहाँ शिश्नादि वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो घृण के स्थान में वीजकोप बनता है, और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि आंग वर्धित होते हैं। इसलिए लिङ्गपरिवर्तन स्त्री में ही ही हो सकता है, याने गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience conours. Medical Annual. Page 130, 1935.

इसका अभिप्राय यह है कि लिङ्गपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है।

ऋतुस्तु द्वादशाव्रतं भवति दृष्टार्तवः, आदृष्टार्तवाऽप्यस्तोत्येके भाषन्ते ॥ ६ ॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल वारह दिन का होता है। कई (भावार्थ) कहते हैं कि आर्तवस्था न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल। गर्भधारणा स्त्री में वीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवस्था के ऊपर नहीं। ऋतुकाल में वीजकोप से पक्कीज का उत्सर्ग होता है। इसलिए ऋतुकाल को वीजोत्सर्ग काल भी (Ovulation time) कहते हैं। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है। अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का रिवाज पढ़ गया है—आर्तवदर्शन च शरदाऽतुसाध्याद्वितुशब्देनोन्यते। यथा अतु-सानि वीजानि प्रोहन्ति, तथाऽत्तंवदर्शनाख्येऽपि कृतौ शुक्रलं वीजमुसमिति ऋतुसाध्यम् । (चक्रपणिदत्त, शारीर २)। ऋतुवीजाकालमवैक्षेत इत्याहुमर्हयः ॥ (काशयपसंहिता, जाति-सूत्रीय शारीराध्याय)। इष्टार्तवः—इष्टामात्रवं यस्मिन् । जिसमें आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा इष्टार्तवा—जिसमें मासिक आर्तवस्था नहीं हुआ है, ऐसी ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री । द्वादशाव्रतम्—वारह दिन। अन्य दैद्यक्रमन्थाँ में तथा स्मृतिग्रन्थाँ में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की बताई गई है—ऋतुकालं तु पोदशरात्रं यावद्, यदुक्तं हारीते—‘पोदश दिवसा ऋतुकालः’ इति । (चक्रपणिदत्त, शारीर २)। तदुक्तं हारीते—‘पोदश दिवसान्यृतुकालः’ इति । विदेहोत्पुरुकम्—‘खीणमतुर्भवति पोदशरासराणि’ इति । (मधुकोपव्याख्या, प्रदर्ननिदान)। आर्तवस्थावदिवमाद्युः पोदशरात्रयः । गर्भवहणः योग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भावप्रकाश)। ऋतुः स्वाभाविकः खीणं रात्रयः पोदश स्मृताः । (मनुस्मृति ३४६)। पोदश-तुनिशाः स्त्रीणाम् । (याज्ञवल्क्यस्मृति १७९)। ये पोदश दिन आर्तवदर्शन-दिन से गिने जाते हैं—स च (ऋतुः)

थरा तु शुक्रार्ददयो साम्य त्रुन्दव भवति तदा न ही पुमान् चारोंप्रेषिति तु लिङ्गावाणिहिते हीन परो भावते । (अश्रद्धत) । खोपुसिनिहोनि सोयुशसाधारणनामिकावद्वुरारिनिक्षुल । एवं तु खोपुमयोरसाधारणानुरस्थवजस्तनदमध्यमृष्टिनि लानि वास्य न भवति । असाधारणानि लिङ्गानि शुद्धेन मुकेत रक्तेन वा जनयति, इति समरक्षुत्वार्थेन नरत्वयत्वरूपिति नोपस्थवजादिविदेलिङ्गमवनम् । (चक्रपाणिद्वच) । परतु यद्य अर्थे ठीक नहीं है क्योंकि 'वारणानुविवायिलाद् वार्दीलाद् तत्त्ववृण्णा' इस न्याय से व्यव शुक्र और आर्तव दोनों काण मौजूद हैं, तब उनके छणग गर्भ में न मिलना असम्भव है । इसके सिवाय जिसमें खी-पुरुष के कुछ भी लघण न मिलें और वाहति मनुष्य की हो ऐसे व्यक्ति मिलते नहीं । जिसमें दोनों के व्यामिक्र छण हों, ऐसा व्यक्ति कभी कभी मिल सकता है और उसको व्यामिक्रलिही (Hermaphrodite) और उस स्थिति को व्यामिक्रलिंगावस्था (hermaphroditism) कहते हैं । नपुसक से यहीं व्यामिक्रलिही व्यक्ति अभियेत है । जिस व्यक्ति में शूरण तथा बीजस्रोप और दोनों के वाद्यव्यञ्जन मिलते हैं, उसको यथार्थ (True) नपुसक कहते हैं । आयुर्वेद के अनुसार शुक्रोलिंगत के बल की ठीक साम्या वस्था से ऐसी तृतीया प्रभृति उत्पन्न हो सकती है । परतु समाच्छया (Probability) की दृष्टि से दोनों की ठीक साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है । इसलिए यथार्थ नपुसक उत्पन्न होना भी बहुत कठिन है । पाश्चार्य दाक्तरों का कथन है कि सासार के साहित्य में अब तक केवल वारह वयार्थ नपुसकों का पता मिलता है—

In the world's literature there are on record but twelve true hermaphrodites. *Medical Annual 1935* Upto 1914, only five cases of unmistakable hermaphroditum have been reported. Since then a few more have been added. Altogether, there are about twelve such cases on record. *Kiddle of Sex*

साम्यावस्था ठीक न होने से एक लिंग की अविकला और दूसरे लिंग की कुछ कभी ही ऐसे व्यक्ति देखने में अविकलित हैं और इस प्रकार को अवयार्थ (Pseudo, spurious) नपुसक कहते हैं । लिंगाविकला के अनुसार अवयार्थ नपुसकता के दो भेद किये जाते हैं । (१) जिसमें शूषण होता है परतु जिसके बाया वयस्त्रों में दोनों का मिश्रण होता है, उसे पूर्णीलिंगी (Androgynoid) और उस अवस्था को पूर्णीलिंगता (Androgyny) कहते हैं । चरक में त्रुपुरुषिका या त्रुगृहिका नामक पूक सहज पूर्णव्यापत्ति वर्णन की है—ददा त्वय नीते लोनामाध्यव पुरुषकराणा च यरीरीवेमागानामकदेश प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषात्मियिपुरुष एवलुकिक नाम जनयति, वा पुरुष व्यापदमाचक्षते ॥ (शा० ४) । यह व्यापत्ति अन्त्रोगमी भाद्रम पहना है । (२) जिसमें खीजकोप होता है, जो मुख्यतया खी है परन्तु जिसमें पुरुष के भी बाया व्यवक मिलते हैं, उसे खीपुसलिंगी (Gynandro) और उस अवस्था को खीपुसलिंगी (Gynandry) कहते हैं । चरक में

रान्ता या वार्ता नामक एक खीव्यापत्ति दर्शन की वाह हस प्रकार की माटूम पद्धति है—यद्य तत्त्वा दोनि गर्भावयवीडमागानामेकदेश प्रदोषमापद्यते, तदा स्पृहू भूषिष्ठामित्रिय वार्ता नाम जनयति, तो खीव्यापत्तवद्ये (शा० ४) । वार्तौरुपुसिक्योर्वायेच्चा पर मवति न व्यवायमासम्भविति बतते । (चक्रपाणिद्वच) । इसका कारण है कि दोनों के शरीर में लिंगातुपर लेट्रिक फ्री व्यापरित रहने से 'व्यवायेच्चा पर मवति', परतु बाह्यव वेदिक्षय विकृत दोनों से व्यवायसामर्थ्य नहीं होता । सर्वे में खी और पुरुष दोनों के छण उपरित होने से विवर्ण न पुरुष न खी (न पुमान् न खी) कह सकते हैं, ऐसे व्यक्ति, पह नपुसक का अर्थ है ।

नपुसक क्यों होता है?—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए गर्भ की वृद्धि गर्भावय में किस प्रकार से होती है, इस विषय का विचार लावरयूक है । शुक्र और शोषित क संयोग होने पर जो जीव तत्प्रथा होता है, उसकी वृद्धि उसी प्रणाली से शुरू होती है, परन्तु छेद सप्ताह तक व्यवस्था न खी के छण मिलते हैं न पुरुष के, याने वह खील पुरुषव विहित (Neuter) होता है । इस अवस्था के अव्यक्तावस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे व्यापाय के दृष्टि रॉलीके वन्धन्य में किया गया है । इस अवस्था के प्रश्नात् जननेन्द्रिय के स्थान में दोनों के लिंग साधारण (Wolfian body) नामक पूक अग उत्पन्न होता है । उसके साथ साथ या कुछ पीछे दोनों की प्रसिद्धी (सूक्ष्म रूप में वृषण और बीजकोप) भी उत्पन्न होती है । किंतु खीरे खीरे शुक्र या आर्तव के प्रावृद्ध के लियुमार 'मृग्यसाधारण हि लीयते' हृष्य न्याय से एक ग्रंथि का नाम होकर दूसरी ग्रंथि जोर पकड़ती है और गर्भ खी या पुरुष होता है । सर्वेष में प्रथम उभयसाधारणावस्था और प्रश्नात् एकसाधारणावस्था होकर खी या पुरुष उत्पन्न होता है । कुछ गर्भवैज्ञानिक उभयसाधारणावस्था मात्र नहीं करते हैं । उनका कथन है कि प्रातःस्म से गर्भ में खी या पुरुष के सूक्ष्म चिह्न उपस्थित होते हैं—

It must be recognized that there is in this no idea of there being a 'neuter' or general basis on which the characters of men and women are grafted, nor is there any reason for looking on woman as a modified man, or vice versa. So far as cellular structure is concerned, the individual must be from inception either male or female. *Manual of Embryology by Frazer*

एकसाधारणावस्था, याने खीव या पुरुषव, व्यक्ति में अन्तर्वाची ग्रंथियों के समूहविद्येष से उत्पन्न होती है । शूषणाविहित अन्तर्वाची ग्रंथिसमूह विसमें काम करता है वह पुरुष, और बीजकोपविहित अन्तर्वाची ग्रंथियों में पूर्व पृष्ठव्याप्ति सुख्यतया तथा भायमास, यायराइ, अधिकृष्ट इत्यादि कहीं ग्रंथियों का लिंगापत्ति में विदेष संबंध आता है । इसका उल्लेख द्वितीय अवस्था में छव्वें रॉलीके वक्ष्य में किया गया है । इन ग्रंथियों के अविदेष, लयोग और

भिद्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैक्षिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु हृत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उमयसाधारणावस्था, बीच में उमयसाधारणलिङ्गप्रार्थयुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तस्ताची ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथि की घृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गपरिवर्तन का नाश इस क्रम से गर्भवस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथियों का कार्य पराग जारी रहे तो यथार्थ नपुसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रन्थि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अथर्थ नपुसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वासाधिक क्रम क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान नहीं सकता—

We are still in the dark concerning the inner mechanism of those malformations. We are at a loss to account for the underlying condition which is responsible for the sudden shift from a predestined direction into a series of developmental adventures. *Riddle of Sex.*

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समबलता, उपतस्ता और माता के आहारविहारादि के दोष इस अवस्था के कारण होते हैं—बीजात्मसांशादुपतस्तवीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः । बीजात्मकमांशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ॥ (चरक, शा० २) । गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनवाहा लिङ्ग स्थापन कीसे हो सकता है?—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ में यथापि आधान के समय से शुक्र या आर्तव के प्रावलय के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की हृच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा परिणाम रने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री हो तो ग्रीकर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथियों का प्रयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह कार्य गता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओषधियाँ, ग्रंथियों के सत्त्व Hormones) हृत्यादि का उपयोग करके उसके शारीर के परिवर्तन (Metabolism), में घटावड़ी करने से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को असुक प्रकार का आहार-विहार, असुक प्रकार की जलवायु (Oimate), असुक ओषधियाँ, असुक ग्रंथियों के सत्त्व असुक मात्रा में प्रदान करना हृत्यादि का निश्चित सूत्र अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और निम्न श्रेणि के प्राणियों में हृत उपायों द्वारा सफलता मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग करने में कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

है कि उमयसाधारण अवस्था (Bisexual Phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त होती है, जिसमें उसमें धृष्टप्रणग्रंथि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर जननेन्द्रिय के पिण्ड (Gonital ridge) बढ़कर वहाँ शिहनादि वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो तृष्ण के स्थान में धीजकोप बनता है, और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि लंग वर्धित होते हैं। इसलिए लिङ्गपरिवर्तन ही में ही हो सकता है, याने गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience concurs. *Medical Annual. Page 130, 1935.*

इसका अभिप्राय यह है कि लिङ्गपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवः इत्यस्तीत्येके भापन्ते ॥ ६ ॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल वारह दिन का होता है। कहूँ (आचार्य) कहते हैं कि आर्तवदर्शन न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल। गर्भधारणा स्त्री में वीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवदर्शन के ऊपर नहीं। ऋतुकाल में वीजकोप से पक्षवीज का उत्सर्ग होता है। इसलिए ऋतुकाल की वीजोत्सर्ग काल भी (Ovulation time) कहते हैं। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है। अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का विवाज पढ़ गया है—आर्तवदर्शनं च शरदायूतुसाधन्याद्वितुशद्वेनोच्यते । यथा ऋतावृसानि वीजानि प्ररोहन्ति, तथाऽत्तर्वदर्शनार्थयेऽपि ऋतीं शुक्रलं वीजमुसमिति फ्रुतासधन्यम् । (चक्रपाणिदत्त, शारीर ३) । ऋतुवीजकालमवेतेत इत्याहुर्महर्षयः ॥ (काश्यपसंहिता, जाति-सूत्रीय शारीराध्याय) । इत्यार्तवः—दृष्टासातवं यस्मिन् । जिसमें आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा । अदृष्टार्तवा—जिसमें मासिक आर्तवदर्शन नहीं हुआ है, ऐसे क्रतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री । द्वादशरात्रम्—वारह दिन । अन्य द्वैश्चक्रप्रथाएँ तथा स्मृतिग्रन्थी में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की वताई गई है—ऋतुकालं तु पोदशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते—‘पोदश दिवसा क्रतुकालः’ इति । (चक्रपाणिदत्त, शारीर २) । तदुक्तं हारीते—‘पोदश दिवसान्यृतुकालः’ इति । विदेहऽस्तुकम्—‘क्षीणामस्तुर्वर्वति पोदशवासराणि’ इति । (मसुकोपव्याख्या, प्रदर्शनिदान) । आर्तवदर्शविदिमात्रुः पोदशरात्रयः । गर्भयहण-योग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भावप्रकाश) । ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः पोदश स्मृतः । (मनुस्मृति ३।४६) । पोदश-तुंशिनाः स्त्रीणाम् । (याज्ञवल्क्यस्मृति १।०९) । ये पोदश दिन आर्तवदर्शन-दिन से बिना जाते हैं—सु (ऋतु)

रजोदर्शनदिवसानारम्भ शेषशोरात्र । (विज्ञानेरवर, याज्ञ. वस्त्रय १३६) । सुखुत में अतुकाल जो पारह दिनों का वतलाया है, वेसा ही अथगमग्रह (शारीर १) और अष्टोत्र हृदय (शारीर १) में वतलाया गया है । वहाँ पर टीका में इन्दु और अष्टोत्र अतुकाल का प्रारम्भ आर्तवद्वान् दिन से गिनने के लिए कहते हैं—नामि भवादार्तवद्वानादरभ्य द्वारशरात्रम् । (इन्दु) । कनुर्दानात्मदृष्टि वाचद्वात्म्य रात्रय स्वावृद्धुर्देविनः । परन्तु यदि अन्य वैचाग्रीयों के तथा स्वति ग्रीयों के अतुकाल से और आयुतिक मत (आगे का वैचाग्रीय वचन देखो) से समर्थन करना हो तो अतुकाल का प्रारम्भ अतुल्यात् दिन से याने चौथे दिन से मानना ही उचित है । दलहण लिखते हैं—दादामिति शेषदर्दिनेषु मध्ये भाष्य दिनवयमनित्यं च योद्धा वैनियोवचिनं न गणनोदय । इस दलहण के मत का यही अर्थ होता है । इसलिए जब अतुकाल शेषदर्दिन दिन हो, तथ उसका प्रारम्भ आर्तवद्वान् दिन से और जब द्वादश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ चौथे दिन से गिना चाहिए । करवयपसहृता में अतुकाल का प्रारम्भ चौथे दिन ही से वतलाया गया है—जैवस्त्रलायाश्चेत् प्रयमेऽहिति गर्भं धारयेन त वदगर्भमाचदते विकल वायुपुष्पमिवेद्विराग्नम्, द्विनीवेऽहिति वैत चतुर्ते च्यवने वा दूनीवेऽहिति दिनिकात्मे मियते न वा दीर्घवृद्धिर्वति हीनाङ्ग्रहं जायते । अन चर्ध्यमृतुदर्शयाह वाक्षणीयाम्, एकादशाह चत्रिदशाः, दशाह वैद्यामाः, नवरात्र मिनरात्साम् । (जातिशैवीय शारीराच्याप) ।

अतुकाल की आयुतिक मतम्—अतुकाल में बीज पक होकर कोप के बाहर आता है । जिस दिन वह बाहर आता है, उस दिन के आसपास दो तीन दिनों में समागम करने से गर्भवारणा होने की सम्भावना सब से अधिक होती है । बीजोत्सर्ग का प्रयत्न न होने से उसके निधित्व दिन के सम्बन्ध में प्रायः चिकित्सकों में भी अदृढ़ मतमेष्ट दिलाई देते हैं । परन्तु उनका भी मत आयुर्वेद के मत के साथ यहुत कुछ मिलता है—

This evidence then points to the conclusion that ovulation is most frequent from the sixth to the thirteenth day after the beginning of men struation. This time would correspond more or less to a post-menstrual oestrous period. Moreover Mall, as a result of a study of thirty six cases of early human embryos, has come to the conclusion that fertile coition is most likely to occur between the fourth and thirteenth day after the appearance of the menstrual discharge. (Sexual Physiolog by Marshall)

बीजोत्सर्ग का दिन यही की प्रकृति, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, पुरुषमात्राम (२ अध्याय का इतर्यास्तोक और उसका वृक्षस्थ देखो) इत्यादि से बदलता रहता है । जिस दिन बीजोत्सर्ग होता है, उस दिन यही के शारीर का ताप कुठ बढ़ता है तथा वरदगुहा में गर्भवाय के पार्थ्य में कुछ धीरा भी होती है । इन घटणाओं से बीजोत्सर्ग दिन का पता कमी करी बाल जाता है । इन घटणों से यदि अनेक विद्यों में अनेक बाह बीजोत्सर्ग

की मर्यादा निश्चित छी जाय तो उसमें कुछ भिन्नता पाई जाती है । इससे यह स्पष्ट होगा कि वैषषक और धर्मशास्त्र में अतुकाल की सोलह दिन की जो मर्यादा वतलाई है, वह किसी एक वैदिकी की न होकर लायुनिक परिभाषा के अनुसार औसत (Average) मात्रम् होती है, क्योंकि पाण्डाय वैशानिकों के अनुयाय औसत निकालने पर भी यह सोलह के लाभगत ही लाभ जाती है ।

अतुकाल के पश्चात् गर्भवारणा दी समावना—यद्यपि अतुकाल में समागम करने से गर्भवारणा होने की अधिक अधिक समावना होती है, तथापि अतुकाल के बाहर गर्भवारणा हो सकती है, क्योंकि बीववाहिनी में वीड़ी द्वारा तक गर्भग्रन्थयोग्य अवस्था में रह सकता है तथा बीजोत्सर्ग का काल भी विवित हो सकता है, ऐसे बाहरांशों की राय है—

I, along with many other gynaecologists, am of opinion on grounds of experience that, generally speaking, sexual intercourse in human beings may lead to conception at any time because I assume that both the ovum and spermatozoa which have penetrated into the inner female sexual organs have a comparatively long duration of life ovulation can be delayed as a result of other influences. Ideal Birth

गर्भवारणा के लिए आर्तवद्वान् आवश्यक है—साधारण तथा यह माना जाता है कि गर्भवारणा आर्तवद्वान् के सिवाय नहीं हो सकती, याने आर्तवद्वान् गर्भवारणा के लिए एक आवश्यक घटना है । एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक है, क्योंकि निष्पात्रव विशिष्ट जियों में इसी प्रकार से गर्भवारणा हुआ करती है । परन्तु उस्तव में गर्भवारणा के लिए आर्तवद्वान् कोई आवश्यक घटना नहीं है । यदि यही के शरीर में बीजोत्सर्ग हुआ हो तो और उत्पत्तिमात्राम भी उस समझुआ हो सो विना आर्तवद्वान् के गर्भवारणा हो सकती है । इस तरह से कई द्वार विवाहित की समाजी होने पर विना आर्तवद्वान् के गमिणी होती है । धर्मशास्त्र में इसका स्पष्ट वचन है—ददाददारादूर्ध्वं वरि पुण्य वरिनं हि । अनपुण्य भवत्वैव पवसीदुवराचित् । अतस्त्र प्रकृतिः स्त्रीय दुष्टान् नर ॥ (करवयपचन) । प्रस्ता यो विर से आर्तवद्वान् होने के पूर्व मून गर्भ धरण करती है, और पाण्डुरोगी यो नदातंवा होने पर भी गर्भवारणा कर सकती है—

It must be remembered that pregnancy may occur before patient has menstruated Disease of Women By Bland-Sutton and Giles Fertilization of the ovum may occur before menstruation has started, during a period of amenorrhoea and even after the menopause Ten Teacher's Midwifery

इसी लिए लिखा है—प्रदूर्धांशीपर्यायोंके मात्रे । भ्राता सप्तम में यामस्तात्त्वाय रप्तुक समी मतमतात्त्वों का निर्देश करते हैं—कनुरु दृष्टिर्वो द्वारशराय भवति । पोद्युराय

मित्यन्ये । शुद्धयोनिगर्भाशयात्वाया मासमपि केविषु । तद्दृष्टव्योडप्ल्यूट्यपरे । (शा० १) ।

आनंददर्शन और वीजोत्सर्ग का सम्बन्ध—आर्तवद्वाव और वीजोत्सर्ग ये दोनों स्त्रीशरीरान्तर्गत घटनायें प्रजोत्पत्ति के लिए पर्याय से नियत समय पर हुआ करती हैं; अर्थात् इनका आपम में घनिष्ठ सम्बन्ध होता स्वाभाविक है। परन्तु हमसे वीजोत्सर्ग प्रधान और आर्तवद्वाव तदनुपक्षी होता है। जब कोप से वीज उत्सर्गित होता है, तब उसके पुट में रक्त भरता है और थोड़ी देर के बाद उस स्थान पर व्यवहरता है। हमसे व्यायुक्त पुट को वीजकिणपुट (Corpus leuteum) कहते हैं। हमसे किणपुट से एक विशेष पदार्थ बनता है, जिसको प्रोगेस्टिन (Progesterin) कहते हैं। यह पदार्थ रक्त में मिलकर गर्भाशय के अन्तरवरण को उत्तेजित करके उसकी घृद्धि करता है। हमसे पदार्थ के सिवाय वीजकोप से ओस्ट्रिन (Oestrin नामक पदार्थ बनता है, जो प्रोजेस्टिन के साथ गर्भाशय के अन्तर्स्तर की घृद्धि में सहायता करता है। हमसे प्रकार के परिवर्तित नवीन अन्तर्स्तर के बिना गर्भ संलग्न नहीं हो सकता है। यदि समागम से गर्भधारणा हुई हो तो वह गर्भ धीरे धीरे वीजाहिनी से गर्भाशय में आता है और उसमें संलग्न होता है। यदि गर्भधारणा नहीं हुई तो वीजकिणपुट का द्वय होकर उससे प्रोजेस्टिन नहीं बनता, जिससे गर्भाशय का वर्धित अन्तर्स्तर नष्ट होकर गर्भाशय से अलग होता है और रक्त के साथ वाहर निकलता है। यही आर्तवद्वाव है।^१ संचेष में आर्तवद्वाव उसके पूर्वकाल में गर्भधारणा न होने का तथा नवीन गर्भ के लिए गर्भाशय सज्ज करने की पूर्व आयोजना का निर्दशक है। आर्तवदर्शन और वीजोत्सर्ग का कार्यकारण भाव की दृष्टि से यथापि सम्बन्ध होता है, तथापि ये दोनों स्वतन्त्र भी होते हैं; क्योंकि कई बार विना आर्तवदर्शन के वीजोत्सर्ग होता है और कई बार आर्तवदर्शन होने पर भी वीजोत्सर्ग नहीं होता। व्यवहार में कई स्थिरांशू देखने में आती हैं, जिनमें विना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है। हम तरह आर्तवद्वाव और वीजोत्सर्ग में अस्यभिचारी सम्बन्ध न होने के कारण कुछ शास्त्रज्ञ दोनों घटनाओं का कारण एक स्वाभाविक कालधक (Cyclical Theory) मानते हैं (प्रथम खण्ड ३५४ पृष्ठ भी देखो)।

There is probably a menstruation causing cycle in the intestinal cells as there is in those producing ova. Halliburton's Physiology.

आर्तवदर्शन क्यों होता है?—जब आर्तवदर्शन के सिवाय गर्भधारणा हो सकती है तब प्रतिमास आर्तवद्वाव क्यों होता है? हम प्रश्न का ठीक उत्तर देना बहुत कठिन है, परन्तु जब व्यिधियों में आर्तवद्वाव मिलता है, तब उससे निश्चयादेव व्यावहारिक दृष्टि से मालम्प पड़ते हैं, ज्ञाहे उसके कुछ उच्च कार्य दरीर में हों या न हों। (१) हमसे प्रारम्भ से यौवनावस्था के प्रारम्भ का आरे हमसकी निवृत्ति से यौवनावस्था की निवृत्ति का ज्ञान सहज में हो जाता है। (२) प्रतिमास मासिक धर्म ठीक होने से साधारणतया स्त्री के शरीर के दोष वह जाते हैं और स्त्री का स्वास्थ्य दीक्ष रहता है—

रजःप्रस्तेकाशारीणा मासि मासि विशुद्ध्यति । सर्वे शरीरं दोपश्य । (तन्त्रान्तर, इक्षणटीका)। आयुनिक विद्वानों की भी मासिक धर्म के सम्बन्ध में हमसे प्रकार की कल्पना है—

Menstruation is nature's washday; the poor-eat blood in the circulation is thrown out, for menstrual blood possesses none of the vital properties peculiar to that which escapes when haemorrhage occurs. Laws of Sexual Physiology by Chandra.

(३) योग्य आयु में रजोदर्शन न होने से स्त्री के स्त्रीव की कमी का या उसके स्वास्थ्य की खराबी का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही जिसमें रजोदर्शन ठीक समय पर प्रतिमास हो रहा है, उसमें समय पर रजोदर्शन न होने से उसके भी स्वास्थ्य की खराबी का अनुमान किया जा सकता है। (४) अर्तवदर्शन से गर्भधारण के लिए तथा गर्भधारण रोकने के लिए योग्यकाल का धोष होता है। (५) आर्तवद्वाव से स्त्री के अपर्याप्तमार्ग की स्थिति तथा प्रतिक्रिया शुक्राणुओं के प्रवेश के लिए याने गर्भधारण के लिए अनुकूल होती है। (६) समागम करने के पश्चात् आर्तवदर्शन बन्द होने से गर्भधारण का ज्ञान हो जाता है। साधारण जनता के लिए स्त्री की समर्भावस्था का ज्ञान होने का यही सुख्य लक्षण होता है। (७) प्रसवकाल निश्चित करने के अनेक साधन (शारी १५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं। परन्तु इन सब साधनों में रजोदर्शन के आधार पर प्रसवकाल निश्चित करने का मार्ग सब से सहल और सब के लिए सुगम होता है। साधारणतया मानवी गर्भावस्था की अवधि (आगे ३६वां सूत्र तथा उसका वक्तव्य देखो) २८० दिनों की होती है। अंग्रेजी पञ्चाङ्ग के अनुसार यह अवधि नौ मास ७ दिन की और भारत दर्पे के घान्द्रवर्ष के अनुसार नौ मास पन्द्रह दिन की होती है। नीचे दोनों के अनुसार प्रसवकाल निश्चित करने की सारणियाँ दी जाती हैं।

अंग्रेजी महीनों के अनुसार

आर्तवदर्शन मास और तारीख	प्रसवकाल मास और तारीख
जनवरी तारीख अ	अक्टूबर ७ + तारीख अ
फरवरी तारीख आ	नवम्बर ७ + तारीख आ
मार्च तारीख ह	दिसम्बर ५ + तारीख ह
अप्रैल तारीख है	जनवरी ४ + तारीख है
मई तारीख उ	फरवरी ४ + तारीख उ
जून तारीख ऊ	मार्च ७ + तारीख ऊ
जुलाई तारीख ए	अप्रैल ६ + तारीख ए
अगस्त तारीख ऐ	मई ७ + तारीख ऐ
सितम्बर तारीख ओ	जून ७ + तारीख ओ
अक्टूबर तारीख औ	जुलाई ७ + तारीख औ
नवम्बर तारीख क	अगस्त ७ + तारीख क
दिसम्बर तारीख ख	सितम्बर ६ + तारीख ख

मान लीजिए कि गर्भावस्था के पूर्व आर्तवदर्शन

२० जनवरी को हुआ था तो प्रसवकाल २० अक्टूबर के करीब होगा।

सेवक और शालिवाहनशक के अनुसार प्रसवकाल निर्णय करने में एक सरलता यह होती है कि जिस तिथि पर सगार्मासवस्था का पृष्ठकालीन धार्तवद्धान होता है, उसी तिथि पर प्रसव का काल लाता है। शक का मास अमावास्यान्त और सवन्द का पौर्णिमान्त होने के कारण मासों के हृष्टारण के नाम ददृढ़ जाते हैं। इसलिए प्रसव तिथिनिर्णय के द्वारों के कोष्ठक पृथक पृथक हिये जाते हैं।

राकानुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्ठक

आर्तवद्धन का मास और पद	प्रसव का मास और पद
वैश्र	दुहुरपद
"	कृष्णपद
वैशाख	द्युष्मपद
"	कृष्णपद
ज्येष्ठ	दुहुरपद
"	कृष्णपद
आषाढ़	द्युष्मपद
"	कृष्णपद
शावणि	दुहुरपद
"	कृष्णपद
आधिन	द्युष्मपद
"	कृष्णपद
कार्तिक	दुहुरपद
"	कृष्णपद
मार्गशीर्ष	द्युष्मपद
"	कृष्णपद
पौष	दुहुरपद
"	कृष्णपद
माघ	द्युष्मपद
"	कृष्णपद
फालगुन	दुहुरपद
"	कृष्णपद

मान दीक्रिए कि किसी भी को कालिक हृष्ण पत्तमी को आरंभिकांनु दूधा, उसके बाद गम्भीरातार के कालण हृष्ण महीं सो उसकी प्रसवप्रथि आलण हृष्ण पत्तमी होगी। यदि आरंभिकांनु का साम अधिक हो तो वा भीच में अधिक साम का आप हो प्रसव के महीने में एक महीना काल करना चाहिए। जैसे, ऊरा के यशादारा में यदि भीच में अधिक साम का आप हो आकल हृष्ण पत्तमी के बढ़के प्रसवप्रथि आलार हृष्ण पत्तमी होगी।

विक्रम संवत् के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्ठक

आर्द्रवरद्धन का मास और पक्ष	प्रष्टव का मास और पक्ष
चैत्र	शुक्रपक्ष
षष्ठाव्य	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
ज्येष्ठ	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
आषाढ़	हृष्णप
"	शुक्रपक्ष
आश्विन	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
कार्तिक	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
मार्गशीर्ष	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
पौष	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
माघ	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
फालगुन	हृष्णपक्ष
"	शुक्रपक्ष
बैद्री	हृष्णपक्ष

इस सारणी के अनुसार प्रसवतियर्थिनयं शब्द की सारणी के अनुसार ही किया जाता है। यदि बोच में अधिक भास हो या अधिक मास के हालापत्र में जातवृद्धिशंक भी तिप्पि हो तो प्रसव के महीने में एक महीना छठम करना चाहिए। यदि अधिक मास के हालापत्र में जातवृद्धिशंक भी तिप्पि हो तो इस सारणी के अनुसार ही गहीना होता है। उसमें एक नहीं होता।

भगवन्ति चार्य—

प्रियप्रसदवदनां प्रद्विनाममुखदिजाम् ।
परकामां विकथा द्वस्तुश्वदिमूर्जजाम् ॥ ७ ॥
कुरुद्वभुजुचधोलिनाम्यूरुजग्नस्किर्यम् ।
त्वेषुश्वरपां विपि विद्वद्वर्तीमिति ॥ ८ ॥

(चातुर्मासी के दूरण—) जिसका सुल युह और मपल
है, जिसका शारीर, सुख तथा इति होइयुक है, जो युह
की इच्छा बढ़ती है, जो भेदभावाओं में दिक्षिणी लेती है,
इसकी इच्छा नहीं और वाल तिप्पणि है, जिसकी भुगतान,
नम, धोजि, नामि, उठ, गुदांग और नितमध में द्युरु
गता है, और जो (भसानाम के टिप्प) इर्व तथा जोत्युरु
भी है है, वहे अन्तर्मास जातवा चाहिए ॥ १५ ॥

प्राप्ति-प्राप्ति देखी मैं अपनी हूँ आदेश-

पूर्ण जवान स्त्री के लक्षण वर्णन किये हैं । स्त्री में जब अथम रजोदर्शन होता है, तब भी वह व्यतुयुक्त होती है और उसको अतुमती नहीं कह सकते हैं । उस आयु में उसका शरीर अपरिपूर्णवीर्य, अपरिपक्व अतंव गर्भधारण योग्य नहीं होता—नसात् अत्यन्तवालायां गर्भापानं न कारयेत् । उस समय से उसकी कली खिलने लगती है, उसमें स्त्रीव आने लगता है और ज्यों ज्यों स्त्रीव बढ़ता है त्यों स्त्री चेहरा पुष्ट प्रसन्न और लज्जायुक्त होता है, स्तन मोटे और कठिन होते जाते हैं, नितस्थ की धृद्धि होती है, गुणांग पर द्वाल जमने लगते हैं और गर्भाशय की धृद्धि होती है । शरीर की इस धृद्धि के साथ साथ उसके मन में भी काफी परिवर्तन होता है । वह लज्जायुक्त होती है, पुरुष की ओर उसका मन आकर्षित होता है, उसकी संगत सोहवत करने की इच्छा होती है, कामुक धार्तों में अधिक प्रेम उत्पन्न होता है और शरीर के कामकटिवन्धों (जैसे स्तन, जबन) में स्फुरण उत्पन्न होता है । यह सब कार्य धीजकोप के अन्तःसार से होता है । वह द्रव्य रक्त के द्वारा स्त्री के समस्त शरीर में फैलकर उसको पूर्ण स्त्री तथा गर्भधारण का भार भग्न करने योग्य बनाता है—नारीणां रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनागर्भाशयपेत्यभिवृद्धिर्वति । प्रथम भाग पृष्ठ २२ और १६६ देखो । दलहणाचार्य ये लक्षण अहृतार्तव अतुमती के मानते हैं—अदृतार्तवाया अतुमत्या लक्षणमाह—पीनेत्यादि । परन्तु इस तरह मानने की कोई जरूरत नहीं है । ये लक्षण पूर्ण नौजवान स्त्री के हैं, चाहे उसमें आर्तव दृष्ट हो या अहृष्ट हो । अब ये जो जवानी के लक्षण हैं, वे आतंवदर्शन के पश्चात् और भी जोर पकड़ते हैं । प्रहुचास्मसुखदिजाम्—प्रहुचास्म: प्रकर्पेण ब्लेदमापत्ता आत्मादयो यस्याः, आत्मा देहः । (दलहण) । कामातुर मन का परिणाम शरीर के हर पक्ष पुर्ज पर होता है । ग्रथियां उत्तेजित होकर उनसे अधिक स्नाव होता है, स्वेदग्रिधियों से पसीना निकलकर समस्त शरीर होदित हो जाता है, लालांग्रिधियों से लाला स्वती है, जिससे मुख तथा दाँत लालांकित हो जाते हैं, मूत्रग्रिधियों (धूकों) से मूत्र अधिक बनता है, जिससे बार बार मूत्रयाग करने की जरूरत होती है, इत्यादि । यहाँ 'प्रहुचास्मसुखदिजा' से इसी घटना का संचेप में वर्णन किया है । गीतगोविन्द में कामातुरता से स्वेद उत्पन्न होने का उल्लेख है—स त्वा पश्यति कन्पते पुलकयत्यानंदनि स्विधति । नरकामां प्रियकलाम्—आर्तवस्त्राव के पश्चात् स्त्री में कामवासना बहुत बढ़ती है, जिससे वह यदि विवाहित हो तो पतिसमागम की इच्छा करती है और यदि अविवाहित हो तो पुरुष की इच्छा करती है या पुरुषों के साथ वात्सीत करने में या कामुक विषयों के सम्बन्ध में वात्सीत करने में आनन्द मानती है—

During or immediately following menstruation, sexual ardour is at its highest peak. Women who may not be easily approachable otherwise or who may be frigid by nature, will warm up under the stimulus of menstruation and exhibit more than habitual interest in sexual matters.

They show less resistance and respond more

readily to masculine overtures. *Riddle of Sex.*

नरे पुंसि कामोऽभिलापो यस्यास्ताम् । प्रियकरेण सह कथायां प्रेमकथायां वा अभिलापो यस्यास्ता प्रियकथाकामाभित्यर्थः ॥ चक्र-द्वुष्टकुञ्च दत्यादि—कामेच्छा (Sexual impulse) उत्पन्न होने पर समस्त शरीर में एक प्रकार की उत्तेजना पैदा होती है । उसी का एक परिणाम पसीना आने में होता है, और उसी से स्तनादि स्थानों में स्फुरण होता है । ये कामुक स्थान हैं और स्फुरण के कारण स्त्री इन स्थानों को पुरुष के अंगों के साथ रगड़ना चाहती है । इन स्थानों को मैथुन के समय गुदगुदाने से, मलने से स्त्री को आनन्द आता है और वह जलदी उभर आती है । भुज से यहाँ बाहु समझने की अपेक्षा भुजकोट याने वगल कक्षा (Arm-pit) समझना उचित है, क्योंकि कक्षा कामकटिवन्ध है । विशेष विवरण के लिए दूसरे अध्याय के ४७५ इलोक के वक्तव्य में 'स्पर्श' देखो । एर्पत्सुक्यपरा—पुरुषसमागम के लिए हर्ष और उत्साह से पूर्ण ।

इन श्लोकों में शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुसार अतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री को व्याख्या वर्णन की है । चरक में जननेन्द्रिय की स्थिति के अनुसार अतुमती की व्याख्या वर्णन की है—गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते युद्धस्तनात् यियमन्यपक्ष्योनिशोयितगर्भशयामृतुमती-माचव्याम ॥ (शा० ४) । गर्भधारणा के लिए योनि गर्भशय के इवास्थ्य के अतिरिक्त गर्भाशय के अन्तःस्तर की विशेष स्थिति की भी आवश्यकता होती है । गर्भ गर्भाशय में विराजमान होने के लिए उसे नये सिंहासन की आवश्यकता होती है, इसलिए गर्भाशय में एक मालिक चक्र यौवन के प्रारम्भ से यौवन के अन्त तक जारी रहता है, जिसके द्वारा प्रतिमास गर्भाशय में गर्भ के लिए नया आसन बनाता है । यदि गर्भ का आगमन नहीं हुआ तो वह पुराना आसन नष्ट होकर फिर से नया आसन बनता है, और इस तरह गर्भ के आगमन तक यह चक्र जारी रहता है । यदि गर्भ का आगमन हुआ तो नये आसन पर वह स्थिर होता है और उसके अवस्थान के समय तक तथा उसके पश्चात् कुछ काल तक यह चक्र बन्द रहता है । पश्चात् फिर से नये गर्भ के लिए जारी होता है । इस चक्र की तीन अवस्थाएँ हैं । (१) आरंवपूर्व अवस्था—गर्भधारन न होने के कारण इस अवस्था में पुराने अन्तःस्तर का नाश करने की पूर्व तैयारी होती है । इसमें योनि गर्भाशय में रक्ताधिक्य होता है, शोणि में भारीपन खिंचावट और गरमी भालूम होती है, रक्ताधिक्य के कारण गर्भाशय के अन्तःस्तर की रक्तवाहिनियां फूलती हैं, कुछ फूटती हैं और अन्तःस्तर के नीचे रक्त कई जगह इकट्ठा होता है । इसकी अवधि पांच दिन की होती है । (२) आर्तव की अवस्था—इक्षभार अधिक वडे से अन्तःस्तर कई जगह दृट जाता है और रक्त के साथ बाहर निकल आता है । यही पुराना रज या आर्तव है । इसकी अवधि ३-५ दिन की होती है । (३) आर्तवोत्तर अवस्था—इस अवस्था में दूटी हुई रक्तवाहिनियां झुटती हैं, दूटा हुआ अन्तःस्तर फिर से नया बनता शुरू होता है और थोड़ी देर के बाद गर्भाशय में नवीन रक्त और नवीन अन्तःस्तर पूर्णतया बन जाता है, जिसके ऊपर

गर्भ संलग्न हो सकता है। इसी आर्तवोत्तर अवस्था (Post-menstrual Period) में गर्भधारणा की अधिक सम्भावना होती है। चरक के श्रद्धामती के लड़ग में गर्भाशयान्तर्गत हन परिवर्तनों के अनुसार 'गरे पुराणे रसासि नवे चावसिए' इस शब्दसंग्रह का अर्थ करना चाहिए।

नियंत्र दिवसेऽत् ते सङ्कुचयस्तु यथा ।

श्रुतौ व्यत्यते नायनस्तु योनिः सवियते तथा ॥६॥

(क्रतु के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति) जैसे कि दिवस के समाप्त होने पर कमल निविति से सङ्कुचित हो जाता है, वसे ही क्रतु के समाप्त होने पर छी की योनि (निविति से) सङ्कुचित हो जाती है ॥६॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अधिकार्य यह है कि क्रतुकाल में गर्भाशय का मुख विशृत होता है, जिससे उस काल में योनि में गिरा हुआ शुक्र भीतर जाकर गम्भारण होती है। क्रतुकाल के पश्चात् गर्भाशय-मुख सङ्कुचित हो जाता है, जिससे उस समय योनि में गिरा हुआ शुक्र कटिनाता से भीतर जा सकता है और इसलिए प्रायः क्रतुकाल समाप्त होने पर गम्भारण नहीं हो सकती—पश्च स्कोचमायाति दिवेऽतीते वथा तथा । क्रमावली योनि सा शुक्र नात् प्रतीच्छन् ॥ (अर्थांगदृश्य)। आयुर्वेद के अनुसार यह नियम निरपवाद मही है, वर्णोंकि 'शुद्धोनिगम्भाशयात्वाया मासमाप्त केवित' इस प्रकार मास भर भी गर्भाशयण हो सकती है। अर्थात् गर्भाशय का मुख पूर्णतया बृद्ध नहीं होता। अर्थांगदृश्यटीकाकार अलगदृश्ट 'मासेनोपचित् रक्तम्' (शा० ३२२) इस श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—विषुतविषुतमुखल दि योनेगर्भशायामहात्मेत्तुत्व वायोः क्रियावतः वासद्वायस्यायतम् । मासेनोपचित् रक्तस्त्री वायुर्निमुक्तानुदेवं प्रेरेत् । तदा योनिमुख विषुत सपथते । इसका अवश्य यह होता है कि आर्तवदाव के दिनों में गर्भाशय का मुख विषुत हो जाता है। पश्चात् दावटों का भी यही क्षयन है—

During menstruation there is a slight spontaneous dilatation of the cervical canal, attaining its maximum on the third and fourth days. Heron quoted in Bland-Sutton and Gues. Diseases of Women.

यह विषुत भीरे भीरे कम होती है और दूसरे आर्तवदाव के पूर्व गर्भाशय का मात्रा सक्षेत्र के काल संकट हो जाता है। पश्चात् दावट भी इस बात को मानते हैं कि महीने के आखिरी दिनों में गर्भाशय का मात्रा शुक्र के लिए कटिनाइयों से भरा होता है—

In cases where very great obstacles have to be overcome, that is, in conception, near the time of menstruation, Ideal Birth.

योनि—गर्भाशय, विशेष करके उसका मुख (आर्ग पांचव अध्याय के १२वें श्लोक का पश्चात् देशी)। यहाँ पर कमल द्वा जो दृश्यत दिया है, उससे यह भर्त्य निकलता है कि आर्तवदाव में गर्भाशय विकसित यामे कुप बढ़ा होता है—

During menstruation the Uterus (Uterus) is

enlarged, and more vascular, its surfaces rounder, the external orifice is rounded, etc. Grey's Anatomy.

मासेनोपचितं काले घमनोभ्यां तदार्तवम् ।

ईपत्कृष्णं विगन्धं वा वायुर्निमित्तुव नयेत् ॥ १० ॥

(आर्तवद्वरूप और व्यायायु क्त—) दो धमनियों के द्वारा महीना भर में इकट्ठा हुआ किंवित् कृष्णवर्ण और विगन्धवद आर्तव (लपान) वायु (योग्य) समय पर योनिमुख की ओर ले जाती है ॥ १० ॥

वक्तव्य—आर्तव फैसे उपचित होता है, इसके विवरण पिछले श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इसके सिवाय आर्तव के प्रशस्त लक्षणों का विवार दूसरे लक्षण के १७वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। काल—योग्य काल। यह काल प्रयोग छी में और व्यायाय के अनुसार बदलता होता है। घमनीभ्याम्—गम्भाशय को इक के रसीद पहुँचाने वाली दो रक्तवाही घमनियां होती हैं उनकी गर्भाशयधमनी (Uterine artery) कहते हैं इनके द्वारा। इन्हीं का उद्देश्य १२वें अध्याय के छठे सूत्र में किया गया है। घमनी से यहाँ योजाहिनी (Follopian tubes) अभिप्रेत नहीं है। विगन्धम्—विगिर्दं गन्धं विषुतगन्धं वा। इक योनि में यही घोड़ी देर रहने से कुछ सह जाता है, जिससे उसमें एक प्रकार की गन्ध आती है—

The menstrual discharge has also some odour due to slight decomposition, which takes place during its passage through the vagina. Crossen.

वायु—आर्तव को बाहर फेंकने का काम लपान वायु का है (प्रथम लक्षण एष ११४ देशो)। वायुमात्रार्थं का इस श्लोक का पाठान्तर अर्थ की दृष्टि से अधिक प्रशस्त है—मासेनोपचित् रक्तं घमनीभ्यामुनी पुनः । ईपत्कृष्ण विगन्ध वा वायुर्निमित्तुव नयेत् ॥ (क्षटीगसंप्रह) ।

तदर्पादृ दादशात् काले वर्तमानमसूक्तं पुनः ।

जरापकशरीरायां याति पश्चाशतः क्षयम् ॥ ११ ॥

(छियों का आर्तवकाल—) वह आर्तवदोषित वारद वर्षं (की अवस्था) से प्रारम्भ होकर फिर वृद्धावस्था से परिषक वारी वाली छियों की ५० वर्ष (की आयु) में नष्ट होता है ॥ ११ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में छियों के आर्तवकाल (Menstrual life) की मर्यादा बर्णन की है। इसोदर्शन और रजोनित्ति (Menopause) की वह मर्यादा प्रायिक है, जो प्रयोग व्यक्ति में उसके दृश्यतदन, व्यायाय इत्यादि के अनुसार बदल सकती है—दृश्यतदनि प्रायिकमेतत्। एवतदन् वायिकायामि कीर्तीं इत्यर्वास्तदनात्। पञ्चाशतः धृप्रियमद्वा-पैदेश्वर विन्त्यत्। (अलगदृश्ट)। रजोदर्शन के काल के संरूप द्वा विवार प्रथम लक्षण के अन्ते पूछ पर किया गया है। रजोनित्ति के काल की मर्यादा में भी इसोदर्शन के काल के अनुसार जाति, जलवायु, रक्तसंदर्भ, गर्भाशय, इत्यादि के अनुसार फूल होता है। विपवा छियों में, परिमुख कम मिट्टे वाली छियों में, अधिक परियम करनेवाली छियों

में रजोनिष्टि जलदी होती है। विवाहित, अधिक सन्तति वाली स्त्रियों में, आलसी स्त्रियों में देर से रजोनिष्टि होती है। रजोनिष्टि पेंतालीस से पचास साल की आयु में होती है, परन्तु कभी तीस साल की आयु में और कभी ५५ साल की आयु तक भी बढ़ सकती है। पूर्ण रजोनिष्टि अकस्मात् भी हो सकती है, परन्तु प्रायः उसके पूर्व कुछ बाल मासिक धर्म में गडवड़ी हो जाया करती है। जैसे कि, दीपञ्चोति नष्ट होने के पूर्व कुछ काल तक न्यूनाधिक हुआ करती है, वैसे ही आर्तव पूर्ण निष्टि होने के पूर्व कुछ महीनों से कुछ साल तक न्यूनाधिक राशि में और अनियमित हुआ करता है।

आर्तव निष्टिकालिक परिवर्तन—रजोदर्शन के समय जैसे स्त्री में स्तन, गर्भाशय घृण्डवादि गर्भधारण के लिए उचित परिवर्तन होते हैं, वैसे ही रजोनिष्टि के समय गर्भधारण प्रतिवर्तन के लिए योग्य परिवर्तन होते हैं। वीज-ग्रंथियों से वीजोस्तर्सी बन्द हो जाता है। इस अवस्था को क्लेम्याटिक Climacteric कहते हैं। गर्भाशय, योनि तथा वीज ग्रंथियाँ सिकुड़ने लगती हैं। इस तरह आभ्यन्तरीय परिवर्तनों के साथ स्तनों का सिकुड़ना, दाढ़ी, और मूँहों के स्थान में कुछ बाल निकल आना, आवाज बदलना, शरीर स्थूल या पतला होना, चेहरे की कोमलता नष्ट होकर उग्रता पैदा होना इत्यादि वाह्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से स्त्री का स्त्रीव नष्ट होता है। इन शारीरिक परिवर्तनों के साथ मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। वीज-कोप का अन्तःस्नाव बन्द होने पर थायराइट तथा अधिष्ठृक ग्रंथियों का अन्तःस्नाव अधिक मात्रा में रक्त में आता है, जिससे खुशमिजाज स्त्री तेजमिजाज, चिरचिरी, वेचन हो जाती है। कुछ उद्विग्नित तथा अव्यवस्थितित्व होती हैं और कभी कभी पागल की सी तरह बन जाती हैं। इसके सिवाय चक्कर आना, शरीर में कंप, निद्रानाश, गरम मालूम होना, मृगी, स्तन, उदर इत्यादि अंगों में पीड़ा होना, दिल में धड़कन, पेट फूलना, मलावरोध, ऊर्ध्ववात्, अरोचक इत्यादि अनेक लक्षण भी होते हैं। सचेप में रजोनिष्टि स्त्री के लिए वडा महाश्व का संकमकाल होता है। कुछ स्त्रियों में, विशेष करके अविवाहित स्त्रियों में, कुछ भी तकलीफ नहीं होती है, तथा नियमित रूप से चला हुआ मासिक धर्म अकस्मात् बन्द हो जाता है। साधारणतया रजोनिष्टि के साथ साथ गर्भधारणशक्ति की भी निष्टि होती है, परन्तु कभी कभी उसके पश्चात् भी गर्भधारण हो सकती है।

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽवला ।

पुष्पकाले शुचिस्तम्भादपत्यर्थीस्त्रियं व्रजेत् ॥१२॥

(समविषयमदिनसमागम का फल)—(ऋतुकाल के) सम दिनों में (समागम करने से) पुत्र (और) विषय दिनों में कन्या होती है, (ये नियम आचार्यों से) चालित हैं। इसलिए (व्रात्यर्थादि से) शुचि बोकर अपत्य की इच्छा करने वाला पुरुष (पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार) ऋतुकाल के सम या विषय दिनों में स्त्री से समागम करे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—समविषयमदिनसमागम का फल दूसरे

अध्याय के २९-३१वें सूत्र में वराया गया है। पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध का यह मत 'शुक्राहुत्यात् पुमान्, आर्तवयाहुत्यात् स्त्री' इस मत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि विदेह का मत है कि सम दिनों में स्त्रीवीज वलवत्तर होने से पुत्र होता है, विषय दिनों में स्त्रीवीज कमजोर होने से कन्या होती है—युग्मेषु तु दिनेवासां भवत्यलपतरं रजः । संयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुरांसं प्रस्तुते ॥ अयुग्मेषु दिनेवासां भवेद्वायुतरं रजः । संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रस्तुते ॥ पुत्र और कन्या की उत्पत्ति में कुछ पाश्चात्य पण्डित स्त्रीवीज कारण मानते हैं। उसी स्वरूप का विदेह का यही मत है। परन्तु यह नियम नहीं है, क्योंकि आहार-विहार के द्वारा शुक्रापावल्य किया जाय तो समागम से पुत्र ही होगा, चाहे वह द्विन सम हो या विषय हो। पांचवें श्लोक के वक्तव्य में 'समागमकाल' भी देखो। पुष्पकाल—ऋतुकाल। भविष्य में होने वाले फल का पूर्वरूप जैसे पुष्प होता है, वैसे ही भविष्य में होने वाले गर्भ का पूर्वरूप आर्तव होता है, इसलिए आर्तव को आलंकारिक भाषा में 'पुष्प' कहते हैं—युद्धं च रक्तं पुष्पसंज्ञं गर्भास्यस्य फलस्य भविष्योऽभिव्यजकत्वात् । (असृणदत्त) । अङ्गेजी में भी आर्तव के लिए पुष्प (Flower) कहने का रिवाज है—

Menstruation, called also menses, period, monthly flow and flowers, is known in man and monkeys. Exceptional cases of flowers at the age of seven to eight have been noted. Riddle of Sex.

परन्तु जैसे पुष्प और फल का व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—अप्येवं तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुवन्धि यत् । फलं चापि भवेत् किञ्चिद्वस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ (चरक), वैसे ही आर्तव और गर्भ का भी व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—एवं चापि भवेत् पुष्पं गर्भेणाननुवन्धि यत् । गर्भश्चापि भवेत्दद्वद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सकथिसदनं शुक्रशोणितयोरवद्वन्धः स्फुरणं च योनेः ॥ १३ ॥

सद्योगृहीतगर्भायी के लक्षण—श्रम, ग्लानि, तृपा, टांगों में थकावट, शुक्र और आर्तव का रक्त जाना, तथा योनि का स्फुरण ॥ १३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जो लक्षण वर्णन किये हैं, उन्हें केवल गर्भिणी स्वयं अनुभव कर सकती है, अर्थात् इनके ज्ञान के लिए वैद्य को गर्भिणी के कथन पर विश्वास करना पड़ता है, वह स्वयं इनकी परीक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार के लक्षणों को आत्मप्रयय (Subjective) कहते हैं। सागर्भवस्था का निदान करने के लिए इनके ऊपर प्रथमगर्भा स्त्री स्वयं उदादा भरोसा नहीं कर सकती, परन्तु यदि वह इनके ऊपर प्रथेक बार बारीकी से ध्यान दे तो ये उसको गर्भावस्था की निश्चित सूचना दे सकते हैं। वैद्य के लिए ये लक्षण निरर्थक हैं, परन्तु जब अन्य लक्षणों के साथ मिलते हैं तब समर्थन की दृष्टि से इनका उपयोग होता है। सद्योगृहीतगर्भा—इसकी अवधि निश्चित करना कठिन है, तथापि समागम के बाद दो चार दिन से उसके बाद का मासिक धर्म टलने के समय तक (शोणितयोरवद्वन्धः)

याने कम से कम चार और अधिक से अधिक छँ सप्ताह की अवधि 'सच' से समानी चाहिए। अटोगस्मै और लाइगाइड्य में सुधृत के अनुसार गर्भांशुकृष्ण के दो विभाग किये हैं—प्रथम नारी, सबोगृहीतगर्भांशुकृष्ण लिङ्ग, क्रमें हु व्यजामानीय। इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम समूह अध्यक्ष गर्भ खी के लक्षणों का है, याने गर्भ के आधान से जब तक गर्भ खी या पुरुष की दृष्टि से अध्यक्ष होता है, तब तक का है। यह अध्यक्ष गर्भांशुकृष्ण सप्ताह की होती है। इसका उल्लेख किये २ अध्याय के ३१वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, इसलिए प्रथम प्रथम छँ सप्ताह तक के समझने चाहिए। ये सब लक्षण प्रारम्भिक हैं और अनारंभ के सिवाय बाकी सब अस्थायी स्वरूप के होते हैं। अचित् हृदय स्पन्दन आंतर तक होता है।

अमो ज्ञानि संविधानम्—शुक्र और शोणित का स्वयोग होने पर खी के शरीर में विद्युतसंयोगजन्म स्तनवृता (Shock) के समान कुछ स्तनवृता आ जाती है। इसके विवरण दस नये जीव की परवरिदा के लिए शरीर की कुछ शक्ति स्वर्वं होने आती है। इसका परिणाम यह होता है कि शुक्र शुक्र में खी को यकावट मालूम होती है। इस रिप्रियति को दर्शाने के लिए उपर्युक्त तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनके सिवाय 'हीरवम्, शाहिमा, सज्जा, अगस्ताद्' ये चारक और अटोगस्मै के शब्द भी इसी यकावट को दर्शाने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

शुक्रशोणितगोरवर्षय—शुक्र च शोणितं च शुक्रशोणिते स्वयोरवदन्व अप्रसृति। शुक्रशोणितयोरेत्यात्मोत्थ अप्रोद्वत्।

(भावप्रकाश)। शुक्रवर्षय—खी के गर्भांशुकृष्ण से जो एक प्रकार का विपरियता घाव होता है, वह घाव गर्भांशुरणा होने के कारण घंट द्वारा होता है। यहाँ तक कि उसकी अप्रसृति से खी को गर्भांशुमुख में एक प्रकार की सुरक्षी मालूम होती है। शोणितावर्षय—मासिक धर्म का यद होना (Amenorrhoea)। गर्भ का आधान होने पर योनि किंपुट (Corpus luteum) का घय नहीं होता, वह घीरे धीरे घटता है। इसलिए आंतर का घाव नहीं होता। जिन दियों में मासिक धर्म नियमपूर्वक होता है, उनसे यह लक्षण दिवोप महरव का है। जिनमें मासिक धर्म वसे ही अनियमित होता है, तथा जिनमें पाण्डुरोग, हृद्योग, रक्तचय (Chlorosis) हृत्यादि मासिक धर्म में गहवाही पैदा करने वाले रोग उपस्थित हैं, उन दियों में इस लक्षण पर विशेष जोर नहीं हो सकते। खी में मासिक धर्म पूर्णे पहल शुक्र होने के पश्चात् कुछ मास के लिए इसका घाव अनियमित है या घंट रहता है। अविशित दियों में समागम के घाव गर्भांशुप्रियति के बर से कभी कभी मासिक धर्म घंट होता है। कुछ दियों में शोनिहृति अप्राप्य में होती है। शोणितावर्षय से गर्भांशुप्रियति का निरान करते समय इन सब घृट बातों पर ध्यान देना चाहिए। गर्भांशुप्रियति ही आने पर भी अचित् शोणितावर्षय की मर्हति (२ अध्याय के २२वें शोक का वर्णन देसो) प्रथम सीन मासों में देखी जाती है। इस विषय के संरेख में पहल ध्यान में इतना चाहिए कि वर्षवि गर्भांशुप्रियति होने पर प्रारम्भिक गर्भों में मासिक धर्म हो सकता है, तथा प्रि-

प्रायः होता नहीं। कभी कभी जो रक्तघाव होता है वह मासिक धर्म का रक्तघाव नहीं होता, क्योंकि वह दसके समय पर नहीं होता, तथा उसकी राशि, अवधि और संग्रहन मासिक घाव से भिन्न होती है। इसलिए गर्भांशुरणा के लक्षण मिलते पर भी यदि गर्भांशुप्रियति से रक्तघाव होता हो तो दसको मासिक धर्म न समाप्तकर मात्री गर्भपात का पूर्वरूप (१० अध्याय का इधर सूत्र और वस्त्रदेलो) मानवा चाहिए और उसी दृष्टि से रोगी की परीका करके गर्भपात टालने की कोशिश करनी चाहिए। शुक्रण च योने—नेत्र, वाहु हृत्यादि में जिस प्रकार की अनेकिंव गति कभी कभी होती है, उसी प्रकार को गति योनि में भी होती है। इस प्रकार की गति को शुक्रण (Throbbing) कहते हैं—स्थूलिंघी चंचरु। (भावप्रकाश)। जैसे अन्य स्थानों का शुक्रण किसी घटनाविशेष का सूचक होता है—शान्तमिद मात्रमपर शुक्रण च नाड़ु कुल फैलमिहात्मा। अथवा भवितव्याना द्वारायि भवित्वं सर्वं॥ (शाकुन्तल), वैसे ही योनि का शुक्रण गर्भांशुल स्पृ घटना का सूचक होता है। कुछ लोग इससे योनित घन्दन (Vaginal pulsation) समझते हैं, परन्तु यह अर्थ गलत है। इसका कारण यह है कि शुक्रण वातिक (Nervous) है, जो गर्भांशुल के पूर्व या उस समय में हो सकता है, परन्तु योनित घन्दन योनि में रक्त विश्व के कारण होता है। यह अस्थायी और महीने में होती है और वसी समय यह स्पन्दन योनि में अगुलि प्रवेश करने से प्रतीत होता है। शुक्रण स्वप्रस्थय है, स्पन्दन पराप्रस्थय है।

इन लक्षणों के सिवा चारक और घामट अपने द्वयों में निम्न अधिक लक्षण होते हैं।

हृदयस्पन्दन—द्विल में धड़कन (Palpitations)। इसी लक्षण का निर्देश लाइगाइड्य में 'हृदयस्थय' करके किया गया है। यह लक्षण प्रारम्भ से अन्त तक हो सकता है, परन्तु इससे दरने का कारण नहीं होता, क्योंकि यह हृदय के धात्तस्थिक विकार से न होकर प्रारम्भ में द्वास समनवदि पचवत्स्थान की लहराई के कारण, भ्रम में हृदयस्थय और उसकी शीघ्रगति के कारण और अन्त में बड़े दूप गर्भांशुप्रियति के द्वाव के कारण होता है। सगर्भांशुप्रियति में गर्भांशुप्रियति, गर्भ, तत्त्व हृत्यादि खीं की उद्धि होती है। इनकी उद्धि का द्वाव वहने के कारण, रक्त की राशि बढ़ने के कारण इह दृष्टि को अधिक काम करना चाहता है, जिससे उसकी गति तेज होती है तथा उसकी लाकारास्थिरि भी हो जाती है। जब हृदय अविहृत होता है तब तो यह गर्भांशुप्रियति के अधिक काम को मने में सेल सकता है, परन्तु जब यह पहले ही विष्ट, विरोपतया कपाटी की लहराई से (Valvular disease) रहता है तब यह पिण्ठित्यमापिकता के अनुसार गर्भांशुप्रियता में, प्रसृति के समय में या प्रसृति के पश्चात् जबाव देता है और माता की पूर्ण हो जाती है।

एवं प्रवृ—कामवासना की रुक्षि और मन का सतोष—प्राप्तगमित्याव इत्यान्विताना शोरोरीणां वा। (इत्यु)। गर्भांशुरणा होने से दियों की कामवासना रक्तमाव से ही कम हो जाती है—

Sudden wanting of the sex urge has been sugg

ested as an early sign of pregnancy. *Middle of Sex.*

बर्यांत जो अप्यथार्थी स्त्री है, उसमें ये लक्षण निल सकते हैं। जो शरीरसुख चाहती है उसमें न एक ही सकती है, न मन प्रसरा हो सकता है, परन्तु कभी कभी मन विगड़ जाता है और यह चिकित्सी, देजमिजाज घनती है—निष्ठाविदा, ददास, आस्यसंस्तवण, अनश्वानिलाप, धृदि, अरोचक, अन्तकामिता च विद्येष्यते । (चरक)। गर्भस्थिति होने पर पचनसंस्थान में उपलुप्तय एने से सुँह में पानो भरना, दी मिचलना, भूख नष्ट होना, मिट्टी खट्टे पदार्थ हल्लादि राने की हृद्या होना ये लक्षण होते हैं। निष्ठाविदा, आस्यस्तवण, धृदि, हल्लास हन्को प्रातरस्यास्थ्य (Morning sickness) कहते हैं। यह अवस्था प्रातःकाल उठने पर मालूम होती है। और चक, अन्तकामिता—स्वामाविक खाद्य द्रव्यों के लिए धराचि और मिट्टी, भस्म, चूना, सटे पदार्थ हन अस्वाभाविक पदार्थों के लिए धर्मिलापा। इस लक्षण को दोहृष्ट (Pica ya Longi-dings कहते हैं। ये सब लक्षण द्वितीय मास में उत्पन्न होते हैं। कभी बहुत जल्दी मिट जाते हैं और कभी दो तीन महीनों तक जारी रहते हैं। इसलिए हन लक्षणों का निदेश व्यक्तगर्भों के लक्षणों में भी मिलता है। नीचे अंगेज प्रयंकार का जी उद्धरण दिया है, यह उपर्युक्त आयुर्वेद के सूत्र का गोया उल्या मालूम होता है।

There are two sets of symptoms or signs of pregnancy. One is subjective and the other is of more tangible character. To the first category belongs a certain feeling of tiredness, dizziness, heart palpitation nausea and vomiting (morning sickness), a sickening dislike of ordinary foods, and a longing for spices and indigestible ingredients. These symptoms may appear quite early, in pregnancy. As a matter of fact, they, may form the first suspicion of having 'been caught.' *Middle of Sex.*

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्धमस्तथा ।

अक्षिपद्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥१४॥

अकामतश्छुद्यति गन्धादुद्धिजते शुभात् ।

प्रसेकः सदन चापि गभिण्या लिङ्गमुच्यते ॥१५॥

(व्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षण—) विशेषतया उसके दोनों स्तनों पर कालापन (आ जाता है), (शरीर पर) रोमराजियों का उद्धव (होता है), और्डों के पलकों का उद्धव हाना ॥ १४ ॥ विना कारण चमन, शुभ गन्धों से उड़ेग, सुख में लालाशाव और यकावट ये गभिणी के लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

वक्तव्य—इन क्षेत्रों में व्यक्तगर्भा स्त्री के अर्थात् दूसरे महीने के अन्त से होने वाले (पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य का प्रारम्भिक भाग देखो) लक्षण वर्णन किये हैं। **स्तनयोः कृष्णमुखता—** गर्भाधान होने के छठे सप्ताह के बाद स्तनों की ओर अधिक रक्त जाने लगता है। यह रक्ताधिकता सम्पूर्ण गर्भावस्था में तथा प्रसूति के पश्चात् दूध पिलाने के लिये उत्तराधान की वज्रा है। अप्यतः संकेत-

स्त्राः कन्यानां स्तनसंश्लिष्टाः। तासमेव प्रजावानां गर्भिणीनां च ताः पुनः। स्वभावादेव विष्टा जावन्ते ॥ (निदान, अध्याय १०)। इस रक्ताधिकय का परिणाम स्तनगत हुग्यमन्थियों और नालियों की शुद्धि में याने पर्याय से स्तनों की पुष्टता में होता है—स्तनी पीनी। (अष्टांगहृदय)। तस्मात्प्रभ्याः पीनोपतपोभरा भवन्ति ॥ (शारीर ४२३)। प्रसूति के पश्चात् इसी रक्ताधिकय का परिणाम स्तन्योरपत्ति में होता है (आगे १० वें अध्याय के १३ वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। रक्तस्फुद्धि और पुष्टता के कारण स्तनों में गुदगुदी के समान कुछ लास संवेदना मालूम होती है, तथा स्तनों पर कूली हुई सिराओं का जाल भी दिखाई देता है। तीसरे महीने के अधिक से स्तनों की दवाने से एक गाढ़ा द्रव निकलने लगता है और यही द्रव उत्तरोत्तर अधिकाधिक होता है। इसको स्तन्य कहते हैं—स्तनी सत्तन्यी । (अष्टांगहृदय)। हस गाढ़े द्रव को वास्तव में पीयूप (सीस Colostrum) कहते हैं (आगे १० वें अध्याय के १४ वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। कार्यम्—तीसरे महीने के प्रारम्भ से चूचुक मोटे होते हैं, उनके चारों ओर का मण्डल (Areola) उभर आता है और कुछ काला पद जाता है—स्तनमण्डलयोश कार्यम् । (चरक)। स्तनमण्डलकृष्णत्वम् । (कार्यप-संहिता)। चूचुक और मण्डल दोनों मिल कर बन्दर के काले सुँह की तरह स्तनों के सुख के समान दिखाई देते हैं, इसलिए लिखा है—स्तनयोः कृष्णमुखता । इसके सिवा मण्डल में जो नर्ही नर्ही अन्यियां होती हैं, वे (Montgomery's follicles) भी उभर आती हैं। प्रथम गर्भावस्था में मोटी होने पर वे सदा के। ए वैसी ही रहा करती हैं। चूचुकमण्डल का कालापन गर्भस्फुद्धि के साथ अधिकाधिक हो जाता है तथा उसमें कुछ चमकीलापन भी आ जाता है—दिनेपु गच्छलु नितान्तपीवरं तदीयमानीलुखें स्तनद्यम् । (रुद्धवंश ३८)। पांचवें और छठे महीने में कभी कभी स्तनमण्डल के बाहर भी कुछ कालापन आ जाता है। यह एक सा नहीं होता; कहीं अधिक कहीं कम होने से छुत्तेदार (Mottled or honey combed) दिखाई देता है। इस मण्डल को द्वितीयक (Secondary) और चूचुकमण्डल को प्राथमिक (Primary) कहते हैं।

स्तन और गर्भावस्था में गाढ़ा सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं। गर्भावस्था में गर्भ का आधान होने पर स्तनों में उपर्युक्त परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं। ये परिवर्तन कैसे होते हैं, इनके सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नहीं है। तथापि यह माना जाता है कि गर्भ की अपरा और धीजकोप के अन्तःसाव से प्रोजेस्टिन (Progesterin) और ओस्ट्रिन (Oestrin) नामक (आगे ३१ वें सूत्र के वक्तव्य में अपरा के कार्य देखो तथा १० वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) पदा बनते हैं, जो रक्त के द्वारा स्तनों में प्राप्त होकर उपर्युक्त परिवर्तन करते हैं। अष्टांगसग्रह के निम्न चचन में तथा चौथे अध्याय के २३ वें सूत्र में (उसका वक्तव्य देखो) यही सम्बन्ध पर्याय से बताया गया है—जरायुशेषं चोर्ध्वमसकं प्रतिपदते । तस्मात् पीनकपोलपयोधरता कृष्णाष्टुचुकत्वं च । ये स्तनगत परिवर्तन गर्भावस्था के निश्चयात्मक लक्षण नहीं हैं, विषेकि चीजोंके अवधारणा

गुणम (Uterine fibroids) और मिथ्या गर्भावस्था (Pseudo-cyesis) में भी ये मिलते हैं—स्तनमण्डलकृष्णाश्वर रोमराजि सदोड़दा। मध्यिलोख्यव्यक्त भजते सर्वते तु ॥ विपाकपाण्डु काशयनि भवन्त्यस्यधिवानि तु ॥ इत्येवं लक्षणं स्थिणा रक्तगुणम प्रचक्षने ॥ (कारणपंसंहिता, गुणविकिसिताभ्याय) तथापि इन रोगों में स्तनगत सिराजाल प्राय नहीं होता। इसलिए कुछ चिकित्सक स्तनगत सिराजाल को अध्य विवरत्नों की अपेक्षा गर्भावस्था का सूचक भासते हैं। रोमराजुद्धर्म—विवा नपैरेखो रोमराजि प्रादर्भवति । (इन्द्रु)। गर्भावस्था में बालों की छुट्टि होती है, जिससे गुदांग के केश अधिक उन्धे और कुटिल हो जाते हैं—योनिरोग्या सङ्कलनम् । (अष्टाग्रसंग्रह)। Changes in the skin are seen during pregnancy in several directions. Increased growth of hair Ten Teacher's Midwifery

अध्यात्मशब्दव्याप्ति इत्यादि—इसके मिकाव 'अद्याप्रशवन मस्तावैषु भवेत्' । ये सब लक्षण दसरे महीने में शुरू होते हैं और जीवे, पांचवें महीने तक जारी रहते हैं। इसलिए इनका निर्देश यहाँ किया गया है। ये सब लक्षण गर्भ व्यापाना के कारण मरित्यक्षयस्थान में उत्पन्न हुई खलबली के परिणाम हैं। गव्याद्विजूते शुभाग्र—यह केवल उपलक्षण है (स्वप्रतिपादकार्ये सति स्वेतरप्रतिपादकवस्तु) । इस लिए रूप, रस, शब्द, स्वर्ण इनके सम्बन्ध में भी वैपरीत्य आ जाता है। इसी लक्षण का सामान्य निर्देश चरक और अष्टाग्रसंग्रह में अद्याप्रशवनमस्तावैषु भवेत् करके किया गया है। उद्यावैषु इति उद्यावैषु मक्षयीवत्वेन कृतेतु जाहैतु चाहैतु चेत्यर्थः । (चक्रपाणिद्रुत)। तेतु तेऽनुक्तेभवि स्वकलिपतेषु नानाविषेषावैष्वनियतेषु भविभवाद्वारविहाराराघवयोगिभिलाप हति । (इन्द्रु)। इसका अभिभाव फैल यही है कि गर्भिणी की इन्द्रियार्थ अभिभावा में कुछ असाधारण वैपरीत्य आ जाता है—

The above symptoms may be associated with disturbances of sense organs, affecting taste, smell and sight. Riddle of sex

इस विवरण का कुछ अधिक विवरण यहो २५ वें रुक्षों के वक्तव्य में किया गया है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त गर्भावस्था के और कई लक्षण माता में दिखाई देते हैं। इनका सचेत में विवरण यहाँ दिया जाता है।

गर्भस्पृशनप्रतीनि—इसको फ़इकाव (Quoikening) कहते हैं। इसका अभिभाव है—माता को गर्भ की हड़ताल का ज्ञान होना। यह लक्षण सर्वत्रथम जीवे महीने के अतिरिक्त से पांचवें महीने के मध्य तक होता है। साथा रणतया गर्भस्पृशन की प्रथमप्रतीति का काल १५ वां सप्ताह माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गर्भ में प्रथमप्रतीन इष्प समय होता है। इसनन् इससे बहुत पहले शुरू होता है—तन्मात्रा (चनूर्धनमात्रामात्रा)। गर्भनि गर्भ स्पृशते । (चरक)। इसांते चरति । (चक्रपाणिद्रुत)। तद्यत्पूर्वे भवित चन्त्रादावभिभाव वरोनि । (मितावरा)। अपांत् गर्भ में हड़ताल जीवे महीने से दूर होती है, परन्तु वस समय गर्भावस्था उद्यावैषु से स्वर्ण त करने के

कारण तथा गर्भ के स्पन्दन यहुत हल्के होने के कारण माता को उसका ज्ञान नहीं होता। प्राचार्य परिवर्तों का भी यही कथन है कि गर्भस्पृशन की प्रथमप्रतीति से यह न समझना चाहिये कि उसी समय गर्भ में प्रथम स्पन्दन शुरू होता है—

This means the first time that the mother is able to appreciate foetal movement. This does not mean first foetal movements Ten Teacher's Midwifery

अनुभववीन प्रथमप्रतीति स्थिति (Primipara) गर्भस्पृशन को टीक नहीं समझ सकती, परन्तु अनेकप्रसवा स्थिति (Multi para) इसको टीक समझ सकती है। आन्त्र की यति तथा आन्त्रगत यात्रा से भी गर्भगति के समान संवेदन हो सकती है, इस बात का व्यावर रखना चाहिए। यज आत्मवद्धन के काल का टीक स्परण नहीं होता अथवा यज आत्मवद्धन के विवाद गर्भधारणा होती है, जिसे कि प्राय प्रसूति के बाद बुझा करती है, तथा गर्भस्पृशन प्रतीतिकाल का उपोग्रह प्रसवकालनियंत्र के लिए किया जाता है। जिस सप्ताह में गर्भस्पृशन प्रथम प्रतीत हो, उसके बयालीस सप्ताह के बाद प्रसवकाल होता है, यह नियम है।

वा प्यम्, बालापन Pigmentatio—उसनों के कालेपन का उल्लेख उपर किया गया है। उसनों के आत्मरिक शरीर के अन्य भागों पर भी कुछ बालापन आ जाता है। ये हीरे पर, आंखों के नीचे, नासापालि के आसपास और होठों पर कालापन आ जाता है—ओडोमे स्तनयन्दलवोश वायव्यम् (चरक)। बगल के आसपास भी कुछ कालापन आता है उदर पर भागावस्थ से नामित तक, फ़िक्कू औरीप्रदेश सक एवं अभित रेख (Linea nigra) खनी है। जघासे में भी कर्म कभी कालापन आ जाता है। यह काल्यं प्रत्येक द्वीप में एक सा नहीं होता, किसी में कर्म कभी कालापन आ जाता है। उदर और उसनों का कालापन प्रसूति के प्रश्नात् भी पूर्णतया नहीं होता।

उदरहृदि—गर्भाधान होने पर पहिले दो महीने में गर्भावस्था ओग्निगुहा में भी जीवे खड़ा जाता है, जिससे उदर कुछ सपात या निम्न हो जाता है। गर्भ की अधिक पृष्ठि होने पर गर्भावस्था ओग्निगुहा में रह नहीं सकता, और भीरे ऊपर चढ़ता है, जिससे उदर भी भीरे ऊपर इसे महीने के अन्त तक बढ़ता जाता है। इसबें महीने में फिर कुछ कम हो जाता है।

उदर पर किलिसावासि—गर्भावस्थ के बड़ने के कारण उदर की त्वचा तनने से उपवर्णा फट जाती है, जिससे उदर पर द्वारें भी पृष्ठा होती हैं। इन्हें किलिस कहते हैं—गर्भोपोषीड्विना दोपातासम् इदयमासिना । वष्टु विद्वान् कुर्वन् गर्भिणा किलिसावासि च ॥ (अष्टाग्रहृदय)। किलिस सध्वन्विदरलग्नम् (चक्रपाणिद्रुत)। कृद्वानोदरे वलिनिशेष रेतानारात्माले प्राप्तो ये जायते ते किलिससंदा ॥ (अरण्डत्त)। उदरप्रातिरी अधिक तनने के कारण किलिस वरपथ होते हैं, इसलिए ये अतिरिक्त तीन महीनों में दिखाई होते हैं। गर्भावस्था के सिवाय जातादर, वीक्षकाय कोहृ Ovula ovary इत्यादि उदरहृदयनक रोगों में भी किलिस उदरहृदय होते हैं। जसे कि ब्रह्मदृष्ट ने कहा है उदर के सिवाय

उंह और अतिघृद्धि के कारण स्त्रीों पर भी किकिस उत्पन्न होता है। इसको गर्भरेखा (Sirea gravidaram या Lineaea gravida um कहते हैं।

The stretching of the skin of the breasts sometimes produces stria like those seen on the abdomen. *Ten Teacher's Midwifery.*

किकिस नाभि-भगास्थि रेखा के दोनों ओर समानान्तर समकेन्द्र त्रुटित रेखाएँ होती हैं। इनकी संप्राप्ति जैसे कि चक्रपाणिदत्त ने बतलाई है, वैसे ही होती है—

They are produced by the tearing «part of the subepidermal elastic fibres». *Gellet's Midwifery.*

प्रथम गर्भावस्था में जब ये रेखाएँ पहली बार बनती हैं तब गुलाबी या वैंगनी रंग की होती हैं, परन्तु पीछे सफेद हो जाती हैं, और एक बार बनने पर पुनः लुप नहीं होती। इनके शेत वर्ण के कारण यह (Lineaea Ibicantes) शेत रेखाएँ भी कहलाती हैं। इनकी उपस्थिति भूत गर्भावस्था का एक लक्षण है। नाभि—जलोदर में नाभि में जो परिवर्तन (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३५९ देखो) होते हैं, वे ही परिवर्तन गर्भघृदि के कारण नाभि में होते हैं। प्रथम तीन महीने में नाभि गहरी होती है, परन्तु उसके बाद वह धीरे धीरे कम से उथली, सपाट और बाहर की ओर निकली हुई होती है। गर्भाशयवृद्धि—गर्भस्थिति का यह एक प्रधान लक्षण है। गर्भ के बिना अन्य किसी भी कारण से गर्भाशय कम से नहीं बढ़ता। प्रथम तीन महीने में गर्भाशय बढ़ने पर भी श्रोणिगुहा में छिपा रहता है। चोथे महीने के अन्त में उसका किनारा भगास्थि और नाभि के बीच में आता है। पांचवे महीने के अन्त में नाभि के नीचे दो अंगुल, छठे महीने के अन्त में नाभि के बराबर, सातवें महीने के अन्त में नाभि से तीन अंगुल ऊपर, आठवें महीने के अन्त में नाभि और उरःफलकाग्रपत्र (Endosiform cartilage) के बीच में, नीचे महीने के अन्त में उरःफलकाग्रपत्र तक और दसवें महीने में गर्भाशय कुछ नीचे उत्तर आता है और कुचि में कुछ शिथिलता आ जाती है—शिथिलकुक्षिता। (अष्टांगसंग्रह)।

उस समय गर्भाशय का ऊपर का किनारा आठवें महीने के बराबर होता है (पांचवें अध्याय के ६६ वें श्लोक का वक्तव्य—तथा १० वें अध्याय का ६ वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो)। जब मासिक धर्म की तारीख बाद नहीं होती, तब इस कम-घृदि का उपयोग गर्भस्थिति का काल तथा प्रसवकाल निश्चित करने के लिए किया जाता है। इलिस मेकेटोनलड ने यह नियम बनाया है कि भगास्थि से गर्भाशय के ऊपर के किनारे तक सेन्टीमीटर में जो नाप मिलता है, उसको साढ़े तीन से भाग देने पर जो फल मिलता है, वह गर्भस्थिति का मासिक काल बताता है। जैसे, यदि गर्भाशय भगास्थि से १७.६ सेन्टीमीटर ऊँचा हो तो गर्भाशय के पश्चात् पूरे पांच महीने व्यतीत हुए हैं, ऐसा समझना आहिए। पादशोफ, सिराकुटिलता—गर्भाशयवृद्धि के कारण श्रोणिगुहा के भीतरी सिराओं के ऊपर दबाव पड़ता है, जिससे रक्तप्रवाह में कुछ बाधा उत्पन्न होती है, सिराओं में रक्त सञ्चित होता है जौर सिराएँ कुटिल (Vericose) हो जाया जाती हैं। यह परिणाम विशेष करके गुदा की सिराओं में

होकर भशं उत्पन्न होता है—गर्भघृदिपीडनात्। जायनेड-शीसि। (अष्टांगसंग्रह)। सर्वावस्था में मलावरोध प्रायः होता है, इससे अशोरपत्ति में सहायता होती है। इसके सिवाय योनिद्वार और पैरों की सिराएँ भी कभी कुटिल हो जाती हैं। गर्भावस्था में गर्भ, गर्भाशय, स्तन इत्यादि अंगों की घृद्धि के लिए माता के शरीर में रक्त को राशि अधिक होती है। परन्तु उस रक्त में लाल कणों की कमी और जल की अधिकता (जलरक्ता Hydramia) होती है, जिससे पैरों पर कुछ सूजन आ जाती है—शयुः पादयोरीपत्। (चरक)। रक्तकणों की कमी के कारण शरीर पर कुछ पाण्डुता भी आ जाती है—मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ (रघुवंश ३२)।

क्षामता—शरीर का कार्य (अष्टांगहृदय)। गर्भावस्था के प्रारम्भिक महीनों में वसन, भूख ठीक न लगना, गर्भघृदिभार इत्यादि कारणों से माता कुछ कृश हो जाती है। कुछ स्थियों में यह कृशता बहुत ही अधिक हो जाती है, परन्तु आगे जाकर यह कृशता दूर हो जाती है और स्त्री पहले से भी अधिक पुष्ट और सुन्दर दिखाई देती है—शरीरसादादसमभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ क्रमेण निस्तीर्य च दोहद्वयां प्रचीयमानावयवा रराज सा। पुराणपत्राप-गमादनन्तरं लतिव सच्चदमनोजपलना॥ (रघुवंश ३)। यह प्रचीयमानावयवता मुख, ग्रीवा, स्तन, उटर, ऊरु, नितम्ब इत्यादि में चर्वी का सञ्चय होने से उत्पन्न होती है।

Whilst a certain emaciation not infrequently occurs in the first months, after the middle of pregnancy the figure becomes fuller, the appearance more blooming the conformation of the body stouter and the gait heavier. *Ideal Birth.*

योनि में परिवर्तन—(१) गर्भस्थिति के कारण गर्भाशय के अनुसार योनि में भी रक्तसञ्चार अधिक हो जाता है तथा गर्भाशय के भार के कारण उसके रक्तसञ्चार में कुछ बाधा भी उत्पन्न होती है। गर्भाशयभार और अधिक रक्तसञ्चार के कारण योनि की भीतरी वैंगनी रंग की हो जाती है। यह रंगपरिवर्तन तीसरे महीने से शुरू होकर पांचवें महीने तक अधिक से अधिक होता है और प्रसवकाल तक रहता है। रक्तगुल्म (Fribroids) वीजकोपयथि इत्यादि विकारों में यथापि योनि में रंगपरिवर्तन होता है तथापि गर्भस्थिति में सबसे अधिक होता है। इसलिए योनि का रंगपरिवर्तन गर्भस्थितिसमर्थक लक्षण माना जाता है। (२) गर्भस्थिति के कारण योनि शिथिल, ढीली, चौड़ी भी होती है—योन्याक्षाटालत्वमिति। (चरक)। चायालत्वं विवृतत्वम्। (चक्रपाणिदत्त)।

The tissues of the vagina become relaxed, loose and hanging in folds. *Ten Teacher's Midwifery.*

इस विधृति का उपयोग आगे जाकर प्रसूति के लिए होता है। (३) रक्तसञ्चार अधिक होने के कारण योनि में अंगुष्ठियों को प्रविष्ट करने पर स्पन्दन (Vaginal pulsation)

प्रमोन होता है। आयुर्वेद के 'शरीर न दोने' (चाक) इष्ट लरण का यह भयं बहो है। (५) समाजस्था में दोनि से याव अधिक रक्षा है। यह याव दोनि की दीवाल भी गर्भाशयदीश से आता है। यह स्वेतवर्ण, चिरचिरा, कुछ रागा भी ग्रन्तिविद्या में अचल होता है। इष्ट अचल ग्रन्तिविद्या के कारण अपरदमार्ग में विद्वारी पीयागु महो रह सकते। (६) गेगर या चिह्न (Hes-¹ch) — यह चिह्न गर्भाशयित के हुँडे ससाह से दृम्यं ससाह तक मिलता है, और इस तरज पर निभर होता है कि गम्भ इष्ट समय में गर्भाशय के उपर के हिस्से में रहता है, गर्भाशयदीर का निचला हिस्सा अत्यन्त मृदु होता है और दीना कुछ कठी होती है। सचेत में तीनों आग इष्टमें भिज घनता के मारम होते हैं। इष्ट लिंग को अनुभव करने के लिए एक हाथ की दो आगुलिंग दोनि के भीतर गर्भाशयदीश के ऊपर इच्छनी चाहिए, और ऊपर से दूसरे हाथ की आंगुलियाँ द्वारा गर्भाशय और उसका निचला हिस्सा टटोलना चाहिए। इससे ऊपर का हिस्सा गोल और रियतस्थापक, भींचे का हिस्सा, जहाँ थोनों हाथों की अगुलियाँ बिलकुल मिली हुईं सी प्रतीत होती हैं, अत्यन्त मृदु; और दीना का भाग कुछ कर्ढन मारम होगा। इन तीन बाँों पर गेगर का चिह्न निभर होता है, बेल भृथ्यभाग की अत्यन्तमृदुता पर नहीं। गर्भाशय के प्रारम्भ काल में उमड़ा नियंत्रण के लिए हेगर का चिह्न एक मदरा का सायन है। अब तक यर्णन किये हुए लड़ण गम के कारण माना के शरीर में दलपत्र हुए परिवर्तनों पर निभर होते हैं। ये परिवर्तन अन्य कारणों से हो सकते हैं। इमलिए उपर्युक्त लड़ण गर्भाशय के सिवाय अन्य अवस्था में भी मिलते हैं। जैसे, पांचदोरा राजयचन्द्र में अनारंभ, अंग्रेमार्ग में अरोचक, लादि इत्यादि; जल दूर में उदरउद्दि, पादशोष, भर्त्ता इत्यादि; रक्तुकम में गर्भाशयवृद्धि। कुछ लड़ण गम्भ के अस्तित्व की सिद्धि पर निभर होते हैं। इनका विचार आगे खरे वै सूत क वक्षस्थ में किया गया है।

तदा प्रभृति व्ययायां व्यायामनितर्पणमतिकर्ण
शर्ण दिग्गस्त्वन् गतिजागरण शोक यानारोहण भय
मृदुकुकासन चेकान्ततः खेदादिविद्या शोणत
मोक्षण चाकाले वग्निद्वारण च न सेवेत ॥ १६ ॥

(गर्भिक्ष्यवायवृत्त) तब से (गर्भिक्ष्य द्वी) मधुन, व्यायाम, अतिनर्पण, अतिकशन, दिन में सोना, रात को जलना, शोक, यात्रों पर सवारी करना, भीन, उक्कड़ बैठना इनको करापि भी और स्नेहाद त्रिया, रक्तमारण और वेगविचारण इनको अकाल में सेवन न करे ॥ १६ ॥

वक्षस्थ—इस सूत्र में गर्भिक्ष्य का व्यवस्थवृत्त Hygiene of premarital life संचय में वर्णन किया है। तत्त्व पृष्ठ—जब उपर्युक्त 'अमो ग्रन्ति' इत्यादि लक्षणों से दी की समर्ग वस्थ का निश्चय हो जाय, तब से । अन्य—आयुर्वेद और घट्टाश्रव का यह एक साधारण नियम है कि आत्मविद्यन के प्रभाव घट्टाश्रव में स्वीकारण बनना चाहिए—क्युं

साक्षिगिरामी राग । (मन)। अर्थात् यदि किसी कारण से आत्मविद्यन न हो तो घट्टाश्रव न करना चाहिए, यह उपर्युक्त नियम से अनुमत न होता है। दी में गौग अनार्द्ध (See : *dry amenorrhoea* ; व्यायिय या सगर्भाशयस्थ के कारण होता है। व्यायितावस्था में समागम करने से उमड़ी व्यायिय होती है, बुल्लना होती है, और यदी में यदि गर्भधारण हो जाय तो माता की व्यायिय से गर्भ का नामा और गर्भ के कारण माता की व्यायिय की धूर्दि इस सारह होने का नामा होता है। यदि इससे दी गमिणी होने पर उससे समागम किया जाय तो गर्भ को हानि पहुँचने की बहुत कुछ समाजना होती है, तिससे गर्भापान, मृदुवार्षता (Mild protracted infestation of fetus) मृदुवार्ष निरन में मेधुन एक कारण है, प्रयमण्ड इष्ट (१० दिनों) इत्यादि आपलिया उत्पत्ति होती है, और इनके कारण माता का स्वास्थ्य गिर जाता है। इसलिए गर्भिक्ष्य और व्यायित दी व्यायाम के लिए नियम भानी गई है—या व्यायित्रिया द्वारा नियमित नोखेत प्रसाद नरः। गर्भिक्ष्य गम्भीरी व्यायाम, गर्भिक्ष्य नोखेत प्रसाद नरः। गर्भिक्ष्य गम्भीरी व्यायाम, व्यायित्रिया व्यायाम । (सुखन)। आम तौर से गर्भदानी दी को भी मेधुन की इड़ा नहीं होती, इस बात का उल्लेख दीये । ३ वै सूत के वक्षस्थ में 'सुषित' लड़ण के विवाह में किया गया है। इसलिए गर्भिक्ष्य दी के साथ समागम करायी न करना चाहिए—

If the menses do not appear, it is a sign that conception has not been placed and the expectant mother must therefore be seduced from all approach through the whole period of pregnancy and nursing. Every time a husband excites in his wife the sexual passion, he robs his child of its portion of its vitality, and her of some of the strength she needs. *Exoteric Theriology by Dr Nicholas*

परतु साल देव साल के लिए व्यायामये पालन पुरुष के लिए काटन होता है। और क्षितिज द्वा को भी अग्न्यास से मेधुनेका होती है। इसलिए यदि दी को धीमा न हो तो उसकी इड़ा होने पर कभी कभी सावधानी से ० वै द्वे मास तक मेधुन कर लिया जाय, ऐसी पात्रास्थ शास्त्रज्ञों की राय है—

There is no harm in sexual relations during gestation, provided the special condition of the female partner is respected. Violence and over indulgence is a menace to mother and foetus. In some under-developed individuals abortion may follow in course of early pregnancy. *Riddle of Sex*

व्यायामवायवृत्त सुखन के अनुसार एकान्तत व्यवायनियेष न के 'पात्रास्थ लक्षण' (व्यायामद्वय) ऐसा मध्यम एक वर्ताते हैं, और सूत में छ महीनों तक व्यायाम करने से अस्तीनि नहीं होती, ऐसा स्वष्टि लिखा है—प्रग्रामान् वायवैयोग्ये गुरुविष्णुमेव वै विद्यम्। आनन्दजननावृत्वेद भासों न होते ॥ (अतिरक्षति)। गर्भवती दी के साथ एकान्तत व्यवायामनियेष न करने के लिए पात्रास्थ शास्त्रज्ञ और

एक युक्ति चताते हैं। यद्यपि है कि धीनि में गिरा दुश्मा वृक्षलय का सूक्ष्म यहाँ में उमेशा दोषित होता है और इस में भिन्नतर द्वी के पारीर फो पुष्ट करने में सहायता करता है। गर्भवती अवस्था में यद्य पोषण लौर भी अधिक होता है और द्वी के तथा गर्भ के पोषण में सहायता करता है—

If a woman is pregnant a stronger absorption of the substances introduced into the vagina takes place. Since the spermum, a chemical compound contained in the semen, has a favourable invigorating effect on the organism, the influence of the absorption of semen may be favourable to both mother and child. And this influence must, as a rule, be recognised as desirable. *Ideal Birth.*

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि यदि जी का स्वास्थ्य श्रीक न हो, उमकी इच्छा न हो, मैथुनकर्म से उसे शारीरिक पीड़ा होती हो तो मैथुन एकान्तराः यज्ञं फरना चाहिए। इसकी विपरीत धर्मस्था में सावधानी से कभी कभी मैथुन करने में आपत्ति नहीं है। अतिमैथुन और अनिष्ट यो महीनों में मैथुन सर्वदा यज्ञं फरना चाहिए। ४४४—
स्वायाम से यहाँ दौड़ना, नाचना, पूछना, फूँदना, जिसमें शारीरिक इल्लचल अक्समान् करनी पड़े ऐसे कर्म, जिनमें यकावट हो, हाँफनी हो, दिल में धड़कन हो, गर्भ में फल-काप उग्रव हो, अधिक देर तक रुके रहने की आवश्यकता हो, ऐसे दार्शन अनुचित शारीरिक कर्म अभिप्रेत हैं—॥४४४॥
युग्मउत्तरायामनंश्वाः । (चरक) । सम नवः २४ गाय शिशा ।
(अष्टांगसंग्रह) । मामूली घर के फाम-काज करना, चलना फिरना, सुली स्वच्छ एवा में टालना इस प्रकार के हल्कें शारीरिक परिव्रेम स्वास्थ्य के लिए फायदेमन्द होते हैं। इनसे शरीर में स्फुर्ति होती है, पेशियों कार्यशम होकर प्रसूति में कष्ट नहीं होता। गर्भिणी स्त्री को आलसी होकर रहना श्रीक नहीं है। अर्थात् ५०८, मातृपर्वश्चनग्—इसका अभिप्राय यह है कि गर्भिणी स्त्री अतिमात्रा में तथा अल्पमात्रा में आहार सेवन न करे। अपने और शर्म के पोषण के लिये बांधवश्यक जितना आहार चाहिए, उतना ही सेवन करे—मोजनं हीनमात्र तु न वलोपनर्यजिसं । अनिमान् पुनः सर्वानाशुग्म दीपान् प्रदोषपेत ॥ (अष्टांगहृदय) । गर्भिणी का आहारार संबंधी विदोष विवरण दसवें अध्याय के दूसरे तीसरे सूत्र तथा उसके वक्तव्य में किया गया है। ओके भवग्—इससे शोक, क्रोध, असूया, हृद्या, भय, उद्वेग, त्रास, चित्तसंचोभ इत्यादि मानसिक विकार अभिप्रेत हैं। इसका मतलब यह है कि गर्भिणी स्त्री ऐसे कर्म न करे, ऐसी वार्ते न सुने न करे, ऐसे दृश्य न देखे कि जिससे उसके चित्त में उपर्युक्त विकार उत्पन्न हो जाय—दुर्घटुदर्शनानि परिहरेत, उद्जज्ञी यथ कथा, क्रोधभयसंकरांश भावान् परिहरेत् । (सुश्रुत शास्त्र १०) । इन मानसिक विकारों का गर्भ के ऊपर प्रत्यक्ष क्या परिणाम होता है, इसका निश्चित उत्तर देना आज भी कठिन है। परतु आवृद्ध के अनुसार पाश्चात्य पण्डितों का भक्त्यन है कि सराभावस्था में स्त्री का मन और मस्तिष्क अन वस्तिष्ठ होता है, जिससे क्रोध द्वाकावि अवस्थाओं का द्वारा

अधिक उम्रके शरीर पर जल्दी होकर गर्भ के ऊपर भी होता है; इसलिए इन मानसिक विकारों से गर्भवती खी दूर रहे—
A pregnant woman should be shielded as far as possible from all worry and excitement. Zen Teacher's Midwifery. A pregnant woman should never be told tales of horror, and the tales of difficult labour are specially to be avoided. The connection between shock and fear, sudden change in the adrenalin content of the blood is known to us, we further know that a constant exchange of matter between the maternal blood and that of the child takes place. And, therefore we can very well imagine that in this way the child feels the reaction of what occurs in the mother. Ideal Birth

यामासांगकम्—जिस यान या धार्ण से संधेभ Joli (g)
उपर होता है, उस यान या धार्ण पर चढ़ना—भिन्नाव-
भिन्नावनामनम्। (अष्टांगसंग्रह)। आवादमध्येभिर्यानै-
यानै। (चरक) जैसे, चादा, घलगाली स्वयं सद्गुर्भी होते
हैं, इसलिए हन पर न घेठना चाहिए, चाहे रास्ता दीक हो
या गराव हो। माईयल, मोटर स्वयं संसार्भी नहीं हैं और
उनमें पश्चीमानक पर तुड़ भी मंदोभंद पैदा नहीं होता, इसलिए
हन पर सवारा करने में घरजा नहीं है। परन्तु जब गराव
सदक होती है तब उम्र पर घोड़े या घैंगाली से भी अधिक
एवं उत्तम होता है; इसलिए गराव सबक पर हन पर सवारी
नहीं करनी चाहिए। मनुष्योंहेत पालकी या म्याने पर
सवारी करने में कभी भी आपत्ति नहीं होती। आखिरी
दिनों में यानावरेषण न करना ही प्रशंसन होता है। उत्कृ-
ष्टामनम्—गुरुवाणिकमायोगः प्राप्तुलक्ष्यामनम्। पेर और
सपिय के बलघेना (अयस्विथकासन) या उक्तदूषघेना
(प्राप्तुलक्ष्यामनम्) पर तनाव पदता है, जिससे भगद्वार विनृत
होता है। इसके साथ साथ उदरप्राचीर पर भी दबाव
पदता है, जिससे गर्भ के ऊपर दबाव आ जाता है। इससे
गम्भीर होने को समझता होती है। उच्चटुकासन के साथ
विषमासन और कटिनासन भी वज्र्य करने चाहें। उत्कृष्ट-
विषमासनाट्टासनम्। (अष्टांगसंग्रह)। उत्कृष्टविषमासनकृ-
नासनसेदिन्याः। (चरक)। ५५५८:—कदाचि भी, सदैव।
इसका सम्बन्ध व्यवाय से लेकर उत्कृष्टकासन तक प्रत्येक
के साथ है। अर्थात् व्यवायादे विषय गर्भमणि के लिए
एकान्ताद्वितकर होते हैं, इसलिए हनका सेवन कदाचि
न करना चाहिए। श्रवालं—इसका सम्बन्ध स्नेहादे विद्या
और शोणितमाहात्मण के साथ जहर है तथा वंगावधारण
के साथ भी हो सकता है। वैसे? इसका उत्तर नीचे वंगा-
विधारण में देखो। स्नेहादिकार्य गर्भमणि के लिए निपिद्ध हैं,
परन्तु एकान्ततः निपिद्ध नहीं हैं, क्योंकि ये अधिकतर
चिकित्सा करने के उपाय हैं, और जब गर्भमणि ऐसे रोगों
से पीड़ित हो कि जिनमें हनके सिवाय चिकित्सा में
सफलता नहीं मिल सकती, तब स्नेहादा से और सावधानता
से स्नेहादे विद्याओं का उपयोग करना प्रवृत्त है।

अकाले का अभिग्राय 'आनात्ययिके वाले' , 'अदिषेषर्गे काले, जैसे, स्वेच्छिषेष में—गर्भिणी पुण्या सूर्ता (न रेखेद्) शुद्ध वाद्ययिके गदे । (अर्थांगहृदय) । वमनलिपेष में—अवस्था गर्भिणी । कृते विषग्राह द्वार्यविशुद्धात्मवहारतः । (अर्थांग-हृदय) । विद्यावानिषेष में—विदिषानामपि च विषेषमां आत्ययिके च तिराव्यवनमप्रतिविद्ध । (सुधृत) । हत्यादि । रनेहादिविद्या शोणितमोषेण च—स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापतन, अनुवासन, दिरीविरेचन, धूपमान और रक्तमोत्कृष्ण । स्नेहादि विद्यानिषेष के सम्बन्ध में चरक में विदेष विवरण दिया है—प्राचीकाशवा शुद्धशुरुद्विशुरद्वृष्ट-शुकुमारापायैरेषाशाहोपचारैरेषचरेत् । न वास्त्वा वमनविरेचन-विदिषेविचनानि प्रयोगवदेत् । न रक्तमवेचयेद् । सर्वकालं च वास्त्वानपमनुवातनं वा द्वयादव्यवतात्प्रिविद्युत्यादेः । अष्टम मास-मुग्धाद्य वमनादिसाधेतु पुनविकारेष्वात्ययिकेतु शुद्धिभवनादिभिस्त्वयैर्विविधारतः स्वाद । पूर्णिषिव तैलवारमसत्त्वमयाद्नार्वनी भवत्युपचर्या । (शारीर ८) । आययिक व्याधि के लिए संत्रान्तर में तीक्ष्ण विद्याओं का उपयोग करके देखा का इषण करने के लिए लिखा है—त्वत्यन्तयिकेष्वापो, विधिरात्ययिके पुनः । तीर्थैरपि विद्यायोगैः लिप यनेन वालवेत् ॥ (अर्थांगसंहृत) । वेगविधारण—मलमूदादि के आवेगों को रोकना । इनके देखों को कदापि न रोकना चाहिए, अन्यथा विविध रोग उत्पत्त होते हैं—प्रथमेवें च भावना प्रवृत्तानां स्वदानतः । न वैयान् धारेदेव प्राप्तो वातादीनो विज्ञिप्तिः ॥ (सुधृत) । यथापि आयुर्वेद में इस प्रकार का नियम है, तथापि आयुर्वेद में इस प्रकार का नियम है, तथापि सामाजिक और धार्मिक प्राणी (खोंडि हि देवमपिरो विदेषः (A Social and religious animal) है, जो अन्य प्राणियों के भयान मलमूद का आवेग आते ही उनका उत्सर्जन नहीं कर सकता, हम वात का भी खाल रखता है । इसलिए जहाँ वेगविधारण का निषेष दोता है, वहाँ ही असुक सामाजिक और धार्मिक कर्म के काल में विद्यासर्ग का निषेष मिलता है—न वेगतोऽद्यत्ययं स्वातु; न वायविन-संजिनीमार्बद्विरुद्धत्विमुख निष्ठोविद्यावाचवद्योऽप्यानुवातेषु, न पञ्चनमस्तुपेत्र जनवति नाशनाते, न वेगविधारणददर्शन-महान्तिरामु इवमनिहृतव मुद्देष । (चरक) । अर्थात् खड़ासे वेगविधारण का अभिग्राय यह है कि इन कर्मों के समय के अतिरिक्त समय में वेगविधारण न करना चाहिए । इन कर्मों के समय भी यदि किसी काम का योग उत्पन्न हो जाय तो यही पुरमन विद्यालय उत्पन्न कर दे । इस मूल में गर्भिणी के स्वरूपत्व का नियेषार्थक वर्णन किया है, विद्यापंक्ति वर्णन का नियम प्रकार से कर सकते हैं । गर्भपात्रण का नियम होने पर यही विद्यापंक्ति से रहे; विद्याये शारीर को अधिक आयात न हो, ऐसे हल्के काम करे; उचित मात्रा में हल्का पीटिक आहार मेंदन करे; केवल रात द्वे घासी निष्ठा मेंदन करे; मन शाश्वत, मनुष और मानुष इत्येवं; मध्याही बरना ही तो शुद्धपात्र यथा अस्ती नवक एवं करे; रुग्ण उत्पत्त होने पर यदि आयातपक हो तो वमन-विरेचनादि कर्म के लिए शुद्ध सुइमार भास्तुधियों को सेवन करे और जहाँ तक ही रहे मलमूदादि का देंगा आने पर वही आर्य प्रथम करे । गर्भिणी के इतरपूर्ण का दुष्प्रभावित

विवरण १० वें अध्याय के २-३ सूत्रमें और उसके वक्तव्य में किया गया है ।

दोपामिघातेर्गर्भिण्या यो यो मागः प्रवृक्षते ।

स स भागः दिशोस्तस्य गर्भेस्थस्य प्रपादते ॥१॥

दोपेष्य अभिगातों के कारण गर्भिणी द्वीपा का जो जी भाग (धंग) पीड़ित होता है, उस गर्भस्थ थलक वा वही वही भाग पीड़ित हो जाया करता है ॥ ११ ॥

बद्धय—दूसर श्लोक में पूर्वोक्त व्यवायव्यायामादि सेवन न करने का हेतु वर्णन किया है । दोषाभिगातै—व्यायाम व्यवायादि पूर्वोक्त निषिद्ध आहार-विहार रूप दोषों के अभिगातों से । जैसे—व्यवायशीला दुरुत्प्रसादोंके खेत वा, शोकनिता भीनमप्रविष्टपत्त्वायुर्वं वा, अभिव्यात्री परोपनितमीर्जुं स्वेतं वा, इत्यादि । (चरक) । किंवा, निषिद्ध आहार-विहार के कारण प्रकृष्टिवात्तदि दोषों के अभिगातों से—मातुसन्नाहारविदारदोषैः । तुर्वन्ति दोषा विविधति दुष्टः स्वातन्त्र्येन्द्रियवैकृतिनि ॥ (चरक) । किंवा, आहार-विहार दोष और पतन प्रहारादि अभियात याने निज और अग्ननुकारणों से । यो यो भागः प्रीत्यन्ते श्वसादि—माता के विरुद्ध जीरा में विकार होता है, गर्भस्थ दिशु के दर्मी धंग में विकार होता है । इस भत्त का समर्पण करना व्याधि यहुत कठिन है, तथापि भाता के शारीरिक और मानसिक दोषों का दुरा असर गर्भस्थ दिशु पर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है—जाग्र वा गर्भे प्रथानं वार्ता, ऐन भासेत्त ग्रन्थि प्रसद-पर्यंत मातुरुद गुणेषावतुविद्यानि गतः । (चवपाणिग्रन्थ) ।

All the mother takes of food and drink, medicines and poisons from such things as tobacco and alcohol, exercises an influence on the child's body, then does it not seem, following a law of logic, that likewise the psychical fare exercises an influence on the mind of the unborn child To be sure, we can not prove this, but there are many things between heaven and earth which we can not prove—are they therefore less true? Ideal Birth

ह्रस्तिर् प्रथकर आहार-विहार का सेवन करके द्वीपस्थान और गर्भस्थ दिशु का स्वास्थ्य बनाये रखने की कोशिश करे—उत्तरादित्याहारविहार, प्राप्तात्मप्रविष्टस्त्री की दिशेष वर्तयेत् । मात्रावारा भासानमुखीद्विरुद्धामाहार-विदारव्यातिनि । (चरक) । प्रथमपाद शुष्टु १५ भी देनो ।

तत्र प्रथमे मात्रां वस्तुत आयते ॥ १८ ॥

(प्रथम मास में गर्भ का स्वस्थ—) प्रथम मास में (शाम) बहुत बनता है ॥ १९ ॥

व्यायय—उत्तरादित्याहार का सेवन होने के पश्चात् सद्वैग्मर्गै वालक बनने के समय तक मात्रावारा उत्तरादित्य गर्भ में बढ़ा जाया परिवर्तन होते हैं, उत्तरादित्य बनने वर्षों से हो रहा है । इस एवं में इत्येवं मात्रानि के गर्भ का व्यायय बनता है । अल्प प्रथमों में प्रथम साप्त वा तारीका व्यायय—उत्तरादित्याहार गर्भस्थानः प्रथमे साप्ते स्वप्न्यादः गर्भानुवृत्ताः (बचनी) है । वैद्युते भासेद्वच्छर्विद्यः गर्भ-स्वप्न्याद्वच्छर्विद्यः । (चरक) । गर्भः प्रथमे अविग्रहात्

जली भवेत् । (अटांगहृदय) । प्रथमे मासि संडेहभूतो धातु-
मूच्छितः । (याज्ञवल्क्यस्मृतिः) । कठुकाले संप्रयोगादिकरात्रोपितं
तरलं भवति, सप्तरात्रोपितं बृद्धुदुः भवति, अर्घसासाभ्यन्तरे पिण्डो
वति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति । (गर्भेपिनिषद्) ।

गर्भाधान के न्यूनाधिक काल के पश्चात् शास्त्रक्रिया के
पारण या गर्भविच्युति के कारण प्राप्त हुए अनेक गर्भों का
आया और आभ्यन्तर निरीक्षण करके मासानुमासिक गर्भवृद्धिक्रम
अशास्य शास्त्रज्ञों ने निश्चित किया है । भारतीय महर्पियों ने
प्रायः इसी प्रकार से और दिव्यदृष्टि से इस विषय का ज्ञान
प्राप्त किया होगा । पश्चात्य देशों में आज जो सब से अल्पका-
रीन गर्भ निरीक्षण के लिए मिलते हैं, वे ब्राह्मस और टीचर
Bryce-Teacher's ovum, पीटर (Peter), ग्राफ फॉन
स्पी Graf von Spee इत्यादि के हैं । इनका काल पन्द्रह से
इसी स्थिति को प्रत्यक्ष करके आधार पर उपकल्पित
(Hypothesical) ऐसा है । संचेप में मनुष्य में शुक्रशोणित-
संयोग तथा संयोग के पश्चात् पन्द्रह वीस रोज तक गर्भ में जो
कुछ भी परिवर्तन होते हैं, वे अब तक दृष्टिगत्य नहीं हुए हैं ।

स्त्रीबीज में शुक्राणु (जीवात्मा) का प्रवेश होने के
समय से उसमें विशेष परिवर्तन प्रारम्भ होकर उसका
अन्तिम परिणाम बालकोत्पत्ति में होता है—गात्राग्रशत-
भागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विशेयः स चानन्त्याय
कल्पते ॥ (श्वेताश्वतरोपिनिषद्) । शुक्र और स्त्रीबीज का
संयोग वीजवाहिनी में प्रायः होता है । स्त्रीबीज आकार में
ज्ञम (द्वे मिलिमीटर के लगभग) गोल और एक कोशा
सेल) का होता है । शुक्राणु से संयुक्त होने पर उसमें विभ-
न्न प्रारम्भ होता है । विभजन के द्वारा मूल एक कोशा से दो
त्रिशासुमूह बन जाती हैं । फिर दो से चार, चार से आठ, आठ
। सोलह, सोलह से बत्तीस इस तरह सेल संख्यावृद्धि का
खेलसिला जारी होता है, जिससे एक छोटा सा गोल टोस
त्रिशासुमूह बन जाता है । इसमें वाहरी कोशाएँ आकार में
त्रिटी और भीतरी बड़ी होती हैं । इस कोशासुमूह को
कल्ल या कलन Motulin कहते हैं । कल्ल के संबंध में यह
ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि प्रारम्भिक एक कोशा के
थान में इसमें अनेक कोशाएँ होती हैं, तथापि इसका परिमाण
प्रारम्भिक एक कोशा से मोटा नहीं होता, कुछ छोटा ही
हो सकता है । इसका अभिग्राय यह है कि कल्ल वास्तविक
वृद्धि की अवस्था नहीं है । वृद्धि पूर्व अवस्था है, जिसमें
जीव की वृद्धि के लिए उचित कोशाएँ बनाई जाती हैं । कल्ल
ठीक बनने पर उसमें एक खोखला स्थान बनना शुरू होता
है, और धीरे धीरे इस स्थान में तरल इकट्ठा होकर इसके
द्वारा से वाहरी कोशाएँ भीतरी कोशाओं से अलग हो जाती
हैं । इस अवस्था को बुद्धुद (Blastula) कहते हैं । तरल
अधिक इकट्ठा होने से बुद्धुद का परिमाण वास्तव में बढ़ने
लगता है । इसकी वाहरी कोशाएँ अधिकांश स्थान में इकट्ठी
या दोहरी होती हैं, परन्तु एक स्थान में वाकी सब कोशाएँ
इकट्ठा होती हैं । ये अन्तःसेलसमूह (Inner cell mass)

कहलाती हैं । वाहरी कोशाएँ गर्भपोषण के काम में आती हैं,
इसलिए पोषक (Tropotaxis) कहलाती है; और भीतरी
कोशाएँ गर्भवृद्धि के काम में आती हैं । हंस तरह एक तरफ
कल्ल बनने का काम जारी रहता है और दूसरी तरफ जीव
गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है । शास्त्रज्ञों की राय है
कि गर्भाशय तक मार्ग तय करने के लिए साधारणतया
एक सप्ताह लगता है और इस सप्ताह की अवधि में
कल्ल पूर्णतया बन जाता है—उपाहार कलती भवेत् ।
इस प्रवास में जीव का पोषण वीजवाहिनीगत साव से
होता है । कल्ल की वाहरी कोशाओं में पाचन और प्रचुपण
की शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे यह कार्य होता है । गर्भाशय
के भीतर पहुँचने पर वे वायु कोशाएँ अन्तःस्तर के शुष्टभाग में
धन्पनी पाचकशक्ति के द्वारा एक छेद बनाती हैं, जिसमें से
होकर गर्भ अन्तःस्तर की मोटाई के बीच में सुचित रहता है ।
जिस छेद में से गर्भ अन्दर जाता है, वह छेद पीछे बन्द हो
जाता है । इसके बाद गर्भ का पोषण अद्वृत्त तरह से होने के
कारण उसकी वृद्धि तेजी से होती है । पोषण का विचार आगे
४०वें सूत्र में किया गया है ।

इस तरह गर्भाशय के भीतर तेजी से वृद्धि प्रारम्भ होने पर
चतुर्थ सप्ताह के अन्त में गर्भ की लम्बाई लगभग ५ इंच
होती है । उसका एक सिरा मोटा होता है जहाँ सिर बनता
है, दूसरा पुच्छ के समान नोकीला होता है । गर्भ गोलाई
में इस तरह मुड़ा रहता है कि दोनों सिरे आपस में मिल
जाते हैं । मोटे सिरे में मस्तिष्क, आँखें, कान, नाक इनका
सूत्रपात होता है; मुख के स्थान पर दरार दिखाई देती है ।
मध्यभाग में हृदय और यकृतादि आँखों का सूत्रपात होता
है । शाखाओं के स्थान में छोटे छोटे उभार दीख पड़ते हैं ।
यह गर्भ देखने में मानवी नहीं होता है । इसलिए लिंगा
है—अव्यक्तविश्वः सदसदभूताङ्गावयवः । (चरक) । विद्य-
मानाविद्यमानाङ्गप्रत्यक्ष इत्यथः । अद्वानां च वीजरूपतया स्थितत्वेन
सत्त्वम्, अव्यक्तभावाचासत्त्वम् । (चक्रपाणिदत्त) ।

द्वितीये शातोप्मानिलगभिप्रपञ्चयमानानां महा-
भूतानां संघातां धनः संजायते; यदि पिण्डः पुमान्,
ख चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्वुद्दिति ॥ १६ ॥

(द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप—) दूसरे में शीत
(कफ), ऊप्मा (पिच) और वायु से परिषक महाभूतों
का संघात (गर्भ) धन हो जाता है । यदि (यह गर्भ
आकार में) पिण्ड हो तो पुरुष, पेशी हो तो ची, अर्द्धद-
हो तो नपुंसक ॥ १७ ॥

तत्कथ्य—दूसरे महीने के अन्त में गर्भ की लम्बाई डेह
इंच के लगभग होती है । उसका सामान्य स्वरूप मनुष्य के
समान दीख पड़ता है । नासिका, कान, और पलक ठीक बनते
हैं । शाखाएँ लम्बी होती हैं और अङ्गुलियों का बनना शुरू होता
है । नीचे का सिरा, जो पुच्छ के समान दिखाई देता था, प्रायः
नष्ट हो जाता है । गर्भ के शरीर की वक्रता कुछ कम हो जाती
है, जिससे शिर ऊँचा होता है । आन्त्र का भाग जो नाल में
गया था, अब उदर में आता है । नाल में ऐंठन पड़ने लगती है ।
कुछ तस्वास्थियों में अस्थिभवन का कार्य शुरू होता है । छोटे
सप्ताह तक गर्भ का स्वरूप ऊँचिय या पुरुषत्व से विरहित याने-

अध्यक्ष होता है (दूसरे अध्याय के ३३वें स्त्र का वक्तव्य देखो), परन्तु उसके बाद जननेन्द्रिय के स्थान में खी या उसके लिए उचित परिवर्तन शुरू होते हैं। आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में दूसरे महीने के गर्भवृद्धिक्रम में इस विषय का केवल निर्देश मिलता है।

हृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्त-
न्ते इङ्गप्रत्यङ्गप्रिभागम् पद्मा भवति ॥ २० ॥

(तीसरे महीने में खग का स्वरूप) — तीसरे में दो हाथ, दो पैर और सिर, इनकी पाँच पिंडकाएँ निकल आती हैं और खग-प्रत्यंग विमाग सुखम होता है ॥ २० ॥

वक्षद्य—तीसरे महीने के गर्भ का तनावान्तर में स्वरूप—
तुम्हीये मासि सैद्धनिकायि सर्वांगबद्यवाक्ष दौगरचेनामिनिवर्तने ।
(धरक) । तुम्हीये पञ्चाश प्रगोहन्ति, तथा सविधनी बाहुः शिरस् ।
सर्वशालिप्रोदैवकलामेव च सर्वंगम्भावद्यवेदित्यायि खुगपत्समवन्ति,
अग्नेष्व अन्तोत्तरकलादैभ्यो दन्तादिष्टः । क्लेशेण तु सुखीमवन्ति ।
(अष्टाग्रसंग्रह) । व्यतीमवति माटेऽस्य तुम्हीये गात्रपञ्चकम् ।
मूर्खौ द्वे रातिथी बाहु सर्वमृत्सांगजम्भ च । समवेष च मूर्खैर्यानं
च सुरुद्ध लयो । (अष्टाग्रह्य) । अंग-प्रस्त्रविभाग—शाला-
क्षन्त्रो मृदूर्मृदूर्माणवाक्षानि, चिकुकनासीप्रवशाहु लिपाम्बिप्रमृ-
दीनि प्रस्त्रवानि । (इहहण) । उद्दीपि मवति—ये सब अङ्ग-प्रस्त्रं
सूक्ष्म रूप में उपर्य होते हैं ।

सीसरे भूमि के अन्त में गर्भ की लम्बाई ३ इकाये के लगभग होती है। धड़ से सिर प्रीवा द्वारा विभक्त होता है। हाथ पौरों की अंगुलियों पर सूख्म रूप में जल उत्पन्न होते हैं तथा अंगुलियाँ अलग अलग दिखाती हैं। शरीर की अनेक अस्थियों में अधिविकास केन्द्र उत्पन्न होते हैं। बाद जननेन्द्रियाँ सूख होती हैं, जिससे उत्तर या कन्या के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। सबै में गर्भ के अंग-प्रयोगों की पृष्ठि यहाँ तक सूख्म होती है कि वह मानवी गर्भ है इसकी पहचान सहज ही में हो सकती है।

चतुर्थ स ४ इन्द्रस्यक्षमिभागः प्रव्यक्ततरो भवति,
गर्भाहृदयप्रश्नयतिभा । शतनाधातुरमिव्यक्तो भवति,
कस्मात् १ तत्स्थानवरगत् । तस्माद्बहुभृतुर्थं मास्य-
मिग्रायमिद्यायषु करोति, द्विहृदयां च नारा-
द्वौहृदिनामाचक्षते ॥ २१ ॥

(चतुर्थ संस्कार में गर्भ का शहस्र तथा माता की हिन्दूधराता—) चीथे महाने में सर्वांग-प्रस्ता विभाग (पहले की अरेया) अप्रिक रूप द्वा जाता है; गर्भदृष्ट ब्रह्म द्वाने से धोता थानु भी अविद्याल द्वा जाता है, क्यों ? इन्द्र उमदा रथान द्वाने से, इन्साइप चीथे महाने में (सर्वप्रथम शशदर्शकार्णि) इन्द्रियों के विद्यों में गर्भ (माता के द्वारा) अवती इष्टा प्रकट करता है। ये इन्द्रियान् भी को दीपिती रूप हैं ॥ २१ ॥

प्राचीन—भैरवनाथमण्डप—जग्मा का हृषीकेश वह परा ॥
प्राचीन होने के बायरां । हृषीके रात्रिमध्यालय प्राचीन
(110-12) अभिनव है । शुभ्रवंदे के अनुगाम हीनी हृषीके में
बेतना का अधिकार होता है । हृषीकेवाला विदेश विद-
राज जीव भ्रष्टपाप के '१३ वर्षोन्मासमुक्त हृषीके देवनार-
हा वृष्णि व श्रीके वस्त्रपाप में दिखा गया है । मुनि-दुर्यादि
का रथाने के हृषीके कार्यक्रम बनने के कारण गर्भ में मुनि-
दुर्यानी वायाकाप उत्पन्न होती है और मुनि-दुर्याने के कारण

गर्भ माता के उदर में द्वाय-पैर हिलाता है तथा हृदय के द्वारा अपनी हँस्तांत्रों का प्रभाव, माता के हृदय पर, ढालता है, क्योंकि ये दोनों धाराएँ में सम्बन्धित होते हैं—इस यत्कालमें निर्दयालिंग सविधाने वाकलमेव चेतसि वेदनानिर्वन्म प्राप्नोति, इसमें चंद्रा प्रभूति गर्भं स्पन्दने, प्राप्यवैते च जन्मान्तरानुभूतं यथ किञ्चित्। वेदमादित शुल्कु लक्षवशात्, शुल्कोत्तादानार्थं दुष्प्रवरिदारार्थं च खन्मन्ते चलति। मातृहृदय यमदूर्धनै तस्म हृदयदय भवति। (चक्रपाणिद्वय)

यथापि इस महोने में गर्भ चलन-बढ़न करता है, तथापि उसका ज्ञान न मात्रा को होता है, न उदर पर रखे हुए परीचार्यी हाथ को होता है। परन्तु यदि श्रवणनिष्ठा द्वारा परीचारा की जाय से गर्भचलनस्वन (Girraege) सुनाई देता है। गर्भ के साथे पर तथा शारीर के अंगों पर रोमनिकलने लगते हैं। लिङ्ग स्टंप हो जाता है। चेहरा स्वाभाविक हो जाता है। गर्भ की कुछ ऊँचाई दृश्य के लगभग होती है।

दा॒हृद्विमाननात् कुञ्ज कुणि यज्ञ जड वामनं
विष्णुताक्षमनच्च या नारा सुत जनयनि तस्मात् सा
यथदिन्द्येत् तत्त्वस्यै दापरेत्, लभ्यौ॒दा हि वीर्य-
धन्तं चिरायुप च पुत्रं जनयति ॥ २२ ॥

भगवन्ति चाश—
 इन्द्रियर्थोस्तु य न् यान् सा भोक्तिर्जुति गम्भीरी ।
 गम्भीराधभयात् तास्तान् भिरगाहृत्य द्वपदेत् ॥२३॥
 सा प्राप्तद्वैहादा पुत्रं जनयेत् गुणान्वितम् ।

अलंधर इदा गमे लभतानीन वा भयम् ॥ २४ ॥
 येषु येतिविन्द्रियायेषु दीपे वै त्रिमाना ।
 प्रजायेत सुनस्यातःतिर्मिमतिर्मिमत्येन्द्रिये ॥ २ ॥
 (दीप रण का महाव—) दीप की उपेक्षा करने
 से (सी) कुबड़ी, श्लो, लंगड़े, जड़ (मन्दुक्षि, जम्बून),
 जीने, स्त्राव आदी के अपवा औँ पुष को उत्पथ करती
 है। इसलिए वह जिस जिस पदार्थ की इदा करे, वह
 प्रजायेत सुनस्यातःतिर्मिमतिर्मिमत्येन्द्रिये ॥ २ ॥
 यिवान और शीर्षय एव को पदा करती है ॥ २३ ॥

यहाँ पर स्तोत्र है कि—गर्भिणी द्वी हन्देयों के जिन विशेषों का उपयोग करता थाएँ, गर्भिणी द्वी के भय से अप्य उन उन पद्मों को लाकर उतसे दिल्लारे ॥१॥ इन हन्देयों की प्राप्ति होने पर द्वी गुणगारूद् युव उल्लङ्घन करती है । द्वीहन्द की प्राप्ति जिसको न हुई है, ऐसी द्वी का अपने गर्भ (के विषय) में (कुण्ड व्यवहार वेश हा जाय, ऐसा) अप्य प्राप्त होता है ॥२॥ जिन जिन हन्देयों के विशेषों में उल्लङ्घन होती है, उन उन (विशेषों के) हन्देयों पर मैं विशेष उल्लङ्घन होता है ॥३॥

यथार्थ—सो हाउसमान यांचीराया में मात्रा के सब
वो विशेष वायनादे उपचार होती हैं, उनको तिरसार
द्वारा से एक्सा अर्थात् उनकी पूर्ति न करता। तसेहिंहिम-
प्रविधिरे— एक वर्षे इत्यादेव दाँड़ १८५। (रुपदण्ड)।
ये, किंतु वो एक्से की हृष्पा मात्रा वो दूर तो भोर
होती पूर्ति वो की जाय तो अरप वो झाँगो म पीइ। एवे
संसाक्षण होती है।

दी के भव में गर्भसंयोग के कारण शास्त्र शास्त्रियों ने समवर्ष में यो विद्याया पा भवतामाप्ति

वासनापै उत्पन्न होती हैं, वे दौहद (Longines या Pier)
कहलाती हैं। यथ पि दौहद का सुखकाल चौथा महीना
यहां बनाया गया है तथापि उसका प्रारम्भ दूसरे महीने
से ही होता है। इस लिए दूसरे महीने से पाँचवें महीने के
प्रारम्भ तक दौहदकाल होता है—पर्ये तु पक्षयथाव प्रभृत्या-
पदामान्मानादौहदगानादुः । (अष्टोगाहदय) । दौहद की
दौहद, दोहद और दाहद भी कहते हैं—दुर्दिला दौहद-
लघल श्रीं। उत्थ सा दोहददुःपशीतां दरेन वने तदपददा-
इन् । (रपुवंश) । पृथा यत्नि दोहदं सनिदिकामिनायारहग्नं ।
प्राचीनकाल में भारतवर्ष के अनुसार यूरोप के शाखज
दौहद को काफी महत्व देते थे, परन्तु आनुनिक काल में
वे समार्थवस्थानिदान के लिए दौहद को विशेष महत्व
हीं देते ।

टोटा और गम्भीर सम्बन्ध—स्त्री गर्भिणी होने पर सके मस्तिष्कसंस्थान, मन और स्वभाव में फर्क हो जाता जिससे अकामन: घमन, उद्घेष्मता, चिह्नचिदापन, इन्द्रिय-जैपिना, मानसिक दीर्घलय, इन्द्रियाओं की स्वाभाविक गमिलुचि में वैपरीत्य, निन्द्रानाश, स्वप्नदर्शन इत्यादि अनेक ग्रुण उत्पन्न होते हैं। ये सब उद्घग गर्भ के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक ने ऐकमत्य है। परन्तु आयुर्वेद वैद्युदलवृणों का सम्बन्ध गर्भ के मन के साथ जोड़ता है, और केवल भौतिक शास्त्रों गर विद्यास करने वाला पाश्चात्य वैद्यक इनका सम्बन्ध गर्भजन्य विषय, अन्तःस्त्रावी प्रन्थियों के कार्य की न्यूनाधिकता और मस्तिष्ककार्य की अस्थिरता इनके साथ जोड़ता है। दैदूद का कारण गर्भ का मन हो या गर्भजन्य जन्य पदार्थ हो, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक का ऐकमत्य है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन या मस्तिष्क अस्थिर स्थिति में होता है, जिससे वह जरा सी बात पर विगड़ कर गर्भ में विकार उत्पन्न कर सकता है। इसलिए सगर्भावस्था में स्त्री के मन में जो जो हृच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति यदि पथ्यकर हो तो पूर्णतया, यदि अपथ्यकर हो तो पथ्यकर के साथ मिलाकर अल्पतया करके माता को प्रसन्नचित्त रखना बहुत ही आवश्यक है। यदि हृच्छा गर्भोपवातकर हो तो उसकी पूर्ति न करना ही उचित है, हसका ध्यान रखना उचित है—जो यथाधृततत्त्वदर्श दधादन्त्र गर्भोपवातकरभ्यो भावःः। १ नीवाया तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दधात् प्रार्थनाविनयनार्थम्। (चरक)। देयमप्यहितं तस्यै दितो-पहिनम-पक्षम्। (अष्टांगहृदय)। अद्विविधात में जरा सी बात के लिए स्त्री के मन पर बढ़ा भारी परिणाम हो सकता है, जो आगे जाकर दोनों को हानि पहुंचा सकता है—प्रार्थनास्तपरताण्डि वासुः प्रदुषिपि १८८ : शः। रमनुचरन् गर्भस्यापथमानस्य विनाशं वैस्त्वर्यं वा कुर्यात्। (चरक)। इच्छाविधातश मनःक्षोभकरभयादिवदात-प्रशोषको मवति। (चक्रपाणिदत्त)।

The whole organism is in a state of strain, and slight causes suffice to move it either in the direction of abnormal depression and melancholia, or in the direction of excessive exhilaration. The mental condition and surroundings of the pre-

largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible, be sheltered from all influences which tend to give rise to excitement, annoyance or depression. *Jellet's Midwifery.*

इसलिए धौहृदोत्पत्ति की आयुर्वेद की उपपत्ति यद्यपि कुछ दूरान्वित मालूम होती है तथापि उसके अनुसार माता की यासनाओं को पूर्ण करके उसको प्रसन्नचित्त रखने में किसी प्रकार का नुकसान नहीं है, वहिं दोनों को ही फायदा है—

In adhering to this theory, we shall certainly not take a wrong path, but may preserve the mother, and probably the child too, from much trouble and deep affliction, may give it on the other hand, perhaps a big plus for life. In any case, it is also to be borne in mind that the mental peace, the happy confident frame of mind, pleasant diversion may like wise act favourably on the child. *Ideal Birth.*

इस विषय का कुछ विवरण प्रथम विभाग में पृष्ठ १५०, १९१ पर भी किया गया है, उसे देसो ।

अब इसके बाद दीर्घदिवशोपता के अनुसार पुनर्स्वभाव शिशोपता के कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए दिये जाते हैं—

राजसः-दशने यस्या दौ द जायते मिथ्याः ।
अर्थवत्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ २६ ॥
राजा के दर्शन में जिस लड़ी का दौहड़ (मन) होता है, वह

द्रव्यवान् और महापुण्यवान् पुत्र को जन्म देती है ॥ २६ ॥
 दुकुलपट्टकौशेयभूपणादिपृ दौहदात् ।

अलङ्कारैपिण्यं पुन ललित सा प्रसूयते ॥ २७ ॥
 मुकुलपट (मलर्मल के समान महीन पतला कपड़ा),
 कोशीय (रेखमी घस्त), अलङ्कार छत्यादि में (गर्भवती स्त्री
 का) दौदृद होने से वह अलंकारप्रिय और सुन्दर (रूपवान्)
 हो जाता है ऐसी है ॥ २८ ॥

श्रुत्र का जन्म देता है ॥ २७ ॥
 आश्रमे सयतान्मानं धर्मशीलं प्रसूयते ।

देवताप्रतिमाया तु प्रसूते पार्पदोपमम् ॥ २८ ॥
 आश्रम में (निवास करने का जिसका दौहृद होता है, वह) जितेन्द्रिय और धर्मात्म पुत्र को जन्म देती है । तथा देवताप्रतिमा में (जिसका दौहृद होता है, वह) पार्पदोपम (पत्र) को जन्म देती है ॥ २९ ॥

वक्तव्य—आश्रमे—यस्या: आश्रमे तपस्विनामधिष्ठाने श्रद्धा भवेत् सा द्वयंभूतं जनयेत् । (डलहण) । श्रीसीतादेवी को मुनियों के आश्रम में निवास करने की हृच्छा कुरा की गर्भाचस्था में हुई थी—प्रजावती दोषदर्शसिन्हे ते तपोवेनेपु सृष्ट्यालुरेव । (रघुवंश) । पार्षदोपमम—पार्षदेषु सभापुरुषेषु उपभा यस्य स वधा ते सम्बन्धसम्भूतः । (डलहण) । सज्जन मनुष्य, जिसका देवदर्शनादि धर्मकर्मों में प्रेम हो, ऐसा । पार्षदा खदानुचराः—‘सद्वैर्लाघ्व्यैषमादिस्तुः स पार्षदैर्वरमापुरूपैः इति पुरापाणि । (हारापात्रन्त) ।

(सिंह घ्याय सर्वे इत्यादि) हिंस जाति के दर्शन में (दोहद होने से थी) बूत तुव को जन्म देती है ॥ २१ ॥
गोषामांसाऽशने पुत्रं सुपथ्सु धारणात्मकम् ।

गवां मांसे त वलिनं सर्वं शोशह तथा ॥ ३० ॥

गोहृ का मांस खाने में (दोहद होने से) पुत्र निद्रालु और धारणामक होता है । गोमांस (खाने) में (दोहद होने से पुत्र) बलवान् तथा सर्वं प्रकार के बटों को सहन करने वाला होता है ॥ ३० ॥

बक्षव्य—भारणात्मक—दृष्टव्य घारणा से मेघा ग्रन्थ्यादि

घारणाशक्ति समझते हैं—भारणात्मक हृदयगृहीतवृद्धनामोचकम् । यद्य घारणाशक्ति गोधा में बहां तक होती है, वह कहना बहुत कठिन है । परन्तु दूसरी एक शक्ति गोधा में होती है, जिससे वह पत्थर, चट्ठान, पटाह इत्यादि को जबरदस्त पकड़ती है । यहां तक कि उसके कमर में कसी हुई रसी की सहायता से मनुष्य ऊर चढ़ सकता है ।

मराडी भाषा में गोधा को 'धोरपद' कहते हैं । मराडे सैनिक शत्रु के लिये पर गोधा की सहायता से चढ़ते थे, और अचानक हमला करके किला सर करते थे । सिंहगढ़ सर करने के समय की नरवीर ताना जी की कथा इसके सम्बन्ध में मशहूर है । जिन्होंने सर्वं प्रथम गोधा की इस घारणाशक्ति का उपयोग किये पर चढ़ने के टिप्प किया, उनके बाज महाराह में 'धोरपद' नाम से प्रसिद्ध है । जंगली होग, नाईवैच, हड्डीम गोधा के मांस और तेल का प्रयोग कमज़ोरी में करते हैं और चरक तथा सुधूत में गोधा बलवर्धक बतलाई है—गुरुपित्रशमनी इच्छी एवं वरिनी इससे घारणामक का अर्थ बलवान् करना ही उचित है

माहिये दृष्टव्याद्युरं रनादा लोमसंयुतम् ।

वाराहमांसात् ३ ग्रामाणं शुर रङ्गनयेत् सुतम् ॥ ३१ ॥

भैस (के मांस) में दोहद होने से लाल खांसों वाला और लोमसुख तथा शुभर के मांस में (दोहद होने से थी) निद्रालु और एक पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ३१ ॥

ग्रामांदित्रिग्नियात्मकं सदा वन्चर सुतम् ।

सुमगद्विद्वामनसं नियमीत च तत्त्विरात् ॥ ३२ ॥

गुगमास (में दोहद होने) से अत्यन्त सेवी से दोहने वाला तथा हमेशा जंगल में ग्रामों वाला, स्वर (के मांस) से चबूलचित्र और तितिर (के मांस में दोहद होने) से दर्योंक पुत्र को (स्थी उत्पन्न करती है) ॥ ३२ ॥

बक्षव्य—गांद—सुग्रामायं के अतिरिक्त प्रवास करना या तिकार रेखना भी मांस के अंत हो सकते हैं । इन अप्यों के अनुमान प्रायाम करने में या तिकार रेखने में जिम्मा दोहद हो, उमे । १५१-१५२—जिम्मी टाँगों काढी बलवान् हो, अर्पण जो अपनी टाँगों के बल पर शून्य चल दिये दोहद हो ।

इन विविष्य दोहदों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के दोहद हो सकते हैं । उनमें अर्थ निचालने के टिप्प संग्रह द्योक दिया जाता है—

अनांनुलपु या नारी सममितयाति दोहदम् ।

द्वार रायादा से: मा समान जनविष्याति ॥ ३३ ॥

इन से अतिरिक्त अव तक न बतलाये हुए (विषयों) में (जब) यही दोहद का चिन्तन करती है, तब (उस विषय के) शरीर, आचार और शील के समान पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ३३ ॥

बक्षव्य—प्राचीन काल के भारतीयों में जिस प्रकार की धृति प्रायः हुआ करती थी, उसके अनुसार ही उपर के श्लोकों में दोहद के उदाहरण दिये गये हैं । इस प्रकार की धृति आधुनिक भारतीयों में प्रायः न थी हो गई है । इसलिए उपर्युक्त प्रकार का दोहद आधुनिक भारतीय विषयों में मिलना असम्भव है ।

कर्मणा चोदितं जन्मोर्भवितव्यं पुनर्भवेत् ।

यथा तथा वैयोगाद् दोहदं जनयेद्युदि ॥ ३४ ॥

(विविष्य दोहदों का उपर्युक्त) जैसे (कि पूर्ण जन्मांजित) कर्म से भ्रति प्राणी का भवितव्य पुनर्भव में होता है, वैसे ही पूर्वकर्म से (माता के) दृष्ट (मन) दोहद उत्पन्न होता है ॥ ३४ ॥

बक्षव्य—इस स्थोक का अभिप्राय यह है कि गर्भ जीव का भवितव्य दिये पूर्वकर्म के कारण बनता है, उर पूर्वकर्म के कारण माता के मन में दोहद उत्पन्न होता । याने दोहद का प्रेरक गर्भस्य जीव का पूर्वकर्म है । भवितव्य—संचित कर्म की प्रेरणा से पुनर्जन्म में या भवित्व में व कुछ भी निश्चित से होता है, वह भवितव्य कहलाता है पूर्वकर्म के अनुभार पुनर्जन्म में जीव का स्वभाव, जीव आहार-विहार में अभिवृचि, शारीरिक और मानसिक संग्रह होता है—पैदा ये धानि कर्मांजि प्राप्त्यादीय प्रतिपेदिरे । तांत्रे प्रतिपदने सञ्जनामात्र: पुनः पुनः ॥ (महामात्र): पूर्वक का पूल जीव दाल नहीं सकता—पैदिक प्राचन वार्तिक व दैवित शुरुरू । पौरोड्जी परो यो न वदाचन निष्पन्नः (योगवासिणि) । प्रारब्धकर्मण्य भोगादेव चय । जब जीव का स्वभाव, आहार-विहार में अभिवृचि इत्यादि पूर्वकर्म के कारण उत्पन्न होते हैं और जब माता का दोहद इन्हों वाल की बतलाता है, तब दोनों का कारण पूक ही होना आहिद दैव चय गात् वर्म्यादात् । इस विविष्य का विवरण यीठे यीठे यू के 'दैवयमात्' के बक्षव्य में किया गया है । जीव के भवितव्य के संबंध में विदानत्साक्षोक कर्मविवाक का जो नियम है, तो आधुनिक पाद्याय परिवर्त भी कुछ मानने द्यो है—

All beings, whether visible or invisible are subservient to, and fall within the scope of the infinite and eternal law of causation. All the varying conditions of life as they obtain in the world to day, are the result of this law reaction on human conduct. Man can choose what cause he shall set in operation, but he can not change the nature of effects. He can decide what thoughts he shall think and what deeds he shall do; but he has no power over the result of those thoughts and deeds, these are regulated by the overruling law. Man has all power to act, but his power ends with the act committed. The result of the act can not be altered, annulled or

escaped; it is irrevocable. James Allen Book of Meditations.

पञ्चमे मनः प्रतिवृद्धतरं भवति ॥ ३५ ॥

(पाँचवें महीने का गर्भ—) पाँचवें (महीने) में (पहले की अपेक्षा गर्भ का) मन अधिक प्रवृद्ध हो जाता है ॥३५॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में पाँचवें महीने का स्वरूप—पञ्चमे मासि गर्भस्थ मांसशोणितोपचयो भवत्यथिकमन्येभ्यो मासेभ्यः । (चरक) । पञ्चमे मनः प्रतिवृद्धतरं भवति मांसशोणितोपचयश्च । (अष्टांगसंग्रह) । पञ्चमे पृष्ठवंशो भवति । (गर्भोपनिपद) ।

पाँचवें महीने में गर्भ की लम्बाई दस इक्के होती है । लंबाई में इतनी वृद्धि दूसरे किसी महीने में नहीं होती है । यह लंबाई अधिकतर टांगों में होती है । शिर अव भी शेष शरीर के मुकावले कुछ बढ़ा होता है । आन्त्र में कुछ मल हकटा होने लगता है । यकृत अच्छी तरह बन जाता है । शरीर पर बाल अधिक लंबे होते हैं । गर्भ का चलन-बलन जीर से होता है । गर्भ का तोल पहले से दुगुना याने आधा सेर होता है । उसके सर्वशरीर पर एक चिकना पदार्थ (Vernix Caseosa) बनने लगता है; उससे गर्भ की त्वचा की रक्खा गर्भोदक से होती है ।

पीछे १३-१५ सूत्र में गर्भिणी के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे केवल गर्भ की उपस्थिति पर निर्भर न होने के कारण प्राणतांत्रिय नहीं होते । इस महीने से गर्भ के कुछ आस लक्षण मिलते हैं, जिनके उपर सगर्भावस्था का निर्णय रखने के लिए विश्वास किया जा सकता है । ये लक्षण निम्न—गर्भहृत्पन्दन, गर्भ के अंगों का ज्ञान और गर्भ की गतियाँ । इनमें से गर्भहृत्पन्दन इस महीने में मिलता । । गर्भहृत्पन्दन (Poetal heart sounds)—गर्भ का हृदय चौथे महीने में व्यक्त होता है और तभी से उसका संकोच-चिकास का कार्य जारी होता है परंतु उसकी आवाज उस समय सुनाई नहीं देती । साधारणतया १८ वें सप्ताह से गर्भहृत्पन्दन सुनाई देता है । ये शब्द तकिया के नीचे रखकी हुई घड़ी के शब्द के समान होते हैं । इनकी संख्या प्रति मिनट १२० से १६० तक और औसत १४० होती है, याने माता की हृदयगति से दुगुनी होती है । गर्भहृत्पन्दन उदरप्राचीर के साथ कान लगाने से, या एकनलिका अथवा द्विनलिका (Single or binaural) श्रवणयन्त्र से सुनाई देते हैं । कुछ लोगों का यह कथन है कि पुराने ढंग का काठ का बनाया हुआ एकनलिका श्रवणयन्त्र इस काम के लिए वेहतर होता है । कुछ भी हो, श्रवण करते समय यन्त्र को उदर-प्राचीर पर न्यूनाधिक दबाकर सुनने की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि कभी हल्के दबाव से शब्द अच्छे सुनाई देते हैं, कभी कभी अधिक दबाव से अच्छे सुनाई देते हैं ।

गर्भहृत्पन्दन से फायदे—(१) गर्भहृत्पन्दन मिलने से चीज़ की सगर्भावस्था का निर्णय होता है ।

(२) इनके सुनने से गर्भ की गति (Presentation) का ज्ञान होता है । प्रथम जब कि गर्भोदक काफी होता है, तब गर्भ का हृदय नाभि के नीचे मध्यरेखा में सुनाई देता है । परन्तु आमे जाकर यदि गर्भ की शिरोगति (Vertex) हो तो शब्द नीचे नाभि और जबनकपालपूरोर्ध्वकूट के धीरे

में सुनाई देता है । यदि जघनगति हो तो नाभि के ऊपर खींची हुई इसी रेखा पर सुनाई देता है ।

(३) गर्भ के आसन (Position) का ज्ञान होता है । गर्भ के अंगविशेष का माता की शरीरस्थरेखा के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे गर्भ का आसन कहते हैं । सिर और जघन गति में गर्भ का पृष्ठ आसन का निर्णयक होता है । पृष्ठ आगे और बामपार्श में होने से प्रथम आसन (First position), आगे और दक्षिणपार्श में होने से द्वितीय आसन, पीछे और दक्षिणपार्श में होने से तृतीय आसन और पीछे तथा बामपार्श में होने से चतुर्थ आसन होता है । इस प्रकार प्रत्येक गति के चार आसन होते हैं और प्रत्येक आसन में गर्भहृत्पन्दन की अत्यधिक तीव्रता एक विशिष्ट स्थान में पाई जाती है, जिसके अनुसार गर्भ का आसन मालूम होता है ।

(४) गर्भ का साधारण स्वास्थ्य और लिङ्ग—कुछ शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भ के हृदय की गति उसकी वृद्धि के व्यस्त (Inverse) प्रमाण में होती है, याने गर्भ की वृद्धि यदि ठीक ठीक हुई हो तो हृदय की गति कुछ कम होती है और यदि वृद्धि ठीक न हुई हो तो गति कुछ अधिक हुआ करती है । वैसे ही पुमान् गर्भ के हृदय की गति स्थीरगर्भ के हृदय की गति की अपेक्षा कुछ कम होती है । अर्थात् दोनों में फर्क बहुत कम (१३९ पुरुष, १३६ स्त्री) होने से निश्चित से लिङ्गनिर्णय करना कठिन है, तथापि कुछ सहायता मिल सकती है ।

(५) यमल का निर्णय—माता के उदर में गर्भ एक है या दो हैं, इसका निर्णय करने के जो अनेक उपाय हैं उनमें गर्भहृदय-शब्दश्रवण एक उत्तम उपाय है । यदि एक समय सुनने वाले दो व्यक्तियों को दो भिन्न स्थानों में दो गर्भहृदय सुनाई दें जिनकी गति (प्रति मिनट स्पन्दनसंख्या) माता की हृदयगति से तथा एक दूसरे से भिन्न हो, और यही स्थिति अनेक बार श्रवण करने पर भी मिल जाय तो यमल की उपस्थिति निश्चित से समझनी चाहिए ।

(६) गर्भ की आपत्तियों का ज्ञान—प्रायः अपनी गतियों के कारण तथा माता की ज्वरयुक्त अवस्था में गर्भ की हृदय की गति तेज हो जाती है, और गर्भाद्याश संकोच से, अपरा (Placenta) और नाल पर दबाव पड़ने से तथा गर्भ के मस्तिष्क पर दबाव पड़ने से हृदयगति मन्द हो जाती है । यदि हृदयगति १०० से कम और १६० से अधिक बार हो तो गर्भ आपत्ति में है, ऐसा जानना चाहिए । प्रसव के समय गर्भहृदयश्रवण एक बहुत उपयोगी कार्य है, और यदि प्रसव में विलम्ब न हो और गर्भहृदयगति १०० से कम हो तो कृत्रिम-रीत्या गर्भ को तुरन्त बाहर निकालने की कोशिश करनी चाहिए ।

(७) गर्भस्त्रुत्या का ज्ञान—गर्भहृदय के शब्द सुनने के पश्चात् अनेक बार प्रयत्न करने पर भी यदि फिर से वे न सुनाई दें तो गर्भ की स्त्रुत्य की कल्पना की जा सकती है—गर्भस्त्रुत्य-मात्रीनां प्रणाशः श्यावपाणुता । गर्भस्त्रुत्यासपूतित्वं शूलं चान्तस्त्रुते शिशी ॥

गर्भाद्याश का आकृत्ति—यह लक्षण इस महीने से मिलता है । उसको 'ब्राक्टेन हिक्स' का लक्षण कहते हैं । इसमें गर्भाद्याश के ऊपर उदर की दीवाल पर सपाट हथेली रखने

से गर्भावय में आकृद्धन की प्रतीति होती है। आकृद्धन के समय गर्भावय कुछ कठिन हो जाता है। यह आकृद्धन प्राय प्रति पाँच मिनट पर होता है, परन्तु कभी इसमें कम कभी अधिक समय पर भी होता है। यह लक्षण गर्भावय के अवृद्ध में मिल सकता है, परन्तु साधारणतया इसकी उपस्थिति गर्भावस्था की सूचक मानी जाती है।

पष्टे चुदिः ॥ ३६ ॥

बुङ महीने में चुदि (अधिक प्रवृक्ष होती है) ॥ ३६ ॥
बक्षय—नन्दानातर में छुड़े महीने का स्वरूप—
एडे मासि गर्भस्य बलवणोंपचयो भवत्यविक्षम्—येभ्यो मासेष्यः ।
(चरक)। एडे केशोमलसारिव्याकारादी यमिदक्षानि बल-
वणोंपचयश्च । (आष्टाग्रंगमग्र)। एडे यसि मुखनासिकाहि-
मेत्राणि मवति । (गर्भोपनिषद्)।

इस महीने में गर्भ की लम्फाई एक पुट के करीब और बजन पूक सेर के लगभग होती है। ल्खा में सलवटे होती हैं और उसके नीचे चरबी का सञ्चय होने लगता है। और और पद्म बनने लगते हैं। सिर के घाल और स्थानों की अपेक्षा अधिक लम्फे होते हैं।

इस महीने से गर्भस्य शिशु के करचरणादि झंगों का ठीक परिशान हो जाता है। माता के उदर को ट्योलने से गर्भ के भिन्न भिन्न झंगों का पता चल जाता है। इसके सिवाय उदर पर हाय रखने से गर्भ की गतियां प्रतीत होती हैं। यदि गर्भ गतिहीन हो तो उदर पर जरा सा घड़ा देने से गर्भ में गति उत्पन्न होती है। परली दीवार वाली खियों में से गतियां कठिल दीवाल वाली होती हैं।

अब तक गर्भावस्था के अनेक लक्षण वर्णन किये गये हैं। गर्भावस्था का निदान करने की इष्टि से प्रयोग लक्षण की महत्वा दृष्टक पृष्ठ की है। इष्टिलिपि नीचे उनकी सारणी दी जाती है।

गर्भिणीनिदानसहायक सारणी

लक्षण	प्राचीनिकाल	महाता
(अ) १ गर्भदाहपृष्ठन २ गर्भ के लंग ३ गर्भ की गतियां	अदाराद्वये सप्ताह के पश्चात् अन्तिम चार मास अन्तिम तीन वा चार मास	निश्चिन्तिदार्ढक
(बा) १ स्तनगत परिवर्तन २ योनि वैवर्य ३ हेठल का लक्षण ४ गर्भावस्थाद्विः ५ गर्भावय का आकृद्धन	दूसरे महीने के पश्चात्	समाव्यता दर्ढक
(ब) १ दीक्षापृष्ठण २ सुन्न और उदर के वर्ण में चक्र ३ उदरहृदि	" " " " " " " " "	" "
	चौथे महीने के पश्चात्	दावयनार्द्धक
	" "	" "

सन्ताने गर्भावयपृष्ठाद्विमागः प्रव्यनन्तरः ॥ ३७ ॥
सातावें में संतान झंगों और प्रक्षंगों का विभाग और भी अधिक राह होता है ॥ ३८ ॥

बक्षय—नन्दानातर में घण्ठन—समये भासि गमः सम-
मीवैरात्यायते । (चरक)। समये सर्वाङ्मपूर्वतः । (आष्टाग्रं-
ग्रंग्र)। सर्वे भवांसपुण्यो मावैः प्रायति समये । (आष्टाग्रंगद्वय)।

इस महीने में गर्भ की लम्फाई १४ दृष्टि और भार ११ सेर के लगभग होता है। ल्खा के नीचे चरबी अधिक जम जाती है, जिससे उसकी स्वरूपेणे बम होती है। परम अलग हो जाते हैं। और्जों के ऊपर भी दिही नष्ट होने लगती है। लूप उदरयुक्त में से लंबणसुरंगा (Lumbar canal) में पैदृचते हैं। सर्वे में जीवन के लिए म-
आंग-प्रलंगों की बम से बम जितनी धृद्धि होनी आवश्यक है, उतनी धृद्धि इस महीने के अन्त में होती है—तेन सर्वे नन्दानीवनजसुगेनवां नाङ्कैश सपूर्णो भवतीत्यतिष्ठृते । (अश्वग्रद्वय)। इस लिपि यदि किसी कारण से इस मास के अन्त में याल का जन्म हो जाय और उसका उचित पालन किया जाता हो वह जीवित रह सकता है। इस दृष्टि से गर्भपिण्डक में इस महीने के गर्भ का वर्णन यहुत ही सूचित किया है—
समये मासे लोके संसुखे मवति । इसका तात्पर्य यह है कि जीवनावश्यक सर लंग-प्रलंगों से युक्त हो जाने के कारण जीवन योग्य हो जाता है। प्रायार्थ लोगों का भी कथन है कि इस महीने के अन्तमें याल जीवनसुरंग (Viable) हो जाता है परन्तु अकालप्रसव होने के कारण बालक दीर्घायु तथा उत्तम स्वास्थ्ययुक्त नहीं होता—उगा चालसिन् (मासे) मासि गर्भे जानो जीवन विस्त-
वालप्रसवत्वात् ददा दीर्घीनीविस्तारिक स्थानः । (आश्वग्रद्वय)।

At seven months, every part has increased in volume and perfect on. This is reckoned as the epoch of viability, or the period in which the foetus if expelled from the uterus, is capable of independent existence. Esoteric Anthropology.

आष्टमेऽस्थिरमैवत्योजः, तत्र जातश्च जीवे-
शिरोजस्त्वान्नपूर्वमागत्पाशः, ततो यति मांसौदम-
मस्मै दापयेत् ॥ ३८ ॥

आठवें महीने में (माता और बालक दोनों का) आज अस्थिर होता है, उस समय यदि जन्म हो जाय तो ओजो-
राहित्य और लेफ्टेंटमासाय के कारण यालक जीवित नहीं रहता। अतः उस निःर्ति के दिले मास और ओदन की बढ़ि देनी चाहिए ॥३८॥

बक्षय—पौर—इसका विवरण प्रथम ल०७ के इष्ट पृष्ठ पर किया गया है। आष्टाग्रंग्राः—इसका कारण यह है कि इस महीने में गर्भ से माता के शारीर में और माता से गर्भ के द्वारी में औज का निन्दात आना जाना होता रहता है—भवते भासि गमस्य मदृष्टे गमस्य भासा रमहार्णीयः सधारिणिमिभुद्यूर्मूर्द्योर परस्परन भासाने गम-
स्यापूर्णावात् । (चरक)। इसका वरिणम यह होता है कि कभी गर्भ और जुक दीता है और कभी ओजविहित होता है। न भीते—यदि ओजविहित हो से जीवित नहीं रहता; यदि ओजजुक हो से जीवित रह जाता है। आठवें महीने का बालक इष्टपि जीवित गर्भी रह सकता, यह इसका तात्पर्य नहीं है—तत्र मांसौदम-

ओजसि यदि गर्भ प्रसूते तदा स जाते विनश्यति, यदा गर्भशारीरं प्राप्ते ओजसि गर्भां निष्कामति तदा ओजसः सद्ग्रावाज्ञातो जीवनि । (इन्दु) । अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति । (विज्ञानेश्वर) । अर्थात् आठवें महीने में जन्म लेने पर जीवित रहना या न रहना ओज की उपस्थिति पर निर्भर होता है । नैर्कंतभाग वाच—आठवें महीने का गर्भ मरने का यह दूसरा कारण है । नक्षेः—राज्ञस, भूत या रजनीचर । कुछ लोगों का यह मत है कि आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर मृत्यु का कारण ओजोराहित्य न होकर निशाचरों की वक्त्रादिष्ट है । यदि उनको मांसौदन की वलि न दी जाय तो ये गर्भ का नाश करते हैं । अतः इनको गर्भवती स्त्री आठवें महीने में स्नानादियुक्त होकर मांसौदन का वलिदान करे । अप्रत्यक्षतया ये रजनीचर गर्भ के शरीर का नहीं, उसके ओज का ही हरण करते हैं—ओजोशनानां रजनीचराणमाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम् । (चरक) । इसलिए गर्भमृत्यु का कारण ओजोराहित्य ही समझना चाहिए । आधुनिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि सातवें तथा आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर यद्यपि उसके वचने की संभावना हो सकती है तथापि उसमें ओजोराहित्य होने के कारण जीवशक्ति (Vitality) कम रहती है, जिससे वह किसी न किसी व्याधिरूप आपत्ति से मर जाता है—तस्मात्तदा गम्भस्य जन्म व्यापत्तिमङ्गवत्योजसोऽनवरित्यत्वात् । (चरक) ।

Children born at this period (eighth month) are less active than those born at full term, but can sometimes be reared if carefully attended *Jellet's Midwifery*.

आठवें और नौवें महीने के गर्भ का वर्णन आयुर्वेद में इसलिए नहीं किया गया है कि इन दो महीनों में गर्भ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता । उसके अंग-प्रत्यंग सुपरिपक्ष हो जाते हैं ।

From this period up to nine months there is more increase of size and action. *Esoteric Anthropology*.

परन्तु गर्भोपनिषद् में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है—ग्रष्मे मासे सर्वलक्षणमध्यूर्णो भवति । अथ नवमे मासि सर्वलक्षणानकरणसम्पूर्णो भवति ॥ एक बात का यहाँ जरूर निर्देश करना चाहिए कि सातवें महीने के अन्त तक घृण वड्हूणसुरंगा में होते हैं । आठवें महीने में वे अपने उचित स्थान (घृण कोप) में आ जाते हैं ।

नवमदशमेकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥ ३६ ॥

(प्रसवकाल—) नौवें, दसवें, यारहवें और बारहवें में से किसी महीने में (गर्भ का स्वाभाविक) प्रसव होता है । इसके अनन्तर (यदि गर्भ उदर में रहे तो प्रसव) विकारी हो जाता है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में कालप्रसव और कालतीत प्रसव की मर्यादा बताई गई है । सुश्रुत और वागभट के

अनुसार यह मर्यादा ज्ञात महीने की होती है । चरक के

अनुसार केवल दो महीनों की होती है—तस्मिन्नेकदिवसांति—कात्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याद्युरादशमान्मासाद् ॥ एतादान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुछौ स्थानं गर्भस्य । इस सतभेद को तथा मर्यादा के अन्तर को देखकर यह कहना पड़ता है कि प्रचीन ऋषियों को प्रसव का काल निश्चित मालूम नहीं था, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय मालूम करना कठिन है, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय, जो सब स्थियों में लागू हो, नहीं हो सकता । पाश्चात्य देशों में प्रसूतिशास्त्रज्ञों ने प्रसवकाल निश्चित करने के बारे में बहुत कुछ अन्वेषण किया । प्रसवकाल निश्चित करने के दो उपाय हैं—स्त्रीपूरुपसंयोग से या रजोदर्शन से । डॉ० रीढ़ ने ४० स्थियों में पुरुपसंयोग के दिन से प्रसव तक के दिनों की गिनती की, तो उसको २६० से २९४ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि मालूम हुई । दूसरे डॉ० सिम्पसन ने रजोदर्शन दिन से ७५२ स्थियों में प्रसवकाल की अवधि निश्चित करने की कोशिश की, तो उसको ३२२ से ३२६ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि मालूम हुई । डॉ० राशींग ने एक ही स्त्री में तीन बार प्रसवकाल की मर्यादा पहली बार २७७ दिनों की, दूसरी बार ३२५ दिनों की और तीसरी बार २८५ दिनों की देखी । हंगलेंड के हाऊस आफ लार्डस में ‘गार्डनर पीअरेज केस’ में गर्भावस्था की अधिक से अधिक मर्यादा निश्चित करने की जरूरत पड़ी । उस समय सारे यूरोप के प्रसिद्ध प्रसूति-शास्त्रज्ञ गवाही देने के लिए आये थे । उनमें से कुछ लोगों ने अधिक से अधिक मर्यादा बारह महीने की या ४८ सप्ताह की बतलाई । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसवकाल की निश्चित एक मर्यादा नहीं हो सकती, प्रत्येक स्त्री में तथा कभी कभी प्रत्येक गर्भावस्था में प्रसवकाल की मर्यादा भिन्न भिन्न होती है । इसलिए सुश्रुताचार्य ने कम से कम और अधिक से अधिक प्रसवकाल की जो मर्यादा बतलाई है, वह आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की मर्यादा के साथ पूर्णतया मिलती है—

Moreover, prolonged gestation is a not very uncommon occurrence, with parturition at the 320th or even 331st day and twelve month pregnancies are not unknown. On the other hand well developed children may be born as early as the 24th day *Introduction to Sexual Physiology by Marshall*.

प्रसवकाल में अनिश्चय क्यों रहता है?—इस अनिश्चय के निम्न कारण प्रधान हैं । (१) शुक्र और शोणित के संयोग का काल निश्चय से मालूम न होना—यह देखा गया है कि पुरुपसंयोग के पश्चात् तीन सप्ताह के लगभग शुक्राणु वीजवाहिनी में सजीव रह सकते हैं । अर्थात् समागम के दिन वीज और शुक्राणु का संयोग हो सकता है, या वीस रोज के बाद हो सकता है । इस तरह समागम के दिन से गिनती करने में अधिक से अधिक वीस रोज का फर्क हो सकता है । (२) गर्भधारणा होने पर रजोदर्शन होना—कुछ स्थियों में शुक्रशोणितसंयोग होने के पश्चात् भी एक आध बार रजोदर्शन होता है । अर्थात्

रजेदर्हन के दिन से गिनती करने में हृष्ट तरह एक आध महीने का पर्क हो सकता है। (३) आंदेशर्हनचक के बाल में फल—सापारगनया छियों में आंतंवर्दुर्वनचक २८ दिन का होता है और प्रमय का काल हमवेमासिक धर्म के समय आता है। हृष्ट हटि से प्रयवशल २०० दिन का या ७० सप्ताह का माना जाता है। परन्तु आंदेशर्हन के लिए २८ दिन का नियम सर्वथा दायु नहीं होता। कुछ छियों २८ से कम और कुछ २८ से अधिक दिनों के बाद रजवशल होती हैं। अर्थात् हम चक के अनुसार प्रसवकाल में भी स्तूताधिका हो सकती है। (४) गर्भ वी प्रहृष्टि—गर्भ आमधिक होता है और आमा अपने पूर्ण पाण्युल्य के अनुसार स्तूताधिक काल तक माता के उद्वर में निवास करता है। प्रसेक आमाधिक गर्भ के हृष्ट स्तूताधिक काल का परिशान होना असम्भव है और हृष्टी अहान के कारण भी प्रयवशल में अनिष्ट उत्पन्न होता है—

It is the organic soul that presides over the development of the fetus, and fixes the time for its expulsion. But this intelligent soul is not a machine. It has the power, for good reasons, to bring on the process of labour earlier, or postpone it to a later period. *Ecclesiastic Anthropology*.

सारिणीनां रसवद्वानां तिर्यगतानां धमनीतामु-
पल्लेदो जीवयति ॥ ४० ॥

(गर्भ का पोषण) माता की रसवद्वा नाड़ी में गर्भ की नाभिनाड़ी यैंदी हुई होती है; वह नाभिनाड़ी माता के बाहर रस चीर्य उसको पहुँचानी है। उस उपक्रेष्ट में गर्भ की अभिगृहि होती है। गर्भाधान के समय में धर्मरिणत धंगप्रलयंगविभागयुक्त (गर्भ) को सर्वशरीरावयवानुसारी रसवह तिर्यगगामी धमनियों का उपक्रेष्ट दीविन होता है ॥४०॥

वक्तव्य—इस सब में गर्भाधायस्थ गर्भ का पोषण माता से कैसे होता है, इसका वर्णन किया है। पोषण की दृष्टि से गर्भाधाय के दो काल होते हैं। प्रवेश काल अपरा और नाभिनाड़ी वनने के पूर्व का जाने प्रारन्धिक तीन महीनों का, और दूसरा इनके वनने के पश्चात् का जाने अन्तिम सात महीनों का होता है। शुक्रसोनितसंयोग के पश्चात् एक सप्ताह तक गर्भ चाँड़वाहिनी ने ही होता है। वहां पर शुद्धि होकर उसके ऊपर पोषक और प्रचूपक एक स्तर (Trophoblast) (पीछे १८ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) वनता है। इस स्तर के द्वारा गर्भ चाँड़वाहिनीगत उपस्तेद या उपक्रेष्ट को ग्रहण करता है। वहां पर इस का भृत्यक कार्य नहीं होता। गर्भाधाय में प्रवेश करने पर यह स्तर गर्भाधाय की श्लेष्मल कला का कुछ धंडा नष्ट करता है, जिसमें से होकर गर्भ भीतर प्रवेश करता है और पश्चात् वह छिद्र बन्द हो जाता है। इस अवस्था में गर्भ के चारों ओर श्लेष्मल कला की केशिकाओं से निकला हुआ रक्त तथा रक्तरस भरा रहता है और गर्भ के ऊपर की पोषक कोशाएँ उसमें से अपने लिए योग्य स्वाद द्वय को ग्रहण करती हैं। धीरे धीरे गर्भ के पोषक आवरण के चारों ओर से रसांकुर (VIII) निकलने लगते हैं। इनके कारण गर्भावरण और गर्भाधाय की श्लेष्मल कला के चीच में काफी अवकाश (Chorio-Decidua space) उत्पन्न होता है। इस अवकाश में गर्भाधाय की रक्तवाहिनियों से रक्त का संचार होता है। इस तरह गर्भ के चारों ओर इस अवकाश में रक्त की छोटी छोटी असंख्य शीले बन जाती हैं। प्रारंभ में इन शीलों में केवल केशिकाओं से रक्त आया जाया करता है, परन्तु जब गर्भावरण के रसांकुर शायाप्रशायायुक्त और लम्बे हो जाते हैं, तब स्थान स्थान की धमनिकाओं और सिराओं को भी खाते हैं जिससे इन शीलों में धमनियों से रक्त आता है और सिराओं से चला जाता है। गर्भ के संपूर्ण आवरण के रसांकुर इन शीलों में जो रक्त आता है, उससे गर्भ का पोषण करते हैं। यह अवस्था छः सप्ताह तक होती है। इसके बाद वास्तविक अपरा वनने का काम जब शुरू होता है, तब गर्भावरण के समस्त रसांकुर सिकुद्दने लगते हैं और अन्त में पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। केवल जिस स्थान पर अपरा (Placenta) वनती है, उसी स्थान के रसांकुर वहते रहते हैं और छः सप्ताह में अपरा पूर्ण बन जाती है। इसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा के स्थान के रसांकुरों से होता है, संपूर्ण शारीर के अंकुरों से नहीं। एवं अधिक से अधिक गर्भाधान से तीन महीनों तक गर्भ का पोषण संपूर्ण आवरण के रसांकुरों से होता है। उस समय तक अपरा और नाभिनाड़ी पूर्णतया बन जाती है। उसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा में होने वाले आवरणों के रसांकुरों से नाभिनाड़ी के द्वारा होता है।

असंजायादप्राप्तिभागम्—यह गर्भ का विशेषण है। यथापि धंग-प्रलयंग से गर्भ के एस्टपादादि धन्द-प्रलयदों का वोध दो सकता है, तथापि पूर्व संदर्भ (Context) के अनुसार धंग-प्रलयप्रविभाग से अपरा और नाभिनाड़ी की पूर्ण रचना समझनी चाहिए। इससे 'अपरा और नाभिनाड़ी जिसकी पूर्ण नहीं बनी है, ऐसं गर्भ को' यह इसका धर्य होता है। अद्यांगसंग्रह में स्पष्ट लिया है—जो व्यक्तिमवदप्रत्यक्ष-स्थान नाम्यां प्रतिवदा नाड़ी, नाट्यामपरा। नर्वशीरावयवातु-सारिणीनां रसवद्वानां धमनीगाम—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अपरा और नाभिनाड़ी वनने के समय तक गर्भ के सर्वदूरीर के चारों ओर माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है, उससे उसका पोषण होता है। जब अपरा वन जाती है, तब केवल अपरानुसारी माता की रसवह धमनियों से उसका पोषण होता है। इस सब का तात्पर्य संक्षेप में और स्पष्ट शब्दों में निन प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं—असंजायापरानाभिनाडीप्रविभागानिर्भाव प्रसूति सर्व-शीरीरावयवानुसारिणीनां रसवद्वानां धमनीनामुपस्तेषो जीवयति। नंजापापरानाभिनाडीप्रविभागाप्रसूत्याप्रयानुसारिणीनां रसवद्वानां धमनीनामुपस्तेषो जीवयति । मातृत्व एवु रसवद्वानां नाद्यां गर्भनाभिनाडी प्रविभाव—गर्भाधाय को रक्त की रसीद गर्भाधाय और वीजकोष की (Uterine and ovarian) धमनियों से मिलती है। गर्भाधाय होने पर ये धमनियां काफी मोटी और पिस्तृत हो जाती हैं। इनकी शायाप्रशायाओं से निकला हुआ रक्त गर्भ के चारों ओर स्थानस्थान पर इकट्ठा होता है और गर्भावरण के रसांकुर उस रक्त में से गर्भ के लिए पोषकरस ग्रहण करते हैं। जब अपरा वन जाती है, तब केवल अपरा के स्थान की शायाप्रशायाओं पर रहती हैं; वाकी शायाओं तथा गर्भ के रसांकुर सब नष्ट हो जाते हैं। इधर गर्भ की नाभि से जो नाड़ी बनती है, वह भी अपरा में प्रतिवद्ध हो जाती है। इस तरह माता की रसवह नाड़ी और घालक की नाभिनाड़ी आपस में अपरा के द्वारा मिलती है। एक का रक्त दूसरे में सीधा प्रवेश नहीं करता। माता के और गर्भ के रक्तवाहिनियों की पतली दीवाल और गर्भ का वायावरण रहता है। इन दोनों से निर्मित पर्दा इतना सूक्ष्म होता है कि रक्त में शुल्षे हुए पदार्थ एक तरफ से दूसरी तरफ उसमें से जा सकते हैं। जब तक गर्भ गर्भाधाय में होता है, तब तक पोषण शास्त्रशास्त्र और मलोत्सर्व अपरा के द्वारा ही होता है। इसलिए माता के रक्त से पोषणद्रव्य और प्राणवायु गर्भ की ओर और गर्भ के रक्त से रक्तस्थ मल और प्रांगार द्विजारेय CO_2 माता की ओर इस पर्दे में से चले जाते हैं। संक्षेप में पोषण, श्वसन और मलोत्सर्व ये अपरा के तीन कार्य हैं। इन तीन कार्यों के सिवा माता के रक्तगत विष और जीवाणुओं से गर्भ की रक्त करना तथा अपने अन्तःस्थाव (Internal secretion) से गर्भवद्धर्थ गर्भाधाय और स्तनों की शुद्धि कराना ये भी और दो कार्य अपरा के होते हैं (पीछे १५वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अपरा की उत्पत्ति और वननावट गर्भाधान के समय से गर्भाधाय की अन्तःकला मोटी होने लगती है और चार पांच महीने के बाद वह दसगुना मोटी हो जाती है। उसका वाही भाग अधिक ठोस होता है और भीतरी (गर्भाधाय की पेशी के साथ लगा हुआ) कुछ शिथिल होता है।

इस रचना के अनुसार अन्त कला की निविड़स्तर (Stratum O impactu) और विरलस्तर (Stratum o volvulus) करके दो तड़ बनती हैं। धीजवाहिनी में से आया हुआ गर्भ निविड़स्तर को खाकर विरलस्तर में प्रवेश करता है। गर्भ के प्रवेश से अन्त कला के तीन हिस्से बनते हैं। जो हिस्सा गर्भ और गम्भीरशयपरी के बीच में होता है, वह मूलकला (loid & Head) कहलाना है, जो गर्भ के चारों ओर (मूलकला को छोड़कर) होता है वह पिधानकला (rectum C. uteris) कहलाता है, और जो दोष गर्भाशय के ऊपर होता है वह पतनकला (rectum Vaginae) कहलाता है। गर्भावस्था के प्रारम्भिक छः मिट्ठाह तक गर्भ के चारों ओर पिधानकला और मूलकला में माता की रसवह घमनियों से जो रस आता है, उसको गर्भ अपने सम्पूर्ण दर्शक के आवरण के रसाकुरों से चूमकर बद्धता है। उसके पश्चात् गर्भावस्था की अन्त कला की छुड़ि बैवल मूलकला के स्थान पर होती होती है, गर्भावरण के रसाकुर भी वहीं पर वर्धित और शावां-प्रशास्यायुक्त होते हैं। कुछ रसाकुर मूलकला में भरी भाँति चिपटे रहते हैं और कुछ केवल गर्भावरण और मूलकला के बीच में लून से भरी दीलों में निमज्जित रहते हैं। मूलकला के स्थान के अनिरिक्षित गर्भावरण में जो रसाकुर होते हैं, वे धीरे धीरे सिकुड़ने लगते हैं और तीन महीने के पश्चात् गर्भ मोटा होने के कारण जब पिधानकला पतनकला से मिल जाती है, तब ये पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और पिधानकला भी नष्ट हो जाती है। प्रारम्भ में गर्भावरण के रसाकुरों में धाहिनियाँ नहीं होतीं परन्तु धीरे धीरे वह बनने लगतीं और पूर्ण प्रगल्पन रसाकुर में पृक छोटी सिरा और धमनी होती है। इनमें बालक के रक्त सचार करता है। माता के और बालक के रक्त में केवल एक पतला परदा होता है। सदैप में मूलकला और उसके सामने के गर्भावरण के रसाकुरों की छुड़ि से अपरा बनती है। वह छुड़ि मोटाई और गालाई दोनों दिशा में होती है। अपरा की एक ओर मूलकला होती है, दूसरी ओर गर्भावरण होता है, दोनों के बीच में रक्ताशय होता है, जिसमें माता की गर्भाशय की धमनियों की शाला प्रशास्याओं से रक्त आता है और द्वितीय सिराओं से चला जाता है और जिसमें गर्भावरण के रसाकुर स्वैद्व निमज्जित रहकर पोषक द्रव्य का प्रचूरण और त्वाय्य द्रव्य का उत्तर्जन करते होते हैं। पूर्ण प्रगल्पन अपरा का स्थाय ८-९ इच्छा होता है, मध्य में उसकी मोटाई पृक इच्छ के लगभग होती है परिसर पतला होता है और सोल ४०-५० तीले के लगभग रहता है। अपरा गर्भाशय की तुम्ही Poort में चिपटे रहती है। गर्भ की ओर उम्रका जो एक भाग होता है, वह गर्भ के अन्तरावरण या उत्तर (Amion) से जाल्यादित होने के कारण चिकना और मुलायम होता है और उसमें से नाभिनाई की धमनियों और सिराओं की शाला प्रशास्याएं दीप्र पढ़ती हैं। गर्भाशय की ओर का भाग निम्नोक्त और सुरुदरा होता है। गर्भाशय में अपरा की मोटाई में छेद करने से गर्भ से गर्भाशय की ओर निम्न स्तर मिलते हैं—(१) गर्भ का अन्तरावरण। (२) जरायु या शालावरण (Cervix)। (३) शालावरण के रसाकुर और उनके बीच का अद्वकाश जिसमें माता का रक्त संचार करता

है। (४) गर्भाशय की अन्त कला का हिस्सा। (५) गर्भाशय की पेशी।

नाभिनाई—नाभिनाई गर्भ की नाभि से अपरा के मध्य तक होती है। इसकी लम्बाई साधारणतया १८-२० इच्छ होती है। कभी कभी नाभिनाई का अभाव होता है, याने नाभि सीधी अपरा से लगी रहती है। यह अवस्था प्रायः नाभिगत आम्बूलिक (Umbilical hernia) में हुआ करती है। कभी कभी यह बहुत लम्बी होती है। एक बालक में इम्बी लम्बाई ६७॥ इत्या मिली थी। नाई की लम्बाई बहुत होने से बालक के बाहर निकलने में कठिनाई होती है, या बालक बाहर निकलते समय वह टूट जाती है। या अपने साथ जगर्दस्ती से अपरा को लींच लेती है। इसमें माता की बालक को स्थान होता है। नाई अधिक लम्बी होने से गर्भ के शरीर या गले पर उसके आवेषन पड़ने का दर रहता है। ये आवेषन अधिकतर गले के ऊपर ही होते हैं। गले के ऊपर या हाथ पैरों के ऊपर नाई के आवेषन से गर्भ की लम्बाई हो सकती है या आवेषित लंग की टीक छुड़ि नहीं होती। यदि ये आवेषन स्थान न हो तो कोई तुरा परिणाम नहीं होता। आवेषन लम्बी नाई को लोटा बनाने का एक स्वामीविक तरीका है। अधिक आवेषन से नाई लम्बी हो जाती है और लम्बी नाई के सब दुपरिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का आवेषन (C Long) अनेक गर्भों में दिखाई देता है। चर्चिल नामक प्रसवचिकित्सक को १९०५ प्रसूतियों में से १२ में नाई के आवेषन मिले। जायुदें में नाई के बजानेएन का उल्लेख मिलता है और यह धन्ता आपत्तिजनक मानी गई है और उसका कारण माता का उत्तरावरण बतलाया गया है—जनोतानशयकिन्या पुनर्गर्भस्य नाम्नशयाया नाडा वण्णनु दृष्टिः। (चर्च, शा० ८)। आपुनिक प्रशास्य बैवक में इसका कोई कारण नहीं बतलाया जाता है। नाभिनाई में दो धमनियाँ, एक सिरा और कुछ दसदार पदार्थ (Wheatous jelly) होता है, और इन सरके ऊपर अन्तरावरण का गिलाक चढ़ा रहता है। नाभि नाई में वाई से दाई और मैंठन Sp. १०१.८ भी होती है। नाभिनाई में धर्मांतरित सिरा अपरा के रक्तावकारों से शुद्ध रक्त गर्भ की ओर ले जाती है और धमनिया गर्भ से अगुद रक्त अपरा की ओर ले जाती है।

गमध्य रक्तसंवहन (Poetic circulation)—अद्वाय-सम्बन्ध में गर्भ के रक्तसंवहन का क्रम निम्न प्रकार से वर्णित किया है—नववात् प्रसूति गर्भाशयोपल्लोपत्तदो बननम्। तदो व्यतीभवद्वप्त्र बुद्ध्याशयां प्रतिवदा नाई, नाभिमपरा, स्था मातृहृदयादादारसो भस्मानाम द्वयद्वानोपरायैति। तन भस्माशयम्। तत्र सुन्नभूत्य प्रवद्वाये द्वकाशयना प्रवद्वायना प्रवद्वायना द्वकाशयादावापुष्टिः। अपरा से शुद्ध रक्त नाभिसिरा द्वारा नाभि में से होकर बहुत में प्रवेश करता है। उसमें से कुछ रक्त सीधा सेतु सरा (Ductus venosus) से अधरा महासिरा में प्रविष्ट होता है। वाकी रक्तप्रतिहारिण महासिरा में प्रवेश करके समस्त यहाँ में संचार करके अधरा महासिरा में मिलता है। अधरा महासिरा का रक्त दिविणालिन्द में जाकर शुक्रियिद्ध (Foramen ovalis) द्वारा सीधा वामालिन्द में से बामा-

निलय में आता है और महाधमनी के द्वारा समस्त शरीर में परन्तु विशेष करके मस्तिष्क और सिर में संचार करता है। उत्तरा महासिरा के द्वारा आया हुआ रक्त भी दक्षिणालिन्द में आता है, परन्तु वह अधरा महासिरा के रक्त से संमिश्र न होकर दक्षिणनिलय में जाकर, वहाँ से फुफुसाभिगा धमनी के द्वारा फुफुस में जाकर वामानिलय में फुफुससिराओं से आता है। वहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि रक्त फुफुस में विशेषण के लिए नहीं जाता, फुफुसपोषण के लिए जाता है। अधिक रक्त फुफुसाभिगा धमनी से सेतुधमनी (Ductus afferentes) द्वारा महाधमनी में प्रविष्ट होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता है। इस तरह समस्त शरीर में परिभ्रमण करके उत्तरा और अधरा महासिरा द्वारा हृदय में आता है और शरीरगत रक्तपरिभ्रमण जारी रहता है। परन्तु अधोशाखा में आये हुए रक्त का कुछ हिस्सा आभ्यन्तरीय अधिश्रोणिकाधमनियों की दो शाखाओं द्वारा नाभिधमनियों में आकर अपरा में शुद्ध होने के लिए जाता है और शुद्ध हुआ रक्त नाभिसिरा द्वारा फिर गर्भ में प्रवेश करता है। इस तरह गर्भ का रक्तपरिभ्रमण होता है। गर्भस्थ रक्तसंवहन की विशेषनाव—गर्भावस्था में फुफुस वैकाम होता है, उसका कार्य अपरा करती है। सबसे विशुद्ध रक्त यकृत को मिलता है। गर्भस्थ वालक में यकृत एक बहुत महत्व का अंग है। इसी में माता से जो पोषकरस आता है, उसका परिवर्तन रक्त में होता है। 'स ग्लग्ग्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुदैति' (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७) यह कथन गर्भ के संवंध में पूर्णतया सत्य है। इसके सिवाय जन्मोत्तर चीरचर्तनकाल में दूध में लोहे की कमी होने के कारण शरीर को हानि न पहुचे, इसलिए गर्भस्थ वालक माता के आहाररस से अधिक लोहे का ग्रहण करके उसको यकृत में संचित करता है। हनके कारण गर्भ का यकृत बहुत बड़ा होता है। जवान मनुष्य में यकृत का भार शरीर के भार का १५ वाँ अंश होता है। परन्तु गर्भ में वह १५ वाँ अंश होता है। सिर और ऊर्ध्व शाखाओं को कुछ कम शुद्ध रक्त मिलता है और उद्दरविभाग तथा अधोशाखाओं को सब से अशुद्ध रक्त मिलता है। इसलिए अधोशाखा की धमनियों से दो धमनियाँ रक्त को शुद्ध करने के लिए अपरा की ओर जाती हैं। वही नाभिनाडी की धमनियाँ हैं। इनके सिवाय रक्तपरिभ्रमण मार्ग की कुछ रचनाविशेषताएँ भी होती हैं। (१) सेतुधमनी—इससे नाभिसिरा द्वारा आया हुआ रक्त सीधा अधरा महासिरा में जाता है। (२) सेतुधमनी—इससे दक्षिणनिलय का रक्त सीधा महाधमनी में चला जाता है। (३) शुक्तिच्छ्रद्ध—इससे अपरा महासिरा का आया हुआ रक्त दक्षिणालिन्द से सीधा वामालिन्द में चला जाता है। (४) अधिश्रोणिका धमनियों—इससे गर्भ का रक्त शुद्ध होने के लिए अपरा की ओर जाता है। ये ही धमनियाँ नाभि के बाहर आने पर नाभिधमनियाँ कहलाती हैं। गर्भ का जन्म होने के दो से पाँच रोज़ के भीतर शुक्तिच्छ्रद्ध के सिवाय वाकी मार्ग बंद हो जाते हैं। इस तरह माता का रक्तसंवहन स्वतन्त्र होता है, गर्भ का भी स्वतन्त्र होता है। दोनों के रक्त का संयोग

(संमिश्रण नहीं) अपरा में होता है। वहाँ माता अपने शुद्ध रक्त से अपरा की पतली दीवाल के द्वारा गर्भ को पोषकद्रव्य और प्राणवायु दान करती है और गर्भ के अशुद्ध रक्त से प्रांगार द्विजारेय (कार्वन डायोक्साइड) और मल का प्रतिग्रहण करती है। माता और गर्भ के रक्त का मिश्रण नहीं होता, इसका स्पष्ट निर्देश 'उपस्तेह' शब्द से होता है—पूर्णसंसालिलोपनेहस्तीरजाततन्त्रकम्बकं जीवयति तदृष्टं प्राणधारणं करोतीत्यर्थः। (डल्हण)। आनियेकात् प्रभृति—आ समस्ततो भावेन निषेचनं मानियेदो योनौ शुक्रस्य निषेचनं तत्प्रभृति गर्भायामनं मर्यादीकृत्य इत्यर्थः। (डल्हण)। तियेगतानां धमनीनाम्—नौवै अध्याय में वर्णन की हुई धमनियों का।

गर्भस्थ खलु संभवतः पूर्व द्विगः संभवतीत्याह शौनकः शिरोमलात्प्रधैनेन्द्रियाणाम्, दृग्मिति कृतवीर्यं वुद्देमनसश्च स्यानत्वात्, नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वैधते देहो देहिनः पश्चिपदमिति मार्कगणेयस्तन्मूलत्यगच्छाया गर्भस्थ, मध्यशरीरमिति सुभूतिगांतमस्तत्त्विवृद्धत्वात् सर्वगात्रसंभवस्य ॥४१॥

प्रधान इन्द्रियां शिरोमूल होने से शौनक ऋषि का मत है कि उत्पन्न होने वाले गर्भ का सब से प्रथम शिर उत्पन्न होता है। उद्दिद्ध और मन का स्थान होने से हृदय (सब से प्रथम उत्पन्न होता है), यह कृतवीर्य का मत है। प्राणी के शरीर की घृद्धि नाभिद्वारा होती है अतः नाभि (प्रथम उत्पन्न होती है), यह पाराशर्य का मत है। गर्भ की चेष्टाओं का मूल होने से पाणिपाद (प्रथम उत्पन्न होते हैं), यह मार्कवैद्य का मत है। संपूर्ण गांत्रों की उत्पत्ति वहाँ पर निवद्ध होने से मध्यशरीर (धड़, अन्तराधि प्रथम उत्पन्न होता है), यह सुभूति गौतम का मत है ॥ ४१ ॥

वक्तव्य——इस सूत्र में गर्भावस्था में सब से प्रथम गर्भ के किस अङ्ग की उत्पत्ति होती है, इसके संवंध में प्राचीन काल में जो मतमतान्तर प्रचलित थे, उनका संग्रह किया है। इनके अतिरिक्त चरक में निम्न अधिक मत दिये हैं—पञ्चवाशयगुटमिति भद्रशैनिको मारुत्तायिषानत्वात्। शान्द्रयाणीति जनको वैदेहः तान्यन्य वुद्यविषयानानोति कृत्वा ॥ गर्भ के अंग-प्रत्यक्षों की उत्पत्ति के संवंध में विविध आचार्यों के इस मतमतान्तर को देखकर अंगों के द्वारा हाथी के संवंध में प्रदर्शित किये हुए मतमतान्तर की याद आती है। इन आचार्यों ने केवल एक अंग के एक एक कार्य को महत्व देकर उसके अनुसार अपना मत प्रदर्शित किया। यहाँ अंग शब्द का प्रयोग निरादर प्रदर्शित करने के लिए नहीं किया गया है, वस्तुत्यस्यि प्रदर्शनार्थ प्रयुक्त किया है। चरक में मतप्रदर्शन के समय एक आचार्य कहते हैं—परोक्तत्वादन्तियमिति मारीचः कद्यपः। सम्भवः—'उत्पन्न होने वाले गर्भ का' (विशेषण) अथवा 'प्रायदाः, कद्याचित्' (अव्यय)। प्रधानेन्द्रियाणाम्—ज्ञानेन्द्रियाणाम्। ततो ह वधतं देहो देहिनः—नाभि के द्वारा माता का आहाररस गर्भ के शरीर में जाकर उसकी घृद्धि होती है, इसलिए।

तत्त्वं न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यक्षानि युगपत्

१ देवेन्द्रियाणाम्.

उत्तरव—चतुर्थ अध्याय के अन्त में ८० वें श्लोक से सत्त्व के लक्षणों का विचार किया गया है। मेघा—धीरथरायावती मेघा। (अमरकोप)। आत्मज—मारुजादि शब्दों में 'ज' उत्पत्ति वोधक होता है। परन्तु आत्मा के वरे में यह अर्थ असम्भव है क्योंकि आत्मा निर्विकार होता है। इसलिए आत्मज से 'आत्म-सन्निकर्पजन्य' समझना चाहिए।

इस सूत्र में गर्भोत्पत्ति की सामग्री के साथ उसके प्रत्येक घटक से गर्भशरीर में उत्पन्न होने वाले अंगों और भावों का वर्णन किया गया है। इस विषय का विशेष विवरण धरक शारीर के तीसरे अध्याय में किया गया है। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपर्युक्त सामग्री में से कोई भी एक या दो द्रव्य गर्भोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। सब भाव एक समय में उपस्थित होने से गर्भोत्पत्ति होती है—सर्वेष्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते। इसकी दीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—समुदितेष्य इति वचनात् प्रत्येकं मात्रादीनाभिरकारणिरपेक्षाणां गर्भकारणवेन निषेधयति। इस विषय के अन्त में चरकचार्य लिखते हैं:—एवसंय नानाविधानमेषां गर्भकरणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाद्वासमुदायात्। (शारीर ३)। ऐसी अवस्था में द्रव्य सूत्र में सामग्री के प्रत्येक घटक के सामने जो भाव निर्दिष्ट किये हैं, उनके सम्बन्ध में 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से यह समझना चाहिए कि असुक भावों की उत्पत्ति में असुक घटक प्रधान है और शेष अप्रधान हैं। अब प्रत्येक के सामने वर्णन किये हुए भावों का विचार किया जाय तो मारुज और पितृज भावों का वर्णकरण कहाँ तक ठीक है इसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह हो जाता है। इसके सम्बन्ध में इतना कथन पर्याप्त है कि यह वर्णकरण गुणाधार पर किया गया है—मृदूनि मारुजानि, स्थिराणि पितृजानि ॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणाद्विमहत्त्वं च, पूर्वं च दक्षिणं सक्षम्युत्कर्पति वाहुव्याच्च पुच्छामध्येयेषु द्रव्येषु दौहृदमभिध्यायति स्वस्त्रेषु चोपलभते पश्चोत्पलकुसुमदात्रातकादीनि पुच्छामान्येव प्रसवमुखवर्णां च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्वद्रव्यसुभृतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूत-मुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति ॥ ४४ ॥

(गर्भ के छायांपुंसकलक्षण—) उत्तरमें जिसके दक्षिण स्तन में प्रथम दूध दिखाई दे; दक्षिण धांख भारी हो; (चलते समय) जो दाहिने पैर को प्रथम उठाकर चलना प्रारम्भ करती है; जिसका दौहृद अधिकतर मुँहिङ्गी द्रव्यों में होता है; स्वप्न में जो पश्च, उत्पल, कुमुद, आत्रातक इत्यादि पुनामक द्रव्यों को देखती है; जो प्रसव मुखवर्ण होती है उसे कहना चाहिए कि वह पुन्र को उत्पन्न करेगी। इससे विपरीत हो तो (कहना चाहिए कि वह) कन्या को (उत्पन्न करेगी)। जिसके दोनों पार्श्वं ऊँचे हों, पेट आगे को (मध्य में) सपाट हो और पूर्वोक्त लक्षण हों उसका (गर्भ) नपुंसक समझना चाहिए। जिसका

उदर वीच में दवा हुआ द्रोणी के आकार का है, वह युग्म (दो धर्मों) को जन्म देती है (ऐसा जानना चाहिए) ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—दक्षिण सक्षम्युत्कर्पति—तत्र या दक्षिण पादं पूर्वं मभिसरति। (अष्टांगसंग्रह)। पश्चोत्पलकुमुद—कमल के विविध प्रकार (प्रयमस्वर्ण पृष्ठ ७३ देखो)। विपर्यये—इसके विलम्ब लक्षण होने पर। जैसे दक्षिण के बदले वाम, पुज्ञाम के बदले स्त्रीनाम इत्यादि। मध्ये निम्नम्—गर्भाशय में दो बालक होने के कारण दोनों के मध्य का भाग कुछ निज्ञ होता है, परन्तु यह सम्भविता दृष्टिगत न होकर स्पर्शलभ्य होती है। द्रोणीभूतम्—पानी भरने के लिए लकड़ी या पत्तर का जो बड़ा पात्र बनाया जाता है, वह द्रोणी कहलाता है। यहाँ पर द्रोणी से पेट के अधिक बड़े होने से अभिप्राय है। यह देखा गया है कि जब उदर में दो गर्भ होते हैं तब नाभि के पास उदर की परिधि (Girib) एक गर्भ की अपेक्षा दो से चार इत्यतक अधिक होती है।

इस सूत्र में गर्भलिङ्गसूचक जो उक्षण वर्णन किये हैं, उनका गर्भलिङ्ग के साथ कार्यकारणभाव की दृष्टि से (Physiologically) कोई संवेदन नहीं है। इसलिए ये लक्षण प्रत्येक गर्भवती स्त्री में नहीं मिल सकते और यदि मिल जाय तो भी संसूर्ण गर्भवस्था में एकसे नहीं हो सकते। अतः इनके ऊपर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। ये लक्षण अधिकतर दौहृद की जाति के हैं, जो श्रद्धायुक्त गर्भवती स्त्री में कभी कभी मिल सकते हैं और जिनकी उत्पत्ति का तात्पर्य दौहृदोत्पत्ति के समान (पीछे इस अध्याय में २५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हो सकता है। आधुनिक काल में भी गर्भलिङ्गनिर्णय के संबंध में कुछ विचार किया गया है, परन्तु अभी तक इसमें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है। तथापि निज्ञ तीन नियम, जो गर्भ तथा तज्जन्य शरीरपरिवर्तन पर निर्भर होते हैं, मार्गदर्शक हो सकते हैं।

(१) स्त्रीगर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ का भार अधिक होता है। यह फर्क प्रथमप्रसवा (Primiparae) स्त्री की अपेक्षा बहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में अधिक होता है। (२) स्त्री-गर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ के हृदय की गति कुछ कम होती है। (३) सगर्भावस्था में स्त्री के शारीर से मृदूद्वारा न्यासर्ग (Hormone, प्रणालीहीन ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले पदार्थ) अधिक मात्रा में उत्सर्गित होते हैं। उनकी राशि के अनुसार भी स्त्री या पुरुष का निर्णय (Hormonio diagnosis) करने की कोशिश की जाती है।

गर्भ के लिङ्गनिर्णय में जैसी कठिनाई होती है, वैसी कठिनाई युग्मनिर्णय में नहीं होती। युग्म का निदान निज्ञ चार पद्धतियों से किया जाता है। (१) परिधिमापन—इसका उल्लेख ऊपर द्रोणीभूत की टिप्पणी में किया गया है। (२) सर्वेन—उदरविभाग पर टोलने से दो गर्भों के दो सिर, कभी दोनों नीचे की ओर, कभी एक नीचे और एक ऊपर, दो पीठ और शाखाओं की अधिकता प्रतीत होती है तथा दोनों के बीच में प्रणाली रहती है। इसी के उपलक्ष्य में इस सूत्र में 'मध्ये निम्नम्' शब्द प्रयोग किया गया है। (३) श्रवण—चतुर्थ मास के पश्चात् गर्भवती स्त्री के उदर पर कान लगाने से या श्रवणनलिका से गर्भहृदय के स्पन्दन सुनाई देते हैं। उदर में दो गर्भ होने से दो हृदय के स्पन्दन

सुनाई दे सकते हैं। इसलिए यदि दो सुननेवाले माता के उद्वर्गविभाग के दो स्वतन्त्र स्थानों पर एक समय में दो स्वतन्त्र हृदयों को सुनकर उनकी स्पन्दनसंख्या गिन सके और यदि प्रत्येक हृदय की गतिसंख्या दूसरे की तथा माता के हृदय की गतिसंख्या ने भिन्न हो तो युग्म का निदान हो जाता है। युग्मनिदान का यह मार्ग बहुत विविधता और सरल है। (४) छक्किरण (Radiography)—छक्किरणों के द्वारा देखने से या चित्र खींचने से भी युग्मनिदान हो जाता है। जब दोनों गर्भ दो पार्श्वों में होते हैं तब निदान में विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु जब एक पीछे और दूसरा आगे की ओर होता है, तब निदान में कठिनाई हो जाती है।

भवन्ति वाप—

देवतावाहणपराः शोचाचारहिते रताः ।

महागुणानप्रस्थयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान् ॥ ४५ ॥

देवतावाहणपरायण, (शास्त्र) शुद्ध और हितकर आचार में रत (माता या माता-पिता) गुणवान् भेतान को जन्म देते हैं और विपरीत (आचारातुक) गुणहीन (सतान) को (उत्पन्न करते हैं) ॥ ४५ ॥

बक्तव्य—शोचाचारहिते रता—शोचाचारे हिताचारे च रताः । शोचाचार—धर्मदाता भूमि में जो आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। हिताचार—आयुर्वेद में जो स्वास्थ्यकर आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। महागुण और निर्गुण—गुण से यहाँ पर शारीरिक और मानसिक गुणों का घोष होता है। महागुण जीव वह है, जिसके शरीर में कोई व्यग्न न हो तथा मन में कोई मानसिक दोष न हो (प्रथमलण्ड पृष्ठ ८ तथा ३५० देखो)। इससे विपरीत शारीरिकातुक और मानसिक दोषयुक्त निर्गुण होता है।

इस स्थान में यह बताया गया है कि जब माता-पिता सदाचार और हिताचार के अनुसार व्यवहार रखते हैं, तब उनके संतान शीघ्राकृत्यानेन सब हाँसे से गुणवान् होते हैं—यथा कर्ता तथा तात्पर्य का अनुसार न होना शार्णनिदर्शनम् । (महाग्रात, शान्तिपर्व)। यथा बीव तथाकुर । परन्तु यह नियम सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में निरपवाद नहीं है। संसार में कई चार पाँह देता जाता है कि माना-पिता सृष्टील, सदाचारी और गुणवान् होते हुए भी उनके संतान की शारीरिक व्यग्नों से मुक्त, कर्मी मानसिक दोषों से युक्त और कभी दोनों से युक्त दिवाई होते हैं। यदि केवल माता-पिता के गुणवानुग्रह के जार संतान के गुणवानुग्रह निर्भर होते तो इस तरह का एक व्याप्ति नहीं दिवाई होता। परन्तु इसमें माता-पिता के गुणवानुग्रह के अतिरिक्त और एक कारण होता है, जिसका निर्देश नीचे सार्थ क्षोक में करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वितिः ३.भागादृ जायते ।

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वितो ये भवन्ति गुणागुणाः ॥

ते ते गर्भस्य विशेषा धर्माधर्मनिमित्तजाः ॥ ४६ ॥

इनि शुभतर्हितायाः शारीरसाने गर्भवान्ति-

शारीर नाम तृप्तीयोदयाय ॥ ४६ ॥

जोग्र प्रवद्धो ही निष्पत्ति स्वभाव से ही होती है। (परन्तु) जोग्र-प्रवद्धों की निष्पत्ति में जो गुणवानुग्रह होते हैं,

वे गर्भ के (पूर्वजन्म के) धर्माधर्म के कारण समझे जाती हैं ॥ ४६ ॥

यत्क्ष्य—अङ्गप्रत्यङ्ग—हायपैर, धद और सिर ये छ भंगा और इनके भीतरी हृदय, यकृत, प्लीहा इत्यादि अवयव प्रत्यङ्ग होते हैं। इनमें मन, बुद्धि इत्यादि मानसिक गुणों का भी नमावेश होता है। निर्वितिः—शुक्रशोणितसंयोग होने के पश्चात् उपर्युक्त शरीरगत सूर्य अङ्ग-प्रवद्धों का स्त्रुत्यापत होना, यथाकाल और यथोचित उनकी पृष्ठि होना और योग्य समय पर प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप जैसा होना चाहिए, वैसा बनना इसके निर्विति (Growth and development) का एक सकार है। स्वभावत—इसका विवरण पीछे प्रथम अध्याय में हो जुका है। जैसे, पानी नीचे की ओर बहात है, अङ्गजवला ऊपर की ओर उठती है इनको किमी के मार्गदर्शित की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही संयुक्त शुक्रशोणित को विविध अङ्गों की निष्पत्ति के लिए किसी के मार्गदर्शित की आवश्यकता नहीं होती। युग्माण—श्वायट और कार्य की हाँसे जो अङ्ग जैसा होना चाहिए, वैसा होना उसका गुण, इससे विपरीत अवगुण । जैसे, हृदय में चार कोण होना, कोणों के कपाटातुक द्वार होना, गर्भावस्था में दो अलिंगों की दीक्षाल में शुक्रिच्छुद (Foramen ovale) का होना, जन्म के पश्चात् दस दिन के भीतर उमसका घन्द होना हृत्यादि हृदय के गुण हैं। इससे विपरीत, जैसे शुक्रिच्छुद वा घन्द न होना इत्यादि, अवगुण होते हैं। महाशोत (Alimentary canal) एक बड़ा अङ्ग जिसमें कई प्रत्यङ्ग होते हैं। महाशोत का सुख से गुदा तक का मार्ग अनवरद्ध होना, सब प्रत्यङ्ग व्यथास्यान होकर उनकी रक्षण दीक्षाल होना ये महाशोत के गुण हैं। औषध खण्डित होना (प्रथम लण्ड पृष्ठ ४०१ देखो), तालु में विद्रव (Cleft palate), गुदनलिका की अनिप्पित्रता (Imperforate anus) इत्यादि उसके अवगुण होते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि निर्विति के अवगुणों से यहाँ पर महज या जातज दों (Congenital malformations Developments errors) अधिप्रेत हैं।

इस क्षोक का संरैप में सातवर्ष यह है कि मनुष्य ये अन्य प्राणियों की उत्पत्ति और बुद्धि में स्वभाव सर्वद नियमानुसार काम करता है, नियम के विरद्ध काम उससे कदापि नहीं होता। आधुनिक काल में जो स्वभाव के अवगुण (Freaks of nature) कहलाते हैं, वे वास्तव में स्वभावों के नहीं होते हैं, परन्तु जिसमें ये अवगुण दिखाई देते हैं उसके पूर्वजन्म के कर्म के फल होते हैं, चाहे ये अवगुण मनुष्यों में हों या मनुष्यों के नहीं, जोकि जैसे एक ही आम अपने पूर्वजमें उच्च या नीच योनि में प्रवेश करता है, वैसे धर्माधर्म का फल भोगने के लिए अव्याह या सम्पूर्ण शरीर को पाता है।

इति मास्तरात्मनाया गोविन्दात्मनेन विचित्रायामात्मावैद्यरहस्य-

शीरिकाया द्युग्रामात्मीयाया शारीरसाने गर्भवान्ति-

शारीर नाम तृप्तीयोदयाय ॥ ४६ ॥

चतुर्योऽध्यायः ।

श्रद्धातो गर्भवत्याकरणं नाम शारीरं प्यासया-
स्यामः । यथोव च भगवान् पञ्चन्तरिः ॥ १ ॥

जब एमके बाद गर्वस्वावरण नामद शारीर दा व्याप्रयाम पहुँचे हैं, जैने कि भगवान् खन्तलारि ने लिया था ॥ १ ॥

पाठ्य—जा इस-पिसार दरता—रामदेव लिखे।
इस तरीके में “लिखोड़ेर लाजाना” गमनाराम—पिसारे
शस्याय में गर्भ की उष्णता सौर शूक्रिक धर्म दिया है। इस
शस्याय में गर्भ के अद्वैत का चिनार में धर्म दिया गया है,
एगलिए यह शस्याय गर्भांयाधर बद्धता है।

अस्ति सोमी वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि
भूतात्मेनि प्राणाः ॥ ३ ॥

(दारी के जीवनीय गति—) दिति, करु, पायु, मत्ता,
रम, तम, (नेत्रादि) पांच (शान वी) इन्द्रियों और
इन्हें प्राप्त है ॥ ३ ॥

धन्दल्ल—सहित—दिवा—कर्मद्वये तीरे दिखायीं।
 दूषितप्रदीपः सुभासुमानि भवीति । (चरक) । शोषण—
 कर—जोग एव दर्शने दिवाप्रदीपः दूषितप्रदीपः सुभासुमानि
 भवीति । (चरक) । धूपामा—धूपने शुभासुमानि कामे में
 कारण पद्मभाष्यग्रन्थक धारीर में धूपमित्र हुआ पुराण,
 धार्माच, पर्वतपुराण—हैं भूते धूपमित्रः धार्मा पुराणा ।
 इत्यापि अस्पायर के चारुर्य दूष के पक्षाम्य में भूतामा देखेति ।
 प्रसादः—भीमस्त्रीमि भ्राता:, प्रात्नगात् भ्राता: । पश्चभूतामस्त्र
 दाट धारीर में जीवन या जीवनन्यता के राशुण जिनके कारण
 उत्पन्न होते हैं, वे तत्त्व प्राण कर्त्तव्यते हैं । यद्यपि पालन्यमें
 पुरुष जीवनन्यता या कारण है, तथापि यह स्वयं उन उत्पन्नों
 को उत्पन्न नहीं कर देता, उनको दूष कारणों द्वी आदरश
 करा होनी है—भास्त्रादः कर्त्तव्योगापादानां तत्त्वं प्रश्नते । दूषदा:
 नामदैप्रस्वादयोगादा न वर्तते ॥ भेदः प्रदर्शते कर्त्तु भूतामा नामदा:
 वे कर्मद् । स्वेषामान्ते सर्वं तत्त्वे भारिता जिज्ञात । (चरक
 धारीर १) । जीवनन्यता के लक्षण (Signs of Life) प्रथम

धर्माय के इन चें मूर्ति में आत्मा के लिए करके दिये गये हैं। आधुनिक काल में जीवन के पांच लक्षण भासे गये हैं। (१) उद्दृष्टिगता—(Irruability)—चाहा उत्तेजना या आघात से उहाँपित होकर उसके प्रतीकार के लिए या शरीररथा के लिए उचित परिवर्तन करने की शक्ति। (२) साम्यव्यक्तगति—Assimilation,—यात्रा पैश पदार्थों को सेवन करके उनको दृजम फरना। (३) वर्पन—दिन-प्रतिदिन शरीर की धूढ़ि करना। (४) प्रतीक्षादान—धरणे समान जीवधारियों को जन्म देना। (५) मलोत्सर्जन—शर्णरगत स्थान्य पदार्थों का उत्सर्ग करना। ये लक्षण सब जीवधारियों के लिए लागू हैं। आवृद्ध शाख मनुष्यों के लिए हीनेके कारण जीवन के दिये हुए लक्षण मनुष्य-प्राणी का धार्थिक स्थाल रखके दिये गये हैं। तथापि उनसे भी आधुनिक पाँचों का धर्थ निकलता है। यदौं पर जो वारह प्राण दिये गये हैं, उनमें त्रिदोष साम्यव्यक्तगति, गलोत्सर्जन, वर्धन हृत्यादि के द्वारा, त्रिगुण सुख-दुःखादि के द्वारा शरीर में चैतन्य का प्रदर्शन करते हैं। पञ्चुद्वीन्द्रियाँ विषयोपलब्धिके द्वारा घटी कार्य करती हैं।

तस्य ललैवंप्रवृत्तस्य शुक्लोऽलितस्याभिपन्न्य-
मानस्य धीरस्येव मन्त्रानिकाः सम इन्द्रो धत्रन्ति ।
तत्सां प्रथमाऽऽभासिनी नाम, या सर्ववर्णनिघमा-
सयति पञ्चधिं च द्वायां प्रकाशयन्ति, स्ता धीरेष-
ष्टादशमानप्रमाणा, स्तिधमपत्रकण्टकाधिष्ठानाः हि-
तीया लोहिता नाम, धीलिपोदशमागप्रमाणा, ति-
लामालकन्यन्दृश्यद्विष्ठानाः द्वितीया अदेता नाम,
धीदिष्टादशमागप्रमाणा, चम्पदलजग्नीमशका-
धिष्ठानाः चतुर्थी ताङ्गा नाम धीरेष्टभागप्रमाणा,
पितिविलासकुष्ठाधिष्ठानाः पञ्चमी धेदिनी नाम,
धीलिपअभागप्रमाणा, कुष्ठविलप्त्याधिष्ठानाः पष्ठी
संहिता नाम, धीहिममाणा, ग्रन्थयन्यर्युदश्छोपद-
गलगण्डाधिष्ठानाः सप्तमी मांकुशरा नाम, धीलि-
प्त्ययमाणा, भगव्यर्दिष्टाधीर्यदीड़धिष्ठाना । यदेतत्
प्रमाणां निर्दिष्टं तन्मांसलोपयकांशेषु, न ललैते
मूर्माकृलयादिषु, यसो वृथ्यत्वुदरेषु—धीहिमुर्नाम्भु-
षेष्टभागप्रमाणमयादेह विच्छेदित ॥ ३ ॥

(शास्त्र) इन प्रकार (भूतामा में अधिकृत होने पर) प्रमुख हृषि और पश्चात् विद्योंसे से पकड़ने पुणे उप गुप्तामोगिन की तथा लग्नाएँ बनती हैं, जैसे हृषि की नवार्द्ध । इनमें प्रथम धारभासिनी नामक (व्यव्या) है, जो मध्य योगों को प्रकट करती है और पांचों प्रकार की तथाया को प्रदातित करती है । यह (व्यव्या भौद्यार्द्ध में) शीढि (भान्य) के अतारहवें भाग के प्रमाण की है (और) विष्व तथा पश्चात्यक छो अधिकृत होती है । दूसरी तीव्रिता नामक है, जो शीढि के स्रोताहवें भाग के प्रमाण की ओर तिलकालक, व्यस्त्य और घट्ट की अधिकृती है । तीसरी द्वेता नामक है, जो शीढि के घारहवें भाग के प्रमाण की ओर चर्मदल, अजगरी और भद्र की अधिकृती है । चौथी तात्पुरा नामक है, जो शीढि के आठवें भाग के प्रमाण की ओर विष्विध प्रकार के किलास और कुष्ठों की अधिकृती है । पांचवीं वेदिनी नामक है, जो शीढि के पांचवें भाग के प्रमाण की ओर हुए तथा विसर्प की अधिकृती है । छठी रेतिणी नामक है, जो शीढि के प्रमाण की है और जो अंथि, अपची, अर्द्धव, श्लीपद, गलगाण्ड की अधिकृती है । सातवीं मांससधरा नामक है जो दो शीढि के प्रमाण की ओर भग्नन्द्र, विद्युधि और अर्द्ध की अधिकृती होती है । यह जो प्रमाण चताया गया है वह मांसल स्थानों का है; लगाट औंगुलयादि सूदम स्थानों का नहीं । हस्तलिए उदररोग (चिकित्सा) में कहते हैं कि शीढि-मुख साक्ष से अंगृहे की चौदार्द्ध के वरावर वेधन करे ॥ ३ ॥

यत्कल्प्य—“वं प्रश्नात्य—शुक्र वैर दोषित का संयोग होने पर उसमें जब पुरुष प्रवेश करता है, तब आगे गर्भाभिनिरुद्धि की ओर वह प्रशृत्त होता है। इसलिए भूतात्मा के संयुक्त होने के पश्चात् सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ उत्पन्न करने की ओर प्रस्तु हुए। अभिप्रवृत्यमानस्य चारस्त्रेय सन्तानिकाः—जन्मि के द्वारा परिपक्व किये जाते हुए दूध के पृष्ठ भाग पर जैसे मटाई की फट्टे तहें बनती जाती हैं और

पूर्णपक दृध के ऊपर हृन सब तहों से भोटी मलाई बनती है, जैसे ही ग्रिहोंगों के विशेषतया पित के द्वारा परिपक (वर्धित) होते हुए गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की कई तरहें बन जाती हैं और सर्वांगपरिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तरहें मिलकर त्वचा घनती हैं। सब त्वच—सम्पूर्ण शरीर को बाहर से आकृत करने वाला और त्वचा है। इता एक शरीरस्वत्व तिटनि। (चरक)। इस अर्थ से त्वचा को Common Integument कहते हैं। यहाँ पर जो सात त्वचाएँ घण्ठन की गई हैं, वे सात स्वतन्त्र त्वचाएँ न होकर एक त्वचा के सात स्तर (Layers of skin) हैं। हृन स्तरों का क्रम बाहर से भीतर की ओर है, अर्थात् अवभासिनी बाहर की ओर भासधरा सब से भीतर की है। चरक और लाटांगसप्रह में हृ त्वचाएँ वर्धित हैं—शरीर पृष्ठ त्वच। (चरक, शा० ७)। त्रिकात्रु पद्यमानस्य चौरस्यै सन्तानिना पृष्ठ त्वचो भवनि। (लाटांगसप्रह, शा० ८)। उनका भी क्रम बाहर से भीतर की ओर है और इस क्रम के अनुसार सुश्रुतोक मासधरा स्तर को चरकचार्य त्वचा में समाविष्ट नहीं करते हैं, ऐसा मालूम होता है। यह अनुसार हृनु की टीका के आधार पर किया गया है—पहली तु प्राणधरा। (अद्वाग्नसप्रह)। पहली सर्वांगान्तर्मासितामा, सा प्राणान्तर वस्थाऽवत्त्वान्विष्टि। (हृनु)। यदि चास्तविक इष्ट से विचार विद्या जाय सा त्वचा के हृ स्तर होते हैं। इसलिये चरक का कथन ठीक है। सुकृत में मासधरा त्वचा का त्वचा में जो समावेश किया गया है, उसका भी कारण है जिमका विवरण आगे किया गया है। अवमासिनी—यह त्वचा सब से बाहर की है। चरक में यही त्वचा उडकपथा बतलाई है। इसका कारण यह है कि इसके होने से शरीरगत रस सब तथा लसिका बाहर नहीं जा सकती और इसके छिल जाने से लिंगलने लगती है—जासों प्रवता दैरम उडक विवरित यैन विद्वान्द्रित्वामार्द। (हृनु)। पञ्चविद्या द्वादा—प्रथमलखण्ड पृष्ठ १५१ देखो। तिथम—एक प्रकार का छुट्ट कुठ। प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५२ देखो। परिवर्ती कारक—एक छुट दीरा। प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५३ देखो। लिंगलताकादि—ये कुछ दीरा हैं। प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५७ देखो। चर्मदल—कुद्र कुठ का एक प्रकार। अवग्नीमीशक—द्वुद्रीरा। लिंगल—सरेद कोड। प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५८ देखो। हृ—इससे चौरी त्वचा के अधिकान में त्वचेयोग (Skin diseases) और पांचवीं त्वचा में कोड (Leprosy) समझना चाहिए। प्रथमपनी इयाद—कुछ प्रथियाँ (जैसे, Lebiceons cyst प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५७ देखो), कुछ अर्द्ध—(प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५० देखो) तथा श्लीपद (प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५१ देखो) ये रोग त्वचा में होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। अपची त्वचा के जींघे स्थित स्तर (Subcutaneous tissue) में होने वाली लसिका प्रथियों का रोग है (प्रथमलखण्ड पृष्ठ ३५८ देखो)। गलांग—थायराइड नामक ग्रीवा। मध्य स्थित प्रथिया का यह रोग है। यह अधिक त्वचा से बहुत दूर होती है। त्वचा और दूर प्रथि के दरमान प्रथियों (मोस) आती हैं। अब तक प्रथम छू त्वचाओं में जिन रोगों का उल्लेख किया गया है वे सब रोग, अपची और गलांग को छोड़कर, त्वचा में ही उल्लेख होते हैं, यह बात

आधुनिक पाण्डाय वैद्यक के अनुसार भी सिद्ध है। वरेतप्रमाणा निरिष्ट—प्रत्येक त्वचा का तथा सारों त्वचाओं का प्रमाण। सारों त्वचाओं की कुल मोटाई दलहण के अनुसार ४५२ यव होती है—विदित यव, प्रत्येक ग्रीवि विलारस्य विशितमांगा, परिकल्पनीया, ते वाष्णवशमाणा अनुसारिन्या, प्रमाणपूर्ण, एवं वद्यमानेभ्यं विशितमांगु पोदशप्रमूलदो भागा वोद्यन्या ॥ इस प्रकार से त्वचा की मोटाई वास्तविक मोटाई से बहुत अधिक होती है, इसलिये 'मीहीरायदान-भागप्रमाणा' इसका अर्थ दलहण के अनुसार ५५२ यव ऐसा न करके ४५२ यव रेसा किया गया है। इससे सारों स्तरों की मोटाई साड़े तीन यव (३५२) के लगभग होती है। यह मोटाई सब जगह एक सी नहीं होती। यहाँ पर निर्दिष्ट किया हुआ प्रमाण उचतम मर्यादा का है। मौसलेभवकाशेतु—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) यहाँ त्वचा अधिक मौसल याने स्थूल (Thick) है, ऐसे अवकाशों याने स्थानों में। यह साधारण अर्थ है। (२) मौसलधरा त्वचा से आकृत अवकाशों याने रिक्त स्थानों में, जैसे कोष्ठ या उदरगुहा। यह दूसरा अर्थ यहाँ पर अनियत है, क्योंकि उसी का उदाहरण आगे दिया है। यो वहयतुरैतु—चिकित्सास्थान के १५२ अध्याय के अन्त में उदरगुहागत जल निकाले के शास्त्रकर्म में। अग्नोदर्पंसामवयवादम्—त्वचा की मोटाई की उपर जो उचतम मर्यादा निर्दिष्ट की गई है, उसको सिद्ध करने के लिए यहाँ पर वेष किया जाता है, वह स्थान नामिके नीचे बाहू और चार अंगुल पर होता है—पहले नामेषाम अनुरुलपवाय रोमरन्या ग्रीहिमुलेन इत्यादि। उस स्थान का जल तक छेद किया जाय सो बाहर से भीतर की ओर निम्न भाग सुख्ततया मिलते हैं, त्वचा और उदरपाचीर की वेशियाँ। त्वचा में उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का और वेशियों में उदरकला वा समावेश कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सुकृत में उदरगुहा का आगे का आवरण केवल त्वचा से नियमित माना जाता है—मणुषोदर भयानकिनि, षेषेनदुक्ष भवनि—महान् त्वचा समुदायेनांगोदर भयानकिनि, अगुषोदर विशितमामोनपद्यव्रप्रसायम् ॥ (दलहण)। इसका प्रत्यय स्थीव्राणविकिला में मिलता है—वचोऽनीत्य सिरादीनि भिस्वा वा परिहत्य वा। वेष प्रतिष्ठित शल कुर्यादुकानुपदवान् ॥ (चिकित्सा २)। यहाँ पर केवल त्वचा (त्वचा स्तर) डलहण पार करने से शाश्व कोष्ठ में प्रवेश करता है, यह शाश्व लिखा है।

आधुनिक काल में प्रत्यक्षीकृत इनमा वी बनाट—सूचमदर्दक के द्वारा त्वचा का परीक्षण करने पर उसमें बाहर से भीतर की ओर निम्न स्तर मिलते हैं। (१) शार्क वा कटिन स्तर (Horuy layer)—यह स्तर अधिक्षुरीय कोशाओं (प्रसियेलि अल सेलों) की कई तरहों से बनता है। इसकी चांचाएँ सब से बाहर होने से पीढ़न और दबाव के कारण कटिन या सींग के समान होती हैं। यह अवस्था पैरों के तु ऊंचों में, हृथिलियों में, विशेषतया अगुलियों की जड़ों के पास के घोड़ों में सहज ही में दिखाई देती है। हृमलिये यह स्तर शार्क वा कटिन कहलाता है। जड़ों पर अधिक पीढ़न होता है, यहाँ पर इसकी मोटाई काफी बढ़ती है। (२) स्तन्त्र स्तर (Stratum loofid

(३)—इसमें स्वच्छ कोशाएँ होती हैं। इसकी मोटाई बहुत नहीं होती। (३) कण्ठमय स्तर (Stratum granulosum)—इसमें कण्युक्त कोशाओं की दो तीन तरह होती हैं। ये सेलें चपटी और कठिन स्तर तथा मालपीडिभन स्तर की कोशाओं के बीच की (संक्रमणावस्थिक Transitional) होती हैं। (४) कर्णमय स्तर (Malpighian layer)—यह स्तर कोशाओं की कई तरह से बनता है। ऊपर के स्तर इस स्तर की कोशाओं से बनते हैं। सब से ऊपर के स्तर की कोशाओं का नाम होने पर उनके स्थान पर नीचे की कोशाएँ चली जाती हैं। नीचे से ऊपर की ओर चढ़ते समय कोशाओं में इस प्रकार का परिवर्तन होता है कि वे कठिन हो जाया करती हैं। ये चारों स्तर मिलकर बायां त्वक् (अधिकर्म Epidermis) बनती है। वर्ण-युक्त लोगों की त्वचा में वर्णक या रंग द्रव्य होता है, जिसके कारण वे काले या पीले या सफेद दिखाई देते हैं। वर्णक की अधिक राशि मालपीडिभन स्तर में होती है और उत्तरोत्तर कम होती जाती है परन्तु सब से बाहर के कठिन स्तर में भी रंगद्रव्य होता है और उसमें रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्य का वर्ण गोरा या सॉफला या काला दिखाई देता है। रंगद्रव्य के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसकी उत्पत्ति चौथे स्तर की कोशाओं में होती है, और वहाँ से ये रंग के साथ सब से ऊपर के स्तर में चलती है। इस स्थानान्तर में उनमें कुछ परिवर्तन भी होता है जिससे ये कठिन होती है तथा उनकी रंगद्रव्य की राशि कम हो जाती है। चौथे स्तर में रंगद्रव्य अधिक होने से त्वचा का वर्ण अधिक गहरा होगा और कम होने से फीका होगा। परन्तु वर्ण का हमें जो ज्ञान होता है, वह सब से बाहर के स्तर के द्वारा ही होता है। चालत्वत्वा के हन चार स्तरों में रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं। इनका पोषण लसिका द्वारा होता है। नाडियों के तन्तुक (Nervo fibrils) वर्णमय स्तर की सेलों के बीच में फैले हुए रहते हैं। (५) अंकुरमय स्तर (Papillary layer)—इस स्तर में नहीं नहीं अंकुर या कंगरे (Papillae) होते हैं। ये अंकुर तान्त्र धातु, रक्तवाहिनियाँ, स्पर्शपिण्ड (Tactile corpuscles) और नाडियों के तन्तुकों से बनते हैं। हथेलियों और तलुओं में ये अंकुर भोटे, अधिक संख्या में और एक लक्कीर में होते हैं। इनके कारण समान्तर मुण्डरें घन जाती हैं। इनके ऊपर ऊपर के स्तर ढले रहते हैं, जिसके कारण बायां त्वक् में भी मुण्डरे उत्पन्न होती हैं। अंगुलियों के शंखवक्कादि चिह्न इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। आजकल यह बात सिद्ध हो गई है कि एक मनुष्य के हस्ताचर दूसरे मनुष्य के हस्ताचरों से मिल सकते हैं, परन्तु अंगुलियों के छाप नहीं मिल सकते। अतः मनुष्यों की पहचान करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। (६) जालिमय स्तर (Reticular layer)—इस स्तर में जालि के समान तन्तु फैले रहते हैं। इसमें रोमकूप, स्वेदशीथि, तैलग्रंथि और कुछ मांसतन्तु भी होते हैं। ये मांसतन्तु रोमकूपों से संबंधित होते हैं। इनके सिवाय वृष्ण, शिशन और स्तरों की त्वचा में भी मांसतन्तु होते हैं। इस स्तर के नीचे उपत्वचा होती है और उसी में मेद, रक्तवाहिनियाँ और लसिकावाहिनियाँ अवस्थित होकर ऊपर के स्तरों को पोषित करती हैं। अंकुरमय और जालिमय स्तर: मिलकर अन्तस्तक्क

(Dermis) होती है। इसकी मोटाई ऊपर के चारों स्तरों (वृद्धिस्थक) की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का संबंध—जैसे जब दो लेखक एक ही वस्तु का वर्णन करते हैं, तब उस वर्णन में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता या साम्य स्वल्प होना अनिवार्य होता है। वैसे ही दो लेखकों के द्वारा यहाँ पर वर्णित त्वचा के विवरण में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता होना अनिवार्य है। भिन्नता दृष्टिभिन्नता और साधनभिन्नता के कारण और पृक्ता वस्तु-ऐक्य के कारण होती है। अतः प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन में कहाँ तक भिन्नता है और कहाँ तक पृक्ता है इसका विचार किया जायगा। संख्या—चरक और बायम्बट के अनुसार त्वचा के छ: और सुश्रुत के अनुसार सात स्तर होते हैं। आधुनिक सूच्म शारीर के अनुसार त्वचा के छ: स्तर होते हैं। इसलिए संख्या की दृष्टि से चरक का मत ग्राल समझना चाहिए। सुश्रुत ने जो मांसधरा नामक स्तर वर्णन किया है, वह स्तर चरक और बायम्बट ने नहीं दिया है अर्थात् यही स्तर त्वचा के बाहर का माल्झम होता है और उसके निम्न कारण हैं। (१) इसके नाम से यह स्तर मांसमय याने पैशीमय (Muscular) माल्झम होता है। (२) जो उदाहरण दिया है, उसका विश्लेषण करने पर यही यात स्पष्ट होती है। (३) मांसधरा त्वचा की मोटाई बहुत अधिक है। इतनी अधिक मोटाई त्वचा के किसी भी स्तर की नहीं हो सकती। (४) इस स्तर में जिन रोगों का अधिष्ठान वताया गया है, वे रोग आयुर्वेद में मांसजन्य वतलाये गये हैं—प्रकृष्टिवा दोपाः०—प्रदृष्ट्युदनीमासप्ररोहानान्यन्ति। (सुश्रुत, नि० २)। वायुः प्रकृष्टिवो गुदमग्नितोऽग्नेः द्रग्नशुले वा गांसशोषिणे प्रदृष्ट्य पिटकां जनयति। (भग्नदरनिदान ४)। ये दोनों रोग यथापि मांस में नहीं होते तथापि त्वचा में भी नहीं होते और मांसल स्तर के साथ धनिष्ठ संबंध रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। संक्षेप में मांसधरा स्तर त्वचा के बाहर का है और एक विशेष उदादेश्य से (उदरवेधन की दृष्टि से) उसका समावेश सुश्रुत में त्वचा के स्तरों में किया गया है। स्तरों का समन्वय—प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन के अनुसार जब स्तरों की संख्या समान हो जुकी है तथा कम भी एक है, तब क्रम के अनुसार एक स्तर दूसरे का पर्याय मानने में कोई खास आपत्ति नहीं हो सकती। तथापि यही कार्य प्राचीन स्तरों के लक्षणों की तुलना अर्वाचीन स्तरों के साथ करके किया जाता है। पांचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है। संवेदना का कार्य इस त्वचा से अधिक होने के कारण इसका यह नाम रखा गया होगा। आधुनिक खोज के अनुसार स्पर्शपिण्ड तथा नाडियों के तन्तुक अंकुरमय स्तर में होने के कारण संवेदना का कार्य इसी स्तर से होता है। दग्ध में जब इसके ऊपर के सब स्तर जल जाते हैं और इसको भी कुछ हानि पहुँचती है (तीसरी अवस्था का दग्ध, प्रथमखण्ड पृष्ठ ६६ देखो), तब अत्यन्त तीव्र स्वरूप की वेदना होती है। इस स्तर में होने वाले जो रोग वताये गये हैं, वे भी इसी स्तर में होते हैं। कुछ के संबंध में लिखा है—

In the earliest skin lesions infiltration of the papillary layer of the corium produces erythe-

matous patches etc *Tropical medicine* by Rogers
and Megaw

विषयक के सर्वध में लिखा है—microscopic examination of the skin of the affected part shows that the cutis and subcutaneous tissues are swollen, etc *Taylor's Practice of medicine*

इससे यह स्पष्ट होगा कि वेदिनी त्वचा को Papi-
lary layer का पर्याय मानने में कोई अप्रतिसिद्धी नहीं है।
रोहिणी त्वचा वेदिनी के नीचे होने के कारण उसकी
Reticular layer समझ सकते हैं। इसमें रक्त की
बद्धिकता के कारण (गुड़ा समरियना लिखा रोहिण्य शुद्ध
शोयिवम्) तथा त्वचा छिल जाने पर या जल जाने पर इसी
स्तर से रोहित या रोपित होने के कारण इसका रोहिणी
नाम सार्थक है। इसी स्तर में उपत्वचा (Subcutaneous
tissue) का भी समावेश करना चाहिए। चौथा स्तर तांद्रा
का है। इसमें इवेटकुट का अधिकान बताया गया है।
इवेटकुट तब होता है, जब त्वचागत रंगद्रव्य की उत्पत्ति
बढ़ हो जाती है (प्रथमस्तरण पृष्ठ दृष्ट देखो)। इस रंग
का मुख्य स्थान वर्णमय स्तर है। इसलिए तांद्रा स्तर
Malpighian layer का पर्याय माना जा सकता है।
प्रथम त्वचा अद्यभासिती नामक है। इसी से मनुष्य के वर्ण
का ज्ञान होता है। यद्यपि रंगद्रव्य स्तर से अधिक माल्डी-
विश्वन स्तर में होता है तथापि तद्रत रंगद्रव्य का प्रवृद्ध
उसके ऊपर के स्तर अपारदर्शक होने के कारण नहीं हो सकता। सब से बाहर की त्वचा में रंगद्रव्य की ओर कुछ
भी राशि होती है, उसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है।
इसके सिवाय उदकथरण का उसका जो धर्म वर्णन किया

है, वह भी उसकी कटिनता के कारण स्पष्ट हाता है। इसलिए अवभासिनी से Horney layer समझना चाहिए। बाकी स्तर बाकी के पर्याय समझने चाहिए, जैसे—लोहित Stratum lucidum का, और शेता Stratum granulosum का। अब भिन्नता जो मालूम होती है, वह प्रत्येक स्तर की मोटाई में है। वास्तव में अवभासिनी की मोटाई नीचे के तीनों स्तरों की संयुक्त मोटाई से अधिक होनी चाहिए, परन्तु यहाँ पर वह सदर से कम बढ़ताई है। मोटाई का यह प्रश्न अगर छोड़ दिया जाय तो खूब की प्राचीन सूख्म रचना आधुनिक प्रत्यक्ष सूख्म रचना के साथ बहुत कुछ मिलती जाती है।

वन्धु के प्राचीन और अन्तिम स्तरों का तुलनात्मक कोडक		
१ अवभासिनी	Horney layer	वादा त्वचा
२ लेहिता	Stratum lucidum	Epidermis
३ खटा	Stratum granulosum	अधिकर्म
४ ताज्जा	Malpighian layer	
५ वेदिनी	Papillary layer	अन्तस्तवचा
६ रोहिणी	Reticular layer	Dermis सर्व

५ मालधरा *Sabutaneous tissue and muscles*
कविराज गणनाथ सेरे जी इत्याके स्तरों के संबंध में प्रत्यक्षजारी म हो स्थानों में हो सत प्रदर्शित करते हैं—

प्राणशुद्धि दृष्टवा धीरेषैव स तानिश्च सत् पूर्वा रस्तो मन्त्रन्ते
हातु प्रयत्ना भवत्तासिनो नाम, तस्य बाह्यत्वमागेनाऽप्ते ।
भवत्तासानु अन्तर्वत्वमोऽनुप्रवेश ॥ (प्रत्यक्षशारीरमस्तावना)
इसका मतटिं यह है कि भाचीन अवभासिनी स्तर में
आधुनिक चार स्तर समाविष्ट होते हैं और शेष पाँच भाचीन
स्तर आधुनिक शेष दो स्तरों में समाविष्ट होते हैं । फिर
प्रत्यक्षशारीर के तीसरे विभाग के इन्द्रिय घण्ठन में लिखते हैं—
“—प्राचो मतेन तु अन्तर्वत्वं (स्वप्नश्चामहिनाय) वृच्छा
वोदा वा विभाग । तत् दुष्प्रमत्ते या लोहिता नाम (चरकमौ
सम्भार), सैन भूरुरियोनि दुरुचम् । या तु दुष्प्रवत्य पचमी
वेदिनी नाम सैव चरकस्य कषी (वस्या लिनायां ताम्भवि, अथ इन
हम प्रतिशति) वाप्तमस्य च प्राणघरा । सेव जानिन्या, इवदा
स्याया वा, अभिन्ना प्रतिभावि, नानीप्राणानां स्पर्शीपिडानि
सहितार्थं तत्रैव याहुल्यार्थावाऽ । या तु सुमतर्प्य मांसपथा,
सातापि स्वप्नश्चामाद एव, रोममूलतानामपि यविद्वाना वा भीत
तन्मूला वत् सद्मावात् । अग्रस्ता शारीनविमाणीकरणा त्वची
दृष्टासमज्ञेन व्यारदाननु दुश्मेत् वरकुण्डागदिति तस्य
कृपरथनगमावत् ॥ इसका अनिश्चय यह है कि सुश्रुत की
लेहिता त्वचा, जो धरक की अद्यघरा त्वचा के बराबर है
आधुनिक लंबुरमय स्तर (Papillary layer) की प्रतिनिधित्व
है और सुश्रुत की वेदिनी लादिमय (Reticular) स्तर की
प्रतिनिधि है । वाकी स्तरों का घण्ठन सूख्य न होने के कारण
ठीक विशिष्ट नहीं किया जा सकता । इस तरह संरूपों
शारीर को ढाँकने वाली वाद्य त्वचा का घण्ठन करके
अब धारारान्तरं विविध धंगों को ढाँकने वाली
या उनको एक दूसरे से पृथक् करने वाली आध्यन्तरीय
त्वचाओं (कलाओं) का घण्ठन करते हैं—

कलाः खल्पति सप्त सम्यन्ति धात्याशयान्तर
मर्यादाः ॥४॥

भैवतस्थान—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ।

तथा धातुहि भासेपु छिद्यमनेपु दश्यते ॥५॥

स्नायुभिष्ठ प्रतिच्छन्नान् सन्तताभ्य जगयुणा ।

(कलासर्वा और स्वरूप—) धातुओं के अवस्थान प्रदेशों
के दरमियान मयोद्वायुत बहाएँ भी सात ही होती हैं ॥३॥
जैसे काठ को छिलने से सार भाग दिखाई दता है, यसे ही
मास (आवश्यक पदार्थ) को छिलकर निकालने से धातु
दिखाई देती है ॥४॥ (आचार्य) इन कलाभागों को सत्याग्रह
(तन्त्रों) से प्रतिष्ठित, जराणु (सद्वा आवरण) से
ब्याप्त और इलमा से निर्मित समशक्ति हैं ॥५॥

वक्ष्य—जीये सब में कलाओं की संख्या अब ब्यारत्या वर्धन की है। पर्यावरण श्लोक में कलाओं की विवेचन तथा रक्षणात्मक कला की अनुर्नगृहदत्ता बतलाई है। इस श्लोक में कलाओं का स्वरूप वर्णन किया गया है। खट्ट—यह

१ भवनि २ भवनि खात्र ३ भरयने—भावाशात्तेज
जात्य य कोइस्तपिलिहुति । देहोम्या विपक्सु सा कलेत्यभि
धीदते हिं कविरथिक पठत

अथवा निश्चयार्थ या नियमार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रयोग से यह अर्थ निकलता है कि त्वचाओं की संख्या सात है इसलिए कलाओं की संख्या सात नहीं बतलाई गई है, परन्तु वास्तव में ही उनकी संख्या सात है, न इससे कम है न अधिक है। कलाओं के नाम देखकर उनमें मूत्रधरा कला नहीं है, मज्जाधरा कला नहीं है इत्यादि शङ्का उत्पन्न हो सकती है। इसके निराकरण के लिए 'खल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। धात्वाशयान्तरमर्यादाः—दधतीति भाववो रसरत्तमां-तादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि रसरमण्णा दधतीति भाववः, तेषामाशया अवस्थनप्रदेशा धात्वाशयाः, तेषामन्तरेषु मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः ॥ (ढलहण) । अष्टांगसंग्रहटीकाकर इन्दु धातु और धात्वाशय पृथक् पृथक् मानते हैं—भातूनां रक्तादीनामाशया वानि स्तोत्रासि तेषां दृष्टोर्धत्वाशययोर्मध्ये यः क्लेद इत्यादि ॥ (इन्दु) । इस तरह यद्यपि अर्थ करने में कुछ भिन्नता मालूम होती है तथापि कला की व्याख्या में कोई विरोप फर्क नहीं होता। दोनों का मतलब यह है कि कला शरीर के धातुओं में या आशयों में पृथक्त्व या विभिन्नता करने वाला शरीरस्य एक उपांग है। तथा धातुहि मांसेषु—यहाँ पर धातु से रक्तधातु का वोध होता है—वृत्ताद्यथाभिप्रहतात् ज्ञारिणः ज्ञारिमावहेत् । मांसादेवं चतात् द्विष्ठं शोणितं संप्रसिन्चते ॥ तथापि उससे सब धातु अभिप्रेत हैं। मांस से यद्यपि मांस का वोध होता है तथापि वह काष का प्रतिनिधि होने से उससे आवरण का अर्थ अभिप्रेत है याने वह पर्याय से कला के लिए प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैसे वृत्त का सार याने धारक पोषक पदार्थ देखने के लिए ऊपर का काष या आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उसका दर्शन होता है, वैसे ही शरीर के धारक पोषक पदार्थों को देखने के लिए उनके ऊपर का आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उनका दर्शन होता है। अर्थात् शरीर के सभी धातुओं के ऊपर आवरण होता है और यही आवरण कला कहलाते हैं। स्नाशुभित्ति इत्यादि—इस श्लोक में प्रतिच्छब्द, सन्तत और वेदित ये जो तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे पृथक् होने पर भी एक ही अर्थ प्रदर्शित करते हैं और वह है निर्मिति। कलास्प जो आवरण हैं वे स्नायुओं से, जरायुसद्वा जाल से या श्लेष्मा से निर्मित हैं याने स्नायु, जरायु और श्लेष्मा ये कला के उपादान कारण हैं। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कला में तीनों उपस्थित हो। कोई कला श्लेष्मा से, कोई स्नायुओं से, कोई जरायु से और कोई इनके मिश्रण से निर्मित होती है। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार स्नायुप्रतिच्छब्द को Fibrous, जरायुसंतत को Veinous और श्लेष्मा से वेदित को Mucoous कह सकते हैं। संक्षेप में शरीर में जो विविध कलाएँ होती हैं, उनका स्वरूप स्नायवीय, जरायु सम या श्लेष्मल होता है। विदुः—आचार्या इत्यथाहर्यम् ।

अब इसके बाद सात कलाओं के नाम तथा कर्म बतलाये जाते हैं—

तासां प्रथमा मांसधरा नाम; यस्यां मांसे

सिरास्नायुधमनीस्तोतसां प्रताना भवन्ति । ७॥

भवति चात्र—

यथा विसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः ।

भूमौ पठङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥८॥

(मांसधरा कला—) इन कलाओं में प्रथमा मांसधरा नामक कला है, जिस मांसधरा के मांस में सिरास्नायुधमनी स्तोतसों की शाला-प्रशालाएँ होती हैं ॥७॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, कीचड़ युक्त जल में स्थित कमलनाल के तन्तु भूमि में (अधिष्ठान करके कीचड़ में) चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही (मांसधरा कला का आधार करके तन्तु) मांस में सिरादि फैलते हैं ॥८॥

वक्तव्य—यस्यां मांसे—यस्यां कलायामधिष्ठिते मांसे सिरादीना प्रताना विस्तारा भवन्ति । (ढलहण) । भूमौ—भूम्यामिवाधिष्ठाय । (इन्दु) । यथा इत्यादि—सातवें सूत्र का अर्थ विसमृणाल के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है—यहाँ पर विसमृणाल सिरा प्रतानों के लिए, पक्षोदक मांस के लिए और भूमि मांसधरा कला के लिए हैं। तथा मांसे सिरादयः—इसका अर्थ 'यस्यां मांसे' के समान है। ढलहणाचार्य लिखते हैं—तथा प्रथमकलायां मांसरथाः सिरादयो भर्वन्ति । इसका अर्थ 'मांसस्य सिरादि मांसधरा में फैलते हैं' ऐसा हो सकता है। परन्तु यह अर्थ पूर्व अर्थ का विरोधी है। (हाराणचंद्र) । 'यस्यां मांसे' के स्थान में 'यस्यां मांसगतानाम्' ऐसा पाठ देते हैं। इस पाठ का अर्थ यह होता है कि सिरादि के प्रतान मांसधरा कला में होते हैं। परन्तु कला अल्प होने से तथा 'यथा हि सारः काषेषु' इस दृष्टान्त से सिरादि का विस्तार कला की अपेक्षा तदधिष्ठित मांस में होना उचित मालूम पड़ता है और प्रत्यक्षतया भी स्थिति वैसी ही है, इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है।

द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतस्थ सिरासु यकृत्प्लीहोश्च भंवति ॥९॥

भवति चात्र—

वृत्ताद्यथाभिप्रहतात् ज्ञारिणः ज्ञारिमावहेत् ।

मांसादेवं चतात् च्छिप्र शोणितं संप्रसिन्चयते ॥१०॥

(रक्तधरा कला—) दूसरी रक्तधरा नामक है, वह मांस के भीतर होती है; उसमें विशेषतया सिराओं में, और यकृत तथा प्लीहा में रक्त होता है ॥९॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, दूधवाले वृत्त को प्रहार करने से दूध निकालता है, वैसे ही (मांस पर) चत करने से मांस से तुरन्त रक्त निकलता है ॥१०॥

वक्तव्य—मांसस्याभ्यन्तरतः—मांस में जो रक्त रहता है, वह मांसधरा कला में रहता है। शरीर में रक्त का प्रतिरूप बन्द नालियों में से होता है। ये नालियाँ तीन प्रकार की हैं—१ धमनि (Artery), २ सिरा (Vein), और स्तोत्रस्या केशिका (Capillary)। मांस तक रक्त धमनी द्वारा आता है, मांस से रक्त सिरा द्वारा चला जाता है और मांस के तन्तु तन्तुओं में रक्त केशिकाओं द्वारा फैलता है। अर्थात् मांस के भीतर जो रक्त होता है, उसका आधार केशिकाओं

१ चतविं. २ क्षीरमावहेत्. ३ प्रतिरूपते.

होती है। विशेषज्ञ इत्यादि—विशेष स्थानों में सिरा, यहूँ और ऐंड्रा तीनों का उल्लेख किया है—विशेषकथा निरा प्लॉइवल्ट्स। (बृष्टगांवग्रह)। सिरा से यहाँ पर रक्तवह नालियाँ याने धमनी और सिरा अभिप्रेत हैं। यहक्स्लीदोश—इन दो अङ्गों का विशेष उल्लेख बरने का एक कारण रक्तोत्तर्क के साथ उनका सम्बन्ध (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७ देखो) है। इसका विचार जागे कला के अर्थ के सम्बन्ध में किया जायगा। दूसरा कारण यह है कि शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा इन अङ्गों में रक्त की अधिक राशि रहती है, याने ये जहाँ रक्त के भाष्टार होते हैं—

The spleen acts as a store house of blood. The power of acting as a store house of blood is probably shared by a number of abdominal organs, e.g. The intestine and liver Halliburton's Physiology

इन अङ्गों में रक्त बैचल केशिकाओं में नहीं, वहें वहें शोणितावकासों (Sinusoides) में रहता है। चीरिण—चीरी छूट वे हैं जिनके ऊपर आवाहत या चत करने से दूषके सफेद रस बहने लगता है, जेसे—गूलर, चट इत्यादि। प्रत्येक घृत के ऊपर चत करने से उससे रस निकलता है, परन्तु वह पानी के समान होने से उसकी ऊपर जल्दी ध्यान आकर्षित नहीं होता। चीरी घृत पर जरा सा चत करने से उससे सफेद रस बहने लगता है जिससे उसकी ऊपर अधिक ध्यान आकर्षित होता है और इसलिए चीरी घृत का दृश्यान्त दिया है। चग्गु—रक्तधारा कला में चत करने से या होने से, रक्तधारा कीला विदीर्ण होने से।

दृश्यान्त मेदोधरा नाम, मेदो हि सर्वभूतानामुद्-रस्यमण्डस्थिपु च, महसु च मज्जा भवति ॥ ११ ॥

भवति चात्र—

स्थूलादिथिपु विशेषेण मज्जा त्वय्यन्तराश्चितः ।

अथेतरेण सर्वेषु सरक मेद उच्यते ।

शुद्धमांसस्य यः क्षेत्र सा चसा परिकीर्तिता ॥ १२ ॥

(मेदोधरा कला)—सीसी मेदोधरा नामक कला है, मेद सब प्राणियों के उदर में तथा ढोकी हड्डियों में होता है, और वही हड्डियों में मज्जा होती है ॥ १ ॥ यहाँ पर लोक है—विशेष करके वही हड्डियों के भव्य का आवश्यकरक मज्जा होती है और इतर (छाटी) सब हड्डियों में (जो मेद होता है, वह) सरक मेद कहलता है। शुद्ध मास का जो स्नेह होता है, वह चसा कहलता है ॥ १२ ॥

दक्षत्य—उदरथम्—मनुष्यशरीर में चरवी का न्यूनाधिक संबन्ध हमेशा रहता है। जब मनुष्य स्थूल होने लगता है, तर यही संबन्ध अधिक होता है। यथापि स्थूल मनुष्य के प्रत्येक अंग में चरवी अविक इकट्ठा होती है, तथापि उसकी अधिक राशि उदर, चूत और स्तनप्रदेश में होती है—मेदोसादित्विडलान्चनशिक्षुरस्तन । अथेषवयो लातो योरोदायित्विस्तु उच्यते ॥ (चरक, ८०) । सर्व शरीर में यह संबन्ध अधिकतर चवाके नीचे की घात (Sob-Subcutaneous tissue) में होता है। उदर में इस स्थान के अतिरिक्त उदराहा में उदरावरण के (Peritoneum) एक

हिस्से में भी चरवी इकट्ठा होती है। यह हिस्सा चपा (चरवी) का बहन करने के कारण घपावहन (Omentum) कहलाता है—पश्चदया दोकानानि—तुद्रान्त च स्थूलान्तं च, घपावहन लेति । (चरक, शा० ७) । घपावहन में चरवी का सब से अधिक संबन्ध होने के कारण उदर का उल्लेख वहाँ किया गया है। मेद, मज्जा और वसा—वाहवें लोक में इनका आपम में भेद प्रदर्शित किया है। मनुष्यशरीर में स्नेह (चरवी) मज्जा में (Bone marrow), त्वचा के नीचे, मास में और उदर के भीतर चपावहन में उपस्थित रहता है। मज्जा के दो भेद होते हैं—एक पीत मज्जा और दूसरी रक्त मज्जा। आयुर्वेद में शरीरगत स्नेह (चरवी) के लिए मज्जा, वसा, मेद और रक्तमें इस तरह चार शब्द प्रयुक्त होते हैं। वही हड्डियों में मज्जा होती है, यह मज्जा पीली होती है, इसलिए मज्जा की Yellow marrow कहना चाहिए। धीरी हड्डियों में लाल मज्जा होती है, इसलिए सरक मेद से Red marrow समझना चाहिए। शुद्ध मास अर्थात् बैचल मास का जो स्नेह है वह चसा है, इसलिए चसा से Fat content of the flesh समझना चाहिए। अथ मेद जो रहा है, उससे घपावहन और त्वचा के नीचे की चरवी समझ सकते हैं। राशायनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मेद और चसा शुद्ध चरवी के रूप में होते हैं, पीली मज्जा में चरवी का प्रमाण बहुत होता है और सरक मेद या लाल मज्जा में चरवी बहुत कम होती है। आयुर्वेद में चतुर्विधि स्नेह होता है—उत्तरैत चसा मज्जा स्नेहोऽस्तुक्षयत्वितः । इसमें मेद का उल्लेख नहीं है, अतः उसका समावेश चसा में किया जाता है। यहाँ पर उदरस्तर मेद के साथ धीरी हड्डियों और उदर के मेद का जो सम्बन्ध जोड़ दिया है वह चसुन्त दीप नहीं है। उदर का मेद शुद्ध चरवी है और धीरी हड्डियों के रक्तमाल में चरवी अवलोप होते हैं वे रुधिरोत्सोष (Erythroblast) होते हैं, और इन्हीं के कारण उसमें रक्तिमा आ जात है। लोक में इसके लिए सरक मेद जो नाम दिया है वह एवं इष्ट दीक है।

चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम, सर्वसंविधु प्राणभूतां भवति ॥ १३ ॥

भवति चात्र—

स्नेहाद्यके यथा हाते चक्रं साधु ग्रदत्ते ।

सन्ध्यः साधु वर्तन्ते सत्रिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥ १४ ॥

(श्लेष्मधरा कला)—चीरी श्लेष्मधरा नामक कला है, जो प्राणियों के सब जीवों में होती है ॥ १३ ॥ यहाँ पर लोक है—जैसे, अथ के ऊपर तैल लगाने से पहिया अच्छी तरह चलता है, वैसे ही (श्लेष्मधरा कला से निकले हुए) लेमा से दिस संधियों अच्छी तरह (मुदने का) काम करती है ॥ १४ ॥

वक्तव्य—लापु ग्रदत्ते—अथ पर तैल लगाने से चाक में आवाज कम होती है, अच्छी और चाक में धर्षण कम होता है, अच्छ कम घिरता है, अधिक काठ तक याने उसकी पैण आयु तक काम देता है और गाढ़ी लंबीनों में कम कठ लगता है तथा गाढ़ी अधिक सेझी से चलती है। लापु

वर्तते—श्लेष्मधरा कला से निकला हुआ श्लेमा जोड़ों के भीतरी अंगों पर लिप्त होने से जोड़ों में गति के समय आवाज नहीं होती, घर्षण नहीं होता, उण्ठता नहीं पैदा होती, अंग कम घिसते हैं, अधिक काल तक काम देते हैं, उनको मोड़ने में कम कष्ट होता है और प्राणी तेजी से चल फिर सकता है या रुक्त कर सकता है । सर्वसन्ध्यः—शारीर में दो प्रकार की संधियाँ होती हैं—स्थिर और चैटावान्—संभयतु द्विभावचेषावन्तः स्थिराशः । (सुश्रुत) । जो स्थिर हैं उनमें गति नहों होती । इसलिए सर्वसंधियों से सर्वचेषावान् संधियों को ग्रहण करना चाहिए ।

चैषावान् संधियों को खोलने से उनके ऊपर पृक भाटो-पिका (Capsulo) मिलती है, जिसके भीतरी पृष्ठभाग पर एक पतली चमकदार स्थिरी (Synovial membrane) लगी रहती है । इस स्थिरी से एक चिपचिपा सा तरल (Synovial fluid) निकलता है, जो जोड़ में काम करने वाले सभी उपांगों को तर रखता है और वही काम देता है, जो यन्त्रों में या चक्रों में रोगन देता है ।

पञ्चमी पुरीपधरा नामः याऽन्तःक्षोषे मलमभिविभजते पकाशयस्था ॥ १५ ॥

भवति चात्र—

यकृत्समन्तात् कोष्टं च तथाऽन्त्राणि समाधिता ।

उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥ १६ ॥

(मलधरा कला—) पांचवीं पुरीपधरा नामक कला है जो कोष्ट के अन्दर पकाशय में स्थित हुई मल को पृथक करती है ॥ १५ ॥ यहाँ पर श्लोक है—यकृत् और कोष्ट (स्थ अंगों) के समीपवर्ती अंतीं में समाधित हुई मलधरा कला उण्डुकस्थित मल को (जल से) विभक्त करती है ॥ १६ ॥

वक्तव्य—अन्त्राणि—इससे स्थूल और छोटे दोनों का ही बोध हो सकता है तथापि मलविभजन का काम केवल स्थूलान्त्र में होने के कारण 'अन्त्राणि' से स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिए । उण्डुकस्थं विभजते मलम्—मुखद्वारा सेवन किये हुए अन्न का पाचन तथा सात्म्यभाग का प्रचूपण छुदान्त्र में होता है । जब तक सात्म्यभाग और मलभाग एकत्र रहता है, तब तक उस द्वारा मल नहीं कह सकते हैं । छुदान्त्र के अन्त तक सात्म्यभाग का प्रायः सब अंश प्रचूपित होता है और स्थूलान्त्र में केवल मल और जल ये दो ही भाग आते हैं । ऐसी अवस्था में स्थूलान्त्र का कार्य केवल मलस्थित जल को प्रचूपित करने का होता है । यदि स्थूलान्त्र के प्रारम्भ से गुद तंक मल उचित समय में पहुँच जाय तो ५० प्रतिशत जल का शोपण हो जाता है । यदि मलावरोध के कारण अधिक देर तक मल अंत में रह जाय तो इससे अधिक पानी का प्रचूपण होकर मल कड़ा हो जाता है और उसकी गांठे बनती हैं । संत्रेप में उपर्युक्त में पहुँचे हुए मल का विभाग जल से किया जाता है और यह कार्य स्थूलान्त्र के अन्तरावरण से होता है । उण्डुक—पृच्छवे अध्याय के छुटे सूत्र का वक्तव्य देखो ।

पष्टो पित्तधरा नाम या चतुर्विधमेवपानमुपभुक्तमाशयात् पञ्चयुतं पकाशयोर्पास्थितं धारयते ॥ १७ ॥

भवति चात्र—

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् ।

तजीर्यनि यथाकालं शोपितं पित्ततेजसा ॥ १८ ॥

(पित्तधरा कला—) छुटी पित्तधरा नामक कला है, जो आमाशय से निकलकर पकाशय की ओर जाने के लिए आये हुए उपभुक्त चारों प्रकार के अन्नपान को धारण करती है ॥ १७ ॥ यहाँ पर श्लोक है—मनुष्यों के अंतीं में पहुँचा हुआ अशित, खादित, पीत और लीढ़ (चारों प्रकार का उपभुक्त) अन्न उचित काल में पित्त के तेज (क्रिया) से जीर्ण हो जाता है (तथा) शोपित (भी हो जाता है) ॥ १८ ॥

वक्तव्य—चतुर्विधम्—अशित, खादित, पीत और लीढ़ । पीत—दूध, पानक हृत्यादि पीते के पदार्थ । —लीढ़—कुछ गाढ़े पदार्थ जिनके लिए चाटने की आवश्यकता होती है । यथा—श्रीखण्ड, रघुदी, अनेक प्रकार के पाक और अक्खेह । अशित—पूरी, भात हृत्यादि पदार्थ जिनके लिए कुछ चर्वण की आवश्यकता होती है । खादित—लड्डु, मोदक तथा अन्य कठिन पदार्थ जिनके लिए अधिक चर्वण की आवश्यकता होती है । कोष्ट—इसमें वक्तव्युहा और उदरगुहा में होने वाले सभी अंगों का समावेश होता है—थानान्यामान्निपक्षानां शूवस्य रधिरस्य च । हृष्णुकः फुफ्फुस्थ कोष्ट इत्यमिधीयते ॥ (सुश्रुत, च०) । यद्यपि कोष्ट की व्यासि हृत्यनी अधिक है तथापि उसके प्रयोग के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह प्रायः एक अंग के लिए प्रयुक्त होता है और उस अंग का निश्चय संदर्भ के अनुसार कर लेना चाहिए । यहाँ पर कोष्ट से छुदान्त्र अभिस्रेत है । तजीर्यति इत्यादि—तच्चुर्विधमत्रं पित्ततेजसा यथाकालं जीर्यति शोपितं च भवति । जीर्यति—पाचक रसों के कार्य से सेवन किये हुए पदार्थों का अनेक अणुगौणिकों में विश्लेषण होने की क्रिया को जरण या पचन (Digestion) कहते हैं । पित्ततेजसा—पाचक रसों की क्रिया से । पित्त अग्नि रूप होने के कारण तेज शब्द का प्रयोग किया गया है । शोपित—जब अन्न छुटे छुटे घौंगिकों में विश्लेषित होता है, तब उसका शोपण (Absorption) आन्त्र की दीवाल के श्लेष्मल स्तर से होता है । यथाकालम्—उचित काल में । साधारणतया सेवन किया हुआ अन्न पाचित और शोपित होकर मल के रूप में स्थूलान्त्र में साढ़े चार घण्टे के बाद आता है । अर्थात् पाचन और शोपण के लिए साढ़े चार घण्टे का औसत काल होता है । आयुर्वेद में पाचन और शोपण का काल ३—६ घण्टे का बताया है—यामसध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत् । यामसध्ये रसोत्पत्तिर्मायुग्मादलक्ष्यः ॥ (योगरत्नाकर) । पित्तधरा कला का वर्णन अष्टांगसंग्रह में वहुत स्पष्टतया किया है—पृष्ठी पित्तधरा नाम पकाशय-मध्यस्था । सा श्वन्तरग्नेरधिष्ठानवयाऽमाशयाद् पकाशयोसुखमन्नं वलेन विधार्य पित्ततेजसा शोपयति पचति पक्तं च विमुचति । दोपाधितिवा तु दोर्वल्यादमेव । ततोऽसावन्नस्य व्यहणाद् पुनर्वैरण्यसंशा । वलं च तस्या पित्तमेवान्यभिधानमतः साऽस्तिनो—पत्तमेवपूर्विहितकैवल्यम् शरीरं वर्तयति ॥ (शास० ९) । इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पित्तधराकला की मर्यादा आमाशय से पकाशय तक होती है । इसके पश्चात् मलधरा कला की मर्यादा प्रारंभ होती है । कुछ लोग मलधरा

body. Uharak also has clearly stated that, 'शरीरावयवात्सु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिद्विग्रात्, अविस्तीक्ष्मात्, अनीन्द्रियताप्ता' । (चरक, प्रा० ७) ।

इसका अभिग्राय यह है कि शरीर की सेलों के समान कलाएँ भी सूक्ष्म, अव्यक्त, परमाणु स्वरूप होती हैं, जैसे कि चरकाचार्य 'शरीरावयवात्सु' वचन से कहते हैं । चरक के जिस वचन के आधार पर शास्त्री जी कलाओं का सूक्ष्मत्व और अतीनिद्रियत्व सिद्ध करना चाहते हैं वह वचन कलाओं की सूक्ष्मता और अतीनिद्रियता निम्न कारणों से सिद्ध करने में अर्थ मालूम होता है । (१) संपूर्ण चरक में कलाओं का निदेश कहीं भी नहीं मिलता, अर्थात् जिस अध्याय में यह वचन दिया गया है, उस अध्याय में कलाओं का निदेश नहीं है यह कहने की आवश्यकता नहीं है । इसलिए यह वचन कलाओं की इष्टि से अप्रसुत और गैरलागृह है । (२) चरक के जिस अध्याय में यह वचन मिलता है, वह अध्याय (शरीरसंख्यावाशारीर) सुश्रुत के शरीरसंख्याव्याकरण शारीर के दृष्टर का है । इसलिए यदि उसमें सुश्रुत के क्रमानुसार त्वचा के नीचे कलाओं का समावेश है ऐसा मान भी लिया जाय तब इस वचन से कलाओं का सूक्ष्मत्व सिद्ध न होकर उनका स्थूलत्व सिद्ध होता है, क्योंकि इस वचन के पूर्व निम्न वचन मिलता है—इन शरीरावयवसंरक्षण यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा । हन दोनों वचनों का समन्वय करने से यह अर्थ होता है कि 'अच तक शरीरावयवों की जो संख्या बतलाई गई है, वह उनके स्थूल रूप के आधार पर बतलाई है । यदि उनके परमाणुओं का विचार किया जाय तो वे अवयव अपरिसंख्येय हो जाते हैं' । यदि वे वचन कलाओं के लिए लागृह करने हैं तो उनका अर्थ निम्न प्रकार से हो सकता है—'कलाओं की जो सात संख्या बतलाई है वह उनके स्थूल स्वरूप के आधार पर है, यदि उनके परमाणुओं (सेलों) का विचार किया जाय तो वे अवयव अपरिसंख्येय हो जाते हैं' । कलाओं की संख्या नियमित रूप से सात होती है—कलाः प्लवपि सप्त संभवन्ति । इस संख्या से यह स्पष्ट होता है कि कला इन्द्रियग्राह अवयव है और उसकी परिगणना निश्चिति से हो सकती है । हन सब वातों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि कला शरीरगत एक स्थूल अवयव है और शास्त्रीजी का कथन कला के संबंध में अर्थार्थ है, परन्तु कलाओं के परमाणुओं (सेलों) के संबंध में ठीक मालूम पड़ता है । अब कलाओं के समन्वय में जो चार सूत्र ऊपर दिये गये हैं, उनका विचार किया जायगा । संस्कृत में अल्प और स्वरूप ये दोनों शब्द परमाणुस्वरूप सूक्ष्म पदार्थों के लिए प्रयुक्त न होकर स्थूल पदार्थों का धोड़ा परिमाण वताने के लिए प्रयुक्त होते हैं—स्तोकाल्प-चुल्काः । (अमरकोप) । कलाओं के लिए स्वरूप या अल्प शब्द सापेक्ष इष्टि से प्रयुक्त हुआ है । अन्य अवयवों के सुकावले में कला पतली और छोटी होने से वह अल्प या स्वरूप कहलाती है । तीसरे सूत्र में ढल्हाणाचार्य कला के लिए अव्यक्त शब्द का प्रयोग करते हैं । यह शब्दप्रयोग 'यथा हि सारः 'काष्ठेषु' इस श्लोक की टीका में ।

मिलता है—उसामन्तस्थिततेनाप्रत्यक्षाणामनित्वं प्रत्युपसानं प्रमाणं निर्दिष्टाऽ—भवत इत्यादि । एतेन कलासाप्तिपृथ-ग्रातृप्रात्माकार्येण्याद्यत्वमेव कलानामस्तित्वं साधितं भवेत् ॥ हमसे यह स्पष्ट होगा कि कला की अव्यक्तता वह अन्तर्निर्गृह होने के कारण है, सूक्ष्मता के कारण नहीं है । जीवितावस्था में कला की अन्तर्निर्गृहता के कारण उसकी अव्यक्तता उसके कार्य के द्वारा अव्यक्त की जाती है, यही उल्हासाचार्य के वचन का फलितार्थ है । इसमें कला की सूक्ष्मता का तनिक भी संवंध नहीं है । हाराणचन्द्र का वचन मांसधरा कला के संबंध में है, साधारण नहीं है । हृसके सिवाय उस वचन का अर्थ वह नहीं होता कि वह कदापि चञ्चुविपयी नहीं होती । यदि विचार करके उसकी खोज की जाय, उमरके लिए प्रयोग किया जाय तो वह चञ्चुविपयी हो सकती है । इस तरह कलाओं की सूक्ष्मता और अतीनिद्रियता सिद्ध करने के लिए शास्त्रीजी ने जो जो प्रमाण पेश किये हैं, वे सब सूक्ष्मता को सिद्ध न करके कलाओं की स्थूलता को सिद्ध करते हैं । व्यरूप और प्राकार—इसका सम्बन्धज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस अध्याय में और जिस क्रम में कलाओं का विचार हुआ है, उसके ऊपर ध्यान देना परमावश्यक है । इसके सुग्रावयोग के लिए प्राप्ताद का दृष्टान्त दिया जाता है । वैसे किसी प्राप्ताद का वर्णन करते समय उमरके प्राकार का वर्णन प्रथम होता है, पश्चात् उमरके अव्यवधान भित्तियों (Partition walls) का वर्णन होता है, पश्चात् उन प्राचीरों से वने हुए सभागृह, जानगृह, शयनगृह, भाण्डार-गृह इत्यादि विविध गृहों का वर्णन होता है, वैसे ही गर्भयाकरण और शरीरसंख्याव्याकरण हन अध्यायों में शरीर रूप प्राप्ताद का वर्णन किया है, जिसमें प्राकार के स्थान में प्रथम त्वचा का, अन्तःप्राचीरों के स्थान में कलाओं का और पश्चात् अन्तर्गृहों के स्थान में विविध आशयों और अवयवों का वर्णन किया गया है । इस दृष्टान्त को सामने रखकर यदि 'धातवाऽयान्तरमर्यादा' इस शब्द प्रयोग के ऊपर ध्यान दिया जाय तो उसका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी । संचेप में, कला त्वचा के समान आवरण करने वाला शरीर का अवयव है, परन्तु त्वचा वाहर होती है, कला भीतर अतिप्रबल अव्यक्त होती है; त्वचा मोटी और विस्तृत (सर्वशरीरव्यापी) होती है कला तनु और स्वरूप (एकाध अंग को व्यापने वाली) होती है । आधुनिक प्राकाश्य परिभाषा के अनुसार कला Membrane, Piscia membra, जरायुसम (Serous membrane) और श्लेष्मल (Mucous membrane) हो सकती है—लायुमिश्र प्रोच्छनान् संवादथ जरायुण । श्लेष्मयावैष्टिकाद्यापि कलाभागांस्तु वान् विदुः ॥ इस अर्थसे सातों कलाओं का भापान्तर निद्र प्रकार से होता है—

१ मांसधरा कला—Deep fascia, Intermuscular septa.

२ रक्तधरा कला—Endothelial lining of the blood vessels and sinuses in the liver and spleen.

- २ स्ट्रेम्बरा कटा—Synovial membrane
३ पुरीपथरा कटा—Mucous membrane of
colon and rectum
४ पिच्चरा कटा—Mucous membrane of
small intestine.
५ शुक्रपरा कटा—Mucous membrane of
vasiculae seminalis, vas
diferentia, etc.

यह, सुख्त या निरुद्ध—कटा का एक अर्थ गुण (Quality) भी है और डॉ० ग० द० जायटे कटा का अर्थ गुण कहते हैं—

This biologically active quality of one Dhata or Ashaya giving birth to one of another sort, is termed by the ancients as Kala. In ordinary language it means a quality. Some Anatomical Concepts

इस दृष्टि से 'धात्वाशयान्तरमयांदा' इसका अर्थ (अन्तो धातुधात्वान्तरम्, अन्त आशय आशयान्तरम्, तस्य मर्यांदा)—एक धातु से दूसरा धातु और एक आशय से दूसरा आशय उत्पन्न होने का गुण किया जाता है। परन्तु युग किसी आशार के सिवा नहीं मिल सकते हैं—प्रवद्य वदिनों, युग्मायिनों, कंवर्मवदों, सानान्दसानान्दवदों सहैवायानन् । नदवदवदीर्घ विरह्यावदव्यादय उपलब्ध हैं। (चक्रपाणित्र)। इस समवायसंघ से गुणायुग्मनो रमेश्वरामात्र माना जाता है। यदि कटा का अर्थ गुण करना हो तो उपर्युक्त तत्वों के अनुसार कटा मे पृष्ठ धातु से अन्य धातु उत्पन्न करने का गुण जिसमें हो एसा शरीरगत अवयव का वोष होता है। संदेह पैदा करना सुख्त है या निरुग्ण इतना ही प्रभ सामने जाता है। निरुग्ण में केवल धारण (Merely holding) करने का वोष होता है और सुख्त में धारण के अतिरिक्त कटा के जो कोई विदेष कार्य होते हैं, उनका वोष होता है। ऊपर कटाओं के जो अंग्रेजी पर्याप्त नाम दिये हैं, ये महामहोपाध्याय गणनाय सन्त समत हैं। आपके मतानुसार कटा निरुग्ण याने केवल रक्तमासादि धारक होती है—कठा नाम धातुओं विदेष, धूमपाता विदेष, शश नासी धातुनोंपि धूनिनमर्पक, विदेष उद्योगदाता । नाम नाम इडे महानामपरान्दक शारीरकस्तुविदेष रक्तरिचयदु धारणामात्र । च शायुनिमायमहेति इहित्रितरम् ॥ (स्वाधारवद्विमहेति)। इस मत के समर्थनार्थ दो आधार दिये गये हैं—तु कठो शातुरात्मेषो न पूर्वधूताना नापुरुषा दृता प्रप्नेति । (इन्दु) । मनु रसानान्तर रज, तवी माल, अस्त्र ग्राहेव मासधूष पृष्ठा इत्येततेरि । उच्छ्वो—योरेषे क्रमोऽय न तु धारणे अनन्त दम्भमित्यधारत्वेन कटा निरुग्ण । (दलहण)। प्रथम इन्दु के वचन का तात्पर्य यह है कि कटा स्वयं पूर्वधूता या उत्तरधूता में परिवर्तित नहीं होती। दलहण के वचन का तात्पर्य यह है कि धातुकम के अनुमार कटाओं का क्रम इस्मिल्य नहीं मिलता है कि कटा स्वयं धातुप्रेण में भाग नहीं होती, धारण में होती है। यह क्यन विलकृत स्वयं है, परन्तु कटा स्वयं जो कि त्वयी रद्दकर दूसरी किसी चीज़ को या विशर काम को नहीं करती, यह अर्थ उपर्युक्त दोनों वचनों से नहीं

मिलता है। कटाओं में विशेष गुण (धारण के सिवा) होते हैं, इसमें कोई सदैह नहीं है और यदि उपर्युक्त धूमें पर्याप्त रीक हों तो यही बात माननी पर्याप्त है। इसके लिये कुछ उदाहरण लिये जाते हैं। शुक्रपरा रक्त—इसमें शुक्राशय, शुक्रवह स्रोतम और शुक्रमणालिंगों की हिती समाविष्ट है। इसके समन्वय में आयुर्विक पाशाशय विज्ञान दत्तता है कि यह कटा शुक्र के तरल भाग की उत्पत्ति करती है—

The semen ejaculated through the penis is the secretory product of the testes, epididymis, vesiculae seminales, and other accessory glands. Marshall's *Introduction to Sexual Physiogy* The vas afferentia and epididymis are lined by columnar cells, some of which are ciliated, while others are devoid of cilia, and probably possess secretory functions. Halliburton, *A Physiology* के प्रकार कटा—इसके समन्वय में भी ऐसा ही मत है—It (synovial membrane) is composed of a thin, delicate connective tissue, with branched tissue corpuscles. Its excretion is thick, viscid, and glairy, like the white of an egg and hence termed synovia. Grey's *Anatomy*

कविराजमी इसमें यह भेद बताते हैं कि यह धात्वा स्ट्रेम्बरा कटा का न होकर तत्रत ग्रीष्मियों का होता है—न च रक्तम् स्वर्णीति रक्तनद् रत्नोत्तादत्तवत् कलापानेत्रेति । कलापुत्रेभ्यो ग्रीष्मम् एव सप्तिष्ठ दाद्यादेष्यात् सम्भवत्। निर्विस्फुकात् । परन्तु इस सरह का सूक्ष्म भेद करने का कोई कारण नहीं है, यद्योकि वे ग्रीष्मियों भी इस कटा की होती हैं। उपर्युक्त में के वचन में उनका इस्मिल्य स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवाय किसी कटा (मेन्ट्रेन) को लेप्यमल (सायनोविषय) कहना, फिर भी उसमें छेंमा (सायनोविषय) उत्पन्न करने की शक्ति का इन्द्राकार करना यह पृष्ठ विचित्र संवेद मालाम होता है। पिण्डरा कह—इससे छुट्टान्त्र का अन्तरावरण दिया जाता है। आयु निक विद्वान् कहते हैं कि इसमें आशयान्तर और यदृक के पारक इसों को उत्तेजित और धारण करने की, पाचन धूम के सम्बन्ध भाग की शोषित करने की तथा आन्तरस (Succus entericus) गामक पाचक रस (जिसके पित्त कह सकते हैं) उत्पन्न करने की शक्ति होती है। आन्तरस उत्पन्न करने की शक्ति के संबंध में भी इस्मेंपरा कटा के समान आंग्रेज किया जा सकता है कि यह रस आन्त्र की विदेष ग्रीष्मियों से (Crypts of Lieberkühn) उत्पन्न होता है। इसके संबंध में भी यही उत्तर दिया जा सकता है कि ये ग्रीष्मियों कटा की ही होती हैं तथा दोनों का अन्तरावरण पृष्ठ प्रकार की स्लॉने से यतना है—

Contained within or belonging to the mucous membrane are the following structures—circular folds, villi, intestinal glands, etc. Grey's *Anatomy* इसमें विलोरिंग संद महाव या है। आन्तरस की इसना और ग्रीष्मियों की रचना—Absement membrane, supporting a single layer of epithelial

lial cells, which throughout the intestine are columnar in character. Their (Glands) wall are thin, consisting of a basement membrane lined by columnar epithelium. *Grey's Anatomy.*

इससे यह स्पष्ट होगा कि आन्तरस का निर्माण आन्तरिक कला से होता है, इसको मानने में कोई वैज्ञानिक आपत्ति नहीं कर सकता है। रक्तधरा कला—रक्तधरा कला में यकृत् और प्लीहा का विशेष उल्लेख किया गया है। भ्रायुवेंद में रक्तोत्पत्ति का संबन्ध यकृत् और प्लीहा के साथ माना जाता है—स खत्वाय्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य राग-मुपैनि। विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड पृष्ठ ७७ देखो। इसलिए रक्तधरा कला में यकृत्प्लीहा का निर्देश करते समय रक्तधरा कला का कुछ सम्बन्ध रक्तोत्पत्ति के साथ सूचित करने का अंगकार का उद्देश्य होना असंभवनीय बात नहीं है। आधुनिक सूक्ष्म शारीर से यह सिद्ध हुआ है कि यकृत् और प्लीहा की केशिकाओं और शोणितावकाशों का आस्तरण (जो रक्तधरा कला में समाविष्ट है) विशेष प्रकार की कोशाओं से बनता है जो जालिकान्तःच्छुदीय कोशाएँ (Recalculendolkelial cells) कहलाती हैं—

Others (R. E. cells) are sessile, for example the stellate cells of Kupffer, which constitute an imperfect lining for the hepatic capillaries. Other sessile components of the reticulo-endothelial system are the endothelium of the lymph sinuses and splenic sinuses, etc. *Halliburton's Physiology.*

इन के जो अनेक कार्य हैं, उनमें रक्तोत्पत्ति एक कार्य है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक यकृत् और प्लीहा यह काम करती हैं। पश्चात् रक्तोत्पत्ति का कार्य रक्तमज्जा में चला जाता है।

In the foetus the liver and spleen take part in blood formation, but in the adult it is confined to the redbone marrow. *Halliburton's Physiology.*

मलधरा कला—मलधरा कला मलधारण के कार्य के अतिरिक्त जलशोषण का और धूकों के द्वारा अनुसृष्ट लवणों के उत्सर्जन का कार्य करती है—

The functions of the large intestine are mechanical, absorptive and excretory. The mechanical functions of the large intestine comprise the storage of faeces, and their evacuation at due intervals. The large intestine absorbs chiefly water. *Halliburton's Physiology.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि कलाएँ केवल गुण (Quality) नहीं हैं, धातुप्रादक सूक्ष्म अवयव (Formative elements प० गंगाधरशास्त्री जोशी) नहीं हैं, केवल धातुओं के अंधार (Mechanical supporters) नहीं हैं, परंतु विशेषगुण-युक्त आवरण (Membranes with special functions) हैं।

गृहीतगर्भाणामार्तवहानां स्रोतसां वर्त्मन्यव-
रुद्धयन्ते गर्भेण, तस्माद्गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते;
ततस्तद्धः प्रतिहतमूर्ध्मागतमपरं चोपचीयमानमप-

रेत्यभिधीयते; शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधराविभिप्रति पद्धते, तस्माद् गम्भिण्यः पीनोद्धतपयोधरा भवन्ति २३ गर्भवती स्त्रियों के आर्तववह स्रोतर्णे के माग गर्भ के द्वारा बंद हो जाते हैं। इसलिए (गर्भधान के वाद) गर्भवती स्त्रियों में आर्तव (स्राव) नहीं दिखाई देता। तब नीचे की ओर बंद हुआ (इसलिए लौटकर) ऊपर की ओर आया हुआ और उत्तर काल में परिवर्धित। हुआ वही आर्तव अपरा कहलाता है। शेष आर्तव और भी ऊपर आकर स्तनों में प्राप्त हो जाता है। इसलिए गर्भिणी के स्तन मोटे और उन्नत हो जाते हैं ॥ २३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का अनार्तव, अपरा की उत्पत्ति और स्तनों की पीनोन्नतता; इनकी उपपत्ति वत्तलाई गई है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए यह उपपत्ति लौकिक परिभाषा में वत्ताई गई है, तथा वत्तानें की पद्धति वही रोक्त क और सूचक है। वर्तमन्यवरुद्ध्यन्ते गर्भेण—गर्भधान होने पर आर्तवस्राव आप से आप कैसे बंद होता है, इसका ठीक उत्तर देना आज भी बहुत कठिन है। परन्तु एक बात निश्चित है कि गर्भ ही के कारण आर्तवस्राव बंद होता है। आर्तवस्राव का घनिष्ठ संबंध वीजकोप (Ovary) के साथ होता है। इस वीजकोप में दो रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। एक का नाम है औस्ट्रिन (Oestrin) और दूसरे का है प्रोजेस्ट्रिन (Progestin)। औस्ट्रिन वीजकोप की आन्तरिक (Intrauterine) सेलों से बनता है और इसके प्रभाव से गर्भाशय की श्लेष्मल कला का नाश होकर आर्तव का स्राव होता है। दूसरा पदार्थ प्रोजेस्ट्रिन पक्ष व्रीज बाहर पड़ने के बाद उसके स्थान में जो पीतपिण्ड (Corpus luteum) बनता है, उसमें निर्माण होता है। यह द्रव्य गर्भाशय की श्लेष्मल कला को गर्भग्रहण योग्य बनाता है तथा स्तनों को भी परिपुष्ट करता है। जब गर्भग्रहण योग्य गर्भाशय में गर्भ नहीं आता, तब औस्ट्रिन अपना नाशक कार्य करके आर्तवस्राव उत्पन्न करता है। उसका नाशक कार्य समाप्त होने पर प्रोजेस्ट्रिन अपना रचनात्मक कार्य करता है। इस तरह ये दोनों द्रव्य परस्परविरोधी होने पर भी प्रति मास नियत परन्तु भिन्न समय पर कार्य करके शोणितोत्पत्ति के चक्र जारी रखते हैं। शोणितोत्पत्ति के चक्र में गर्भाशय के भीतर चार अवस्थाएँ होती हैं। प्रथमावस्था प्रोजेस्ट्रिन के कारण होती है। इसमें गर्भाशय की श्लेष्मल कला काफी मोटी होती है, तद्वत् रक्तवाहिनियाँ तथा ग्रंथियाँ बढ़ती हैं। संचेप में, गर्भ के आगमन और ग्रहण की सब तैयारी होती है। जब गर्भ नहीं बनता है, तब औस्ट्रिन के परिणाम से रक्तवाहिनियाँ, ग्रंथियाँ और कला स्थान स्थान पर विदीर्ण होकर ये सब मिलकर नीचे की ओर निकलते हैं और यही आर्तव शोणित होता है। यह दूसरी अवस्था है। जब पुरुष के साथ सहवास करने के पश्चात् शुक्राणु का स्त्रीवीज से संयोग होकर वह सफल (Fertilized) होता है और उसके ग्रहण के लिए बनाई हुई श्लेष्मल कला पर वह चिपट जाता है, तब प्रोजेस्ट्रिन का कार्य प्रतिमास की तरह बंद न होकर जारी रहता है और औस्ट्रिन कार्य प्रतिमास की तरह न होकर बंद रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय की जिस श्लेष्मल कला और रक्तवाहिनियों से आर्तवशोणित बनता है वह गर्भ उस के ऊपर चिपट जाने

से नहीं बनता। संवेष में गर्भ अपरा उपस्थिति से और एकल कला की सोटाई के कारण आतंत्र का मार्ग बंद करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं (१ वें अध्याय के २२वें सूचक का व्याख्या भी देते)। इसके संदर्भ में यह अपान में रखना चाहिए कि गर्भ आतंत्रिकीय को बनते के पश्चात् नहीं रोकता, परन्तु आतंत्र बनते ही नहीं देता। इसलिए हिंदा है—उत्तरम् शूरी गर्भांतरा मातृत्व न इतरने। तस्मात् के पश्चात् अट्टोगमनग्रह में 'टटः परम्' लिपा है। यह दाढ़ीयोग व्यय पे आवरणक नहीं है तथा प्रिय कलना के अधिक स्वर वर देता है। गर्भ का आवान होने पर केवल उम्मीदाम के लिए नहीं, जब तक गर्भ गर्भांशय में होता है तब तक आतंत्र का दर्जन नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। इसलिए इन्हुंने अपनी टीका में लिखते हैं—जरु ददाचित् दृष्टये वृद्धृतम्। गर्भांशय होने के बाद जो शोणित-स्राव होता है यह गर्भपाता, बीजाद्विनी में गर्भांशय, अपरा का गर्भांशय से अलग होता है—यदि वैकारिक कारणों से होता है, अवैकारिक शोणितस्राव कदमी नहीं होता। यदि इसी रूपे में गर्भांशय के पश्चात् प्रतिमास शोणितदर्शन होता हो वह उसमें दूसरे गर्भांशय की उपस्थिति का सूचक (Double testes) ममतना चाहिए। संवेष में इन्हुंने जो लिपा है, यह टीक है—

Rarely will one be deceived who regards a woman menstruating regularly, with all the characters of menstruation, while trusting the contrary opinion, he is exposed to frequent errors. *Stoltz's usages in Jellie's Midwifery.*

अध्या॒ प्रिय॑ उत्त॑रम् गमनवन्—स्वस्थानियतम्। प्रतिमास की तरह आतंत्र उत्तर बनते पर स्वस्थान में आने के लिए उसमें किस प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होतीं इसका यह शब्द चित्र है, वास्तविक गति का वर्णन नहीं है। अन्यत्र—मविक्यकाल में, उत्तरकाल में। हाराणचन्द्र इसका अर्थ दूसरा महीना कहते हैं—परमर्थाचीन द्विग्रामासिकव्येत्वेऽत्। गर्भांशय के समय से तीसरे महीने के अन्त तक अपरा की उपवीच-मानावस्था होती है और पश्चात् वह पूर्ण उपचित होता है। इसलिए 'अन्यत्र' से भविष्यकाल मानना अधिक उचित है। अपरा—जारातु या अपरा। गर्भ का क्षेत्र विसर्जने गर्भ गर्भांशय में रहता है। इस क्षेत्र के दो भाग होते हैं। एक भाग बहुत पतला और विस्तृत होता है, जो छारों और से गर्म को आहूत करता है। यह गर्भांशय (Fetal membra brachio-pelvic) कहलाता है। दूसरा भाग इस आवरण के बाहर उसके पृष्ठ हिस्से में चिपड़ा हुआ होता है। यह आकार में दीर्घ गोल, व्यास में ६-७ इन्च, लंबी में पृष्ठ इन्च स्थूल और परिसर में पतला, बजन में पृष्ठ से डेढ़ लौण्ड (दो से तीन पाव) होता है। आवरण की तरफ का इमाका इमान्य चिकित्सा और गर्भांशय की तरफ का पृष्ठभाग स्तरदार होता है। इसके एकल क्षेत्र में गर्भांशय की लम्बाई इन्हीं है। अपरा से वास्तव में होनों (Placenta and membranes) का क्षेत्र होता है—
अपराऽपदन्दानव्यामानों कुनौं। (मुकुत)। वरदातु स्तु अपरादा ग्रन्तानाम् कर्मिति किमालोः। (चरक)। अथ प्रदूषया न वैपरा प्रति तद्। (बाघट)। परन्तु कभी

भी अपरा शब्द केवल प्लेसेन्टा के लिए भी प्रयुक्त होता है—नाम्ना दृश्य नादी प्रस्तुत, नार्था चारा, किरा चत्प्र मानुः प्रस्तुत इरवे, माट्टदूरये दृश्य दामपराम्पराम्परामें सिरमिः संरयदामातिमिः। (चरक)। अपरा गर्भांशय नामिनार्थी प्रियद्वा 'मधरा' इति लोके स्वादः। (चक्रपणिषद)। जारातु शब्द भी अपरा के समान शेनों के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु अधिकतर उससे केवल आवरणों का शोष होता है—जारातु पुस्ते अन्मने। (मुकुत)। गर्भेनवन्मेप्रुक्त वरणु। (उत्तरन)। अतः निधिन परिमाण की इष्ट से अपरा Placenta के लिए और जारातु Membrane के लिए विशेष करके abortion के लिए प्रयुक्त करना उचित है।

अपरा की यहाँ पर जो निरूपित बतलाई गई है, उससे यह मालूम होता है कि अपरा शोणित से उत्पन्न हुई है। यह क्षयन कुछ अंश तक सच्च है। यदि अपरा का द्वितीय किसी जाय से उसमें दो भाग द्विशाये देते हैं। गर्भांशय की तरफ जो भाग होता है वह गर्भांशय अपरा (Placenta uterina) और गर्भ की तरफ जो होता है वह गर्भ अपरा (Placenta foetalis, कहलाता है। गर्भ भाग में आवरण और उनके रसांसुरः VIII;) अते हैं और गर्भांशय भाग में एकलमध्य कला का हिस्सा Decidua paralis) जौर शोणितावकाश, विसर्जन मात्रा का रक्त रहता है, होते हैं। गर्भ भाग गर्भ से और गर्भांशय भाग शोणित से बनता है। यदि गर्भांशय के प्रारम्भ का विचार किया जाय तो यह क्षयन अधिक सत्य होता है क्योंकि उस समय गर्भांशय भाग लीघिक होता है—

During the constructive stage the uterus undergoes growth, glandular development and haemorrhage. The changes in a general way are described as being very similar to those which occur at the commencement of pregnancy. *Marschall's Introduction to Sexual Physiology.*

शैरम्—जारातुरोम्। (अट्टोगमनः)। अपरा की उपचिति के लिए आवरणक शोणित व्यय होने पर बढ़ा हुआ। हाराणचन्द्र 'पौरा' से तीसरे महीने के बाद का आतंत्र—पौरा द्वितीयांशित्वम्। वास्तव में आतंत्र का और स्तनधृदि का कोई संबंध नहीं है। जो व्यय (प्रोत्तेस्तिन) गर्भांशय की गर्भांशय योग बनाता है तथा गर्भांशय होने पर गर्भांशय में उसके पोषण के लिए आवरणक परिवर्तन करने में सहायता करता है, वही दृश्य गर्भजन्म के पश्चात् उसके पोषण के लिए स्तनों की भी धृष्टि करता है। परन्तु स्तनों का कार्य जन्म के पश्चात् होने से उस दृश्य का प्रभाव कार्य गर्भांशय पर होता है और पश्चात् स्तनों पर होता है। अपरा की पूर्णहुई तीसरे महीने के अन्त तक हो जाती है और स्तनगत परिवर्तन तीसरे महीने से प्रारंभ होते हैं, जो प्रस्तवकाल तक जारी रहते हैं। इनका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें स्त्र के वक्तव्य में किया गया है। इसलिए पौरा का कार्य अपरा की उपचिति होने के पश्चात् काल का, देसा सम्बन्धना चाहिए।

गर्भस्य यहूत्स्लीहानौ शोणितजौ, शोणितपेन-ग्रन्तवः पुलुकुसः शोणितकिपृष्ठमय उत्तरुकः ॥२४॥

श्लेषणाश्वापि यः प्रसादः परो मतः ।
तं पञ्चमानं पित्तेन चायुधाप्यनुधावति ॥२५॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं वस्तिश्च देहिनः ।
उद्दरे पद्यमानानामाध्मानादुक्षमसारवत् ॥२६॥
कफशोणितमांसानां सारा जिह्वा प्रजायते ।
यथार्थमूलपणा युक्तो वायुः स्वेतांसि दारयेत् ॥२७॥
अनुप्रचिश्य पिशितं पेशीचिमजते तथा ।
मेदसः स्वेहमादाय सिरास्नायुत्वमाण्युयात् ॥२८॥
सिराणां तु मृदुः पकः स्नायूनां च ततः खरः ।
आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम् ॥२९॥

रक्तमेदःप्रसादादबुद्धौ; मांसास्तुकफमेदःप्रसादाद-
दबुद्धौ; शोणितकफप्रसादज्ञं हृदयं, यथात्रया हि
घमन्यः प्राणग्रहाः; तेस्यादो चामतः प्लीहा फुफ्फु-
सश्च, दक्षिणश्चो यकृत् ल्लोम च; तदूद्धृदयं विशेषेण
चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिन्
स्वपन्निति ॥३०॥

भवति चाच—

पुण्डरीकेण सद्वशा हृदयं स्वाद्योमुखम् ।

जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निर्मीलति ॥३१॥

गर्भ के यकृत् और प्लीहा रक्त से, फुफ्फुस रक्त के फैले से, और उण्हुक रक्त के मल से बनते हैं ॥२४॥ रक्त और कफ का जो सारतम भाग होता है, पित्त के द्वारा पक्ते समय उसमें वायु भी आ जाती है ॥२५॥ तब उससे आन्त्र, गुद, वस्ति की उत्पत्ति होती है । (अधि पर रखकर) धौकने से (उत्पन्न होने वाले) सोने के सार भाग के समान उदर में (पित्त और वात के द्वारा) पकाये जाते हुए ॥२६॥ कफ, रक्त और मांस का सार भाग जिह्वा उत्पन्न होती है । पित्त से युक्त वायु प्रयोजन के अनुसार स्त्रोतों को विदीर्ण करती है (उत्पन्न करती है) ॥२७॥ उसी तरह (पित्तयुक्त वायु) मांस में प्रवेश करके उसे पेशियों में विभक्त करती है । और मेद का स्लेह भाग पृथक् करके (मांस को) सिरा और स्नायुओं में परिवर्तित करती है ॥२८॥ (सिरा और स्नायु में फर्क इतना ही है कि उत्पत्ति के समय) सिराओं का पाक मृदु होता है और स्नायुओं का खर होता है । (वैसे ही वायु मांस में) अवस्थान करके और वार चार परिश्रम करके आशयों की उत्पत्ति करता है ॥२९॥ रक्त और मेद के प्रसाद से दोनों घृकः, मांस, रक्त, कफ और मेद इनके प्रसाद से हृदय (बनता है), जिसके आश्रय में प्राणवहा धमनियाँ होती हैं; हृदय के नीचे वाईं और प्लीहा और फुफ्फुस, (नीचे) दाहिनी और यकृत् ल्लोम (और फुफ्फुस) होता है । यह हृदय विशेष करके चैतन्य स्थान है । इसलिए हृदय के तम द्वारा आच्छादित होने पर संपूर्ण प्राणी सो जाते हैं ॥३०॥ यहाँ पर श्लोक है—
अधोमुखकमल (कलिका) के समान हृदय (आकार में)
होता है; जागरुक (मनुष्य वा प्राणी) का हृदय विकसित

१ त्रात्यस्य मध्यमानस्य धमयमानस्य रक्षमवत् । जिह्वा संजायते
सौमी यथा वैद्यते रसान् २ तस्य वामतः ।

रहता है और निद्रित (प्राणी वा मनुष्य) का संकुचित हो जाता है ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—फुफ्फुसः—फेफड़ा (Lunges) । आयुर्वेद में फुफ्फुस का उल्लेख एकवचन में होता है । वास्तव में फेफड़े दो होते हैं—एक दाईं और और एक वाईं और । परंतु ये दोनों फेफड़े कण्ठनलिङ्क की शासालों से आपस में दूतने निगदित होते हैं कि दोनों एक कहे जा सकते हैं । आयुर्वेद में फुफ्फुस का वर्णन बहुत संक्षेप में मिलता है—
दूद्यनाटिकालशः फुफ्फुसः । (दलहण) । उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते वृष्टैः । (शार्ङ्गधर) । उदानवायोराधारः कण्ठस्थितवायोराधारः । (शार्ङ्गधरदीपिका) । इस वर्णन से भी यह निश्चय हो सकता है कि फुफ्फुस वही अंग है, जो पाश्चात्य परिभाषा में 'दी श्लेषमुवी' (शा० ७) करके दो अंग उरोविभाग में वर्णन किये हैं । इसकी टिप्पणी में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—'श्लेषमुवी कण्ठस्थ पार्वयोर्वर्त्थितौ कठिनी भागी' । इसमें कठिन शब्द फुफ्फुस के वर्णन के साथ नहीं मिलता । परंतु इस शब्द के ऊपर अधिक जोर देने का कारण नहीं है । शारीर के जो छप्पन प्रत्यंग वर्णन किये हैं, उनमें जिस सिलसिले में इनका उल्लेख आया है, उससे 'श्लेषमुवी' फुफ्फुस के लिये प्रयुक्त हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है । फुफ्फुस शंक्वाकार होता है, जिसका नीचे का भाग मोटा और अधिक चौड़ा और ऊपर का भाग पतला और नोकीला होता है । यह ऊपर का भाग शिखर (Apex) कहलाता है और गरदन की ओर अक्षकास्ति के पीछे होता है । नीचे का भाग उदरगुहां की ओर महाग्राचीरा पेशी (Diaphragm) के ऊपर स्थित होता है । फुफ्फुस ऊपर से चिकने और चमकीले होते हैं और उन पर कुछ चित्तियाँ पढ़ी रहती हैं । ये बहुत मृदु और स्थितिस्थापक होते हैं, जिसके कारण स्पर्श करने और दयाने पर ये मुलायम और स्पंज के समान मालूम होते हैं । काटने पर उनमें स्पंज की भाँति असंख्य छिद्र दिखाई देते हैं । ये सब छिद्र वायु से भरे रहने के कारण फुफ्फुस जल से हल्के होते हैं और पानी में तैरते हैं । गर्भवस्था में फुफ्फुस का रंग गहरा लाल, वालकों में गुलाबी और प्रीत मनुष्यों में स्लेट का सा नीलापन लिये भूरा सा होता है । काटने पर इससे श्लागदार लाल तरल निकलता है । यहाँ पर फुफ्फुस की उत्पत्ति के संबंध में जो कल्पना की गई है वह शाविच्छेद करके फुफ्फुस के उपर्युक्त लक्षणों का अभ्यास करके की गई है, ऐसा मालूम पड़ता है । इन फुफ्फुसों में श्लास द्वारा प्राणवायु (वातावरण की अधिक आक्षिसज्जन याने विष्णुपदामृत युक्त वायु) प्रवेश करती है और वहाँ पर रक्त की शुद्धि करके अधिक कार्बन डायोक्साइड युक्त वायु में परिवर्तित होती है । यही वायु प्रश्वास के साथ कण्ठ-नासिका से वाहर आती है और इसी की सहायता से मनुष्य स्वरथन्त्र के द्वारा बोलना, गाना हृत्यादि ध्वनि के कार्य करता है—वायुओं वस्त्रसंचारी स प्राणी नाम देहधृक् । उदानों नाम यस्तु रुपैति पवनोत्तमः । तेन भाषित्वीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते । (सुश्रुत) । तत्र प्राणः कण्ठोरश्चरः । उदान उरस्यवस्थितः कण्ठनासिकानामिच्चरो वाक्प्रवृत्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । नाभिचर शब्द का अभिप्राय यह नहीं है कि वायु नाभिप्रदेश में भी संचार करता है, परन्तु श्वास-प्रश्वास के समय नाभि के

आसपास का भाग भी हिलना है, इमलिंग घायु नामिचर या नाभिस्थ कहलाता है। नियमें नाभि की गति अधिक होती है, वह नाभिवस्त्राच (Abdomino-thoraco) ब्रायन कहलाता है और जिम्में नाभि की गति कम और घड़ की अधिक होती है वह घोरवानाभिचर (Thoraco-abdominal) ब्रायन कहलाता है। प्रथम प्रवार स्वामाविकौर से लिंगनिरपेक वालों में और प्रौढ़ उर्मों में तथा दूसरा प्रवार प्रौढ़ खियों में मिलता है। माणवायु शारीर की जीवन देने का भी कार्य करता है—प्राणाश्वासनन्त्रे (सुखुत)। नाभिस्थ प्राणवान घायु इत्यनान्त्रम्। स्फटाश्विनिविदिति पातु विष्वासद्वयम्॥ घोरा चामरपीरु पुनरुपाति देवत। प्रोपवन् दैमविन लीवयश्वरानन्त्रम्॥ (शाहंघर)। उपर्युक्त विवरण से यह बात साफ होगी कि आत्मुर्वेद में, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में नहीं तथापि अस्पष्ट रीति से, फुफ्फुम का सर्वथ स्थापन प्रवास तथा इत्युद्दिक के मायथ (अथवाय में प्राणवाह घोत्स देतो) जोह दिया गया है। प्राणवायु से अनेक वस्तुएँ (दृश्य या अदृश्य, अच्युत या अच्युत) उपर्युक्त हो सकती हैं, परन्तु उनमें 'आसीनत्र' (Oxygen) या तपुक घायु यह पृक वस्तु है, इसमें संदेह नहीं। वैसे ही उदान घायु से अनेक वस्तुएँ उपर्युक्त हो सकती हैं, परन्तु उनमें फुफ्फुमवारा परिवर्तित (अधिक कार्यम दायो-स्फ्याहृ (०), उक्त) घायु पृक वस्तु है, इसमें भी कोई संदेह नहीं और इसी दृष्टि से फुफ्फुम उदान घायु का आधार माना गया है—उदानवायोरापार फुफ्फुम प्रोत्पत्ते तुमै। (शाहंघर)। घूँझी—तुकिगोलवी। (इत्यरण)। घृक सदैव त्रिवचन में प्रयुक्त होता है और गोलाकार कोष्ठर्य लंग है। इसके सिवाय शारीर की दृष्टि से (Anatomically) घृँझों का अधिक वर्णन आयुर्वेद में नहीं मिलता। परन्तु इतना भी वर्णन शारीररूप्या इत्यका निश्चय करने के लिये पर्याप्त है। आज कल जिम्मों गुरुदा या मूरपिण्ड (Kidney) कहते हैं, वही घृक है। घृक शारीर में दो होते हैं—एक दाहिना और दूसरा घायों। ये उदार में पिंडली धीवार से लगे हुए रीढ़ की दाहिनी और घायू और रहते हैं। घृक का आकार लोकिये के बीज के समान होता है। उसकी लम्बाई ३-४ इच्छ, चौड़ाई २॥ इच्छ, और मोटाई ३ इच्छ होती है। ये लम्बाई में रीढ़ के दोनों तरफ रहते हैं। रीढ़ की ओर का किनारा लोकिये के काले तिल वाले किनारे की भाँति बीच में दो छुआ होता है और दूसरा किनारा बाहर की ओर गोल होता है। घृक में अस्त्रय पतली पतली और लम्बी नालियाँ होती हैं। इन नालियों का पृक मिरा एक्स्ट्रेंडर होता है और दूसरा सिरा बन्ध नालियों के साथ मिलता है। इस तरह वही घृँझी नालियों की बनावट होती है। ये वही नालियों अलिन्द (Poliva) में इकड़ा होती है। वहाँ से मूद्यप्रणाली निकलकर उसी तरफ बस्ति के एक कोने में मिलती है। इसी प्रकार दूसरे घृक से भी दूसरी प्रणाली बनकर बस्ति में मिलती है। घृँझों में महाधमनी से दो शासार्दै आती हैं, जो उनके भीतर अव्यत अस्त्रम् प्रशासार्दै में विभक्त होती हैं। इनका अन्तिम सिरा मूद्यनिकाके गुच्छेदार सिरे में मिलता है। वहाँ से छोटी छोटी सिराएँ उत्पत्त होती हैं, जो आपम में मिलकर वही बनती हैं। अन्त में सब सिराओं से एक वही सिरा

बनती है, जो अधरा महासिरा में मिल जाती है। अमनी के द्वारा घृँझों में आई हुई उछ इत्युद्दिर्याँ (यूरिआ, यूटिक अस्त्र, फास्टे) तथा जल दूकर नालियों में बही जाती है और उक्त घृँझों में ग्रूपोत्स्पति होती है। अस्त्रव्य नालियों से जो मूर बनता है, वह घृँखलिद में इकड़ा होकर मूद्यप्रणालियों (Vretors) द्वारा बस्ति में पहुँचता है। आयुर्वेद में घृँझों का सर्वंग मूद्योत्पति के साथ एक स्थान को घृँखर और वहीं भी नहीं बतलाया गया है। निस स्थान में दोनों का कुछ अस्त्रण संबंध दिखाई देता है, घड़ स्थान अष्ट्रांगसम्भ में निष्ठ प्रकार से मिलता है—सामाया कमादस्युक्तामिचिप्रवायुष्यापारा। तेतु सर्व प्रविद्यानि व्योगानि इत्यवहृदीपृष्ठमुद्योज्ञवृक्षान्तरीनि। (शां४)। विशेष विवरण के लिये प्रन्यकार की 'आयुर्वेद में मूद्योत्पति की कल्पना' नामक अधेजी उत्स्तिका देखें। इच्छ—प्रिश के दोनों तरफ नीचे लटकने वाले पिल्ड (Testicle or testes) हृपण कहलाते हैं। घृपण-प्रिलियों में भी घृक के समान छोटी छोटी पलटी नालियाँ होती हैं। इनकी संख्या ५००-५०० के लगभग होती है। ये नालियाँ बहुत मुरी हुई होती हैं। कहूँ नालियाँ आपम में मिलकर २०-२५ वर्ही नालियाँ बनती हैं, जो अप्यके बाहर निकलती हैं। इन्हीं नालियों से अधिपृष्ठणिका (Epididymis) का सिरा बनता है। वहाँ पर इन नालियों के संयोग से एक बड़ी नाली बन जाती है, जो शुक्रप्रणाल कहलाती है। यह प्रणाली बहुत भोड़ लाकर और गोलितर मात्रकर अण्ड के पिण्डले किनारे के नीचे भाग तक पहुँचत है। घृसी से अधिपृष्ठणिका का शारीर और नीचे का भा बनता है। यही शुक्रप्रणाली और भोड़ होकर तथा उप को मुहूरक अधिपृष्ठणिका के पार्श्व से लगी हुई उपर चढ़ती है और शूपरग्रन्थु के साथ उदर में प्रविष्ट होकर शुक्रादाय के नीचे के भाग में उसके साथ मिलती है। अप्यन्त्रिय के भीतरी अस्त्रव्य नालियों में वीर्य का सुख अव्यय शुक्राण (Spermatozoa) बनते हैं और वहाँ से अधिपृष्ठणिका की नालियों में इकड़ा होते हैं आयुर्वेद में घृपण के इस कार्य का स्पष्ट परिचय मिलता है चरक के चातोविमान में लिखा है—शुक्रादाय शोवर्पृष्ठी मूर्त्। (दिमान ५)। बोवविहारामारी पृष्ठ दोषावही। (शाहंघर)। यहाँ तर घृकव्य शोतुर्स य वीर्यवाही गिरा से (Tubuli seminiferi) अभिग्रेत हैं घृक और घृपण दोनों नालिदार मरियों हैं और दोनों का ही कार्य अव्ययन सूक्ष्म है, जो सूक्ष्मदारक के सिवा नहीं समझा जा सकता। ऐसी अव्यय में घृपणों के कार्य का स्पष्ट परिचय मिलता है और घृँझों के कार्य का नहीं मिलता इसका कारण यह है। इसका कारण स्थानभिन्नत मात्र होता है। घृक उदरयुक्त के भीतर होने के कारण उसके विकार के बायंप्रधात के परिणाम देखने का अवसर नहीं मिलता था, जिसके सबव से उसके सम्बन्ध में केवल कल्पना के सिवा ज्ञान प्राप्त करने का और उसके देवकर घृपणों के कार्य आपम ग्राप होता था और उनके देवकर घृपणों के कार्य

का ज्ञान प्राप्त हो गया था । क्षैत्रं के जो अनेक कारण वताये गये हैं उनमें शस्त्र, ज्ञार, अग्नि और वृष्णि का हृष्ट जाना इत्यादि कारण मिलते हैं । शस्त्र, ज्ञार और अग्नि का सम्बन्ध वृष्णि के साथ समझना चाहिए, शरीर के अन्य अङ्गों पर नहीं—शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शजज्ञाराग्निभिस्तथा । (चरक, विमान ५) । चिन्नाशोकादविषम्भाव्यस्त्रज्ञाराग्निभिस्तथा । दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः । शुक्रं सदूष्यवन्त्याशु केचित् कलैव्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजमङ्गलयोद्भवे । वदन्ति शेषप्रस्त्रेदाद् वृष्णयोत्पाटनेन च । (चरक, चिं ३०) । हृदय—शरीर का वह अवयव जो अपने संकोच-विकास से रक्त को सदैव गतिमान् रखता है । संक्षेप में हृदय रक्तपरिचालक यन्त्र याने उदंच (Pump) है । इसको अंग्रेजी में (Heart) कहते हैं और यह शब्द हत् या हाँदम इन संस्कृत शब्दों से निर्मित अंग है । अनैच्छिक कहने का कारण यह है कि उसके संकोच-विकास पर मनुष्यों की इच्छा का पूर्ण अधिकार नहीं है । मानसिक क्रोधादि अवस्थाओं का कुछ असर होता है । यह अङ्ग वह के वामपार्श्व में अवस्थित है । इसकी दाहिनी ओर दाहिना और वाँई ओर वायाँ पुफ्फुस रहता है । उसके सामने उरफलक और वाँई ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पसलियाँ होती हैं । उसके पीछे अन्नलिका और वृहद्धमनी और इनके पीछे रीढ़ होती है । नीचे महाप्राचीरा पेशी होती है, जिस पर हृदय आश्रय लेता है और महाप्राचीरा के नीचे उदरगुहा में हृदय की वाँई ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत होता है । इसके ऊपर से समस्त शरीर को रक्त पहुँचाने वाली वृहद्धमनी निकलती है । इसके सिवा फुफ्फुस को जाने वाली और उससे आने वाली रक्तवाहिनियाँ उत्तरा और अधरा महासिरा भी निकलती हैं । संक्षेप में, समस्त शरीर को प्राण देने वाली वाहिनियाँ हृदय से सम्बन्धित रहती हैं । हृदय के संकोच-विकास से इन वाहिनियों के द्वारा संपूर्ण शरीर को रक्त की रसीद पहुँचती है और शरीर के परमाणु (Cells) सजीव (चैतन्ययुक्त) रखते जाते हैं । हृदय का यही सम्बन्ध और कार्य इस सूत्र में संक्षेप में वर्णित हुआ है । धमन्यः प्राणवहाः—शरीर की धातुओं का धारणपोषण तत्व होता है, जब उनको प्राणवायुयुक्त रक्त (Oxygenated blood) मिलता है । प्राणवायुयुक्त रक्त हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनियों में से बहता है । इस प्रकार की वाहिनी को धमनी (Artery) कहते हैं—भ्रान्ताद्धमन्यः । (चरक, स० ३०) । धमनी कहने का कारण तद्दत्त स्पन्दन है । चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मानात् पूरणद्वार्हीन रसादिनेत्यर्थः । इसका अभिप्राय यह है कि धमनियों में जो स्पन्दन होता है, वह वार वार रस या रक्त के पूर्ण से होता है । स्पन्दन एक प्रकार की गति है और गति वायु के सिवा नहीं हो सकती, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष स्पन्दन के समय वायु धमनी में रक्त के साथ जाता है, यह भी एक धमनीस्पन्दन के संबंध में आयुर्वेद का भत है । परंतु यह वायु हृष्ट 'Aii' न होकर 'तन्त्र-यन्त्र धर' तत्त्व है, जो शरीर में अन्याहत संचार करके शरीर को स्वस्थ रखता है—अव्याहतगतिर्थस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः । वायुः स्वात् सोऽधिकं

जीवेद्विवरोगः समाः शतम् ॥ (चरक) । आर्टरी शब्द का मूल अर्थ वायु (Air) वाहिनी है क्योंकि प्राचीन ग्रीक लोग आर्टरी को वातपूर्ण समझते हैं । आधुनिक काल में 'हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनी' यह इसका अर्थ निश्चित किया गया है । आयुर्वेद में भी धमनी शब्द प्रायः इसी अर्थ से (आगे नीचे अध्याय को देखो) प्रयुक्त होता है और इसीलिए यहाँ पर लिखा है—यदाश्रयाः । सिराएँ (Veins), और धमनियाँ दोनों ही हृदय के साथ संबंध रखती हैं, परन्तु दोनों का हृदय के साथ संबंध भिन्न प्रकार का है । धमनियों की दृष्टि से हृदय आश्रय है । आश्रय वह कहलाता है जो धारण, पोषण या रक्त द्वारा आश्रितों का कार्य चलाता है—विनाश्या न शोभन्ते पणिता वनिता लताः । हृदय ओज का स्थान होने से धमनी ओजोवह होती है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेण्मिन् विध्यन्ते समन्वतः ॥ (चरक) । प्राण का स्थान हृदय होने से धमनियाँ प्राणवह भी कहलाती हैं—प्रमन्यः प्राणवहाः । इस का स्थान होने से धमनियाँ रसवाहिनी भी होती हैं—तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विशर्ति धमनीरनु-प्रविश्य । (सुश्रुत) । हृदय संकोच-विकास का स्थान होने के कारण संकोच-विकास का भी ग्रहण धमनियों से होता है—करस्याद्बुधमूले या धमनी जीवसातिणी । (शार्ङ्गधर) । संक्षेप में ओज, प्राण, रस, स्पन्द इत्यादि सब वार्ताओं के लिए धमनियाँ हृदय की आश्रित होती हैं । सिराएँ हृदय-संबंधित होने पर भी उससे किसी चीज का ग्रहण नहीं करतीं, परन्तु हृदय को ही रक्त की रसीद पहुँचती है—हृदो रसः निःसरति तत एव च सर्वतः । सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद् हृष्यमावः सिराः ॥ (भेलसंहिता) । अर्थात् हृदय रक्त के लिए सिराश्रयी होता है, सिराएँ हृदयाश्रयी नहीं होती हैं । इसलिए यहाँ पर 'यदाश्रय' शब्दप्रयोग से जो रक्तवाहिनी प्रदर्शित की गई है, वह आधुनिक परिभाषा के अनुसार आर्टरी है । वस्त्याधो वामत इत्यादि—इस सूत्र में हृदयसमीप-वर्ती अंगों का उसके साथ स्थानिक संबंध वतलाया गया है । इसमें फुफ्फुस केवल एक तरफ लिखा है, परन्तु वास्तव में वह दोनों तरफ है । इस प्रमाद को दूर करने के लिए गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना में निम्न पाठ सूचित करते हैं—यतु 'हृदयस्याधो प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणातो यकृत छोम च' इति सौश्रुतः पाठस्त्रत्वं प्रमाद एव दरी-दृश्यते । 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा, दक्षिणातो यकृत, उभयतः छोम फुफ्फुसौम च' इति तु साधोयान् पाठः, अन्यथा न कैलापि कथमपि शक्यं समाधातुम् ॥ । अद्यांगो हृदय के शारीरस्थान के तीसरे अध्याय के दसवें श्लोक की दीका में अस्पदत्त निम्न श्लोक हृदय के संबंध में लिखते हैं—करफरक्षप्रसादादृत् स्याद् हृदयं स्थानमोजसः । तस्य दक्षिणातः छोमयकृतफुफ्फुसमास्तिवत् ॥ । इस श्लोक के अनुसार दक्षिण-पार्श्व में भी फुफ्फुस होना चाहिए और यदि इसके अनुसार प्राचीन पाठ निम्न प्रकार से परिवर्तित किया जाय—तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणातो यकृत छोम फुफ्फुसश्च—तो प्राचीन आधार के अनुसार पाठ होकर वह प्रत्यक्ष विरोधी भी नहीं होता । यह प्रमाद लेखक के शरीर अज्ञान का परिणाम है । उसने वामपार्श्व में फुफ्फुस लिखा, फिर फुफ्फुस के वास्तविक स्वरूप का ठीक ज्ञान न होने के

कारण दिविणपार्श्व में कुपुम हिलने की उसे आवश्यकता नहीं मालूम हुई और वही पाठ क्षाग्रे खलकर रुक हो गया। परंतु उपर्युक्त शोक में शाविन वास्तविक पाठ मिलता है, उसी के अनुसार पाठगुदि करना उचित है। उदर और वह दोनों मिट्टिकर थोड़ होता है। दोनों के धीर में महामार्चीरा पेशी स्थित है, जो उदरगुदा को घटगुदा से युक्त करती है। हृदय और कुपुम वलगुदा में हैं और महामार्चीरा पर उनका नीचे का घटभग्न स्थित होता है। यहू और हीहा उदरगुदा में स्थित हैं और उनका ऊपर का घटभग्न महामार्चीरा के साथ लगा हुआ है। हीहा—इसके अर्थ के सबूत में बहुत मतभिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग इसको अन्यायादय (Panciosis) कुछ फणनाही (Tachao) और कुछ पिताशाय (Gall-bladder) समझते हैं। प्रत्येक अर्थ के लिए कुछ न कुछ साधक प्रमाण मिलते हैं। एक मत से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। परंतु निम्न कारणों से क्षोम का अर्थ पिताशाय करना अधिक उचित मालूम होता है। (१) इसकी उत्पत्ति इक के किट्ट से माली गई है—पस्तु शोषितज विद्युतसमाझोम च जायते॥ (२) यहू का और क्षोम का उल्लेख साथ साथ होता है—होम च यकृत। विद्युत के लक्षणों में भी दोनों की समानता बताई गई है—यासो यकृत तुष्णा च पिताशा होमेडिपिक॥ (३) इसका स्थान यहू के नीचे चताया गया है—होम पात रण्डा (यकृत) प्रस्ताव शित दिविणपार्श्व तिलमिति प्रसिद्धम्॥ (दलहण)। दिल तु शोषितकिट्टप्रसव दिविणप्रित पक्षरसपीत्रीमसहक बवित॥ (आदमड, शार्परदीपिका)। (४) क्षोम हमेदा दिविणपार्श्व में चताया गया है। अचलु दिविणे भागे हृदयात होम निष्ठु। कण्ठनाही मध्य में होती है और अन्याशाय मध्य में होकर दोनों पाखों में फैलता है। (५) क्षोम के लिए तिलक शब्द भी पर्याय से प्रयुक्त होता है। यदि यहू का नीचे का घटभग्न वेला जाय तो पिताशाय की आकृति काले तिल के समान यहू पर प्रतीत होती है। तिल से छाटापन, तिलाकार और कालापन इन चारों का बोध होता है—

The gall-bladder is a conical or pear-shaped (तिलाकार) mucous membranous sac lodged in a fossa on the under surface of the right lobe of the liver. *Crey's Anatomy*

इसका गोलाकार भी अस्त्रादत्त ने अपनी टीका में वर्णिया है—स्तननाद्यो ग्रामानाद्रिक्षदेवैप्राचिनात्। विद्यु दुर्ज्ञनसदरु चायने होमसहक। (६) क्षोम एक ऐसा भी चताया गया है कि जो उदराभान होने पर हृदय, यहू, हीहा, कुपुम इनके साथ अपना स्थान कुछ बदल सकता है—एवं मोडन्सनो गर्भे नूतो विनिरिवानते। तेनावृत्या नायात्मु कुञ्जितान्वेते शैशवम्॥ उत्तिद्यप्तन इशाङ्गानि मूर्च्छरित्य लिखते। होम जीहा यकृतवे पुष्पकुसुष्टुव द्वय दधा। गर्भे पीठिन द्वयाद्वै प्रकाशदि लिखा॥ (दलहणटीका, मूर्च्छर्मनिदान)। दरम्भू विद्युतेष वेनावायानम्—जिसकी उपति चताई गई, जिससे प्राणवह घमनियों निकलती है, जिसके दोनों दरम्भ पुष्पकुम होता है, दाहिनी ओर नीचे यहू और क्षोम होता है और वाँद ओर नीचे हीहा होती है वही हृदय

अन्य ऐतनास्थानों की अपेक्षा अधिक महत्व का चेतना स्थान है। शरीर को जिससे चैतन्य प्राप्त होता है, ऐसा स्थान विद्या जिससे चैतन्य Life (जीवन प्राप्त होता है, ऐसा स्थान चैतन्यस्थान कहा जा सकता है। हृदय और जीवन का स्थान है, प्राण का स्थान है और चैतन्य का भी स्थान है—इदि प्राण। प्राणाद्वस्तीजोड़ी विद्वां तद्याविवा॥ तदपरस्तीबस स्थान तत्र तैत्तिनस्याह॥ (धरक)। अत इस हृदय से समस्त शरीर के समस्त धातुओं को, अंग प्रथमों को प्राणयुक्त, औरजुक्त, चैतन्ययुक्त जीवरक मिलता है। अत इसी के कारण सर्पूर्ण शरीर भी चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय का पूकाध संकोच बन्द होने से याने हृदय पक्क दो सेकण्ड काम न करने से और्जों के सामने चिनगारियों आती हैं, चक्र आता है, वैरों में कमजोरी जा जाती है, मृत्यु का दूर मालूम होता है, संषेष में शरीर से प्राण छले जा रहे हैं ऐसा अनुभव होता है और जब हृदय सदा के लिए बंद (Heart-failure), होता है तब मस्तिष्कादि अन्य महत्व के भ्रंग कार्यालय और प्राकृत होने पर भी शरीर से चैतन्य नष्ट होता है और कितानी कोशिश क्यों न की जाय, जान वापस नहीं आती है। इन सब बातों का विचार करके अत्युचितज चिकित्सक हृदय को प्राणादि का स्थान (अध्यय) मानने लगे और अन्य औरों के अपेक्षा उसको अधिक महत्व देने लगे—स्त्रोपसात्रा मूर्च्छय भेदानन्दर चृच्छि। यदि तत् इत्यर्वदिशन भारि तत्त्व संक्षिप्तम्॥ तत् परस्तीबस स्थाने तत्र तैत्तिनस्याह॥ हृदय गद्दर्यश्च तत्मादुक विक्षितस्ते॥ (धरक, ८० १०)। यदि चैतन्य के अतित्वत्व की इष्टि से (Signs of life or vital functions) विचार किया जाय तब भी हृदय ही सबसे महत्व का होता है। स्वस्यावस्था में इस बात की जांच करने का कारण नहीं होता, परन्तु रोगी की मृत्यु होने पर या स्त्रसम जन्म लिये हुए छालक में चैतन्य के सबूत में जांच करके मृत्यु का निर्णय करने के कई प्रसंग आते हैं। चैतन्याभाव का पता शरीर ढां दण्डने से—नियोज्ञाणी शीतीमाव॥ (धरक)। शास प्रशास का कार्य बंद होजाने से, और्जों की स्थिति से—स्त्र लेचात्तुरी प्रकृतिर्वैने, विकृतियुक्त स्वार्थ तदा पराय रिति विद्यत्। (धरक)। स्वर्वसायारम शरीर के रूप से तथा हृदय और घमनियों के रसन्दार्भ से—सतत रस्त-समानार्थी शरीरदेशानामस्पन्दन, तत्य चेम्बने परिवृद्धियमाने (मन्ये गच्छायनें भस्त्रन्वौ)। (चक्रपाणि)। Carotid arteries ने स्पैटेनिया परामुरिति विद्यत्। (धरक, इन्द्रिय ३)। मालूम होजाता है। इन सब लक्षणों में चैतन्याभाव की इष्टि से स्वसे अधिक विश्वासयोग्य लक्षण हृदय और घमनियों का अस्पन्दन है। हृदय का स्पन्दन या अस्पन्दन स्पैटन से, भ्रकुण से और अत्युचितक काल में उ किरणों से (Fluorescent screen) मालूम होता है। ये पद्धतियां उत्तरोत्तर अधिक विश्वासयोग्य होती हैं। कई शर यह देखा गया है कि अवल इसारा हृदयपन्दन सुनने में न आने के कारण मृत्यु का अमानपद्म प्राप्त हुए नवजात शालक तथा रोगी कुछ घटों के बाद फिर से जिदे होगये हैं। अवश्यकन से न सुनने पर भी भीतर हृदय का स्पन्दन अवृद्धि रहने के कारण इस प्रकार की विचित्र घटनाएं

कभी कभी हुआ करती हैं। कभी कभी पानी में डूबने से या अन्य आकस्मिक घटना से जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तब हृदय के भीतर उपष्टुक्ति (Adrenalin) की सुई देने से मनुष्य कई बार वच्च जाता है। यदि हृदय के स्पन्दन का खुद विचार किया जाय तो आधुनिक खोज से यह मालूम हुआ है कि हृदय में स्पन्दन की उत्पत्ति आपसे आप होती है, केवल इसका नियन्त्रण नाड़ियों के द्वारा होता है। तद (हृदय) संकोच विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः । (उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्)—

The property of rhythmical contraction resides in muscular tissue itself, though during life it is normally controlled and regulated by its nerves. This is expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic not neurogenic. *Halliburton's Physiology*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुवद में हृदय चैतन्य स्थान माना गया है वह विलक्षण ठीक है। चैतन्य स्थान के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे ३३ वें श्लोक के वर्तन्य में किया गया है उसको भी देखो। पुण्डरीकेण—इस श्लोकार्थ में हृदय का स्वरूप संचेप में वर्णन किया गया है। तत्त्वान्तरों में हृदय का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णन किया है—कफक्षमसादात्स्यदृष्टदयं स्थानमोजसः । मांसपेशीचयोरक्षपश्चाकारमधोमुखम् ॥ (अरुणदत्त उद्धृथत श्लोक)। प्रसन्नाभ्यां कपासुभ्यां हृदयं पंकजाऽऽकृति । सुपिरं स्यादधोवक्त्रं यक्षलोडान्तरस्तिम् ॥ (टोटरानन्द) । कमलमुकुलाकारमधोमुखम् । (ढल्हण) । इस वर्णन के अनुसार हृदय अधोमुख रक्तकमल-कलिका के समान नीचे की ओर नोकीला और ऊपर मोटा मांसपेशी से निर्मित एक पोला अंग होता है। यह वर्णन बहुत सुन्दर है। समीपवर्ती अंगों से इसका संबंध ऊपर वर्णन किया गया है। अब भीतरी कोष्ठों का कुछ वर्णन दिया जायगा। हृदय के भीतर एक खड़ी दीवाल होती है जिससे उसके दक्षिण और वाम करके दो विभाग होते हैं। इन विभागों का अपास में कोई संबंध नहीं होता। फिर प्रत्येक विभाग आँड़ी दीवाल से दो भागों में विभक्त होता है। इस दीवाल में कीवाड़ होते हैं जिनके द्वारा ऊपर का विभाग नीचे के विभाग से संबंध रखता है। परंतु ये कीवाड़ (कपाट valves) इस प्रकार लगे रहते हैं कि ऊपर के विभाग से आया हुआ रक्त नीचे के विभाग में जा सकता है, परंतु नीचे के विभाग का रक्त ऊपर के विभाग में नहीं जा सकता। ऊपर के विभाग को अलिन्द (Auriole) और नीचे के विभाग को निलय (Ventricle) कहते हैं। इस प्रकार दक्षिण अलिन्द और निलय तथा वाम अलिन्द और निलय करके हृदय के चार कोण होते हैं। दक्षिण के विभागों के दीच में जो कीवाड़ होता है वह त्रिपत्रक (Tricuspid) और वाम विभागों के दीच में जो होता है वह द्विपत्रक (Bicuspid or mitral) कपाट कहलाता है। दक्षिणालिन्द में अधरा और ऊर्ध्वा महासिराओं के द्वारा समस्त शरीर का अशुद्ध रक्त आता है। वहाँ से रक्त त्रिपत्रक कपाट के द्वारा दक्षिण निलय में जाता है। वहाँ से कुफ्फुसीय धमनी द्वारा, जिसकी दो कुफ्फुसों के

लिए दो शाखाएँ होती हैं, रक्त कुफ्फुस में जाता है। कुफ्फुसीय धमनीद्वारा के ऊपर तीन अर्धचन्द्राकार कपाट होते हैं जिससे रक्त लौट नहीं सकता। कुफ्फुस में शुद्ध हुआ रक्त प्रत्येक कुफ्फुस से दो सिराओं द्वारा वाम अलिन्द में जाकर वहाँ से द्विपत्रक कपाट में से होकर वाम निलय में जाता है। फिर वहाँ से वृहत् धमनी में जाकर समस्त शरीर में फैलता है और शरीर का पोषण करता है वृहत् धमनीद्वारा के ऊपर भी तीन अर्धचन्द्राकार कपाट (Semilunar valves) होते हैं जिससे रक्त लौटकर वामनिलय में नहीं आ सकता। रक्त का शरीर में परिअमण हृदय के संकोच-विकास से होता है। प्रथम दोनों अलिन्द संकुचित होते हैं जिससे तद्रत रक्त दोनों निलयों में चला जाता है। पश्चात् दोनों निलय संकुचित होते हैं जिससे तद्रत रक्त कुफ्फुस में और शरीर में चला जाता है। संकोच के पश्चात् प्रत्येक में विकास या विस्फार होता है जिस समय ये भाग रक्त से भर जाते हैं। वाम निलय की दीवाल सबसे अधिक मोटी होती है क्योंकि उसको संकोच से रक्त समस्त शरीर में केंकने का कार्य करना पड़ता है। हृदय की संकोच विकास की गति आयु के अनुसार बदलती रहती है। इसके सिवाय गति बदलने के और भी कारण होते हैं जिनका विचार आगे की टिप्पणी में किया गया है। जितना शरीर छोटा होता है उतनी गति अधिक होती है। नीचे वयानुसार गति बढ़ताई गई है।

जन्म के पूर्व	प्रति मिनट १५०
जन्म के पश्चात् तुरन्त	, १४०—१२०
प्रथम वर्ष में	, १३०—११५
द्वितीय वर्ष में	, ११५—१००
सातवें वर्ष में	, ९०—८५
चौदहवें वर्ष में	, ८५—८०
जीवानी में	, ८०—७०
धृज्ञावस्था में	, ७०—६०

नाडीज्ञानतरंगिणी में नाडी की गति प्रायः हृसी क्रम से वर्णित है। सुखस्मरणार्थ नीचे श्लोक दिये जाते हैं। एक मिनट में ढाई पल होते हैं, इसलिए श्लोक में वर्णित संख्या को दार्शनुना करने से प्रति मिनट संख्या मिल जाती है। शिशोहि जन्मकालतः पलावधि प्रकाम्पते । धरारसेपुवारकं (५६) निरन्तरं शिशुप्रिये ॥ पलादारभ्यवर्णनं पलैकेन च नाडिका । नेत्रेषुकृत्वं (५२) श्वलति मत्तुकुञ्जरगामिनी ॥ अव्यदद्वद्यं नाडी पलैकेन प्रवैपते । वैदाद्विधिवारं (४४) लोलाद्विचतलकुण्टलशालिनी ॥ वर्षद्वयात्विवर्णनं पलैकेन च तनुकी । स्वेदकृत्वं (४०) श्वलति पीनोत्तुंगपयोधरे ॥ विवर्णत्सप्तवर्णनं पट्विशद्वारकं प्रिये । कम्पते च पलैकेन जीविताशा प्रियवदे ॥ सप्तमान्मनुवर्णनं वैदाद्विवार-कंधरा । यतश्च विशद्वर्णनं द्वाविशद्वारमेवहि ॥ विशद्वद्वात्समारभ्य द्वशराद्वद्वन्तमेव च । खायिवारान् (३०) विशलाक्षि जीवितशा प्रकाम्पते ॥ शतार्थवर्णदारभ्याशीतिवर्णन्तमेव च । चतुर्विंशति वाराचै कम्पते धमनी प्रिये ॥ द्वाहने और वायं निलय की समाई १—१॥ छाँक रक्त के लगभग होती है, इसलिए इतना रक्त प्रत्येक संकोच के समय बाहर फैका जाता है। इस हिसाव से प्रति मिनट निलय ४—६ सेर रक्त बाहर फैकते हैं। जाग्रत् द्वयादि—इस श्लोकार्थ में हृदय में वायं निलय की

में और निवितावस्था में क्या कर्ह होता है उसका संचित स्वस्थ चर्णन किया है। हृदय प्राण, ओज, रस इनका स्थान हैं जो इनको अपनी गति से शरीर के संग्रूँ धातुओं को देकर उनका धारण और पोषण करता है। ये सब वस्तुएँ रक्त के द्वारा संग्रूँ धातुओं को मिलती हैं। शरीर के भींग प्रत्यग तथा धातुपूँज ताम करती हैं तब उनको अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। दिन प्राय काम करने के लिए परमेश्वर रूप भगवान् सूर्यनारायण ने बनाया है और रात्रि आराम पर्याय से निद्रा हेते के लिए बनाई है। प्राय कहने का कारण यह है कि कुछ लोग अपनी प्रकृति से और कुछ लाचार होकर रात्रिवर बनते हैं और दिन में आराम निद्रा सेवन करते हैं—प्रेरोत्रि विषयते यदों मानुष दिनें। रात्रि व्याप्त भूमाना देखते कर्णायम् ॥ (मनु १) ॥ दिन में मनुष्य कितना ही आलसी बद्यों न हो कुछ न कुछ किये बगैर नहीं रह सकता—नदि कथित चयनपि जातु तिष्ठत्यमङ्गुष्ठ। यापते द्वया कर्म सर्वं प्रकृतिर्विषये ॥ १५० ॥ नहि देह भूमा व्याप्त व्यनु वर्माण्यशेषत ॥ (मगवीता) ॥ घटना, किरना, वैठना, लड़े होना, खाना, पीना, विचार करना इत्यादि कार्य ऐसे हैं कि जिनके बगैर सुस्त से सुस्त मनुष्य का भी गुजर नहीं हो सकता। उच्चोगी, परिध्रमी, शीकीन लोग अपनी इच्छा से और गरीब लाचार होकर बहुत अधिक काम करते हैं। प्रत्येक काम के लिए उसकी न्यूनाधिकता के अनुसार न्यूनाधिक रक्त की आवश्यकता होती है। यह सब रक्त हृदय के संकोच विकास से मिलता है। दिन में कार्य करते समय हृदय को एक स्वामाविक कर्मनाई का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दिन में प्राय बैठता या लड़ा होता है। इससे शरीर का आया हिस्सा हृदय के नीचे और आया हिस्सा उसके ऊपर होता है। अर्थात् रक्त-स्त्राण में उसको गुरुत्वाकर्पण (Gravity) के विरुद्ध काम करना पड़ता है। रात के समय कार्यिक शाचिक मानसिक सब ऐच्छिक कर्म बढ़ होते हैं जिसके कारण हृदय को शरीर के विविध भागों को कम से कम रक्त पहुँचने का काम करना पड़ता है। इसके लियाव शरीर का ऊपर का हिस्सा हृदय समतल (Level) के बराबर होने के कारण उसको गुरुत्वाकर्पण के विरुद्ध भी काम नहीं करना पड़ता है। सबैप में, हृदय का रात में अधिक से अधिक आराम और दिन में अधिक कम होता है। हृदय के कार्य के ऊपर निप्पत्ति वातों का असर होता है—तय लिंग, प्रकृति (Temperature), वातावरण का निपीड (Pressure) तथा ताप (Temperature), आसन (Posture), अव्यवेन, व्यायाम और काल, जैसे पूर्वाह्न, अवशाह, मध्यरात्रि इत्यादि। सुखुत के बचन का तात्पर्य यह है कि अहोरात्र में जो दिन और रात होते हैं उनके रात में हृदय सकृदित और दिन में विकसित होता है। इस दृष्टि से यदि उपर्युक्त वातों का विचार किया जाय तो क्य लिंग और वायुभार ये तीन दिनरात में नहीं बदलते, वास्ती सब बदलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हृदय को रात की अपेक्षा दिन में कर्ह गुना अधिक काम करना पड़ता है, याने कई गुना अधिक रक्त वाहूर पेक्ना पड़ता है। आधुनिक खोज से यह मान्यम हुआ है कि दिन में आराम के समय हृदय एक

मिनिट में ४-५ प्रस्थ (पौने पांच से साड़े छ़ सेर) रक्त वाहूर फैकला है और अबत वडे परिश्रम के समय ६० प्रस्थ (३५ सेर) से अधिक रक्त वाहूर फैक सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि वडे परिश्रम के समय इसका काम ६-८ गुना अधिक होता है, और यदि रात के आराम का विचार किया जाय तो दसगुना तक बड़ सकता है। यह वार्ष्य हृदय की गति बड़ने से या प्रत्येक समय वाहूर फैके की राशि के बड़ने से हो सकता है। रक्त की राशि तब यद सकती है जब हृदय की समाई (धारणा शक्ति) बड़ जायगी। यदि हृदय की गति काम के अनुसार बड़ी तो उसकी गति बदले की कोई आवश्यकता नहीं होगी। यदि हृदय की समाई काम के अनुसार बड़ी तो उसकी गति बदले की कोई आवश्यकता नहीं होगी। परंतु व्यवहार में यह देखा जाता है कि काम के अनुसार हृदय की गति नहीं बदलती। जैसे, जब पाँच या छ़ गुना काम होता है उस समय हृदय की गति ३५० या ४५० या नहीं होती, उससे बहुत कम होती है। सायारणतया हृदय की गति फैकों या हुगुनी और फैक्चित तिगुनी होती है, इससे अधिक नहीं होती। इसका अभिशाप यह है कि हृदय अधिक काम की पूर्ति धीशत गति बढ़ाकर और अशत समाई बढ़ाकर करता है। जब समाई बढ़ती है तब आकार बड़ना भी बद्धमात्र है और समाई कम होने पर आकार कम होना भी बैसा ही बद्धमात्र है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि रात में काम भल्लप द्वाने के कारण हृदय की गति तथा समाई बहुत कम होती है जिससे उसका आकार भी छोटा याने सकृदित रहता है। दिन में काम अधिक होने के कारण उसकी गति तथा समाई बढ़ जाती है, जिससे उसका आकार भी बड़ जाता है, याने विकसित होता है। हृदय के संकोच विकास का मतलब उसके आकार से है, गति से नहीं है यह ध्यान में रखना चाहिए। काम के समय हृदय का आकार बदलता (विकसित होता) है और काम समाप्त होने पर वह घट जाता है। हृदय के स्वामाविक संकोच (Systole) और विकास (Diastole) से इस संकोच विकास (Contraction and dilation) का कोई सबध नहीं है—
It is probable that dilation of the heart occurs normally during muscular exercise, the effect of this being to increase the output of blood at each beat. It is however, quite certain from X-ray evidence that immediately after exercise the heart normally contracts down so as to become slightly smaller than its resting size.
Taylor's Practice of Medicine
हृदय के ऊपर एक आवरण है जो परिहृदय (Pericardium) कहलाता है। इस आवरण की दो तर्फे होती है। एक तह हृदय के ऊपर लगी रहती है। इस तह में लचकीले तन्तु रहते हैं। दूसरी तरफ प्रथम सह से स्वतन्त्र होती है। इस तह में धातुलम तन्तु होते हैं जो तनाव पहने पर भी नहीं बढ़ते हैं। इस आवरण के जो अनेक कार्य होते हैं उनमें एक कार्य यह होता है कि परिश्रम के समय हृदय का अस्ति विकसित (Over distended) होने से रोकता—

It has been shown by Biljoma, however, that the pericardium plays an important part in limiting the size of the heart and in preventing it from being overdistended in exercise. Halliburton's Physiology.

आयुवेद के अनुसार हृदय सदैव कमलकलिका के समान रहता है, कदाचि भी कमलपुष्पवत् खिलता नहीं है। फक्त हृतना ही होता है कि दिन में उसका आकार कुछ बढ़ता है और रात में कुछ कम होता है और इसी अर्थ से विकास और संकोच ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

चौंचीसर्वे सूत्र से तीसरे सूत्र के पूर्वार्थ तक गर्भ शरीर के विविध अंग कैसे उत्पन्न होते हैं इसका संचिन्स विवरण किया है। यह विवरण कुछ आनुमानिक और कुछ तात्त्विक है। यह ध्यान में रखकर उसकी ओर देखना चाहिये। आनुमानिक इसलिए है कि, रक्तमसार, मृदुपाक, खरपाक, हीरस्य सन्तानिका इत्यादि दैनिक भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने की घटनाओं को देखकर उस प्रकार की घटनाएँ शरीर में भी होती होंगी, इस प्रकार का अनुमान इस विवरण में है। तात्त्विक इसलिए है कि, पंचमहाभूतों से विविध पदार्थ उत्पन्न होने की जो एक विशेष उपपत्ति है उस उपपत्ति का भी इसमें आधार है। यह उपपत्ति पाँचवें अध्याय में निश्च प्रकार से वर्णित है— तं चेतानवस्थितं वायुर्विभजति, तेज पवं पचति, आपः कुदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति । द्रव्योत्पत्ति के संबंध में यही उपपत्ति चरक में वर्णित है—रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः वितिस्थाप निवृत्तो च विशेषे च प्रत्ययाः खादयत्यः ॥ (सू. १) । गर्भवृद्धि की इष्टि से पांचभौतिक उपपत्ति का विवरण इस प्रकार का होता है। गर्भ का प्रारम्भ संयुक्त शुक्रशोणित से होता है और माता के रस से प्रारम्भ में जो केवल एक अत्यंत सूक्ष्म विन्दु (Celi) था वही अनेक प्रकार के छोटे बड़े अंगप्रत्यंगयुक्त बालक बन जाता है—शताव्रशतभागस्य शतधा कलिपत्स्य च। भागो जीवः स विशेषः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्) । इस गर्भवकान्ति के मुख्य तीन अंग होते हैं—वृद्धि, विविधता और विभक्ति। वृद्धि में आकार की ओर संख्या की वृद्धतरी का समावेश होता है। इसी वृद्धि के कारण मांस संघात उत्पन्न होता है। यह कार्य वायु और आकाश से होता है। विविधता में विविध धातुओं और उपधातुओं की तथा त्वचा कला इत्यादि उपाङ्गों की उत्पत्ति का समावेश होता है। संचेप में रूपान्तर प्राप्ति इससे अभिप्रेत होती है। यह कार्य पित्त या तेज के प्रभाव से होता है। एक वस्तु से विविध वस्तुओं की उत्पत्ति पाक-भेद होती है, जैसे आँच-भेद से भूमिगत तेल से वेसिलीन, पेट्रोल, केरोसीन इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं—सिराणां च मृदुःपाक खायुनां च ततः खरः । विभक्ति में आकार-भेद, एक दूसरे से पृथक्त्व, आशय, धर्मनी सिरा स्तोत्रस तथा अन्य नालीदार अवयवों की उत्पत्ति का समावेश होता है। यह कार्य वायु से होता है। गर्भवकान्ति के तीनों अंग प्रारंभ से अन्त तक साथ साथ होते रहते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप नी महीने के पश्चात् सर्वांग परिपूर्ण बालक बन जाता है। अब शरीर के विविध अंगों, उपांगों और धातुओं

की विशेष आकार, विशेष स्थानों में अवस्थिति तथा विशेष कार्य कैसे पैदा होते हैं? इसका कारण आयुर्वेद स्वभाव वत्ताता है—अंगप्रत्यंगनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते । सन्त्रिवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्धृती । तत्त्वेषसंभवो यश्च रोमाणमेतद् स्वभावतः ॥ (सुश्रुत) । संचेप में माता का रस और शुक्र-शोणित इन चीजों से, तेजवायु और आकाश इनकी सहायता से, स्वभाव के अनुसार गर्भ की वृद्धि होती है यह आयुर्वेदिक गर्भविज्ञान का सूत्र है।

आयुनिक काल में मनुष्येतर प्राणियों के भिन्न-भिन्न कालीन गर्भों का तथा मनुष्यों के विभिन्न कालीन उपलब्ध हुए गर्भों का सूचमदर्शक की सहायता से परिच्छण करके इस विषय का ज्ञान प्राप्त किया गया है। आयुनिक कालिक गर्भविज्ञानः प्रत्यज्ञ प्रसांगमूर्त, अत्यंत विस्तृत और अत्यन्त सूक्ष्म है। इसमें भी वृद्धि, विविधता और विभक्ति ये जो तीन अंग ऊपर वर्णन किये हैं उनका विवरण आता है, परन्तु उनके कारणों का विचार नहीं आता है। इस विषय का कुछ विवरण तीसरे अध्याय के ११वें सूत्र से गर्भ के मासानुमासिक में किया गया है। इससे अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आयुनिक काल में गर्भविज्ञान एक स्वतन्त्र और विस्तृत शास्त्र बन गया है।

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति । तत्र यदा संज्ञावहानि स्त्रोतांसि तत्मोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवयोधिनी, सा प्रलयकाले; तत्मोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामधरान्त्रे, ज्ञाणश्लेष्मणामनिलवहुलानां मनःशरीरभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति ॥३२॥

(निद्रा के प्रकार—) वैष्णवी (होती हुई भी) निद्रा को (आचार्य) तामसी कहते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही संपूर्ण प्राणियों को (रात में) अपने वश में लाती है। जब (हृदयस्थित) संज्ञावह स्त्रोतों में तत्मोभूयिष्ठ कफ पहुँच जाता है तब वोध (संज्ञा) का नाश करने वाली तामसा नामक निद्रा होती है, वह (शरीर का) लय होने के समय होती है। तत्मःप्रधान (लोगों) को दिन और रात (दोनों समय निद्रा) होती है। रजःप्रधान (लोगों) को नियम विरहित (निद्रा होती है), सत्त्वप्रधान (लोगों) को आधी रात के समय (होती है) और चीणक वातभूयिष्ठ शारीरिक तथा मानसिक रोगों से पीड़ितों को (टीक) नहीं होती है, वह वैकारिकी निद्रा है ॥३२॥

वक्तव्य—तु—विरोध दर्शनार्थ इसका प्रयोग किया है। निद्रा विष्णु की माया होने के कारण वैष्णवी कहलाती है। विष्णु नैसे सृष्टि का धारक पोषक होता है वैसे निद्रा भी शरीर की धारक पोषक होती है—शाहारशयननवृच्छवै—र्युवत्या प्रयोजितैः। शरीरं धार्यते कित्यमागारमिव धारणैः ॥ निद्रायतं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्यं वलावलम्। वृपता छीवता शान्मशानं जीवितं न च ॥ (अर्यांगहृदय) । निद्रा विष्णु की माया और शरीर की धारण करने वाली होने पर भी पाप्मा

कहलाती है। पाप्मा—पारी। निद्रा तम से उत्पन्न हुई है और तम निद्रा, प्रमाद, पाप इत्यादि का मूल है, इसलिए निद्रा पाप्मा कहलाती है—“मरत्वशनव विदि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादानस्यनिद्राभिस्त्रिविद्धनाति भारत ॥ (भगवद्गीता १४) । लोकादिस्येऽपमवा तमोदूषा होमरी । यहाँ पर पाप्मा शब्द निद्रा का उत्पत्तिशब्दक और गुणवेदक अतपूर्व उसका विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि निद्रा किनी ही शरीरधारक कर्यों न हो वह पापमूलक होती है। इसका कारण दलहणाचार्य ‘दूरत्सुमध्यापारनिरोधः’ बतलाते हैं। चरक और अष्टांगसंप्रदय में निद्रा के कारण के अनुसार सात प्रकार वर्णन किये हैं। उसमें तमोभव निद्रा पाप्मा कहलाती है—उमोमवामाकुरेष्ट्रमूलम् । (चरक) । स्वभावतः—इसमें ‘रात्री’ शब्द अप्याहृत समझना चाहिये। रात में समझानाता होने के कारण स्वभाव से ही निद्रा आती है—गृहस्याचमतो रात्री निद्रा प्रायेण जाते। (अष्टांगसंप्रदय) । रात्रिः स्वभावभूतान् । (मतु) । रात में जो निद्रा आती है वही चरक और अष्टांगसंप्रदय में काल स्वभाव प्रभवा यत्तलायी है और उसी से प्राप्तियों का घारण होता है—गृहस्याचमतो मतादा वा भूत्पात्री प्रदर्शन्ति तज्ज्ञः । (चरक) । जैसे तम से तमोगुण समझा जाता है, वैसे ही अंधेरा भी समझा जाता है। रात में स्वभाविक अंधेरा होने से नीद भी आती है। अंधेरा नीद की एक स्वभाविक अनुहृत श्रिति होती है। जब नीद नहीं आती तब रोशनी कम करने से नीद आने में सहायता होती है। संशोधनी क्षेत्राति—चरक और सुश्रुत में खोटों के जो विविधप्रकार वर्णन किये हैं उनमें सज्जावह खोटों का उल्लेख नहीं है। परन्तु सज्जावह खोत नामी या घममी ये शब्द ग्रन्थों में कई बार आते हैं—यदा तु रुक्षादीनि रसस्ताराहारिः । पृथक्षृष्टकृ समस्ता वा क्षेत्राति कुपिता मना ॥ (चरक, सूत्र २५) । सज्जावहादु नादीपु विदितस्त्वनिलाभिमि । तमोभूत्युवि सहस्रा सुखुदुखे अप्योद्दृशः ॥ (सुश्रुत, उत्तर ४६) । सज्जावहु खोत कु दोषभ्यासेतु मानव । इत्तम्प योरेतु मूढ़ा आरेन चेत्स ॥ (सुश्रुत-ड. ६१) । दलहणाचार्य सुपूर्त के द्वारा चर्चनों की दीक्षा में सज्जावह खोटों का अर्थ स्पष्ट नहीं करते हैं। चक्रपाणिदत्त चरक (इन्द्रियस्थान अध्याय ४) की दीक्षा में इसका अर्थ निज्ञ प्रकार से करते हैं—संशोधनाति संशोधुमोऽवधिनि, मनोवशनी क्षेत्राति दद्यति पृथक्षृष्टकृनि तद्यापि मनसः, केवल नीदे शरीरायनात् इत्यविभानात् सर्वशरीरतोत्तमिति गृहन्ते, विद्वेष्य तु हृदयान्तिर्वामनसंस्तवद्विद्वद दद्य घमम्यो मनोवशना भूमिकाते ॥ इसका भूतलव हुआ हृदयस्थिति संशोधव घमनिर्यो—Blood vessels of the heart carrying *sesquibutyl* आयुनिक परिमापा के अनुसार सज्जावह खोटों को *Bood-¹-B-Butyls* of the brain कह सकते हैं। दामसी—यथापि तमोमूलक होने के कारण निद्रा दामसी होती है, तथापि यहाँ पर निद्रा की एक विद्येष अवस्था (प्रकार) का यह नाम है। अनवेषितो—जिसमें एक बार संशोधना या योद्दाती होने पर फिर संशोधनी नहीं होती है। प्रणयकाले—सर्ग के प्रारंभ में जब प्रवापति का दिन प्रारंभ होता है तब प्रयम अध्याय के तीसरे सूत्र में वर्णित हुए उत्पत्तिक्रम के अनुसार अव्यक्त से संपूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड

की सृष्टि होती है और ब्रह्म के अन्त में जब प्रवापति की रात्रि प्रारंभ होकर वह निद्रा सेवन करने लगते हैं तब उत्पत्तिक्रम के विशद्क्रम से संपूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड अव्यक्त में लीन होता है, अर्थात् उसका पूर्णतांश होता है। करव के अन्त में ब्रह्माण्ड के नामा के लिए प्रलय शब्द प्रयुक्त होता है—यदा स देवे जागति रहेद वेष्टे जात् । यदा दत्तिविद्यानात्या तदा सर्वं निर्माणति ॥ (मतु. १, ५२) । अव्यक्ताद्य व्यक्तः सर्वः प्रमदन्त्यहरणम् । रात्रामें प्रनीयने वैवाच्यक्तसंकेते (भगवद्गीता. ५, १८) । भूतप्राप्तः स दत्तव्य भूता भूता प्रनीयने। रात्र्यामेऽवश्यः पापं प्रमदत्यहरणम् (१९) । पिण्डदलहणाहृत्याय के अनुसार शरीर के भी व्यक्तभाव यद अव्यक्त में लीन होते हैं तब उसका भी नामा होता है, इसलिए मनुष्य शरीर की दृष्टि से प्रलय का अर्थ मनुष्य होता है—ददा सत्रे प्रदेहे तु प्रनय यति देहश्वर । तदोत्तरामिदा लोम नमदान्त्रप्रियपदे ॥ (भगवद्गीता १५, १४) । अनिमित्तम् निद्रा का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी रहोभूयि लोगों को निद्रा आती है। निद्रा का वारण दूर होने लिए एक विदिषाकाल की आवश्यकता होती है। जिस निर्विमित्त निद्रा आती है उसकी निद्रा विदिषाकाल त रहने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् अनीति चिक निद्रा विस्तीर्ण समय में दिन में या रात में आती और अल्पकाल तक रहती है। संदेह में अनिमित्त से निय विरहित समझना चाहिए। अप्ररात्र—मध्यरात्रि के ह प्रहर। रात के नींद बजे से सुबह के तीन बजे तक। निद्रा लिए यही उत्तम काल होता है और धर्मसाधा में भी यह काल यताया है—प्रयोगप्रक्षिप्तो यामी वैद्यामानेन तौ नयेव प्रहरद्यं ध्याने हि वद्यभूयाय कल्पने ॥ (दद्यस्मृति) । नैद—इसमें मुख्यतया निद्रा का अभाव आता है। साधारणतय शारीरिक और मानसिक विकारों से पीड़ित होने पर निद्र कम होती है, परन्तु जब उनमें कम की दृष्टिका और बाहु की अधिकता होती है तब निद्रा और भी कम होती है। क्योंकिवायु निद्रानामा का प्रयान कारण है—त एव च विदेव निद्रानाश्वस्ति हेतुः । कार्यवानो विवारथ प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ (चरक, सूत्र २१) । विकारग्रहणेनैव वाते लभे पुनर्वात्प्रदृश्य विद्येष वायोनिद्रापदारक्तप्रतिपादनार्थम् । (चक्रपाणिदत्त) । नैव से जैसे अभाव का बोध होता है वैमे अल्पता का और अप्राप्यतय का भी बोध होता है, क्योंकि प्रत्येक शारीरिक और मानसिक विकार में निद्रा का पूरा अभाव न होकर उसकी अल्पता और अप्राप्यता जल्द हो जाती है।

इस सूत्र में निद्रा के तीन प्रकार बताये गये हैं—तामसी, स्वाभाविक और वैकारिक। चरक और चारभट में निद्रा के सात प्रकार वर्णित हैं—उमोमवा लेमसमुद्रना च मनोशीरेभ्यसमवा च। आगनुसी व्यायानुवर्तीनी च रात्रिदर्शवाच प्रभवा च निद्रा ॥ परन्तु ये प्रकार अल्पिर में स्वाभाविक, वैकारिक और तामस इन तीनों में ही समाविष्ट किये गये हैं—रात्रिस्वामादुपलृष्ट मूल द्वैत पुनर्वायिषु निर्देशनि ॥ (चरक, सू. २१) । (१) दामसी निद्रा—इसका वर्णनं 'त्रत्र यदा' से 'प्रलय काले' तक है। बास्तव में यह निद्रा न होकर मनुष्य पूर्वकालीन गमीर सज्जानामा की स्थिति है। यदि इसकी संमाप्ति, लक्षण और काल का विचार किया जाय तो यह

स्थिति चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च । पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ मलिनाहाशीलस्य रजोमोहाश्वतात्मनः । प्रति-हत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ मदमूर्च्छाय संन्यासारतेपां विद्याद्विचक्षणः ॥ यथोत्तरं वलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिष्ठु ॥ वागदेहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिवला मलाः । संन्यस्यन्त्वलं जन्मन् प्राणायतनसंथिताः ॥ स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः । प्राणैर्विशुद्ध्यते शोषं मुत्त्वा सद्यः फलाः क्रियाः ॥ (चरक, सूत्र २४) । चरक और वाग्भट में जो तमोभवा निद्रा है उसके लक्षण वहाँ पर वर्णित नहीं हैं, इसलिए तमोभवा निद्रा के संबंध में उनकी क्या कल्पना थी इसके समझने का कोई साधन नहीं है । परन्तु सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है इसमें कोई संदेह नहीं है । पाश्चात्य परिभाषा में कोमा (Coma) की जो व्याख्या मिलती है उसको देखकर तामसी निद्रा को कोमा कह सकते हैं—

Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death. Index of differential Diagnosis by Herbert French

इस व्याख्या में अनवदोधन, सृत्यु की संभवतीयता और निद्रा का एक प्रकार ये सुश्रुतोक्त तीनों लक्षण आते हैं यह चिन्त्य है । (२) स्वाभाविक निद्रा—इसका वर्णन 'तमो-भूयिषानां' से 'अर्धरात्रे' तक किया गया है । यहाँ पर त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार निद्रा के समय में जो जो फक्त होता है वह बताया गया है । स्वभूयिष्ट मनुष्यों के लिए निद्रा का जो काल बतलाया गया है वही वास्तविक काल है । निद्रा का काल वय, व्यवसाय, अभ्यास और प्रकृति के अनुसार बदलता है । वचपन में एक महीने के वालक के लिए २१ घंटे तक, छः महीने के लिए १८ घंटे तक, एक साल के लिए १५ घंटे तक, चार साल के लिए १२ घंटे तक और बारह साल के लिए १० घंटे तक नींद की आवश्यकता होती है । इसके बाद जवानी में नींद का काल पुरुषों के लिए सात और लियों के लिए आठ घंटे का होता है । घृद्धावस्था में निद्रा इससे भी कम हो जाती है । शारीरिक और मानसिक अधिक परिश्रम करने वालों के लिए अधिक और कम करने वालों के लिए कम निद्रा की आवश्यकता होती है । अभ्यास (Habit) से मनुष्य निद्रा का काल बहुत कम या बहुत अधिक कर सकता है—आहरो मैथुन निद्रा सेव्यमानं तु वर्धते । कफ प्रकृति मनुष्य को अधिक, वात प्रकृति को कम और पित्त प्रकृति को मध्यम निद्रा की आवश्यकता होती है—अल्पपित्तवलजीवितनिद्राः । वातिकाः । आयो निद्रालौर्वस्त्रः कुण्डः । श्लेष्माः । (अद्यांगहृदय) । वय के अनुसार निद्रा के काल में जो फक्त ऊपर बताया गया है वह प्रकृति भेद के अनुसार होता है—ऐसा आंयुर्वेद का मत है क्योंकि वचपन में श्लेष्मा, जवानी में पित्त और उद्धापे में वात की अधिकता होती है—वाते विवर्धते श्लेष्माः, मध्यमे पित्तमेव च । भूयिष्ट वर्धते वायुर्वृद्धे तंदीव्य योजयेत् ॥ (सुश्रुत) । वेऽप्तविश्वामीनां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमादः । (अद्यांगहृदय) वैकारिकी निद्रा—यह निद्रा अनिद्रा के बराबर

है । इसको अंग्रेजी में इन्सोमनिया (Insomnia) कहते हैं । इसमें अपने वय, व्यवसाय, अभ्यास, प्रकृति इत्यादि के अनुसार उचित काल तक नींद न आने से पूर्ण अनिद्रा तक सब दोषों का समावेश होता है । इसके कारणों का विचार आगे ४१वें श्लोक में किया गया है ।

भवन्ति चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ।
तमोभिभूते तर्स्मस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥३३॥
निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं वोधने हेतुरुच्यते ।
स्वभाव एव धा हेतुरुगरीयान् परिकोर्त्यते ॥३४॥

(निद्रा का स्थान और हेतु—) यहाँ पर श्लोक हैं । हे सुश्रुत ! प्राणियों के (शरीर में) चेतना का स्थान हृदय (पहिले ही) कहा गया है । उसके तम द्वारा अभिभूत होने पर निद्रा प्राणी में प्रवेश करती है ॥ ३३ ॥ निद्रा का कारण तम और (निद्रा से) प्रवोधित होने का कारण सत्त्व कहा जाता है । अथवा स्वभाव ही (निद्रा का) अधिक महत्व का कारण कहा जा (सक)ता है ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—भवन्ति चात्र—भवति चात्र, भवति शत्राव और भवन्ति चात्र इस प्रकार के शब्द प्रयोग गदा के पश्चात् आने वाले एक, दो या अनेक श्लोकों के पूर्व चरक, सुश्रुत और अद्यांगसंग्रह में दिखाई देते हैं । इन प्रयोगों के संबंध में भिन्न भिन्न ग्रंथकारों के भिन्न भिन्न मत हैं । (१) चरकाचार्य स्वयं कहते हैं कि गदोक्त जो अर्थ फिर से श्लोकों द्वारा दिया जाता है वह पूर्वोक्तार्थ स्पष्टीकरणार्थ और सुख-ग्रहणार्थ दिया जाता है—गदोक्तो यः पुनः शोकैर्थः समनुगीयते । तद्यक्तिव्यवसायार्थ द्विरूपं तत्र गद्यते ॥ (निदान० १) । (२) चक्रपाणिदत्त इसी श्लोक की टीका में लिखते हैं—तद्यक्तिव्यवसायार्थमित्यत्र तद्यक्तिर्गोक्तार्थस्य व्यक्तिः प्रसन्नतेति यावत्, व्यवसायोऽध्यवसायो व्यहणित्यर्थः, यस्मात् पूर्वोक्तार्थ-स्पष्टीकरणार्थ पुनः शोकेनाभिधानं, वस्मात् प्रयोजनात्तरयुक्तवाच्न मुनरुक्तिदोष इति भावः । गदोक्तार्थेष्वक्ष्या श्लोकाभिधानं सुखग्रहणं भवतोति लोकप्रसिद्धेव । अन्यस्थान में भी चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—भवन्ति चात्रेति, तन्वाकारस्य समयोऽयं, यत् पूर्वव्याख्यातार्थ-संग्रहार्थं यदा शोकेन वक्तुमारभते यदा । 'भवति चात्र' इति करोति ॥ (चरक, सूत्र, ५) । (३) दल्हणाचार्य सुन्नस्थान के प्रथम अध्याय के 'शारीराणा विकारारणमेप वर्गश्चतुर्विधः' इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—इदानीं गद्यविस्तरेण प्रतिपादितमर्थ शोकैः प्रकटीकुर्वन्नाह—भवन्ति चात्र श्लोका इत्यादि । यद्यपि सुश्रुते भवन्ति चात्रेति विनाडापि श्लोका भवन्ति, तथाऽपि अत्र मन्दमतीनां गद्यपद्मेदकथनाय भवन्ति चात्र श्लोका इति कृतः । अत्ये तु वैदादिवर्मसंवादार्थसिति वदन्ति ॥ (४) इन्दु अद्यांगसंग्रह सुन्नस्थान के चौथे अध्याय के 'हेमन्ते शिशारे चाग्नं विसर्गादानयोर्वलम्' । इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—भवति चात्रेति पदारम्भे तन्व रीतिः ॥ इन चतुर्नों का अभिप्राय यही होता है कि प्रायः गदा के पश्चात् पद्म प्रारंभ करते समय ग्रंथकार इसका प्रयोग किया करते हैं । श्लोकों में प्रायः गदोक्त अर्थ संतोष में दिया जाता है जिससे उसका स्मरण सुख से होजाय । कुछ लोगों का मत है कि इससे अन्य ग्रंथकारों के आधार चतुर्नों के पदारम्भ वैकारिकी निद्रा—यह निद्रा अनिद्रा के बराबर

और उनमें गदोक अर्थ ही संदेप में दिया गया है । अत— ये शेष अन्य किसी घंटे से उद्दृष्ट किये गये हैं वा अपने पुष्टव्य अन्य विभी प्रणय का भूत प्रदर्शित करने के लिए अन्याय गये हैं ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । अगर योडी देर के लिए ये शेष अन्य प्राचीन अंगों से उद्दृष्ट विद्ये गये हैं ऐसा मान लिया जाय तो भी इनका अभिभाव घूर्णक अन्याय से विसंबंधी नहीं है । हृदय चेतनास्थान इस छोड़ में हृदय का अर्थ करने की हाइ से मनति चाव इसका हृतना उदाहरण दिया गया है । हृदय चेतनास्थान—यह बही हृदय है जो रक्त और कफ के प्रसाद से उत्पन्न हुआ है, प्राणवह धमनियाँ जिससे संवर्धित हैं, जिसके दोनों ओर फुकुस और नीचे भी हा और यहाँ है और विशेष करके चेतनास्थान माना गया है ।

संदेप में यह रक्तपरिचालक, सुपिर, मांसप्रेरीमय, अधो-मुख कमलकलिकाकार अन्व है जिसको लैंगेजी में हार्ट (Heart) कहते हैं । परतु महामहीपाद्याय कविराज मणिनाथ सेन इस श्लोकगत हृदय को मस्तिष्क (Brain) और जिस गणगत अर्थ के स्पर्शीकरणार्थ तथा सुखसमरणार्थ यह श्लोक दिया गया है उस गय (सूत्र ३०) गत हृदय को हार्ट समझते हैं । प्रत्यक्ष शारीर के तीसरे विभाग में तासरे पृष्ठ पर 'त्रव च साहोपादामस्तिष्क सदस्पष्टदलासाहृदयाद् सदस्प-रसिति सर्वदानप्रयननार्थं योगिनः ।' इस भक्तार मस्तिष्क का वर्णन करके पाद टिप्पणी में लिखते हैं—यद्युद्यैके—'उद्देविवास हृदय प्रदूच्य' इत्यादि विश्वामय वचनम्—तदूर्मस्तिष्कमूलरित्याऽशाचकार्यभूतद्वयाद्यामिप्रापयेण । योगिनो हि पद् चक्रनिरूपे मस्तिष्कमूलस्थामाशाचकार्यकर्म 'प्रत्यक्षान्तरात्मेन निवसति च मनः एकस्मृत्य प्रसिद्धम्' इति स्पष्टमाहुः । न च मनोद्विवित्वा कुद्विति । मुविष्क—'य षोडश्तर्हृदय आवश्य-स्त्रिमर्याप्य पुरुषो मनोमदः' इन (तैतिरीय उपनिषद्, पठ अनु०) । यच सुकृतोदृश्य 'हृदयक्षेनास्थानामिप्रायादि' प्राचीन-वचन, तदपि एकदमिप्रायिकैव, 'आवश्यस्त्रिकृत्यस्त्रिविद्यामि-निदेशादिति द्रिक् । न च मासप्रायमेव हृष्टव ददितिवचनं, तदि-न क्यमपि तादृशस्त्रियामिथेव भवितुमर्हति, असम्भावत् ।' और प्रत्यक्ष शारीर की प्रस्तावना में लिखते हैं—दतु 'हृदयस्थापे रामनः स्तीदा कुपकुसुध दक्षिणो वृद्धं होग च' हवि रौशन गठ, तत्र निषिकप्रापाद एव दीर्घद्वयै । 'हृदयस्थापो वामत भीष्म, दक्षिणो वृद्धत, उभयतः होमकुपकुसुध च' हवि तु सापी-यान् गठः । अन्यथा न केनापि वर्यमपि वामपि सापीं समापातुम् ॥

परंतु इस प्रकार हृदय का अर्थ गय में हार्ट (दिल) और उसी गय के अनुवाद के लिए बनाये गये श्लोक में देव (मस्तिष्क) समझना न सुकियुक्त है, न उभयत है और न आवश्यक है, परंतु सर्वधैर्य दोपाकद है । हृदय का अर्थ या सो मस्तिष्क होगा या दिल होगा, दो अर्थ कहापि भी नहीं हो सकते हैं । परंतु निष्ठ कारणों से आवश्यक में निरप्रापाद हृदय से हार्ट ही समझना चाहिये । (१) आवृद्ध में हृदय सर्वदा एक वचन में आता है—दृश्य तु न सुखायन—त्रव एवा भावो मना दोगा दृश्यामो पुरुष तदुक्तो हृदयमात्रा । (सुकृत) । इसका अभिभाव यह है कि शारीर में हृदय के बाहर पक है । (२) शारीर के जो चार शास्त्रार्थ, सिर और भृष्ट वर्के के लिए होते हैं उनमें

से मध्य में (कोष में) हृदय होता है—पञ्चदश दोषाहानि, वधया—नामित्व दृश्य च होम च वृद्ध भीष्म च इत्यादि । (चरक शा० ७) । श्वासन्दामाप्तिकाना मूरत्य रसित्य च । हृष्टुःकः पुस्तुसध कोष हृदयमित्येवते । (सुकृत, च० २) । पञ्चदश दोषाहानि, वधया—नामित्व हृदय च होम च वृद्ध भीष्म च इत्यादि । (भेलसंहिता, शा. अ. ७) । तेतु सासु प्रतिवदानि दोषाहानि हृदययहृष्टुःकुसोङ्कृष्टवानार्दीनि । (अद्वीप-संग्रह, शा० ८) । नामित्वः प्राणप्रननः स्त्री दृश्यमलान्तरद् । वृषादिविनियोगि प्राणु विष्पुदामृतद् ॥ (शार्दूलघ) । नामित्वं भीष्म वृद्धं होम हृष्टु तुरस्तद् । तुरान्तमध्य च त्वृत्त मामपकाशयोवचा ॥ (कोषांगानि । कारयव सहिता) । (३) रक्तकमलकलिका के समान अधोमुख और अन्तमुखिर मांसपेशीमय हृदय का स्वरूप वर्णन किया गया है । यह स्वरूप भ्रेता की अपेक्षा हार्ट के स्वरूप के साथ पूर्णतया मिल जाता है । (४) कोषहृदय अन्य उपाहारों के साथ उसका जो संवेद वर्णन किया है और जिसके पाद में गणनाथ सेन जी ने उपर्युक्त परिवर्तन सूचित किया है उस संवेद से भी हृदय से हार्ट का ही वोष होता है, मस्तिष्क का नहीं । (५) ममते में हृदय के अतिरिक्त सिर तथा सिरगत अन्य ममतों का उल्लेख मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि हृदय सिर में नहीं है—देवोवापत्नाम्बाहुः प्राणो येषु प्रतिष्ठानः । शशी मांसवयं । (हृदयवस्तिद्विरासि । चारपाणिदत्त) । कण्ठोरज गुरुजनी युद्धम् ॥ (चक, सूत्र, २९) । नन्द शालाप्रितेम्यो मांस्य-स्त्रीमाप्रितेम्यो गणीयासि, शालाना तदविवितादः । शत्वा-क्षितेम्योपि हृदयितिराति । (चरक, सिद्धि ९) । शक्राद्वा-न्वयिषति । शशी कण्ठोरजेयदम् । हृदयं वस्ति । नामी च भ्रन्ति सदोहवानि तु । (सुकृत शा० ६) । सत्तोरं भ्रमशंखं ददुर्क शरीरसंव्यामिकृत्य तेतु । भर्मापि वस्ति हृदयं दिवाद् प्रयत्न-भूत्यन्वयो वदन्ति ॥ चेतनास्थानम्—इस दृश्य प्रयोग के कारण हृदय का अर्थ मस्तिष्क किया गया है । चेतना स्थान का सापाद्य अर्थ वीष्टे श० वै सूत्र के 'विद्येषेवेनाम्बाहुः' इस पद की टिप्पणी में किया गया है । इस के विवेष अर्थ का विवरण यहाँ पर किया जाता है । पंचमाहात्माक शारीर अचेतन होता है । पुरुष या आमा के कारण उसमें चेतना उत्पन्न होती है । आमा चेतना का समविकारण होता है, इसलिए चेतना शब्द से आमा का अर्थ होता है । उसका जो स्थान यह चेतना स्थान—चेतनाम्बदेनामा शृण्णो चेतनामामाविवायत्यात्, तत्य स्थानं चेतनाम्बाहु । इसका अभिभाव यह हुआ कि आमा का निवास स्थान हृदय है । यह केवल कल्पना नहीं है, उपनिषदों में आमा का स्थान हृदय ही वाताया गया है और हृदय में निवास करने के कारण हृदय का एक अर्थ आमा भी होता है—अणोरणोवानमहो महीवानामास्यवनोभितो गुहायाम् । (कषोपनिषद् १, २) । आमामाः पुरुषोन्तरामा सदा जनानी इत्यै सनिषिद् । (२, ६) । इदि शेष आमा । (प्रसोपनिषद् १, ६) । नन्दमयः प्राणप्रापादेना प्रतिष्ठितोत्ते दृश्य सुनिषय । (सुष्टुपोपनिषद् २) । स यत्प्रोल्लास्यहृदयं आमाम् । तत्त्व-प्रयुक्ते मनोवय ॥ (तैतिरीयोपनिषद् १, १) । परम भास्मा-वृद्धैर्षेष्टीयाम् द्वीर्हो यवाहा संप्रवाहा इसामादाय इसामा-कृष्टुनामाद एव मासमान्तरालहृदये योगाय् उपचित्वा व्यायामन् ।

अध्यायः ४]

रिजाज्जयान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । (छांदोग्योपनिषद् ४, १४) । स वा एप आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयम् । (छांदोग्योपनिषद् ८, ३) । व्रह्मसूत्र और भगवद्वीता में भी आत्मा का स्थान हृदय ही दिया है—अबस्थितिवैश्वादिति चेत्राभ्युपगमाद्धृदि हि । (व्रह्मसूत्र २-३-२४) । ईश्वरः सर्वभूतानां हृषेशोऽर्जुन तिष्ठति । (भगवद्वीता १८-६७) । स्मृति में भी हृदय आत्मा का स्थान दिया है—अनन्यविषयं कृत्वा मनोद्विद्विष्टीन्द्रियम् । ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपत्प्रमुः ॥ (याज्ञवल्क्य ३-१११) । जिस हृदय में आत्मा रहता है उसका स्वरूप भगवान् श्रीशंकराचार्य ‘हृदि द्येष आत्मा’ इस प्रक्षेपनिषद् के वचन की टीका में लिखते हैं—हृदि द्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छन्ने हृदयावकाश एप आत्मास्तमना संयुक्तो लिङ्गमात्मा । (छांदोग्योपनिषद् के ८, ६-७) के भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्यानन्त्यं संविधिनो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिसृताः । (वृहदारण्यकोपनिषद् २-१-१९) के भाष्य में आचार्य लिखते हैं—हृदयं नाम मांसपिण्डस्तस्मान्मांसपिण्डात् पुण्डरीकाकारात् । इन वचनों से यह सिद्ध होगा कि योगियों का हृदय भले ही सिर में (मस्तिष्क में) हो, वेदान्तशास्त्र के अनुसार आयुर्वेद का हृदय, जैसे कि यहाँ पर वर्णन हुआ है पुण्डरीकाकार और मांसपिण्डमय होता है । अर्थात् आत्मा कोप्तस्य हृदय में होता है । आत्मा का अधिष्ठान हृदय में होने के कारण आत्मा के लक्षण याने चैतन्य के लक्षण—इच्छा देषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः । बुद्धिः स्मृतिरहद्वारो लिङ्गानि परमात्मनः । (चरक. शा. १) ।—भी हृदय के ऊपर ही आरोपित होते हैं । यही कारण है कि आयुर्वेद में कोप्तस्य हृदय मन बुद्धि अहंकार का अर्थात् चैतन्य का स्थान माना जाता है—अर्थे दशमाहमूलाः समात्का महाफलाः । महचार्यथं हृदयं पर्यायैरुच्यते वृद्धैः ॥ पठद्वन्द्वं विज्ञानमिन्द्रियाण्यथेष्वप्रक्रम् । आत्मा च सगुणश्चेतत्विन्द्रियं च हृदि संश्रितम् ॥ प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते । गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ तसोपाधानाम्बूद्ध्यं भेदान्मरणमृच्यते । यद्दि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्त्वं संश्रितम् ॥ तत्परस्यैजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंघ्रहः । हृदयं महदश्श तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ (चरक, सूत्र ३०) । दोषाः प्रकृष्टिता हृदयमुपसूत्यं मनोवहानि शोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् । (चरक, उन्माद निदान) । दोषाः प्रकृष्टिता रजस्तमोभ्यासुप्रहतचैतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठमायतनं हृदयमुपसूत्यं पर्यवतिष्ठते । (चरक, अपस्मार निदान) । रसधात्वादिमार्गाणां सत्त्ववुद्दीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्त्वैजसस्त्वैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ अति पीतेन मधेन विहते नौजसा च तत् । हृदयं ‘याति विकृति तत्रस्या ये च भातवः ॥ (चरक, मदात्यय चिकित्सित) । तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्या बुद्धेन्विवासं हृदयं प्रदूष्य । चोत्तरसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ (चरक, उन्माद चिकित्सित) । धमनीभिः त्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि । संपीडयमानो व्यथते मूढो अतिन चेतसा ॥ (चरक, अपस्मार चिकित्सित) । तत्र हृदये दश धमन्यः प्राणापानौ मनोबुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामपरा इव प्रतिष्ठानि । (चरक, ग्रन्थमीर्यासिद्धि) । स्तनयोर्मध्यमधियायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामपिण्डानं हृदयं नाम, तत्रापि सथ एव मरणम् ।

(सुश्रुत, मर्मशरीर) । द्वारमाशयस्य च । सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम् । (अष्टाङ्गहृदय, शा. ४) । तत्र सत्त्वादीनां सत्त्वरजस्तमसां तथा विज्ञानस्तेन्द्रियाणां चार्थपञ्चकस्य तथास्तमनश्चेतत्सो धाम स्थानम् । (अस्त्रगदत्त) । देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम् । तत्संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ (उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्) । हृदयं चेतनास्थानं तज्जातु सुखदुःखयोः तत्संकोचविकासाभ्यां जीवितज्ञा प्रकंपते ॥ (नाडीज्ञानतरंगिणी) । गर्भं धृद्धि के समय गर्भ के किसी अंग की प्रथम उत्पत्ति होती है इस विषय के वादविवाद के समय प्रत्येक ऋषि शरीर के प्रत्येक अंग के विशिष्ट गुणों को सामने रखकर उसी की प्रथम उत्पत्ति वतलते थे । इस गुणप्रदर्शन में हृदय बुद्धि मन और चेतना का स्थान ही चताया गया है—हृदय (पूर्वमधिनिर्वत्ते) मिति काङ्क्षायनो वाल्हीकभिपक्, चेतनाभिष्ठानत्वात् । (चरक, शा. ६) । हृदय (पूर्वसंभवति) मिति कृतवीर्यो बुद्धेनसश्च स्थानत्वात् । (सुश्रुत, शा. ३) । गर्भ की मासानुमासिक धृद्धि में चौथे महीने में हृदय की प्रगल्भता चताई गई है और उसी से माता में दौहित उत्पन्न होता है, क्योंकि हृदय इच्छा सुखदुःखादि का स्थान होने के कारण गर्भ में पूर्वकर्मानुसार कुछ इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जो माता के द्वारा प्रकट होती हैं और वही दौहित होता है—चतुर्थे...गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाचेतनावाधुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात् ? तस्थानत्वात्, तस्माद्भ्रश्वरुत्थे मास्यमिग्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दीहृदिनीमाचक्षते । (सुश्रुत, शा. ३) । द्विहृदयस्य भावाद् द्वैहृदयं, मातृहृदयं गर्भहृदयेन संबद्धं हृदयहृदयं भवति । (चक्रपाणिदत्त) । गर्भ के हृदय का और माता के हृदय का संबंध जिस ग्राकर वर्णन किया गया है उससे हृदय का अर्थ मस्तिष्क न होकर हार्ट (heart) ही होता है । आगमोऽपि । हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्ति तस्य च । मांसपेत्तीन्योरेक्षपाकारमधेमुखम् । योगिनो यत्र प्रश्नन्ति सम्बन्धज्येति: समाहिताः । रसो यः स्यवृत्ता यातः स तत्रैवात्तिष्ठते । ततो व्यानेन विज्ञिः कृत्वत्तनं देहं प्रपथते ॥ (अस्त्रगदत्त, अष्टांगहृदय सूत्र, १२) । और भी कई वचन मिल सकते हैं, परन्तु इतने वचन हृदय का मन बुद्धि हृत्यादि से साहचर्यं सिद्धं करने के लिये पर्याप्त हैं । अब तक हृदय का विचार किया गया । इसके बाद शिर और मस्तिष्क का विचार किया जाता है । ‘सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्’ इस व्यावहारिक उक्ति के अनुसार आयुर्वेद में शिर एक प्रधान अंग माना जाता है, परन्तु यह प्राधान्य शिर हृन्दियों का अधिष्ठान होने के कारण दिया गया है, मस्तिष्क का महत्व समझ कर नहीं । यह ध्यान में रखना चाहिये—प्राणाः प्राणभूतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । यदुत्तमाङ्गमज्ञानां शिरस्तदभिषेधते ॥ (चरक, सूत्र १७) । शिरः पूर्वमधिनिर्वत्ते कुचाविति कुमारशिरा भारद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तदपिष्ठानसिति कृत्वा । (चरक, शा. ६) । शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च सोत्वांसि सूर्यमिव गर्भस्त्वयः संश्रितानि । (चरक, सिद्धि ९) । गर्भस्य खलं संभवतः पूर्वं शिरः संभवति इत्याहशीकः, शिरोमूलत्वात्प्रथानेन्द्रियाणाम् । (सुश्रुत, शा. ३) । सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणां येन च संस्थिताः । तेन तस्योत्तमांगस्य रजस्तमसामपिण्डानं हृदयं नाम, तत्रापि सथ एव मरणम् ।

तो इसका उल्लेख यहुत कम होता है और जहाँ पर होता है वहाँ पर आधुनिक शासीर कार्य विज्ञान (Biology) के अनुसार जितने महाव के साथ उसका उल्लेख होना चाहिये बैसा नहीं होना—मस्तिष्करायांभौजिति । (चरक, शा ७) । मस्तिष्क शिरसे मज्जा । मस्तिष्क शिरोगतस्तेत् ॥ (चक्रपाणिदत्त) । अद्वयाकवित्तो नस्य मस्तुलुङ्गेऽवरित्ते । (चरक) । मस्तुलुङ्गादित्तो भिन्ने कथाये मधुनामीपी । द्रव्य ततो निवृद्धीयात् सप्ताह च पिवेद् धूतम् ॥ (सुश्रुत, चि ३) । विरमोऽप्तुते शल्ये बालवृत्ति प्रवैशेष्येत् । वालवृत्तामत्ताया मस्तुलुङ्ग व्रायत् छ्रेतेत् ॥ एयादेन ततो वायुस्तम्भादेश्युपाचरेद् । (सुश्रुत, चि २) । मस्तुलुङ्गमिति शिरसे बलाशान स्थानपृष्ठाकार मस्तुलुङ्गमृच्यते । (दलहण) । मैत्रोत्ते वस्थामुर्डेऽवरित्यु च न सरक्ते भवति । तदेव च शिरमि क्षानवृत्तिकृद्यन मस्तिष्कराय मस्तुलुङ्गात्य च । (अष्टागस्मध्रुव, शा ५) । मस्तुलुङ्गात्तोऽयादिमस्तिष्कानन्य जीवन् । (अष्टागस्मध्रुव, उत्तर ११) । मस्तुलुङ्गवायात्य वायुस्तम्भादित्य नामवैत् । (सुश्रुत, शा ३०) । मस्तुलुङ्गो दिलीन घृताशार मस्तिष्कां । (दलहण) । मस्तुलुङ्ग सर्वविदी इन वचनों को देखकर एक बात साफ होगी कि इसके स्वरूप का तथा कार्यों का विवरण कहीं नहीं चर्णित है, केवल मस्तुलुङ्गकपालास्थियों के भीतर का स्थोन है इतना ही अर्थ निकलता है।

अत महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन हृदय को हार्दि समझने की हृषि से जो तीन विशाध वत्तलाएँ हैं उनका संरेप में किर से विचार किया जाता है । प्रथम विरोध यह है कि हृदय बुद्धि का स्थान बहा गया है इसलिए वह हृदय हार्दि न हाप्त बन ॥ होना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि आयुर्वद हार्दि में ही बुद्धि का स्थान मानता है—इन्द्रियिनि कृतीयोऽन्तेमनमध्यस्थानतात् । (सुश्रुत) । यहाँ पर शिर का उल्लेख करने के बाद हृदय का उल्लेख आया है, इस लेप यह हृदय मध्यहृदय नहीं हो सकता । दूसरा विरोध सकोच विकास का है । इसका उत्तर यह है कि निद्रितावस्था में सकोच और ज्ञानानावस्था में विकास हार्दि का भी होता है और इसकी सल्लत आयुर्वद खोज से (३१ वें सूक्ष का वक्ष्य देखो) भी सिद्ध होती है । तीसरा विरोध यह है कि मौसमय ओंग में इस प्रकार के गुण असंभव हैं । इसका उत्तर यह है कि आमा जिस हृदय में रहता है वह मासमय पिण्ड है, इसका साथ श्रीशक्तराचार्ये दते हैं, इसलिए इसमें काई असम्भवनीयता नहीं है । संरेप में आधुनिक कल्पना के अनुसार वयष्ठे बुद्धि और मन का स्थान हृदय मानने में दोष होता है, तथापि आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के अनुसार वोई दोष नहीं है । जिस स्थान में हृदय की मर्यादा नहीं बताई गई है ऐसे स्थान में आधुनिक परमाना के अनुसार हृदय से मस्तिष्क समझ सकते हैं, परतु जहाँ पर हृदय की मर्यादा निश्चित है (जीवे—मस्तिष्कां पाम हृदय स्तनोर शोषणाभ्यगम) वहाँ पर उसमें मस्तिष्क नहीं समझ सकते । अत आयुर्वेद में हृदय से हमेशा हार्दि समझना दी जातिहै ।

मन वा १८—हृदय में मन का स्थान होता है हृसवी सिद्धता ऊपर चरक सुश्रुतादि के जो वचन प्रमाण दिये हैं उनसे ही जुड़ी हैं । परतु भेल्सहिता में मन का स्थान शिर

वताया है—शिरस्तत्त्वन्तरं सर्वेद्रिद्यपर मन । तत्रस्य वदि विषयानिनिदारणी रसात्तिकान् ॥ समोपस्थात् विज्ञानाति जीव भावात्थ नियच्छति । तमन प्रभवश्चापि सर्वेद्रिद्यपर बनम् ॥ कारण सर्वेदुद्दीर्णात् चित्त हृदयमतिवनम् । विज्ञानादेतरासां च चित्त सर्वेष्य वारणम् ॥ (भेल्सहिता, उम्मादिचिकित्सित) परतु यह स्थान चरकादि के विस्तर नहीं है । चरक में भिर सर्वे इन्द्रियों का अविद्यान माना गया है, मन पृक् इन्द्रिय है और विशेष करके बुद्धीनिद्रिय है—परिनिद्रप्रसान् । (चरक) । मन पृष्ठानिनिदारणि प्रकृतिशधानि करति । (भगवद्गीता) । मन अजु, पृक् और सर्व शरीरचर है जो जहाँ पर जहरत होनी है वहाँ पर सर्व से पहुँच कर इन्द्रियाओं के ग्रहण करने में सहायता करता है—ज्ञानावैगंपदाक मन । (व्यायदर्शन ३-२९५) । न तुगपनेक किंपोलभ्ये ॥ ६० ॥ अनाचकदानवचुपलभिरात्मवारात् ॥ ६१ ॥ योकोहेतुताचात् ॥ ६२ ॥ मन पुरस्ताणि चेन्द्रियायस्याद्येष्यसर्वाति भवन्ति । (चरक सूत्र ५) । पद्मदीनिदारणा पुनः सत्त्वानीना केवल चेतनावच्छीर्ण ग्रावनपूर्वमधिनाभूत च ॥ (चरक, विमान ४) । इसका अविभाय यह है कि केवल संज्ञादि संज्ञाहीन शरीर के उपायों को छोड़कर मन संसूर्ण शरीर में सचार करके संज्ञा या ज्ञान प्राप्त बरता है । शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे धारा साधन शिर है क्योंकि वहाँ पर सब इन्द्रियों उपस्थित रहती है, इसलिए मन भी वहाँ पर अधिक उपस्थित रहता है इसमें कोई संदेह नहीं और इसी इष्टि से मन का स्थान शिर वताया गया है । सरेप में मन का मूलस्थान हृदय, उसका काम करने का मुख्य स्थान (O fice head quarter) शिर और उसका हृलका संपर्ण शरीर होता है । हृदय में रहकर मन अपना काम नहीं बर सकता । चढ़ वहाँ से मनोवह स्थातसों के द्वारा समस्त शरीर में तथा शिर में जाकर हृदयस्थ आमा को इन्द्रियाओं का ज्ञान करता है । जब पुरुष इन्द्रियाओं के ज्ञान से परापृष्ठ होना चाहता है तब मन को हृदय में रोकने की आवश्यकता होती है—सबद्वारात् सक्षय मनो हृदि निश्चय च । मूर्खो वायात्मन प्राणामितो योगशारणम् ॥ १२ ॥ दै इच्छारात्र वद्या याहरन्मामनुरमरन् । य प्रयाति त्वन् दै स यानि परमा य नेन ॥ (भगवद्गीता ४-१३) । इस विमूर्त विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदय में आमा का निवास होने के कारण आयुर्वेद हृदय को ही मन और बुद्धि का स्थान मानता है और हृदय से निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्थोतसों के द्वारा समस्त शरीर की चैतन्य प्राप्त होता है तथा दोरों के द्वारा हृदय तथा स्थानवह स्थोतसों की हुष्टि होने से संज्ञा के मन के तथा येतना के विकार उत्पन्न होते हैं । यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो सब जगत् मूल का अर्थ सुरंगतिक होता है, पृक् दी पश्च के दो अर्थ करने की आवश्यकता नहीं होती । आधुनिक कल्पना के साथ मिलने वाली तथा भारतीय अन्य शास्त्र संमत वृद्धस्थ और शिरस्य दो हृदय मानने वी कल्पना आयुर्वेदसंमत नहीं है । आयुर्वेद में केवल वृद्धस्थ एक हृदय होता है और यही बुद्धि और मन का अधिकान माना गया है । दो हृदयों का प्रतितन्त्र सिद्धान्त आयुर्वेदसंमत

मानने से अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होते हैं। इसका पृक्ष
उदाहरण यहीं पर देखने के लिए मिला है। दूसरा
उदाहरण घरक के अर्थदातामहामूलोग अध्याय के कुछ
श्लोकों में मिलता है। धमनी का अर्थ आर्टरी (Arteri) होता है। इसके सिद्ध करने के लिए गणनाथ सेन जी
‘तेन मूलेन मद्या मामूला मता दश। योजोवदा शरीरं रिग्न्
पिप्यन्ते समन्तः॥’ इत्यादि श्लोक उद्भृत करते हैं (संज्ञा-
पंचकविमर्श पृष्ठ ४५)। परंतु यह अर्थ तब टीक हो सकता
है जब ‘मूल’ का अर्थ हार्ट हो। अर्थात् यहाँ पर आप
‘मूल’ का अर्थ हार्ट मानने के लिए तैयार हुए हैं, इसमें
कोई संदेह नहीं है। जहाँ पर आप ‘उद्देनियातः’ पृक्षर
हृदय को ब्रेन समझने के लिए तैयार हुए, वहाँ पर
‘पृष्ठमन्त विकानमिदिव्यायर्थं नक्षमः। आत्मा च संगुण्धनिधिल-
च ददि संविद्म्॥’ इतना स्पष्ट वर्णन पढ़कर भी आप
हृदय को हार्ट मानने के लिए कैसे तैयार हुए हैं यह समझ
में नहीं आता है। अनवस्था प्रसंग के तीसरे उदाहरण के
लिए सातवें अध्याय के ३६वें श्लोक का वर्क्षन्य देखो।

निरांतुः—हस्त क्षोक में नींद केरी आती है और केरी सुलती है हस्तकी उपस्थि बतलायी है। यह उपस्थि दर्शन शास्त्रानुसार है। हस्तकी ध्यान में रखना चाहिए। गम्भीर संसार त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और पुरुष भी त्रिगुणों में फैसं जाने के कारण पंचमहभूतात्मक शरीर के पिजरे में वद्ध हुए हैं—तर्वर रजस्तम दति गुणः प्रकृतिसंभवः। निवासन्ति महायाः क्षेत्रे देहिनगच्छयन्॥ (भगवद्गीता १४-५)। हस्ती कारण से ऊद्ध आचार्य निर्गुण पुरुष को भी त्रिगुणात्मक मानते हैं। प्रथम अध्याय का ६वाँ सूत्र देखो। हस्त प्रकार त्रिगुणात्मक पुरुष के निवास करने के कारण हृदय त्रिगुणों का भी स्वान माना गया है—सत्त्वादिपाम हृदयं स्वनोऽः वोष-मध्यगम्॥ (अष्टांगहृदय, शा० ४)। ये गुण हमेशा आपस में मिले हुए रहते हैं। सत्त्व का परिणाम प्रकाश, निर्मलता, अनालस्य और तम का आलस्य निद्रा होता है—तत्र सत्त्वं निर्मलत्वाद्वकाशवस्त्रामयन्। तमस्त्रशानं विद्धि मीहनं सर्वदेहिनान्॥ प्रमादालस्यनिद्राभिस्तविवभावि भारत ॥ (भगवद्गीता १४)। जब हृदय तम से आधृत होता है तब नींद आती है और जब तम कम होकर सत्त्व प्रबल होता है तब नींद खुल जाती है। हस्त तरह परस्पर विरोधी गुणों के क्रमिक प्रभाव से नींद और जागरण की अवस्था उत्पन्न होती है। लौकिक दृष्टि से यदि सत्त्व और तम की ओर देखा जाय तो तम से अंधेरा और समलूपा और सत्त्व से ग्रकाश और निर्मलता का दोध होता है। प्रकाश को इन्द्रियायाँ की उपस्थिति का उपलक्षण समझ सकते हैं। अंधेरा इन्द्रियायाँ का अभाव समझ सकते हैं। जब अंधेरा, प्राशान्तरगृह हृत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद आती है और जब ग्रकाश, शोरगुल हृत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद खुलती है। संक्षेप में तम से वायु उत्तेजक पदार्थों (अथों) की अनुपस्थिति और सत्त्व से उनकी उपस्थिति समझ सकते हैं।

इस दार्शनिक उपपत्ति के सिवा आयुर्वेद में निद्रा की और दो उपपत्तियाँ मिलती हैं। एक के अनुसार संज्ञावह स्नोतसों का कफ से अवस्था होना निद्रा का कारण होता है।

दूसरे के भनुसार इन्द्रियों की तथा मन की इन्द्रियाओं से से उपरति निद्रा का कारण होती है। यह उपरति पौच्छ्रुक या अनैच्छ्रुक दोनों प्रकार की हो सकती है। परंतु प्रायः उपरति धकायट के कारण, अतध्रु अनैच्छ्रुक होती है, इसलिए उसी का निर्देश किया गया है। यदि कोई मनुष्य अपने इच्छावल से जब चाहे तब उपरति की अवस्था उत्पन्न कर सके तो उसको उसी समय नींद आ जाती है। नेपोलियन बोनापार्ट रणज्ञ पर जरा-सी फुरसत मिलने पर उतनी ही नींद लेता था। आयुर्वेद में इस तरह नींद के चार कारण माने गये हैं—(१) तम (२) कफ (३) तम और कफ, तथा (४) उपरति—इन गात्रतु यो-स्तु ध्राम-दुप्रतेरु च । इन्द्रियु धर्कमभ्ये निद्राप्रिणि देहिन् ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ६) । यदा तु मनसि हाते कर्मात्मानः प्रमाणिताः । पिपयम्यो निवेदने तदा स्विति मानवः ॥ (चरक, सूत्र २१) । निद्रा इत्यममोदमा ॥ (सुश्रृत) । योगशास्त्र में निद्रा उपरति की ही स्थिति मानी गई है— अभावप्रत्ययालंबनार्जिनिद्रा । (योगसूत्र १-१०) ।

स्वभाव पर वा हेतुः—प्राणियों को निद्रा प्रतिदिन रात को एक विधिए समय पर आती है तथा विधिए समय पर चली जाती है। निद्रा के समय तम का प्रावल्लय होता होता और घोधन के समय सख्त का प्रावल्लय होता होता हो, परंतु नियत समय पर इनका अस्तोदय क्यों होता है? यह प्रब्रह्म प्रत्येक विचारदील व्यक्ति के सामने ददा हो सकता है और आयुर्वेद के ऋणियों के भी सामने ददा हो गया था और उसी के उत्तर में कवियों ने बताया कि तम और सख्त निद्रा और घोधन के भले ही कारण हों, परंतु इनसे बढ़कर कारण शरीर का स्वभाव है जो नियत समय पर तम के द्वारा नींद के और सख्त के द्वारा प्रवोधन उत्पन्न करता है। आयुर्विकाल में नींद के संवंध में अन्वेषण करके वैज्ञानिक इसी स्वरूप का मत प्रदर्शित करते हैं—Natural sleep is the normal manifestation of one single in the rhythmical activity of nerve cells. Halliburton's Physiology स्वभाव दुरतिक्रम होता है वैसी निद्रा भी दुरतिक्रम होती है, चाहे मनुष्य उसको टालने की कितनी भी कोशिश कर्यां न करे। अमेरिका के क्लीटमन (Kleitman) और उसके साथियों ने निद्रा न लेने से शरीर पर क्या परिणाम होता है उसकी जाँच २-५ दिन तक निद्रा न लेकर की। तब उनको यह मालूम हुआ कि शरीर के तापक्रम, मूत्र, रक्त, रक्तभार, पचन, भूख इत्यादि वातों में कोई भी खास खरादी नहीं होती है। अगर यह बात सत्य है और इनमें कोई संदेह नहीं तो कौन दुष्क्रिमान् मनुष्य अपनी आधी जिन्दगी नींद में खराब करेगा? रात में आधी आयु व्यर्थ में नष्ट होती है, यह बात प्राचीन काल से लोगों के मन में खटकती है—त्रायुर्वैष्णवं नृणां परिमिन रात्री तदर्थं गतम्। (भर्तृहरि)। तब भी आयुर्विक वैज्ञानिक क्लीटमन का उपर्युक्त आधार मिलने पर निद्रा को पूर्णतया छोड़कर अपनी आधी आयु का सदुपयोग करने का विचार मनुष्य कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकते। इसका कारण अन्न-सेवन करना जैसे शरीर का एक स्वभाव है वैसे ही निद्रा-सेवन एक स्वभाव है औन्न-सेवन से जैसी आरी नींद के

है वैसी निदा से भी शरीर की पुष्टि होती है—देहवृत्ती यथाऽहारस्तथा स्वप्नः मुक्तो मनः । स्वप्नाहारसमुद्देश्ये च स्वीक्ष्यकार्ये विद्येष्व ॥ निद्रायत्तु सुप्त दुःख पुष्टि कार्यं बलादलम् । कृपता मुक्तो वता शानमशान जीवित न च ॥ (चरक, सूत्र० २१) । अज्ञ के सिवा मनुष्य जितने दिन गुजरान कर सकता है उतने ही दिन के लाभम् (३-४ सप्ताह) मनुष्य निदा सेवन न करके भी गुजरान कर सकता है, परन्तु वह उसके सिवा रह नहीं सकता—Man can exist without sleep for about the same time that he can do without food, viz., three to four weeks but he cannot live without it. *Systems of clinical medicine by Saussure* इन सब वारों का विचार करके सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में निदा का समावेश स्वाभाविक व्याधियों में किया गया है—स्वाभाविकास्तु द्वितियासात्रामृत्युनिद्राप्रभृतय ॥

निदा को प्रक्रिया के संबंध में सामुनिक खोज—निदा स्वाभाव से होती है, परन्तु किस प्रकार से होती है इसका ज्ञान, बहुत कुछ खोज करने पर भी, अवलम्ब है । अब्दुगुहा (Abd' ventricle) के तल के धूमर भाग में और कंद्राधीरीय भाग (Hypothalamus) में निदा से संबंध रखने वाला कुछ अंदर होता है जिसमें खराबी होने से निदा तथा तदा घटती है । प्रत्यक्ष निदा उत्पन्न होने को दृष्टि से निज्ञ मत प्रशाराय वैद्यक में प्रचलित है । (१) होवेल नामक अमेरिकन शास्त्रज्ञ का मत है कि मस्तिष्क में रक्त की कमी और अन्य अंगों में रक्त की अधिकता होने से निदा उत्पन्न होती है । भोजन के पश्चात् पचनसंस्थान में रक्ताधिकता होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से ही भोजनोत्तर मनुष्य को कुछ तनाव या निदा मालूम होती है । जाऊँ के दिनों में रात को ओढ़ने के लिए काफी गरम कपड़ा न होने से निदा नहीं आती, क्योंकि त्वचा की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ने से मस्तिष्क में रक्ताधिकता हो जाता है । प्रतिदिन रात को त्वचागत रक्तवाहिनियाँ विस्तृत होती हैं जिससे मस्तिष्क में रक्त की कमी होकर नींद आती है । इसमें कोई संदेह नहीं कि यह अवस्था नींद में होती है, परन्तु इससे नींद आती है या नींद के कारण मस्तिष्क में रक्त कम होता है यह प्रभ किर मी हल नहीं होता । (२) कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि जाग्रतावस्था में शरीर में ऐसे रामाय निक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो उचित मात्रा में संचित होकर मस्तिष्क पर निदा का प्रभाव ढालते हैं । वैसे ही निद्रितावस्था में ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो निदा खोलने का कार्य करते हैं । (३) कुछ जन्मों का कथन है कि जाग्रतावस्था में मस्तिष्कगत नाइक्रिनों (Neuron) के अच्छतन्तु (Pseudoneuro) जापस में भली भांति मिले रहते हैं जिससे जापस में संबंधन होता है जिनका परिणाम संक्षेप है । निद्रितावस्था में ये अच्छतन्तु सिकुड़कर गोंदिर होते हैं जिससे इनका जापस में संतुष्ट हृद जाता है और पृष्ठ से धूमर में संबंधन नहीं होता । इसका परिणाम संक्षेप में होता है । जो इस उपचिति के पृष्ठ में है उनका कथन है कि सिकुड़न के कारण निदा उत्पन्न होती है । कुछ शोगों का कथन है कि निदा के कारण मिकुड़न होती है । (४) पावलोव (Pavlov) नामक सुप्रसिद्ध

रशिभ्रन वैज्ञानिक का मत है कि निदा सांकेतिक निरोधन (Conditional inhibition) का परिणाम है । प्राणियों के शरीर में कई सहज प्रतिक्रियाएँ (Inborn reflexes) होती हैं । अध्यादर्शन से लालाक्षाव उन्हीं में से एक किया गया है । यदि किसी कुचे को नियत समय पर घटिकावादन के साथ अच्छ के साथ जोड़ देता है जिससे कुछ दिनों के पश्चात् खाली घटिकावादन होने पर उसे लालाक्षाव होने लगता है । यह कार्य जन्मोत्तर होता है और संकेत के अनुसार होता है इसलिए सांकेतिक प्रतिक्रिया कहलाता है । यदि कुचे को कोई दूसरी सूचना बताई जाय जिससे वह अच्छ म आने का संकेत समाप्त सके और उस संकेत का उपयोग अच्छ आने के संकेत के पश्चात् किया जाय तो कुछ बाल तक लालाक्षावस्था प्रतिरोधप्रक्रिया का निरोधन (Inhibition) होता है ।

यदि निरोधन का कार्य भी संकेत के अनुसार होता है इसलिए इसको सांकेतिक निरोधन बहते हैं । प्रतिक्रिया तथा निरोधन ये दोनों भी कार्य मस्तिष्क के धूमर वस्तु में होते हैं । प्रत्येक कार्य का स्थान भित्ति भिज देता है । एक स्थान में निरोधन का कार्य प्रारम्भ होने पर वह अन्य स्थानों पर भी प्रविकरण (Irradiation) के द्वारा फैलता है । पावलोव का अभियाय है कि रात्रि के समय, विस्तरा इत्यादि निद्रानुकूल संकेतों का निरोधक प्रतिरिक्षम स्थिरता के जरूर होकर प्राणी को आप से आप नींद आ जाती है । ये सब मतमतान्तर एक दृष्टि से ठीक हैं, परन्तु इनसे निदा के कारणों का और प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं होता । कुछ भी हो, निदा एक शरीर का स्वाभाविक धर्म है और उससे शरीर के हर एक पुरुष के अधिक से अधिक आराम मिलता है ये अनुबुद्ध के सिद्धान्त आधुनिक खोज से भी अविचलित रहे हैं । इसमें कोई संदेह नहीं—दैर विस्तरे वस्त्रात्मकान्दिदां प्रकारिता । देहवृत्ती यथाऽहारस्तथा निदा समाप्त होता है । (आत्रेयसंहिता) ।

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतामा स्वप्नः प्रभुः ।
रजोगुत्तन मनसा गृह्णत्यर्थन् शुमाशुभान् ॥ ३५ ॥

सोये हुए (मनुष्य) का स्वामी जीवामा पूर्वकाल में देह से अनुभव किये हुए शुमाशुभ विषयों का प्रहण रजोगुक मन के द्वारा करता है ॥३५॥

वस्त्रम्—इस स्तोक में स्वप्न की उपस्थिति वर्णन की गई है । पूर्वदेहानुभूत—पूर्वजन्म के देह से अनुभव किये हुए तथा इस जन्म में स्वप्नदर्शनकाल के पूर्व हीसी देह से अनुभव किये हुए—पूर्वदेहानुभूतिरित्यादि । याच्चेष्वद्वयम्, अनेऽनातिपि देहनानुभूतान् ॥ (दृष्टव्य) । ये सब अनुभव पूर्व ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रवर्यीकृत और मन से कल्पित या प्रार्थित हैं इनमें यो अनुभव आते हैं ये स्मृति के रूप में आते हैं—अनुभूतिरित्याहप्रत्येष्व ॥ (योगसूत्र १-१) । पूर्व ज्ञानेन्द्रियों द्वारा यो विषय प्रवर्यीकृत होते हैं उनको अनुभूत यह सक्त है, परन्तु यो मन से कल्पित या प्रार्थित होते हैं ये विषय वासना के रूप से होते हैं और उम्री की अनुभूति स्वप्न में होती है । बहुतेर स्वप्न यामनावद्वाता के कारण उपचार होते हैं, जो

वे वासनाएँ इस जन्म की हों जाएं पूर्वजन्म की हों—जीवो यज्ञसनायद्यत्तेवान्तः प्रपश्यति ॥ (योगवासिष्ठ ४-१७-२६) । न्वपतः—उत्पतः: शरीरयैतर्याः ॥ भूतात्मा—पञ्चमाहा-भूतात्मक शरीर में वद्ध हुआ आत्मा जो ज्ञेयज्ञ कहलाता है । रजोयुक्तेन मनमा—जपर निद्रा की उपपत्ति बतलाई गई है । उसमें निद्रा का कारण तम बतलाया गया है । मन जब तमोयुक्त होता है तब उसमें अकार्यकरत्व आ जाता है । सृष्टि के प्रारंभ में सब तम से जाप्त था । तमाखृत होने के कारण समस्त सृष्टि प्रसुप्त याने अकार्यकर थी—प्राणीदिर्द नमोगृहमप्रधानमलक्षणग् । अप्रत्यक्षमधिकेयं प्रसुप्तिमिव सर्वतः । (मनु १-५) । प्रगृहितमर्थतः । राजार्थाचम-मिलर्थः ॥ (कुलद्वकभट्ट) । रजः प्रवर्तक होने के कारण जब मन उसके साथ मिलता है तब वह कार्यचम होता है और नाना प्रकार के स्वप्न मनुष्य देखता है । यही अर्थ दूसरी परिभाषा में अगर कहना हो तो यों कह सकते हैं कि जब मन इन्द्रियों के साथ प्रसुप्त याने अकार्यकर होता है तब स्वप्न नहीं होते, परन्तु जब केवल इन्द्रियों प्रसुप्त होती है और मन नहीं होता तब स्वप्न होते हैं—सर्वेन्द्रिययुपरती गनोऽनुपरतं यथा । विषेभ्यस्तता न्यप्तं नानारूपं प्रपश्यति ॥ (अद्यांगसंग्रह सूत्र १) । स्वप्न की इस उपपत्ति से यह स्पष्ट होगा कि स्वप्न विरहित निद्रा से जिनना आराम शरीर को मिल सकता है उतना स्वप्नयुक्त निद्रा से नहीं मिल सकता । भगवान् शक्ताचार्य भी स्वप्न की उपपत्ति हस्ती प्रकार की ताते हैं—शक्तियाणामुपरमे गनोऽनुपरतं यदि । संतते विषयानेव देखत् स्वप्नदर्शनम् ॥

रणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिग्रहिते ।

प्रस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोद्यते ॥ ३६ ॥

तम द्वारा इन्द्रियों की विकल्पा वडने पर न सोता आ भी जीवात्मा सोता हुआ सा कषा जाता है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके पर न तम का प्रभाव पड़ता है तथा न उसमें निद्रा या विकृति उत्पन्न हो सकती है । परन्तु व्यवहार में आत्मा रोता है इस प्रकार की परिभाषा व्यवहृत होती है । यह परिभाषा एक उपरि से ठीक है यह कहने का इस श्लोक का उद्देश्य है । आत्मा जब शरीर में वद्ध होता है तब उसका ज्ञान तथा वोध इन्द्रियों के ऊपर निर्भर होता है । जब इन्द्रियां नहीं होतीं तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता, जब इन्द्रियां विकृत होती हैं तब आत्मा को ठीक ज्ञान नहीं होता । वैसे ही जब इन्द्रियाँ तम द्वारा आधृत होती हैं तब आत्मा प्रसुप्त हो जाता है—आत्मा या: करण्येयोगज्ञानं तस्य प्रवतते । करणानामैमल्यादयोगादा न वर्तते ॥ पद्यतोऽपि यथाऽदर्शं संहिते नास्ति दर्शनम् । यद्यज्ञले वा कल्पे चेतस्य-पहते तथा ॥ (चरक, शा. १) करणम्—मन और इन्द्रियों—करणानि गनोऽवृद्धिर्द्विकर्मनिद्रियाणि च । (चरक, शा० १) ।

सर्वंहुपु दिवास्वापः प्रतिपिद्मोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिपिद्मेष्वपि तु वालवृद्धस्त्रीकर्मितदत्तत्त्वीणमय-नित्यानवाहनाऽध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदः-स्वेदकफसरक्तक्षोणानामजोऽर्णिनां च सुहृत्तं दिवा-

स्वपनमप्रतिपिद्म् । रात्रावपि जागरितवतां जाग-रितकालाद्यर्थमिष्यते दिवास्वपनम् । विकृतिर्ह दिवास्वप्नो नाम; तघ स्वपतामर्थमः सर्वदोप-प्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्याय शिरो-गौरवाद्वमर्दारोचकज्वरगिन्द्रौर्वल्यानि भवन्ति; रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवो-पद्मवा भवन्ति ॥ ३७ ॥

(दिवास्वप्न और रात्रिजागरण)—ग्रीष्म पक्ष के अतिरिक्त सब घटुओं में दिन में सोता (वैद्यक शास्त्रानुसार) निषिद्ध है । परन्तु निषिद्ध घटुओं में भी वाल, घुड़, र्णीसंग के कारण थके हुए, सतत्युक्त, दुर्बल, मय नित्य सेवन करनेवाले, गाड़ी में चैन्ये से, (घोड़ा एवं इत्यादि पर) सवारी करने से, प्रवास करने से, काम करने से थके हुए, भोजन न किये हुए, मेद, स्वेद, कफ, रस और रक्त जिनमें चीज़ हो गया हो और अपचन से पीड़ित दृनको दिन में एक सुहृत्त भर नींद लेना निषिद्ध नहीं है । रात में भी जो (कारणवश) जागरित रहे उनके लिए प्रजागरकाल से आधा काल दूसरे दिन सोना उचित होता है । दिन में सोना विकृति है, दिन में सोने से अर्थम और सर्व दोषों का प्रकोप होता है, दोषों के प्रकोप से ग्वांसी, श्वास, सर्दी, सर में भारीपन, शरीर में पीड़ा, शरोच्चक, ज्वर और अभि की मन्दता (ये विकार) होते हैं: रात को भी जागरण करने वालों को वात और पित्त के कारण उन्हीं के समान उपद्रव (उत्पन्न) होते हैं ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—ग्रीष्मादन्यव—गमियों के दिनों में जरा-सा परिश्रम करने पर अधिक थकावट होती है, दिन बड़े और रात छोटी होती हैं जिनसे दिन भर के परिश्रम के लिए जितना विश्राम रात में निद्रा के रूप में मिलना चाहिए उतना नहीं मिलता । इसलिए दिन में निद्रा-सेवन की विधि बताए गई है—ग्रीष्म त्वादानुरुद्धाराणं वर्धमाने च मारुते । रात्रीणां चातिसंकेपादिवात्वप्तः प्रशस्यते ॥ (चरक सू० २१) । लीकशिरः—स्थियां और कर्शित याने दुर्बल अथवा स्थी संग से कर्शित इस तरह इसके दो अर्थ हों-सकते हैं । स्थियों के लिए दोपहर की निद्रा इसलिए विहित है कि घर की स्थियाँ रात को सबके पीछे सोती हैं और सबसे पहले उठती हैं, तथा उनको शारीरिक परिश्रम भी बहुत करना पड़ता है जिसके कारण रात में मिलने वाली निद्रा उनके लिए पर्याप्त नहीं होती । क्षतक्षीय—क्षत याने ब्रणयुक्त तथा चीज़ याने धातुक्षय-युक्त—क्षत याने विषय धातु संक्षयात् ॥ (सुश्रुत उत्तर ४१) । किं वा क्षतक्षीण नामक जो उत्तरके रोग होता है उससे पीड़ित । ये अर्थमेद चरक के निम्न, श्लोक के आर पर किये गये हैं—ग्रीताद्ययनमध्यक्षीकर्म-भाराद्वकर्मिताः । अजीर्णिनः चताः चीण वृद्धा वालास्तथाद्वलाः ॥ (सूत्र, २१) । यानवाहन—यान और वाहन का वास्तविक अर्थ एक है, परन्तु चूंकि ये वो शब्द पृथक् पृथक् प्रसुप्त हुए हैं इसलिए इनका पार्थेक्य निम्न प्रकार से कर सकते हैं ।

१ 'वैगुण्ये'. २ 'स्वपनमप्रतिपिद्म'.

३ 'ग्रीताद्ययनमध्यक्षीकर्म-भाराद्वकर्मिताः'.

यान से गाड़ी और वाहन से स्वयं चलने वाले प्राणी, जिनके ऊपर सवारी की जाती है—समस्त सकते हैं। अंग्रेजी में भी आजबल Ride or Drive ये दो शब्द ऐसे ही भिन्नर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए यान से Drive और वाहन से Ride समझना चाहिए। परिशास्त्र—इसका सबध यान, वाहन, अथवा कर्म इन प्रत्येक शब्दों के साथ है। अभ्युक्तवार्ता—जिनके लिए दिवानिदा विहित है उनको भी भोजन के उपरान्त नींद लेना उचित नहीं है—मोजनात्मापिदवास्त्राप वाषाणमापि जीवति। भीजनाने दिवानिदानपिदवास्त्रापोद्वाद् ॥ (योगरत्नाकर)।

मुख्त्वा रस्तन न सेवनं तु योऽप्यसुविनो मेदेत् ॥ (हारीतसहिता)। इससे पचन में खारावी हो जाती है। यह नियम दिवानिदा तथा रात्रिनिदा दोनों के लिए लागू है। इसे लिए रात्रि के प्रथम प्रहर में भोजन करके दूसरे प्रहर में नींद लेने का आदेश किया है—रात्री तु भोजन कुशांत प्रथमे प्रदरान्तरे ॥ (योगरत्नाकर)। यहाँ पर इस तरह भोजनोत्तर दिवानिदा का निरेध किया है और अन्य कई श्यानों में भोजनोत्तर दिवानिदा की विधि बताई है—मुख्त्वा रात्रवदानीन यावदमहो गदः । तद० पादशत गत्वा वासामार्पेन सदिशेत् ॥ (सुधुत सूत्र ४६)। मुख्त्वे पविशत्तमा द्रा वायामयत्वं तु युष्टा । आयुष्टवद्वस्त्रायस्य मूल्युर्धवनि धारम् ॥ (योगरत्नाकर)। भोजन के पश्चात् आराम करने की बहुत आवश्यकता होती है, इसमें कोई सदेह नहीं है। क्योंकि उस समय शरीरगत रक्त की राति पचन संस्थान की ओर अधिक आकर मस्तिष्क तथा श्वच्छा की ओर कम होती है। उस समय रक्तवह संस्थान के ऊपर अधिक भार न पड़ना चाहिए। भोजनोत्तर आराम, चहलकदमी करने से, वैग्नेसे या शयन से हो सकता है। शयन से अधिक आराम मिलता है, इसलिए भोजनोत्तर शयन या संवेश की विधि बताई गई है। इस शयन से निद्रा का बोध नहीं ले सकते क्योंकि निद्रा भोजनोत्तर निविद्य है। इसलिए शयन से उस आसन का बोध लेना चाहिए जिसमें आराम हो तथा दिवानिदा के दोष न हों। इस प्रकार के आसन को आसीन प्रचलायित कहते हैं—अस्त्वम्—पित्तनिद वस्त्रोत्तरपचालावित्वम् ॥ (चरक सूत्र २१)। इसका अतिकार्य है वैट वैट या लेटे लेटे करवट बदलते रहना। प्रतिदिन भोजन के पश्चात् आराम करने का यही आसन है और यही शरीर की पुष्टि करता है—मासीनप्रकल्पत्वम् निरपिष्ठविद बहुवा ॥ (स्तरनाद)। मुहूर्त—अवतालीस मिनट—विद्यासुरुतमेषोऽप्तम् ॥ (सुधुत)। रात्रवपि—एकांश रात को कारणवश जागना पड़े तो जिन्हें घटे जागरण होजाय उससे आपे घटे दूसरे दिन निद्रा लेनी चाहिए। परतु यह निद्रा भी भोजन के पूर्व लेना जरूरी है—भ्रामात्माभागारादृप यात स्वप्नाद्युक्तवान् ॥ (अष्टोग्रहद्य, सूत्र ७)। जागरितवालादृ—यह जागरित काल मृत्युमारेष और अस्त्वमायारेष होता है। एक मनुष्य प्रकृति और अस्त्वमाय के कारण स्वप्ननिद और दूसरा अवृनिद होता है। ये दो मनुष्य अब रात को व्यारात तक आगरित रहेंगे तब स्वप्ननिद को दूसरे दिन, दिन में सारे की आवश्यकता नहीं होगी और

ध्वनिनिद को होगी। इससे यह स्पष्ट होगा कि जागरित काल घटी के ऊपर न होकर प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन विवरीनी निदा लेता है उस (साल्मनिदा) के ऊपर होगा। साल्मनिदा का काल आवृनिक वैज्ञानिकों के अनुसार अयुवंद में ६-९ घण्टे का माना जाता है। जिसका साल्मनिदा भी घटा है उसको अगर रात को दो घटा जागरण हुआ तो उसको दूसरे दिन भोजन के पूर्व एक घटा निदासेवन करना चाहिए—मोडस्ट्रांडो यालानिडेल साल्मनों यामद्रव जब वा नियि निदा भवेत्। भ्रामात्मा व्यागरात्मैरेन स्वन इत्यते। भ्रामात्मप्रद्युम्नेतृ घोउत्यति। न सर्वस्य रात्रावस्त्राप्तं स्वप्नात्मालालादृनेन दिवास्त्रन इत्यते, किं तदिं यो यावन्त यानमुचित रवपिति तैरमात्मालालादृन वाल जागृतात् वादतोऽर्थंनासी स्वप्नात् । विचिद्वि स्वप्ननिदां रस्मातो भवन्ति ॥ (अल्लादत्त, श्वाग्रहद्य सूत्र ३-५)। विकृतिहि दिवास्त्रनो नाम—यद्यां पर विकृति शब्द शारीरिक विकार के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है। यहले वत्ताया आत्मा है कि भगवान् सूर्यनारायण के द्वारा दिवस के दिन और रात्रि करके दो विभाग हुए हैं जिनमें दिन कर्म के लिए और रात्रि निद्रा या आराम के लिए होती है। यदि संसार के पश्चु पश्चिमों की ओर देखा जाय तो वे दिन होते ही अपना काम प्रारम्भ करते हैं और रात होते ही अपना काम छोड़कर आराम करते हैं। अर्थात् दिन में कर्म और रात में निद्रा, यह प्रकृति (Nature) है, और दिन में निद्रा और रात्रि में प्रजागर विकृति (Against Nature) है। सर्वदोषदोषेणम्—सर्वदोष से यथापि तीर्णो दोषा का बोध होता है, तथापि कफ और पित्त का प्रकोप अधिक समझना चाहिए। दिवास्त्राप स्विकृत होता है और रात्रि जागरण रूच होता है—रात्री जागरण रूच रिन्वर्स प्रस्त्रवप्न दिवा ॥ (चरक, सूत्र २१)। इसलिए दिवानिदा से कफ का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, बात या नहीं के बाबार होता है। रात्रि का जागरण रूच होने वे उससे बात का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, कफ का नहीं के बाबार होता है। दिवानिदा वे दोष प्रकोप के संरेख में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—पौष्ट यायुज्वालादानौह्यप्रायलवानत । दिवास्त्रप्लो दितो निरसिन्धव पित्तकरो हि स ॥ (सूत्र ७)। रात्रिवागरण का परिणाम यात पित्त प्रकोप में होता है इसका निर्देश यहीं पर सूत्र में किया गया है। त एवोपद्वा—द्रिवास्त्रप्ल से जो विकार ऊपर बनाये गये हैं वे ही विकार रात्रि जागरण से नहीं हो सकते क्योंकि दोष-प्रकोप-प्रिद्वता है। अत त एव भास्तुसाताद्य एव यह दृष्टव्य का अर्थ अनुचित मात्राम होता है। अष्टांगद्य के अनुसार रात्रि प्रजागरण से निन रोग होते हैं—निनानादाराक्षमदिवीरोगीरवजिम्बा । आद्य श्वासाभासपति त शरीरागाथ बान्ता । (सूत्र ५)। इसमें श्वासाभास प्रतिरोध ये दोग नहीं हैं। इसके आधार पर व ५५ का अर्थ उन्हीं के समान (सेपामिष) करना चाहिए।

मध्यनि चाप्र—

तस्मात् जागृत्यात्रात्री दिवास्त्रन च धर्येत् । शात्या दोषकरात्रेतौ युधः स्वप्नं मितं घरेत् ॥ ३८ ॥

शरोगः सुभन्ना तेवं शतवर्षानिश्चितो पूर्णः ।

नानिस्मृतशुश्राशः श्रीमान नगो जीवेन् समाः शानम् ॥१६॥
यहाँ पर श्लोक है। इस्टिष रात ये गागरण न करे
पाया दिन में निद्रा न नीरन करे। सुदिमान (पुरुष)
इन द्वारों की दोषप्रकार ममदाहर (रात में ही) उचित
मात्रा में नीद को सेवन करे ॥१६॥ इस प्रदार (रात्रि में
उचित निद्रा केंद्र लगे) में सुख नीरोग, प्रयत्नचित
पूर्ण के नमान बल और दर्प में युक्त, न धूम भोटा न
पहुँच पतना, (पूर्ण गुणितादर्शर) मंसंस्युक्त दोषर
में धर्म सह दीता हे ॥१६॥

पद्म्य—५२—शर्पनी आरथक्ता के अनुमार
उचित दो में नीन धूर। ५३—इनका अर्थ शुक्रः पा
क्तीरमग्नात्मुज शिरा गमा है; परन्तु यहाँ पर यह अर्थ
ठोंचन नहीं मात्रम होता। पूर्ण पा अर्थ सौङ्क के समान
बलवान् सुनुन भी होता है, जैसे—उत्तरको गुदान्वः
आप्रभृत्यभृतः । (रामांग १), और वही अर्थ यहाँ पर
अधिक युक्त है। इन दों में 'पा' एवं 'उत्तरान्वितः' ऐसा
पन्थव धरना चाहिए।

निद्रा स्वात्म्यं लुता येस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा ।
(दिवा रात्रौ च ये नित्यं व्यधन्तामगरणीचिताः ।)

न तेषां स्वयतां दोषो जाग्रतां व्याडिपि जायते ॥४०॥

द्वितीय में अग्रवा गत में निद्रा यो विन्देने साम्य एवं
रक्षण है तथा यो विद्याद्वयन और रात्रिगामण के उत्तेषा
के आदी हो गये हैं उनको (दिव में) सोने में अध्यया
(रात को) जागने से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता ॥४०॥

पद्म्य—५३—यहाँ पर यदि का कोई अर्थ नहीं
है। यह वा मिलकर 'अध्यया' अर्थ होता है—निद्रु
गीर्विनिषुक्त नाः वा न्यन्तः । (भर्तृपरि) । यदी च यदि या
दिव—द्वितीय में रात में जब ती चाहे तब तथा यद आय-
द्वयग्ना पदे तब, संतुष्टे में वक्त धेवत् । प्रयम स्नेहकार्थ के
अनुमार जो लोग होते हैं उनकी निद्रा का कोई नियत समय
नहीं होता। अनुमान ने वद्वल्ले वाली आठ आठ घंटे की काम
करने की पारी जिनकी होती है वे लोग इस दर्ग में आते
हैं। दूसरे श्लोकार्थ के अनुमार जो लोग होते हैं उनको
हमेशा रात में काम करना पड़ता है। रामांगरणीचितः—
व्यधानामग्नाभ्यन्तः । अभ्याम के कारण जो साम्य होता है
वह जीक्षकात्म्य कहलाता है—उपर्योग यदीचित्तादोकः—
सातर्च्छ तुच्छयोः । (चरक सूत्र ६) । औचित्यादस्यासादित्यर्थः ।
अपद्यमपि हि निरंतरभ्यानादिपिण्डादीविषय नोपगतकं
भवतीति भावः । (चक्रपाणिदत्तीका) । सात्यीकृत अकाल-
शयन ओक्तज्ञात्म्य का उद्वाहरण है और अभ्यास से विकृति
की प्रकृति (Nature) हो जाती है। अङ्गेजी में भी कहते
हैं—Habit is second nature.

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि ।

संभवत्यभिवातात्प्रत्यनोक्ते: प्रशास्यति ॥ ४१ ॥

(निद्रानाश के कारण)—निद्रा का नाश वात से,
पित्त से, मानसिक अभिताप से, चय से और अभिवात से
होता है। विश्वद्वचिकित्सा करने से वह शान्त होता है ॥४१॥

वक्तव्य—द्वृश श्लोक में निद्रानाश के सामान्य कारण

होता है उसकी मानान्य चिकित्सा यत्तदृष्ट है। नालात्—यात-
षुद्धि या पातिक वित्तर के कारण। यद्य पातिक रोगों से
निद्रानाश नहीं होता। पातिक वित्तर का एक मुख्य उद्युग
जो बेदना या शूल, यदि दिन वित्तरों में होता है, ये यद्य
वित्तर निद्रानाश उत्पन्न करते हैं। दीमे, पादशूल, विट्ठ-
पोर्टेन्ट (Crampi) गृधर्मी (गृधर्मीदेन शृण्वात्स्वं
शरो । चापणित्तन । । Scolica ', गुदार्ति, लैफ-
स्टम्प (Cordoe), डशायन् (Flatulence in the stomach
& intestine), पल्तोद, रण्डशूल, धृष्टिशूल, प्रकृमेद,
स्नायुभेद, दिल्लक्, आप्लेक् (Convulsions), दिक्का
(पत्त, धूप २०), लूरी, प्रनिल्ती, शृण्वरुद्धु, शास्त्रशूल,
पुरीपृष्ठ-शृण्वादि वातिक वित्तर। इनके विवा शास्त्रिक
परिभाषा के अनुमान मस्तिष्ठ के रोग, जैमे—किरीगी
मस्तिष्ठपित्तग्नि, मस्तिष्ठग्नोग्रह्यादि वित्तर। वित्त—
द्वय, धोप, ज्वोप, दाढ, धन्तादोह (Inflammation) इत्यादि
वित्त वित्तरों से। मानसानाथ—चिनात, ग्रोध, भीति,
पिचारप्रयत्नात, डन्मात्र, पागलयन, दुष्य इत्यादि मानसिक
(Psychical) वित्तरों से। इत्यादि—शरीर के शय में याने
दीयेलय में धरया राजगम्भा से। अभिवात से नारा—
जन्म, दृश्यादि से तथा नामा प्रकार के दार्त्रों के आधात
में चाट, धाव, भग्न इत्यादि के कारण। अभिवात से संदेश
में अग्रान्तु कारण गमदना चाहिए। अभिवात में नीदि न
आने का सुख्य कारण बेदना या धीदा ही होती है। इसके
में निद्रानाश के निन्द्र कारण दिये हैं—शय्य वित्तमध्येन
विश्वद्वचित्तेन भयन् । निन्द्रा प्रोत्तरक्षया पूर्णे व्यावासी रसमोद-
नम् ॥ चप्पल्लेन्दुग्रन्थ शय्या गद्वीनम् धोये यतः । वित्तप्रसंगम-
दिने वात्यनि भगुहितम् ॥ एव य विवा निद्रानाथव-
देषः । नामेत्तात्रो वित्तरथ प्रहृती-तुरुदेव च ॥ (सूत्र २१) ।
इनके अनुमार अतीयार, प्रवाहिता, शृकाम, बहुत एकों
जीवाना, आधात, जिम्में बहुत रक्षणात्य हुआ हो, अत्यधिक
शारीरिक परिवर्म, भूर, वित्तरा टीक शृदु न होना, वेदना
जिम्में हो एसे दय विकार (वित्तरो व्याधिः शूलादि:) ये
निद्रानाश के कारण होते हैं । प्रत्यनीकोः—कारणपिपरीत
चिकित्सा करने से। धर्यादि वेदनाहर, मनःशान्तिकर तथा
रोगनियारक उपायों से । धर्यादि वेदनाहर, मनःशान्तिकर तथा
रोगनियारक उपायों से ।

निद्रानाशोऽन्यद्वयोगो मृद्धि तैलनियेवणम् ।

गावस्योद्वर्तनं चैव द्वितं संवादनानि च ॥ ४२ ॥

शालिगोध्यमपिष्ठाद्यभद्रयैर्द्वयसंस्कृतैः ।

भोजनं मधुरं स्निधं त्वीरमांसरसादिभिः ॥ ४३ ॥

रसंविलेशयानां च विष्किराणां तथैव च ।

द्राक्षासितेचुद्रव्याणामुपयोगो भवेत्तिशि ॥ ४४ ॥

शयनाशनयानानि मनोशानि मृदृनि च ।

निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यपि वृद्धिमान् ॥ ४५ ॥

(निद्रानाश की चिकित्सा—) निद्रानाश में (शरीर
पर) अभ्युक्त का उपयोग, सिर पर तैल लगाना, शरीर पर
उत्तरन मलना और मालिश करना हितकर है ॥४२॥ (गुद,
शर्करा इत्यादि) इत्यके पदार्थों द्वारा संस्कृत चावल, गेहूं
के पिण्डाज के भस्य पदार्थों का मधुर तथा दूध और मांस-

रसादि से स्त्रिय भोजन (हितकर होता है) ॥४३॥ वैसे ही विल में रहने वाले और बनेर कर जाने वाले प्राणियों के मांसरसों से (स्त्रिय भोजन भी हितकर होता है)। रात की द्राचा स्थूल तथा उम्र के अन्य द्रव्यों का उपयोग (हितकर) होता है ॥ ४४ ॥ निद्रानाश में उचितमान् उत्तर विद्वीना, आपन (स्त्रिया, तस्त, पलग इत्यादि तथा कहीं जाना हो तो पालकी आदि) यान तथा अन्य (वस्त्र प्रावरणादि) को भी मन की सुख देने वाले और गृह्ण करे ॥ ४५ ॥

बक्षय—प्रभ्यग्योग इत्यादि—इसमें सिर से पैर तक तैल का अम्यं और मालिरा का उपय बताया गया है । भूति तैनिवेदशन्—इन्द्रियापि प्रसीरन्ति सुत्तमवदि चामनम् । निद्रालाभः शुउ च स्तान्मृति तैनिवेदशन् ॥ (चरक, सूत्र ५) । अम्यङ्ग योग, उद्धर्तन इत्यादि निद्रानाश में वायु-प्रकोप प्राधान होता है और अम्यङ्ग तथा उद्धर्तन बतायामक होते हैं जिससे निद्रानाश का कारण दूर होकर नींद आती है । इमके सिवाय मर्दन से त्वचा तथा शाकाशों की रक्तवाहिनीयं विस्फारित होकर हन खोरों में रक्त की राति अधिक होकर महित्पक में कम हो जाती है । इससे भी निद्रा में सहायता होती है—पृथग्नेऽम्बितो वायु स्पर्शन य त्वग्निरुद्धम् । त्वच्य एरोडम्बद्ध-स्थाप्त शीनेवर ॥ (चरक, सूत्र ५) । उद्धर्तन बाहर वक्षमेदोविलापनम् । रिटीकरमहान् त्वक्यमादवर परम् । सिरामुख विवित्तव त्वक्स्त्रामादेश तैननम् ॥ (सुषुप्त, च॒ २४) ।

मनोह—मनोनुकूल । अन्यान्यरि—इसमें प्रावरण, निद्रागृह्ण इत्यादि बातों का बोध लेना चाहिए । वस्त्र प्रावरण गर्भियों के दिनों में हल्के और जाडे के दिनों में गरम और मोटे होने चाहिए । गर्भियों में कमरा इवादार और जाडे में निवाल और गरम हो तथा कमरे में प्रकाश न हो, आपसामन शोराल न हो । स्वेच्छ में निद्रा के समय सब विषय मनोनुकूल हो, इन्द्रियों को किसी प्रकार की तकलीफ न हो इस प्रकार की स्थिति उपर्युक्त करनी चाहिए—गर्भों सुरभी देखे मुना शम्या योजिते । मनोनुकूल चित्तदिनिर्मिति: कृत्यवरा । निद्रा मनोनुप्रसर र्व यान नाति बठते ॥ (अर्णांगमंद, सूत्र ५) । वामप्रावार्य के इन स्तोकों में शयनामनादि वाक कारणों का जैसे विचार किया गया है, जैसे मानसिक कारणों का भी विचार निर्दृति, कृत्यकृत्यता और संतोषस्त्रिय इनमें किया गया है । प्रयोक्त्वका क्षणेन द्रेश, घर्म, समाज, श्वामी, उद्धुन इत्यादि के प्रति उद्धुक कर्तव्य होता है और प्रतिदिन प्रयोक्त्वका क्षणिका को इम कर्तव्य का पालन करना पड़ता है । यदि प्रतिदिन रात हो सोने के समय मनुष्य अपने को इम यात का विचार दे सके कि उपने शाव के कर्तव्य का पालन यापनात्मक और यापनात्मक दिया है तो एक प्रकार की कृत्यकृत्यता होती है । और भी बड़े कारों के पूर्ण बनने से हृत्यकृत्यता होती है । इम हृत्यकृत्यता के कारण मन निर्जन और संतोषपूर्ण होता है और मींद आती है । संरेप में नींद आने के लिए वारी रस्त, चाया वरित्तिन सामान और मन संतोषपूर्ण होना चाहिए और इनमें से किसी बात की कमी हो तो उमड़ो हुए काने की कैशिया करनी चाहिए ।

निद्रानियोगे यन्मनं द्वितं संनोऽनानि च ।

१ वर्षेऽक्षांशे दो तु कुर्वन् ।

सुधूनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ॥४६॥

(अतिनिद्रा की चिकित्सा—) निद्रा की अधिकता में बमन, (विरेचन, वस्ति, शिरोविरेचन वे) संशोधन, उद्धुन, रक्तमोक्षण तथा मन की शान्ति नष्ट करने वाले उपाय हितकर होते हैं ॥४६॥

कफमेदोविषातीनां रात्रे जागरणं हितम् ।

दिवास्वप्नश्च तृश्वलहिकाजोर्णतिसारिणाम् ॥४७॥

(रात्रिवागरण और दिवास्वप्न के लिए योग्य—) कफ, मेद और विर इनसे पीड़ितों के लिए रात्रिवागरण और उपा, शुल, हिका, अजीर्ण और अटीसार से पीड़ितों के लिए दिवास्वप्न हितकर होता है ॥४७॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिरौरवं जूम्याणं फ्रमः ।

निद्रार्तस्पेत यस्येद्या तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥४८॥

(तन्द्रा—) इन्द्रियों के (शब्दसर्वादि) अर्थों का प्रहण न होना, (शरीर में) मारीचन, जंगाई लेना, यक्षवट और निद्रा से पीड़ित हुए के समान वेषा ये जिसके होते हैं उसको तन्द्रा है—ऐसा समझना चाहिए ॥४८॥

बक्षय—रिन्द्रियावेतु—इन्द्रियां रात्राद्य, तेषामप्राप्तिरुद्धयन् । (दलहण) । इससे संज्ञानाश का बोध होता है । ईदा—घेणा या कर्म । तदा—यह वैज्ञानिक संज्ञानाश की अवस्था है । निद्रा से हृसक के भेद निष्ठ प्रकार से होता है—यर निद्राया प्रोत्पिवस्य हुमामाद, तन्द्राया तु प्रोत्पिरोद्धर्ता डामयति, अत एवात्र हुमग्रहणम् । (दलहण) । अर्णांगसंभ्रहमें तन्द्रा का स्वरूप निन प्रकार से वर्णित है—गोदोंवा बाँह द्वारा घमनी: सनिरप्य दु । कुपादं सदापर्वा तन्द्रा दास्या मोहराणीम् । घमोनिते विनिर्मुग्ने परिवर्तितारेः । भवत्स्वत्र नयने सुते तुलित्यरमलीः । अर्णविनारात्सा माप्ता न सा साध्या दनः परम् ॥ (सूत्र ९) । इससे तन्द्रा के निन लक्षण मादम होते हैं । रेणी क्षान्त और बेहोश रहता है, जगाने की कोशिश करने पर कुछ स्वरूप होता है परंतु विर से बेहोश होता है तथा रोगी दारणावस्था में होता है और भर भी जाता है । इन दृष्टियों का विचार करने पर तन्द्रा को अंगेभी के अपोर या Lethargy का पर्याय समझना चाहिए । It is a condition of deeper sleep from which the patient can be aroused, distinguishing it from coma, from which the patient can not be aroused. Symptom Diagnosis by Barton and Yater. तन्द्रा का यह विशेष अर्थ है जो संदर्भ के अनुसार बरना चाहिए । तन्द्रा का सामान्य अर्थ निद्रार्ता, मुसी, आल्म (Drowsiness, Sleepiness) होता है ।

इससे यह शर्ट होगा कि तन्द्रा सन्ध्याया या रातमी

निद्रा का हृका रूप है और उन्हीं विद्वाओं में मिलता है जिनमें सन्ध्याया पैदा होता है । सन्ध्याया निन विद्वाओं में मिलता है—आन्त्रिक अर्थ, आमवातवर, कालमेहर, Black wale: fever, आम विषमवर, कुरुकुरु पाक (मुमोनिया), मसूरिता इत्यादि सामान्यता अर्थ निद्रार्ता, मुसी, आल्म (meningitis), सर्विंद्रक मसिनाक दौर्य (Coecophalitis Inchargia), मसिनाक का अर्द्ध या

१ अप्ते ।

विदिधि, सूत्रविपमयता (Ureamia) मधुमेह की अन्तिमावस्था, वैनाशिक पाण्डुरोग (Peucocious anaemias), मस्तिष्काघात, सिर पर आघात, मस्तिष्क में रक्तज्वाव या रक्त का जम जाना (Embolism), पचाघात, लू लगाना (Heat stroke), अत्यधिक रक्तज्वाव इत्यादि ।

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्देश्यन् विकृताननः ॥

यं मुञ्चति सनेत्रास्त स जम्भ इति संक्षितः ॥४६॥

(जूम्भा) उद्देष्टन के साथ मुख फैलाया हुआ (मनुष्य) वायु के एक उच्छ्वास को लेकर औँखों से पानी के साथ जो (निशास) बाहर फेंकता है वह जूम्भा कहलाता है ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में जैभाई के कर्म का शब्द चित्र वर्णन किया है । जैभाई श्वासप्रश्वास का एक विशिष्ट स्वरूप है जो रक्त में प्रां-द्विजरेय (CO₂) की अधिकता होने से रिवार आया करता है । रक्त की खराकी दूर करने के लिए इसमें उच्छ्वास के समय वायु की अधिक राशि ग्रहण की जाती है । संक्षेप में जूम्भा स्वाभाविक अनैच्छिक (Involuntary) और गम्भीर प्रश्वसन का एक प्रकार है जिसमें साँस सुख द्वारा ग्रहण की जाती है । क—यह संख्यावाचक विशेषण इयत्तादर्शन के लिए प्रयुक्त न होकर असाधारणतादर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसका अभिप्राय यह है कि साधारण श्वास-प्रश्वास के समय जिस तरह से और जितनी लंबी साँस ली जाती है उससे भिन्न तरह की और अधिक लंबी साँस जैभाई में ली जाती है । उद्देष्ट—यहाँ पर जैभाई के जितने लक्षण दिये हैं उनमें यह लक्षण सबसे महत्व का है । मनुष्य मुख खोल कर और औँखों से पानी के साथ लंबी साँस ले सकता है परन्तु वह कर्म जैभाई नहीं कहा जा सकता । जब उसमें उद्देष्टन होगा तब वह जैभाई होगी । हाराणचन्द्र उद्देष्टन का अर्थ ‘पृष्ठतः शिरो व्याक्षिप्तन्’ ऐसा करते हैं, परन्तु यह अर्थ अर्थ थीक नहीं मालूम होता । आयुर्वेद में उद्देष्टन का अर्थ इस प्रकार कहीं नहीं होता । साधारणतया उद्देष्टन शब्द पीड़ा या ऐठन या पृठनजन्य पीड़ा (Cramps) इस अर्थ से प्रयुक्त होता है—उद्देष्टन मूलविषे: प्रलापो मोह एव च । जूम्भाजोद्देष्टन-श्वास ज्यो वपविषेण तु ॥ (सुश्रुत, कल्प २) । तत्र दर्वीकर-विषेण दिक्कावायो रुद्धर्गमनं शूलोद्देष्टन तास्ताश्व वातवेदना भवन्ति । (कल्प ४) । हृतीडोधर्वानिः स्नम्भः सिरायामोऽस्तिपर्वरुक् । धूर्णोद्देष्टनं गात्रे इयवता वातिके विषे ॥ (चरक चि. ३३) पादयोः सुमता, पिण्डिकयोरुद्देष्टनं जानुनोः कंवलानां च संधीनां विश्लेषणम् । इति वातज्वरस्य लिङ्गानि स्युः ॥ (ज्वर निदान) ।

उद्देष्टन पैथियों की सख्त सिकुड़न (Contraction) से होता है । यह सिकुड़न अनैच्छिक (Involuntary) होती है । उसके ऊपर मनुष्य की हँड़ा का कुछ भी अधिकार या असर नहीं होता । यहाँ पर भी उद्देष्टन का यही अर्थ है । शरीर में सिराज (Venous) रक्त अधिक होने पर उसकी शुद्धि के लिए जैभाई आती है । उसके आने न आने के ऊपर मनुष्य अपना अधिकार नहीं चला सकता है । जैभाई के समय नीचे का जबड़ा अधिक से अधिक खुलता है यहाँ तक कि कभी कभी हनुसंधि विश्लेष (Dislocation of the lower jaw) हो जाता है । यह कार्य नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की सख्त सिकुड़न से होता है । अर्थात् यह एक प्रकार का उद्देष्टन है, और इसी दृष्टि से यहाँ पर यह शब्द

प्रयुक्त हुआ है । शारीर में इसलिए ‘विदीर्ण वदन’ शब्द प्रयुक्त किया गया है—चैतन्यशिथिलत्वाद्यः पीत्वैकश्वासमुद्देश्य । विदीर्णवदनः शास जूम्भा सा कथ्यते वृधे ॥ मुख कितना खोले कितना न खोले इसके ऊपर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता और वह इतना अधिक खुलता है कि समाज में बुरा मालूम होता है । इसलिए आयुर्वेद में समाज में अनाधृत मुख रखकर जैभाई लेना निषिद्ध माना गया है—नासद्वृत-मुखः कुर्यात्कुतिहस्यविजःभरणम् ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र २) । संक्षेप में ‘नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की अनैच्छिक और अत्यधिक सिकुड़न से जिसका मुख खुला हुआ है’ यह ‘उद्देष्टन विकृताननः’ का अर्थ है ।

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः ।

क्लमः स इति विश्वेय इन्द्रियार्थं प्रवाधकः ॥ ५० ॥

(क्लम) साँस की कठिनाई (Dyspnea) न होकर विना परिश्रम के शरीर में जो थकावट (Feeling of tiredness) वढ़ती है और जो इन्द्रियों से (शब्द स्पर्शादि) विषयों के ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न करती है वह (थकावट की अवस्था) क्लम (Asthenia) समझना चाहिए ॥ ५० ॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणाल लता ।

शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते ॥ ५१ ॥

(आलस्य) वलवान् मनुष्य की सुख में आसक्ति, दुख में द्वेष और भीति तथा काम करने में अनुत्साह हस्तको आलस्य कहते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—सुखस्पर्शप्रसंगित्वं—सुख, अनुकूल वेदना; स्पर्श, इन्द्रियार्थों का उपलक्षण जिससे स्पर्श के साथ शब्द रूप रस और गन्ध इन अर्थों का भी ग्रहण होता है । प्रसंगित्वमासक्तिः । मृदुशयन, मुलायम मलमल के वस्त्र, सुगंधित द्रव्य, सचिकर मधुर भोज्य पदार्थ, श्रुतिमधुर-गान; नयनमनोहर वस्त्रों को देखना इत्यादि अनुकूल संवेदना उत्पन्न करने वाले पदार्थों के संबंध में आसक्ति । दुःखदेष्टप्रणोलता—प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करने वाले विषयों के संबंध में द्वेष तथा ढर । शक्तस्य—इसका संबंध केवल अनुत्साह से न होकर सुखस्पर्श प्रसंगित्व और दुःखद्वेषणलोलता इनके साथ भी है । शक्त का अर्थ है स्वस्थ या नीरोग मनुष्य । अनुत्साह—काम करने में मन न लगाना । हौसले के साथ काम न करना । आलसी आदमी भी काम करता है, क्योंकि काम किये वगैर किसी का नहीं चल सकता । परंतु उस काम में उसका दिल नहीं होता और वह जहाँ तक हो सके उसे अधूरा करता है तथा करने की टालमटोल करता है । कमेसु—कर्तव्य कर्मो में । स्वास्थ्य, धर्म, समाज, कुदुम्ब इनके प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य होता है उन कर्तव्यकर्मों में अनुत्साह । जिसमें उसकी आसक्ति होती है, उसमें अनुत्साह नहीं होता । आलस्य—यह कोई वैकारिक अवस्था नहीं है । प्रकृति का परिणाम है ।

उत्क्लिश्याद्वन्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्टेवनेरितम् ।

हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिदिशेत् ॥ ५२ ॥

(उत्क्लेश) अज्ञ (आमाशय में) उपतप्त होकर वाहर न निकले, प्रसेक (सुख में पानी भरना) और

दीवन (पानी को शूकने की प्रवृत्ति) को प्रेरित करे तथा हृदय (प्रदेह) पीड़ित है जावे उसे डाक्लेश कहते हैं ॥५२॥

यत्क्षय—उत्ते—हृत्सदो *Heart burn* कहते हैं । पचन-स्थायन की विहृति का यह एक लक्षण है । इसमें आमाशय में उदानीरिक (हैर्ट्स्लारिक) भास्त की अधिकता या उपर्यांकी होने पर दूरीपक, शृंतिक (ल्याबिटक द्यूटिक) हृत्यादि सेपिन्ड्रिय अस्त्रों की उत्पत्ति होती है । ये भास्त हृदय प्रदेह में उत्क्षयेश बरते हैं, हृदय में कुछ भी खाशी नहीं होती । आमाशय हृदय के समीप है । उसका उपर का दार हृदिक द्वार । *Art. no. 111. 60*) कहलाता है । आमाशय के अस्त इस द्वार को खोलकर कुछ उपर का जाते हैं । इससे हृदय में थीवा मालूम होती है, वास्तव में नहीं होती । यह हृदयोत्क्षयेश अस्तपित्त, आमाशय का दण, अभिस्तरण, (Ilatation), जींजोय इन विकारों में तथा अपचन अक्षीय / Drapops & में उत्पन्न होता है ।

वषप्ते मधुरता तन्दा हृदयोद्धृणं ग्रामः ।

न चाग्रमधिकाद्येत् ग्लानिं तस्य विनिदिशेत् ॥५३॥

(ग्लानि—) सुह का स्वाद भीगा, तन्दा, हृदय में पीड़ा, अम (घावर लाना) और अध्य सेवन में अनिच्छा (ये उच्चण नियम हों) उसमें ग्लानि (है, ऐसा) समझना चाहिए ॥५३॥

यत्क्षय—इस श्लोक में तीव्र अपचन / Acute dyspepsia or gastritis के लक्षण वर्णन किये हैं । यह विहृति प्राय अध्यशान या अत्यधान से उत्पन्न होती है । हृदयोत्क्षय—यह वही हृदयोत्क्षय है जो पीछे के श्लोक में वर्णित है । ग्लानि—एक प्रकार की कमज़ोरी Depression या *No. 111. 60* ।

आर्द्धचर्मान्तरं वाहिः यो गामधिमन्यते ।

तथा गुर शिरेऽन्यर्थं गौरगं तद्विनिदेशेत् ॥५४॥

(गौरव—) कोई (भूत्य जब अपने) शरीर को गीले चमडे से लिपु भा और तिर को अवगत भारी समझता है (तब) वह गौरव जानना चाहिए ॥५४॥

मृद्धुः पित तम्भाय रज पिनानिलाद्युभ्रम ।

तमोगतशक्तात्तन्दा, निद्रा क्षामतमोभवा ॥५५॥

(मृद्धुर्विकृति की संपर्क—) मृद्धुं पित और तम प्रधान होती है, अम रज, पित और वात से होता है तन्दा तम और कफ से होती है और निदा कफ और तम से होती है ॥५५॥

यत्क्षय—इस श्लोक में मृद्धुं, तन्दा, अम और निदा इनकी समाप्ति वर्णन की है । पूर्व—इसकी वर्तकोक्त संपाति पीछे दूरे स्थान के वक्षक्ष के अन्त में तामसी निदा की विषयी में दी गई है । मृद्धुं और संन्याय दोनों में भी सज्जानाम होता है तथा दोनों की समाप्ति में बहुत कुछ समता होती है, इसलिये उक्त में दोनों का विचार एक साथ किया गया है । संन्याय का विचार पीढ़ी तामसी निदा में तथा तन्दा में किया गया है । मृद्धुं (पृ. १०८ वा १११. १३४ वा १३५) एकाएक भाती है और दोनों दरे के लिए रहती है और प्राय आप से आप टीक हो जाती है— (पृ. १०८ वा १०९) दूरीय कुछ गुण देती है इनमें । स्वयंको पापाय—म जानो नोरेविता ॥ (चतुर्क, सू. २५) । मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से मृद्धुं भाती है । इरपोक और वातिक

(Nervous) प्रहृति के जवान स्थी-पुरुषों में भीति, दूसरे विरह, खानमद, भयानक दृश्य, शाश्वत गरम और जनसंकुल रथान में रहने से मृद्धुं उत्पन्न (६ अध्याय के रक्षे सुध का वात्य भी देखो) होती है । इसके सिवाय अतिपरिव्रिम होनानिवृत्ति-कालीन दौर्वल्य, अनशन, भर्तों पर आधात (जैसे पुण्य), आधात के कारण अत्यधिक रक्षावाच, शरीर के भीतीरी भागों में (Internal) रक्तावाच, विविध प्रकार के गूल (जैसे धूकूल, वित्तारमी शूल, हृदूल हृत्यादि), विविध प्रकार के रक्तवृद्ध या पाण्डुरोग, एकाएक उत्तर बैत्ता या लखे होना, उदयुहागत भार बम होना (जैसे जलोदर में जल निकालने के बाद या प्रदूति के बाद होता है) और हृदय के पिकार ये भी मृद्धुं के कारण होते हैं । मस्तिष्क में रक्त की कमी निम्न तीन प्रकार से होती है । (१) रक्तावाच आम्बन्दरीय या वाद । (२) वातिनीनिदव्याशन (Vasomotor paralysis)—शरीर में स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल द्वारा रक्तवाहिनियों वा नियन्त्रण इस प्रकार से होती है कि जर्ही पर अधिक रक्त की आवश्यकता होती है वहाँ की रक्तवाहिनियों विस्फारित होकर अन्य स्थानों की संकुचित होती है । जैसे, भोजन के पश्चात् पचन-स्थायन में अधिक रक्त की आवश्यकता होती है तर उदर में रक्तवाहिनियों विस्फारित होकर लचा तथा अपने अस्तिष्क की संकुचित होती है निससे सर्दी और सुखी माझम होती है । जब इस नियन्त्रणस्थायन का घाट, दौर्वल्य या अधैर्य हो जाता है तब आवश्यकतामुक्त शरीर में रक्त का विभजन नहीं होता और रक्त शरीर में कहीं पर इकड़ा होता है । मृद्धुं प्राय इस प्रकार की विहृति से होती है । (३) हृदय के अपनों—हृदय अपने विहृति से या अन्य कारण से कमज़ोर होने पर अस्तिष्क में रक्तविषेप करने में असमर्थ होता है । इसमें भी मृद्धुं या जाती है । रक्तावाची, रोगनिषुल, हृदयी, उपवासी, यह कुछ इनमें उठने या लड़े होने पर जो मृद्धुं भाती है । मानसिक द्विप्रविदि विकारों से तथा विविध भयकर या शृणाजनक दृश्य देखने पर जो मृद्धुं भाती है, वह दूसरे प्रकार से भाती है । इसमें मृद्धुं का दर नहीं होता । जो मृद्धुं हृदय की विहृति में भाती है, उससे मृद्धुं होने का दर रहता है । अम—चक्रवर्त्यमो गाव भूमि परिति सर्वदा । अमरेण इव देवो रम पितानिमामव ॥ (मात्रविनिदान) । अम (Verigo) विकार देवेशा बान के कान्तारक (Labyrinth) की या शुनिनाई की त्रिविकामिया दृश्य (Vestibular nerve) की विहृति से या अनुमस्तिष्क (Cerebellum) की विहृति से होता है ।

गर्भस्य खलु रस नर्मदा मारुताभाननिमित्ता च परितुदिर्भवति ॥५६॥

भवनित वात्र—
तस्यान्तरेण नामेस्तु ज्योति रुप त धुव मृतम् ।
तदाधमति घातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥५७॥

ऊमणा सद्वित्यापि दारयत्यस्य मारुत ।
ऊर्ध्वे तिर्यगधस्ताय शोर्तास्यापि यथा तथा ॥५८॥

(गर्भवृद्धि के कारण—) सच पूछिए तो गर्भ की परिवृद्धि (माता के आहार) रस के कारण तथा वायु के आधमान के कारण होती है ॥ ५६ ॥ यहाँ पर श्लोक हैं—गर्भ की नाभि के भीतर (उदरगुहा में) अविन का स्थान निश्चय से होता है । वायु (उस स्थान की) अविन को प्रधमापन से प्रदीप्त करती है, जिससे शरीर परिवर्धित होता है ॥ ५७ ॥ (उस ज्योतिःस्थान की) अविन से संयुक्त हुई वायु (गर्भ के मांसल पिण्ड में प्रधमापन से) जैसी जैसी ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में स्रोतसों को विदारण (करके उत्पन्न) करती है, वैसे वैसे (उस गर्भ की वृद्धि होती है) ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—प्रथम सूत्र में गर्भवृद्धि के दो कारण बताये हैं । इनमें माता का आहाररस गर्भवृद्धिरूप हमारत का मसला है । जैसे, माता का शरीर उसके आहार पर पारवर्धित होता है वैसे ही उसके शरीर पर वाँदि की तरह लगा हुआ गर्भ उसी के आहाररस पर परिवर्धित होता है । इसलिए रस गर्भशरीर का ऊपादान कारण है । वायु और उसके साथ पित्त या तेज ये उस आहाररस से गर्भशरीर में विविध अंग, विविध धातु उत्पन्न करते हैं, इसलिए ये निमित्त कारण हैं । अन्तरेण नामेत्तु—उदर त्वचा के मध्य में जो निम्नमध्य भाग होता है और जहाँ पर गर्भ की नाल लगी रहती है वह स्थान नाभि (Umbilicus) है, उसके मध्य में । इसका मतलब यह नहीं है कि नाभि का जो एक या दो वर्ग हृच्छ चेत्र होता है, उसमें ज्योतिःस्थान होता है । नाभि के केवल नाड़ी के लिए प्रवेशद्वार है । नाभि के पीछे उदरगुहा में जहाँ पर यकृत, प्लीहा, हृदय, आमाशय इत्यादि पित्त के स्थान होते हैं वहाँ पर । ज्योतिःस्थान—अभिय या तेज अर्थात् पित्त का स्थान । शरीर में उष्णता रूप जो शक्ति होती है, उसे अभिय या ज्योति कहते हैं । इसका स्थान नाभि और हृदय के मध्य में होता है—ते व्यापिनोडपि ह्राम्योधोमस्तोर्ध्व-संथ्रयोः । (अष्टांगहृदय) । तदाधमति इत्यादि—वायु ज्योतिःस्थान के पित्त को प्रज्वलित करती है । पित्त के द्वारा आहाररस का पचन होकर उसका परिवर्तन शरीर के विविध धातुओं में होकर गर्भ का पिण्ड बनता है । परन्तु पित्त या अविन स्वयं पङ्कु है, वायु की सहायता के बिना वह कुछ नहीं कर सकता—उमीरणों नोदितिया भवेति व्यादिदिव्यते कैन उग्रशनस्य । (कुमारसम्बन्ध व ३) । पित्तं पङ्कु कफः पङ्कुः पङ्कवो भलधातवः । वायुना वय नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेवत् ॥ (शार्ङ्गधर) । त्रोतांमि—शरीरगत धातुओं का वृद्धि स्रोतसों के बिना नहीं हो सकती है । कुछ आचार्य, पुरुष को स्रोतसों का समुदाय मानते हैं—सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्थभिन्निरन्ते । अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुष-मिच्छन्ति ॥ (चरक, चिमान ५) । अर्थात् समस्त शरीर में स्रोतसों की उत्पत्ति गर्भवृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है । ये स्रोतस वायु पित्त के साथ मिलकर गर्भ के मांसपिण्ड में प्रधमन के द्वारा उत्पन्न करती है । जैसे उष्णता से पिघले हुए कच्चपिण्ड में वायु के प्रधमन से नालियाँ अवकाश इत्यादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पित्त के द्वारा पाचित हुए गर्भपिण्ड में वायु के प्रधमन से ऊपर, नीचे, हृधर-उधर स्रोतस बन जाते हैं । यथा तथा—गर्भवृद्धि की दृष्टि से यदि इस शब्द-समूह का विचार किया जाय और जो

विचार यहाँ पर सन्दर्भ के अनुसार अधिक प्रशस्त है तो इसका अर्थ निम्न प्रकार से होता है—अविनयुक्त वायु गर्भ-शरीर में हृधर उधर जैसी जैसी स्रोतसों का विदारण करती जाती है वैसी वैसी गर्भ की अधिकाधिक वृद्धि होती है । यदि स्रोतसों की उत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो इसका अर्थ निम्न प्रकार का होता है—अविनयुक्त वायु गर्भशरीर में हृधर उधर प्रधमन के द्वारा जैसे विदार उत्पन्न करती है, वैसे हुटे मटे स्रोतस उत्पन्न होते हैं । रसनिमित्ता मातृतामाननिमित्ता—गर्भ की वृद्धि नाभिनाडी के द्वारा होती है—मातुस्तु खल रसवाहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिवद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपस्तेनात्याभिवृद्धिर्भवति । यदि नाभिनाडी की रचना की दृष्टि से उपर्युक्त वचन का अर्थ करना हो तो रसनिमित्ता से सिरा (Vein) और मातृतामाननिमित्ता से धमनी Artery) ये दोनों नाभिनाडी में होते हैं, यह स्पष्ट होता है । संक्षेप में नाभिनाडी में सिरा और धमनी दोनों ही होते हैं ।

दृष्टिश्च रोमपाद्य न धधन्ते कदाचन ।

ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥ ५६ ॥

शरोरे क्षीयमाणेऽपि धर्धते द्वाविमौ सदा ।

स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखेकेशावित स्थिर्यातः ॥ ५७ ॥

दृष्टि और रोमकूप कभी भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते । मनुष्यों के ये अग अचल होते हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥ ५९ ॥ शरीर के क्षीण होते हुए भी नख और केश ये दोनों स्वभाव को कारण करके सदा बढ़ते ही रहते हैं, ऐसी (वास्तविक) स्थिति है ॥ ६० ॥

वक्तव्य—दृष्टि—इसके तीन अर्थ हो सकते हैं । (१) द्वयोचर चेत्र (Sigmoid), (२) दृष्टिमण्डल (Pupil) —कृणात्सप्तमस्त्वच्चन्ति दृष्टि इष्टिविशारदाः ॥ (३) दृष्टिचित्तान (Retina) जिसके ऊपर प्रकाशकिरण पङ्गे से वाल्य वस्तु का ज्ञान होता है । रामकृष्णः—Ha. 100. १८८ । न वधन्ते—जन्म के पश्चात् शरीर की वृद्धि होते हुए भी हनकी वृद्धि नहीं होती । ये अग मोटाई में जन्मकालीन रहते हैं । जन्म के समय बालक की लम्बाई १५-२० इच्छ के लगभग होती है, जो जवानी में ४-५ गुना हो जाती है । वज्रन् ६ पौण्ड के करीब होता है, जो पचीसगुना अधिक हो जाता है । यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो दृष्टि और रोमकूप ध्रुव निश्चल मालूम होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा—स्वभावं कारणं कृत्वा । शरीर का त्वय होने पर भी शरीरगत नखों और केशों की वृद्धि हाना यह एक आश्वर्यं-जनक वात मालूम होती है । अर्थात् इसका कारण स्वभाव के सिवा और कोई नहीं हो सकता ।

सप्तप्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः, समस्तैश्च ॥ ६१ ॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्वोष उत्कटः ।

प्रकृतिर्जायिते तेन तस्य ये लक्षण शृणु ॥ ६२ ॥

(प्रकृति—) सात प्रकृतियाँ होती हैं—पृथक् पृथक् दोषों से (तीन), दो दोषों से (तीन) और सब दोषों

१ कथेचन ।

से (पक) ॥ १ ॥ शुक्र और शोणित के सयोग में जो दोष प्रबल होता है, उसी से (पुरुप की) प्रकृति उत्पन्न होती है। सुहसे उसके लक्षण सुनो ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—रोजै. पृथक्—वातप्रकृति, पितृप्रकृति और कफप्रकृति। दिघ—वातपितृप्रकृति, वातकफप्रकृति और पितृकफप्रकृति। समस्ते—वातपितृकफप्रकृति। द्रिदोपज प्रकृति में तीनों दोष समप्रबल होते हैं, इसलिए उसके समप्रकृति कहते हैं। और प्रकार की प्रकृतियों में पृथक् या दो दोषों का प्रानस्थ होता है इसलिए द्रिदोपज प्रकृति स्वस्थ, और पृथक् या दो दोषज प्रकृति भ्रस्तस्थ होती है—समपिचामिलकक्षा केन्द्रियांशिमानवा। इसलिए वातला केन्द्रिय पिच्छा इलेमलास्तथा ॥ तैशामनातुरा पूर्वे, वातलादा सदातुरा। दोशनुभविता होना देहप्रकृतिक्षये ॥ (चरक, सूत्र ७)। दोषज प्रकृति के मनुष्य यथापि देखने में स्वस्थ होते हैं, परन्तु उनके अपने स्वास्थ्य रुक्षण के लिए परहेज रखना पड़ता है—तैशो वातलादीना सुख्य स्वास्थ्य नाल्सि, कि तर्हि उपवारस्वस्था एते इति दर्शयति। (चक्रपणिदत्त)। इन दोषज प्रकृतियों में कफप्रकृति श्रेष्ठ, पितृप्रकृति मध्यम, वातप्रकृति कठिन और द्रिदोपज प्रकृतियाँ निम्न होती हैं—तैश्वित्र प्रकृतयों स्थितयोंतमा पृथक्। समप्रबुद्ध वेष्टा निषा द्रिदोपज ॥ (अष्टागहदय, सूत्र १)।

अब यहाँ पर सुकृतात्मायं प्रकृति के सात भेद बताते हैं। इनमें से समप्रकृति के संबंध में कुछ आचार्यों का कथन है कि उस प्रकार की प्रकृति असम्भवनीय है क्योंकि मनुष्य का जाहार हमेशा विषम होता है और आहार विषम होने के कारण शरीरराग द्रिदोपज भी विषम हो जाते हैं—उत्तर केनिशाङु—न समवातपितृतेप्याणो जनत्व सन्ति, विषमाहारोपयोगितामनुभायाश्च, दस्ताच वातप्रकृतय लेन्दिय, केन्द्रिय पितृप्रकृतय, केनिशु तुन इलेप्रप्रवृत्तयो भवतीति ॥ (चरक, विमान ६)। विषमाहारोपयोगितादिति नय पुरुष-स्तुलायारधनविनाहारमुपरुचे, तेनावदयमत्र वायोगिव्यवन्मोडपि दोषो विहो भवतीति भाव ॥ (चक्रपणिदत्तीका)। इस पर अनेकों का कथन है कि, मनुष्य स्वस्थ होते हैं और स्वास्थ्य द्रिदोपसाम्य के सिवा नहीं हो सकता। इसलिए समप्रकृति होती है, परन्तु प्रकृति के जो अन्य भेद बतलाये गये हैं उनके लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग करना उत्पत्ति नहीं है क्योंकि दोषविषय होने के कारण वह विचित्र है। अत वातप्रकृति कहने की अपेक्षा वातला, पिच्छा इत्यादि कहना उचित है—त्वचानुपन्न करमात्मारात्मा । समवातपितृतेपाया द्वारोगिमिक्षनि भिजत । यत प्रकृतिश्च-रोग्यम्, आटोन्यार्थं च भेदप्रवृत्ति संवेदारुणा, वसात् सन्ति समवातपितृतेप्याण । न रुद्ध सन्ति वातप्रकृतय, इलेप्रप्रवृत्तय, विच्छ्रुतयो वा । तस्य वस्य लिप्त होत्याक्षिक्यात्, मा स दोष प्रकृतिवृक्षे मनुभायामा, न च विष्टुषु दोषेषु प्रकृतिस्तुप्रपञ्चे, तदमानेता प्रकृतय सन्ति, सन्ति तु कुछ वातला: पिच्छा इलेप्रायाश्च, प्रप्रवृत्तिस्थानु ते वेषा । ते त्वचानुपरात्मनात्मारात्मा भिजनाम् ॥ (चरक, विमान ६)। तुक्षीलिङ्गसेवो—प्रकृति की उत्पत्ति का यह एक कारण है। पुरुष का शुक्र और सी का शोणित, जिनके संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है, वात-पितृकफप्रकृत दोते हैं। प्रयोक में दोषों की कुछ न्यूनाधिकता हो सकती है। जब दोनों का सयोग (Union) होता है

तब दोनों के भीतरी ग्रिदोपों का भी सयोग होकर वात वात में, पितृप्रकृति में, और कफ कफ में मिलकर गर्भ का ग्रिदोप बनता है। इस ग्रिदोप में संयोगवश तीनों की वात समता होती तब समप्रकृति बनेगी और गर्भ की वृद्धि तथा प्रकृति भी यथोचित और स्वस्थ रहेगी। परंतु इस प्रकार समता होना पहुंच कठिन काम है, प्रायः कोई न कोई दोष प्रबल हो जाता है और उसी के अनुसार वातल, पितृल इत्यादि प्रकृतियाँ बन जाती हैं। जब दो दोषों की प्रवलता होती है, तब द्रिदोपज प्रकृतियाँ बनती हैं। उक्त—यह उक्तद्वा सयोग के पश्चात् उत्पन्न होने वाली है। माता में या पिता में एक आप दो की उल्कटता होने से थालक में उसकी उल्कटता होना जावश्यक नहीं है। यदि पिता में वात की उल्कटता हो तो थालक में वात की उल्कटता माता पिता से भी व्युत्पन्न होगी। सचेष में, गर्भ—प्रकृति में दोष की ओर उल्कटता होती है वह पिता माता के शुक्रशोणितगत ग्रिदोपों के पृथक् पृथक् परिमाण के जोड़ का परिणाम होता है। पाश्चात्य वैद्यक में माता पिता से प्राप्त दोषों के स्वप्न में हस्ती प्रकार की करणना होती है—The tendency to disease in one parent may either be neutralised by opposing characters in the other parent, or it may be reinforced if identical peculiarities exist on both sides. Manual of Pathology by Green प्रकृति—द्रिदोपसाम्य (Normality) यह जो प्रकृति का अर्थ (साम्य प्रकृतिरूपते) है वह यहाँ पर अभियेत नहीं है। प्रकृति शरीरस्वप्नम् (अस्तादत्त)। प्रकृतिभित्ति स्वभावम् (चक्रपणिदत्त)। स्वभाव या शरीर-स्वरूप यह अर्थ यहाँ पर अभियेत है। स्वभाव आविल-प्रवृत्त (Hereditary) होता है। प्रकृति के लिए अपेक्षी में Nature, character या temperament कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार अपेक्षी में भी नेत्रर के Nervous (वातिक), Lymphatio (श्लेष्मल) और Sanguine (पितृल) करके विभाग किये जाते हैं। यहाँ पर प्रकृति की उत्पत्ति का एक कारण दिया है। चरक और अष्टागहदय में और भी कारण दिये हैं जिनका विचार आगे ७०-७५वें श्लोकों के वक्तव्य में किया जायगा।

तत्र यः प्रजागारुकः श तद्वपी दुर्भगः स्तेनो मस्सर्वनायो गन्यवृचित्तः दुर्दित्तकरचरणोऽल्परुद्ध शमथनस्त्रेनेशः प्रोद्या दृश्यनलखादी च भवति ॥६३॥ अद्युतिरद्दसोद्ददः कृ तप्तः

कृशपृष्ठो धमनीततः प्रलापी ।

दुर्गतिरटनोऽनवस्थितात्मा

वियति च गच्छति सभ्रमेण सुप्तः ॥६४॥

अव्यवस्थितमित्तसदृष्टि-

मन्दरलग्रनसचयमित्रः ।

किञ्चिदेव विलपत्यनियमः

मारुतप्रटिरेप मनुष्यः ॥६५॥

वातिकाश्वाजगोमायुशशाखुष्टुनां तथा ।

गृभ्रकाखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥ ६६ ॥

(वातप्रकृति के लक्षण—) इन ग्रहक्तियों में जो प्रजा-गरुक, शीत का द्वेष करने वाला, कुरुप, चोर (दूसरे का) मत्सर करने वाला, असम्भ्य (अशिष्ट, गँवार), संगीतप्रेमी, जिसके हाथ पैर फटे रहते हों ऐसा, जिसकी दाढ़ी (मुँछे) नख और केश अत्यन्त रुक्ष हों ऐसा, तेजमिजाज, (क्रोध से या नींद में) दाँतों को कटकटाने वाला तथा नाखूनों को दाँतों से खाने वाला होता है ॥ ६३ ॥ धैर्यरहित, जिसकी मैत्री हड़ (टिकाऊ और गाढ़ी) न हो ऐसा, कृतम्, कृश (पतले शरीर का), रुक्ष शरीर का, जिसका शरीर (उभरी हुई) सिराओं से भरा हो ऐसा, घातनी (घकवादी), तेजी से चलने वाला, (हमेशा) भटकने वाला, चब्बलचित्त और सोने पर नींद ठीक न आने के कारण जो आकाश में संचार करने के स्वप्न देखता है ॥ ६४ ॥ अस्विरुद्धि, चब्बलद्विष्ट, जिसके पास सोना चाँदी रख अल्प हों तथा जिसके मित्र थोड़े हों, जो असम्भद्ध ही कुछ घकता हो वह मनुष्य वातप्रकृति होता है ॥ ६५ ॥ वातिक मनुष्य घकरी, गीदह, खरगोश, चूहा, जँड, कुत्ता तथा गीध, कौआ, गधा इत्यादि के स्वभाव के (समान स्वभाव में) कहे जाते हैं ॥ ६६ ॥

वक्तव्य—प्रजागरुकः—जिसको नींद बहुत कम आती हो या जो नींद में भी बढ़ा सावधान होता हो । दुर्भगः—प्रमनोरसाकारः । (डल्हण) । शीतदेही—वायु स्वयं शीत होने के कारण वातिक मनुष्य शीत से दरता है तथा वह उसको सहन नहीं कर सकता—शैत्याद शीतासदिष्णवः । (चरक, विमान ८) । गन्धर्वचित्तः—गन्धर्वों की कला जो संगीत, उसमें दिलचस्पी लेने वाला । धमनीतरतः—सिरासंतत-गात्रः । धमनी शब्द यहाँ पर सिरा (Vein) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आगे ९ वें अध्याय के दूसरे सूत्र का वक्तव्य भी देखो । अव्यवस्थितमतिः—सारासार विचार करके पश्चात् विनिश्चय करना यह छुड़ि का कार्य होता है । इस प्रकार का विनिश्चयात्मक काम करने में जिसकी छुड़ि असर्मर्य है, ऐसा मनुष्य । अनूकैः—अनूकूं स्वभावः त्वरस्पवेद्यानुकरणम् । (अरुणदत्त) । वातिक मनुष्य के स्वभाव में अजादि प्राणियों के स्वभावों का संमिश्रण मिलता है, यह अनित्तम श्लोक का अभिप्राय है । इन लक्षणों के सिवाय अतिंगहदय में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—नास्तिक, अधिक भोजन करने वाले, मधुराम्लपटूप्पासाम्ल्यकांची । नेत्राणि वैपां खर-धूसराणि वृत्तान्यचारणि शूटोप्सानि । उन्मीलितानीव भवन्ति शुष्टे ॥ चरक में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—रौद्राद्यातला रुक्षापचितात्पशरीराः प्रततरुद्रादामसन्ततज्जरस्वराः, शीघ्र-त्वाच्चोवसमारभ्योभविकाराः शीघ्रवासरागविरगाः श्रुतवाहिणोऽप्तस्मृतयश्च, प्रायेणालपवलाश्वास्पुष्पाल्पत्यश्वाल्पसाधानश्च-एष्पठनाश्च भवन्ति ॥ (विमान, अ० ८) ।

स्वेदनो दुर्गन्धः पोतशिष्यिताङ्गस्ताप्त्रनखनयनता-
लुजिहौप्रपाणिपादतलो दुर्भगो घलिपतितखालित्य-
जुष्टो वहुभुगुण्डदेही त्रिप्रकोपप्रसादो मध्यमवलो
मध्यमायुक्त भवति ॥ ६७ ॥

मेधावी निपुणमतिर्विशृणु वक्ता

तेजस्वी समितिपु दुर्निवारवीर्यः ।

सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्

संपश्येदपि च हुताशविवृद्धुत्काः ॥ ६८ ॥

न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः

प्रणतेष्वापि सान्त्वनदानहचिः ।

भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः

स भवेदिद्व वित्तकृतप्रकृतिः ॥ ६९ ॥

धुजङ्गोलृकगन्धर्वयज्ञमार्जारवानरैः ।

व्याघ्रक्षन्तकुलामूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥ ७० ॥

(पित्तप्रकृति के लक्षण—) जिसे बहुत पसीना आता हो; जिसके शरीर से दुर्गंध आती हो; जिसका शरीर पीला और शिथिल हो; जिसके नख, नेत्र, ताङ्गु, जीभ, होंठ, हथेलियाँ और तलुवे ताम्रवर्ण हों; कुरुप, शरीर पर शुरियाँ हों; वाल सफेद हों और गिर जाते हों; बहुत खाने वाला; गरमी से द्वेष करने वाला; जो जलदी ही कुद्ध और शान्त हो जाता हो; मध्यम वल का और मध्यम आयु वाला (मनुष्य पित्त प्रकृति का) होता है ॥ ६७ ॥ उत्तम धारणाशक्ति का, कुशाग्रद्विद्धि का, प्रतिवादी का पक्ष तोड़कर घोलने वाला, तेजस्वी, संत्राम में दुर्दमन वीर्य का (पित्त प्रकृति का मनुष्य), सोने पर सुवर्ण, पलाश, कर्णिकार, अग्नि, विजली, उल्कापात तो देखता है ॥ ६८ ॥ भय दिखाने से दवता नहीं, नम्र न होने वालों के लिए कठोर घृत्ति का, नम्र होने वालों के लिए सान्त्वना देने की इच्छा करने वाला, जो हमेशा (फोड़े, फुन्सियाँ, मुखपाक इत्यादि के कारण) पीड़ितमुख होता है वह संसार में पित्तप्रकृति का होता है ॥ ६९ ॥ पैत्तिक मनुष्य (स्वभाव में) सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यज्ञ, विहीनी, वन्दर, शेर, रीछ और नेवला के स्वभाव के समान होते हैं ॥ ७० ॥

वक्तव्य—रुभुक्—पित्ताधिक्य के कारण अधिक खाने वाला—तैच्यात् वीच्यात् नयः प्रभूताशनपानाः । (चरक) । उष्णदेही—उष्ण सहन न करने वाला—श्रीण्यात् पंचतां भवन्युष्णासहाः । (चरक) । दुर्गन्धः—विसवात् प्रभूत-पूतिकज्ञास्यशिरःशरीरगन्धाः । (चरक) । मेधावी—मेधा—अंयधारणाशक्ति से युक्त—मेधाधारणेन परीक्षेत (चरक) । विशृणु वक्ता—विशृणु संभापद्वति के अनुसार सभा—समितियों में भावण करने वाला । विशृणुसंभापक अपने पक्ष का स्थापन और मण्डन तथा प्रतिपक्ष का दूषण और खण्डन, छुल, जाति, निग्रह स्थान इन उपायों के द्वारा इस प्रकार करता है कि प्रतिवादी हार जाता है । निग्रह के कुछ उपाय—शृतीनं महता सत्रपाठेनाभिवेत्, विज्ञानीनं पुनः कष्टाद्वेदेन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमावददोर्वैसूत्रसंकुलैर्वक्य-दण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनैकविवेनानेकार्थवाचिना, वचन-शक्तिहीनमधोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपण, अविशारदमपहेषेन, कोपनमायासनेन, भींह विवासनेन, अनवहितं नियमनेनेति । एवमेत्यैरूपायैः परमवरमभिभवेच्छीत्रम् ॥ (चरक, विमान ८) । व्यथितास्यगतिः—श्रीण्यादुष्णसुखाः प्रभूतविभूत्यक्षिलपिटकाः । (चरक) । समितिपु—समिति का अर्थ यहाँ पर सभा नहीं है, यह अर्थ उपर विशृणु वक्ता में आ गया है । यहाँ पर समिति से युक्त संत्राम अर्थ लेना चाहिए—अथ

सुगे, मो सभावा सजिंहि । (अमरकोश) । दर्मितारोयं—प्रारब्ध कार्य की दृष्टता देखकर भी उसमें बाज न आना यह बीर्यं वा अर्थ है—पीर्यमारवद्युक्तरन्वेष्यव्याकृतिसंनम ।

(चक्रदत्त दीक्षा, चर्क, विमान ४५) । समर में शत्रु का अधिक बल देखने पर या यद्य प्रारभ होने के पश्चात् अपनी हार होने का समय आने पर धीरज न छोड़कर लड़ने वाला, तथा प्रमग आने पर मर मिन्ने के लिए तैयार होने वाला । इन लड़ों के सिवा अष्टागहदय में पित्त प्रहृति के निम्न दृष्टिगति भिलते हैं—दीर्घमालाविदेवमण्डनं सुचरितं गुरुकिरादिवन्मत् ॥ नारीगामनमिमोऽनशुकुलाम । धर्मदेवी । तनुनि रिगानि चनानि चैवा तद्वलपत्तमाणि हिम विनापि । त्रोधेन मध्येन रेतेय भासा राग व्रजवन्दामु विलोचनानि ॥

द्वैग्नदीरनिलिशाद्वारिष्टक्षराकण्डानापन्न्य
तमर्णः सुमगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः वृत्तशो
धृतिमान् सद्विष्टुरुलोकुपो वलयाद्विरग्राही दृढ
वैरक्ष भवति ॥५१॥

शृङ्खात् विष्टकुटितालिति नीलकेशो
हन्मे वान् जलदमृज्जसिद्धघोषं ।

सुसः सन् सकमलहंसवप्रवाकान्
सपश्चेदपि च जलाशयान् भनोजान् ॥५२॥

इत्तान्तनेत्रः सुविमकगांधः
स्त्रियन्दृष्टिः सद्यगुणेषपदः ।

पलेशक्षमो मानयिता गुरुणां
क्षेयो वलासप्रतिर्मनुष्यं ॥ ५३ ॥

दृदशायप्रतिः स्त्रियगिरधनः
परिणाम्य चिरात् प्रददाति वहु ।

परिनिक्षितप्रास्तपदः सतन
गुदमानकर्त्त्वं भवेत्म सदा ॥ ५४ ॥

प्रद्युम्नद्वयरणैः सिद्धाश्वागत्यगोवृष्टैः ।
ता यंहंगमसमाकृक श्लोऽप्रहृनयो नरा ॥५५॥

(ऐतेयप्रहृति के शुण—) दूर्जा, नील कमल, तरवार, कोमल नीम की पत्ती, सरकण्डा इनमें से किसी एक के दर्ण का, सुदील, प्रियदर्शन, भुजुर पदार्थों को पर्वद करने वाला, कृत्ता, धीर, सहन करने वाला, लालच से रहित, अल्यान और वैर को अधिक काल तक पकड़ने वाला होता है ॥५१॥ यसन्द नेत्रों का; सिद्ध धूपुराने बहुत और काले केश वाला, धनरंग भेष, सुदृढ़ और सिद्ध के (समान गभीर) ध्वनि वाला (ऐतेयप्रहृति का मनुष्य) सोने पर कमल हीस चक्रारु पुष्क शुदृश सरोवरों को (स्वर्ण में) देखता है ॥५२॥ नेत्रों के प्रान्त भासी में लाली होने वाला, (स्वायाम के कारण यथायमाग दीर्घ की चुड़ि होने से) सुदील दीर्घ वा, स्त्रियान्ति वाला, सरवगुणयुक्त, कठोर महान् बहो वाला, (मात्रा विना शुरु तथा अन्य वयोऽप्य, वानशृद) धारानीय मनुष्यों का मान करने वाला भुजुष्य क्रप्रहृति हा जानना चारिष्ट ॥५३॥ यह (प्रायप्रहृति का मनुष्य) शास्त्रों में एक विद्याम करने वाला, मिथ्र और धन के सिद्ध इन्हें वाला, बहुत देर तक सोच विचार

करके बहुत दान देने वाला, हमेशा निश्चित घात कहने वाला तथा गुरुणों का सम्मान जरने वाला होता है भृश्य क्रप्रहृति के मनुष्य व्रद्धा, रुद्र, इद्य, धृश्य, मिथ्र, वैद्या, हाथी, गौ, बैल, गरुद और हस्त इनके समाव स्वभाव में होते हैं ॥५४॥

ब्रह्मव्य—तिलिंग—तलवार । यह शास्त्र वा उपलब्ध है । जिसके दर्ण में शस्त्र का देज हो, ऐसा । ३३—३४ वानारीति रुद्र । विरमादी इद्येभ्य—ये दोनों मिलाकर अर्थ करना चाहिए—प्रदद न वहति इद्य चिर च वैरू । (अष्टागहदय) । One who can forgive but cannot forget, भविनामेकेह—अति नील का विशेषण व समरकर केश का स्वतन्त्र विशेषण माना जाय—नवालेशम । जिसके केश सख्ती में बहुत और नीलालय रिये काले हैं । अष्टागहदय में श्लेषमप्रहृति के निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—द्वैग्नदीरनिलिशाद्वारिष्टक्षराकण्डाना । भसात्ता बदनि न निरुद्र च जातु । सनद्विरेष्टदुलयान । स्त्रियान्त्रिभिवेगात् दिनोगे न च वालेऽप्यविरेष्टन । विक वयष्य कुद्योऽप्यरुद्यमत्य स तुरन्ते वलवीन्यापि । दीर्घदीर्घी । भासी वैभार धूतवत्य द्वावानामासी निद्रातुर्यथैव । (शारीर ३) । भासुमनश्च भवन्ति । (भरक) ।

द्वयोर्चां तिसृणां चाऽपि प्रहृतीनां त लक्षणैः ।
शात्रवा संसर्गंज्ञा वैद्या प्रहृतीरभिन्निदेवत् ॥ ५६ ॥

(मिथ्रप्रहृति—) हो या तीनों प्रहृतियों के एचों से (ुक्ष) प्रहृतियों को मालम बरके वैष (उर्व) संसर्गं (मिथ्र) निर्दिष्ट करे ॥५६॥

प्रक्षोपे धान्यभागे वौ द्वयो वा नोपज्ञायते ।
प्रहृतीनां दृभावेन जायते तु गतायुपः ॥५७॥

(प्रहृति की निश्चलता—) प्रहृतियों का प्रवेष अन्यथाभाव या द्वय स्वभाव से नहीं होता, परन्तु भासुष्य समाप्त होने वाले की प्रहृति वा होता है ॥५७॥

ब्रह्मव्य—प्रदद—तरतमभेद से पृष्ठि । जैवे, धरा किसी की प्रहृति साधारण वातिक होता तीव्र वातिक होना । अन्यथाभाव—विषप्रहृति का प्रशर्तन समझन्ते में वातप्रहृति का वित या कष्टप्रहृति में, एकदोषत प्रहृति के द्विदोषत प्रहृति में, इस प्रवार प्रहृत्यन्तर होना । प्रद—तरतमभेद से कम होना । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि गर्भरंभ के समय विद्यार्थी के जिस सौदि म गर्भ की प्रहृति दल जाती है, वही सौदि जन्म से शुरु के समय तक यहा रहता है, उसमें शुष्क भी कही नहीं नहीं होता और जब प्रहृति में कहे होता है, तब यह अरिष्ट मरणशूक चिह्न माना जाता है—दृश्यात्मप्रेषय प्रस्तुतिरुपमर्य । तदान्त समाप्त ध्वनितु निरेव मे ॥

प्रस्तुत, सृष्ट १० ॥ प्रस्तोय हीले दरय प्रायी प्रस्तुतिये । सहसा सहसा दरय शुरुदृष्टि वैरैष ॥ (धरक, इन्द्रिय ६) । प्रहृति रवभासी धूतोऽप्य रुद्र ति वा ४८ प्रानश्च इष्टप्रहृत्यान्युपास ॥ (चक्रवाणिदृष्ट) । अर्थात् जिम मनुष्य की जो प्रहृति होती है, वह जन्म से शुरु तक एक-दो री होती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता—मनुष्य ।

१ नेत्रदामास ।

वर्तप्रकृतिर्भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्भवति समप्रकृतिर्भवति ॥ (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ७-४०) । लब्ध प्रश्न यह उल्लेख है कि जिनके आधार पर मनुष्यों की प्रकृति बनती है, वे त्रिदोष तथा जिनके आधार पर मनुष्यों का स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य निर्भर होता है वे त्रिदोष, एक है या भिन्न हैं? इसका उत्तर यह है कि प्रकृतिर्दर्शक और स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष स्वरूप की दृष्टि से यद्यपि एक हैं तथापि निम्न कारणों से शरीर में इन दो अवस्थाओं को दर्शाने वाले त्रिदोष स्वतन्त्र होते हैं । (१) प्रकृतिर्गत त्रिदोष माता-पिता से मनुष्य में आते हैं, अर्थात् ये त्रिदोष आदिवलग्रहवृत्ति (Hereditary) होते हैं । स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष जन्म के पश्चात् सेवन किये हुए आहार-विहार से उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये त्रिदोष जन्मोत्तर होते हैं । (२) प्रकृति के वातादि दोष गर्भसभ्म से मृत्यु के समय तक स्थिर रहते हैं । इनके स्वभाव में कोई भेद नहीं होता, जिसके कारण प्रकृति भी जीवनभर एक-सी रहती है । स्वास्थ्यदर्शक वातादि दोष आहार-विहार, दिनमान और अनुमान के कारण अमेशा बदलते रहते हैं—वयोऽहोरात्रिमुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगः क्रमात् । (अष्टांगहृदय, सू० १) एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशैर्जनीयतात् ॥ (सुश्रूत, सू० ६) । (३) स्वास्थ्यदर्शक दोषों की ज्यवृद्धि होकर रोग उत्पन्न होते हैं । परन्तु इनकी ज्यवृद्धि का परिणाम प्रकृतिर्गत दोषों पर नहीं दिखाई देता । जैसे, वात का ज्य किसी वातल प्रकृति के शरीर में होने पर उसमें वातज्य के लक्षण दिखाई देते हैं, परन्तु उसकी वातल प्रकृति समकृति नहीं होती । (४) जब किसी की प्रकृति में एक दोष का अधिक्य होता है, तब उसका स्वास्थ्य कुछ खराब होता है—वातलादाः सदातुराः । और इनको अपना वास्थ्य ठीक रखने के लिए जीवनभर उस दोष की दृष्टि ऐ आहार-विहार रखकर रहना पड़ता है । परन्तु जब आहार-विहार के हीनमिथ्यातियोग से शरीरगत एकाध दोष विघ्न होकर रोग उत्पन्न होता है, तब उसके ज्यार्थ आहारविहारौपाधियों का उचित उपयोग कुछ काल तक करने से धातुसम्य अर्थात् आरोग्य प्राप्त हो जाता है और पश्चात् उस आहारविहारौपाधिय सेवन की आवश्यकता नहीं होती । (५) प्रकृतिर्गत वातादि दोष शरीर के उपादान कारण नहीं होते, परन्तु स्वास्थ्यजनक त्रिदोष शरीर के उपादान कारण होते हैं । चक्रपाणि चरक की टीका में इन सब वातों का समारोप निम्न प्रकार से करते हैं—तेऽनुशयिता उल्लेशतादिभाविताऽव्यभिचारिणीति यावत् । देह-प्रकृतिर्देहस्वास्थ्यमिति यावत् । एतेनैतेषां वातलादानां मुख्यं स्थास्थ्यं नास्ति, विन्वत्वा उपचारस्वस्य एत इति दर्शयति । ननु गर्भाशीत्यनेन शुक्रोणितीजानां संसर्गं यथाभूता वातादयः समा विकृता वा तथाभूतैव प्रकृतिर्भवति, सा च प्रकृतिर्यावलीभूत-मनुवर्तते रिएं विना । तब यदा समप्रकृतेर्वातप्रकृतेर्वातप्रकारित्वं विकारो भवति तदा वातस्य प्रकृतिभूतस्याधिकं भवत्येव, यदा च वातप्रकृतेः पित्तप्रकृतिर्भवति, तदा वातप्रकृतेन्द्रियाभावः पित्तप्रकृतिर्भवति, यदा तु समप्रकृतेर्व्यतरदोषवद्यो भवति प्राकृतवक्तर्महानिलक्षणसासौ प्रकृतिश्यो भवति । युक्तं दोषक्षयलक्षणे—कर्मणः प्राकृतादानिर्द्विर्वाऽपि विरेधिनाम् । इति । अश्रोद्धर्ते—

प्रकृतिसमानरोगोत्पत्तौ न प्रकृतिभूतस्य वृद्धिः, विन्वत्वा हेत्वन्तरजनितस्य वातादेस्तत्र विकारकारित्वम् । प्रकृतिभूतस्तु दोषस्त्रोपदर्शको भवति । यदुक्तम्—गालदूष्यप्रकृतिर्दोषपुल्यो हि सन्ततम् । निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्मात्ज्येयः सुदुःसहः ॥ इति । वातप्रकृतेस्तु पित्तविकारोत्पत्तौ वातः प्रकृतिभूतस्तथैव करचरणस्फुटनादिकं कुर्वन्नास्ते, न तस्यागन्तुना पित्तविकरेण किञ्चित् क्रियते, वातादीनां तु स्वमानात्क्षयः प्राकृतकर्महानिलक्षणो न शुक्रोणितसंसर्गकालजस्य प्रकृतिभूतस्य दोपस्य वीजभूतस्य ज्ययावहतीति न प्रकृतिभूतदोष-ज्येयः । यदि वा, प्रकृतेः प्रकोपान्धथाभावक्षया न भवन्तीति प्रकृतिर्विनेति वृमः । तैन समप्रकृतिर्भवतिर्प्रकृतिर्भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्भवति समप्रकृतिर्भवति; विकारावस्था तु हीनाधिकवात-त्वादिलक्षणा भवतीत्यर्थः ॥ (चरक, सूत्र ७-४०) ।

विषजातो यथा कीटो न विषेण विषद्यते ।

तद्वृद्धप्रकृतयो मर्त्यं शक्तुचन्ति न वाधितम् ॥ ६८ ॥

विष से उत्पन्न हुआ काढा जैसे (अपने शरीरगत) विष से वाधायुक्त नहीं होता, वैसे ही (शरीरगत) प्रकृतियाँ मनुष्य को वाधायै नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ७८ ॥

वक्तव्य—विषजातः—विषपूर्वमिजातः । विषैले कृमि से उत्पन्न हुआ अर्थात् विषैला कीड़ा—विषैलै विषफैमः । (अष्टांगहृदय, सूत्र १) । कुछ लोग अश्ववेद्यक के निम्नश्लोकाधार पर—सदानूं प्राणभूतो हन्ति नून कायगतं विषम् । अस्मिकापि समुत्पन्ना दृश्यन्ते कमयो यथा । तथाच विषमो दोषः प्रकृतिं नातिवाधते ॥ विषजात का अर्थ ‘विषमय द्रव्यमें उत्पन्न हुआ’ (Bred in a porous or medium) ऐसा करते हैं, परन्तु यह अर्थ अनुचित है । विषद्यते—विषपत्तियुक्त या शारीरिक मानसिक पीड़ायुक्त होना । हससे मृत्यु का अर्थ अभिप्रेत नहीं है । न वाधितम्-महर्षि सुश्रूत के अनुसार दोषोत्कटता होने पर भी सातों प्रकृतियाँ (विकृतियाँ नहीं) होती हैं । हसलिए हस पदसमूह का अर्थ ‘किञ्चित् या ईपत् (जरा-सी) पीड़ा देते हैं’ ऐसा अर्थ किया जा सकता है और डल्हणाचार्य भी अपनी टीका में ऐसा ही अर्थ करते हैं—वातादिहेतुजाः प्राणिकाया वातादिनेन स्फुटित्वरचरणादिकेन दोषेण स्वेददोर्गन्धात्मिना च किञ्चिदेव वाध्यन्ते ॥ इस श्लोक का यह अर्थ, प्रकृतिर्गत दोषों की उत्कटता का जन्म के पश्चात् स्वास्थ्य पर क्या परिणाम होता है, हस दृष्टि से किया गया है । हस श्लोक का और एक अर्थ, गर्भर्भं पर प्रकृतिर्गत दोषोत्कटता का व्या परिणाम होता है, हस दृष्टि से किया जा सकता है और वही अर्थ वास्तविक्याय, अस्तु-दत्त, हन्तु, चक्रपाणिदत्त अपने ग्रन्थ में करते हैं । उसका अभिप्राय यह है । ‘पिकारो धातुवैपद्य साम्यं प्रकृतिर्भवते’ यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है, और हसी के अनुसार केवल सम-त्रिदोष शुक्रोणित संयोग गर्भ में परिणत हो सकता है । और दोषोत्कट संयोग वैकारिक होने के कारण गर्भ में परिणत नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ पर जो सात

प्रसार की प्रकृतियों वर्णन की गई है, उनमें छँ प्रकृतियों में दोपोल्कटा होती है। इसका अर्थ यह है कि शुक्र-शौणित संयोग में दोपोल्कटा होते पर भी उसका वैकारिक परिणाम गर्भ पर बढ़ात कम होता है। आयुवदमिटान्टविरोधी यह कार्य कैसे होता है, इसको समझाने के लिए विषयमि का इष्टान्त हस्त शाल में दिया गया है। इस इष्टान्त के अनुसार भी दोपोल्कटा में शर्मोत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न दो भूत मिलते हैं। (१)इसका अभिप्राय यह है कि सर्प, शुक्रिकादि विषय प्रणियों के बीच में विदारा होने पर भी उनकी उत्पत्ति में घोर्ह विहृति नहीं उपपत्ति होती, जैसे ही माता-पिता के शुक्रोणित संयोग में उनकी प्रहृति से आये हुए दोपों की उल्कटा से गर्भ की धृदि पर कुछ भी घातक परिणाम नहीं होता, केवल दोषाधिक्य के अनुसार गर्भ की प्रकृति बनती है, क्योंकि यस्य वस्य व्यागवद्य वस्य वीजे वीजमारा उपतप्तो भवति, तस्य तथ्याङ्गाऽवश्य विहितृप्य वायते। (चरक, शा० ३) यह भी आयुर्वेद का एक तिद्वान्त है—यदी तु अ वैपेशद्वयं समादधानि। यथा—ननु, स्वभावत् शुद्ध चूर्च दोपों वा समाधात् गर्भं निपादनि, अनितारितोरुद्धत् तु ग्रन्थननाय न समर्पयन्ति सुकृतोणिन्दुष्टादुकूम्, तत्त्वमुलदेन दोषेण प्रकृतिरिति ! उच्चते—न हि सर्वेभ्य वीचे दूषित तिं तर्हि वीजावयो दूषितं, न च अवयवउद्दोषेण गर्भप्रनिदेष्यो जायत्यभूमृदर्देवं भूष्य ददनात्, तस्माय प्रवाशी वीजस्य दुष्टो भवति तत्त्वार्थस्वैव ग्रन्थवस्य विकृतिरावो वा भवति, यथा दृष्ट्या इम्भो वीजमारे दुष्टे जात्ययो गर्भो भवति न तु गर्भं एव न भवति, तथा दोपारवै वीजमारे दुष्टे तत्त्वार्थस्वैव ग्रन्थशीरामागस्य सम खातोरपेदया विकृति रुद्धिकरचरणारितक्षणा भवति न तु गर्भव्यापाति । तदुकूम्—शुद्ध स्वभावकमध्या वातादैदृष्टमश्च । दृष्ट वीजार्थद्वीपा तत्र प्रकृतिरूचरम् ! इति । (सुश्रुत, दलहण दीका, शा० ४-६३) । (२)इसका अभिप्राय यह है कि दोपोल्कटा गर्भजन्म के समय से याने सहज होने के कारण घातक नहीं होती, जैसे विषयमि का विष सहज होने के कारण उसके घातक नहीं होता है—न च वाच्य प्रकृतिभूमाना वातादीना दृष्ट्यास्तमाना वर्ष न शरीराभवत्वम्, सहजातरेन तथाविधिनाशविकारात्मन्तुवात् । लक्षु द्वित्रे—विजातो दया कीर्ति न विषेण विषते । तदप प्रकृतिभिंद्वस्तव्यत स्वात्र वाप्तेन ॥ इति । (चरकाणि, चरक, सूत्र अ० ४-४०) । इन दो भूतों के मिवा और दो मन मिलते हैं जिनका सर्वथ इस स्त्रोक के इष्टान्त के साथ नहीं है, परन्तु जो दोपोल्कटा होने पर भी गर्भोत्पत्ति का समर्थन करते हैं। (१) दलहण का भूत है कि दोपोल्कटा प्राकृत और वैकृत करके दो प्रकार की होती है। प्रकृति की उत्पत्ति में भाकृत उल्कटा होती है इसलिए गर्भ का जात नहीं होता—दिविधा शत्रुघ्ना वातादय प्राकृता वैकृताथ, तत्र प्राकृता स्वविषया प्रकृतेन्दु भूमा शरीरेकजन्माना वैकृताथ गर्भव्यापानात् । शा० ४६३ ॥ । वाम्पटाचार्य भी अष्टोगसंब्रह (शा० ८) में अन्य आवायों का यही भूत उद्दृष्ट करते हैं। (२) चरकाणित्वं लिखते हैं कि उल्कटा हीन मध्योत्तम करके तीन प्रकार की होती है। प्रकृति के समय जो उल्कटा होती है वह हीन होने के कारण गर्भ की घातक नहीं होती—शावादिप्रयोगादेव दीन मध्योत्तमाना नानाशक्तिवाद् प्रवला वातादयो विनाशदनि, हीनाल्पु विकृतिमात्र जननदनि । (चरक, सूत्र अ० ४-४०) ।

प्रतिमिह नराणां भौतिकी केचिदादुः

प्रग्नदहनतोयैः कौतितास्तास्तु तिथः ।

स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवस्य त्तमारान्

शुचिरथ चीरजीवी नामसः खैमहंदिः ॥७५॥

(पांच भौतिक प्रकृतियाँ—) कई आचारं आयुर्वेद में मनुष्यों की प्रकृति को भौतिक (भी) पद्धते हैं। यातु, आयु और जल से सीन (प्रकृतियों होती हैं), परन्तु वे (उपर वात, पित्त और कफ प्रकृति में) विभिन्न हो जुकी हैं। (दोपो दो प्रकृतियाँ उस पर वर्णित नहीं हुई हैं उनमें से) पार्थिव (प्रकृति का मनुष्य) मत्तृत्वं और यहे शरीर का तथा तमाशील होता है और नामस (प्रकृति का मनुष्य) पवित्र (आचार का), दीर्घायु (और मुख-नासादि) यहे छिंदीं का होता है ॥७५॥

वृक्षम्—मौतवी—आकाशादि पच महाभूतों की उल्कटा के अनुसार पार्थिव, नामस, आप्य इत्यादि प्रकार की। यहाँ पर केवल पांच प्रकार वर्णन किये हैं, परन्तु दोपों के अनुसार इनकी संमिश्र प्रकृतियों हो सकती हैं—अन्ये तु सा नैवशो दिवसिशत्तुमिवं भूते प्रस्तर्यमाणा वृक्षाणा सजावते इति वदन्ति—‘द्वेषेन वदन्ति पच, दद्य तु द्वार्घ्यं, विमिस्तावनी भूते पश्च चतुर्थिरेव विश्वस्तेषां समर्पतेरपि । एवदिशतमव भूमिसिलस्तावाधिष्ठप्यनामाशेषं प्रकृतीयुर्योरपि उन ग्राहु रम सहायता’ इति । (दलहण) ।

त्रिवेष और पच महाभूतों के अनुसार प्रकृतियों का निवरण करके अब त्रिगुणों के अनुसार प्रकृतियों का विवरण किया जाता है। त्रिगुणों में सध्व उत्तम, रजस भूम्यम और तम हीन होता है—उत्र शुद्ध (सत्त्वम्) अदोषमात्रावद् वल्यत्यादावाद् । राजस सदोषमात्रावान रोपाशावाद् । तामसमपि सदोषसारात् मोहाशावाद् ॥ (चरक, शा० ४) । त्रिगुणों के अनुसार भी प्रकृति के अनेक भेद होते हैं। पीछे प्रथम अध्याय के १९ वें स्त्र में त्रिगुणों के जो धर्म वदाते गये हैं वे ही धर्मं लद्युग्मविशिष्टप्रकृति में मिलते हैं और उनके संसारं से मिश्रणुं प्रकृतियाँ वन जाती हैं। इसलिए यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ पर केवल सारिकादि प्रकृति के कुछ विशेष प्रकार (Types) वर्णन किये जा रहे हैं—नैण तु व्याधामपि सदाचानमेषैस्त्वं देवायं मपरिसङ्गेष्य त तत्त्वमेषोपाक्षरोरयोजिविशेषव्याध्यो यामुविषा नव्यान्वच । तस्मात् कवित्वं, सद्वभावानांकूमिनिदेवीन निदर्शं नायमनुव्याप्तरयात्माम । (चरक, शा० ४) । अब प्रथम सारिक प्रकृति के सात प्रकार वर्णन करते हैं।

दोचमस्तित्वयम्भ्यासो वेदेषु गुरुपूतनम् ।

प्रियातिथित्वमिज्ञा च व्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥८०॥

(व्रह्मकाय के लक्षण—) पवित्रल, आत्सिक्तुदि, वेदों का अभ्यास करना गुरजनों का गूजन, अतिथियों का साकार करना और वज्र करना ये व्रह्मकाय के लक्षण हैं ॥८०॥

माहात्म्यं शौर्यमाद्वा च सतत शास्त्रवृद्धिता ।

भूत्यना भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥८१॥

(माहेन्द्रकाय के लक्षण—) वधिष्ठन, शूरता, धारा (करने के स्वभाव), हमेशा शास्त्रानुसार आचारण करने की धुदि, नौकरों का पालनप्रयोग (करने का शील) ये

माहेन्द्रकाय के लक्षण हैं ॥ ८१ ॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैदल्त्यं हरिकेशता ।

प्रियवादित्वपित्तेतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥ ८२ ॥

(वारुणकाय के लक्षण—) ठंडे पदथों के सेवन में ब्रेम, सहन करने की शक्ति, नेत्रों का भ्रान्तन, केश कपिल वर्ण के होना और मधुरभाषण करने का स्वभाव ये वारुणकाय के लक्षण हैं ॥ ८२ ॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचया ।

महाप्रसवशक्तित्वं कौत्रेरं कायलक्षणम् ॥ ८३ ॥

(कौवेरकाय के लक्षण—) मध्यस्थता (हर एक काम में पक्षविरहित Impartial) होकर बोलना या काम करना, कि वा—हर एक वात में मध्यम मार्ग (golden mean) का अवलम्बन करने का स्वभाव, कि वा—जहाँ पर आवश्यक हो वहाँ पर मध्यस्थ (arbicular) का काम करने का स्वभाव, कि वा—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से दूर (indifferent) रहने का स्वभाव), सहिष्णुता, धनोपार्जन और संचय (करने का स्वभाव), महाप्रसवशक्तिसंपन्नता (किसी काम) के पड़ने पर उसमें सफलता प्राप्त किये वगैर न छोड़ना, कि वा—(अधिक प्रजोत्पत्ति की शक्ति होना) ये कौवेरकाय के लक्षण हैं ॥ ८३ ॥

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।

विहारशीलता चैव गन्धवं कायलक्षणम् ॥ ८४ ॥

(गन्धवर्काय के लक्षण—) सुगन्धी पुष्पमाला (तथा तेल, इत्यादि) का शौक, नाच, गाना वजाना इत्यादि में प्रवीणता और अमणशीलता ये गन्धवर्काय के लक्षण हैं ॥ ८४ ॥

प्रापकारोऽद्वृत्यानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः ।

रागमोहमद्वेषेवर्जिनो याम्यसत्त्ववान् ॥ ८५ ॥

(याम्यकाय के लक्षण—) युक्त कार्य करने वाला, अश्रान्त उत्साह का (of intense energy), निर्भय, (उत्तम) स्मरणशक्ति का, स्वच्छ रहने वाला, राग, मोह, मद, द्वेष इन से विमुक्त (मनुष्य) याम्यसत्त्व का होता है ॥ ८५ ॥

जपघ्रतत्रहर्चर्यहोमाध्ययनसेविनः ।

ह्वानत्रिज्ञानसंपन्नमूर्धिसत्त्वं नरं विदुः ॥ ८६ ॥

(ऋषिकाय के लक्षण—जप, चत, ब्रह्मचर्य, होम (अग्निहोत्र), अध्ययन (स्वाध्याय) सेवन करने वाले और आत्मज्ञान और विज्ञान से संपन्न मनुष्य को ऋषि-सत्त्व जानते हैं ॥ ८६ ॥

संसैते सात्त्विकाः काया, राजसांस्तु निवोध में ॥ ८७ ॥

ये (व्रह्मकाय से लेकर ऋषिकाय तक) सात काय सात्त्विक होते हैं । अब राजसकाय मुक्तिसे समझ लो ॥ ८७ ॥

वक्तव्य—तात्त्विक—इन सातों में शुद्धता और कल्याणांश होने के कारण ये सात्त्विक कहलाते हैं । इनमें वाहकाय सर्वथेषु हैं—इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविंश भेदांशं विद्याद् कल्याणांशवात् ; तत्संयोगात् व्राजामत्यन्तशुद्धं व्यवस्थेत् ॥ (चरक)

ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शरूं चण्डमस्यकम् ।

एकाशिनं चौदृशिकमासुरं सत्त्वमीदशम् ॥ ८८ ॥

(असुरकाय के लक्षण—) ऐश्वर्ययुक्त, भयङ्कर, शर,

कोपी, असूयक, अकेला खाने वाला, और औदृशिक इस प्रकार के सत्त्व को आसुर जानना चाहिए ॥ ८८ ॥

वक्तव्य—प्रयुक्त—दूसरे का उत्कर्ष सहन न करने का जिसका स्वभाव हो ऐसा; कि वा—दूसरे के गुणों पर भी दोपारोप करने वाला—अदूसा तु दोपारोपो गुणवपि । (अमरकोश) । पश्चात्य—औरों को न देकर अकेला खाने चाला । औदृशिक—जिस के मन में खाने के सिवा और कोई विषय होता ही नहीं, अर्थात् पैद या घस्मर—सर्वत्रोदृशिकस्याभ्यव-हार्थमेव विषयः । (विक्रमोर्वशीय ३) ।

तीक्ष्णप्रायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा ।

विहाराहारचपलं सर्पसत्त्वं चिदुर्जनरम् ॥ ८९ ॥

(सर्पकाय के लक्षण—) तीक्ष्ण (धातक), परिश्रमी, (अकुद्धावस्था में) डरपोक, कोधी, कपटी, विहार और आहार में चपल मनुष्य को सर्पसत्त्व जानते हैं ॥ ८९ ॥

वक्तव्य—गोर—अकुद्धावस्था में डरपोक और कुद्धावस्था में शूर—उद्दारमकुद्धभीरम् । (चरक) । अकुद्धावस्था में सर्प की भीसता और कुद्धावस्था में शूरता सुप्रसिद्ध है—ज्याघे च महदातत्वं सर्पे चैव महद्यम् । पिशुने चैव दारिद्र्यं तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ (सुभाषित) । ज्वलति चलितेभ्योऽग्निविप्रकृतः पत्रगः फलां तुरते । प्रायः स्वमहिमानं क्रोधात्प्रति-पथते जन्तुः ॥ (शाकुन्तल) । विहाराहारचपलरम्—इस के बदले ‘विहाराचारचपलरम्’ ऐसा भी पाठमेद है । यह पाठमेद अच्छा है । सर्प के घारे में आचार का कोई संवंध नहीं होता । आहार का संवंध जस्ता होता है । साँप धूमने फिले में तथा खाने में बढ़ा तेज होता है, इस में कोई संदेह नहीं है । चरक में भी सार्पकाय के वर्णन में ‘विहाराहारपरं’ ऐसा शब्द-प्रयोग मिलता है ।

प्रद्वृद्धकामसेवी चार्यजस्ताहारं पव च ।

असर्पणोऽनवस्थायं शाकुनं कायलक्षणम् ॥ ९० ॥

(शाकुनकायलक्षण—) अत्यन्त मैथुनपरायण, निरन्तर खाने वाला, असहिष्णु, चंचल चित्त वाला ये पक्षिकाय के लक्षण हैं ॥ ९० ॥

वक्तव्य—कामपरायणता, उदरपरायणता और अस-हिष्णुता इन गुणों का पता चिह्नियों या कवृतरों के ऊपर ध्यान देने से खट से लग जाता है । भर्तृहरि लिखते हैं—सिंहों वली द्विरदशरामांसभोजों संत्सरेण रतिमेति किलैकवारम् । पारावतः खरशिलाकरणमात्रभोजी कमी भवत्यनुदिनं वद कोऽत्र हैतुः ॥ यहाँ पर पारावतशब्द व्यापकदृष्टि से पक्षिजाति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है ।

एकान्तत्राहिता रौद्रमस्या धर्मवाहता ।

भृशमात्मस्तव्याप्ति राजसं कायलक्षणम् ॥ ९१ ॥

(राजसकाय के लक्षण—) एकान्तत्राहिता, भीषणता, असूया, अधर्माचरण, अत्यन्त आत्मलक्षण ये राजसकाय के लक्षण हैं ॥ ९१ ॥

वक्तव्य—एकान्तत्राहिता—शब्द अकेला होने पर उस पर आक्रमण करके पकड़ने का स्वभाव, किंवा किसी विषय का पूर्ण विचार न करके अपने मत को पकड़कर रहने का स्वभाव । असूया—परोक्तर्प असहिष्णुता, किंवा परगुण

१ रागमोहभयद्वैर्वंजितो यमसत्त्ववान् ।

२ अवदक्षामसेवी । ३ भृशमात्रं तमश्चापि ।

असहिष्युता—असूया तु दोषारोगे गुणेभवि । (अमरकोश) ।

उच्छिष्ठादारता तैवय साहस्रियता नथा ।

खीलोनुपरत् नैर्लज्जयं पैशाचाचं कायलक्षणम् ॥ ६२ ॥

(पैशाचाकाय के लक्षण—) उच्छिष्ठादार सेवन (का स्वामाव), श्वेष, साहस करने का शौक, खीलपटता, निलंबना ये पैशाचाकाय के लक्षण हैं ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—नाइनप्रिवडा—चीर्य, हत्या हत्यादि पातक कर्म करने का शौक ।

असंविभागमलसंदुःखशीलमसूयकम् ।

लोकुप चायदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥ ६३ ॥

(प्रेतसत्त्व के लक्षण—) विभाग न करने वाला, आल्मी, हुख करने वाला, असूया करने वाला, लोभी, दान न करने वाला, (पैसे) मनुष्य को प्रेतसत्त्व समझते हैं ॥ ६३ ॥

वक्तव्य—असंविभाग—जो अपनी कोई चीज दूसरे को देने के लिए तैयार नहीं होता है, ऐसा । प्रेत—पिशाच जाति की पुक योनि ।

पड़ते राजसा: कायाः, तामसांस्तु निवोद मे ॥ ६४ ॥

ये (आमुर से प्रेतकाय तक) राजस काय हैं । अब तामसकाय मुसासे थ्रेण करो ॥ ६४ ॥

दुर्मेवरतं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ।

निरासरिण्युता चैव विज्ञेयः पाशवा गुणः ॥ ६५ ॥

(पशुकाय के लक्षण—) उद्दिनता, (उद्दि की) मन्दता (किंवा कुटिला), नीद में निल कामुक स्वप्न-दर्शन और निरासरिण्युता ये पाशवी (काय के) गुण हैं ॥ ६५ ॥

वक्तव्य—निरासरिण्युता—दूसरे के रास्ते में विभ उत्तर वर्तने की प्रवृत्ति, किंवा दूसरे की चीज छीन लेने की प्रवृत्ति, किंवा स्वीकृतीनामता ।

अनवस्थितता मौर्यं भीरत्वं सलिलाश्रिता ।

परस्पराभिमर्द्धं मरस्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥ ६६ ॥

(मरस्यसत्त्व के लक्षण—) चक्षुला, सूर्वंता, भीला, जल से प्रेम, आपस में लड़ना-झगड़ना ये मरस्यसत्त्व के लक्षण हैं ॥ ६६ ॥

एकमर्थाननरति नित्यमाहारे केयले रतः ।

घानस्पत्नो नरः सत्त्वद्वर्मकामार्थं जंतः ॥ ६७ ॥

(चानस्त्रयाकाय के लक्षण—) एक स्थान में रहने की इच्छा करने वाला, निष्प स्थाने पीने में टगा हुआ, सर्व, घर्म, काम और अर्थ दूसरे विरहित मनुष्य चानस्त्रय होता है ॥ ६७ ॥

वक्तव्य—निष्परमाभिमर्द्धविभिं—सत्त्वगुण से मोक्ष मिलता है—अर्थं चक्षुनिमृश्यता । (गीता) । इसलिए सत्त्व शम्द मोक्षपर मरमदना उचित है । सत्त्वविभिं का अनिमाय यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो मनुष्यों के चार पुरुषार्थ होते हैं इनको प्राप्त करने की आर्कांडा जिसमें न हो, एक मनुष्य ।

इत्येते विभिः कायाः प्रोता ये तामसाःतया ।

कायानां प्रहृतीर्दीचात्य त्वं तुरुपां रियां चरेत् ॥ ६८ ॥

इस वर्ते ये तीन प्रकार के तामसकाय भी लक्षण किये हैं । (रोगियों में उपर्युक्त) कायों की प्रहृति छो (लक्षण घे) देवदूत उसके अनुमार (रैप) चिकित्सा करे ॥ ६८ ॥

महाप्रस्तयस्वेता रजः सत्त्वतमः दृता ।

ग्रोतालक्षणतः सम्यमिभक् तात्प्र विभावयेत् ॥ ६९ ॥

इन सुश्रुतसिद्धिनाया शारीरस्थाने गम्भीरस्तरय शारीर नाम चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

सत्त्व, रज और तमोगुण से वनी हुई ये महाप्रहृतिर्यो लक्षणों के साथ भली भौति वर्णन की गई हैं । (चिकित्सा के समय) वैष इन (प्रहृतियों) का सूक्ष्मता से विचार (करके चिकित्सा) करे ॥ ६९ ॥

इव भास्त्ररुपांता गोविदात्मेन विचित्रशामात्मुद्देवरहस्य दोविदाया सुश्रुतमार्पादीतावा शारीरस्थाने गम्भीरस्तरण नाम चतुर्थोऽध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः शारीरसत्त्वायाकरणं शारीरं व्यात्या स्थामः । यथोवाच भगवान् धनवन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद शारीरसत्त्वायाकरण नामक शारीर का विवरण करते हैं, जैसे कि भगवान् धनवन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—शारीरकायाच्चारण—शारीर के सर्पण धूग-प्रत्ययों की सख्त्या का विवरण या विस्तार जिसमें किया गया है, वह अध्याय । प्रथम धार और अनित्यं पौच अध्याय शारीरस्थान के अस्थाय होने के कारण यद्यपि शारीरिक कहलाते हैं तथापि आतुरिक परिमाण में जिसको शारीर-विज्ञान या अनाटोमी (Anatomy) कहते हैं उसका विवरण चतुर्थं अध्याय के प्रारंभिक भाग को छोड़कर और किसी अध्याय में नहीं किया गया है । अनाटोमी का योगार्थ है विवेदन, और रुदाहृत्य है शाविष्ट्यद्वेषन से ग्रास हुआ शारीर के धूग-प्रत्ययों का ज्ञान । इस अध्याय में शाविष्ट्यद्वेष (Dissect ou) का महत्व वर्णन करके उसके आधार पर ग्रास हुआ शारीर के धूग प्रत्ययों का विवरण लिखा है, इसलिए शारीरसत्त्वायाकरण का अंगेत्री उल्लय Anatomy of the body कर सकते हैं । इस अध्याय में वर्णन किया हुआ मर्त्यशारीर का ज्ञान अव्यन्त भौतिक भौतिक और एक हाइ से अपर्याप्त है, इसमें कोई सम्बद्ध नहीं । इसका एक कारण यह है कि आतुरिक अधिक उम्र समय के ज्ञानविश्वासन की स्थिति के अनुसार शारीर के ताप, आमा, मन इत्यादि अव्यान्तर विषयों को शारीरविश्वासन में अधिक व्यवहार देते थे । चरद-संहिता के शारीरस्थान के प्रारंभिक छोच अध्ययों में इन्हीं विषयों का विवरण किया गया है । सुश्रुतसंहिता के शारीर की स्थिति अनाटोमी की हाइ से चारक से दृष्टुं कुषु अधृष्टी है । इसलिए सुश्रुत शारीर में भेषु (यारों सुषुप्त भेष) माना गया है । दूसरा कारण यह है कि प्राचीन बाल में प्रथम सूक्ष्म भौतिक विषयों की विवरण की पद्धति थी और अधिक ज्ञान गुण से ग्रास किया जाता था । भारतवर्ष में ज्यव शाविष्ट्यद्वेष द्वारा काया ज्ञान थी, तब भारतवर्ष के विद्यार्थियों का शारीर का ज्ञान इस प्रथम को पाकर मास दृष्टुं शारीरस्थान की अवैरेण्य दृष्टुं अधिक भौतिक अध्यया था । शाविष्ट्यद्वेष की परंपरा जाए होने पर शारीरस्थान भी काम हुआ तथा प्रथम में शारीरज्ञानाभाव के कारण कई दृष्टुं भी प्रविष्ट हो गये ।

हसलिए इन ग्रंथों के आधार पर प्राचीन काल के शारीरज्ञान की इयत्ता निश्चित करना उचित नहीं है।

शुक्रशेषितं गर्भशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसं-
मूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं वायुविभ-
भजति, तेज एवं पचति, आपः वलेदयन्ति, पृथक्वा-
संहन्ति, आकाशं विवर्धयति; एवं विवर्धितः स
यदा हस्तपादजिह्वाद्वाणकणनितस्वादिभिरङ्गैरुपे-
तस्तदा 'शरोरम्' इति संज्ञां लभते । तच्च पठङ्ग—
शाखाश्वतस्मो, मध्यं पञ्चमं, पष्ठं शिर इति ॥२॥

(गर्भ और शरीर—) गर्भशय में स्थित, आत्मा, प्रकृति और विकारों से युक्त शुक्र और शोणित 'गर्भ' कहलाता है । चेतनायुक्त उस गर्भ में वायु विभजन पैदा करती है, तेज पाचन करता है, जल छिन्नता पदा करता है, पृथिवी कठिनता करती है और आकाश आकारवृद्धि करता है । इस प्रकार परिवर्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पाँव, जिह्वा, कान, नितम्ब इत्यादि अंगों से युक्त होता है तब 'शरीर' संज्ञा प्राप्त करता है । वह शरीर पड़ग होता है । जैसे—चार शाखाएँ, पाँवों धड़ और छठा शिर ॥२॥

वक्तव्य—आत्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितम्—पुरुष, अष्ट प्रकृतियाँ और पोदश विकार इनसे अभिव्याप्त । वायुविभजति इत्यादि—वालायदशसहायांशसम सूक्ष्म जीव शरीर में कैसे परिवर्धित होता है, इसकी प्रक्रिया इस सत्र में वर्णन की गई है । इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—तं वायुविभजति दोपदातुमालाङ्गप्रत्यज्ञविभागेन, तेज एवं पचति ह्याद्रपान्तरेणावस्थानं प्रापयति, आपः छेदयन्ति, विभाग-परिणामार्थिणोरनिलानलयोः शोणेऽप्यादर्तां जनयन्ति, पृथिवी संहन्ति, अङ्गः छिन्नमपि कठिन मूर्तिमत् करोति, आकाशं विवर्धयति अनिलानलयादिरितसोत्सामाधापनेनोर्धमस्थिर्यविवर्धितमवकाश-दानेन विवर्धयति ॥ आधुनिक परिभाषा के अनुसार इस प्रक्रिया का वर्णन निश्च प्रकार से कर सकते हैं—संयुक्त शुक्रशोणित प्रारम्भ में केवल एक कोशा होती है । इस कोशा से विभाजन के (Segmentation) द्वारा अनन्त कोशाओं का मनुष्यशरीर बनता है । इन से पोपक स्तर (Trophoblast), बाह्यस्तर (Ectoderm), मध्यस्तर (Mesoderm), अन्तःस्तर (Endoderm) ये स्तर उत्पन्न होते हैं । यह विभाजन का कार्य वायु के द्वारा होता है । पश्चात इन तीन स्तरों से शरीर के विविध प्रत्यंग और धातु बनते हैं । यह कार्य तेज करता है । इनमें जल का संचय लसिका की उत्पत्ति और आदर्ता जल के द्वारा उत्पन्न होती है । उत्पन्न होने वाले विविध धातुओं और प्रत्यंगों में कठिनता या मूर्तता पृथिवी के द्वारा होती है और आशय, स्रोत, वाहिनियाँ इत्यादि शरीर के भीतर जो अवकाश या रिक्त स्थान होते हैं वे आकाश के कारण होते हैं । हस्तपाद इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि जब गर्भ में इन विविध अंगों की उत्पत्ति होकर उसको मनुष्य का आकार प्राप्त होता है, तब । शिर—ग्रीवा के साथ शिर । गर्भ और शरीर—गर्भाधान से प्रसूति के समय तक गर्भशय में जो जीव होता है, उसके लिए धृद्वि के अनुसार ये दो नाम दिये जाते हैं—ग्रीवा—ग्रीवा के साथ शिर ।

तक उसमें मनुष्य का आकार प्राप्त न हुआ हो । इसकी मर्यादा तीन महीने की होती है—उत्तीर्णे हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वतनेऽङ्गप्रत्यज्ञविभागश्च सूक्ष्मो भवति । (सुश्रुत, शा० ३) । इसका अभिप्राय यह है कि तीन महीने तक गर्भशयस्थ जीव को 'गर्भ' कहना चाहिए और चौथे महीने से उसको 'शरीर' कहना चाहिए । व्यवहार में इस परिभाषा का उपयोग बहुत कम होता है । प्रायः सभी अवस्थाओं के लिए गर्भशब्द का ही प्रयोग होता है । अङ्गजी में भी इस प्रकार एस्ट्रिओ (Embryo) और फीटस (Foetus) करके दो शब्द प्रचलित हैं, जिनमें एस्ट्रिओ तीन महीने तक और फीटस चौथे महीने से पश्चात् प्रयुक्त होता है—The term foetus is usually applied to the embryo after it has acquired something of its final shape, that is, at about the third month. Introduction to sexual physiology by Marshall. जिस लक्षण के ऊपर एस्ट्रिओ फीटस कहलाता है, उसी लक्षण के आधार पर आयुर्वद में गर्भ शरीर कहलाता है, यह चिन्त्य है । इसलिए गर्भ का पर्याय एस्ट्रिओ और शरीर का पर्याय फीटस समझना उचित है ।

अतः परं प्रत्यज्ञानि वद्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठना-
भित्तलाटनासाचिवुकवस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः ।
कर्णेनते ब्रूशूङ्गांसगण्डकवस्तनवृष्टप्राश्वर्स्फिक्जानु-
वाहृरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विशातिरङ्गुलयः, श्वोतासि
वद्यमाणानि, एष प्रत्यज्ञविभाग उक्तः ॥३॥

(प्रत्यज्ञविभाग—) इसके पश्चात् प्रत्यज्ञ कहे जाते हैं—सिर, उदर, पीठ, नाभि, माथा, ठोड़ी, मूत्राशय, ग्रीवा ये एक एक; कान, आँख, भौंह, कनपटी, कन्धा, गाल, काँच, स्तन, धृपण, पार्श्व, नितम्ब, धुटना, वाहु, जांघ इत्यादि दो दो; बीस अंगुलियाँ; आगे कहे जाने वाले स्तोतस यह प्रत्यज्ञों का विभाग कहा गया है ॥३॥

वक्तव्य—प्रत्यज्ञ—दूसरे सत्र में शरीर के छः वडे विभाग या अंग वताये गये थे । इस सत्र में उन अंगों के छोटे छोटे अवयव वताये जा रहे हैं । इसलिए ये छोटे अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं—अवयवमवयवं प्रति योऽयवस्तत्प्रत्यज्ञमन्यते । (अरण्डत्त, अष्टांगहृदय, शारीर ३) । ये सब प्रत्यज्ञ शरीर बाह्यभागस्थ विभाग हैं, इसको ध्यान में रखना चाहिए । इनसे आध्यन्तरीय अङ्गों का बोध नहीं होता है । अङ्गजी में इस प्रकार के प्रत्यज्ञ Surface regions कहलाते हैं । मस्तक—सिर का उच्च मण्डलाकार भाग, जो टीप या पगड़ी से ढक जाता है Roof of the head । उदर—पेट (Stomach) के सामने का पृष्ठभाग Gastric region । नाभि—नाभि के आसपास का कुछ विभाग Umbilical region । ललात—आँखों के ऊपर का केश-मर्यादा तक का केशविरहित भाग Forehead जहां पर प्रत्येक अङ्ग का भविष्य लिखा रहता है, ऐसी कल्पना है—लिखितमपि ललाते प्रोत्साहनु कः समर्थः ॥ (हितोपदेश) । वस्ति—वस्तिप्रदेश Umbilical region । स्तन—स्तन, प्रदेश Mammary region । पार्श्व—पार्श्वप्रदेश Lateral regions । स्फिक्षणानि स्फिक्षणानि च विभागानि । माथा—आँखों के ऊपर का केश-मर्यादा तक विभाग विभागानि । विभागानि च विभागानि ।

याही स्रोतस किया जाता है। परन्तु यह अर्थ दीक्ष नहीं है। यहाँ पर प्रत्यक्षी में केवल शारीर के थाक्ष भाग पर रिप्टन प्रत्यक्षी का ही उल्लेख है, भीतरी प्रत्यक्षी का नहीं। इमलिए ये वस्त्रमाण स्रोतम् इस प्रकार के ही होने पाहिएँ। इस अध्याय में आगे भी वे सूत्र में धरण नवनादि विहित्सुच स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहाँ पर अभिप्रेत हैं। योतस का अर्थ द्वारा या हिंद भी होता है—जो नानि स्त्रानि विद्राणि । (राजनियाद्वा)। इसके अनुमान 'स्रोता सं वस्त्रमाणानि' का अर्थ 'अग्री इमी अप्याय के नीवें सूत्र में कहे जाने वाले शारीर के धरणनवनादि नवद्वार' ऐसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संस्कृतेयानि—त्वयः कला धात्रयो मला दोषा यहृत्स्त्रीहानौ फुक्सुस उण्डुको इदयमाशया अन्तर्गति वृक्तौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि वृच्चां रजायः सेवन्यः सहृदाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

किर उस (प्रत्यक्षिभिराग) के गणनीय (अवयव ये हैं) त्वचाणैः, कलाणैः, धातुः, मलः, दोषः, यकृत्, झीड़ा, फुक्सुस, उण्डुकः, हृदयः, आताय, अन्त्रः, वृक्तः, स्रोतसः, कण्डरा, जालः, वृच्चां, रजायः, सेवनी, संधत, सीमन्ता, अस्थीनि, सन्धयः, स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

बलव्य—पिङ्कुले सूत्र में शारीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग बतलाये गये हैं। इस सूत्र में इन विभागों के पिङ्के शारीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिङ्कुले सूत्र में वर्णित प्रत्यक्षी को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इस सूत्रगत अवयवों को देखने के लिए शावखेदन की आवश्यकता होती है। नस्य—प्रत्यक्षिभिरागस्य।

सस्त्रैय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महाव्य के योग्य। इनके अतिरिक्त शारीर में और भी अवयव हो सकते हैं। स्रोताः—इस सूत्र में स्रोतस् दो बार आये हैं। प्रथम स्रोतस् शब्द धरणनवनादि विहित्सुच स्रोतसों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतसों के लिए है। योगवहानि—योगान् द्रव्यान् वहन्ति इति योगवहानि। योग का अर्थ यहाँ पर इत्य है—योगोऽपूर्ववंसप्रती सर्वाभ्यन्युत्तु । वदु स्थैर्ये प्रयोग च विक्रमादिपु भेदवै। विप्रक्षेपणके द्रव्योपायमन्त्रादेनैवपि ॥

(मेदिनी)। इसस्त्रादि धातुरूप अवयवों का बहन स्रोतस् करते हैं, इसलिए योगवह कहलाते हैं—लागामि उतु वरि यामापयतानाम धातुनामविवाहीन भवन्त्यद्युपर्णेत् । (चरक, विमान ५)। प० हृत्रिपद्मनी योगवाही स्रोतसों का अंगेजी पर्याय Autonomia (sympathetic nervous system) देते हैं। आगे के सूत्र में इन स्रोतसों की सहवा वाईस बतलाई है। उससे तथा सन्दर्भ से ये धमनी व्याकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस् हैं—इसमें सन्देह नहीं है। बहा पर जो प्राणवहादि स्रोतस् वर्णन किये हैं उनका स्वतन्त्र मादीस्त्रस्यात् (Autonomic Nervous system) से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उन स्रोतसों के जो अंगेजी पर्याय रसयोगसामग्र में दिये हैं, उनमें भी कोई नाडीस्त्रस्यात् का पर्याय नहीं मिलता। इसलिए योगवह स्रोतसों से स्वतन्त्र

नाडीस्त्रस्यात् समस्तना अतुक्षिपुक मात्रम होता है।

त्वयः सत, कला: सत, आत्मायः सत, धातकः सत, सत सिराशतानि, पञ्च पैशीशतानि, नव स्नायुशतानि, शीण्यस्तिशतानि, द्वे दोषोत्तरे सन्धिशतानि, सतोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विशतिर्यमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (पोदश कण्डरा:, पोदश जालानि, पठ वृच्चाः, चतुर्मो रजायः, सत सेवन्यः, चतुर्दश सहृदाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यग्राणि) चेति स्मासः ॥ ५ ॥

(आप्यन्तरीय अवयवों की सहवा—) त्वदादृ सात, कलादृ सात, धात्रय सात, धातु सात, सिरादृ सात सौ, पैशीया पांच सौ, स्नायु नीं सौ, अस्थियाँ तीन सौ, संविर्याँ दो सौ दस, मर्म पृक् सौ सात, धमिर्याँ चौबीस, दोष तीन, मल तीन, स्रोतस् नीं, (कण्डरादृ सोलह, जालक भोलह, वृच्चम् घ, रजु चार, सेवनी सात, संधात चौदह, सीमन्त चौदह, योगवह स्रोतस् वाईम, और औंते दो) इस प्रकार सहित गणना है ॥ ६ ॥

बलव्य—पिङ्कुले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देवर इस सूत्र में उनकी सहवा बताई गई है। द्रिंशात्रयि—स्थूल (Large) और छुट्र (Small) आन्त्रः (Intestines)। आपुद्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मालम होने पर भी द्रिंशयन में प्रयुक्त नहीं होता है। अनेकवचन में जब आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की औंते उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन में होता है तब ऊपरान्त्र या स्थूलान्त्र या आन्त्र का एक देश (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—प्रभ्रमन्त्रं निजान्तं प्रदीशं नाम्यथा भवेत् । (सुधृत, चिं० २)।

विस्तारोऽत ऊर्ध्व—त्वयोऽप्तिहिताः कला धात्रयो मला दोषा यहृत्स्त्रीहानौ फुक्सुस उण्डुको दृदर्यं वृक्तौ च ॥ ६ ॥

अथ इसके पश्चात् (उत्तरत्वादि अवयवों का) विस्तार (पूर्वक वर्णन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मलः, दोषः, यकृत्, झीड़ा, फुक्सुस, उण्डुकः, हृदयः और वृक्तः इनका वर्णन हो चुका है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—दोष, धातु और मल इनका विवरण सूत्र स्थान के १४, १५ और २१ वें अध्याय में तथा वायु का विवरण निदान के प्रश्न स्थान में किया गया है। दोष अवयवों का विवरण पिङ्कुले अध्याय में किया गया है। जिनका विवरण यहुत संपूर्ण से हुआ है तथा दिपाणी में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहा पर किया गया है। यहृत्स्त्रीहानौ—आपुद्वेद में इन दो अवयवों का भ्रष्टिश स्वरूप माना गया है और एक इष्टि से यह ठीक भी है। इसलिए दोनों अवयव एक साथ द्रिंशयन में (जैसे, यहाँ पर है) या साथ साथ (जैसे, यहृत्स्त्रीहानौ च चरक, चां० ७) किया जानिय भ्रष्टिश्वृलीश्वन्त्रप्रयुक्तीन मान्यतानि। सुधृत, चां० ३ ।) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यहृत्—शारीर भर में यह तथा से वही ग्रन्थि है। इसका औसत भार

पैने दो सेर के लगभग होता है। शरीर भार के साथ इसका प्रमाण १ : : ४० होता है। गर्भावस्था में तथा नवजात बालक में यह ग्रंथि सापेक्षतया बहुत बड़ी होती है, जिससे शरीरभार के साथ इसका प्रमाण १ : : २० होता है। इसका रंग कुछ लालपन और भूरापन लिये काला (Dark reddish brown) होता है। इसके भार और रंग के कारण यकृत् 'कालगण्ड' कहलाता है। यकृत् उदरगुहा के ऊपर के भाग में महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के नीचे पसलियों की आड़ में रहता है। इसका अधिकांश दाहिनी ओर और कौटी प्रदेश में रहता है। शेष भाग दाढ़ी ओर आमाशयिक प्रदेश में उसके सामने रहता है। यकृत् के ऊपर, परन्तु महाप्राचीरा पेशी से विभक्त, दाहिना फुफ्फुस और दूदय रहता है। स्वस्यावस्था में सब का सब यकृत् पसलियों की आड़ में रहता है। विकारों के कारण जब उसका आकार बढ़ता है, तब वह पसलियों के नीचे उत्तर आता है और स्पर्शलभ्य (Palpable) होता है। यकृत् के पाँच पृष्ठ (Surfaces) होते हैं। दाहिना, पारिंक, ऊपर का, पीछे का और सामने का। ये पृष्ठ कुछ उभरे हुए होते हैं तथा महाप्राचीरा पेशी से संबद्ध रहते हैं। नीचे का पृष्ठ उत्त्वात् (Umbra) और निम्नमध्य होता है। इसमें पाँच खात (Gates) होते हैं। एक में पित्ताशय (Gall-bladder) होता है, एक में यकृत् का गोल घन्वन (Round ligament) होता है, एक में अधरा महासिरा होती है, एक में गर्भावस्था की नाभिनाड़ी का सूखा भाग (Ligamentum venosum) रहता है और एक में जो यकृत् द्वार (Porta hepatis) कहलाता है, यकृत् की धमनी, सिरा, नाडियों (Nerves) और पित्ताशयी रहती है। यकृत् का यह पृष्ठ आमाशय, धूक, अधिवृक्ष और ग्रहणी हृन अंगों के साथ संवंधित रहता है। अतः उनके द्वायाव से यकृत् के इस पृष्ठभाग पर उनके निशान मिलते हैं। यकृत् में चार पिण्ड (Lobes) होते हैं। इनमें दक्षिणपिण्ड सब से भोटा, वाम पिण्ड उससे छोटा और दूसरे दो पिण्ड अत्यन्त छोटे होते हैं। यकृत् के कार्य—यकृत् शरीर का एक बहुत महत्व का अवयव है। इसके द्वारा शरीर में अनेक कार्य होते हैं, जिनमें निन्न महत्व के हैं। (१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत् रक्तोत्पत्ति के लिए महत्व का अवयव होता है और इसी कारण से गर्भावस्था में उसका सापेक्ष तोल जन्मोत्तर काल की अपेक्षा दुगुना अधिक होता है। जन्म के पश्चात् यद्यपि रक्तोत्पत्ति में यकृत् साधारण स्थिति में भाग नहीं लेता तथापि आवश्यकता पड़ने पर वह कार्य भी यकृत् करता है। इसके सिवाय यह भी सिद्ध हुआ है कि जन्मोत्तर काल में उसमें रक्तोत्पत्ति के लिए आवश्यक एक पदार्थ संचित होता है। इसलिये सब प्रकार के रक्तचयों में, विशेष करके वैज्ञानिक (Pernicious) रक्तचय में, यकृत् सेवन फ़ायदेमन्द होता है। आयुर्वेद में यकृत् रक्तोत्पत्ति का स्थान माना गया है—उस खलायों रसो यकृत्प्लीहानी प्राप्य रागमुर्ति। (सूत्र १४)। तस्यां (मांसधरा कला) शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीहोश भवति। (शास्त्र ४)। और उसी आधार पर उसका उपयोग रक्तपित्त में किया गया है—यकृता भक्षयेदानामां पित्तसामयुवम्। (सुश्रुत, उत्तर ४५)। (२) जीवतित्ति द्रव्यसंचय—यकृत् में जीवतित्ति

द्रव्यों (Vitamines) का भी संचय होता है। काढ़, हेलिवट मछलियों के यकृत् में इनकी राशि बहुत होती है जिसके कारण उनके यकृत् के तेलों में ये द्रव्य अधिक मात्रा में मिलते हैं। अन्य द्रव्यों की अपेक्षा 'ए' द्रव्य यकृत् में अधिक होता है। रत्तोंधी के जो अनेक कारण हैं, उनमें 'ए' जीवनीय द्रव्याभाव एक महत्व का कारण है। इस रोग में 'ए' द्रव्ययुक्त पदार्थ देने से आराम होता है। यह एक आश्रय की तथा संतोष की वात है कि आयुर्वेद में रत्तोंधी की चिकित्सा में यकृत् सेवन का उपदेश किया गया है—तथा यहन्दा गमन एवं उत्तराधिकारी विषय स्थानान्वयन्। प्रयोजितं पूर्ववदापसंशेषं लघेत जपांयं सुकृददानाद्यूगाम्॥ पीडायन्द्रुचाप्युपामन्तिं दधे प्रकल्प्य शूले पृतैलसंयुते। ते सार्प-पत्नेलसमायुतेऽप्यनं नक्तात्यमध्येत् इतः प्रयोजिते॥ (सुश्रुत, उत्तर १७)। नादेन पीड़ायन्नी माधिष्ठे तैलसर्विता। (अष्टांग-हृदय, उत्तर ४४)। (३) पित्तोत्पत्ति—यकृत् में सततपित्त की उत्पत्ति रक्तगत द्रव्यों से होती रहती है। यह पित्त पाचकरस है, जो स्निग्ध पदार्थों के पाचन में अधिक उपयोगी होता है। (४) निर्विपाकरण। (Detoxifying function)—आन्व से जो कुछ भी विषेले पदार्थ शरीर में शोषित होते हैं, वे यकृत् के द्वारा निर्विष किये जाते हैं। (५) रक्त का भाण्डर—यकृत् में रक्त की बहुत राशि हमेशा संचित रहती है और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जाता है। आगे आशयों में भी देखो। (६) मधुजन का संचय और उत्पादन करना—शरीर को शक्ति प्रांगोदीय (Carbohydrates) पदार्थों से मिलती है। ये पदार्थ शरीर में मधुजन (मठेकोजन) के रूप में संचित होते हैं और संचय तथा उत्पादन का कार्य यकृत् के द्वारा होता है। (७) प्रोम्भुजिन और स्निग्ध पदार्थों के पाचन, सात्यकिरण और उत्पादन इन कार्यों में भी यकृत् का दबा भारी भाग होता है। (८) कुछ तज्ज्ञों की यह राय है कि यकृत् अन्तःस्नावी ग्रंथि (Endocrine gland) भी है, जो अपने अन्तःस्नाव (Internal secretion) से अन्य ग्रंथियों को अपने काम में सहायता करती है। इनके सिवा और भी कुछ कार्य यकृत् करता है। प्लीहा—यह अवयव उदरगुहा के वायें भाग के ऊपर के हिस्से में रीढ़ के पास आमाशय के पीछे और पसलियों की आड़ में रहता है। स्वस्यावस्था में यह अवयव स्पर्शलभ्य नहीं होता। इसके ऊपर महाप्राचीरा पेशी से विभक्त वायां फुफ्फुस होता है। इसका रंग वेंगानी होता है। इसका भार तीन छटाँक के लगभग होता है। इसकी लम्बाई ४-५ इंच होती है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। एक पृष्ठ महाप्राचीरा के साथ संवंधित होता है, जो चिकनां और उभरा हुआ रहता है। दूसरा आमाशय, धूक, स्यूलान्त्र के साथ संवंधित होता है, जिस पर इन अंगों के खात बनते हैं। वय और स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य के अनुसार प्लीहा के परिमाण में बहुत फ़क्क मालूम होता है। नवजात बालक में प्लीहा के भार का उसके शरीर के भार से प्रमाण १ : : ३५० होता है। युवावस्था में भी सापेक्ष प्रमाण करीब करीब इतना ही रहता है। धूदावस्था में इसको भार शरीरस्थ के प्रमाण से अधिक कम होता है, जिससे उसका

वाही स्रोतस किया जाता है। परन्तु यह अर्थ टीक नहीं है यहाँ पर प्रत्ययों में केवल शरीर के बाहर भाग पर रिप्पन प्रत्ययों का ही उल्लेख है, भीतरी प्रत्ययों का नहीं। इमलिए ये वस्त्रमाण स्रोतस इस प्रकार के ही होने चाहिए। इस अध्याय में आगे नीचे सूत्र में अवगत नवनादि विहिस्मृत स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहाँ पर अभिप्रेत हैं। स्रोतस का अर्थ द्वारा या छिद्र भी होता है—स्रोतानि खानि विकाणि। (राजनिवाषट्)। इसके अनुसार 'स्रोतांसि वस्त्रमाणानि' का अर्थ 'बागे इसी अध्याय के नीचे सूत्र में कहे जाने वाले शरीर के अवगत नवनादि नवद्वारा पेसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संत्वेयानि-त्ववः कला धातवो मला दोपा यठत्स्लीहानौ फुक्कुस उण्डुको हृदयमाशया अन्वाणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि वृच्चां रज्जवः सेवन्यः सद्वाताः सोमन्ता अस्थीनि सन्ध्यः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवद्वानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

फिर उस (प्रत्यक्षिविमाग) के गणनीय (अवयव ये हैं) विचाप, कलाएँ, धातु, मल, दोप, यहूत्, झींहा, फुक्कुस, उण्डुक, हृदय, अस्थय, अन्त्र, घृक, स्रोतस, कण्डरा, जाल, वृच्चां, रज्जु, सेवनी, स्नायव, सोमन्ता, अस्थीनि, सन्ध्यानि, द्वायु, वेशिर्यां, मर्म, सिराएँ, धमन्यों और योगवद्वानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में शरीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग वर्तलाये गये हैं। इस सूत्र में हृन विभागों के पिछे शरीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिछले सूत्र में वर्णित प्रत्ययों को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इस सूत्रात अवयवों को देखने के लिए शावच्छेदन की आवश्यकता होती है। तस्य—प्रत्यक्षिविमागश्च। सस्त्रेय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महावक के योग्य। इनके अतिरिक्त शरीर में और भी अवयव हो सकते हैं। स्रोतस—इस सूत्र में स्रोतस् दो बार आये हैं। प्रथम स्रोतस् शब्द अवगत नवनादि विहिस्मृत स्रोतों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतस शब्द नीचे अध्यायोक्त माणोद्रवक्वाही स्रोतों के लिए है। योगवदानि—योगान् द्रव्यान् वानि इति योगवदानि। योग का अर्थ यहाँ पर द्रव्य है—योगोप्त्वांसप्राप्तो सागतिधानयुक्तु । बुवु द्यैर्यं प्रयोग च विच्छयादिति भेदपै। विच्छयादिते द्रव्योपावनवद्वेवति ॥

(मेदिनी)। इसकादि धातुरूप द्रव्यों का बहुन स्रोतस् करते हैं, इमलिए योगवद कहलाते हैं—स्रोतानि द्युत् परि रामामात्रायनाना भात्तामात्रामवहानि मर्मनवयनार्थः । (चरक, विमान ५)। यौ हिन्दिपश्चाती योगवाही स्रोतों का अंगेती एवायं Autonomic (Slym; autolito) nervous system देते हैं। आगे के सूत्र में हृन स्रोतों की सल्ला शारीर्स बताया है। उसमें तथा सन्दर्भ से ये धमनी अवकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस् हैं, इसमें संबद्ध नहीं है। यहाँ पर जो प्रागवद्वादि स्रोतस् घण्टन छिपे हैं उनका स्वतन्त्र नायोगमाणर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाईमस्थान का पर्याय रमयोगमाणर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाईमस्थान का पर्याय नहीं मिलता। इमलिए योगवद स्रोतों से स्वतन्त्र

नाईमस्थान समस्थान असुक्तिदुक्त मालम होता है।

त्ववः सत्, कलाः सत्, आशयाः सत्, धातवः सत्, सत् सिराशतानि, पञ्च पैरीशतानि, नव स्नायुशतानि, वीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धिशते, सतोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्थमन्यः, त्रयो दोपाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (पोडश कण्डरा), पोडश जालानि, पठ वृच्चां, चतुर्वो रज्जवः, सत् सेवन्यः, चतुर्दश सद्वाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वार्णविशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्धन्त्राणि) चेति समाप्तः ॥ ५ ॥

(नाभ्यन्तरीय अवयवों की संख्या—) त्ववाएँ सात, कलाएँ सात, आशय सात, धातु सात, सिराएँ सात सौ, पैरीशया पांच सौ, स्नायु नीं सौ, अस्थिवैं तीन सौ, सघियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौबीस, दोप तीन, मल तीन, स्रोतस् नीं, (कण्डराएँ सोलह, जालक सोलह, वृच्चस् छ, रज्जु चार, सेवनी सात, स्वात चौदह, सीमन्त चौदह, योगवद स्रोतस् बाईस, और आर्ते दो) इस प्रकार संखिस गणना है ॥ ५ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देकर इस सूत्र में उनकी संख्या बताई गई है। द्वितीन्यत्रि—स्थूल (Largo) और स्थूल (Small) आन्त्र (Intestine)। आयुर्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मालम होने पर भी द्विवचन में प्रतुक नहीं होता है। अनेकवचन में जब आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की बाँधें उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन में होता है तब चुप्पान्त्र या स्थूलान्त्र या आन्त्र का एक दैरा (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—मरिष्यमन्त्र निष्ठा न प्रवेश नाम्यधा भवेत् । (सुधूक, चिं० २) ।

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्ववोऽप्तिहिताः कला धातवो मला दोपा यठत्स्लीहानौ फुक्कुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् (उन व्यवादि अवयवों का) विस्तार (पृष्ठ चर्पन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मल, दोप, यहूत्, झींहा, फुक्कुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इनका चर्पन हो सुका है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—दोप, धातु और मल इनका विवरण सूत्र स्थान के १३, १५ और २१ वें अध्याय में तथा धातु का विवरण निदान के प्रथम अध्याय में किया गया है। दोप अवयवों का विवरण पिछले अध्याय में किया गया है। जिनका विवरण बहुत संचेप से हुआ है तथा इत्याणि में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहाँ पर किया जाता है। युक्तुहानी—क्षायुवेद में हृन दो अवयवों का अनिष्ट समर्पण माना गया है और एक इटि से यह ठीक भी है। इमलिए ये दोनों अवयव एक साथ द्विवचन में (जैसे, पठ वृच्चां च) पा माप साप (जैसे, द्रव्यान्त्री च चरक, चापा ७) में नायोगमाणरेत्तान्त्रयनीनि नायोगमनि। सुधूक, चापा १) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यद्यु—शरीर भर में यह सत्र से धर्मी ग्रंथि है। इसका धौसा भार

of carbon monoxide," haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 per cent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Bancroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm. *Physiology in Health and Disease by C. J. Wiggers.* यकृत के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत का वज़ँ कार्य देतो) होती है । संघेय में शरीर के भीतर यकृत और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं । इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा समझना अधिक उचित है । (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जासकता है—आशारस्य यः मारः स रस श्लुच्यते । तस्य च छद्यं स्थानम् ॥ (सुश्रुत, सूत्र १४) । आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना जरूरी है । हृदय में रक्त ज्ञान-भर भी ठहरता नहीं है । इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता । (३) हाराणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—‘शोणितस्य स्थानं यकृतप्लीहानी’ इति रियेऽपि रक्ताशयशादेनेह त्वगादय एवाभिप्रेते पारिग्रीष्यात् ‘रक्तस्थानः क्रमात् पर’ इति तन्नान्तरीयान्त्र । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । महामहो-पाध्याशय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरक्षितोप वनाते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—‘आशयप्रार्थिणानादर्थ्याकुलीभावद्य प्रतिसंस्कृतूक्तः प्रसक्ताद् यथा, ‘तस्य उनः संस्थानम्’ इत्यायुपक्रम्य तत्रैव ‘आशयात्तु—वाताशय…’ इति’ पुनरक्षी । इह हि. हृदयफुक्तुमान्त्रादिभ्यः पृथक् न सन्ति रक्ताशयस्तेमायायपकाशयाचा आशयः कनिदपि लभ्यमानवैष्टके, प्रत्यक्षदर्थने वैति नूनमर्थाऽङ्गानमूलोऽयं पृथडनिंदेतः । यदि ऊपर वताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरक्षितोपे पर भी उसका दोष दूर होता है । यकृत और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है । इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है । शार्झधर के आशय वर्णन की टीका में आठमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, तस्य आशयः रथानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयरय वामभागात्रितं भवति । आमाशय—आमानामत्तानामाशयः । जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक अच रहता है । आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित हैं—नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय उत्तरातः ॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नाभि से भी नीचे उसके स्थायी अभिस्तरण (Dilatation) में होती है । पकाशय जहाँ पर उत्तर का पतन होता है,

वह महाक्षोत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines) । इसमें स्यूल और छुट दोनों का समावेश होता है । पकाशय से साधारणतया स्यूलान्त्र का वोध होता है तथापि कई बार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं । यथा—परंतु पञ्चानन्तरय विद्यन्धरयान्त्रभावतः । आशयाच्चयवमानस्य पित्त नन्द्यमुदीर्थते ॥ पकाशय तु प्राप्तस्य ग्रीयमाणस्य वहिना । परिपिण्डनपकारय वायुः स्थात वडुभावतः । (चरक, चिकित्सा १५) । मूत्राशय—इसको वस्ति भी कहते हैं (Urinary bladder) । इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ २३६-२३७ देखो) तथा छठे अध्याय के ३३ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । ग्रीणाग्—स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं । यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परंतु शार्झधर में और दो स्तन्याशय चतुर्वये गये हैं—पुरुषोऽधिकाशान्त्रे नारी-गामाशयास्यः । अधरामर्भाशयः प्रोक्तः स्तनी रक्तन्याशयी मनी ॥ शार्झधर का यह कथन भी ठीक है । स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रूत में नहीं किया होगा । परंतु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय में नहीं हो सकते केवल स्त्रियों के स्तनों में स्तन्याशय में पारवर्तित होने की शक्ति होती है । पुरुषों के स्तन आयु भर अल्प विकसित (Rudimentary) ही रहते हैं । स्त्रियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय वडते हैं । जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन भी वढ़ जाते हैं । यह दृष्टि दुर्घट्यंश्यों और स्त्रीतर्सों के वडने से होती है और इसी अवस्था में वे स्तन्याशय कहे जाते हैं । स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं । ये छाती की पेशियों पर होते हैं । आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं । ये दूसरी पसली से छठी पसली तक और उरःफलक के किनारे से कच्चामध्ये रेखा तक फैले रहते हैं । इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चूचुक या स्तनघृत (Nipple) कहलाता है । इसमें दुर्घट्यों के कई छिद्र होते हैं (आगे नीचे सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध वाहर निकलता है । चूचूक के चारों ओर गहरे रंग का एक पेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Areola) कहलाता है । गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है । इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है । इसका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । शिशु की दूध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी वडे हो जाते हैं । प्रजोत्पादन वंद होने पर ये कुक सिकुड़ जाते हैं । स्तनों में दुर्घट्यत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३७५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जीसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus) । इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है । यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है । गर्भाशय श्रोणिगुहागत अवयव है । कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इच्छ, चौडाई दो इच्छ और सोमाई एक इच्छ के लगभग होती है । प्राप्तम्

और शरीरभार का प्रमाण १०.७० हो जाता है। भोजनपचन के समय हृतका परिमाण पढ़ता है और भोजन का पचाव समाप्त होने पर यह अपने पूर्व परिमाण पर आ जाता है। पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों की अपेक्षा अपर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों अर्थात् गरोवों की पूरी परिमाण में छोटी होती है। लीडा के बारे—
 (१) रक्तोत्तिः—गर्भावस्था में यहूत् के साथ पूरी ही रक्तोत्तिका काम करती है। पश्चात् साधारण अवस्था में पूरी ही से रक्तोत्तिका कार्य नहीं होता, परन्तु रक्तचय की तीव्रावस्था में यह कार्य भी पूरी ही कर सकती है। आयुर्वेद में यहूत् और पूरी ही, हृष्टिगृह, रुक्षक पित्त के स्थान माने गये हैं।
 (२) रक्तसचयः—पूरी ही में सकोच और विवास काफी और तुरन्त होता है और विकास के समय उसमें पारी रक्त का सचय होता है। विशेष विवरण आगे आशयों में भी होता।
 (३) लाल वस्तों का नाश—जो लाल कण अपना काम करके दुर्बल हो गये हैं, उनका नाश करने का कार्य पूरी ही करती है। पूरी ही में प्रविष्ट हुए रक्त के लाल कणों में जो दुर्बल होते हैं वे वहाँ पर नहीं होते हैं और केवल सबल कण बाहर आते हैं। सर्वोपरि मौजूदा अधिकोष (वैक) वा काम करती है, जहाँ पर गये हुए रुपवां की टीक जाँच होवर नकली हरपये तो अद्वितीय जाते हैं और केवल असली हरपये बाहर आते हैं।
 (४) बुद्धयों की उत्पत्ति—पूरी ही में इवेतकणों की उत्पत्ति विशेष करके (हिम्मोसाहृत) लसकायांउओं की उत्पत्ति होती है। उण्डुः—आयुर्वेद में इसका वर्णन सरप में निमन प्रकार का मिलता है—हृष्टुष्टुरु पुष्टुत्तर वोड इत्यमिथोरो। वण्डुकृत्यं विभृते मल मलभार कन। ॥ (सुधुत) ॥ उण्डुक पोटुलक इति लोके। वक्रे च पुरीयाशारदण्डनाण्डुक प्रतिपादित। ॥ (दलहण, सुधुत, शा० ४-१७) ॥ उण्डुको मलाभार : (इन्डु) ॥ इससे उण्डुक के स्वरूप का निर्णय करके आयुर्विक परिमाणमें उसका पर्याय देना कठिन है। तथापि निमन प्रमाणों पर उण्डुक को सीकम (Caecum) कह सकते हैं। (१) उण्डुक का स्वरूप पोटली के समान होता है। सीकम का अर्थ भी वही है जीर उसका स्वरूप भी वैसा ही है—The caecum, the commencement of the large intestine, is the large blind pouch situated below the colic valve Grey's Anatomy (२) मलभार कला में उण्डुक वा स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इसका अभियाय यह है कि यद्यपि मलविभजन का कार्य सम्पूर्ण पकाशय में होता है तथापि उण्डुक में विशेष होता है। आयुर्विक घोज से भी यही यिद्द हुआ है कि मलस्थित जल तथा अन्य पोषक द्रव्य का शोषण अधिकतर उण्डुक में ही हुआ करता है—During its passage along the large intestine, these are absorbed and most absorption appears to occur in the caecum Halliburton's physiology उण्डुक पक्क पैली जैसा होता है। उसका घट मुख अधिक चीड़ी होता है। उसके गत तथा सुखे मुख से पृक लट्ठी पन्नी नली लगी रहती है। इसके उण्डुकुपुरुष या आम्बुज्ञ (Appendix) बहुत है। इसी में कभी कभी सोष या विद्रुपि (Appendicitis) उत्पन्न हो जाती है। सीकम के साथ आरोही हृष्टदन्त (Ascending colon) लगा रहता है। हाराणचन्द्र उण्डुक का वर्णन निम्न

प्रकार से करते हैं—उण्डुकस्तु शूलकुद्रान्त्वयोरात्मन्त्वेत्तीमामविशिष्टो मलोद्रवप्रतिविशिष्टानांतुलोमसमविशिष्टं कृपा द्विवैनातुविद् गार्णे द्रवत्वैद्रवदारया प्राय पद्मुनिमित्याऽनुभूतिक्रिया नाल्या समैन पुरी पक्षिगवाने गोलो बन्त्रमेद् ॥ चरकसहिता में उण्डुक शब्द नहीं मिलता।

आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशयः, आमाशयः, पकाशयो, मूत्राशयः, द्वीपाशयोऽप्यम इति ॥ ७ ॥

(आशय) आशय तो वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पकाशय, मूत्राशय और द्वीपों का आठवां गम्भीराय है ॥ ७ ॥

दृष्टव्य—प्रायशः—इसका अभियाय यह है कि शारीर परिभायिक सज्जों में आशय शब्दासामान्य निनमें है, वे ये सात शब्द हैं। इन आशयों की न आपस में भिन्न होने की आवश्यकता है, न पूर्वोक्त अवयवों से भिन्न होने की आवश्यकता है। ऊपर चौथे सुन्न में जो सर्वत्र अवयव निर्दिष्ट किये हैं वे हृस ईषि से नहीं दिये हैं कि पक्क बार निर्दिष्ट किया गया अवयव यिद्युती वार निर्दिष्ट न होने पाए। वहाँ पर शारीरात्म अवयवों का चर्मीकरण कार्यासामान्य, शब्दासामान्य और स्वरूपासामान्य के आधार पर किया गया है। जिस अवयव में कार्यभिन्नता, स्वरूपभिन्नता और द्रव्यभिन्नता होती है, वह अवयव अनेक वर्णों में आ जाता है। जैसे, मर्मवं के आधार पर किये हुए वर्ण में ग्राय शारीर के सभी अवयव आ जाते हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। इसलिए वर्णन में मुनहसिद्धेप मानना उचित नहीं है। आशय अधिष्ठान। वाताशय—शारीर में वात दो स्थानों में हो सकता है—कुरुकुम—उद्गुणवायोराचार कुरुकुम प्रोत्त्वे कुपै। (शार्ङ्गधर) । किंवा पकाशय—पकाशयो विशेषेण वातस्थानम्। (चरक, सूत्र २०) । पका से कोलन (Colon) समझना चाहिए। वायु का स्वअपर उठने का होने के कारण वह पवाशय के अनुप्राण (Transverse) विभाग में अधिक मिलता है। विचाशय ग्रन्थासामान्य के अनुसार विचाशय आमाशय (पे समझना चाहिए—वातासामाशय विशेषण पिच्छानम् (चरक) । यदि आयुर्विक दृष्टियुक्त अर्थ से देखा जाय पित्ताशय से विचाशय (Gall bladder) युक्त हृष्ट अद्वयाशय (Pancreas) समझना चाहिए, क्योंकि पक्क पित्त जो अन्य प्रसारों से श्रेष्ठ माना गया है वह इन अधिकोषों का उद्भेद होता है। श्लेष्माशय—श्लेष्मा का सुख्यान उर माना गया है—उत्रा सुरोविशेषण इत्यामरथानम् (चरक) । इत्यामरथय स्थादूरमि। (शार्ङ्गधर) । उर उर स्थित तुष्टुक समझना उचित है। आयुर्वेद में कभी कहा उर त्रष्टुक तुष्टुक के लिप्त भी प्रयुक्त होता है। रक्ताशय—इससे निम्न अवयव समस्त सकते हैं। (१) वृष्टु और पूरी आयुर्वेद में रक्त का स्थान माना गया है—गोत्याशय स्थादूरीयो। (सुधुत, सूत्र २१) । आयुर्विक इष्टि—यदि देला जाय तब भी वहूत पूरी शारीरात रक्त भाष्टदार (Blood depot या Reservoir) माने गये हैं—The reservoir function of the spleen plays considerable role As a result of various influences such as phycio disturbances, inhalatio-

of carbon monoxide," haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 per cent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Bancroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm, *Physiology in Health and Disease by Car'. j. Wiggers.* यकृत के संवंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत का दौर्वा कार्य देखो) होती है । संचेप में शरीर के भीतर यकृत और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं । इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा समझना अधिक उचित है । (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जासकता है—आहारस्य यः सारः स रस इत्युच्यते । तस्य च हृदयं स्थानम् ॥ (सुश्रुत, सूत्र १४) । आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना जरूरी है । हृदय में रक्त क्षण-भर भी ठहरता नहीं है । इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता । (३) हारणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—“शोषिणस्य स्थानं यकृतप्लीहानो” इति स्थितेऽपि रक्ताशयशब्देनेह त्वगादय एवाभिप्रेयते पारिशेष्यात् ‘रक्ताशयः क्रमात् परे’ इति तन्नाम्नरीयाच्च । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरुक्तिदोष वताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—“आशयपदार्थोऽज्ञानादर्थ्याकुलीभावश्च प्रतिसंरक्षुर्कृतः प्रसङ्गाद् यथा, ‘तस्य पुनः संख्यानम्’ इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव ‘आशयास्तु—वाताशय’... इति” पुनरुक्तौ । इह हि हृदयफुफ्सान्वादिभ्यः पृथग् न सन्ति रक्ताशयश्लेष्माशयपक्षाशयाद्या आशयाः क्वचिदपि लभ्यमानवैष्यके, प्रत्यक्षदर्शनं वैति नृत्मर्थाऽज्ञानमूलोऽप्य पृथग्निर्देशः । यदि ऊपर वताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है । यकृत और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ध्रुवों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है । इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है । शार्ङ्गधर के आशय वर्णन की टीका में भाद्रमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, वस्त्र आशयः रथानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्दं हृदयस्य वामभागात्रितं भवति । आमाशय—आमानामत्तानामाशयः । जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक अन्न रहता है । आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित है—तामित्सनन्तरं जनोरामाशय उद्भवतः ॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नामिसे भी नीचे उसके स्थायी अभिस्तरण (Dilatation) में होती है । पकाशय—जहाँ पर अन्न का पचन होता है,

वह महाचोत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines) । इसमें स्थूल और कुद्र दोनों का समावेश होता है । पकाशय से साधारणतया स्थूलान्त्र का वोध होता है तथापि कई बार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं । यथा—परंतु पच्यमानस्य विद्यन्धस्याम्लभावतः । आशयाच्यवमानस्य पित्त मच्छमुदीर्यते ॥ पकाशय तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वहिना । परिपिण्डपक्षस्य वायुः स्थात कृद्भावतः । (चरक, चिकित्सा १९) । मूत्राशय—इसको वस्ति भी कहते हैं (Urinary bladder) । इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ३३६-३३७ देखो) तथा कुछे अध्याय के ३३ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । खीणाम्—स्थियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं । यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परंतु शार्ङ्गधर में और दो स्तन्याशय वतलाये गये हैं—पुरुषोऽधिकाशान्ये नारी-गामाशयास्यः । धरागम्भाशयः प्रोक्तः स्तनी रत्न्याशयी मती ॥ शार्ङ्गधर का यह कथन भी ठीक है । स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रृत में नहीं किया होगा । परंतु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय नहीं हो सकते क्यियों के स्तनों में स्तन्याशय में पारवर्तित होने की शक्ति होती है । पुरुषों के स्तन आयु भर अल्प विकसित (Rudimentary) ही रहते हैं । स्थियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय वढ़ते हैं । जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन और भी वढ़ जाते हैं । यह वृद्धि दुग्धधारियों और स्रोतसों के बढ़ने से होती है और इसी अवस्था में ये स्तन्याशय कहे जाते हैं । स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं । ये छाती की पेशियों पर होते हैं । आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं । ये दूसरी पसली से छाती पसली तक और उरःफलक के किनारे से कचामध्ये रेखा तक फैले रहते हैं । इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चुचूक या स्तनघृत्त (Nipple) कहलाता है । इसमें दुधधोत्तों के कई छिद्र होते हैं (आगे नीचे सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध बाहर निकलता है । चुचूक के चारों ओर गहरे रंग का एक घेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Areola) कहलाता है । गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है । इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है । इसका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । शिशु की दुध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी बढ़े हो जाते हैं । प्रजोत्पादन बंद होने पर ये कुक सिकुड़ जाते हैं । स्तनों में दुधोत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३७५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जीसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus) । इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है । यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है । गर्भाशय प्रोणिगुहागत अवयव है । कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इच्छ, चौदहाँ दो इच्छ और मोटाई एक इच्छ के लगभग होती है । प्रजाता

खियों में इसका आकार कुछ बड़ा हो जाता है। इसका नीचे का भाग योनि से जुड़ा रहता है, जिसमें एक छिद्र होता है और उसी से आरंभ प्रत्येक महीने में घाहर आता है। यह छिद्र गर्भाशयमुख (Ostium uteri) में होता है और इसी का उल्लेख जोगे नीचे सूत्र में 'रकवह' नाम से करके किया गया है। इसके दोनों तरफ दो चौड़े धनें (Broad ligaments) होते हैं, जिनमें थीज़ोप (Ovary) और ऊपर थीज़वाहिनिया (Fallopian tube) होती हैं। गर्भाशय के सामने मूत्राशय और पीछे पक्षाशय का अन्तिम हिस्सा उत्तरगुद या मलाशय होता है। इसका विचार आगे ५५वें खोके के बहाव में किया गया है।

सार्वत्रिवयामन्यन्वाणि पुसां, खण्डामध्याम महीनानि ॥८॥

(आन्व की लम्बाई—) पुरुषों का औंते साडे तीन व्याम और खियों की आया व्याम कम (लम्बी) होती है ॥८॥

बहाव—व्याम—वाढ़े सरलयोस्तनयोस्तिवृत्तन् रम् ॥ (अमरकोश)। दोनों हाथ दोनों कन्धों की रेखा में शरीर से दूर फैलाने पर जो अन्तर होता है, वह। यदि सूत्रस्थान के इधरे अध्याय में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १४) बताये हुए प्रमाण पुरुष *Macandarid* के अनुसार व्याम की लम्बाई बँगुलियों में देवी जाय तो वह ११० बँगुलियों होती है। आयुनिक नाय के अनुसार यह लम्बाई ७ कुट के करीब होती है। इसमें पुरुष में औंते ४८। कुट लंबी और खियों में ३५ कुट लंबी होगी। आयुनिक काल में अन्त्र की लम्बाई का प्रमाण निम्न प्रकार का दिया गया है।

चूदान्त की औसत लम्बाई साडे वाईस होती है। इसकी अधिक से अधिक लम्बाई वर्तीस कुट और कम से कम साडे पन्द्रह कुट होती है। सूलान्त की लम्बाई पौर्ण कुट होती है। इसमें बहुत कर्क नहीं होता है। दीवन् नामक शाखाने से दो शांतों की औंतों का नाय करके यह औसत तिकाली है। उसका कथन है कि जवानी प्राप्त होने के पश्चात् मनुष्य की औंत की लम्बाई उसका आयाम, भार और आयु के निरपेक्ष होती है। खियों के आन्वयाम के संबंध में आयुनिक शल्यविदों का वचन प्राचीनों के विवर है। दीवन् का कथन है कि खियों में होती औंत पुरुषों की अपेक्षा एक कुट अधिक लम्बी होती है। अर्थात् सम्पूर्ण औंत पुरुष की अपेक्षा कम नहीं होगी, परंतु अधिक होगी। यह भूल कैसे हुई? इसके दो कारण हो सकते हैं। (१) प्रथम प्रमाण—एक सी की औंत एक पुरुष की औंत की अपेक्षा कम हो सकती है। यदि संयोगवश ऐसे ही यी-पुरुष की औंत देखी गई होगी तो यह भूल हो सकती है। (२) अनुमान प्रमाण—खियों के शरीर के हृदय, मस्तिष्कादि सभी भाग पुरुषशरीरत थंगों की अपेक्षा आयाम, भारादि में कम होते हैं, यह प्रत्यक्ष है। अतः उनकी औंत भी पुरुष की अपेक्षा लम्बाई में कम होगी, इस कथन के आधार पर यह वचन लिखा होगा।

स्वयंनन्यनवदनग्रामगुदमेदाणि नय स्तोतासि
नराणां यहिमुखानि, पतन्येय खण्डामपराणि च
चीणि द्वे स्तनयोरप्तस्ताद्रन्तयदं च ॥ ६ ॥

शरीर के द्वार—) (दो) कान, (दो) झोंचि, मुख, (दो) नाक, गुद और शिरन ये पुरुषों के बहिर्मुख नीं खोतस होते हैं। वे ही खियों के भी (होते हैं परंतु उनमें) और भी तीन होते हैं, दो स्तनों में और एक नीचे आतंववह ॥ १० ॥

बहाव—गण—दो नासापुट या नासाद्वार। उरु-गुदार (A. ११)। मेंदू—पौरुषवृशक शिरनवाचक (Penis) यह शब्द नहीं है। इससे मूवाद्वार अभिप्रेत है, क्योंकि यह स्त्रीमें भी बतलाया गया है। पुरुषों में इनी द्वार से शुक्र बाहर आता है, इसलिए शुक्रवह स्त्रीतस का अलग उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रही। दो ज्ञानयों—स्तनों में जो चुकुप होते हैं, उनमें दुर्घटनों के द्वार सुलते हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया गया है। आतंववह—आतंववह स्त्रीतस से गर्भाशयद्वार (External) समस्तना चाहिए। खियों में आतंववहन और मूवाद्वार स्वतन्त्र मार्गों से होता है। इसलिए आतंववह स्त्रीतस का स्वतन्त्र उल्लेख करने की आवश्यकता रही। ज्ञानस—यह शब्द यहाँ पर नालीवाचक न होकर मूख, द्वार या छिद्रवाचक है। शरीर की धाढ़ त्वचा में जो स्वाभाविक बड़े द्वार होते हैं, वे स्त्रीतस से अभिप्रेत हैं। बहिर्मुखानि—यदि यहाँ पर द्वार शब्द का प्रयोग होता तो बहिर्मुख शब्द का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। शरीर में और भी अनेक प्रकार के स्त्रीतस होते हैं, जिनका स्वरूप नालीदार और जो अन्तर्मुख या अन्तर्वर्त होते हैं। उन स्तोतरों से (१) अध्याय के ११० सूत्र (देखो) पार्थिव करने के लिये श्विर्मुख शब्द का प्रयोग किया है। नर—पुरुषों के शरीर में जो और खियों के शरीर में बाहर हार होते हैं। संसार में आधी खियों और आधे पुरुष होते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी साहियनिमाण पुरुषों के हाथों में होने के कारण मनुष्य शरीर नवद्वारायुक्त बर्णन करने की प्रथा पढ़ गई है—मर्वकमाणि भनना सन्ध्याको शुल दशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्त कारदू॥ (भगवद्गीता ५-१२)। मनो नवद्वारनिपिद वृत्ति हृषि नववशाय समाप्तिवद्यम्। यद्यपि लेशविहीन विदुलामा त्वानामाम यजलोक्य नम्॥ (कुमारसंभव ३-५०)। आगे ६१ वें सूत्र के बहाव में 'पुरुष' की टिप्पणी देखो।

पीचा कण्डरा—तासां चतुर्दशः पादयो , ताय त्यो द्वस्त्रीयापूष्टेषु, तत्र द्वस्त्रपादगतानां कण्ड राणां नवाः (अग्र) प्ररोहाः, प्रीचाहृदयनिवर्णिनी नामधोमागगतानां मेदः, शोलिष्पृष्ठनियन्धनीनामयो भागगताना विश्वं, मूर्तीयद्वारोऽस्तिपिण्डादीनां च ॥ १० ॥

(कण्डरा और उनके प्रोत्रो—) सोलद कण्डराएँ हैं। उनमें से चार पैरों में और उतनी ही दोष, प्रीचा और पीठ में। दोषों और पैरों में स्थित कण्डराओं के प्रोत्र नल होते हैं। शीवा और हृदय को अपेक्षे बाली कण्डराओं के भीते की ओर गये हुए प्रातः का प्रोत्र मेंदू है। शोली और एष दो औरपेक्षे बाली कण्डराओं के भीते की ओर गये हुए प्रातः का प्रोत्र विश्व है। (इन कण्डराओं के ऊपर गये हुए प्रातः के प्रोत्र) मस्तक, ऊर, वक्ष और अंतिपिण्ड हैं। १० ॥

वक्तव्य—जल्दा—महस्यः सायवः प्रोक्ताः कण्ठरासात्तु पोटशः । (भावप्रकाश) । (Pondone) । पोटश—एक एक पैर में दो, एक एक हाथ में दो, पीठ में चार और ग्रीवा में चार । प्रोइ—अग्रप्रोह, अनिम भाग जिससे वे चिपट लाते हैं । नामः प्रोहोः—नामों का प्रांत, जिसमें ये निविट (Inset) होते हैं । संरेप में इसका तात्पर्य यह है कि हाथों और पैरों के कण्ठराओं का नीचे का निवेदा (Ineortion) नामों के पास होता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि इन कण्ठराओं के अन्तिम भाग से नन्हा उत्पन्न होते हैं । भेड़न—शिशनवाचक यह शब्द नहीं है, जननेन्द्रियवाचक है, जिसका अर्थ गुण प्रदेश (Public region); ग्रीवादि स्थानों की कण्ठराओं का निवेदा गुण प्रदेश में होता है । भिन्नन—श्रोणिविम्बम् । इसी को श्रोणिचक्क (Polvis) भी कहते हैं । हाराणचन्द्र विम्बं के बदले विम्बः, ऐसा पाठ लेकर उसका अर्थ सच्छिद्र विकासित करते हैं । श्रोणी और पीठ की कण्ठराओं का निवेदा श्रोणिचक्क में होता है । शूष्मादि—इस अन्तिम वाय का अर्थ शीक से नहीं निकलता है । हाराणचन्द्र इसका पाठ निष्ठ प्रकार से लेते हैं—जल्वजोऽश्रिण्यादिगतानां च मृधां । यह पाठभेद अनुचित मालूम होता है । इसलिए कि इस सूत्र में हाय, पैर, ग्रीवा और पीठ इनकी कण्ठराओं का वर्णन हो रहा है, छाती और नेत्रपिण्ड इनकी कण्ठराओं का नहीं हो रहा है । दल्हणाचार्यसंसमत पाठ (वही ऊपर दिया है) और उन्हीं का दूरान्य करके किया हुआ अर्थ कुछ शीक मालूम होता है और उन्हीं के अनुसार ऊपर अनुवाद किया है । दल्हणाचार्य लिखते हैं—शूष्मारुद्धर्णेऽस्पिण्डादीना धेति पूर्ववाक्यात् विम्बनुवर्तते, तेन भृत्यात्य यद् विम्बं मण्टलं तद्योगीवितानां प्रागुक्तानामेव चतुर्षुणामुपरि गतानां कण्ठराणामभ्रप्रोहः । तथा पादगतानां चतुर्षुणामुपरिगतानामूर्खण्टलमभ्रप्रोहः । तथा पृष्ठगतानां चतुर्षुणां कण्ठराणामुपरिगतानां वक्त्तोमण्टलम् । आदिशब्दगृहीतस्य स्तनत्य च मण्टलमभ्रप्रोहः । इस्तगतानां चतुर्षुणामुपरिगतानामसंपिण्डो वायुशिरोद्यग्प्रोह इनि । इसका तात्पर्य यह है कि ग्रीवाद्वित कण्ठराओं का उपरिगत प्रोह मस्तक है । हाथों की कण्ठराओं का उपरिगत प्रोह वाहुशिर है । पैरों की कण्ठराओं का उपरिगत प्रोह ऊर्मण्डल (श्रोणिमण्डल) है । वृषाद्वित कण्ठराओं का उपरिगत प्रोह वक्त्वमण्डल है । उपरिगत प्रोह से उद्भव (Origin) समझ सकते हैं ।

मांससिरास्त्रावस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तानि मणिवन्धगुल्फसंश्रितानि परस्पर-निवद्वानि परस्परसंलिप्तानि परस्परगवादितानि चेति, यैर्ग्रीवाद्वितमिदं शरीरम् ॥ ११ ॥

(जाल—) मांस, सिराएँ, सायु और अस्थियाँ इनके प्रत्येक के जाल चार चार हैं । ये मणिवन्ध और गुम्फ (टखना) में आश्रित हैं और परस्पर वैधे हुए, परस्पर जुड़े हुए और परस्पर गवाहित हैं । इन्हीं से यह (समस्त) शरीर गवाहित हुआ है ॥ ११ ॥

वक्तव्य—मणिवन्ध—मणिवन्धयतेऽत्र मणिवन्धः । जहां पर मणि या घड़ी या चूड़ी या बल्य पहना जाता है, वह भाग ।

कलाई, पहुँचा (Wrist), 'प्रनभिषुलिनव्याधातादं मुहुर्मणिवन्धनात् कनकवलयं सत्तं सत्तं नया प्रदिसार्यते ॥ (शाकुन्तल ३) । परस्परगवादितानि—ये मांस, सिराएँ, सायु और अस्थियाँ आपस में इस तरह अनुप्रविष्ट होती हैं कि जहाँ पर हनका संयोग होता है, वह स्थान द्विद्वित हो जाता है । गवादित-मिदं शरीरग—इसका अभिग्राय यह है कि यथापि दो मणि-वंध और दो टखने जालों के स्थान वताये गये हैं तथापि संपूर्ण शरीर जाल के समान होता है क्यों कि सिरा स्नाय्यादि धोंग आपस में एमेशा इस तरह अनुप्रविष्ट होते हैं कि वह स्थान जालीदार हो जाता है ।

पट्टकूर्चाः, ते हस्तपाद्ग्रीवामेद्योपुः; हस्तयोद्धाँ, पाद्योद्धाँ, ग्रीवामेद्योरेकेकः ॥ १२ ॥

(कूर्चा—) ये कूर्च हैं । ये हाय, पैर, ग्रीवा और मेदू में हैं; हाथ में दो, पांच में दो, ग्रीवा में एक और मेदू में पूँक ॥ १२ ॥

वक्तव्य—ज्ञानां—पेशी, सायु, धमनी या सिरा हनका सज्जिपात जो कूँचे (Bush) के समान दिखाई देता है । ज्ञानां नाम सायुपानीसज्जिपातावात्तेवैकैकाः सायुसज्जिपाताः पश्चु ग्रीवाक्षायद्युग्मगामोवैकथ धमनीसज्जिपातो मेद्रे दृश्यत इत्युच्यते पटिति । (हाराणचन्द्र) ।

महत्त्वी मांसरज्जवध्यतस्मः—पृष्ठवंशमुभयतः; पेशीनिवन्धनार्थं द्वे चाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे ॥ १३ ॥

(मांसरज्जु—) दो भी मांसरज्जुएँ चार हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर पेशियों को वौधने के लिए दो भी भीतर और दो चाहर ॥ १३ ॥

वक्तव्य—मांसरज्जु—रज्जुसम जिनमें तन्तुओं की रचना हो, वे मांसरज्जु हैं । इस प्रकार के मांसरज्जु एष्टर्वंश के दोनों तरफ Longissimus, spinalis और Ilio-costalis इन पेशियों की रचना में दिखाई देते हैं ।

सप्त सेवन्यः; शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वा-शेफसोरेकैकाः ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण ॥ १४ ॥

(सेवनी—) सात सीवन हैं; सिर में पांच अलग अलग और जिह्वा तथा शिशन (के निचले भाग) में एक एक; (शस्त्रकर्म के समय) शस्त्र से उनको बचाना चाहिए ॥ १४ ॥

वक्तव्य—सीवन—सिलाई के द्वारा मिलाये हुए भाग के समान जो रचना होती है, वह सीवन कहलाती है । सीवन त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और अस्थियाँ इनमें मिलती हैं । शिशन की सेवनी त्वचा की, जिह्वा की श्लेष्मल त्वचा की और सिर की अस्थियों की है । अंगेजी में त्वचा तथा श्लेष्मल त्वचा की सेवनी को रघाफी या रिप (Raphe or Ridge) कहते हैं; और अस्थियों की सीवन को सूचर (Suturo) कहते हैं । जिहासेवनी—यह सेवनी जिह्वा के अधस्तल पर उसके अग्र से मूँह तक होती है । यह सेवनी फ्रेन्यूलम लिंगवी (Frenum lingue), कहलाती है । शेफसेवनी—वास्तव में यह सेवनी शिशन पर नहीं होती । इसका प्रारंभ शिशन के नीचे उसके मूँह से होता है और वृष्पणकोप पर से होकर गुदद्वार तक चली जाती है । फिर गुदद्वार के उस पार से वह अनुत्रिक (Coccyx)

१ सीवन्यः.

के अग्र तरफ पूँचकर वहाँ पर समाप्त होती है। गुदाकार तक का पूर्वभाग सूर्यनी (Raphes of the Ectrotom) और पीछे का भाग गुदानुप्रिक सैवनी (Anterococcygeal raphes) कहलाता है। इस नैवनी—ये सीवन कपाल स्थिरों के संयोग पर होती हैं। यदि सूर्यनी कपालस्थिरों के संयोगों का विचार किया जाय तो सीवनी की संलग्न बहुत अधिक होती है। यहाँ पर केवल पौँच संलग्न यताहै है। इससे यह मालूम होता है कि बरोटी skull हाथ में लेने पर उसके ऊपर के भाग (Roof) पर जो सीवने साफ साक दिलाई देती हैं, वही यहाँ पर निर्दिष्ट हैं। ये सीवने पौँच ही होती हैं। (१) गृहनीवनी (Frontal suture) या Metopio sutura—यह सीवनी गुरुकपाल के मध्य में बचपन में मिलती ही और आगे चलकर नष्ट होती है, परंतु कभी कभी यह जिन्दगी भर कायम रहती है। (२) पुर्णमोवनी (Coronal suture)—यह सीवनी गुरुकपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (३) पश्चिम सीवनी (Lambdoid suture)—यह सेवनी पश्चिम कपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (४) मध्यमोवनी (Sagittal suture)—यह सीवनी दो पार्श्वकपालों के बीच में सिर के मध्य में गृहसीवनी की देखा में होती है। (५) पार्श्वमोवनी (Temporal suture) या squamosal suture—यह सेवनी गुरु, पार्श्व और पश्चिम कपालों के नीचे की अस्थियों के संयोग स्थान पर होती है। अस्थियों की सीवन को सीमन्त भी कहते हैं। आगे ११वें सूर में देखो। सिर के सीमन्त या सीवनी बाहर से नहीं दिखाई देती—सीमन्त सीधे नहिसत्त्व दिरसि न इश्यते। (इन्दु)।

चतुर्दशस्थान स्थानाः तेषां भयो गलकजानु यहुणेषु, पनेनेतरस्तक्षिय चाहूँ च व्यादयाती, विक शिरसोरेकैकः ॥ १५ ॥

(संबोध—) हड्डियों के संबंध चौदह हैं। इनमें से दसना, जानु और वहलग में तीन, इससे दूसरे पैर का और (दोनों हाथों) का भी व्यालायन हो गया। विक पर एक और विक पर एक ॥ १५ ॥

वक्तव्य—स्थान—प्रायः दो से अधिक अस्थियों के सम्मेलन की संघात कहते हैं। उल्ल—इसमें गुलसंरीनितया उसकी समीपवती हड्डियाँ आती हैं। इसमें ७ हड्डियाँ पैर की कमान (Tarsal) की और २ जंडा की, इस प्रकार ९ हड्डियाँ होती हैं। जानु—इसमें जंडा की दो, जह की एक और जानुकपाल एक, ह्रस्य प्रकार चार हड्डियाँ होती हैं। बन्न—इसमें उन की एक और शोणिपूँजक की तीन, इस तरह चार हड्डियाँ होती हैं। मणिवध—इसमें पौँच की भाड़ (Carpal bones) और अप्रवाहु की दो, इस प्रकार दस। हड्डियाँ होती हैं। इन्दु—इसमें अप्रवाहु की दो और बाढ़ की एक, इस प्रकार तीन होती हैं। कठा—इसमें सिर्फ़ दो होती हैं। विक (Sacrum)—यह अस्थि पृष्ठवेश के नीचे होती है। यह अस्थि पौँच भोदरों के आपस में जुड़ जाने से बनती है, अर्थात् विक में पौँच हड्डियाँ होती हैं। गिर—इसमें पौँच हड्डियाँ होती हैं। आगे ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

चतुर्दशैव सोमन्ताः, ते चास्थिसहातवद्गुणलोक्याः, यथस्तर्त्येवा अस्थिसहाता, ये हास्ता। सीमन्तास्तु खेपप्रादाशेषेगम् ॥ १६ ॥

(सीमन्त—) सीमन्त भी चौदह है। उनको अस्थि संघात के समान ही गिनना चाहिए, वर्णोंकि जो अस्थि संघात अभी कहे हैं, उन्हीं से युक् (सीमन्त) होते हैं। वही आचार्यों के मत से सीमन्त अदात होते हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—सीमन्त—स्थाना साविता वैलं सीमन्तास्तात्वं प्रवदन्ते ॥ (भोज)। सीवन और सीमन्त एक है। देवाश्म—सीमन्ताद् दिगुणा नव । (ब्रह्मगाहदय) तदै सीमन्ता । ते तु पच दिरसि रसादादः । (ब्रह्मगासग्रह)। इसका अभिप्राय यह है कि सिर के एक संघात के बढ़ते पौँच सीमन्त ऐकर बाकी तेरह संघात पहले की तरह लेना—सीमन्ता पहले भूमि खुलुक्यादिवस्तिव्यवद् ॥ (अस्थादत्तीका)। दल्हणाचार्यं 'वास्त्रैर्वृक्षं अस्थिसप्तां, ये वक्ता संघाताते जलन्दादयैकाम्'। इस पाठ को देकर उसका अप्य निष्ठ प्रकार से करते हैं—परमवाह—ये शुक्र इत्यादि। एकाग्रामत्तालोक्या सहे संघात अदातवा यथा—पौँचस्थातुदेव, शोणिपूँजपूँपेक, वक्ता उपर्येक, उद्दोर सधाने एक, अप्य कृष्णपूँपेक, दद्मसादादा ॥

त्रीणि संपृष्ठीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भावन्ते शस्त्रतन्त्रे तु त्रीएवेय शतानि । तेषां संविशामस्य शतं शास्त्रादु, सप्तदशोत्तर शतं धोणिपाशरपृष्ठो दादु, त्रीयां प्रत्यरूप्यं त्रिष्टुपि, पथमस्त्रां त्रीणि शतानि पृथंते ॥ १७ ॥

(अस्थि और उनकी संघात—) वेदवादी (मुनिवारी में) ३६० हड्डियाँ (होती हैं एसा) कहते हैं, परंतु शास्त्रतन्त्र में फेल ३०० (हड्डियाँ होती हैं)। इनमें से शालाओं में १२०, शोणी, पार्श्व, शृङ्ग और जानी, इनमें ११४, भीड़ से ऊपर ६३, इस प्रकार हड्डियों के तीन सौ पूरे होते हैं ॥ १० ॥

वक्तव्य—वेदवादिन—वेद का अनुवाद करने वाले। अथवेद मं अस्थियों की संलग्न ३६० वटाहै—दद्मवा प्रथमशक्तमेक त्रीष्टुपि नवयानि के उ तत्त्विकेन। तत्त्वादास्तीष्टि शतानि दादुव वक्त्वं क्षीला अविचालना ये ॥ (१०-८-४)। इसके अनुसार याहूलस्त्र अपनी स्फुर्ति में यही संघात देते हैं—तत्त्व योदा उत्तराणि पृथ् वक्त्वा पारवन्ति च। वक्त्वाग्नि, वक्त्वास्त्रान् च तद पष्ट या शवद्रवण ॥ (३-८)। त्रीष्टुपि संपृष्ठीन्य शतान्यस्थाना सह दन्तोल्लूलन्तेन । (चरक, शा० ७)। त्रीष्टुपि वृष्टपित्तव्यान्यानानि । (ब्रह्मगासग्रह)। कार्यवप्सहिता के शारीरविचयशारीराभ्याय में अल्पगों की हड्डियों की जो संघात बताहै गई है, वह दीक दीक चरक के साथ मिलती है, अर्थात् उसके अनुसार भी हड्डियों की संघात ३६० होती है। शतान्त्र—सूक्ष्मसंहिता में भी किया गया है। आत्मिक पाशार्थ शस्त्रविचयिकिस्तों के अनुसार शारीर में अस्थियों की संघात कान की अस्थियों को छोड़कर दो सी और उनके साथ दो सी छ होती है। इस मतमेद के निम्न कारण हो सकते हैं। (१) अस्थि के साथ किसी प्रकार से न मिलने वाले पदार्थों को हड्डी में

गिनना । जैसे—नख । नखों का समावेश अस्थि में चरक में किया गया है, सुश्रुत में नहीं । (३) अस्थि के साथ मिलने वाले पदार्थों को, परन्तु जो वास्तव में अस्थि नहीं है, अस्थि में गिनना । जैसे—तरुणास्थि या कास्थि (Cartilago) और दाँत । आधुनिक काल में सूचमदर्शक (आगे २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो) द्वारा प्रत्येक वस्तु की सूचम रचना का ज्ञान होने पर ये दोनों चीजें अस्थि से पृथक् सिद्ध हुई हैं । पचास साल पहले पाश्चात्य शत्यवासाद्यान्न भी दाँतों को अस्थियों में गिना करते थे । (४) जिनका वास्तव में स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उनका अस्तित्व मानना । जैसे—दाँतों के उल्लंगल (Soothlets) । ये चरक के अनुसार स्वतन्त्र माने गये हैं, सुश्रुत में नहीं । (५) जो अस्थियाँ वास्तव में हैं नहीं, उनको भी गिनना अर्थात् काल्पनिक परिगणना । जैसे—पसलियों की संख्या प्रत्येक पार्श्व में ३६ वर्ताई है और उनकी गणना १२ पसलियाँ, वारह अर्द्ध और वारह स्थालक इस प्रकार की गई है—पार्श्वे पट्टिशदेवमेकस्मिन् । (सुश्रुत) इसका विवरण चरक में इस प्रकार है—द्रयोः पार्श्वयोश्चतुर्विशितिः पर्युक्ताः तावत्ति स्थालकानि, तावत्ति चैव स्थालकावृदानि । (शारीर ७) । यहाँ पर प्रत्येक पसली के तीन भाग माने गये हैं—पसली, स्थालक और अर्द्ध । इनमें अर्द्ध पसली का ही भाग है, उसे पसली से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं है । स्थालक कशेरुका (Verlobru) का भाग है, जिसे पसलियों में गिनना उचित नहीं । परन्तु यदि सुभीते के लिए या अपनी विशेष गणनापद्धति के अनुसार इनको अलग भी गिना जाय तथापि अन्तिम दो पसलियों के लिए न अर्द्ध होते हैं, न स्थालक । इसलिए प्राचीन गणनापद्धति के अनुसार भी पार्श्व-अस्थियों की संख्या ७२ न होकर ६४ होती । (६) अस्थियों के उभारों को पृथक् पृथक् अस्थि मानना । जैसे, ऊपर के पसलियों के उभार; इसके सिवा पीठ की कशेरुकाओं के प्रवर्धन (Transverse process) । वास्तव में ये स्वतन्त्र न होकर एक होते हैं । (७) सामान्य करण (Generalization) की पद्धति । जैसे, एतेनेतरसक्षिय वाहू च व्याख्याती । एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि ताति पञ्चदश । इससे यथापि अस्थियों की संख्या में फर्क नहीं पड़ता तथापि वास्तविक संख्या का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता । जैसे, पादकूचास्थियों की (Tarsal bones) संख्या करकूचास्थियों (Carpal bones) से वास्तव में भिन्न है, परन्तु इस सामान्य करणपद्धति से वह एक हो जाती है । प्रत्येक अंगुलि में तीन हड्डियाँ और अँगूठे में केवल दो ही होती हैं । परन्तु अंगुलियों में अंगूठे की गिनती करने के कारण उनकी कुल संख्या चौदह के बदले पन्द्रह हो जाती है । (८) अस्थियों के ऊपर के निशान देखकर उसके अनुसार एक एक अस्थि की कई अस्थियाँ मानना—जैसे, वक्षास्थि और श्रोणास्थि । (९) गणना करने की पद्धति में भेद होने के कारण एक ही अंग की हड्डियों की संख्या भिन्न भिन्न होती है । जैसे, सुश्रुत में पीठ की अस्थियों की संख्या ३० और चरक में ४५ वर्ताई है । वैसे ही सुश्रुत में सिर की अस्थियों की संख्या ४ और सुश्रुत में ६ वर्ताई गई है । (१०) उत्तरकालीन शारीरज्ञानाभाव—शवविच्छेद की प्रथा

वंद होने के पश्चात् शारीर का प्रत्यक्ष ज्ञान मिलने का मार्ग बंद हो गया । इसलिए उत्तरकालीन अंथकार, टीकाकार तथा उत्तरने व्रथों के लेखक शारीर के संवंध में अनुसार से अधिक काम लेने लगे । इसका परिणाम यथापि अस्थियों की कुल संख्या पर नहीं हुआ तथापि भिन्न भिन्न अंगों की अस्थिसंख्या पर जस्ते हुआ, जिससे 'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि ताति पञ्चदश' इस प्रकार के प्रमाद या विकृत पाठ-भेद अंग में प्रविष्ट हो गये । मतभिन्नता के इतने कारण होने पर भी अनस्थियों को अस्थियों में गिनना और अस्थियों के उभारों की स्वतन्त्र परिणामना करना ये ही अस्थिसंख्या-भिन्नता के मुख्य दो कारण हैं । आधुनिक भी एक कारण माना जाता है । इसका विचार आगे ६९वें सूत्र के वक्तव्य के 'पुरुष' की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो । शाखाओं—दो अर्ध और दो अधोशाखाओं की संख्या एक सौ बीस है । यह संख्या आधुनिक संख्या के साथ मिलती है । इसका तात्पर्य यह है कि शाखाओं की अस्थिगणना में एकाध अस्थि को छोड़कर और कोई मद्देद नहीं है । चरक में नखों का समावेश अस्थियों में करने के कारण यह संख्या कुछ अधिक (१२८) हो गई है । अष्टांगसंग्रह चरकमतानुसारी होने पर भी अंगों की संख्या में चरक से विभिन्नता रखता है । उसके अनुसार शाखाओं की अस्थिसंख्या एक सौ चालीस है—तेषां चत्वारिंशन्द्यतं शाखाष्टु ॥ श्रोणिपार्श्वेष्टेऽरुः—आधुनिक गणना के अनुसार इस विभाग की अस्थियों की संख्या केवल १० होती है । चरक के अनुसार यह संख्या १२१ और अष्टांगसंग्रह के अनुसार १२० होती है—सर्विंशन्द्यतमन्तराधी ॥ श्रीवां प्रत्यक्ष्वन्—इस विभाग में आधुनिक मतानुसार केवल ३६ अस्थियाँ होती हैं । चरक के अनुसार इसमें ९१ और अष्टांगसंग्रहानुसार १०० अस्थियाँ होती हैं—शतमूर्धमिति । अब घंडों की पृथक् पृथक् अस्थियों की गणना बताई जाती है—

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुलकसंश्रितानि दश, पाशर्यमेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, चिन्शादेव-मेकस्मिन् सक्षिन्थ भवन्ति, एतेनेतरसक्षिय वाहू च व्याख्यातौ ॥ १६ ॥

(शाखाओं की अस्थियाँ—) पैर की एक एक अंगुली में तीन तीन (हड्डियाँ होती हैं, इस प्रकार सब मिलकर अंगुलियों में) वे पंद्रह (होती हैं) । तल, कूर्च और गुलक संश्रित हड्डियाँ दस, पार्श्व में एक, जङ्घा में दो, जानु में एक, ऊर में एक; (इस प्रकार) एक टांग में तीस हड्डियाँ होती हैं । इसी से ही दूसरी टांग तथा दोनों बाहुओं (की हड्डियों) का वर्णन हो गया है ॥ १७ ॥

वक्तव्य—जानि पञ्चदश—प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन हड्डियाँ होती हैं, परन्तु अँगूठे में तीन न होकर केवल दो ही होती हैं; अतः यह संख्या पंद्रह न होकर चौदह होनी चाहिए । परन्तु इस आवेष के ऊपर एक उत्तर यह हो सकता है कि अन्य अंगुलियों की जैसी गतिमर्यादा होती है, वैसी गतिमर्यादा अँगूठे के बारे में न होने के कारण उसके तल की अस्थि (शलाका) उसके साथ हिलती है ।

जट अङ्गुठ की अस्थिगणना में उसकी तल्लस्थित उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्तिशुक्त (संस्कृतग्रन्थालय, उपोक्तात् एष १७२) है, उसमें सदेह नहीं, परन्तु निम्न दो कारणों से उसका प्राप्ति सुश्रुत पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यदि वह विचारसरणि प्राचीन काल में भी मान्य होती तो अंगुलितल की शलाकाओं की सख्त्या चार होना जरूर था, परन्तु वह सरया पाँच ही शताई गई है—नले पादतले पञ्च शलाका। (दलहण)। अष्टाग्रसंग्रह में भी ऐसा ही वर्णन है—प्रत्येकमुख्या धीर्घस्थीनि वानि पददश। पञ्च पादशालासा। अरुणदत्त भी अष्टाग्रहदद्य की टीका में इसी प्रकार लिखते हैं—पचपादनलासाविष्मयस्तुलूप्तिक्रवयन्। एवं पचदद्यैतानि शलाका पञ्च तु स्थूता। (२) यह कारण विशेष भवत्त्व का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अंगुलियों की संख्यों का वर्णन करते समय प्रत्येक अंगुलि में तीन और अङ्गुठे में दो ही संख्याएँ बताई हैं—एकेकस्या पादाशुभ्यो त्रयत्वय, द्वादुष्टे, ते चतुर्दश। यदि अङ्गुठे में तीन अस्थियाँ अल्प अंगुलियों के समान होतीं तो संख्याएँ भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परन्तु दो ही संख्याएँ लिखी हैं। इस लिए अङ्गुठे में दो ही अस्थियाँ मानना उचित है। तल्लुच गुलकसंतानि दश—पादतल, पादकूर्व और गुरुक इन तीन समूह की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल की अस्थियों को शलाका भी कहते हैं। इनकी सरया पाँच होती है। यदि अंगुल्यस्थियों की सख्त्या पदद्वय ही रखी जाय तो इनकी सख्त्या चार माननी पड़ेगी। पादकूर्व—इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। ये चहत छोटी छोटी हैं। कुफ—जघास्थियों के साथ मिलने वाली हैं। यह एक है। इस प्रकार ये दश और यदि पादाशुभ्यों छोटा हों तो ग्यारह होती हैं। जग्नावा द—जग्ना में दो हड्डियाँ होती हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की भोटी और बाहर की पतली होती है। नानुयेकल—सुटने के सामने होने वाली यह पतली चपटी है। अधोशलाका की हड्डियों के अंग्रेजी नाम—अंगुलि की अस्थियाँ—Phalanges, शलाका—Metatarsal bones, कूर्चास्थिय—Tarsal bones, गुलकस्थिय—Talus पाल्वस्थिय—Calcanus, पाशाशय शारीर में गुरुक और पाल्वि कूर्चास्थिय (Tarsal bones) में समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूर्वस्थियों की संख्या ८ होती है; अन्तजुट्टस्थिय—Tibia, यहिन्जुट्टस्थिय—Pibula जान्वस्थिय—Patella, ऊर्ध्वस्थिय—Femur। इस प्रकार अधोशलाका में कुल ३० हड्डियाँ होती हैं। कब्ज शलाका की हड्डियों के नाम अंगुलस्थियाँ—Phalanges, हस्तशलाकपैं—Metacarpal bones, हस्तकूर्चास्थिय—Carpal bones, हस्तगुलक—Lunate and Navicular of the carpal bones, पाशाशय शारीर के अनुसार हस्त-कूर्चास्थियों की सख्त्या ८ होती है, जिसमें गुरुक की दो अस्थियों का भी भमायेदा होता है। यदि अंगुलियों की अस्थियों की सख्त्या पदद्वय मानी जाय तो हस्ततल्लूच गुलकसंधित अस्थियों की सख्त्या बारह होनी चाहिए। यहाँ पर हाप के लिए जो दश सख्त्या बताई गई है, वह दीक नहीं है। परं की जटा के समान अस्थिगणना का ज्ञा-

भाग होता है, उसको अरबि या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जटा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियाँ होती हैं। अन्तप्रकोष्ठस्थिय—Ulna, वहि प्रकोष्ठस्थिय—Radius, बाह्यस्थिय या प्रगण्डास्थिय—Humerus, हाथ में जान्वस्थिय के समान कोई हड्डी नहीं है, परन्तु 'त्तेतेतरसंधि' बाहू च व्याख्याती हस्त के अनुसार जान्वस्थिय का ग्रातिनिधि दूर्परास्थिय हाथ में माना जाता है। बास्तविक वह स्वतन्त्र अस्थिय न होकर अन्तप्रकोष्ठस्थिय का ऊपर का सिरा है। इसकी कूर्परकूट (Olecranon) या जानुवापाल के अनुसार कूर्परकूट कहते हैं। अन्तप्रकोष्ठस्थिय का यह सिरा उसके साथ सोटह साल की आयु में पूर्णतया छुट जाता है। शालास्थियों के समन्वय में हाराणचन्द्र का पाठ निम्न प्रकार का है—नैतासादादोत्तर शत शालासु। श्लेष्मो पादाशुभ्या श्रीणि श्रीणि, अङ्गुठे दे, वानि बृद्धशय। तटकूर्चास्थु संतिवाल्वेकादश। पाल्वस्थियेन्। जग्नावा दे। एकूरूपाविनि विश्व द्वैरिमन्, सविद्धन भवन्नन्। द्वैतीनैव जानुर्वर्णन बाहू च ब्रह्मयतो। हस्तरक्षयन्द्र का यदृ क्षयन भी सोदेव है क्योंकि यथापि बाहू में जान्वस्थिय की तरह दूर्परास्थिय नहीं होती तथापि हास्तकूर्चास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे दाम की अस्थिगणना के बराबर हाथ की अस्थि सख्त्या हो जाती है।

थ्रोण्यां पञ्च, तेपां गुदमगनितम्भेषु चत्यारि विकसाधितमेकं पाशर्ने पट्टव्यादेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे चिशात्, अपात्रविति, द्वे अंतरस्तुलके॥२०॥
(धड की अस्थियाँ—) थ्रोणी में पाँच, इनमें से गुदभग और नितम्भ में चार, विकाधित एक, एक पार्वर्ण में छत्तीस, दूसरे में भी इतनी ही (छत्तीस), पीढ़ में तीस, छाती में आठ, दो अंसकाएक॥२०॥

वृत्तव्य—मध्य और सिर की अस्थिगणना में यहूत भिन्नता है, जिसका समन्वय बनना बड़िन है। थोण्या पश—आपुनिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो थोणिफलक (Onanomipatum or bip bone) होते हैं। प्रत्येक थोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जधनकपाल (Neum, इन्दुन्दरास्थिय (Ischium) और भगास्थिय (Pubes)। ये तीनों अस्थियाँ आपर में जुड़ी रहती हैं, इसलिए नव्यगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टाग्रसंग्रह में नितम्भ की हड्डियाँ दो ही बतलाई हैं—नितम्भोदेव। चरक और कारपण संहिता में थोणिफलक दो ही बतलाये हैं, परन्तु भगास्थिय उत्तरे पृष्ठ की है—दो थोणिफलक एक भगास्थिय। थोणी की पाँच हड्डियों का दीक समर्थन बनना बड़िन है। निन—तीनों के सन्धानस्थान की त्रिक बहते हैं। यह दृष्ट अधिकतर शृणव और दोनों की सन्धानस्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—रिपतलन्तो रुपश्वास्नोय संविहार त्रिक मन्। वामी वामी विकाधान्द्र पृष्ठवदा और अंसकाएकों की संर्पण के लिए भी प्रयुक्त होता है—उरूपविनिमयालमानवालोग्राम संवित दृष्ट बनने करोऽ। (मुख्य, पृष्ठ १)। 'विनसिद्धिप्रभ' में १ मयुरानितम्भु २ दृष्ट देव

नीचे के त्रिक्षणम् में आंतित एक हड्डी अर्थात् त्रिकास्थि (Saorum) समझ सकते हैं । यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनी है । इसके दोनों पाश्वों से श्रोणिफलक जुड़े रहते हैं । नीचे गुदास्थि या अनुत्रिकास्थि (Ocooyx) जुड़ी रहती है । ऊपर से कटि का अन्तिम मोहरा मिला रहता है । इसकी शक्ति कुछ तिकोनी होती है और यदि गुदास्थि को इसके साथ मिलाया जाय तो पूरी तिकोनी बन जाती है । गुदास्थि—पृष्ठवंश की यह अन्तिम अस्थि है । चार छोटों छोटी अस्थियों के जुड़ जाने से यह बनती है । सपुच्छ प्राणियों में इसी से पुच्छ निकलता है तथा उनसे ये अस्थियाँ अलग अलग और अधिक संख्या में होती हैं । इसकी भी शक्ति तिकोनी है । गुदद्वार के पीछे दबाने पर इसकी नोक को हम स्पर्श कर सकते हैं । श्रोणी की पाँच हड्डियों की संख्या अगर कायम करना हो तो निश्च प्रकार से कर सकते हैं—
 १ भगास्थि (इसमें दोनों तरफ के भगास्थियों के संयोग को पृथक् माना है), २ नितम्बास्थि, गुदास्थि और ३ त्रिकास्थि । पाश्वे पट्टिशत्—पार्श्व की पसलियों (Ribs) की संख्या ३६ होती है । वास्तव में पर्शुकाण्ड प्रत्येक पार्श्व में बारह होती है । परन्तु यहां पर उनके उभार (Tubercle) तथा स्थालक (पीठ के मोहरों के प्रवर्धन, जिनके साथ पसलियाँ मिलती हैं) अलग माने गये हैं । इसलिए उनकी संख्या तिगुनी ही गई है—पर्शुकाण्डोश्वरुविशितः पर्शुकाण्डो तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्दुदानि । (चरक) । स्थालकानांति पर्शुकाण्डो मूलस्थानलदानि, स्थालकार्दुदानि तु पर्शुकामूलान्यर्थदाकाराण्यस्थीनि । (चक्रपाणिदत्त) । पृष्ठे विशत्—पृष्ठवंश (Vertebral column) के पृष्ठ और कटि विभाग की अस्थियों की अर्थात् रीढ़ के मोहरों की संख्या । इसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है । चरक में इसकी संख्या ४५ बताई है । पर्शुकाण्डों की ३६ या ७२ संख्या के सम्बन्ध में संहिता में तथा टीका में जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसा स्पष्टीकरण पृष्ठ की संख्या के सम्बन्ध में नहीं मिलता । अतः इसके स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रत्येक अपनी दुविंशि से काम लेता है । वास्तव में पृष्ठ के मोहरे १२ और कटि के ५ मिलकर पीठ में १७ अस्थियाँ होती हैं । यहाँ पर जो तीस संख्या बतलाई गई है, उसके सम्बन्ध में एक पक्ष का मत है कि वास्तव में यह संख्या सम्पूर्ण पृष्ठवंश की अस्थियों की है । दूसरे का मत है कि, जैसे पर्शुकाण्डों में उनके उभार और स्थालक स्वतन्त्र गिने गये हैं, वैसे ही पृष्ठवंश में मोहरों के प्रवर्धन (Processes) अलग गिने गये हैं । इन दोनों के साथ तीसरा भी एक पक्ष सूचित किया जाय तो अप्रस्तुत नहीं होगा । वह तीसरा पक्ष इस प्रकार का है । पृष्ठवंश के मोहरे आपस में सीधे नहीं मिलाये गये हैं । उनके बीच में धाणसूरसंतततस्थास्थि के लल्य (Intervertebral fibrocartilagines) होते हैं । ये लल्य काफी मोटे होते हैं । यहाँ तक कि सब मिलकर पृष्ठवंश की लम्बाई की चौथाई के लगभग हो जाते हैं । अतः यह बहुत सम्भवनीय है कि पृष्ठ की अस्थियों में इनकी गणना की गई हो । नवीन गणना के अनुसार पीठ में १७ मोहरे और १७ अन्तःकशेष्वलय अर्थात् दोनों मिलकर ३४ अस्थियाँ हो सकती हैं । अष्टवृत्ति—इसमें

उरःफलक (Sternum) और दो अचक (Clavicles) मिलकर तीन अस्थियाँ होती हैं । अचक—इसी को हँसली भी कहते हैं । यह लम्बी हड्डी है, जिसका एक सिरा उरःफलक के ऊपर के हिस्से के साथ और दूसरा सिरा अंसफल के कूट के साथ मिला रहता है । यह हड्डी दो जगह कुछ मुड़ी हुई है । राजयक्षमी—दुर्वल और कुश मनुष्यों में यह अधिक उमरी हुई दिखाई देती है क्योंकि इसके ऊपर और नीचे कुछ गदा-सा बन जाता है । उरःफलक या वक्षोस्थि—यह अस्थि चपटी और लम्बी है, जो ग्रीवा के नीचे के भाग से प्रारम्भ होकर उदर के कौड़ीप्रदेश तक रहती है । इस अस्थि के तीन खण्ड होते हैं । ऊपर का चौड़ा और छोटा (Manubrium ; भाग, जिसके ऊपर के सिरे में काठकूप (Sternal notch) करके एक गदा होता है । मध्यखण्ड लम्बा होता है । इसमें चार अस्थियाँ जुड़ी रहती हैं । तीसरा अग्रपञ्च (Xiphoid process) जो कौड़ीप्रदेश में दबाने पर स्पर्शलभ्य होता है । इस तरह वक्षोस्थि में छः अस्थियाँ होती हैं । सोलह साल के पूर्व वे सब अस्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं । इसके पश्चात् २५ साल की उमर तक मध्यखण्ड के चारों विभाग आपस में जुड़ जाते हैं । ऊपर की ओर नीचे की अस्थियाँ मध्य के साथ अधेश उमर के बाद मिलती हैं । दो अंसफलक—अंसफलक (Scapula) प्रत्येक पार्श्व में पीछे की ओर एक होता है । इसका आकार कुछ तिकोना होता है । यह चपटी हड्डी है, परन्तु इसमें कई उभार होते हैं । इसका चौड़ा भाग खबे में और मोटा भाग कंपे में रहता है । इस मोटे भाग में अंसपीठ (Glenoid cavity) नामक गदा रहता है, जिसमें बाहु की अस्थि का सिरा मिला और बंधा रहता है । चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं । एक पसलियों के समीप का और दूसरा पिछला, जो स्पर्श किया जा सकता है । पिछले पृष्ठ पर तलवार की तरह एक टेढ़ा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला उभार होता है, जिसे अंसप्राचीरक (Spine) कहते हैं । कंपे की ओर इसका सबसे ऊँचा जो भाग होता है, उसे अंसकूट कहते हैं । इसी के साथ अचक लगा रहता है । इस अस्थि के तीन किनारे होते हैं—एक पृष्ठवंश की ओर का जो सब से लम्बा होता है, दूसरा कच्चा की ओर का और तीसरा ऊपर का होता है । कच्चा की ओर का सब से मोटा और ऊपर की ओर का सब से छोटा रहता है । ऊपर के किनारे के पास अंसतुण्ड (Coraco-coid process) नामक सुड़ा हुआ उभार होता है ।

ग्रीवायां नद, करण्डनाड्यां चर्वारि, द्वे हन्तोः; दन्ता द्वार्चिशत्, नासायां त्राणि, एके तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वैकैकं, पट् शिरसीति ॥ २१ ॥

(शिर और ग्रीवा की हड्डियाँ—) ग्रीवा में नी, कण्डनाडी में चार, हनु के दो, दाँत वर्तीस, नाक में तीन, तालु में एक, गण्ड, कर्ण और शङ्ख में एक एक, शिर में छः ॥ २१ ॥

वक्षवंश—ग्रीवायां नद—ग्रीवा में वास्तव में सात मोहरे होते हैं । पहले और दूसरे मोहरों को छोड़कर वाकी मोहरे एक से होते हैं । नीचे वाले मोहरे ऊपर वालों की अपेक्षा कुछ बड़े रहते हैं । पहला मोहरा वलयाकार होता है, इसलिए यह चबावलय (Atlas) कहलाता है । दूसरे में

जब अंगुड़ की अस्थिगणना में उसकी तलासिय उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्तियुक (सर्वोगसागर, उपोद्धार पृष्ठ १५२) है, उसमें सदैद नहीं, परन्तु निश्च दो कारणों से उसका प्रदृश सुश्रुत पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यदि यह विचारसंग्रहीयान काल में भी मन्त्र होती तो अंगुलियों की शलाकाओं की संख्या चार होना जरूर था, परन्तु वह संख्या पाँच ही बताई गई है—जैसे पादतले पाँच शलाका। (इत्थन)। अटांगसम्रद्ध में भी ऐसा ही वर्णन है—प्रत्येक महुल्या शीर्षप्रसीदि वानि पददरा। पश्चात्यान्तरा। अण्डादत्त भी अटांगददय की दीका में इसी प्रकार लिखते हैं—नचनानसात्प्रत्युल्पस्थित्यवर्गम्। एव पचदयेतानि, शलाका पञ्च तु स्तुता। (२) यह कारण विशेष महाव का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अंगुलियों की संख्यों का वर्णन करते समय प्रत्येक अंगुलि में तीन और अंगुड़ में दो ही संख्याएँ बतलाई हैं—एकैस्त्वा पादामुल्या व्यवस्था, द्विवद्वृष्टे, ते चतुर्दश। यदि अंगुड़ में तीन अस्थियाँ अन्य अंगुलियों के समान होतीं तो संख्याएँ भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परन्तु दो ही संख्याएँ लिखी हैं। इस लिए अंगुड़ में दो ही अस्थियाँ भानना उचित है। दलहृच गुल्मितिवान दद्य—पादतल, पादवृच्छ और गुरुक इन तीन समूद्र की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल की अस्थियों को शलाका भी कहते हैं। इनकी संख्या पाँच होती है। यदि जंगुल्यस्थियों की संख्या पद्धत हो तो इनकी जाय तो इनकी संख्या चार माननी पड़ेगी। पादहृच—इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। ये बहुत छोटी छोटी हैं। गुरुक—ज्यारियों के साथ मिलने वाली हही हैं। यह एक है। इस प्रकार ये दो और यदि पादामुल्याँ चौदह हों तो व्याधरह होती हैं। जन्माया दे—जाया में दो हड्डियाँ होती हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की भोटी और बाहर की पतली होती है। चानु-यैन्य-घुटने के सामने होने वाली यह पतली चपटी हड्डी है। अपेक्षाका जो हड्डियों के अवैती नाम—अंगुलि की अस्थियाँ—Phalanges, शलाका—Metatarsal bones, कूचास्थि—Tarsal bones, गुल्मास्थि—Talus पाल्यस्थि—Calcaneus, पाश्रास्थि शारीर में गुरुक और पाल्या कूचास्थि (Tarsal bones) में समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूचास्थियों की संख्या ५ होती है; अन्तर्जट्टास्थि—Tibia, वहिंजट्टास्थि—Fibula जान्वस्थि—Patella, ऊर्वस्थि—Femur। इस प्रकार अधोशाला में कुल ३० हड्डियाँ होती हैं। कर्व शाला की हड्डियों के नाम—अंगुल्यस्थियाँ—Phalanges, हस्तशलाकापूँ—Metacarpal bones, हस्तकूचास्थियाँ—Carpal bone, हस्तगुरुक—Lunate and Navicular of the carpal bone, पाश्रास्थि शारीर के अनुसार हस्त-कूचास्थियों की संख्या ८ होती है, जिसमें गुरुक की दो अस्थियों का भी समावेश होता है। यदि अंगुलियों की अस्थियों की संख्या पाँदह मानी जाय तो हस्ततल्लुच गुरुकसंश्लिष्ट अस्थियों की संख्या बारह होनी चाहिए। यहाँ पर हाथ के लिए जो दो संख्या बताई गई है, वह दीक नहीं है। येर की जड़ा के समान अर्धशाला का ला

भाग होता है, उसको अरसि या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जड़ा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियाँ होती हैं। अन्तप्रकोष्ठस्थि—Ulna, वहिप्रकोष्ठस्थि—Radius, वाहस्त्रिय या प्रगाढ़स्थि—Humerus। हाथ में जान्वस्थि के समान कोई हड्डी नहीं है, परन्तु '१००नेनैरत्वस्थि बाहू च अवाल्यांत्री इसके अनुसार जान्वस्थि का प्रतिनिधि कूर्प रास्त्रिय हाथ में माना जाता है। वास्तुविक बहुत स्वतन्त्र अस्थिय न होकर अन्त प्रवोष्ठस्थि का ऊपर का सिरा है। इसको कूर्परक्षट (Olecranon) या जान्कुपाल के अनुसार कूर्परक्षपाल कहते हैं। अन्त प्रकोष्ठस्थि का यह सिरा उसके साथ सोलह साल की आयु में पूर्णतया जुङ जाता है। शालास्थियों के समन्वय में हाराणचन्द्र का पाठ निह प्रकार का है—पेषादाहस्तेचर शत शारामु। एकैस्त्वा पादामुल्या शीर्ष वीरिणि, अद्वृष्टे देव, तानि चतुर्दश। तद्वृच्छुलुक समितान्देवादश। पाश्चायोगेमद्। बहुयादे। एवमूराविति विश दैवतिमूर्ति सवित्तन मवनितः। द्वितीयेव्येवेदम्। शतोत्रै लातुर्वन्नन बाहू च अवारात्रै। हाराणचन्द्र का यह कथन भी सदैष है क्योंकि यद्यपि बाहु में जान्वस्थि की तरह कूर्परास्थि नहीं होती तथापि हस्तकूचास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे दाग की अस्थिस्थापा के बाबार हाथ की अस्थि संख्या हो जाती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषा गुदभगनितमेतुं चत्वारि, त्रिकस्थितमेकं पाश्चें पर्त्तिवरादेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येदं, पूर्वे चिशत्, चाप्तामुरसि, देव अंसस्तलके॥२०॥ (घड की अस्थियाँ—) धोणी में पाँच, इनमें से गुद भग और नितम्ब में चार, त्रिकस्थित एक, एक पार्वत्य में छुतीम, दूसरे में भी इतनी ही (छुतीस), पीठ में तीस, छाती में आठ, दो अंसस्तलक॥ २०॥

बक्षम्य—मध्य और सिर की अस्थिगणना में बहुत भिन्नता है, निषका समन्वय करना कठिन है। शेषा पत्र—आधुनिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो धोणिकलक (Osmannominalum or hip bone) होते हैं। प्रत्येक धोणिकलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जयत्रकपाल (Iteam, बूद्धुन्दरास्थि (Ischiupium) और भगास्थि (Pubes)। दो तीसीं अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसलिए नव्यगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टाग्रामह में नितम्ब की हड्डियाँ दो ही बतलाई हैं—नितम्बोदे। चारक और काल्यप क्षेत्रिक में धोणिकलक दो ही बतलाये हैं, परन्तु भगास्थि उससे पृथक् गिनी है—दो धोणिकलके एक भगास्थि। धोणी की पाँच हड्डियों का दीक समर्थन करना कठिन है। त्रिक—तीनों के सम्बन्धसामान को त्रिक कहते हैं। यह शब्द अधिकतर शृद्धवश और दोनों नितम्बास्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—किंतु समानों पृष्ठवशान्नोनों संवित्ति। एक मतम्। कभी कभी त्रिकाश्वद् पृष्ठवश और अंसस्तलकों की संविके लिए भी प्रयुक्त होता है—उत्तरवित्तसंवाराम्। दीर्घवशान्नोनों संवित्ति। (सुश्रुत, सत्र ३)। त्रिकस्थितमेकं से

नीचे के त्रिकस्थान में आश्रित एक हड्डी अर्थात् त्रिकास्थि (Sacrum) समझ सकते हैं। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनी है। इसके दोनों पाश्वों से श्रोणिकलक जुड़े रहते हैं। नीचे गुदास्थि या अनुविकास्थि (Coccyx) जुड़ी रहती है। ऊपर से कटि का अन्तिम मोहरा मिला रहता है। इसकी शङ्ख कुछ तिकोनी होती है और यदि गुदास्थि को इसके साथ मिलाया जाय तो पूरी तिकोनी बन जाती है। गुदास्थि—पृष्ठवंश की यह अन्तिम अस्थि है। चार छोटों छोटी अस्थियों के जुड़ जाने से यह बनती है। सपुच्छ प्राणियों में इसी से पुच्छ निकलता है तथा उनमें से अस्थियाँ अलग अलग और अधिक संख्या में होती हैं। इसकी भी शङ्ख तिकोनी है। गुदाहार के पीछे दबाने पर इसकी नोक को हम स्पर्श कर सकते हैं। श्रोणी की पाँच हड्डियों की संख्या अगर कायम करना हो तो निश्च प्रकार से कर सकते हैं—
१ भगास्थि (इसमें दोनों तरफ के भगास्थियों के संयोग को पृथक् माना है), २ नितम्बास्थि, गुदास्थि और ३ त्रिकास्थि। पाश्वे पट्टिशत्—पार्श्व की पसलियों (Ribs) की संख्या ३६ होती है। बास्तव में पर्शुकाएँ प्रत्येक पार्श्व में बार होती हैं। परन्तु यहाँ पर उनके उभार (Tubercle) तथा स्थालक (पीठ के मोहरों के प्रवर्धन, जिनके साथ पसलियाँ मिलती हैं) अलग माने गये हैं। इसलिए उनकी संख्या तिगुनी हो गई है—पार्श्वयोश्चुत्तिः पर्शुकाः वावन्ति स्थालकानि, वावन्ति चैव स्थालकार्युदानि। (चरक)
स्थालकानीति पर्शुकाना मूलस्थानलक्षणि, स्थालकार्युदानि तु पर्शुकामूलान्तर्दाकाराण्यस्थीति। (चक्रपाणिदत्त)। पृष्ठवंश—पृष्ठवंश (Vertebral column) के पृष्ठ और कटि बेभार की अस्थियों की अर्थात् रीढ़ के मोहरों की संख्या लिके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। चरक में इसकी संख्या ५५ बताई है। पर्शुकाओं की ३६ या ७२ संख्या के सम्बन्ध में सहिता में तथा टीका में जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसे स्पष्टीकरण पृष्ठ की संख्या के सम्बन्ध में नहीं मिलता। अत इसके स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रत्येक अपनी तुदि से कालौता है। बास्तव में पृष्ठ के मोहरे १२ और कटि के ५ मिलके पीढ़ में १७ अस्थियाँ होती हैं। यहाँ पर जो तीस संख्या बताई है, उसके सम्बन्ध में पृष्ठ पश्च का मत है वैसे बास्तव में यह संख्या सम्भव पृष्ठवंश की अस्थियों की है। दूसरे बास्तव में भी है कि, जैसे पर्शुकाओं में उनके उभार और स्थालक स्वतन्त्र जिने गये हैं, वैसे ही पृष्ठवंश में मोहर के प्रवर्धन (Processes) उन्हा जिने गये हैं। इन दोनों के साथ यीसरा भी पृष्ठ पश्च स्थित किया जाय तो अप्रस्तु नहीं होगा। वह तीसरा पश्च इस प्रकार का है। पृष्ठवंश में ही आपस में भी ये नहीं मिलते गये हैं। उनके बीच ग्रन्तिसंबन्धस्थिये के बल्य (Intervertebral fibres) पृष्ठवंश हेतु हैं। ये बल्य काफी नोटे होते हैं। यहाँ तक कि सर मिलके पृष्ठवंश की लम्बाई की जौयाई के बायाना हो जाते हैं। उन्हें यह बहुत मन्दवरीय है कि पृष्ठ की अस्थियों में लम्बी गलता की गई हो। नवीन गलता के बहुत कम में १३ लम्बाई और १३ वन्दनक्षेत्रलय जैविक दोनों मिलके १३ अस्थियों को मिलती है। अटड़—

उरःफलक (Sternum) और दो अच्चक (Clavicles) मिलकर तीन अस्थियाँ होती हैं। अच्चक—इसी को हँसली भी कहते हैं। यह लम्बी हड्डी है, जिसका एक सिरा उरःफलक के ऊपर के हिस्से के साथ और दूसरा सिरा अंसफल के कूट के साथ मिला रहता है। यह हड्डी दो जगह कुछ मुड़ी हुई है। रायथम्सी—दुर्वल और कुश मनुष्यों में यह अधिक उभरी हुई दिखाई देती है क्योंकि इसके ऊपर और नीचे कुछ गदा-सा बन जाता है। उरःफलक या वक्षोऽस्थि-यह अस्थि चपटी और लम्बी है, जो श्रीवा के नीचे के भाग से प्रारम्भ होकर उदर के कौड़ीप्रदेश तक रहती है। इस अस्थि के तीन खण्ड होते हैं। ऊपर का चौड़ा और छोटा (Manubrium) भाग, जिसके ऊपर के सिरे में कण्ठकृप (Sternal notch) करके एक गदा होता है। मध्यखण्ड लम्बा होता है। इसमें चार अस्थियाँ छुड़ी रहती हैं। तीसरा अग्रपत्र (Xiphoid process) जो कौड़ीप्रदेश में दबाने पर स्पर्शलभ्य होता है। इस तरह वक्षोऽस्थि में छः अस्थियाँ होती हैं। सोलह साल के पूर्व वे सब अस्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं। इसके पश्चात् २५ साल की उमर तक मध्यखण्ड के चारों विभाग आपस में छुड़ जाते हैं। ऊपर की और नीचे की अस्थियाँ मध्य के साथ अधेड़ उमर के बाद मिलती हैं। द्वे अंसफलके—अंसफलक (Scapula) प्रत्येक पार्श्व में पीछे की ओर एक होता है। इसका आकार कुछ तिकोना होता है। यह चपटी हड्डी है, परन्तु इसमें कई उभार होते हैं। इसका चौड़ा भाग खबे में और सोटा भाग कंधे में रहता है। इस मोटे भाग में अंसपीठ (Glenoid cavity) नामक गदा रहता है, जिसमें बाहु की अस्थि का सिरा मिला और बँधा रहता है। चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं। एक पसलियों के समीप का और दूसरा पिछला, जो स्पर्श किया जा सकता है। पिछले पृष्ठ पर तल्वार की तरह एक टेढ़ा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला उभार होता है, जिसे अंसग्राहीरक (Spine) कहते हैं। कंधे की ओर इसका सबसे ऊँचा जो भाग होता है, उसे अंसकूट कहते हैं। इसी के साथ अच्चक लगा रहता है। इस अस्थि के तीन किनारे होते हैं—एक पृष्ठवंश की ओर का जो सब से लम्बा होता है, दूसरा कज्जा की ओर का और तीसरा ऊपर का होता है। कज्जा की ओर का सब कुछ मोटा और ऊपर की ओर का सब से छोटा रहता है। इसके किनारे के पास अंसतुण्ड (Coracoid process) महान् सहा द्वया उभार के लिए है।

ग्रीवायां नद, करण्ताडयां वर्षा
दन्ता द्वार्गिशत्, नासायां व्रह्म
नण्डकर्णशब्देष्वेकैकं, पट्ट शिरस्तु ।

दौत के समान एक उमर होता है, इसलिए यह दन्तचूड़ा (Epiptrochilus) कहलाता है। इसके दौत के ऊपर पहला बैठता है और दोनों नरमादारी (Pivot Joint) की तरह मधिन होते हैं। इसके कारण सिर में दूधर उधर पुमाव काफी हो सकता है। अटांगासंप्रद में श्रीवास्तियों की संख्या १३ और चरक में १५ बनलाई है श्रीवा की अस्तियों के सबव में भी मतभेद है। छठनालाहा चरणारि—ये प्राप्त स्वरयन्त्र की तथास्तियों मालम होती है। ये तथास्तियों तीन लेखी और तीन दो दो करके जी होती हैं। यदि कण्ठनाली (Trachea) के घृतों का विचार किया जाय तो वे संख्या में १८-२० होते हैं। दो इन्हों—इससे बाम और दिविण तरफ की हतु के दो विभाग समझने चाहिए। बास्तव में हतु की हड्डी एक होती है। यह हड्डी आयुनिक परिभासा में अधोहृन्तिय (Mandible) कहलानी है। परतु बचान में दो साल की उमर तक इसके दो विभाग साफ साफ दिलाई देते हैं। चरक में हतु और हुम्लूलंगप चरके हतु की तीन हड्डियाँ बताई हैं। नासादा बालि—दोनों तरफ की नामा की दो हड्डियाँ (Nasal bones) और नामा के पाँड़ की एक। इसमें Vomer और Ethmoid दोनों का सबव जाता है। एक तालुन—ये बास्तव में दो होती हैं, परंतु एक मानी गई है। चरक और कारयपसहिता में ये दो ही बताए गई हैं—दो तालुके : (चरक)। दो दो लोली तालुके तथा : (कारयपसहिता)। गण्डकार्याद्वेषीर—एक हड्डी एक तरफ, इस तरह ये दो हड्डियाँ होती हैं। इनकी मर्यादा कहीं पर नहीं थानाई गई है, परंतु यदि करोटी एक तरफ से देखी जाय तो इनसे निम्न अस्तियों का खोब होता है।

गदारिय—इसमें Maxilla और Malar (ऊर्ध्वहृन्तिय और गण्डारिय) का समावेश कर सकते हैं। वर्णारिय—इससे Mastoid portion of the temporal (कंगमूल पिण्ड) समझ सकते हैं। शरारिय—इसमें Sphenoid (जड़कारिय) और Squama of the temporal (शालकारिय का लंबाखड़) का समावेश कर सकते हैं। पट्टिरसि—शिरस से वर्धी शिरपटल (Roof or vault) का अर्थ लेना चाहिए। पट्ट में बास्तव में चार अस्तियों होती हैं। पुरकपाल एक, पार्थ कपाल हो और पश्चिम कपाल एक। चरक और कारयपसहिता में तिर की चार हड्डियाँ बताई हैं। यहाँ पर ये कहने का कारण यह मालम होता है कि बचान में प्राप्त हा साल तक पुर और पश्चिम कपाल हो भागों में विभक्त रहता है। अतः प्रत्येक की दो दो हड्डियाँ होने से कुल संख्या हा हो जाती है। नवीन गणना के नजुसार मिर की अस्तियों में श्रीवा के मोहरों का समावेश नहीं किया जाता और मुख के साथ सिर की हड्डियाँ बाईस होती हैं। इनके लंबेझी तथा सप्तप्रथलिन स्लूट नाम दिये जाते हैं। पुरकपाल—Frontal, पार्थकपाल—Parietal, पश्चिमकपाल—Occipital, शालकारिय—Temporal, जड़कारिय—Sphenoidal, सर्वरिय—Ethmoidal, नासारिय—Nasal, ऊर्ध्वहृन्तिय—Maxilla, अग्निगारिय—Lachrymal गण्डारिय—Malar or zygomatic, तालरिय—Palatine, शुक्रिया रिय—Inferior nasal conchae, सीरिकरिय—Vomer।

अब इसके बाद चरक, सुक्षुत और नवीन अस्तिय संख्या का तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है, जिससे तीनों के साथ भी वैयक्ति के स्थान तुरन्त व्याप में आ जायें।

अस्तियसंख्यातुलनात्मक कोष्ठक

चरक	सुक्षुत	नवीन
नवीन	—	—
पाद—अग्निगारि	२०	—
" शलाकार्य	३०	Phalanges
" अधिपट्टान	१०	Metatarsals
" शुक्र	२	Tarsos
" पार्थि	४	Oscula
हतु—अग्निगारि	२	Phalanges
" शलाकार्य	३०	Metaarpals
" अधिपट्टान	१०	Carpus
" मणिक	२	Tibia
अन्तर्जायस्य	२	Fibula
बहिर्जायस्य	२	Patella
जातुकपालिका	२	—
जातु	२	Femur
जह, नलक	२	Ulna
अन्तप्रतीपास्य	२	Radius
बहिप्रतीपास्य	२	—
हृर्षरास्य	—	Humerus
चाहुनलक	२	—

धद (अन्तराधर्म)

चरक		सुक्षत	नवोन
श्रोणिफलक	२	श्रोणि	४
भरास्त्य	१		Sacrum
त्रिक	—		Coccyx
अनुत्रिक	—		Thoraco. lumb.
पृष्ठ की अस्तियाँ	४५	३०	Vertebræ
पश्चिक	२४	२४	Ribs
„ अर्द्ध	२४	२४	—
„ स्थालक	२४	२४	Stomach
उरस की अस्तियाँ	१४	६	Clavical
अच्छक	२	२	—
अंस	२		Scapula
जंसफलक	२	२	
	१४०	५१७	५०

शिर, ग्रीवा		
ग्रीवा की अस्तियाँ	१५	”
जब्तु	१	कण्ठनाडी
हन्तस्त्य	१	”
हनुमूलवृंधने	२	—
शिरःकपाल	४	”
ताल्वस्त्याँ	२	”
शांखास्त्याँ	२	”
नासास्त्य		”
गण्डकृट	१	”
लेलाट		—
कर्णास्त्याँ		—
दाँत	३२	”
„ उल्लूखल	३२	—
जतुकादि अन्य अस्तियाँ		
अनिर्दिष्ट या अनिर्णीत		—
	९२	
		६३
Cervical vertebra	७	
—		
Mandible	१	
—		
Frontal	१	
Parietal	२	
Occipital	१	
Palatines	२	
Temporal	२	
Nasals	२	
Malar	२	
—		
Auditory ossicles	६	
—		
Spenoidal and other bones	१०	
		३६

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपाल-हृचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि । तैषां जानुनितम्बां-सगणडतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, ग्राणकर्णश्रीवाञ्जिकोषेषु तस्तु तस्तु, पार्श्वपृष्ठोऽसु तत्त्वानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥२२॥

(अस्तियाँ के प्रकार—) वे (शरीरगत अस्तियाँ) पाँच प्रकार की होती हैं । जैसे—कपाल, रुचक, तस्तु, तत्त्व और नलकसंज्ञक । इनमें से जानु, नितम्ब, अंस, गण्ड, तालु, शङ्ख और सिर (पटल इन स्थानों) में कपाल (संज्ञक अस्तियाँ होती हैं); दाँत तो रुचक (संज्ञक अस्तियाँ हैं); ग्राण, कर्ण, ग्रीवा और अच्छिकोष में तस्तु (संज्ञक अस्तियाँ होती हैं); पार्श्व, पृष्ठ और उर

में तत्त्व (संज्ञक अस्तियाँ होती हैं); शेष अस्तियाँ नलकसंज्ञक होती हैं ॥२२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर मिलने वाली सब अस्तियाँ के संगठन और आकार के अनुसार पाँच प्रकार वर्तलाये गये हैं । कपाल—मिट्टी के घड़े का भाग, खपड़ा या खप्पर । शरीर की कुछ हड्डियाँ इस आकार की होती हैं, इसलिए वे कपाल कहलाती हैं । सिर के पछल की हड्डियाँ कपाल के साथ अन्य कपालाकारी हड्डियों की अपेक्षा अधिक मिलती जलती हैं । इसलिए कपाल से खोपड़ी का भी ओध होता है । कपालास्तियाँ को चपटी हड्डियाँ (Flat bones) कहते हैं । जहाँ पर पेशियों के निर्वंधन (Attachment) के लिए अधिक स्थान की

आवश्यकता होती है या भीतरी झंग की रक्षा करने की आवश्यकता होती है, वहाँ पर चपटी हड्डियाँ रहती हैं। चपटी हड्डियों के दोनों पृष्ठ यद्ये मजबूत होते हैं और धीर में जो अवश्यक रहता है, उसमें सुपिर धातु (Spongy tissue) होती है। खच—नमक का छव्वा—सौवर्चल स्थानवक मन्त्रपालक तामतम्। नमक रोचन भेदि दीपन पाचन परम्॥ (भावप्रकाश)। सौवर्चल लवण के द्वाक्षे के समान दिग्बाई देते हैं, इसलिए दाँत खक कहलाते हैं तथा उसके समान ये भगुर भी होते हैं—स्फुटवत रुचानि तु। (सुक्षुत, निशान १५)। रुच बहुते का और भी एक कारण ही सकता है। रुच उत्पन्न करने वाले पदार्थों के भी रुच कहते हैं। जैमे—सौवर्चल लयण, मातुंग इत्यादि। भाजन भी जब दाँतों के हारा खून चवाया जाता है, तब रुचिकर होता है। इसलिए भी दाँत खक कहलाते होते हैं। म० म० गणनायत्त्वेन प्रयत्नशारीर में रुचक का अर्थ दूसरा करते हैं—चानि रुचानारात्रात्। खक नाम कदुकिया नहीं चिरणीनि भाव। तरण—जिन हड्डियों में अस्थिभवन (Ossific action) का कार्य पूर्ण नहीं हुआ है, ऐसी हड्डियाँ। जन्म के समय शारीर की कुछ हड्डियाँ पूर्ण अस्थिभूत होती हैं और कुछ अपूर्ण अस्थिभूत होती हैं। अस्थिभवन होने से पूर्ण हड्डियों के रूपान में जो जीज होती है, वह सर्जेद या पीले रग की चिकनी, चमकदार और दचकदार रहती है। इसी को कसिया या तस्लासिय (Cartilage) कहते हैं। देढ़ महीने के गर्भ के शारीर में कहीं भी अस्थित नहीं मिलती। अस्थिय बनने का काम इसके बाद शुरू होता है और जवानी तक प्रायः सभी तस्लासियाँ परिषूर्ण अस्थि में परिवर्तित होती हैं। शारीर में कुछ तस्लासियाँ पसी हैं कि जो जीवन भर तरुण ही तरुण रहा करती हैं। जैसे—स्वरयन्त्र, टेंड्रेज, कान, नाक इत्यादि अगों की। तस्यापि इनमें से कुछ तस्लासियाँ, विरोप करके स्वरयन्त्र और टेंड्रेज (कण्ठनादी) की, उगमे में अस्थिभूत हो जाती हैं। आयुर्वेद में कण्ठनादी की तस्लासियाँ हड्डियों में गिनने का यही कारण हो सकता है—The thyroid, cricoid and the greater part of the arytenoids consist of hyaline cartilage, and become more or less ossified as age advances. By the sixty fifth year the cartilages may be completely converted into bone. Grey & Anytown इस तरह शारीर में तस्लासियाँ दो प्रकार की होती हैं एक वह जो स्वभाव से ही उचित आयु में पूर्ण अस्थिय बन जाती है और दसरी वह जो स्वभाव से ही प्रायः तस्लासवाद्य में रहती है। तरण—बलय या गोल आकार की। यहाँ पर हड्डियों के जो पाँच प्रकार किये गये हैं, उनमें शारीर की समस्त हड्डियाँ आ जाती हैं। खचक प्रकार केवल दाँतों के लिए परिमित है। तरण प्रकार अस्थिहृदि की इष्टि में किया गया है। दोष जो तीन प्रकार रहे हैं, उनमें आकार की इष्टि से शारीर की समस्त अस्थियाँ आ जाती हैं। क्यालासियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई चौड़ाई काफी होती है, मोटाई बहुत कम होती है और जो चपटी रहती है। नलकासियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई काफी होती

है, चौड़ाई और मोटाई प्रायः घारावर होती है और जो नलिका के आकार की गोल होती है। इन दो विमानों में जो अस्थियाँ नहीं आतीं वे सब बलय-विमान में आती हैं। पाश्चात्य शारीर में आकार के अनुसार अस्थियों के पार प्रकार किये जाते हैं—१) चपटी (Flat) २) लम्बी (Long) ३) छोटी (Short), और अविपर्याप्त (Irregular)। आयुर्वेद में आकार के अनुसार केवल तीन प्रकार होते हैं, जिनमें से अग्नी और लम्बी हड्डियाँ कपाल और नलक हड्डियों के साथ मिलती हैं। दोष केवल बलय प्रकार रहता है अर्थात् इस प्रकार में पाश्चात्य के विषम और छोटा ये दो प्रकार आ जाते हैं। इसलिए बलय प्रकार में Short and irregular bones का समावेश करना चाहिए। छोटी हड्डियों में हाथ पैर की कूर्चासियाँ (Carpal and Tarsal bones) और विप्रमासियों में पीठ के मोहरे आ जाते हैं। बलय में, अतः, इनका समावेश करना उचित है। भावप्रकाश में इनका समावेश किया गया है—गायों पाश्वदों पर दधोन्तरपालुपु। पाठमेदवलयानि त्वयु। आगे बलयासियों का जा सूत्र है, उसमें पाणियादपार्श्वात्प्रादोरो त्वयु वलयानि इति पाठमेद मिलता है। यह पाठमेद समीक्षित है। इसमें पाणियाद की कूर्चासियाँ अभिप्रेत हैं। हाराणसमत यही पाठ है। कुछ टोग इस पाठमेद को सर्व चीन नहीं समझते—पाणियादपार्श्वात्प्रादोरो त्वयु वलयानि इति पाठमेद विद्योग्यात्। (निर्णयसागर सुधुतसहिता पादिष्पर्याँ भोज का वचन नलकासियों के निर्देश के लिए है) दापादात्प्रादोरो त्वयु मरियपथो। बाङ्गदात्प्रादेः जानीयादपालानि तु॥ (सुशुत्तीका में इह इण्ड से उभोजवचन)। इस वचन में कुछ का समावेश नलकासि में किया है, इसलिए पाणियादपार्श्वात्प्रादोरो त्वयु वलयानि यह। समीक्षित नहीं मालूम होता है। हाथ और पैर की जो धृष्टाई अस्थियाँ (Carpal and tarsal) होती हैं, उन कोई विचारी मनुष्य नलकासियों में नहीं रिक्ती। इस समावेश गोल अस्थियों में ही हो सकता है। इसमें उपर्युक्त भोजवचन का अर्थ निश्च प्रकार का होता है हाथ पैर की धृष्टुलियों में (Phalanges) उनके तल (शलाकाएँ Metacarpals and meta tarsals) प्रके (मणिवन्ध) में, दोनों बाहु और जड़ा में नलकासि अस्थियाँ जाना चाहिए। इस प्रकार अथ बनने से उपर्युक्त पाठमेद का तथा भोजवचन का उचित मतलब निकल है। नलक—लम्बी और भीतर से नलीदार। इस प्रक की अस्थियाँ शालाजों में मिलती हैं। इसके दो भाग हो हैं—प्रात (Epiphysis) और शारीर (Diaphysis)। शार बेलनाकार (Cylindrical) होकर उसके सभ्य में ए नाली होती है, जिनमें मर्ग (Marrow) होती है। ए नाली के आस पास का भाग सुधुर रहता है। इसमें मर्ग रहता है। सब से ऊपर कठिन भाग रहता है। जो भाग शारीर की लेपेजा कुछ मोटे होते हैं क्योंकि ये दूसरे अस्थियों से समित होते हैं तथा इनके ऊपर चायु और विशियों की कण्ठरापूर्ण लागी रहती हैं।

सगड़न की इष्टि से इन पाँच प्रकार के तीन भेद हों-

हैं । अतः उनका संगठन नीचे दिया जाता है । ग्रेटिं का संगठन—अस्थियाँ दो प्रकार के पदार्थों से बनी हैं—१ सेन्ड्रिय, और २ निरिन्द्रिय या खनिज । ये दोनों पदार्थ अयस्संघात (Reinforced concrete) की तरह आपस में मिले रहते हैं । खनिज पदार्थों से अस्थियों में दृढ़ता आती है और सेन्ड्रिय पदार्थों से उनमें लचक आती है । अस्थि को भट्टी में जलाने से उसके सेन्ड्रिय पदार्थ जल जायेंगे और वह स्पंज के समान जालीदार दिखाई देगी । इस जाली के तार खनिज पदार्थ से बनते हैं । अतः उसका लचकीलापन नष्ट होकर वह सुरभुरी (भंगुर, Frangible) बन जाती है और दबाने पर उसका चूरा बन जाता है । तोल में ये खनिज पदार्थ $\frac{1}{3}$ होते हैं । इन खनिज पदार्थों में कैलसिअम फोस्फेट सब से अधिक (११ प्रतिशत) होता है । इसके सिवाय कैलसिअम कार्बोनेट (११ प्रतिशत), कैलसियम छोराहड, मग्नेशियम फोस्फेट, और सोडियम कूराहड (खाने का नमक) ये लवण भी होते हैं । यदि अस्थि को जलमिश नमक के, गंभक के या शोरे के तेजाव में कुछ देर रखता जाय तो खनिज-पदार्थ घुल जायेंगे और केवल सेन्ड्रिय पदार्थ बचे रहेंगे । खनिज-पदार्थ-विरहित अस्थि तान्त्रव धातु (Fibrous tissue) और कोशाओं से बनती है । यह बहुत मुलायम हो जाती है । इसको मोड़ने की कोशिश की जाय तो वह मुड़ सकती है तथा लम्बी हो तो उसमें गाँठ भी लगाई जा सकती है । जब स्वाद पेय द्रव्यों में चूने की कमी होती है या उसके साम्यीकरण के लिए आवश्यक जीवद्रव्य 'डी' (Vitamin D) की कमी होती है, तब हड्डी के सेन्ड्रिय भाग में चूने का संचय ठीक तौर से नहीं होता और हड्डी में दृढ़ता कम होती है, जिससे वह टेढ़ी हो जाती है । इस अवस्था को अस्थिफङ्क या बक्रता (Rickets) कहते हैं और यह अवस्था बच्चों में पाई जाती है (१० अध्याय के २२वें श्लोक के वक्तव्य में 'फङ्क' देखो) । अस्थि की मृदम रचना—अस्थि नालियों के एक पूल (वन्डल) की तरह होती है । ये नालियाँ हावर्सिअन नालियाँ (Haversian canals) कहलाती हैं । इनमें रक्तवाहिनियाँ और नाडियाँ (Nerves) होती हैं । इन नालियों के चारों ओर सूत्रों के कई घेरे होते हैं । इन घेरों के बीच में अस्थि की खास कोशाएँ होती हैं । इनकी शाक्ल मकड़ी जैसी होती है । कोशाओं के घरों से बहुत सी सूक्ष्म नालियाँ (Canaliculi) निकली रहती हैं, जो आस पास की नालियों से मली रहती हैं । इन नालियों में रक्त का पोपक भाग बहता है और कोशाओं और सूत्रों का पोपण करता है । कोशाओं और सूत्रों के बीच में चूने के लवण संचित होते हैं । कास्थि या तरुणास्थि की सूक्ष्म रचना—तरुणास्थि दो प्रकार की होती है—सूक्ष्मय और सूत्र-विहीन । सूक्ष्मय में उसकी खास कोशाओं के अतिरिक्त सूत्र होते हैं । सूत्र के रंग के अनुसार इसके दो भेद किये गये हैं—पीत सूत्रमय और श्वेत सूत्रमय । पीत सूत्रमय तरुणास्थि में लचकीलापन अधिक होता है । विशुद्ध तरुणास्थि (अस्थिभवन होने से पूर्व) केवल सेन्ड्रिय द्रव्यों से बनी रहती है । बहुत सी अस्थियों की जगह पहले तरुणास्थियाँ होती हैं । धीरे धीरे इनमें अस्थिविकासकेन्द्र (Centres of

ossification) उत्पन्न होकर उनके चारों ओर अस्थि बनने का कार्य प्रारंभ होता है, जिससे चूने के तथा अन्य लवण उनमें इकट्ठे होने लगते हैं और कास्थि की कोशाओं की जगह अस्थि की कोशाएँ बनने लगती हैं । प्रत्येक अस्थि में कई केन्द्र प्रायः हुआ करते हैं । लम्बी अस्थियों में सब से पहले गांवों में अस्थि बनना प्रारंभ होता है । किसी में एक, किसी में अनेक केन्द्र होते हैं । अस्थिविकासकेन्द्र नियत समय पर उदय हुआ करते हैं और तरुणास्थियों से अस्थियों की पूर्णता होने की आयु भी निश्चित रहती है । दौर्तों की रचना और संगठन—प्रत्येक दाँत के तीन विभाग, होते हैं । (१) दंताश या शिखर—यह वह भाग है जो श्वेत और चमकदार होता है तथा दन्तमांस से ऊपर निकला रहता है । इसी चमक (रचकता—चमक—चण्डासु यत्र च रुचकतां गताः । शिशुपालवध १३-५३) के कारण संस्कृत में दाँत रचक कहलाते हैं । दाँतों का यही भाग हमेशा देखने में आता है । (२) दंतशीवा—शिखर से नीचे जो किंचित् संकुचित् भाग रहता है, उसको दंतशीवा कहते हैं । (३) दंतमूल—शीवा के नीचे जबड़े के गढ़े (दंत उल्काल) में गढ़ा हुआ जो भाग होता है, वह दन्तमूल कहलाता है । कुछ दाँतों में एक, कुछ दाँतों में दो और कुछ दाँतों में तीन मूल होते हैं । दाँत का अगर अत्यस्त छेद लिया जाय तो उसमें तीन तहे मिलती हैं । सब से बाहर श्वेत और चमकदार तह होती है । यह तदे केवल दंतमांस से ऊपर के हिस्से पर होती है । यह स्तर दंतवल्क या कवच (Enamel) कहलाता है । शरीर के सब पदार्थों में यह कठिनतम (निदान १६-२३) पदार्थ है । इसमें सेन्ड्रिय पदार्थ अत्यल्प मात्रा में होते हैं । कुछ निरिन्द्रिय पदार्थों की राशि ९६% के लगभग होती है । अस्थि में जो लवण होते हैं, वे ही लवण इसमें भी होते हैं, परंतु फर्क इतना ही होता है कि कैलसिअम फोस्फेट की राशि अधिक (८९% के लगभग) होती है । इस कवच के नीचे जो दूसरी चीज होती है, वह दन्ती (Dentine) कहलाती है । यह भी बहुत कठिन होती है, परंतु कवच से नरम रहती है । इसको रासायनिक संगठन अस्थि के संगठन से बहुत कुछ मिलता है । दन्तमूल के सार के ऊपर कवच न होकर उसकी जगह एकांशीय चीज होती है, जो वास्तविक अस्थि पूरे समान होती है । इसको दन्तप्रस्तर (Crusta Pet. rosa or Cement) कहते हैं । सब से भीतर दाँत का खोलाला भाग होता है जिसके भीतर सूक्ष्मतन्तु, रक्तवाहिनियाँ और नाडीसूत्र होते हैं । इसको दन्तमज्जा कहते हैं । रक्तवाहिनियाँ और नाडीसूत्र दन्तमूलात एक छिद्र में से भीतर प्रवेश करते हैं । दाँत और तरुणास्थियाँ अस्थियों के साथ, गिनने की पद्धति कहाँ तक शुक्तियुक्त है?—दाँतों और तरुणास्थियों की सूक्ष्म रचना अस्थियों से विभिन्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । सूक्ष्मरचनाविज्ञान सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के आविष्कार के पश्चात् उत्पन्न हुआ वैद्यक का एक विभाग है । इसके आधार पर अर्धाचीन काल में किये गयीकरण की दृष्टि से प्राचीन काल में मोटी मोटी चातों के आधार पर किये हुए गयीकरण को देखना उचित नहीं है । यदि अर्धाचीन विज्ञानसंस्थान तुष्ट अन्य पहलुओं से प्राचीन वर्णकरण की

ओर देला जाय तो यह वर्गीकरण बैजनिक मालूम होता है। दौतों का विचार हींजिए। यदि रासायनिक संगठन की हींसे से दौत और अस्थि की ओर देला जाय तो, जैसे शारीरित अस्थियाँ कार्य-भिन्नता के कारण विविध आकार की होती हैं, कोई अधिक कठिन होता है, कोई कुछ नरम रहती है, याहर का भाग कठिन होता है, भीतर का भाग मुपरिहोता है परंतु आविर में सब अस्थियाँ ही होती हैं, जैसे ही दौत शरीर के बाहर अनापृष्ठ (Exposed) होने के कारण सभा चवाने के कार्य के होने के कारण क्षवच में अधिक कठिन, सार में अस्थि सम और प्रस्तर में असामिक अस्थि के समान बनाये गये हैं, परंतु उनका रासायनिक संगठन अस्थि के समान ही होता है। अत दौतों को कार्य भिन्नता के कारण उत्तम हुआ अस्थियाँ का ही विशेष स्वरूप मानने में कोई असामाज्य नहीं हो सकता—Enamel is the hardest substance in the body. It is made up of minute prisms of the same salts as those of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is beneath the level of the gum is a layer of true bone called the cement or crusta petrosa. Halliburton's Physiology आगे १०८ अध्याय के २२वें स्त्र के पचास में दम्ताज्जेद का टिप्पणी देते।

अब तरणास्थियों का विचार हींजिए। यदि शरीर-गत स्नानु, सिरा, पेशियाँ हृत्यादि मृदु (बल्ली के समान या स्वय खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को अत्यध या आधार देने की हींसे से अस्थि और तरणास्थि का विचार किया जाय तो ये दानों भी समानरूपेण इन स्तु पदार्थों को आधार देते हैं। अत शरीर के सार (Frown work) में आज भी दानों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिए अस्थियों के साथ ताणास्थियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असामाज्य नहीं है—The skeleton This is the frame work on which soft parts are built. It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissues. Serving a similar supporting function in the body as bone, cartilage is popularly known as gristle. Halliburton's physiology नासा—नासा की तीन दीवालें होती हैं, एक भीतर का पर्दा और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरणास्थियाँ होती हैं। ये तरणास्थियाँ जीवनभर तरण रहती हैं। कर्त—कन का जो बाहा भाग होता है, उसके शाकुली (Nas.) में तथा कुहर (Ethmion) में तथा स्थिरियाँ होती हैं। यह तरणास्थियाँ भी जीवनभर तरण ही रहती हैं। यीवा—यीवा प्रदेश स्थित कठिनावी याने देवाओं और स्वरयन्त्र। देवाओं और उसकी शाखा—प्रशाकार्प (Trachea, Bronchi and bronchies) तथा ब्वरयन्त्र ये अब तरणास्थियों से बने हुए हैं। देवाओं और उसकी शाखा—प्रशाकार्पों की तरणास्थियाँ

इसलेदार होती हैं। इन घासों के सुँह दीछे से सुले रहते हैं। कहीं कहीं ऊपर और नीचे के छुले हुए और जीवा तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब छुरे आपस में तान्त्र धातु के द्वारा बंधे रहते हैं। स्वरयन्त्र की तरणास्थियाँ का विवरण पीछे २१ वें स्त्र के घटक्ष्य में कुछ किया है। देवाओं और कठिनावी की तरणास्थियों में मुख्य में अस्थि—भवत की कुछ प्रशुति होती है। अद्वितोप—अौतों को ढाकने वाली चीज, अस्थांद वर्तम या पलक। पलकों के मध्य में दनुनिर्मित एक हड पट्टी (Tarsus) होती है, जिसके कारण एक में कुछ हटता आ जाती है और उसका आवार स्विर रहता है। ये पट्टीयाँ न अस्थि हैं, न तरणास्थि हैं, परंतु तान्त्र धातु (Fibrous tissue) की बनी हैं। अस्थांदों पर सु—हसके बदले ‘पांडिशादामृडो तु वलयानि’ यह पाठ अधिक अस्था है। पांडिशाद से अंगुलि और तल द्वावकर हाय पैर की बोंब अस्थियाँ लेनी चाहिए, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाली बल्याकार तरणास्थियाँ लेनी चाहिए। शेषांग—शरीर की जो समृद्ध अस्थियाँ हैं, उनमें से जिनका निदेश ऊपर इस स्त्र में नहीं किया गया है ये सब, जैसे—वाहु की, अरकि की, ऊर की, जड़ा की हृत्यादि।

भवन्ति धात्र—

अम्यन्तरगतैः सारैवथा तिष्ठन्ति भूरहाः।

अस्थिसारैस्तथा देवा धियन्ते देहिनां ध्वम् ॥२३॥
तस्माचिरिधिनेषु त्वञ्जासेषु शरीरिणाऽ।

अस्थीनि न विनश्यति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२४॥

मांसान्यन्त्र निश्चानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।

अस्थीन्यालम्बन शत्र्वा न शोयन्ते पतन्ति धा ॥२५॥

(अस्थियों का कार्य—) जसे कि वृक्ष (भवते शारीर के) अन्तर्गत (काहरूप) सार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वसे ही प्राणियों के देह निश्चित से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इस लए प्राणियों की त्वचा मास (तथा शरीर की अन्य अस्थिविवृहित मृदु भृत्यां) देह से नष्ट होने पर भी हृद्यों नष्ट नहीं होतीं, (वर्षोंकि) ये प्राणियों के (शरीरों में) सार हैं ॥२४॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलम्बन करके सिराओं और शायुओं के द्वारा मास अस्थियों में बैठ रहता है (अतपूर वह) न अस्त—प्रस्त द्वारा है न गिरता है ॥२५॥

वक्ष्य—इन इलोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। मारे—हृद्यों की हींसे से काडसारे। अस्थिशार—skeleton या Frame work of bones। तस्माचिरिधिनेषु त्वञ्जार—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य धीमार होने पर उसकी त्वचा, पेशियाँ हृत्यादि अङ्ग और पतले हो जाते हैं, परन्तु हृद्यों और नर्हीं होतीं, जिससे हृणोत्तर अवस्था में अस्थियों का मोटापन तथा शरीर की लागत हृष्ट अवस्था में अवस्था के समान ही रहा करती है। (२) मनुष्य के प्रशाद, जब शरीर रक्तजाता है या जमीन में गाढ़ा जाता है, सब त्वचामोसादि अङ्ग बद्दुत जल्दी गढ़ जाते हैं और उनके गढ़ जाने के प्रशाद बद्दुत काल तक

अध्यायः ५] हुडियों ज्यों की त्यों रह जाती हैं । अत्र—अस्थियों में ।

सिराभिः—इस पद का अर्थ निश्च दो प्रकार से कर सकते हैं । (१) सिरा से रजु या कण्डरा (स्नायु का ही एक विशेष रूप) समझना । इस अर्थ से कभी कभी आयुवेद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—अंतर्देशस्थितो वायुः शोपथित्वाऽस्मवन्धनम् । सिरास्त्वाकुन्द्य तत्रस्यो जनयत्यवाहुकरम् ॥ (सुश्रुत, निदान १) । गृहीत्वार्थं ततोर्वायुः सिराः स्नायु-विशेष च । पक्षमन्यतरं हस्ति सन्धिवस्थान् विमोक्षयन् ॥ (अष्टांग-संग्रह, निदान १५) । (२) किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में स्नायु के गुणों का अन्तर्भाव करना । मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं, उनमें से एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutrient artery) जाती है, तथा एकाध सिरा उसमें से बाहर निकल आती है । इन वाहिनियों का सम्बन्ध पैशीनिवन्धन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्रय नहीं है । शार्झधर में स्पष्ट लिखा है—संधिवन्धनकारिण्यो दोपथातुवहाः सिराः ॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अष्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं । लायुभिः—पेशियों की कण्डराएं, वित्तन तथा बैधन के काम में उपयोगी शणसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in general and ligaments in particular) मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलक्षण है । इससे जैसे पेशियों का बोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी बोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं । अस्थियों के काय—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना । (२) दबाव, चोट इत्यादि से ल्वङ्मासादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना । (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना । (४) मांसपेशियों के निवधन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना ।

अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्ध्यस्तु द्विविधाऽच्छावन्तः, स्थिराद्य ॥२६॥

शाखातु हन्त्योः कठ्यां च चेष्टावन्तस्तु संधयः ।

शेषास्तु सन्धयः सर्वे विश्वाया हि स्थिरा वृष्टे ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ दो प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ दुद्धिमान् शाखा, हन्तु और कटि में चेष्टायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधाः—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं । सन्धि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से सन्धियाँ दो प्रकार की ही हो सकती हैं । चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती है वे चेष्टावन्त या चल कहलाती हैं । जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि । बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है । जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठ-वंश की संधियाँ इत्यादि । कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अक्षक और स्कन्धास्थि तथा अक्षक और बच्चोस्थि इत्यादि । पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल संधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable)

और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) करके दो भेद किये गये हैं । बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है । इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर स्त्रविहीन तस्त्वास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी रहती है और उनके ऊपर एक आटोपिका (Carpula) भी रहती है । कहीं कहीं दोनों सिरों के दर्मियान संधान चक्रिका (Articular disk) भी रहती है । अल्पचल संधियों की अस्थि सिरों के दर्मियान कहीं पर संधान चक्रिकाएं होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहरों की आपस की संधियाँ), और कहीं पर आन्तरास्थिक स्नायु (Intersosseous ligament) होती है । अप्ल या स्थिर संधि—इस प्रकार की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असंभव होती है । इस प्रकार की संधियाँ खोपड़ी में मिलती हैं । यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में विलकुल लज्जी रहती हैं, कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरणास्थि भार कहीं पर तान्त्रव धातु होती है । संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईप्त दोनों प्रकार का होता है । इसलिए स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें विलकुल गति नहीं होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सकती हैं । यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उनसे यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जिनमें बहुचेष्ट होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जिनमें विलकुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा-सी चेष्टा हो सकती (अचल) है । संधियों की चेष्टा—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जाती है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है । अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये दो दो प्रत्यक्ष होते हैं । यदि ये दोनों दोप दूर किये जायें तो अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधिक उपयोगी हो जाती है । शरीर में ऐसा ही किया गया है । अचल संधियों के जोड़ रचनाविशेष से विलकुल बंजोड़ किये गये हैं । आगे ३२८ सूत्र के वक्तव्य में तुष्णसेवनी की टिप्पणी देखो । अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधित होने वाले हड्डियों के सिरे चारों ओर से रजु या पृष्ठवंधनों के द्वारा इस तरह बंधे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधिक दबाव या आधात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी नहीं होती । ये बंधन स्नायु कहलाते हैं । इनका विशेष विवरण आगे ३४८ सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है । जहाँ पर गति अधिक होती है, वहाँ पर धर्पण से बचाने के लिए संधियों में एक श्लेष्मल कला रक्खी रहती है, जिसकी कोशाओं से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है । इस तरल से कला तथा अस्थियों के सिरे सदा तर रहते हैं । यह तरल वही काम देता है, जो घन्त्र में तेल । घन्त्र में तेल देने से रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं धिलते और गति भी अच्छी तरह होती है । वैसे ही इस तरल से संधियों में घिना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों के सिरे नहीं छिसते । जिस कला से यह तरल निकलता है,

ओर देखा जाय तो घट् वर्गीकरण वैश्वानिक मालम होता है। दौंतों का विचार लीजिए। यदि रासायनिक संगठन की इष्ट से दौत और अस्थि की ओर देखा जाय तो, जैसे शारीरिक अस्थियाँ कार्य-भिन्नता के कारण विविध आकार की होती हैं, कोई अधिक कठिन होती है, कोई कुछ नरम रहती है, बाहर का भाग कठिन होता है, भीतर का भाग सुपिर होता है परंतु आपिर में सब अस्थियाँ ही होती हैं; जैसे ही दौत शारीर के बाहर अनावृत (*Exposed*) होने के कारण तथा चयाने के कार्य के होने के कारण दृव में अधिक कठिन, सार में अस्थि सम और प्रस्तर में वास्तविक अस्थि के समान यथाये गये हैं; परंतु उनका रासायनिक संगठन अस्थि के समान ही होता है। अतः दौंतों को कार्य-भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ अस्थियों का ही विशेष स्वरूप मानने में कोई असामजित्य नहीं हो सकता—Enamel is the hardest substance in the body. It is made up of minute prisms of the same salts as those of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is beneath the level of the gum is a layer of true bone, called the cement or crusta petrosa. *Halliburton's Physiology* आगे १०८ अध्याय के ५२वें सूत्र के वक्तव्य में दन्तोंमें दो प्रकार की दिप्पगी देखो।

अब तरणास्थियों का विचार लीजिए। यदि शरीर-गत स्नायु, सिरा, पेशियाँ इत्यादि मृदु (वल्ली के समान जौ स्वयं खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को आप्रय या आधार देने की इष्ट से अस्थि और तरणास्थि का विचार किया जाय तो ये दोनों भी समानरूपेण इन मृदु पदार्थों को आधार देते हैं। अत शरीर के सार (*frame work* में आज भी दोनों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिए अस्थियों के साथ तथा ग्रासियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असामजित्य नहीं है—The skeleton This is the frame work on which soft parts are built. It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissues. Serving a similar supporting function in the body as bone, cartilage is popularly known as *cartilage*. *Halliburton's physiology* नाता—मासा की तीन दीवालें होती हैं, एक भीतर का पर्यावरण और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरणास्थियों होती हैं। ये तरणास्थियों जीवनभर तरण रहती हैं। कठ—कठन का जो बाद भाग होता है, उसके शाकुली (*Hilum*) में तथा कुहर (*Extro-sinistis*) या *mentus* के बाहरी तंत्रों में तरणास्थियों होती हैं। यह तरणास्थियों भी जीवनभर तरण द्वारा रहती है। ग्रीवा—ग्रीवा मनोरंग रिथित कण्ठानाई याने टेट्वा और स्वरयन्त्र। टेट्वा और उसकी शाला-प्रशालादें (*trechiae, Bonchi, Broichella*) तथा स्वरयन्त्र में अङ्ग तरणास्थियों से बने हुए हैं। टेट्वा और उसकी शाला-प्रशालाओं की तरणास्थियों

घुलेदार होती हैं। इन घुटों के युँह पीछे से तुले रहते हैं। घटी वहीं ऊपर और भीते के घुरखे कुछ भूमा तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब घुरखे आपस में तान्त्र घातु के द्वारा धैर्यों से जुड़े रहते हैं। स्वरयन्त्र की तरणास्थियों का विवरण पीछे २१ वें सूत्र के वक्तव्य में कुछ किया है। टेट्वे और कण्ठानाई की तरणास्थियों में बुदारों में अस्थि-भवन की कुछ प्रसृति होती है। अविकोड—बॉलों को दाकने वाली चीज़, अर्थात् वर्म या पलक। पलकों के मध्य में समनुरित पुक दृष्टि पृष्ठी (Tarsus) होती है, जिसके कारण पलक में कुछ इतना आ जाती है और उसका आवार रियर रहता है। ये पर्दियाँ न अस्थि हैं, न तरणास्थि हैं, परन्तु तान्त्र घातु (*T' brous tissus*) की बनी हैं। पासव-एडोर सु—इसके बदले 'पाणिपाद' से लंगुलि और तल छोड़कर हाथ पैर की दो प्रथमास्थियों लेनी चाहिए, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाली बलवाना-कार तरणास्थियों लेनी चाहिए। ऐपायि—शरीर की जो समग्र अस्थियाँ हैं, उनमें से जिनका निकाश ऊपर इस सूत्र में नहीं किया गया है ये सब, जैसे—वाहु की, अरति की, जह की, जहा की इत्यादि।

भूतन्ति चत्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैथा तिष्ठन्ति भूत्वा: ।
अस्थिसारैस्तथा देहा यित्व-ते देहिनां ध्यायम् ॥२३॥
तस्माद्विद्विनष्टु त्वद्वांसेषु शरीरिणाद् ।
अस्थीयनि न विनश्यति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२४॥
मांसान्त्र निगदानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीयन्यालम्बनं कृत्वा न शोयन्ते पतन्ति धा ॥२५॥

(अस्थियों का काय—) जसे कि वृष्ट (अपने शरीर के) अन्तर्गत (काष्ठरूप) सार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वसे ही प्राणियों के देह निश्चिति से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इसलिए प्राणियों की खचा मास (तथा शरीर की अन्य अस्थिविहित मृदु भृत्यें) देह से नष्ट होने पर भी हाँ, युँ नष्ट नहीं होती, (क्वोंकि) ये प्राणियों के (शरीरोंमें) सार हैं ॥२४॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलम्बन करके सिराओं और शायुओं के द्वारा मास अस्थियों में बैध रहता है, (अतएव वह) न अस्त-अस्त होता है, न गिरता है ॥२५॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। सारै—पृष्ठों की इष्ट से काष्ठसारैः। अस्थिसार—*skeleton* या *Frame work of bones*। तस्माद्विनष्टु त्वद्वादिः—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य चीमार होने पर उसकी खचा, पेशियाँ इत्यादि अङ्ग चीण और पतले ही जाते हैं, परन्तु कुछियाँ चीण नहीं होतीं, जिससे रणोचर अवस्था में अस्थियों का सोटापन तथा शरीर की लम्बाई रणापूर्व अवस्था के समान ही रहा करती है। (२) मृदु के पश्चात् जब शरीर रक्षा जाता है या जमीन में गाढ़ा जाता है, तब त्वद्वांसादि अङ्ग थहर जल्दी गड़ जाते हैं और उनके तल जाने के पश्चात् वहूत काल तक

हुड़ियों जौं की त्यों रह जाती हैं । ग्रन्त—अस्थियों में । सिराभिः—इस पद का अर्थ नित्र दो प्रकार से कर सकते हैं । (१) सिरा से रुचु या कण्डरा (स्थायु का ही एक विशेष रूप) समझना । इस अर्थ से कभी कभी आयुर्वद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—जंत्रदेशस्थिति वायुः शोषित्वाऽस्मद्बन्धनम् । सिरात्तमायुन्त्य तत्रस्थो जनयत्ववाकुकम् ॥ (सुश्रुत, निदान १) । गृहीत्वार्थ तनोर्वायुः निःशः लावू-विशेष्य च । पदमन्यतरं हन्ति सन्धिवन्धान् विमोक्षयन् ॥ (धष्टंग-संग्रह, निदान १५) । (२). किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में स्थायु के गुणों का अन्तर्भव करना । मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनी होती हैं, उनमें से एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutritoria artery) जाती है, तथा एकाध दिरा उसमें से चाहर निकल आती है । इन वाहिनियों का सम्बन्ध पेशिनिवन्धन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्रय नहीं है । शार्नधर में स्पष्ट लिखा है—पंथिवन्धनकारिण्यो दोपातुवदः सिराः ॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अट्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं । लासुभिः—येशियों की कण्ठराष्ट्र, वितान तथा वैधन के काम में उपयोगी शणसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in venous & arterial ligaments, in particular) मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलब्ध है । इससे जैसे पेशियों का वोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी वोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं । अस्थियों के कार्य—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना । (२) द्रवाय, चोट इत्यादि से ल्वट्सांसादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना । (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना । (४) मांसपेशियों के निवैधन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना ।

अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्ध्यस्तु द्विविधाश्चप्राचन्तः, स्थिराश्च ॥२६॥

शासासु हन्त्योः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ।

शेषासन सन्धयः सर्वे विहाया हि स्थिरा वृष्टैः ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ द्वे प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ बुद्धिमान् शासा, हन्तु और कटि में चंचायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधा—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं । सन्धि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से सन्धियाँ दो प्रकार की ही हो सकती हैं । चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती हैं वे चेष्टावन्त या चल कहलती हैं । जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि । बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है । जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठवंश की संधियाँ इत्यादि । कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अचक और स्कन्धास्थि तथा अचक और वक्षोस्थि इत्यादि । पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल सांधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable)

और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) कक्षे दो भेद किये गये हैं । बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है । इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर सूत्रविहीन तरणास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी होती है और उनके ऊपर एक आटोपिका (Cupula) भी होती है । कहीं कहीं दोनों सिरों के दर्मियान संधान चक्रिका (Articular disk) भी होती है । अल्पचल संधियों की अस्थि सिरों के दर्मियान कहों पर संधान चक्रिकाएं होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहर्रों की आपस की संधियाँ) और कहीं पर आन्तरास्थिक स्थायु (Interosseous ligament) होती है । अपल वा त्विर संधि—इस प्रकार की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असंभव होती है । इस प्रकार की संधियाँ खोपदी में मिलती हैं । यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में विलकुक झड़ी रहती हैं, कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरणास्थि और कहीं पर तान्त्र धातु होती है । संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईपत्र दोनों प्रकार का होता है । इसलिए स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें विलकुल गति नहीं होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सकती है, ऐसी संधियाँ समाविष्ट होती हैं । यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उनसे यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जिनमें बहुचेष्ट होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जिनमें विलकुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा-सी चेष्टा हो सकती (अचल) है । संधियों की रचना—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जाती है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है । अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये दो दोप उत्पन्न होते हैं । यदि ये दोनों दोप दूर किये जायें तो अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधिक उपयोगी हो जाती है । शरीर में ऐसा ही किया गया है । अचल संधियों के जोड़ रचनाविकेष से विलकुल थोड़ा-दो किये गये हैं । आगे ३२८ सूत्र के वक्तव्य में तुष्णसेवनी की टिप्पणी देखो । अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधित होने वाले हड्डियों के सिरे चारों ओर से रुचु या पृष्ठवंशों के द्वारा इस तरह वर्षे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधिक दबाव या आघात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी नहीं होती । ये वैधन स्नायु कहलाते हैं । इनका विशेष विवरण आगे ३४८ सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है । जहाँ पर गति अधिक होती है, वहाँ पर वर्षण से बचाने के लिए संधियों में एक रखेमल कला रक्षी होती है, जिसकी कोशायों से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है । इस तरल से कला तथा अस्थियों के सिरे सदा तर रहते हैं । यह तरल वही काम देता है, जो यन्त्र में तेल । यन्त्र में तेल देने से रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं घिसते और गति भी अच्छी तरह होती है । वैसे ही इस तरल से संधियों में विना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों के सिरे नहीं बिसते । जिस कला से यह तरल निकलता है,

वह कला संधिरलेपधारा कला (Synovial membrane) और वह तरल संधिरलेपा या लेपक (Synovia) बहलाता है—संधिरस्तु इनेमा सर्वत्रिपतिश्वेषात् सर्वत्रस्त्वयनुग्रह करोति ॥ (सुश्रुत) । पर्वत्स्तोरित्यस्थिरलेपणाद् लेपक इति । (अष्टांग-संग्रह) । तथा चतुर्थ अध्याय में रेसमधारा कला भी देखो । इस रेसमधारा कला में कभी कभी सूजन उत्पन्न होती है, उसको संधिरलेपमधारा या (Synovialis) कहते हैं । इसमें संधियों में सूजन, पीड़ा और गतियों में रुकावट होती है । कभी कभी दयाव के कारण संधिस्तायु जोर से खिंच जाते हैं और कुछ सूत्र भी हट जाते हैं, परंतु पूरी स्तायु कर्मदीन नहों होती । इस अवस्था को मोच आना (Sprain) कहते हैं । इसमें अधिक खिंचों से या पक विशिष्ट दिशा में गति उत्तर से संधि में थोका बहुत दर्द होता है । जब अधिक जोर पड़ने से या छोट लागत से संधिरघन हट जाते हैं, तब संधित अस्थियाँ अपने स्वाभाविक स्थान से हटकर एक दूसरे से बलगा हो जाती हैं । इस अवस्था को संधिमग्न या संधिविलेपण (Dislocation) कहते हैं । निदानस्थान के १९वें अध्याय का वीसरा दृश्य देखो ।

सद्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते; तेपां शाकास्वप्निः; एकोनपयिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्युर्थ्यं उद्यारीतिः ॥ २८ ॥
(संर्ण शरीर की तथा पड़ोंगों की संधिस्तव्या—)
संक्षया (की हृषि) से तो ये दो सी दस हैं । इसमें से शाकार्थों में अदसठ, मध्यशरीर में उनसठ और ग्रीवा से ऊपर तिरासी ॥ २८ ॥

एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां अयस्यायः, द्वायहुच्छे, ते चतुर्दशः; जातुगुलकव्युषेष्वैकैः; एवं सासदैरै-कस्मिन् समिन्न भवन्ति, पतेनेतरसंस्थिय याह च व्याख्यातां ॥ २६ ॥

(शाकार्थों की एक शृणक संधियों—) पौँच की प्रत्येक झुग्लि में तीन तीन, बैंगड़े में दो: (इस प्रकार प्रत्येक पौँच की झुग्लियों में) ये चौदह, जातु, गुलक, बंदण में पक पक, इस प्रकार एक दोग में संग्रह संधियों होती हैं । इससे दूसरी दोग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है ॥ २६ ॥

प्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विशतिः पृष्ठंशे, तापन्त एव पात्रयोः, उत्स्ययो ॥ ३० ॥

(मध्यशरीर की संधियों—) भोगिष्ठकों में तीन, षट्कर्णा में चौदस, उत्तरी ही पाँचों में और बहु में आठ ॥ ३० ॥

तापन्त एव ग्रीवायां, चयः करणे, नाडीपुर्व हृदयग्नोमनिवदास्त्वयादाश, दन्तपतिमाणा दन्त-मूलेषु, एकः काकलके नासायां च, द्वौ घर्त्म-मण्डलज्ञी नेत्रायां, गणेशकर्णश्चेष्वैकैः, द्वौ हनुसन्धी, द्रावुपरिषद्भ्रयोः शाहूयोथ, पञ्च दिराकपालेषु, एको मूर्च्छ ॥ ३१ ॥

१ नाडीपुर्व कुम्भनदनिवदातु, वर १०४, प्रय. कण्ठामाणा, हृदयग्नोमनिवदागु नाडीवदाश, २ नासायां पञ्च, ही द्वौ दूसी नेत्रोपेषु, ही वर्तमानमध्यत्रो नेत्रायां,

(ग्रीवा के ऊपर की संधिस्तव्या—) ग्रीवा में उत्तरी ही (आठ), कण्ठ में तीन, हृदयग्नोमनिवद नाडी में अठाह; दाँतों की जड़ों में दाँतों के बराबर (वर्तीस), काकलक और नासा में एक एक, नेत्रायित घर्त्म-मण्डल में दो, गण्ड, कर्ण और शाहू इनमें (प्रत्येक तरफ) एक एक, दो हनु संधियों, भौंहों और शाहू के ऊपर दो, दिराकपालों में पौँच, मूर्चों में पक ॥ ३१ ॥

बच्यत्य—तत्त्व एव—उत्तर में वितरी हैं, उत्तरी । नाडीपुर्व इत्यादि—यहाँ पर 'कुम्भनदनिवदातु' पेसा भी पाठ है । इसका भरतव्य हठना ही है कि यहाँ पर नाडी से कण्ठनाडी (Trachea) अभिप्रेत है । हाराणवद् इसके बदले निम्न पाठ देते हैं—कुम्भनदनिवदाया कण्ठसाक्षात् नाक्षत्रा विशित । अठाह या वीस संध्या कण्ठनाडीयत द्वाहों की अर्थात् उनके आपस के जोड़ों की है । दन्तमूले-पुर्व हाँ पर दन्तमूल और उत्पातुल इनके जोड़ों की संख्या अभिप्रेत है । बाकीक—द्वायण के अनुसार 'कामलक गत्तार्ति', विष्टेति लोके । चरक और चक्रपणिदत्त के अनुसार तामूलू—पल्य इनेमा प्रकृतिः वाक्ये व्यवसिष्टे । आठ सज्जनपैच्छोफ करोने गलमुणिकाम् ॥ (चरक, सूत्र १८) कामल वामुलन् । (चक्रपणिदत्त) ।

त पते सन्धयोऽष्टवित्रिः—कोरोल्युलसामुद्र-प्रतरुक्षसेवनीयसुतुण्डमण्डलखण्डाप्तरातः । तेपा-महुलिमण्डिण्यन्धगुलकाजानुकूर्पेषु कोराः सन्धयः, कक्षाच्चवृष्टुष्टुशशेष्वैनपूलखलाः, अंसपीटगुर्दमग्नित-म्बेषु सामुद्रागाः, ग्रीवापृष्ठुर्विशयोः प्रतराः, दिर-कटीकपालेषु तुष्ट्रसेवन्यः, हनोरम्भयतस्तु वायस-तुण्डः, कण्ठहृदयनेत्रङ्गोमनाडापु भण्डलाः, ध्रोष-थृष्टाकेषु शाहूवर्ताः । तेपा नामभिरेवाट्यातः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ३२ ॥

(संधियों की रचना के प्रकार—) ये जोड़ क्षाठ प्रकार के होते हैं—कोर, उत्पातुल, सामुद्र, प्रतर, तुष्ट्रसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शाहूवर्त । इनमें से झुग्लि, कलाई, गुलक, जातु, कूर्प में कोर संधि होते हैं: कक्षा, वेणुण और दाँतों में उत्पातुल, अंसपीट, गुद, भग तथा नितम्ब में सामुद्र, ग्रीवा, पृष्ठवेश में प्रत; निर और कटीक के कण्ठों में तुष्ट्रसेवनी, हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड; कण्ठ-हृदय-नेत्र-हाँगनाडी में मण्डल, ध्रोष-थृष्टाक में शाहूवर्त । इनके नाम से ही प्रायः इनकी आहृति वर्णित होती है ॥ ३२ ॥

बच्यत्य—पौँचे १९वें सूत्र में गति के आधार पर संधियों के दो भाग किये गये थे । इस सूत्र में संधियों की रचना के अनुसार आठ विभाग किये गये हैं । इनमें से मण्डल और शाहूवर्त व्याप्तव में संधि नहीं हैं; से गण्डल और वायसतुण्ड में ज्वरे ज्वाने वाले दोहों पौँच वाले सन्धियों के देख हैं । वे—कियाह या सम्भूत में ज्वरे ज्वाने वाले दोहों पौँच वाले समान विषयों रचना होती है, पर कोरसंधि (Hinge-joint or Ginglymus) बहुलता

* भानुरोद्धरणामन्त्रेषु, ३८१ ॥

है । यहाँ पर कोरसंधि के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से अंगुलिपर्वों की संधियाँ (Interphalangeal joints) और कूपरसंधियाँ ठीक इस प्रकार की हैं । गुलक्संधियाँ (Talocrural or ankle joint) भी इसी स्वरूप की हैं यद्यपि वे ऐसी माल्स नहीं होतीं । कोरसंधियों में गति केवल एक अक्ष पर (Uniaxial) अर्थात् किवाड़ की तरह आगे पीछे होती है । गुलक में दोनों पाश्वों में भी कुछ गति होती है, परंतु वह संधि के कारण न होकर वैधनशिथिलता के कारण होती है । कोरसंधियों में जो मणिवंध संधि है, वह वास्तविक कोर न होकर उसका एक प्रकार मान सकते हैं । इसको खल्कीकर (Condylloid articulation) कहते हैं । इसमें दीर्घ गोलाकार वहिर्भूत भाग (Condyle) का वैसे गढ़दार भाग से सन्धान होता है । इस प्रकार के जोड़ में आकुञ्चन, प्रसारण, आकर्पण (Adduction), अपकर्पण (Abduction) और परिकर्पण (Circumduction) ये गतियाँ होती हैं, परन्तु कोरसंधि के समान अक्षभ्रमण (Axial rotation) नहीं होता । अड्डुलियों में और भी एक प्रकार की सन्धि होती है, जिसमें दीर्घ गोल के बदले उच्चत गोल और नत गोल न्युदुब्ज (Concavo-convex) पृष्ठभाग होते हैं । इसमें भी उपर्युक्त प्रकार की गतियाँ होती हैं । इस सन्धि को परस्पर कोर (Saddle articulation) कहते हैं । इसका उदाहरण अङ्गुष्ठमूलसन्धि (Carpo-metacarpal joint of the thumb) है । उल्खल—इसमें अस्थि का एक सिरा उल्खल के समान। गढ़दार होकर उसमें दूसरी अस्थि का गोल सिरा सन्धित होता है । इसलिए यह सन्धि उल्खलसन्धि (Enarthrosis, ball and socket joint) कहलाती है । इस सन्धि में सब प्रकार की गतियाँ होती हैं । इसके उदाहरण कक्षासन्धि (Shoulder joint) और बड़त्तुन्यसन्धि (Hip-joint) हैं । यहाँ पर दोनों की संधि का जो उदाहरण दिया है, वह इस वर्ग का नहीं; स्थिर सन्धि का है । उसमें जरा सी भी गति नहीं होती । इस प्रकार की सन्धि को दन्तोल्खल (Gomphosis) कहते हैं । सामुद्र—जहाँ पर जुड़ने वाली अस्थियों के दोनों सिरे गढ़दार होने के कारण उनके सन्धान से सम्पुट या छिप्पी के समान आकृति होती है, उस प्रकार की संधि । इसकी रचना ही ऐसी होती है कि उससे जरा सी गति हो सकती है । इस प्रकार की सन्धि अल्पसेष सन्धि (Amphiarthrodia) कहलाती है । यहाँ पर इसके जो उदाहरण दिये हैं, उनमें असंपीठ की सन्धियाँ इस प्रकार की नहीं होतीं । यदि उसके बदले 'वंशीयुद्धभग-नितम्बेषु ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वह ठीक हो जाता है क्योंकि पीठ के गांत्रों की (Bodies of vertebrae) सन्धियाँ इस प्रकार की होती हैं । इसके सिवा दोनों भगास्थियों की सन्धि, गुदास्थि और चिकास्थि की सन्धि, ग्रिक और श्रोणीफलक तथा पृष्ठवंश की सन्धि, इसी स्वरूप की होती हैं । म० म० गणनाथसेनजी अस्कृद्युद्धभग-नितम्बेषु ऐसा पाठ लेते हैं । प्रतर—इस प्रकार की सन्धि में प्रतरण याने फिसलने के समान कुछ गति (Gliding movement) होती है । इस को प्रतर सन्धि (Arthrodia) कहते हैं । यह सन्धि ग्रीवा और पृष्ठ

के मोहरों के प्रवर्धनों (Processes) के बीच में होती है । तुन्नसेवनी—दर्जी की सीवन के समान जो सन्धि होती है, वह तुन्नसेवनी (Suture) कहलाती है । सेवनी कई प्रकार की होती है । एक प्रकार में हड्डियों के किनारे दन्तुर (Sutura Serrata) होते हैं । दूसरे प्रकार में दोनों सीधे मिल जाते (S. harmonia) हैं । तीसरे प्रकार में एक का किनारा दूसरे के ऊपर कुछ चढ़ता (S. equamosa) है । वायस्तुण्ट—काकमुख । हनु का सन्धान संयुक्त प्रकार का है, जिसमें प्रतर और कोर दोनों प्रकार से गति का काम (Ginglymoarthrodial joint) होता है । मण्टलशंखावर्त—ये संधियाँ अस्थियों की नहीं हैं । आधुनिक पाश्वात्य परिभाषा में, अतएव, इनका समावेश सन्धियों में नहीं होता । तेपां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः—इनकी आकृतियों के संवन्ध में प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों के मत निश्च प्रकार के हैं—कोरो नाम गर्तस्तदाकृतयः कोराः; कोरः कलिका, तदाकृतय इत्यन्ये । उल्खलस्तंडुलकण्डोपयोगी, तदाकृतयः सन्धयोऽप्युल्खलाः । समुद्रः सम्पुटस्तदाकृती भवाः सामुद्राः । प्रतरत्यनेनेति प्रतरो भेलकः, तदाकृतयः प्रतराः । मण्टलो मण्टलाकृतिः । (डल्हण) । कोरो नाम कपाटादिनिवन्धनार्थो यन्त्रभेदः 'कव्जा' इत्याख्यायते । उल्खलशब्देनैह मुसलस्यापि परिग्रहः क्रियते; धनुर्धरेति धनुःशब्देन वाणस्यापि परिग्रहवत् । छिन्नानामर्प सेवनं तुन्नसेवनी । शहावर्तः शह्वभ्रमः; सन्धिषु च शव्दानामेषां तत्सत्त्वाद्यथपदेशः, सिंहो माणवक इतिवत् । सम्पुटाकारेण निर्वृत्तः सामुद्रः । चिङ्गा नाम मत्स्याः प्रकर्षेण तरन्त्यनेनेति प्रतरः, स इवास्तिविशेषोऽस्त्वस्यैति व्युत्पत्त्या प्रतरशब्दोऽस्तिस्मृत्याः 'चिङ्गरी' इति प्रसिद्धेषु मत्स्येषु मध्ये वृहच्छरीरस्य शिरःकण्ठकवृद्धतास्तिथ-मतिसन्धी रूढ़ इति गम्यते, प्रतरसंज्ञया विवक्षितानां ग्रीवादिसंधीनां तथात्वात् । अथापि चेत् कैपाक्षित श्रद्धामनुरूप्यमाना मत्स्यस्यात्य शिरो हित्वा ग्रीवादिभागमेव प्रतरशसाधनत्वेनोरीकृत्य प्रतरशब्दवाच्यमभ्युपगच्छेत् तदापि नामुपपत्तिस्तदनूक्तवात् तेपां तेपां संधीनाम् । (हाराणचन्द्र) तत्र कोरा नाम सन्धयो वहुचेष्टाः, उत्तानकोरगर्भेष्वस्थिप्रान्तेषु उत्सेधवत्तामस्थिभागानां संधान-रूपाः । ते चरुविधाः—खल्कोरः, परस्परकोरः, चक्कोरः, संधंशक्कोरश्चेति । उद्धूला नाम सन्धयोऽपि वहुचेष्टाः, उद्धूलवद् गम्भीरप्रायेष्वस्थिभागेषु इतरास्तिमुण्डानां सन्धानरूपाः । तेषु हि स्वेदूखलानाश्रित्य अभिनो विवर्तने तानि तान्यस्त्रीनि, यथा—कक्षावड्ज्ञाणसन्धिषु । दशनोद्धूलालास्तु स्थिराः सन्धयः पृथगेव मन्तव्याः । सामुद्रा नाम समुद्रनिमापकाः श्व सन्धयः अत्पचेष्टाः । ते श्रीणिकांसक्तादिषु इत्याः । प्रावरा नाम प्रतरशशीलैरपचतैः समतलांश्चाभ्यां परस्परसंहितैरस्थिस्पैर्निर्मिताः सन्धयः । तुन्नसेवन्यो नाम परस्परापीडनैर्द्वनुरधारदिभिर्निर्मिताः कपालान्तरालाः संधयः । ते शिरःकपालेषु इत्याः कटिकपालेषु च प्रायौवनात् । वायस्तुण्टाख्यस्तु सन्धिः अधोहनोमुण्डयोः शङ्खास्थिगताभ्यां द्वनुसंधिस्थालकाभ्यां संधानामुखव्यादानादिसम्पादकः । स तु कोरसंधेष्व खल्कोराख्यो भेदो युग्मरूपः, तस्य कोरयाणेनैव व्यहाणा-दिति स्वस्मदृशः । मण्टलशब्दानांः पुनः क्रमात् शासपथकर्णशङ्ख-लीगताल्लणाश्रितसन्धयः, तेपां नेह व्यहाणम् । (म० म० गणनाथसेन, प्रत्यक्षतारीर) । अब नीचे प्राच्य और प्रतीच्य संधि प्रकारों की लनात्मक सारणी दी जाती है—

सन्धियों का घर्गंकरण

प्राच्य	प्राच्य						
चल	<table border="1"> <tr> <td>कोर</td> <td>Pivot Saddle</td> </tr> <tr> <td>वायस्तुण्ड भट्टर</td> <td>Condyle Hinge</td> </tr> <tr> <td>उद्वल</td> <td>Arthrodia</td> </tr> </table>	कोर	Pivot Saddle	वायस्तुण्ड भट्टर	Condyle Hinge	उद्वल	Arthrodia
कोर	Pivot Saddle						
वायस्तुण्ड भट्टर	Condyle Hinge						
उद्वल	Arthrodia						
अचल	<table border="1"> <tr> <td>उवमेवनी</td> <td>Gomphoses</td> </tr> <tr> <td>सामुद्र</td> <td>Sutures</td> </tr> </table>	उवमेवनी	Gomphoses	सामुद्र	Sutures		
उवमेवनी	Gomphoses						
सामुद्र	Sutures						
	Enarthrosis Diarthroses Synarthroses Amphiarthroses						

अस्थनां तु सन्धयो होते केवलाः परिकोतिताः ।

पेशीस्त्रायुसिराणां तु सन्धिमहाया न विद्यते ॥३३॥

ये (अस्थुक) सन्धियों केवल हड्डियों की बर्णन की गई हैं। पेशी, आयु और सिरा इनकी सन्धियों की स्थिता ही नहीं हो सकती है ॥३३॥

बद्धत्व—सू—शरीर में एक प्रकार की दो वस्तुओं के स्थान को संघि कहते हैं । जैसे—अस्थिसंघि, सिरासंघि, पश्चिमिंस्थि इत्यादि । इनमें से अस्थिसंघियों का हान विशेष उपयोगी होने के कारण उन्हीं का विवरण किया गया, शेष संघियों का यहाँ पर केवल निरेश किया है । संघि से शब्द शरीरात् सब वस्तुओं के मिलने के स्थान का शेष होता है तथापि उपर्युक्त कारण से विशेष निरेश न होने पर प्राय अस्थिसंघि को ही संघि Joint या Articulation कहते हैं, पेशी या अन्य भेंगों के संघि को संघि नहीं कहते । केवल —सिर्फ हड्डियों की ही, किंवा स्थलस्थ से । यहाँ पर जो अस्थिसंघिसंख्या बतलाई गई है, वह वास्तविक स्थिता से बहुत अलग है । अस्थियों की गणना के समय जो अधिकता हुई है, उसकी जूति अस्थिसंघि गणना के समय की गई है ऐसा मात्र होता है । यदि अस्थि और अस्थिसंघिसंख्या की अद्वैत-वद्वल की जाय तो वह संख्या आयुनिक गणना के साथ बहुत कुछ मिल जाती है । जैसे, कुल स्थिता के बारे में है, वैसे ही कुछ अस्थियों की संख्या के बारे में सही है । यथा—पाशुगुलियों की, पृष्ठवर्षा की, पार्श्व की संघिसंख्या अस्थियों के लिए अधिक योग्य होती है । आयुनिक गणना के अनुसार शरीरात् कुछ संघियों की संख्या तीन सौ से अधिक है । प्रानीकालीन संघिसंख्या कम होने के अनेक कारण हो सकते हैं । उनमें एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन गणना में अनेक अस्थियों की संघियों एक और स्वनाम मानी जानी थीं । पैरों १२ ये सूत्र में अस्थिसंघात और उनका अस्थियों देखो ।

अथ इमेहे प्रथाद् स्नायुओं का बर्णन वरते हैं—

नय आयुशातानि । तामां शायातु पट्टशतानि, द्वे दाते ग्रिशश्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रमद्वर्द्धं सप्ततिः ॥३४॥

(स्नायुशक्त्या—) स्नायुं नौ भी है । इनमें से शायातों में एक सौ, मप्पशाति में हाँ सौ सीमा, और ग्रीवा में उपर सच्छ ॥३४॥

एकैकस्यां तु पादाहुल्यां पैदू निचिताः, ताविस्त्, तावत्य एव तलहृद्यगुल्सेषु, तावत्य पर जहायां, दश जायुनि, चर्थाराशत्रौ, दश वह्णे, शतमध्यर्धमेयकस्मिन् सवित्त भवन्ति, पतेनेतरसंविध यथा च व्याख्यातो ॥३५॥

(शायायत स्नायु—) पैर की एक एक आगुलि में क्ष स्नायुं एकी रहती है (इस प्रकार पैचं आगुलियों में) वे तीस होती हैं । पादनल, कूचं और गुलक (इन तीनों शायातों) में उतनी ही, जहाँ में उतनी ही, जातु में इस, उह में चालीस, वह्णे में दस, इस प्रकार एक टींग में १२० स्नायुं होती है । इससे दूसरी टांग और दोनों वाहुओं (की कुल तथा पृथक् पृथक् स्नायुओं की संख्या) का विवरण हो जाता है ॥३५॥

पष्टिः कठ्यां, पृष्ठेऽशोतिः, पार्थ्योः पष्टिः, उरसि विशान् ॥३६॥

(मध्य शरीर की स्नायु—) कटि में साठ, पीढ़ि में बासी, पाश्चों में साठ, घाती में तीस ॥३६॥

पट्टशिरदूषा-त्रया, मूँग्म चतुर्थिशत्; एवं नय ज्ञायुशातानि व्याख्यातानि (भ्रन्ति) ॥३७॥

(ऊर्ध्वजुगत स्नायु—) ग्रीवामें छतोत्त, सिरमें चौतीस, इस प्रकार स्नायुओं के नीं शत बर्णन किये गये हैं ॥३७॥

भ्रवन्ति घात्र—

ज्ञायुश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वं नियोग मे ।

प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथक्यद्य शुपिरास्तथा ॥३८॥

प्रतानवत्यः शायातु सर्वसन्धिषु चायथ ।

वृत्तास्तु फण्डराः सर्वं विश्वायाः कुशलतैरिद ॥३९॥

आमपकाशयानेत्पु यस्ती च शुर्पायाः खलु ।

पाश्चैरसि तथा पृथक्यात्य शिरस्तथा ॥४०॥

(आयुओं के प्रकार और उनके रूपान—) स स्नायुं पैर प्रकार की होती है, उन्हें सुझसे सुनो प्रतानवती, पृष्ठ, पृथुल और सुपिर ॥४०॥ प्रतानक ज्ञायुं शायातों में तथा सब संघियों में होती है । ये (ज्ञायुविभाग में) उद्दिसानों के गोल स्नायुं पृथक् समशता आहुए, (वे भी शायातों और संघियों होनी हैं ॥४०॥ आमाशय, शायाशय तथा वस्ति में सुपिर ज्ञायुं होती है । पार्श्व, घाती तथा पीढ़ि और सिर पृथुल स्नायुं होती है ॥४०॥

वस्तव्य—ज्ञायु—इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भ कुप्त मतभेद प्रचलित है । पैर गोपात शायी जौही आद से देखी (Mysore) समस्ते हैं । भारती भाषा में भी ज्ञायु शब्द देखी के लिए ही प्रयुक्त होता है । पैरु इसका वास्तविक अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है । स्नायु वा व्यवप निः प्रकार से देखी में वर्णित है—विश्वस्त्रभुविरपेन्तः इन्द्रूदृष्ट इन्द्रुनाम् द्वाराहृष्टः (व्राण) । (मुधन, शूद्र ३१) । ज्ञायुरिति इन्द्राः प्रशान्तिरितः, देव नृ० नदेन॑ (दहूण, मुधन, शूद्र ३१) । भीवन के द्रव्यों में स्नायु वा उपर्य है—लोपेन् युक्ते वृष्टय वृष्टेनाम् ॥३१॥

१ वृद्ध २ अस्तव्य

कल्प वा । शणजक्षीमस्त्राभ्यां लायवा वालैन वा पुनः ॥ (सुश्रुत, सूत्र २५) । इथेत रक्तं यथार्हं स्फ्ट्योपहृतेन लायुमस्त्रालानामन्य-तमेन सीचेत् । (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३९) । लायु का कार्य—मांसान्त्र निवद्धानि सिरभिः लायुभिस्तथा । आगे ४२र्वाँ श्लोक देखो । लायवो द्वन्धनं प्रोक्ता देहे मांसान्त्रिमेदसाम् । (शार्ङ्गधर) । इससे यह स्पष्ट है कि स्नायु शरीरगत श्रेत सूत्रमय मजबूत उपथातु है, जो संघी और मांस (पेशी Muscle) द्वंधन के काम में भाती है और आकार के अनुसार उसको भिन्न भिन्न नाम दिये जाते हैं । प्रत्यक्ष शारीर में उसका जो वर्णन दिया है, वह यथार्थ है—लायवो नाम सांद्रमस्त्रणशयगुद्धसमाकाराः संधिवर्धनार्थाः प्रायेण । लायुशब्दक्षेप द्व्योरर्थवेद्यश्चेत् प्रयुक्तः—स्नायुसंहितिपु (Ligaments) स्नायुन्त्यक्षिपु (Fibrous tissue) । तत्र प्रथमः अतिथिसंधिवर्धनल्पोर्धः; स मुख्यः—प्रतानवतीभिर्विस्त्रित्युक्ताः सन्धयः । इति पूर्वाचार्योक्तेः । अथ द्वितीयः लायुन्त्यक्षिपोर्धः; स गीणः । तेन लायुशब्दः फनित् शशस्त्रवद् दृढुप्रसूद्धम-स्त्राण्यभित्तचे । तथाहि वलायु कण्ठरातु पार्श्वेष्टर्पृश्यन्तेतु शामशयपकाशयवस्त्रभागेषु च दृश्यते यः लायुशब्दः प्रयुक्तः पूर्वः, सोइत्विन्नेवार्थे । इसमें सन्देह नहीं है कि आयुवेद में पेशी (Muscle) के अर्थ में लायु शब्द प्रयुक्त होता है । (१) इसका एक कारण है वास्तविक पेशी को लायु समझना । इसका उदाहरण सुपिर स्नायु का है । सुपिर स्नायु वास्तव में गोलाकार पेशियाँ (Sphincters and valvular bands of muscle) हैं । इनका स्वरूप स्नायु के साथ कुछ मिलता है । इसलिए ये पेशियाँ स्नायु भानी गई हैं । (२) शरीर की पेशियों का अन्तिम भाग स्नायु सूत्रों (Fibrous structures) से बनता है । स्नायुसूत्र जब गोल रस्ती के रूप में होते हैं, तब कण्ठरा (Tendons) कहलाते हैं । जब रस्ती के आकार के न होकर अधिक फैले हुए एक पतली तह बनाते हैं, तब पृथुल स्नायु (Aponeurosis) कहलाते हैं । ये स्नायुसूत्र पेशीसूत्रों से अर्धित मिले रहते हैं । आकुंचन और प्रसारण का गुण स्नायुसूत्रों में न होकर पेशीसूत्रों में होता है । परन्तु इन दोनों का अल्पन्तर घनिष्ठ संर्वंद भानी के कारण आयुवेद में संकोच-प्रसार का कार्य पेशीगत स्नायु-विभाग का ही भानी गया है । परन्तु इसका उल्लेख कहीं भी स्वतन्त्रतया न होकर विकृतावस्था में मिलता है । यही कारण है कि शल्यविज्ञान में पेशी या मांसगत शल्य के लक्षणों में संकोच का उल्लेख न होकर स्नायुगत शल्य के लक्षणों में उसका उल्लेख मिलता है—आचेपः स्नायुजालस्य संरम्भः स्तन्म वैदना । लायुगे । (अष्टांगहृदय) । लायुगे लायुजालोत्पयं संरम्भेष्मा रुक्च (सुश्रुत, सूत्र २६) । स्नायुविद्ध लक्षणों में भी इसी तरह संकोच का उल्लेख है—मोड्जं शरीराववयाद-सादः क्रियास्वशक्तिसुला रुजश्च । तं स्नायुविद्ध मनुजं व्यवसेत् ॥ (सुश्रुत, सूत्र २५) । क्रियास्वशक्तिरिति, क्रियाश्चात्रोत्पेषण-वदेपणप्रसारणाकुंचनलक्षणाः । (डल्हण) । स्नायुवेद और स्नायुशल्य में संकोच और उत्तेजन का जो विशेष उल्लेख क्रिया गया है, उसमें कुछ तथ्य मालूम होता है क्योंकि आयुनिक खोज से यह मालूम होने लगा है कि सांवेद-निक तथा अन्य प्रकार के नाडियों के अग्र पेशीकण्ठरा संयोग में तथा कण्ठरा में होते हैं—The nerve termi-

nations are found in tendon and muscles. The neuro-muscular spindles are principally found in muscles in the neighbourhood of tendons and aponeuroses. Of recent years more and more importance has been attached to the tendon organs. It is considered that tendon organs are concerned in the tendon stretch reflexes. Halliburton's Physiology. वैसे ही अपतानक में जहाँ पेशियों में संकोच होता है, वहाँ पर पेशियों के लिए स्नायुशब्द का प्रयोग किया गया है—अग्निहोत्रफल्जरहृद्धोगलासंश्रितः । स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽक्षिपति वे त् । यदाऽस्याम्बन्तरायाम् बुरते मारतो वली । वायर युप्रनानस्थो वायायामं करोति च ॥ (सुश्रुत, निदान १) । (३) स्नायु पेशियों का ही एक भाग होने के कारण 'नामेवदेशी नामयहणम्' इस न्याय से भी कहीं कहीं पेशियों के लिए स्नायु शब्द प्रयुक्त होता है—गृहीत्वार्थं तनोर्वायुः सिराः स्नायुविशेषं च । पक्षमन्तरम् हन्ति संधिवंधान् विमोक्षयन् ॥ (अष्टांगहृदय) । इस तरह यद्यपि कहीं कहीं स्नायु शब्द पेशी या मांस (Muscle) के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथापि उसको वास्तविक अर्थ शणसूत्रसंधिम शरीरगत उपथातु है (Fibrous tissue) और मांस से स्नायु हमेशा पृथक् भाना जाता है—मांसानि अत्र निवद्धानि स्नायुभिः । तद्भासांसिरालाव्यस्थिसंधिकोष्ठ-ममर्णयी व्रणवस्तुनि । (सुश्रुत) । तद्वर्त्पं लायुवसावशेषपलिन्न तिर्मासमध्यस्थिति गोः शा लध्वा परितोपमेति न तु तत्स्य चुधा-शान्तये । (नीतिशतक) । अब यहाँ पर स्नायु के जो चार प्रकार वर्तलाये गये हैं उनके आयुनिक पर्याय—(१) प्रतानवती स्नायु—संधिवंधन Ligament; (२) वृत्तस्नायु—कण्ठरा, Tendon; (३) दृष्टिस्नायु—गोल या सच्छिद् पेशियाँ Sphincter muscle or valvular bands of muscles; (४) पृथुलस्नायु—चपटा स्नायु Flattened or ribbon shaped tendons or Aponeuroses: इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्नायु-वर्णन के प्रारंभ में जो इनकी संख्या वर्तलाई है उसमें संधिवंधन (Ligament) और पेशियों के वंधं (Tendo and aponeuroses) अधिक संख्या में तथा कुछ पेशियों भी शामिल हैं ।

नैयथा फलकास्तीर्णी वन्धनैर्वहुभिर्युता ।
भारक्षमा भवेदप्सु नयुका सुसमाहिता ॥ ४१ ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् याचन्तः सन्धयः स्मृताः ।
स्नायुभिर्वहुभिर्वद्धास्तेन भारसहा नराः ॥ ४२ ॥

(स्नायुओं का कार्य—) जिस प्रकार वहुत से वंधनों से युक्त, मनुष्य (वर्द्ध) के द्वारा भली भाँति जोही हुई फलकों (तरत्तों) की नौका पानी में भार को उठाने में समर्थ होती है ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार इस शरीर में जितनी संधियाँ हैं वे वहुत सी स्नायुओं द्वारा वंधी हुई हैं, जिससे मनुष्य (शरीररूप स्व) भार को उठाने में समर्थ होते हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—स्नायु—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है । उसके सिवा 'नाव में वैठेवाले मनुष्यों से युक्त' किवा 'नाचिक से युक्त' ये भी इसके दो अर्थ हो सकते हैं । स्नायु—यहाँ पर नाव का जो दृष्टान्त दिया है, उससे स्नायु का अर्थ केवल Ligaments होता है ।

न हास्योनि न था पेश्यो न सिरा न च सन्धयः ।
व्यापादितास्तथा हनुर्यथा स्नायुः शरीरिणाम् ॥४३॥

(शरीर में स्नायु का महाव—) पीड़ित हुइ स्नायु जैसे

स्नायु विकृत या पीड़ित (Injured or hurt) होने पर मनुष्य को बहुत तरलीक होती है । उतनी तरलीक अविष्य आदि से नहीं होती । मोत्र (Sorein) का उदाहरण लीजिए । बहुत मरल थीमारी है परन्तु सब कुछ बरने पर भी महीनों तक तंग करती है और कभी कभी यहाँ तक देरा जाता है कि एक बार जिम थंग में सख्त मोत्र था जाती है, उस थंग से जिन्दी-भर भार सहन बरने का काम नहीं होता । अपार्ट यह कथन एक मर्यादा तक सत्य है । इसलिए 'व्यापादित' का अर्थ 'पूर्णतया नष्ट न करने के' 'कुछ पीड़ित' (Injured or hurt) पेसा करना चाहिए, और 'हन' का अर्थ 'मार डालना' ऐसा न करके 'विकृत या बड़चन पैदा करना' (Obstruct, Hinder) ऐसा करना चाहिए ।

यः स्नायुः प्रविज्ञानाति वाद्याध्याम्यन्तरास्तथा ।

स गृहं शाल्यमाहर्तुं देहान्वयोति देहिनाम् ॥ ४४ ॥

(स्नायुविज्ञान का महाव—) जो वाद्य और आम्यन्तर (उत्तान और गंभीर) स्नायुओं को भर्ती भाँति जानता है, वह बहुत दूर तक अन्दर गये हुए शाल्य को मनुष्यों के शरीर से निकालने में समर्थ होता है ॥ ४४ ॥

अब इसके बाद पेशियों का विवरण करते हैं—

पञ्च देशीशतानि भवन्ति । तासां चत्वारि शतानि शाल्यासु, कोले पटपथिः, श्रीवां प्रत्युर्ध्वं चतुर्त्यशतः ॥४५॥

(पेशियों की संख्या—) पाँच सौ पेशियाँ (शरीर में होती) हैं । इनमें से शाल्याओं में जिहासठ, गर्दन के ऊपर चौंतीस॥४५॥

वक्तव्य—यहाँ पर पेशियों की जो कुल संख्या बताई है वह आधुनिक संख्या के साथ बहुत कुछ मिलती है, परन्तु मर्यादों की संख्या में बहुत फर्क होता है । प्रत्येक अंग और प्रत्येकों की पेशियों की गुलाना करने में कोई स्वारासर नहीं है इसलिए पड़ों की पेशियों की संख्या की गुलानामक सारणी नीचे दी जाती है ।

पेशीसंख्यात्तलाना

अंग का नाम	प्राचीन संख्या	लर्वाचीन संख्या
शाल्यपं	१०० × ४ = ४००	१९ × ४ = ७६
पठ	६६	२१५
श्रीवा और निर	३४	१८८
	४००	५११

एकैकस्यां तु पादाहुल्यां तिष्ठस्तिस्तस्ता:
पञ्चदशा, दश प्रपदे, पादोपरि वृच्चसंप्रिविष्टास्ता-
वत्य एव, दश गुलकतलयोः, गुलकजान्यन्तरे विद्या-
ति, पञ्च जानुनि, विशतिल्लरौ, दश वहणे, शत-
मेषमेकस्तिसन् संविधनं भवन्ति, यत्तेनेतरसंविधि
याद्य च व्याल्यातौ ॥ ४६ ॥

(शालागत पेशियाँ—) पाँच की एक एक अंगुलि में तीन तीन, ये पंद्रह, पाँच के अंगभाग में दस, पाँच के ऊपर दूर्घ में स्थित उतनी ही (दस), गुलक और पादतल में दस, एक और जानु के धीय में धीय, जानु में पाँच, लह में धीय, वहाँ में दस, इस प्रकार एक टाँग में सी पेशियाँ होती हैं । इसी से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (की पेशियों) का व्याल्यान हो जाता है (इस प्रकार दोनों शालाओं में चार सी पेशियाँ होती हैं) ॥४६॥

तिष्ठः पायौ, एका मेढे, सेवन्यां व्यापा, द्वे वृपण्योः, स्फित्योः पञ्च पञ्च, द्वे वस्तिशिरसि, पञ्चचोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्वस्तिशिरिषाः पञ्च पञ्च धीयोः, पठ पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसि प्रति-
समन्तात् सत, द्वे हृदयामाशययोः, पठ यद्यत्-
हीहोण्डकेषु ॥ ४७ ॥

(बोधगत मासपेशियाँ—) गुदा में तीन, विशन में एक, सेवनी में दूसरी (अर्थात् एक), वृपणों में दो, शूद्रों में पाँच पाँच, वस्तिशिर में दो, उद्धर में पाँच, नाभि में एक, पृष्ठ के अंगभाग में विश्व (धृत्यक तफ) पाँच पाँच दोर्वं (पेशियाँ), दोनों पायों में छः, छाती में दस, अक्ष और कंधे के आसपास सात, हृदय और आमाशय में दो, यहतु, द्वीपा और उण्डक में छः (इस प्रकार दोष में सहस्र पेशियाँ होती हैं) ॥ ४७ ॥

ग्रीवायां चत्वारि, अष्टौ हृन्योः, एकका काक-
लकगलयोः, द्वे तालुनि, एको जिहायाम्, ओष्ठयोद्दें,
नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, गण्डयोद्यालद्वा, कर्णयोद्दें,
चतुर्चो हलाटे, एका शिरसीति, एवमेतानि पञ्च
पेशीशतानि ॥ ४८ ॥

(ग्रीवा और सिर की पेशियाँ—) ग्रीवा में चार, हजु में आठ, काकलक (कौवा) और गले में एक एक, तालु प्रदेश में दो, जिहा में एक, औरों में दो, नाक में दो, और्लिं में दो, कपोल में चार, कानों में चार, छलाट में चार, शिर में एक, इस प्रकार (सिर और ग्रीवा की पेशियों पौतीस होती हैं तथा संरूप शरीर की) पाँच सौ पेशियाँ हैं ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—तुलना के लिए सिर और ग्रीवा की पेशियों की आधुनिक संख्या यहाँ पर दी जाती है । ग्रीवा—इसमें एक तरफ याईस और दूसरी तरफ वाईस करके कुछ चौचालीस पेशियाँ होती हैं । तुला—इससे यदि चर्वण की पेशियाँ ग्रहण की जाय तो आठ संख्या दीक है । काकलक—गलशुण्डिका (पीछे ११वें सूत्र का वक्तव्य देखो), इसमें एक छोटी-सी पेशी होती है (Musculus pharyngeus), परन्तु आधुनिक गणना में यह दो गिरी जाती है । ग्रीवा—ग्रास-निका (Pharynx) । इसमें पूक वरक पाँच और दूसरी तरफ पाँच करके कुछ दस पेशियाँ होती हैं । तालु—तालु प्रदेश में चार चार करके कुछ आठ पेशियाँ होती हैं । जिहा—संपूर्ण जिहा एक पेशी मारी गई है । इसलिए जिहा में पूक पेशी बताई है । आधुनिक गणना के अनुसार चार चार करके

१ दृष्टिसाल्ये २ जिहायां दो ३ धन्त्रो नेत्रयोः
४ वक्तव्य विश्वः

जिता में कुल आठ पेशियाँ होती हैं । होठ—इनके साथ संवंध रखने वाली पेशियाँ एक तरफ आठ और दूसरे तरफ आठ करके सोलह होती हैं । नासा—इसकी पाँच पाँच करके दस होती हैं । नेत्र—उपर के पलक के साथ आँखों की पेशियों की संख्या सात और सात करके चौदह होती हैं । कान—इसमें वाल्कर्ण की छः और छः करके बारह और मध्यकर्ण की दो दो करके चार, इस तरह कुल सोलह पेशियाँ होती हैं । लगाट और सिर—इनमें कुल छः पेशियाँ होती हैं । इनके सिवाय स्वरयन्त्र में दस पेशियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन गणना में नहीं है ।

भवति चात्र—

सिरास्त्राच्चस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।

पेशीभिः संबृतान्यत्र वलवन्ति भवन्त्यतः ॥ ४६ ॥

(पेशियों का कार्य) शरीरधारियों की सिराएँ, जायुए, अस्थिपर्व और संधियों पेशियों से ढकी रहती हैं; अतएव वे वलवती होती हैं ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—पेशी- पं० गंगाधर शास्त्री जोशी पेशी से आवरण (Coverings like faciae, sheaths and serous membranes) समझते हैं । परन्तु यह मत विलकुल निराधार है । पेशी का स्वरूप आयुर्वेदिक तथा अन्य ग्रंथों में निन्न प्रकार से वर्णित है—ग्रन्तप्रविश्य पिशिं पेशीविभजते तथा । (सुश्रुत, शा० ४) । इसकी टीका में डलहणाचार्य लिखते हैं—जायुः पिशिं मासमनुप्रविश्य पेशीविभजते । पेशी मांसपट्टम् ॥ इसी अध्याय के ४५वं सूत्र की टीका में डलहणाचार्य लिखते हैं—जांसावयवसंधातः परस्परविभक्तः पेशीयुत्त्वतः ॥ इन्दु अष्टांगसंग्रह की टीका में लिखते हैं—पेशः पुनः स्नायाकृतयो मांसमयः ॥ (शा० २) । म० म० गणनाथ सेन ‘स्नायवाकृतयः’ के बदले ‘स्नायवायृतयः’ पाठभेद सूचित (संज्ञापञ्चकविमर्श पृष्ठ ३) करते हैं, परन्तु इस प्रकार पाठ में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है । ‘स्नायवाकृतयः’ का अभिग्राय यह है कि जैसे स्नायुपूँग गोल, चपटी, प्रतानवती इत्यादि विविध आकृति की होती हैं, वैसे ही पेशियाँ भी होती हैं और यह कथन वीक भी है । आगे ५२वाँ सूत्र देखो । दोनों में फर्क केवल यही है कि स्नायु स्नायुमय (Fibrous) और पेशी मांसमय (Fleshy) होती है । चक्रपाणिदत्त चरक की टीका में लिखते हैं—पेशी दीर्घमासपेश्यकारा । (शा० ४) । मांसपेश्यो वाल्य सुरवष्टमय देहिनाम् । (शार्ङ्गधर) । इस श्लोक की टीका में आठमाल लिखते हैं—मांसवयसधावाः परस्पर विभक्ताः पेश इत्युच्यन्ते । याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पेशियों की संख्या पाँच सौ वर्तलाई है । उसकी टीका में विज्ञेन्धर लिखते हैं—पेशः पुनर्मीसलाकारा उर्ध्वपिण्डकायङ्गप्रत्यंग-संधित्यः पद्मशतानि भवन्ति । (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१००) । पेशीस्वरूप के संबंध में विज्ञेन्धर तथा अन्य ग्रंथकारों के वचन इतने स्पष्ट हैं कि भसल (Muscle) के सिवा पेशी का दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता । अर्थात् शरीर में लाल रंग की रेशादार आकृत्यान-प्रसारणशील जो धातु होती है, उसके पिण्ड को पेशी कहते हैं । पेशियों का कार्य—इस श्लोक इत्यादि जो सब गतियाँ तथा क्रियाएँ होती हैं, मांस द्वारा

में जो ‘संबृतानि’ द्वावृहै तथा आयांगसंग्रह ‘प्रच्छादितानि’ शब्द (ताभिर्हि सन्ध्यरिथसिरावावानि प्रच्छादितानि । शा० ८) जाता है, उसको देखकर पं० गंगाधर शास्त्री जोशी संवरण और प्रच्छादन पेशियों का कार्य समझते हैं—पेशीना कार्याणि—‘प्रच्छादकत्वं, संवरकत्वं, आवरकत्वं च ।’ परन्तु यह अर्थ गलत है । संबृतादि शब्द (५२वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो) अस्थादि अंगों के साथ पेशियों का संवंध प्रदर्शित करते हैं; अर्थात् इनका अभिग्राय यह है कि अस्थादि अंग चारों और से पेशियों द्वारा विरुद्ध हुए हैं । पेशियों का कार्य वल और आधार देने का है । इसका स्पष्ट उल्लेख उपर्युक्त शार्ङ्गधर के श्लोकार्थ में तथा यहाँ पर भी वलवन्ती शब्द से किया गया है । शार्ङ्गधर की गृहार्थीपिका में वैद्य काशीराम लिखते हैं—अथ सांसपेश्यः । पद्मशतानि भवन्ती-त्युक्त तेषां प्रथोजनमातः—मांसपेश्यः वलाय भवन्ति तथा दैहिनाम-वष्टमाय । पेशियों का यह कार्य तदन्तर्भूत एक विशेष गुण के ऊपर निर्भर होता है । पेशियों के तन्तुओं का यह विशेष गुण है कि वे सिकुड़कर मोटे और छोटे हो सकते हैं तथा अपनी पूर्वदशा को प्राप्त कर लेते हैं । इस गुण को संकोचनशीलता (Contractility) कहते हैं । नाहियों के द्वारा प्राप्त उत्तेजन (Stimulus) से पेशियों में संकोचन उत्पन्न होता है । अस्थिसन्ध्यादि अंगों में जितनी स्वाभाविक शक्ति होती है, उससे कई गुना अधिक शक्ति पेशियों के कारण आ जाती है । प्रो० रामसूर्ति या सेन्डो के शक्ति के सेल जिन्होंने देखे हैं, उनके लिए इसके संवंध में अधिक विवरण करने की आवश्यकता नहीं है । संकोच से जैसी शक्ति उत्पन्न होती है, जैसी विविध प्रकार तीकी गतियाँ भी उत्पन्न होती हैं । संकोचन का गुण आयुर्वेद में पेशी तन्तुओं के बदले स्नायुतन्तुओं का माना गया है—प्रसारण-कुञ्जनयोरक्षानां कण्टरा माताः । (शार्ङ्गधर) । पीछे ४०वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो । वास्तव में यह कल्पना असत्य है, परन्तु व्यवहार में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । पेशियों के संबंध में कुछ अधिक विवरण—मांस शरीर में प्रायः हर जगह रहता है । शरीरभार का करीब आधा अंश मांस का होता है । जो मांस त्वचा, अस्थि और संधियों से लगा हुआ रहता है वह छोटे छोटे पृथक् पृथक् समूहों में विभक्त रहता है । ये समूह पेशियाँ कहलाती हैं । ये पेशियाँ आपस में सौन्दर्धिक तंतु द्वारा जुड़ी रहती हैं, परन्तु यह जोड़ इतना ढीला होता है कि पेशियों के संकोच-प्रसार में कोई स्कावट नहीं होती । जो मांस आशयों, झोतों (जैसे हृदय, आमाशय, आन्त्र इत्यादि) में होता है वह पेशियों में विभक्त नहीं होता, परन्तु पतली पतली तहों में विभक्त होता है । आयुर्वेद के समान (दो हृदयामाशययोः, पट यक्त्स्ली-होङ्कुडेषु—४७वाँ सूत्र देखो) आधुनिक वैद्यक में इनका समावेश पेशियों (Muscles) में नहीं किया जाता । जैसे, यन्त्र में जितनी गतियाँ होती हैं चक्र के द्वारा होती हैं, वैसे ही शरीर में चलना, फिरना, बोलना, रोना, गाना, हाथ उठाना, आँखों को खोलना, बंद करना, मलमूत्रोत्सर्ग करना, साँस लेना, हृदय का स्पन्दन, भोजन का महास्रोत में नीचे सरकना, आँखों की पुतली का छोटा बड़ा होना इत्यादि जो सब गतियाँ तथा क्रियाएँ होती हैं, मांस द्वारा

और उसी के उपलक्ष्य में यह स्रोक हिला गया, इस प्रकार का भूत निश्चिति से देना कठिन है। कम से कम कुछ शारीरशास्त्रज्ञों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह घात निश्चित है। इसी लिपि गद्यादासाचार्य इस स्रोक को नहीं परते हैं और भोज का चचन आशार के लिए देते हैं—गणी तु असु उन्नवरीयको न पठवि, जिन्हुंने 'प्रवेलान प्रवेशी-यतानि' दस्तव तुंसमिति पर पठिला पुस्तमेव प्रवेशीयतानि स्तीर्णा तु विस्मितानि प्रदद्यानीति व्याख्याति। अर्थात् च भोजवास्य इष्टानीकरेति। तथा च भोजवास्य—'प्रवेशीयतानीतै सोवर्ज्य विद्धि भूमिप। अनश्च विक्षे हीयन्ते स्तीर्णा शेषसि कुञ्जयो॥'

(इल्लिङ्टोना)

मर्मस्तिराथमनोस्त्रोतसामन्यत्र प्रथिभागः ॥५४॥

मर्म, सिरा, घमनी और स्रोतसों का विभाग अन्यत्र (किया गया है) ॥५५॥

वक्तव्य—अन्यत्र—मर्मों का पापु अध्याय में, सिराओं का सप्तम में, और घमनी तथा स्रोतसों का नौवें अध्याय में वर्णन किया गया है।

शंखनाम्यकुत्तिर्योनिस्त्रव्यावर्ता सा प्रकीर्तिता ।

तस्यास्तुतीये त्वावर्ते गर्भशश्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः ।

तत्संस्थानां तथारुपां गर्भशश्यां विदुरुद्धाः ॥ ५६ ॥

(योनि और गर्भशश्या का स्वरूप—) योनि शहू-नामि की आकृति की होती है। वह तीन आवर्तयुक्त वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशश्या प्रतिष्ठित है॥११॥ रोहु मधुरी का मुख जिस स्वरूप का होता है, बुद्धिमान् वैद्य उसी के स्वरूप की ओर आकृति की गर्भशश्या को समझते हैं॥ ५६॥

वक्तव्य—उड़नाभाकृति—शहू की जामि याने मध्यभाग जैसे बीच में सोटा और चौड़ा और दोनों तरफ तङ्ग होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी। पोनि—योनिमार्ग (Vaginal canal)—It is constricted at its commencement, dilated in the middle, and narrowed near its uterine extremity Grey's Anatomy आवर्ता सा प्रकीर्तिः—योनि की रचना में तीन निश्चित आवर्त नहीं दिखाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक त्वचा पर आवर्त के समान कई गोल श्रेष्ठ (Ridges or Rugs) दिखाई देते हैं। तीव्रीये आवर्त—अन्त में। गर्भशश्या—जिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह स्थान अर्थात् गर्भशश्य के भीतर का अवकाश (Uterine cavity); सन्दर्भ के अनुसार गर्भशश्या से गर्भशश्य (Uterus, womb का भी शब्द होता है, परन्तु यहाँ पर उसके भीतर का अवकाश समाना चाहिए। तत्संस्थानाम् अल्लुतामन्वंदाय विषाम्। (इल्लिङ्टन)। यहाँ पर गर्भ रहता है, यह स्थान विक्रोणाकृति होता है जिसका पक्का कोन गर्भशश्य अन्तर्मुख पर और दो कोन दो योनियादिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तग और पीछे चौड़ा होता है। गर्भशश्य का संप्रिण अर्थात्—गर्भशश्य यह अद्वैत, जिसमें गर्भ रहा करता है। यह अध्य थोनियुदा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। इसके दोनों तरफ दो अन्धन होते हैं, जो प्रदवन्धन (Broad-ligaments) कहलाते हैं। इनमें

दोनों ओर दो यीजप्रथियाँ रहती हैं, जिनमें यीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पृथक्यन्त उपर के किनारे में स्थित यीजवाहिनियों द्वारा (Ute no tub.) गर्भशश्य में आता है। गर्भशश्य का आकार अपेसुख तुड़ तुवीकूल के समान परन्तु चपटा (Pyriform in shape) होता है। अग्राता (जिसमें गर्भशश्या न हुई हो) सी में गर्भशश्य की लम्बाई ३ इंच, चौड़ाई २ इंच और मोटाई १ इंच होती है और उसका तोल दोई से साड़े तीन लोल होता है। प्रजाता सी में ये सब एरिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं। वर्णन के लिए गर्भशश्य के तीन भाग किये जाते हैं। (१) गर्भशयुत (Ov. uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है। इसके थीच में जो छिप होता है, वह बाया गर्भच्छद (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक स्वाव बाहर आता है और शुक्राण भीतर प्रवेश करता है। संखे में यह गर्भशश्य का महाद्वार है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विष्ट रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का इ वा स्रोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुक्राणुओं को भीतर जाने में कठिनाई नहीं होती। उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संकुचित हो जाता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सकते, अतएव गर्भशश्या भी नहीं होती। कुछ स्थियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् मणस्यसु की उपति से सदा के लिए अवयन संकुचित (सूचीमुख, अणुमुख Pishole os) रहता है—गर्भशश्या लिया रीचादात्रुओंनी प्रदृशयत। महाद्वाराशुद्धार्ता कुर्याद् चूच्युती तु सा ॥ (धरक, चिकित्सा ३०)। ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आतंक साव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रस्तूद्ध, Dysmenorrhoea) और प्रायः ऐसी स्थियों में गर्भशश्या भी नहीं होती। महाद्वार संकोच के साथ प्रायः ग्रीव-सरणी (Cervical canal) का भी संकोच रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। (२) यीज (Cervix)—गर्भशश्य मुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में पक्का तरफ कुछ कम चौड़े बेलन के समान होता है। इसके भीतर का मार्ग ग्रीवास्तरणी कहलाता है और आकार में शक्तकर्म्म के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। ग्रीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निकला हुआ रहता है, जो योनि में अड्डू देकर सर्वत्र किया जा सकता है या योनिवीशयनन् (प्रथमभाग पृष्ठ ४० देखें) योनि में प्रविष्ट करने से प्रलय किया जा सकता है। शरीर (Body of the uterus)—यह यह भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। इसका आकार विक्रोणाकृति चप्पा होता है और भीतर का अवकाश भी यैसा ही होता है। इसलिए इसका वर्णन 'तत्संस्थाना तथास्थानं विषाम्।' इसका ऊपर का भाग गर्भतुम्बी (Fundus uteri) कहलाता है और उसी में अपरा लगी रहती है। योगियुदा में गर्भशश्य सीपा स्वाव न होकर मूत्राशय की ओर आगे उत्तु उका रहता है। यह शुक्राव ग्रीवा और शरीर के स्परोग पर होता है। अवस्थावस्था में भी मलाशय और मूत्राशय की रित्ता और पूर्णता के अपर इस दृष्टाव में पक्क पड़ता है। जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब

गर्भाशय अधिक छुक्कर मूत्राशय के ऊपर रहता है। जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का छुकाव नष्ट होकर वह सीधा खड़ा होता है और कभी कभी पीछे त्रिक की ओर उक्ता है। इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ वंधनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है। इनमें एक आगे, एक पीछे, दो त्रिकवंधित, दो पार्श्विक और दो गोल होते हैं। जब ये वंधन कमज़ोर होकर ढीले और लग्ने हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है। इस विकृति को योनिस्थानापघृत्ति या गर्भाशयस्थानापघृत्ति (Uterine dislocation) कहते हैं—योनि: स्थानापघृत्ता हि शत्र्यभूता मता खियाः । (चरक, चिकित्सा ३०) ।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने तउदर-गुहा में होता है। धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है। मासिक धर्म के समय वह कुछ बड़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है। गर्भधारण होने के बाद उसका आकार बहुत बड़ा होता है और आठवें महीने में कौदी-प्रदेश तक पहुँच जाता है। प्रसुती के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववर्त हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अवकाश कुछ बढ़ा हुआ रहता है। घुद्धावस्था में गर्भाशय सिकुड़ कर बहुत छोटा और कठिन हो जाता है तथा उसका धान्त्रिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी वाल्यच्छिद्र बंद हो जाता है। आमुशेऽभिमुखः शेते गभा गर्भाशये खियाः ।

स योनि शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥

(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) ची के गर्भाशय में गर्भ संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है। (और) प्रसव के प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥ ५७ ॥

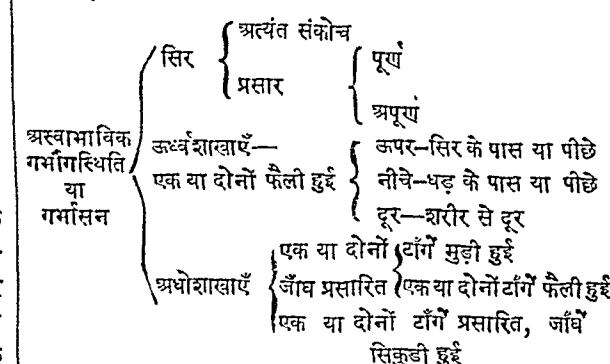
वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है। आमुशः— सुझा हुआ। गर्भाशय में गर्भीयों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को बक्ष पर सुझा रहता है; पृष्ठवंश आगे को कुछ सुझता है, जिससे पीठ वहिरोल हो जाता है; दोनों जांघे उदर पर और टांगे जाँघों पर सुझी रहती हैं; मुद्दियाँ दंद रहती हैं; हथेली और अंगुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। संत्रेप में, शरीर की संकोचक (Flexor) पैदियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है। गर्भाशय में गर्भ के धड़ के साथ सिर और शालाखों का जो सम्बन्ध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Altitude) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भांगस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexion) की होती है। चरक में इसलिए लिखा है—गर्भस्तु खलु संकुच्छाङ्गान्यात्तेऽन्तःकुच्छौ । (शरीर ६)। इस तरह कुल अंग संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अपड़े के समान दीर्घ गोल हो जाता है। इसको मुश्गर्भ

(Foothul ovoid) कहते हैं। यद्यपि मासानुमास गर्भाशय की लम्बाई घटती जाती है तथापि गर्भ की मासानुमासिक लम्बाई की घृद्धि गर्भाशय की लम्बाई की घृद्धि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने अंगों को संकुचित करके रहना एक आवश्यक घटना होती है। इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकृत्ति आवश्यक होता है। नीचे भुग्गर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुमासिक घृद्धि (इच्छों में) दी जाती है—

मासानुमासिक घृद्धि की सारणी

मास	गर्भाशय की लम्बाई	मुश्गर्भ की लम्बाई	गर्भ की लम्बाई
४	४	—	६-५
५	५-४	—	१०
६	६-६	—	१२
७	७-८	७-८	१४
८	८-७	८-७	१६-१७
९	९-३	९-२	१८
१०	१०	९-७	२०

इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता। परंतु जब वह हाथ, पैर और सिर सिकुड़ लेता है तब उसकी लम्बाई (चोटी से चूतव तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है। अर्थात् गर्भाशय में आराम से रहने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुड़ने से होती है। इस अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—



अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूढ़ता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपल्यमार्ग में अटक जाता है। (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६१-३६२ देखो)। अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातुः पृष्ठभिमुखः। (चरक, शारीर ६)। इससे गर्भ का माता शके शीर के साथ संवेद बताया गया है। इसके गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं। आधुनिक परिभासा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार अवस्थितियाँ होती हैं। स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदेशक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निभन प्रकार से वर्णित होती है। प्रथम—इसमें पीठ सामने और वाहूँ ओर। द्वितीय—पीठ सामने और दाढ़ी ओर। तृतीय—पीठ पीछे और

और उसी के उपलक्ष्य में यह स्टोक हिया गया, इस प्रकार का भ्रम निश्चिति से देना कठिन है। कम से कम कुछ शारीर-शास्त्रज्ञों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह बात निश्चित है। इसी लिए यद्यदासाचार्य इस स्टोक को नहीं पढ़ते हैं और भोज का घचन आधार के लिए देते हैं—गंधी तु मम् वन्नांतरीयको न पठति, विन्तु 'एवमेनानि पञ्चेशी शतानि' इत्यन् प्राप्तामिति परं पठिला पुमामेव पञ्चेशीशतानि खीणा तु दिसुमिलानि पञ्चशतानीति व्याख्याति । अतर्थे च भोजवाक्य इष्टान्तीयोरेति । तथा च भोजनात्म—'पञ्चेशीशतान्येव सोकर्ज्य विद्यि भूमिप । अतश्च विज्ञो हीनते खीणा देहसि मुखयो ॥'

(दद्वन्दीका)

मर्मसिराधमतोस्तोतसामन्यत्र प्रथिभागः ॥५४॥

मर्म, सिरा, घमनी और खोतसों का विभाग अन्यत्र (विया गया है) ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—अन्यत्र—मर्मों का एष अध्याय में, सिराओं का सर्वम में, और घमनी तथा खोतसों का नीवेऽप्याध्याय में वर्णन किया गया है।

शंखनाभ्याहृतियोनिस्त्रयाधर्ता सा प्रकोतिता ।

तस्यास्तृतीये त्वावर्तें गर्भशश्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥

यथा रोहितमतस्यस्य मुख भयति रूपतः ।

तस्यांश्यानां तथारुपां गर्भशश्यां विदुर्वृद्धाः ॥ ५६ ॥

(योनि और गर्भशश्या का स्वरूप) यानि शङ्खनाभिनी की आकृति की होती है। वह तीन आवर्ततुक वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशश्या प्रतिष्ठित है ॥ ५६ ॥ रोहु मध्यी का मुख जिस स्वरूप का होता है, उद्भिमान् वैष्ण उसी के स्वरूप की और आकृति की गर्भशश्या को समझने हैं ॥ ५६ ॥

वक्तव्य—शङ्खनाभ्याहृति—शङ्ख की नाभि याने मध्यभाग लैसे वीच में भोटा और चौड़ा और दोनों तरफ तह होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी । योनि—योनिमार्ग (Vaginal canal)—It is constricted at its commencement, dilated in the middle, and narrowed near its uterine extremity Grey's Anatomy आवर्त सा प्रकीर्तिः—योनि की रचना में तीन निश्चित आवर्त नहीं दिलाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक त्वचा पर आवर्त के समान कई गोल झोल (Ridges or Rugae) दिलाई देते हैं। तीनों आवर्त—अन्त में । गर्भशश्या—तिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह ह्यान अर्थात् गर्भशश्य के भीतर का अवकाश (Uterine cavity), सन्दर्भ के अनुसार गर्भशश्या से गर्भशश्य (Uterus, womb) का भी बोध होता है, परन्तु यहाँ पर उम्में भीतर का अवकाश समस्ताना चाहिए । तस्यांश्यानाम् भल्मुखामात्मदायुषं प्रितान् । (अल्पण)। जहाँ पर गर्भ होता है, वह स्थान विकोणाकृति होता है जिसका एक कोन गर्भशश्य अन्तर्मुख पर और दो कोन हो वीजवाहिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तग और पोंगे चौड़ा होता है । गर्भशश्य का संक्षिप्त वर्णन—गर्भशश्य वह अङ्ग है, जिसमें गर्भ रहा करता है । यह अङ्ग आणिगुहा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है । इसके दोनों तरफ दो अन्यन होते हैं, जो पचवन्धन (Broad-ligaments) कहलाते हैं । इनमें

दोनों ओर दो वीजप्रायियाँ होती हैं, जिनमें वीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पहचनन के ऊर के किनारे में स्थित वीजवाहिनियाँ द्वारा (Ute ins tubes) गर्भशश्य में आता है । गर्भशश्य का आकार लघोमुख युक्त गर्भांगल के समान पतल्य चपटा (Pyriform in shape) होता है । अज्ञाता (जिसमें गर्भशश्य न हुई हो) स्त्री ने गर्भशश्य की लम्बाई ३ इन्च, चौड़ाई २ इन्च और भोटा १ इन्च होती है और उसका तोल ढाई से साड़े तीन तोल होता है । प्रजाता स्त्री में ये सब परिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं । वर्णन के लिए गर्भशश्य के तीन भाग विद्ये जाते हैं । (१) गर्भशश्यमुख (Os uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है । इसके वीच में जो छिद्र होता है, वह वायर गर्भचिह्न (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक खाव बाहर आता है और शुकाणु भीतर प्रवेश करता है । संकेत में यह गर्भशश्य का महाद्वार है । यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विषूत रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का ६ वा स्टोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुकाणुओं को भीतर आने में कठिनाई नहीं होती । उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संकुचित हो जाता है, जिससे शुकाणु भीतर नहीं जा सकते, अतपूर्व गर्भशरणा भी नहीं होती । कुछ दियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् वगन्वनु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित (सूचीमुख, अण्मुख Pinhole os) रहता है—गर्भशश्या रिया रीच्यादायुणोंनी प्रदूषयन् । मातृदोषादल्लुद्धारा कुर्याद् दद्वायुषी तु सा ॥ (चरक, चिकित्सा ३०) । ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आतंक खाव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रज्वृद्ध, Dysmenorrhoea) और प्राय ऐसी दियों में गर्भशरणा भी नहीं होती । महाद्वार संकेत के साथ प्राय ग्रीवासरणी (Cervical canal) का भी संकेत रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए । (२) योनि (Cervix)—गर्भशश्य मुख और शारीर के मध्य का यह भाग आकार में एक तरफ कुछ बम चौड़े बेलन के समान होता है । इसके भीतर वा मार्ग ग्रीवासरणी का वहलाता है और आकार में शकरकन्द के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है । ग्रीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निकला हुआ रहता है, जो योनि में अङ्गुलि देकर सर्व दिया जा सकता है या योनिवीदण्यन्त्र (प्रथमायग पृष्ठ ४० देखो) योनि में प्रविष्ट करने से प्रत्युष दिया जा सकता है । अंगी (Body of the uterus)—यह वह भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है । इसका आकार त्रिकोणाकृति चपटा होता है और भीतर का अवकाश भी यैसा हो होता है । इसलिए इसका वर्णन 'तस्यांश्याना त्रिकोणात्' किया गया है । इसका अंग का भाग गर्भगुमी (Fundos uteri) कहलाता है और उसी में अंगरा लगी रहती है । भ्रोणिगुहा में गर्भशश्य सीधा खड़ा न होकर मूत्राशय की ओर आगे उत्तर शुका रहता है । यदि शुकाप ग्रीवा और शारीर के स्थोग पर होता है । स्वशायक्या म भी मलाशय और मूत्राशय की रिक्तता और पूर्णता के ऊपर ह्य दृश्य में एक पड़ता है । जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब

गर्भाशय अधिक उक्कर मूत्राशय के ऊपर रहता है। जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का दुकाव नष्ट होकर वह सीधा घड़ा होता है और कभी कभी पीछे विक की ओर उकता है। इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ वंदनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है। इनमें एक आगे, एक पीछे, दो विकसनवंधित, दो पार्थिक और दो गोल होते हैं। जब ये वंदन कमजोर होकर ठीक और लम्बे हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है। इस विकृति को योनिस्थानापरान्ति या गर्भाशयस्थानापघृति (Uterine displacements) कहते हैं—योनि: स्थानापरान्ता हि श्लेष्मना गता चियाः । (चरक, चिकित्सा ३०) ।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने उदर-गुहा में होता है। धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है। मासिक धर्म के समय वह कुछ बढ़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है। गर्भधारण होने के बाद उसका आकार बहुत बढ़ा होता है और आठवें महीने में कोइ-प्रदेश तक पहुँच जाता है। प्रसूती के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववत् हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अवकाश कुछ बढ़ा हुआ रहता है। छूटावस्था में गर्भाशय सिकुद कर बहुत छोटा और कर्फिन हो जाता है तथा उसका बान्तरिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी वायोच्चिद्र वंद हो जाता है। आसुग्रोड्मिसुवृः शेते गभा गर्भाशये चियाः ।

उ योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥

(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) स्त्री के गर्भाशय में अर्म संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है। (और) प्रसव के प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है। आसुग्रः—मुड़ा हुआ। गर्भाशय में गर्भोंगों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को बच्चे पर मुड़ा रहता है; पृष्ठवंश आगे को कुछ मुड़ता है, जिससे पीठ विहिंगल हो जाता है; दोनों जांघे उदर पर और दोनों जांघों पर मुड़ी रहती हैं; मुष्टियाँ वंद होती हैं; हयेली और अङ्गुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। संत्रेप में, शरीर की संकोचक (Flexor) पेशियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है। गर्भाशय में गर्भ के धद के साथ सिर और शारीरिकों का जो सम्बन्ध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Altitudo) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भांगस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexio) की होती है। धरक में इसलिए लिखा है—गर्भरु खल संकुचाद्यान्यात्तेऽन्तःकुची । (शारीर ६)। इस तरह कुल धींगा संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल हो जाता है। इसको भुग्नगर्भं

(Foetal ovoid) कहते हैं। यद्यपि मासानुसार गर्भाशय की लम्बाई दृढ़ी जाती है तथापि गर्भ की मासानुसारिक लम्बाई की पृष्ठिं गर्भाशय की लम्बाई की धृढ़ि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने धींगों को संकुचित करके रहना एक आधश्यक घटना होती है। इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकुञ्जन आवश्यक होता है। नीचे भुग्नगर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुसारिक धृढ़ि (हृची में) दी जाती है—

मासानुसारिक धृढ़ि की सारणी

मास	गर्भाशय की लम्बाई	भुग्नगर्भ की लम्बाई	गर्भ की लम्बाई
४	४	—	६-५
५	५-४	—	१०
६	६-६	—	१२
७	७-८	७-६	१४
८	८-७	८-६	१६-१७
९	९-८	९-७	१८
१०	१०	९-७	२०

इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता। परंतु यह वह हाथ, पैर और सिर सिकुद लेता है तब उसकी लम्बाई (चोटी से चूतड़ तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है। अर्थात् गर्भाशय में आराम से रहने का यही पृष्ठ स्वाभाविक मार्ग है। अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुदने से होती है। इस अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—

स्त्री	{ अत्यंत संकोच
प्रसार	{ पूर्ण अपूर्ण
अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति	अधर्वशास्त्रांते— एक या दोनों फैली हुई
या	{ उपर-सिर के पास या पीछे नीचे-पृष्ठ के पास या पीछे
गर्भस्तन	दूर—शरीर से दूर
	एक या दोनों दौर्नैं मुड़ी हुई
अधोशास्त्रांते	जींघ प्रसारित एक या दोनों दौर्नैं फैली हुई
	एक या दोनों दौर्नैं प्रसारित, जींघ सिकुड़ी हुई

अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूड़ता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपत्यसार्ग में अटक जाता है। (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम स्पष्ट पृष्ठ ३६१-३६२ देखो)। अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातृ: पृष्ठभिमुखः। (चरक, शारीर ६)। इससे गर्भ का माता शके रीर के साथ संवंध बताया गया है। इसके गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार अवस्थितियाँ होती हैं। स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदेशक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निम्न प्रकार से वर्णित होती है। प्रथम—इसमें पीठ सामने और बाहू ओर। द्वितीय—पीठ सामने और दाहू ओर। तृतीय—पीठ सामने और दाहू पीछे ओर।

केवल शाखयतन्त्र में सीमित न होकर सर्पण वैज्ञानिक और व्यावसायिक शाखों को व्याप्त करता है। औपचारिक और प्राचीनकालीन ज्ञान के संयोग का तत्त्व व्यावहारिकदृष्टि विशेष महाव का होने के कारण प्रथ के प्रारम्भ में ही उसका विवरण विद्या गया है (सूतस्थान अध्याय ३ के अन्तम छोटे प्रथम खण्ड पृष्ठ १४-१५) उसको दें। अब इसके पश्चात् मृतोद्धारन की पद्धति लिखते हैं—

तस्मात् समस्तगात्रमरिपोषपृष्ठतमदीर्घव्याधिपीडि
तमवर्षशतिक नि. बृष्टान्पुरुषों पुरुषमवगाह-त्यामा-
पगायां निवद्दं पञ्चरस्यं मुङ्गवर्कलु शशणादीनामन्य
तमेनवेष्टिताह प्रत्यहमप्रकाशे देशो काययेत्, सम्य
कप्रकुपित चोद्वृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरयाल-
वेणुवल्कलकृत्यानामन्यतमेन द्वानेः शेनरेवघर्यपंस्त्व-
गादीन् सर्वनिव वाहाम्यतंतरानन्नप्रत्यहमिषेपान्
यथोकाम् लक्षयेद्यक्षुपा ॥ ६१ ॥

(मृतोद्धारन की पद्धति) अत (शरीरगत अङ्ग-प्रत्यक्षों का भव्यचज्ज्ञान प्राप्त करने के लिए) जिसके शरीर में सर्पण अग-प्रत्यग (अविकल) हों, जिसकी मृत्यु विष से न हुई हो, जो (मृत्यु के पूर्व) दीर्घकाल तक व्याधि से पीड़ित न हुआ हो, जिसकी आयु सी वरस की न हो, जिसकी आंते और मल निकाल दिया गया हो, ऐसे (मृत) पुरुष (के शरीर) को (तेजी से) न वहने वाली नदी में धौंधकर, पिजरे में रस्तकर, मूँज, (छुड़ों की) छाल, कुरा, सन इनमें से एक से अंग-प्रत्यक्षों को लपेटकर अप्रकट स्थान में सवारे। फिर सात रोज के बाद भर्ती भौंति सहे हुए उस देह को (नदी के बाहर) निकालकर (और उसके खिंचे को तथा मुजादि के आवरण को हटाकर) खस, बाल, थौंस और छाल की कूँचियों में से एक (की ऊँची) से धौंधे धौंधे घिसते हुए, जैसे कि पहले घण्ठन किये गये हैं वैसे, त्वचादि सब वादा और आम्बन्तर अंग-प्रत्यग विशेषों को लाँचों से देखे ॥ ६१ ॥

तत्त्वज्ञ—समस्तगात्रम्—मनुष्यशरीर में जिनमें अग अवयव होने चाहिए उनमें आंगों से तथा अवयवों से तुक, अर्थात् समस्त शब्द से आंगों की हीनता का जैसे नियेष सूचित किया जाता है, वैसे ही आंगों की अधिकता का भी नियेष सूचित होता है। इसलिए दलहणाचार्य के अर्थ में निष्प्रकार का शोधन करना चाहिए—समस्तगात्रमिति, अङ्गहीने (अज्ञातिक्षेपे वा) अंगमोत्तरवस्त्रदावपत्त्वात्। इस में सनदेह नहीं कि अङ्गाधिकरण की अरेशा अंगहीनता अधिक गिरिती है तथा जन्म के पश्चात् भी उत्पन्न ही सकती है। इसलिए उसका उल्लेख न करके केवल अङ्गहीनता का उल्लेख किया होगा। इन दो अवस्थाओं के विवादज्ञातिक्षेप (सहज दोष Congenital malformations जो पूर्वों की अवस्थाओं में नहीं आते। प्रथम खण्ड पृष्ठ १० देखो) की तीसरी अवस्था होती है उससे विरहित यह भी समस्त का अर्थ होता है। सर्वेष में समस्त मात्र का अर्थ 'जिसके शरीर में न कोई अंग कम हो, न अधिक हो, न विहृत हो, ऐसा'। रविषापदम्—विष से

मृत्यु होने पर जिन आङ्गों पर विष का प्रभाव पड़ता है, वे अंग अस्वाभाविक हो जाते हैं। इसलिए विष से मृत हुआ नहीं होना चाहिए। अदीर्घव्याधिकिन्द्र—दीर्घव्याधि (Chronic disease) से पीड़ित होने पर शरीर के आंग और धातु खराब हो जाते हैं। जैसे, उपर्यन्त में विज्ञ शब्द जाता है, कुछ में त्वचा खराब होती है, किन्तु में नासा तथा अन्य स्थान की हड्डियाँ गलती हैं, विषमध्यर कला अज्ञात में लीदोदर होता है, इत्यादि। अत दीर्घ व्याधियों से मृत मनुष्यों का शरीर देखने से इन आङ्गों का परिचय विहृत होगा। अदीर्घ या नवीन व्याधि (Acute disease) से मृत्यु होने पर रोग की व्यवधि अल्प होने के कारण शरीर में विशेष परिवर्तन नहीं हो सकते। इसलिए अदीर्घव्याधिकिन्द्र का अर्थ 'जो व्याधि से अल्पाल पीड़ित होकर मृत हुआ हो' ऐसा करना चाहिए। अवर्द्धनिमन्—जो बहुत दूरा न हो। मृत्युवस्था में शरीर की धातुओं और अवयवों का काय होता है—सातोरुचं धीय नामधारिद्विवल्कलीयोत्पाद इत्यावस्था। (सुध्रत, सूत १५)। जैसे, 'हड्डियाँ शृङ्खलवस्था में कुछ हल्की, विरल और भर्हुर हो जाती हैं, दौत समर्पण गिर जाते हैं, अधोहनु का धाकाकर बदलता है, खियों में गर्भाशय मिक्रोकार छोटा होता है और उसका नुक्क बन्द हो जाता है, इत्यादि। 'धर्वशनिक' हृष्ट विशेषण का तात्पर्य उपर व्याप्ता गया है और उसके अनुसार इसके लिए उचित पर्याय 'अनतिष्ठू' होता है। परन्तु इस विशेषण में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनके वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान दिया जाय और उसके साथ यह भी मान लिया जाय, और इस प्रकार मानवा अचित भी है कि ये शब्द सहेतुक प्रयुक्त किये गये हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल में यह सहित लिखी गई है उस काल में सौ वर्ष की आंग से मरने वाले लोगों की संख्या बहुत कम न थी, अन्यथा इस शब्दप्रयोग से अतिष्ठूद्वावस्था में गृह मनुष्यों के प्रहृण का नियंत्रण करने का कोई कारण नहीं था। इस संदोधनार्थ प्रहृण करने थोग्य शरीर का सुश्रुतोक वर्णन जाता भी सम्मत होने थोग्य है, परन्तु यदि कोई लेपन आज की परिस्थिति के अनुसार इसी वात को लिये तो उसको 'अवर्द्धशतिक' शब्द प्रयोग करने का स्थाल भल नहीं आयगा क्योंकि आज भारतवर्ष में सौ साल की आयु में मरने वाले लोग अस्तन्त विरहित होते हैं। नि सदाचार पुरोद्धर—(१) धर्व च पुरीर च अन्तपुरीरै, नि सृष्टे अन्तपुरोरै यथ तद्। जिसकी आनन्द और पुरीप दोनों निकाली गई है, ऐसा। हाराणचन्द्र 'अन्तपुरीरै' का अर्थ 'अन्तरा पुरीप मन्तपुरीरै' ऐसा कहते हैं। यह भी अर्थ हो सकता है क्योंकि इसमें मुख्य उद्देश्य मठ की निकाले का है। परन्तु मृत मनुष्य के बेवकु मठ की निकाले वा, सिद्धा अनन्द को काटकर निकालने के, और कोई सरल उद्यात्रा नहीं मात्र होता। इनलिए 'निसृष्टान्तपुरीरै' वा 'जिसकी आंते और तात्त्व उपरीप दोनों ही निकाली गई हैं' ऐसा अर्थ करना अधिक प्रसात है। इसके मिया आनन्द की इत्याहृ माट्टम करने के लिए (पीछे ८ या सुत्र देखो) पृष्ठ यार आन्य को काटकर शरीर से पृष्ठ करके देखन।

है। सिवा शरीर से पृथक् करने के, आन्त्र की लम्बाई मालूम नहीं हो सकती। यदि यह कर्म प्रारंभ में ही किया जाय तो 'एक पंथ दो काज' के तत्वानुसार शरीर से मल भी हट जाता है और लम्बाई नापने के लिए आन्त्र भी मिल जाता है। हसके सिवा आन्त्र तथा तद्रत मल निकालने का और भी एक उपर्युक्त होता है। हसका विवरण हसी वक्तव्य में आगे कोथ की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो। हसलिए यही अर्थ अधिक प्रशस्त है। (२) हसका और भी एक गौण अर्थ हो सकता है। कभी कभी मृत्यु के पूर्व से रोगी का शरीर मलमूत्र से लिप रहता है और कभी कभी मृत्यु के पश्चात् उसके मलद्वार से मल बाहर भाता है। ऐसी अवस्था में शब को सद्वाने से पूर्व उसका शरीर साफ करना आवश्यक है। हसलिए 'जिसके शरीर पर लगा हुआ आन्त्रगत मल साफ किया गया है' ऐसा भी हस पद का अर्थ हो सकता है। पुरुष—हससे पुरुष के मृत शरीर का बोध होता है। पुरुष शरीर ग्रहण का निर्देश सहेतुक तथा निहेतुक दोनों प्रकार का हो सकता है। निहेतुक हसलिए कहा जा सकता है कि यदि कोई विशेष कारण न हो तो पुरुष लेखक (प्राचीनकाल में सब लेखक पुरुष ही थे) खियों के स्वतन्त्र अस्तित्व का स्थाल ही नहीं करते थे और प्रत्येक समय मनुष्य के लिए पुरुष का ही निर्देश (पीछे ९३८ सूत्र के वक्तव्य में 'नव' की टिप्पणी देखो) होता था। सहेतुक हसलिए कि स्त्रीशरीर की अपेक्षा पुरुष-शरीर सुगमता से मिलता होगा। पुरुष की आयु—यह एक बहुत महस्त का प्रश्न है। कुछ आयुर्वेद में मृतशोधन के लिए वाल के या पचीस वर्ष से कम आयु के शरीर प्रयोग में लाये जाते थे—आपातविरुद्धवादिनों (अस्तिवस्त्वपरिगणने) ८५ि सर्व एवैतिथ्यमाहुः। गणनाप्रकारमेदात्। पुरुषवयोग्रहणात्। प्राचो हि यौवनप्रविष्ट्य संचक्षतेऽस्यीनि, प्रौढस्य पञ्चविंशतिवर्ष-देशीयस्य तु प्रतीच्याः। कशेश्वकावयवादीनां पृथक्संख्यानात् रुक्मनुमीयते खलवेत्॥ (प्रत्यक्षशारीर, प्रथम विभाग)। हसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण कहों भी नहीं मिलता। जो अनुमान किया गया है, वह अस्थियों की गणना के ऊपर किया गया है। परंतु हससे भी संशोध्य मृतशरीर की आयु एक निश्चित नहीं की जा सकती। ऐसे, यदि कशेश्वकावयों के अवयवों के आधार पर मृतशरीर की आयु १६-१८ मानी जाय तो शिर के छः कपालों के आधार पर वह ४-६ साल की माननी पड़ेगी और यदि त्रिकंसश्चित्त अस्थि की एक संख्या देखकर मृतशरीर की आयु ३० साल से अधिक माननी पड़ेगी क्योंकि उसके अवयव २५-३० साल की उम्र में एक ही जाते हैं। अतः अस्थिगणना के आधार पर किया हुआ अनुमान कुछ अस्थर सा मालूम होता है। अब हस सूत्र में संशोध्य मृतशरीर का जो वर्णन किया गया है, उसमें भी 'अवर्वशतिकम्' के सिवा उसकी आयु मालूम करने का और कोई साधन नहीं है। हस विशेषण से अतिवृद्ध शरीर का निषेध किया गया है, हसमें कोई संदेह नहीं। यदि हस निषेध के कारण का वारीकी से विचार किया जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि

जिस काल में मृतसंशोधन की प्रथा जारी थी, उस समय में लोग अधिक उत्तर के मृत को संशोधन के लिए परसंद किया करते थे और उसके अतियोग से बचने के लिए यह अवर्वशतिकम् का लाल झंडा (Red signal) दिखाया गया है। हसके साथ पुरुष को जोड़ने पर संशोध्य की आयु का निदर्शक लोलक (Pendulum) पच्चीस साल से कम आयु की अपेक्षा पचास या उससे अधिक साल की ओर छुकता हुआ मालूम पड़ता है। दूसरा भी एक आनुमानिक प्रमाण दिया जा सकता है। अस्थिसंख्या में दाँत हमेशा वक्तीस बताये जाते हैं। हससे कम संख्या कहाँ भी नहीं वराई गई है। दाँतों की [वक्तीस] संख्या पच्चीस साल की उम्र के पश्चात् ही हो सकती है, हससे पहले कदापि नहीं हो सकती। संत्रेप में हस विवरण का तार्तर्पर्य यह है कि मृत-संशोधन के लिए आयुर्वेद के शारीरशास्त्र अल्पायु पुरुष को परसंद नहीं करते थे। अतः अस्थिसंख्याधिक्य का मुख्य कारण अल्पायु मृतसंशोधन न होकर गणनापद्धति भेद ही होता है (पीछे १७३वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अवहन्त्यामापगायाम्—अपां संमूहो आपं तेन गच्छति इति आपगा—स्रोतविनी द्वीपवती ज्वन्ती निन्नगपगा। (अमरकोप)। अर्थात् जिसमें पानी काफी होता है, वही आपगा कहलाती है। अवहन्त्याम्—जिसमें ईपत् प्रवाह ही परंतु प्रवाह की गति तेज न हो। निवद्धम्—प्रवाह से नीचे शब न बहने पावे तथा वह पानी में मम (हुवा) रहे, हसलिए वह वांधकर रखता जाता था। पंजरस्थम्—घ्वियाल, मगर हस्तादि बड़े बड़े जलचरों से रक्षा करने के लिए शब पिंजरे में बंद करके रखता जाता था। शब का पिंजरा ही, वांधकर रखता जाता था। मुजवल्कल इत्यादि—मछली तथा अन्य छीटे छोटे जलचरों द्वारा त्वचा की रक्षा करने के लिए हनके छारा शब पूरा लपेटा जाता था। सप्तरात्रात्—सप्तरात्रादनन्तरमित्यर्थः। कभी कभी कालदर्शक शब्दों की पंचमी के पश्चात् 'अनन्तरम्' या 'परम्' या 'ऊर्ध्वम्' शब्द लुप रहते हैं; जैसे—वहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनस्पदम्। (उत्तररामचरित २)। हसका संवंध नदी में शब रखने के साथ है; नदी से बाहर निकालने के पश्चात् के कर्म के साथ नहीं। संत्रेप में, हससे नदी में प्रेत रखने की अवधि सूचित होती है। अप्रकाश देश—गांव या नगर के पास जब नदी होती है तब ज्ञान करना, वस्त्र धोना, वर्तन माँजना, जानवरों को धोना और पानी धिलाना, किनारे पर ठहलना इत्यादि अनेक कर्मों के लिए वहाँ के निवासी लोग उसका उपयोग करते हैं। हसलिए, प्रेत ऐसे स्थान में रखना चाहिए कि जहाँ पर लोग किसी काम के लिए नहीं जाते हैं और वह उनकी दृष्टि के सामने नहीं आ सकता है। संत्रेप में, जनसमाज से दूर स्थान में या पर्याय से गुप्त स्थान में। अप्रकाश देश का अर्थ अँधेरा स्थान नहीं है। नदी में अँधेरा स्थान कहीं नहीं मिल सकता। हस प्रकार गुप्त स्थान में रखने से दो फायदे होते हैं। गांव वालों का फायदा यह है कि वे उस धीमत्स दृश्य से बच जाते हैं और वैद्य की दृष्टि से फायदा यह है कि प्रेत को शरारती लोगों का उपसर्ग नहीं पूँछता। द्वहणाचार्य अप्रकाश में रखने का उद्देश्य गुप्तादिका निवारण समझते हैं—प्रकाश गुप्तादिभक्षणमयम्। पानी के

भीतर पिंडरे में वक्कलादि से लिए प्रेत के लिए गृह का भय बहुत कम होगा या होगा ही नहीं। इसके सिवा अप्रकाश में रखे हुए प्रेत की ओर उनका आकर्षण नहीं होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि गृह जैसे इष्टलोलुप होता है, वैसा गव्हलोलुप भी होता है। इस सूत्र के तीन विभाग हैं और प्रथेक विभाग में अलग अलग विषय वर्णन किया है। प्रथम विभाग 'समत्त-गात्र' से 'पुरापद' तक है। इसमें सोनोबनायाँ सूतपुराय किम प्रकार का होना आवश्यक है, उसका विचार किया है। इस सूत्र में बताये हुए विचरणों में आज भी कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है, यदि वय की ऊचरमर्यादा के साथ पूर्वमर्यादा भी (जैसे—तातिष्ठृत नातिवाचन) उसमें पृष्ठ शब्दों में समाविष्ट की जाए। दूसरा विभाग 'अब इन्त्यामापायादम्' से 'कोयेत्' तक है। इसमें शोधन के पहले प्रेत को तैयार करने की विधि (Preparation of the dead body) बतलाई है। यह प्राचीन विधि आधुनिक विधि से बिल्कुल भिन्न है। अब दोनों का ही यहाँ पर विचार करना आवश्यक है। तीसरा विभाग 'सम्बूङ्ग्रकृयितम्' से 'लृपेष्वप्यु' तक है। इस विभाग में यह सोनोबन की विधि (Method of dissection) बतलाई है। यह प्राचीन विधि भी आधुनिक विधि से कुछ भिन्न है। भूत ये तैयार करने की प्राचीन पद्धति—सोनोबनायाँ मृत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति को 'जटभ्रजन कोप पद्धति' कह सकते हैं। इस तद्वित का बया प्रयोजन या, इसका निर्णय करना बहुत कठिन काम है, परन्तु उसके संबंध में लो कुछ समझ में आता है, उसका विचार नीचे किया जाता है। प्राचीन काल में भूत का सोनोबन कूची के द्वारा किया जाता था। कूची की रगड़ से यदि शरीर को देखना हो तो शरीर मृदु (Soft) बनता आवश्यक है। इस उद्देश्य की पृति करने के लिए जलमज्जन की विधि का आविष्कार किया गया है। यह आविष्कार कहाँ तक तुष्टिकुप है, इसका विचार करने के पूर्व मृत्यु के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन और उनके कारणों का कुछ विचार करना आवश्यक है। मृत्यु के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन (Cadaveric changes)—मृत्यु के पश्चात् यदि शरीर कुछ काल बसा ही रखा जाय तो उसमें निम्न परिवर्तन होते हैं और वे मृत्यु के नियन्त्रित विधि होते हैं। (१) प्रारोत्तर अस्तसन वैवर्ण्य (Cadaveric lividity)—इसमें शरीर के सब से नीचे के भाग में सरल रक्त फूँक्हा होने से वैवर्ण्य आ जाता है। (२) मरणीकोच (Rigor mortis)—इसमें वैशिष्ट्य जम जाती है, जिससे वे सद्वित नहीं हो सकतीं और शरीर में एक प्रकार की कड़ाई आती है। यह अवस्था मृत्यु के कुछ घंटों के पश्चात् प्रारम्भ होकर एक से दोन दिन तक रह सकती है। अधिक देर तक प्रेत रखने के पश्चात् उसको उठाने समय इस कड़ाई का अनुभव मिलता है। मरणीकोच के संबंध में एक हंसीद का विस्ता बहुत प्रसिद्ध है। यह मृत्यु इसेता विनोदी बत्ते कहर कोणों की हँसाया करता था और यह भी कहे हैं या कि मरणीकोच भी एक बात कोणों की ऐसी ही सेवा करके जिस दुनिया से मिट काऊंगा। क्षोण

उस समय उसके बचन पर विशाय नहीं करते थे और उसकी दिवारी समझते थे। जब वह माने लगा, तब उसने अपने पास बाले मृत्यु की कहा कि मेरी दांगों में बड़ा दंद हो रहा है, इसलिए उनको शीताल के पास लड़ा कर दीविंग। दांगों लड़ी करने के बोझी दौर के पश्चात् वह मृत्यु मर गया। उसको ले जाने की तैयारी फ्रते हाते कई घेरे थीं बोल गये। तैयारी होने के पश्चात् जब उसको उठाकर लोग अरथी पर रखकर बांधने लगे तो तो दांगे उठाने पर मिर और घड़ उपर उठने लगा और सिर को दबाने पर दांगे उपर उठने लगती। कई बार दोनों ओर दबाने पर मुश्किल से लोग उसको अरथी पर बांधने में सफल हुए। उस समय लोगों को हँसी के साथ उसके बचन की भी याद था राई। सर्वे में, मरणोचर संकेत से शरीर में काफी कड़ाई आ जाती है, जिससे पश्चात् शरीर को सीधा करने में कठिनाई होती है। इसलिए मृत्यु होने के कुछ पूर्व हाय-पैर ढंडे होने लगते हैं और मृत्यु के पश्चात् सार्वज्ञ शरीर बढ़ा हो जाता है। यदि शरीर का तापकम ८०° फै. तक हो जाय तो वह चिंडा मृत्यु का नियन्त्रित नियन्त्रक समझना चाहिए। (१) कोष (Putrefaction)—शरीर की मृत्यु का यह एकमात्र नियन्त्रित विष्ट है। यदि इसी की मृत्यु के सबसे में सन्देह हो तो उसका दृश्य या दृश्य कुछ दिनों तक स्थगित करना चाहिए है। वास्तविक मृत्यु होने पर आयु शरीर की स्थिति, मृत्यु का कारण, आंत्रोता, उत्तापा, बायु हृत्यादि के अनुसार मृत्युरिक काल में शरीर में सदृशी की क्रिया यहु होती है। सहने के मुख्य दो कारण होते हैं—(१) शरीरागत और शरीरावाहीवालागत (२) सथा शरीरधनुगत भ्रात्याक्षी द्रव्य (Anteolytic ferments)। शरीरागत जीवाणुओं का तुष्टयस्थान आत्म है। इसमें मछ की उपरियति के कारण अनन्त जीवाणु मरे रहते हैं। ये जीवाणु मृत्यु के पश्चात् मछ से आन्त्र की शीताल में, बहाँ से उड़र युहा में और समस्त शरीर में पैलते हैं। शरीरवाही जीवाणु बातावरण में होते हैं जो चतु त्वचा में से शरीर में प्रवेश करते हैं। ये जीवाणु बातावरी (Acrobo) और बातमी (Anacrabo) दो प्रकार के होते हैं और पाचक द्रव्यों के उत्तराधि करके शरीर का विद्यारण करते हैं शरीरागत जो पाचक द्रव्य होते हैं, वे जीवाणुओं व सहायता के दिना अपना कार्य कर सकते हैं। अर्थात् याँ शरीरागत तथा शरीरवाही जीवाणुओं का संबंध कम क हिंदा यात्रा, तब भी शरीर में विद्यारण हो जाता है। इससे शरीर मृदु हो जाता है। यही कोय है। कोय न शरीर के कई प्रकार की बायु (Gases) उत्पन्न होती हैं जब दोनों कारण उत्तराधि रहते हैं, तब कोय अल्ही होत है। प्रथम कारण उपरियत न होने पर देर में होता। तथा उत्तरी दुर्गम नहीं उत्तराधि रहती। तुम्ही हमा में अनावृत शरीर अविक दात्यकम पर जलदी इधरित होत है। हृदा-बद्र स्थान में आहूत शरीर कम तापकम पर है। मैं कृतित होता है।

कोय के संबंध में इस आधुनिक अवलोकन (Observation) के आधार पर प्राचीन अल्निमस्तनप्रस्ति का सुन

शारीर पर क्या परिणाम होता है, हसका विचार किया जाता है। सुज्ञादि से आसृत रहने के कारण त्वचा असृत रहती है और वायु जीवाणुओं का संबंध कम होता है; आग्ने तथा मल निकाल देने के कारण शारीरगत जीवाणु, जो कोथ में सुख्यतया सहायता करते हैं, प्रायः नष्ट हो जाते हैं; पानी में गहराई पर प्रेत रहने के कारण वायु वायु का तथा जीवाणुओं का संबंध दूटता है और प्रेत न्यून तथा एक में ताप (Low and uniform temperature) पर रहता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि शारीर में कोथ देर में परंतु एकसा (Uniform) प्रारंभ होता है और जीवाणुओं की विषेश उसमें शारीरगत पाचक-द्रव्य अधिक काम करते हैं। संचेप में, स्वाभाविक कोथ में ही कुछ अनुशृण्खल परियंतं छन्त्रिम उपायों के द्वारा उत्पन्न करके मृतशरीर संशोधन के लिए उपयुक्त बनाया जाता था। कुथित शारीर कूँची के द्वारा रगड़ने के लिए मृदु बनता है और रगड़ने पर धीरे धीरे त्वचादि अंग निकल जाते हैं और निकलते समय उनका परीक्षण भी किया जाता है। आधुनिक काल में संशोधन शारीर में जो स्वाभाविक कोथ होता है, उसको रोकने के उपाय काम में लाये जाते हैं। ये उपाय सुख्यतया दें हैं। (१) ओपियां—चन्त्रिम (Formalin) संस्थित इत्यादि कोथप्रतिवंधक ओपियां की सूई मृत शारीर में दी जाती है। (२) शीत—पश्चात् उस शारीर को विशेष पद्धति से बनाये हुए ठंडे कमरे में कुछ रोज तक रखते हैं। ओपियि का परिणाम समस्त शारीर पर होने के पश्चात् उसको संशोधन के काम में ले जाते हैं। हससे प्रायः स्वाभाविक अवस्था में शारीर की सब धातुएँ मिलती हैं। मृतसंशोधन की पद्धति—प्राचीन काल में मृत का संशोधन कूँची के द्वारा किया जाता था। आधुनिक काल में चाकू और चिमटी के द्वारा शारीर का संशोधन होता है तथा शारीर के विविध अंग और प्रत्यंग काट-काटकर अलग किये जाते हैं और उनका संशोधन होता है। हसलिए आधुनिक पद्धति के लिए शब्द विच्छेदन (Dissection) शब्द का प्रयोग होता है। शारीर के प्रत्यंगों को देखने की दृष्टि से जलनिमज्जन और कृच्छर्वर्ण ये दोनों पद्धतियाँ बहुत ही असंस्कृत (Crude) हैं। पेशी, स्नायु इत्यादि की संख्या आधुनिक संख्या के साथ न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें संशोधन की असंस्कृत पद्धति एक कारण है। चन्त्रु—चर्मचंचुओं द्वारा। हस साधन से जो अंगविनिश्चय होता है, उसको स्थूल अंगविनिश्चय या शारीर (Gross anatomy) कहते हैं। हस अध्याय में चर्मचंचुओं द्वारा प्राप्त हुआ याने स्थूल अंगविनिश्चय वर्णन किया है। आधुनिक काल में सूचम दर्शक की सहायता से भी अंगों की रचना का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसको सूचम अंगविनिश्चय (Microscopic anatomy) कहते हैं। सूचमदर्शक यन्त्र न होने के कारण प्राचीन अंगों में स्थूल वर्णन ही मिलता है। कहीं कहीं सूचम वर्णन भी आता है। उसके कारण का विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

श्लोकों चात्र भवतः—

हृश्यते ज्ञानचञ्चुभिस्तपश्चक्षुभिरेच च ॥ ६२ ॥
(सूचमदर्शन में चर्मचंचुओं का वैयर्थ्य—) (इस प्रकार शारीर के स्थूल अंग-प्रत्येकों को चर्मचंचुओं से देखना शक्य है परंतु) शारीरगत अर्थत् सूचम आत्मा को (चर्म) चंचु से देखना शक्य नहीं है। वह आत्मा ज्ञानचंचुओं तथा तपश्चंचुओं द्वारा ही दीख पड़ता है ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—प्रथम अध्याय में संहिताकार वत्तला चुके हैं कि सजीव शारीर में पुरुष होता है, परंतु वह अनुमानग्राह्य (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) होता है। हस श्लोक में उस अनुमानग्राह पुरुष को प्रत्यक्ष करने के दो मार्ग बताये गये हैं। चन्त्रु—चर्म-चंचुपा। देहे—सजीवदेहे। मृत शारीर में आत्मा को देखने का प्रश्न ही नहीं उठता व्यंगिक वह उसमें होता ही नहीं—शरीर हि गते तस्मिन् शून्यागारमवेतनम्। पञ्चमूत्रविशेषत्वात् पञ्चतं गतमुच्यते ॥ (चरक, शा० १)। पिमुः—पुरुष, आत्मा। सुघ्रुत के मतानुसार विमु (सर्वमूर्त्त-संयोगित्व) नहीं होता (प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। सूचमतम् और विमु ये दोनों परस्परविरोधी शब्द हैं। परंतु जीवात्मा में इनके विरोध का परिहार हो जाता है—श्रणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुणायाम्। (कठोपनिषद्)। सूचमतमः—जीवात्मा के सूचमतमत्व की कल्पना श्वेतरोपनिषद् में निम्नप्रकार से वर्णित है—वालाग्रशतभागस्य शतधा कर्षितस्य च। मानो जीवः स विषेयः। जीवात्मा को सूचमतम याने अणुरुप मानने के कारणों का विचार प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र के वक्तव्य में ‘पुरुष का परिमाण’ की टिप्पणी में किया गया है। दृश्यते—प्रकाशित होता है, उपलब्ध होता है (is revealed)। हस् का प्रयोग यहाँ पर ‘क्षयो मन्त्राणां द्रष्टारः’ हस अर्थ से किया गया है। ज्ञानचञ्चु—चर्मचंचु का विरोधी शब्द है। ज्ञानमेव चन्त्रुः, किं वा ज्ञानं चुरुरिव ज्ञानचन्त्रुः। भेदसंहिता में आलोचक पित्त के दो विभाग किये हैं—चन्त्रुवेशेषिक्युं और बुद्धिवैशेषिक आलोचन-पित्त। चन्त्रुवेशेषिक पित्त का नेत्रलुप यन्त्र के साथ संबंध होता है और बुद्धिवैशेषिक का मास्तक के साथ होता है—तत्र चन्त्रुवेशेषिकोऽनाम य आत्ममनसोस्संनिकर्षत्... चन्त्रुा वैशेषिक्यमुत्पादयति; बुद्धिवैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृंगाद-कस्थः सुसूचमानर्थानध्यात्मकतान् गृह्णति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युल्दाहरति, अतीतं स्मरति, प्रत्युल्पतं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, ध्याने प्रत्याहरे योजनाच बुद्धिवैशेषिक्यमुत्पादयति ॥ (शारीर ४)। हसलिए ज्ञानचञ्चु को बुद्धिवैशेषिक आलोचकपित्त का स्वाभाविक फल समझ सकते हैं। अर्थात् वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन हस्त्यादि ज्ञानों के अध्ययन और चिन्तन से प्राप्त हुआ ज्ञान। यही ज्ञान ज्ञानी लोगों में चंचु का काम करता है, हसलिए वे ज्ञान-चञ्चु कहलाते हैं। चर्मचंचु के द्वारा जो चीज दिखाई देती है, उसको देखने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। मूढ़ भी उसको देख सकते हैं, परंतु जो नेत्र प्रत्यक्ष नहीं होता उसको मानस प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। भगवद्वाता में चर्मचंचु और ज्ञानचञ्चु का मिथो भेद विस्तृश्लोक में स्पष्ट किया है—उत्तमसंत-

रियन् वापि मुक्तान् वा शुणानितम् । विमुक्ता नानुपश्यन्ति प्रश्नमिति इन्द्राच्छुरु॥ (गीता १५-१०) । चरक में भी लिखा है कि प्रश्नक्षय अद्वय और अप्रद्वय अनद्वय होता है । अर्थात् जो चक्षु के द्वारा प्राप्त नहीं होता, उसको उपलब्धिक्षय आगम, अनुमानयुक्ति के द्वारा याने ज्ञानचक्षु के द्वारा होती है—प्रश्नव द्वाल्पम् ; अन्तर्मनप्रत्यवासनिति, वदागमानुमान सुकिरितप्रश्नवये ॥ (सूत्र १) । संदेश में ज्ञानचक्षु से सोहशास्यम् में अस्यामशाम रूपी चक्षु और भौतिक शास्त्रों में विज्ञानस्थीर्ण चक्षु । ज्ञानचक्षु के द्वारा दर्शन का प्राचीन उदाहरण रोगोपादक जीवाणु हैं । वे प्राचीन काल में सूधमदर्शक न होने के कारण अदृश्य थे—उन्नोडलव, सीस्यारद्देनः (अर्थात् गद्दिष्य) । कैशाद्यात्तद्वद्याते । (सुध्रत) । परतु उनका अस्तित्व आयुर्वेद में अनेक रोगों के कारणों में माना जाता था (निदानस्थान के ५५५ अस्थाय के छठे तथा ३२-३३३ इलोकों का वक्ष्य वेसो) और उनकी उपलब्धिज्ञानचक्षु से की गई थी—सीस्यात् शुद्धमत्वात् कारणात् कैविदशेना । प्रश्नप्रमाणासनपिण्डया वादेयेवानुदोषेते । (अस्याद्दृश, अर्ट्यगद्दृष्टीका, निदान ४४-५१) । आयुर्विक काल में ज्ञानचक्षु के द्वारा ही प्रथम हृषीक्षण और नेपच्यून नामक प्राणों की उपलब्धिक्षय हुई थी । ऐ प्रह (Planet) शनि से भी बहुत दूर है । इनका दर्शन न अंखों से होता है, न साथारण दूरदर्शक (Telescope) से होता है । इनका दर्शन आयुर्विक काल के उत्तम दूरदर्शक से होता है, परंतु सी वर्षे पीछे के वन्न से नहीं होता था । उस समय भी गणित के अर्थात् ज्ञानचक्षु के द्वारा ज्योतिरी लोगों ने शनि से परे इन दों प्राणों का अस्तित्व और उनका अन्तर नानुप्रश्नव किया था और जैसे प्राचीन काल के जीवाणु आज प्रश्नव हुए; वैसे ही सौ साल से पूर्व अदृश्य हृषीक्षण और नेपच्यून आज प्रश्नव हो गये हैं । तपश्चक्षु—तप योग और समाधि का एक साधन है—नपश्चात्यायेवत्प्रश्निज्ञानिति कियायोग । (योगसूत्र २-१) । समाधिस्वयम् तपोभिरामन । (कुमारसभव) । तपस्या पृक् यज्ञा मारी साधन है, जिसके द्वारा अलौकिक और असाध्य भी साध्य हो जाता है—तपोभिति, प्राप्तवैद्यीष्मानासाध्यं हि तपस्यतः । (मरस्युराण) । तपसी हि हि पर नास्ति तपसा विदै वै गद्यत् । (वहिगुरुण) । इसलिए तपश्चक्षु का अर्थ तप के द्वारा प्राप्त हृषीक्षणक्षमता याने दिव्यदृष्टि (Divine vision) । यह दिव्यदृष्टि जैसे मनुष्य की तपस्या और योग के द्वारा प्राप्त होती है, वैसे ही देवताओं और महाद्वारु पुरुषों के प्रसाद और अनुग्रह से भी लिलती । महाभारत युद्ध के समय भगवान् व्यामङ्गी ने सजाय को दिव्यदृष्टि दी थी—द्वातप्रसादाच्चनुनानेन युग्मद् परत् । योग योगेवरात्मक्षात्सादात्ययन स्यम् ॥ (गीता १८-५५) । वैसे ही भगवान् श्रीहृष्णजी ने अपने विघ्नप्रदर्शन के समय अर्जुन को दिव्यचक्षु दिये थे—अ तु मा शस्त्रसे द्रुष्टेनैव रक्षद्वया । दिव्य द्वयाते च चतुर्थं पश्य नै योगेवरम् ॥ (गीता ११-८) । इस तरह चतुर्थों को देखने की जीव अंखें या इहियां होती हैं—चर्मचक्षु, ज्ञानचक्षु और दिव्यचक्षु (Naked eye, philos ophical or so entitio eye and divine eye) । इनमें से

प्रथमचक्षु के लिए नेत्र नामक प्रथमद्वायुतामक तेजोभूषित करण की आवश्यकता होती है । सूधमदर्शक, दूरदर्शक इत्यादि अनेक आयुर्विक दर्शक यन्त्र इसी नेत्र के उपकरण होते हैं, अतः इसी वर्ण में आते हैं । ये दोनों चतुर्थों के लिए पांचमीतिक नेत्र की आवश्यकता नहीं होती; अर्थात् भी ज्ञानचक्षु या दिव्यचक्षु के द्वारा देख सकते हैं ।

शारीर चैव शाले च द्वारायः स्थादिशारदः ।
दद्युत्तम्यां सन्देहमगपोहाच्चरेत् कियाः ॥६३॥
इति सुभ्रतसंहितायां शारीरस्थाने शारीरसंख्याकारण-
शारीर नाम पञ्चमोद्याय ॥५॥

(वैद्यक में प्रश्नव और प्रयोक्त ज्ञान का महाव—)
(यदि कोई मनुष्य आयुर्वेद में विशारद (होना चाहे तो उसका कर्तव्य है कि वह प्रश्नव) शारीर में तथा शास्त्र में (प्रथम) ज्ञाता रहे और दर्शन तथा अस्थयन के द्वारा अपनी शाकांत्रों को दूर करके पश्चात् चिकित्सा या शख का कर्म करे ॥६३॥

वृथत्य—यह श्लोक शश्यतन्त्र में भाया है । इसलिए यह न समझे कि शारीरकरण के प्रश्नव ज्ञान का महाव केवल शार्यविकिसा में ही होता है । कायचिकिसा में भी प्रश्नव ज्ञान का महाव होता है, इतका निर्दर्शन घरक के निम्न श्लोकों से होगा—शारीर सर्वथा सर्वं सर्वं वेद यो भिषक् । आयुर्वेद स कार्यालयेन देद सोक्युत्प्रदृशम् ॥ (शारीर ५) । शारीर सहजा यो वेद 'सर्वावश्वो भिषक् । तज्ज्ञाननिमित्तेन स सोहेन न पुण्यो ॥' (शारीर ५) । कायचिकिसा में शारीरकरण का महाव प्रदर्शित करने के लिए घरक के ये श्लोक सुअत के उपर्युक्त इलोकों से कम नहीं हैं । आयुर्वेदिक शारीर में दार्शनिक Meta physis । और प्रायचिकित्स (Physical) दोनों का ही समावेश होता है और आयुर्वेद के अनुसार उसम चिकित्सक या शश्यहर्ता वह समझा जाता है, जो दार्शनिक तथा प्रायचिकित्सक दोनों में द्वार्थी हो । प्रायाय करपता के अनुमार केवल प्रायचिकित्सा शारीर में द्वार्थी होने से चिकित्सक या शश्यहर्ता हो जाता है । प्रायाय वैद्यक में दार्शनिक शारीर के लिए शारीर शब्द का प्रयोग हो रहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि आयुर्वेदिक शारीर में कई भावों का समावेश होता है । एनादोमी शारीर का प्रायचिकित्सक विभाग है । अत उसके लिए प्रश्नव शारीर शब्द का प्रयोग करना चाहित है । म० म० यग्नायेन्नी ने अपने एनादोमी के प्रथम के लिए प्रश्नव शारीर नाम इवत्वा है, वह प्रथम और आयुर्वेदमन्तर है । शरीरे चैव शाले च—चर्मचक्षु के द्वारा शरीर के अग्र प्रस्त्यों की संख्या, ध्वक्ति, कार्य इत्यादि के सम्बन्ध में तथा ज्ञानचक्षु के द्वारा शरीर के दर्शनादि सभी अंखों की उपपत्ति के सम्बन्ध में इत्युत्तम्याम्—प्राचीन काल में ग्राम्यों का या शास्त्रों का अस्थयन ध्वक्ता के द्वारा किया जाता था, इसलिए अनु शब्द का प्रयोग हिया गया है । प्रगपोश—निराकृत्य । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि उपपत्ति (Theory) और प्रत्यक्ष (Practical) के द्वारा ज्ञान में निःसंदिग्धता

उत्पन्न होने पर व्यवसाय (Proobioo) को प्रारम्भ करना चाहिए ।

इति भास्करशमंणा गोविन्दात्मजेत विरचितायामात्मुद्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रूतभाषाटीकायां शारीरसंख्या-
व्याकरणं नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

पञ्चोऽध्यायः ।

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके पश्चात् प्रत्येक मर्मनिर्देश नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—प्रत्येकमर्मनिर्देशम्—एकेकोपां मर्मणां निर्देश-
मधिकृत्य कृतः प्रत्येकमर्मनिर्देशः, तम् । निर्देश—अवधारणा-
याने विशेषतादर्शक विवरण (Specific description) । मर्म—
मारयन्तीति मर्माणि । (ढल्हण) । अपि च मरणकारिवामर्म ।
(अष्टांगहृदय, शारीर ७) । मर्म शब्द की निरूपि उपर्युक्त
प्रकार से श्रेयों में वर्णित है और व्यवहार में भी मर्म के
ऊपर आवात या प्रहर होने से (हृदय के सम्बन्ध में
मानसिक आवात होने से भी) सूख्य हो जाती है, ऐसी
कल्पना है—तर्थव दीवी हृदि शोकाद्यमुर्माणि कृत्तन्त्रपि किं न
सोदः । (उत्तरामचरित ३) । इन स्थानों पर आघात
होने से जीव का नाश होता है । इसलिए ये जीवस्थान
(Vital parts) भी कहलाते हैं । जीवस्थान और वायटल
गार्द का चोगार्थ एक ही है । मर्मविवरण आयुर्वेदिक
शारीर का एक विशेष है, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु इसकी
विशेषताओं का हमें ठीक आकलन नहीं हो रहा है । एक
फायदा जहर मालूम होता है कि मर्मों के निमित्त हमें
अनेक अंगों और स्थानों का, जिनका विवरण पिछले ऋध्यायों
में नहीं हुआ है, वहूत उपयोगी विवरण मिलता है ।

सप्तोत्तरं मर्मशतम् । तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि
भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि,
स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति;
न खलु मांससिरास्नायवस्थिसन्धिव्यतिरेकेणा-
न्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मात्तोपलभ्यन्ते ॥ २ ॥

(मर्मों की संख्या और वनावट के अनुसार उनके प्रकार—)
मर्म एक सौ सात होते हैं । वे पञ्चात्मक होते हैं । जैसे—
मांसमर्म, सिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थिमर्म और सन्धिमर्म ।
वास्तव में मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि के अतिरिक्त
मर्म होते ही नहीं, क्योंकि (इन धातुओं और अंगों के अतिरिक्त
स्थानों में वे) नहीं पाये जाते हैं ॥ २ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जिस धातु से याने शारीरगत
पुरुं से मर्म बनते हैं, उनके अनुसार मर्मों के प्रकार वर्णन
किये हैं । पञ्चात्मकानि—पञ्चविधिः आत्मा वेषां तानि
पञ्चात्मकानि । आत्मा का अर्थ शारीर है—आत्मा जीवे धृतौ देहे
स्वभावे परमात्मनि । (वैज्यन्ती) । आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे
परमात्मनि । (धरणिः) । अर्थात् जिससे मर्मों का देह बना है,
वे वस्तुँ । ये वस्तुँ पांच होती हैं । जैसे—मांस इत्यादि और
उनके अनुसार मर्मों के मांसमर्म आदि पांच प्रकार किये गये

हैं । इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मर्म
में उसके शारीर की सुख्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी होती
हैं (आगे २५ वां सूत्र देखो); परन्तु जो वस्तु अधिक होती
है उसके अनुसार मर्म का प्रकार किया जाता है—तत्पुन्नासि-
सिरालावास्थिरसन्धिसन्त्रिपातः । वाहुल्येन तु निर्देशः । तस्मान्मां-
सायाश्रयतो मर्माणि पञ्चाभा भिन्नते । (धाटांगसंग्रह, शारीर ७) ।
इसका अभिप्राय यह है कि जिसके मांसमर्म कहते हैं, उसमें
मांस के अतिरिक्त सिरादि अन्य धातुएँ भी अल्पांश में होती
हैं । अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य पांच के वदले मर्मों के छः
प्रकार करते हैं, जिनमें धमनी मर्म अधिक है—मांसस्थिरसयु-
धमनीसिरासन्धिसमागमः । स्यान्मर्मेति च तेनात्र सुवरां जीवितं
रिथतम् । वाहुल्येन तु निर्देशः पोदैवं मर्ममल्यना ॥ (शारीर ४) ।
मर्मों की कुल संख्या उत्तनी ही है, केवल मांस, अस्थि, स्नायु
और सिरा हूनके मर्मों से कुछ भी नहीं है । इसका अर्थ यह है
कि कुछ मर्मों का शारीर वाहुल्येन किस वस्तु से बना है, इसके सम्बन्ध के मतभेद का यह परिणाम है । न खलु—
इससे मर्मों के पांच ही प्रकार होते हैं; अधिक नहीं हो सकते, यह बताया गया है । इसके सम्बन्ध में द्वल्हणाचार्य लिखते
हैं—ननु चोतःप्रभृतीनामपि मारणात्मकत्वान्ममत्वमस्तयेव, तत्कथं
मांसादिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि नोपलभ्यन्त इत्युक्तम् । चोतः-
प्रभृतीनि मांसादीन्यव्यतिरिच्य वर्तन्ते, यतो मांसादिव्येव चोतः-
प्रभृतीनि सन्ति । तत्पान्मांसादीनि पञ्चैव मर्माणीति ॥ इसका
अभिप्राय यह है कि मर्मों के और भी विभाग आश्रय के
अनुसार हो सकते हैं, परन्तु उनका समावेश उपर्युक्त पांचों
में से किसी एक में हो जाता है, इसलिए अधिक प्रकार मानने
की आवश्यकता नहीं है । यही तत्त्व वाग्भटाचार्य धमनीमर्मों
के लिए लागू किया जा सकता है ।

तत्रैकादश मांसमर्माणि, पञ्चचत्वारिंशात्सिराम-
र्माणि, सप्तसंविशतिः स्नायुमर्माणि, अप्यावस्थिमर्माणि,
विशतिः संधिमर्माणि चेति । तदेतत् सप्तोत्तरं
मर्मशतम् ॥ ३ ॥

(मांसादि प्रत्येक प्रकार की संख्या—) इनमें से
मांसमर्म ग्यारह, सिरामर्म इकतालीस, स्नायुमर्म सत्ताइस,
अस्थिमर्म आठ, और सन्धिमर्म बीस । इस प्रकार मर्म एक
सौ और सात (हो जाते हैं) ॥ ३ ॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में मांसमर्म दस, स्नायुमर्म
तेईस, और सिरामर्म संतीस दिये हैं और इनमें से जो
वचे हैं, उन नौ मर्मों का धमनीवर्ग बनाया है ।

तेपामेकादशैक्षिम्न् सक्रियं भवन्ति, पतेनेतर-
सक्रियं वाहू च व्याख्यातौ, उदरोरसोद्वादश, चतु-
र्दशा पृष्ठे ग्रीवां प्रत्युद्धर्वं सप्तसंत्रिसत् ॥ ४ ॥

(पदंगों में मर्मों की संख्या—) इनमें से एक टांग
में ग्यारह मर्म होते हैं, इससे दूसरी टांग और दोनों वाहुओं
का विवरण होता है । उदर और छाती में वारह, धृठ में
चौदह । ग्रीवा से ऊपर संतीस ॥ ४ ॥

वक्तव्य—पतेन इत्यादि—प्रत्येक शाखा में ग्यारह मर्म
होते हैं, इसलिए चारों शाखाओं के चौवालीस मर्म हो जाते
हैं । उदरोरसोः—धड़ का सामने का (Anterior) भाग

केचीदाहुमाँसादीनं पञ्चानामपि समस्तानां निर्वृद्धानां च समवायात् सद्य प्राणहराणि, एकद्वयामा नामलपानां यो कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनाना विश ल्यप्रणादराणि, निहीनाना वैकल्पकराणि, एकस्मिन्देव द्वजाकराणीति । मैंग, यैतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहते पुशोणितामनं भवति ॥ २४ ॥

(सप्तप्राणहरावादि की अन्य उपपत्ति—) कई आचार्य इहते हैं कि—मासादि संपूर्ण समग्राम में अधित हुई पांचों (मर्म वस्तुओं) के संयोग से (मर्म) सप्तप्राणहर (होते हैं), (मास, सिरा इत्यादि में से) एक हीन अथवा एकावर षट् (मासादि) के (संयोग से मर्म) कालान्तर प्राणहर (होते हैं) (मासादि में से) दो न होने वाले (मासादि के संयोग से) विशेष प्राणहर (होते हैं), सोन न होने वाले (मासादि के संयोग से मर्म) वैकल्पकर (होते हैं), एक ही (वस्तु) में (मर्म आधित होने पर) रुजाकर (होते हैं)। (परतु) हस प्रकार (वास्तविक स्थिति) नहीं है, व्योमिं अस्थिमर्मों पर चोट लगाने से एक का आगमन हो जाता है॥२५॥

बृक्ष्य—विष्णुदानाम्—पीछे दूसरे सूत्र के बृक्ष्य में यह वताया जा रुहा है कि प्रत्येक मर्म के शरीर में एक वस्तु अधिक और शेष वस्तुएँ कम होती हैं, और अधिक वस्तु के अनुसार मर्म का नामकरण होता है । यहाँ पर विष्णु शब्द से यह वताया जाता है कि पांचों ही काली वजे हुए याने समप्रामाण में वट हुए जहाँ पर होते हैं, वे मर्म सप्तप्राणहर होते हैं । विष्णु के वहले 'समष्टुद' पाठ है । यह पाठमें अधिक अस्था है व्योमि कहसे उपर्युक्त कल्पना स्पृतया प्रदीर्घत होते हैं । एकहीनानामल्यानां या—मासादि पांचों में से एक का अन्यन्ताभाव हो या अवपत्ति हो । अस्य का सञ्चन्वय पांचों के साथ न होकर जिसका अन्यन्ताभाव हो सकता है, उसी के साथ होता है । नैवम्—इसका अभिप्राय यह है कि अन्य आचार्यों की मर्मों के प्रश्वित्यव के सम्बन्ध में एकोत्तरहीनत्व की जो कल्पना है, वह ठीक नहीं है । इसके लिए प्रमाण देते हैं । अस्थिमर्म इत्यादि—अस्थिमर्म एक उपलब्ध है । इसमें अन्य मर्मों का भी समावेश होता है व्योमि आगे के शोक में यह वताया जा रहा है कि चतुर्विंश लिराएँ सब प्रकार के मर्मों में होती हैं । इसलिए अस्थिमर्म पर चोट लगाने से जैसे रक्खाया होता है, वजे ही अन्य मर्मों पर आचार होने से रक्खाया होता है । संयोग में, शरीर के मर्म एकोत्तर हीन न होकर पांचों के समवाय से बनते हैं, केवल किसी में एक की और किसी में दूसरे की अधिकता होती है ।

इस सूत्र में तथा इससे पूर्वसूत्र में मर्मों के सद्यप्राण इत्यादि परिणाम के संबंध में प्राचीन कल्पना के अनुसार उपरियाँ बतलाइ गई हैं । आतुरिक दृष्टि से ये परिणाम केसे हो सकते हैं, इसका कुठ विचार अब किया जाता है । सद्य प्राणहराव—यथापि शरीर में अनेक महाव के अग होते हैं और प्रत्येक अग का विशेष प्रयोजन होता है, तथापि जिन्दा रहने वी दृष्टि से हृदय, मरित्यक और कुपुस के सीन अङ्ग नितान्त आवश्यक माने गये हैं । इसलिए

पांचालय परिमाण में ये जीवन के त्रिपूल (Tripod of life) कहलाते हैं । आयुर्वद में भी त्रिपूल की कल्पना है और इनके लिए 'त्रिमर्म' कहते हैं, ऐह इतना ही है कि आयुर्वेद में एकड़े के वहले वस्ति मिलता है—सन्तासांत्रीमोदयि इत्यतिशिरासि (गरीयासि) एवं सन्तासांत्रीरस्य । (चरक, सिद्धि १) । उसोचर मर्मवृत्त यत्कु शरीरस्थामिकृत्य तेतु । मर्मांयि वस्ति हृदय विशेष प्रधानमूलान्वयो वदन्ति ॥ प्राणाप्रयाम् वानपि पीड्यते वाताद्वयद्वयनि पीड्यन्ति ॥ प्राणाप्रदत्तमपि यथा हरावोना न तथा शुक्रादीनाम् । (चरका निष्ठृ, चरक, सिद्धि १-२) । इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उपर ११वें शोक में सप्तप्राणहर मर्म ढीम बताये गये हैं, तथापि उनमें भी हृदय और वस्ति और मरित्यक ये सीन मर्म वातावर में सप्तप्राणहर हैं और शेष हृदांगों के अधीन हैं—अन्ये तु—शुक्रादिप्राणाक्षयाणा दृद्यादिन्द्रेव सामीया दृद्यांव दृद्यांनिति । (उपर्युक्त चक्रसूत की टीका में उद्दृत एकीय मत) । प्राणहरन करने का भर्मेवेल हृद दक्षी तममों में ही सीमित नहीं हुआ है, हर एक मर्म पर विशेष आवाहन होने से प्राणों का नाश हो सकता है—एवं पर परमपि मर्मानि विद्यादिकारणवदाय पूर्वस्य वृत्तस्य कर्म करोति । अतएव तेजिविदा दिना विषाणि वातविदाशु वारधनीत्यमेव वस्त्यति । (द्वलहणा चार्यं) । अर्थात् शरीर पर कहीं भी आघात हो, सूखु का कारण यह त्रिमर्म होता है—तेज वयात्माम यत्सवायि भेदाद बेद शारीरमेद स्वाद् । आश्रवनादाशशिवित्यापि विनाय । तु तु चिका यात्मा घोरत्याधिप्रदुर्माद, दरमादेनानि विदेषेण इत्यापि वाणाभिः वातादातादिद्यम् । (चरक, सिद्धिस्थान २) । पांचालय अयों में भी यही कल्पना मिलती है—Life and health depends on the proper action of the heart, lungs, and brain. This has been called the 'tripod of life'. Bichat (1798) considered that death might arise from a failure of each of these Medical Jurisprudence by W G Auchison Robertson हृदय, मरित्यक और कुपुस में से कुपुस का विचार मर्मों में नहीं आता, उससे होने वाली सूखु का विचार पीछे सूखस्थान के २७ वें अध्याय में 'बादुर्जुलतापाती' इस सूत्र में किया गया है (प्रयमदण्ड षट् १६६) । अब केवल हृदय और मरित्यक का विचार करना है । हृदय—हृदय सप्तप्राणहर-इत्यादि की दृष्टि से मरित्यक की अपेक्षा अधिक महत्व का है । कोई प्राणी या मनुष्य सजीव या निर्जीव है, इसका निर्णय केवल हृदय के ऊपर किया जाता है । हृदय के जाताव देने से एक शणार्थि के पूर्व बातचीत करते हुए या हाताव लाते हुए सजीव मनुष्य चणार्थि के पश्चात् निर्जीव हो जाते हैं । यही कारण है कि आयुर्वेद में हृदय विशेष चेतनास्थानमाना गया है—उद्दृद्यव विशेष चेतनास्थानम् । (शारीर ३-४० तथा उसका वक्तव्य भी देखो) । साक्ष लिक मर्म का कारण हमेशा हृदेत (Heart-failure) होता है । यद्य हृदेत हृदयविकृति के कारण होता है या स्वस्थहृदय में प्रतिवेद जनित निरोधन किया से (Reflex inhibition of the heart) होता है । यदि किसी का हृदय पुराने विकार से (जैसे, Aortic regurgitation fatty degeneration) कमज़ोर हुआ हो तो जरा-सा

आघात होने पर यह विदीर्ण (Rupturo) भी हो सकता है, और तत्काल मृत्यु हो जाती है। जब हृदय स्वस्थ होता है, तब भी मर्मस्थान पर आघात होने से सांखेद्रिक नाडीसूर्यों के द्वारा उसका परिणाम मर्सिटिप्पागत हृदय केन्द्र (Cardino centro) के ऊपर होकर उसके द्वारा हृदय का कार्य घन्द हो जाता है, और इसी को प्रतिषेपनान्य एज्जेद कहते हैं। इससे तत्त्वधता भी उत्पन्न होती है। शाशुद्धेश पर या नाभिप्रदेश पर आघात होने से कहु धार लोगों की मृत्यु इसी कारण से हुआ करती है। प्रतिषेप-जन्य हृद्देश में चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। (१) हृदय दी प्रिति—हृसका उदलेत्र पीछे किया गया है। (२) भानसिंह रिति—चिन्ता, शोक, आनन्द, मुखर, भीति हृदयादि विकारों से जब मन पूर्व मर्सिटिप्पक अस्तिथर रहता है, उस समय शरीर की सांखेद्रिक नाडी (Sosnory nervo) या उसके द्वारा पर कहु भी जरा-सा आघात होने पर उसका कुछ का कुछ परिणाम होकर मृत्यु तक हो सकती है। (३) वामाशय की पूर्णता—वामाशय हृदयसमीपवर्ती अह है और अतिमोजन से हृदय के ऊपर अवाय पश्चात हो जिससे उसके सक्षोच विस्फार में कठिनाई हो जाती है। परिणाम यह होता है कि दिल में धड़कन, तालवैषम्य (Irregularity) हृदयादि हृदयविकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसलिए मात्रावत् भोजन के आयुर्वेद में जो अनेक लक्षण दिये हैं, उनमें 'हृदयावधः' 'हृदयत्यानवेषः' (चरक, विमान २) एक लक्षण दिया है। अतिमोजन के पश्चात् वामाशय या अन्य प्रवेश में आघात होने से हृदय घन्द होने की सम्भावना अधिक होती है। (४) लसारियात् प्रवृथा (Status lymphaticus)—इसमें शरीर में जहाँ जहाँ असाम धातु (जैसे, तुषिटका (टैनिसिल), ज्लीहा, धायमस दृश्यादि) होती है, वहाँ वहाँ उसकी धृदि हो जाती है। इस स्थिति का ज्ञान प्रायः मृत्यु के पश्चात् मरणोच्चर परीक्षा से होता है। इस स्थिति का मरण हृस्मिलिष्ट है कि कनपटी पर थप्पद छागने से, जरा से अपघात से, दर से या झोरोफार्म से ऐसे लोगों की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। संचेप में तत्काल मृत्यु (Sudden death) का कारण हृद्देश है और यह हृद्देश प्रत्यक्ष या प्रतिषेप जनित होता है। और इस हृद्देश में उपर्युक्त चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। आयुर्वेद में सद्यप्राणहरण का काल सात दिन का चतुर्लाया गया है (१० वां सूत्र देखो)। अतः जो तत्काल नहीं मरते परन्तु सात दिनों के अन्दर मर जाते हैं, उनका विचार किया जाता है। कुछ काल के पश्चात् मृत्यु के तीन कारण हैं—मूर्च्छा (Syncopo), स्तब्धता (Shock) और संन्यास (Coma)। मूर्च्छा—मर्सिटिप्पक में रक्त की कमी होने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके तीन कारण हैं। मर्माधात् की हृषि से सब से महाव का कारण अधिक रक्तचाव है (आगे ४२ वां शोक देखो)। यह रक्तचाव धमनी या सिरा आघात के कारण हृट जाने से होता है। और शरीर के बाहर या शरीर के भीतर हो सकता है। सिरामर्मों की धातकता इसी कारण से होती है। दूसरा कारण रक्तवाहिनी नियन्त्रण अस्थैर्य है (Vaso-motor instability) (आगे ८ वां अध्याय के २२ वां शोक का

प्रकार्य भी देखो)। इससे उदरप्रदेश में रक्तवाहिनीयों विस्फारित होकर घर्षी रक्त की अधिकांश रक्त पृक्त होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। नाभिप्रदेश में आघात होने से इस प्रकार की स्थिति हो सकती है। तीसरा कारण हृदय की कमजोरी है। इसका विचार पीछे हो उका है। मर्माधात् की हृषि से यह कारण विशेष मरण का नहीं है। इससे यदि मृत्यु होगी तो तत्काल हृदयविदरण (Rupturo) से होगी। संन्यास—यह विलुप्ति मर्सिटिप्पक की है। इसमें दिव के ऊपर (शक्ताकान्यधिपदिः धृती) आघात होने से मर्सिटिप्पक के भीतर (Apoplexy) या मर्सिटिप्पकावरण के भीतर और मरितिप्पक के पाहर रक्तस्राप जन्य संपीडन (Cerebral compression from trauma) होता है। अथवा आघातजन्य मर्सिटिप्पकसंघटन (Cerebral conousion) से या सोपणी की हड्डी अपनात भ्रम (Depressed fracture) होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अर्थात् ये अवस्थाएँ आगन्तुक कारणजन्य हैं। निजकारणजन्य अवस्थाओं का विचार पीछे चारुर्थ अध्याय के १४ वें और १५ वें शोकों के घक्कव्य में किया गया है। संचेप में मर्मों का सद्यप्राणहरण हृदय के एकापृक जवाय देने पर या हृदयदीर्घयजन्य स्तब्धता (आगे उजाकर में देखो) मूर्च्छा या मर्सिटिप्पक के संन्यास जैसे घोर अधिकार्यों के ऊपर हिरंभं होता है। कावान्तर प्राणहरण—ये मर्म प्रायः निष्ठ प्रकार से प्राणों का नाश करते होंगे। (१) शनैः शनैः रक्तताव—घोरे समय में अधिक रक्तताव होने से तत्काल मृत्यु होती है, परन्तु घोषा घोषा रक्त अधिक काल तक यहाने से तीव्र रक्तचाव उत्पन्न होकर उससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। रक्त का धाव तिरन्तर, अन्तरित (Recurring) और गुस (शरीर के भीतर concealed) तीन प्रकार का होता है। जैसे, हृदयविलुप्ति, कटीकतरण कालान्तर प्राणहर मर्म है। इनके लिए शोणितस्थ मृत्यु का कारण यताया है—ज्वामध्ये इन्द्रपरिनाम, तत्र शोणितस्थये मरणम्। कटीकतरणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितस्थयात् पाणुरुविवर्णो धीन-रूपथ मियते ॥ (२) जीवाशुक्रो या उपराम—इसमें सर्मस्थान में धण उत्पन्न होने के कारण कुछ काल के पश्चात् जीवाणुओं का उपराम (Infection) हो सकता है। इससे जीवाणु-मयता (Soptionomia), विसर्प (Erysipelas), धुर्वार्ति (Tolanus) हृदयादि विकार उत्पन्न होकर कुछ काल के पश्चात् रोगी की मृत्यु हो सकती है। जैसे, क्षिप्र में आचेप से मृत्यु और अपलाप में पूर्यभावगत रक्त (pyaomia) से मृत्यु इसी का सूचक होता है—क्षिप्र नाम सर्म, तत्र विश्वस्यादेपण मरणम्। अपलापी नाम तत्र रक्तेन पूर्यमावं गतेन मरणम्। विश्वल्यम्—विगतपाल्य होने पर ये मर्म किस प्रकार से धातक होते हैं, इसका शीक धाकलन नहीं होता। वैकल्यकर—अस्थि, सन्धि, स्नायु, सिरा (नाडी के Nervo अर्थ में) और मांस ये धातु दृटने से सदा के लिए वैकल्य हो सकता है। हड्डी दृटने से उसमें कमजोरी आ जायगी; सन्धि से सन्धिभङ्ग धा सनिधिविश्लेष (Trauluro dislocation) हो जायगा; स्नायु (Ligament या Tendon) से सोच (Sprain) पैदा होगा या विशिष्ट पेशी की हल्लेल में स्कावट होगी; मांस के दृटने से स्थायी संकोच (Contracturo) और संसक्ति (Adhesions) होकर पेशियों की गतियों में कठिनता हो जायगी।

इनवर—इसके सम्बन्ध में विवेप लिखने की आवश्यकता नहीं है। मर्म के कपर आवात होने से, खगर कुछ भी न हो तो कम से कम पीड़ा तो बढ़कर होती है। इस स्थान पर सार्वेनिक जाही होती है, वहाँ पर आवात होने से पीड़ा अधिक होती है। यद्य तक यह पीड़ा अपने स्थान में सीमित रहती है, तब तक उसको केवल पीड़ा या रक्त कह सकते हैं, परन्तु कई बार पीड़ा का परिणाम सार्वेनिक होता है। उस समय प्रतिवेप किया (Reflex action) से हृदय के कार्य में कुछ अवरोध दरपाल होकर मृत्यु स्थब्ध हो जाती है। इस अवस्था को स्तब्धता (Shock) कहते हैं। इसमें बेहोशी, अवश्यकता (Prostration), जाही और हृदय चीज़, अविभूति तथा शीघ्र, सौंप हपड़ी और घर्षणयुक्त, शरीर छाड़ा हृदयादि छलण उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो जाती है। स्तब्धता प्रारंभिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार की होती है। स्तब्धता की दृष्टियाँ में दिसता, शोष, अतीत हृदयादि अनन्तिक विकार बहुत सहायता करते हैं। आवात के समय यदि मर्मितक्ष इन विकारों से अविभूत हो तो स्तब्धता जबदी दरपाल होती है। तल हृदय में हवा याने पीड़ाओं के कारण मृत्यु बहलाई गई है—नन्दिन नाम त्रिपापि हृदयमिरणः। हृदय से पीड़ाजन्य स्तब्धता का ही बोध होता है अन्यथा केवल पीड़ा के द्वारा मृत्यु होना असम्भव है। इन सभ कर्त्ताओं का विचार प्रत्येक मर्म के समय और भी किया जायगा। स्तब्धता का विवरण आगे के वर्तमान में भी किया गया है।

मर्मस्ति चात्र—

चतुर्थिया यास्तु सिराः शरीरे;

प्रायेण ता मर्मसु सञ्चिदिया।

ज्ञाप्यस्त्यमांसानि तथव सन्धीन्,

सन्तर्थं देह प्रतिपालयन्ति ॥ २५ ॥

ततः ज्ञते मर्मणि ताः प्रवृद्धः

समन्वते वायुरमिस्त्वयेति।

विषर्थमानस्तु स भातिरिष्या

रुद्धः सुतोद्धारं प्रतनोति काये ॥ २६ ॥

रुद्धमिभूतं तु ततः शरीरं

प्रतीयते नश्यति चास्य संज्ञा।

अतो हि चालयं विनाहृतमिन्द्रुन्,

मर्माण्यि यद्देन परीक्ष्य करेत् ॥ २७ ॥

शरीर में जो चार प्रकार की सिराएँ होती हैं के प्रायः मर्मस्त्यानों में सञ्चिदित होती हैं, और चारु, अस्ति, मौस तथा सप्त इनका संतर्पण करके देह का पालन करती है ॥ २८ ॥ अतः मर्म पर चोट लगाने से चारु प्रबृद्ध होकर उन सिराओं को चारों ओर से आक्रमित करती है, और यहाँ द्वारा चारु शरीर में शीर्ष पीड़ा को फैलाती है ॥ २९ ॥ तब (तीव्र) चेतना से पीड़ित शरीर नह छोने लगता है और उसकी चेतना (भी) नह होती है। इसकिए राहय निकालने की इच्छा करने वाला चेत (शास्त्रसमीप-वर्ती स्थान के) मर्मों का यन्त्रणक परीक्षण करके

(पश्चात्) शब्द को निकाले ॥ ३० ॥

वक्ष्य—पितृके सूत्र में मर्मों की पृक्षोत्तरहीनत्व की कल्पना का खण्डन अस्तिमर्मांशत में शोणितागमन के उदाहरण से किया गया है। २५ वें श्लोक में अस्तिमर्मों में रोपेष्टियति का कारण बताया जाता है। चतुर्विंशति—वातवह, रित्तवह, इलेमवह और रक्तवह। इनका निर्देश सातवें अध्याय के ५ वें सूत्र में किया गया है। मर्मसु—शारीर के संरूप मर्मों में। इस लिए ये सिरादें अस्तिमर्मों में भी होती हैं और आवात होने पर उनसे लूट निकलता है। तब: ज्ञते—इन दो श्लोकों में मर्मांशात से पीड़ा कैमी होती है और पीड़ा के कारण मृत्यु कैसी उपचार होती है, उसकी संपादिति, चर्णों की गई है। लाञ्छनिक परिणामों के अनुसार इसमें स्तब्धता (Shock) की दुर्दृष्टिना वर्णित की गई है। स्तब्धता आवात, चर, शब्दाक्षर, विष इन कारणों से उपचार होती है और कारणों के अनुसार आवातजन्य (Trauma), चरतक्ष्य (Wound), शब्दाक्षरजन्य (Surgical), विषजन्य (Toxic) हृदयादि उसके प्रकार किये जाते हैं। स्तब्धता अविकर आवात या चर से होते ही उपचार होती है। आवात या चर से प्रायः सीत्र पीड़ा (Pain) होती है और इसके अवर्देशिक प्रभाव से शरीर के महाके के कार्य (Vital functions) उत्तरोत्तर चीज़ होते जाते हैं और अन्त में मृत्यु होती है। स्तब्धता उत्पन्न करने में तीव्र पीड़ा एक महात्मा का सहायक कारण होता है। संचेप में आवात, तजन्य पीड़ा, पीड़ा के कारण शरीर के महाके के कार्यों का उत्तरोत्तर चीज़ होना और अन्त में मृत्यु, यह स्तब्धताजन्य मृत्यु का क्रम आधुनिक सम्बादि के अनुसार होता है—“Shock is a condition following surgical operations, trauma, wounds, intoxications or infections, in which a progressive failure of body functions, leading more or less rapidly to death, occurs. Physiology in Health and disease by Carl J. H. Sygeer. Pain is a factor in the production of shock. Howlett's Pathology पश्चीम और दक्षिणी श्लोक में मर्मांशातजन्य मृत्यु की जो चेतना वर्णित की गई है, उसका क्रम शब्दशः अनुसिंक्रिय क्रम के साथ मिलता है। इनकी दीका में दृष्टियाँ लिखते हैं—इनकी दीका में दृष्टियाँ प्रदर्शन करते हैं अन्तिम दृष्टियाँ क्रमेण सकलं शरीरे वाला दिवेदेववाप्ता क्रावैयेन येतनावातातिविदेवगृष्टश दृष्टियाँ। शरीर प्रतीयते प्रत्येक शरीरे प्रत्येक शरीरे त्रिपापि दृष्टियाँ दृष्टियाँ दृष्टियाँ। तरिम् यात्रामीतिके शरीरे प्रत्येक शरीरे संतापपूर्व तेनावातुरपि नदयति। प्रत्येक शरीरे—प्रत्येक शरीर की उत्तरोत्तर चीज़ों का बोध होता है, प्रकापक चीज़ों का नहीं (पीछे २४ वें सूत्र का वर्तमान देखो)।

पतेन शेषं द्यायखातम् ॥ २८ ॥

इसी से अवशिष्ट (मर्मों का भी) व्याख्यान होता है ॥ २४ ॥ वक्ष्य—इसका अभिप्राय यह है कि यथापि उपर्युक्त दीन श्लोकों का व्याख्यान अस्तिमर्मांशत से शोणितागमन के निमित्त किया जाया है तथापि यही व्याख्यान रोप मासादि मर्मों के संबंध में भी होता है। संचेप में, मासादि मर्मों पर आवात होने से भी रक्त निकलता है, पीड़ा होती है, शरीर

प्रलीन होता है और सूखु हो जाती है । ढलहणाचार्य इससे दूसरा अर्थ सानते हैं—एतेनेति खगादिरूपेण वायोलंचणेन, शेषमिति दाशदिसोतिनिरोपनानि । न पित॒श्वेष्मयोलैक्षण्यं व्याख्यातमेवित्यर्थः ।

तत्र सद्यः प्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति विशल्यप्राणहरं च, वैकल्यकरं कालान्तरं झूलशयंति रुजां च करोति, रुजाकरमतीष्वेदनं भवति ॥ २६ ॥

(मर्माघात के भिन्न परिणाम—) इन (पञ्चविध मर्मों) में से अन्त में विद्ध हुआ सद्यः प्राणहर मर्म कालान्तर से घातक होता है, अन्त में विद्ध हुआ कालान्तर प्राणहर मर्म विकलता उत्पद्ध करता है तथा विशल्यम् मर्म (भी अन्त में विद्ध होने पर वैकल्य उत्पद्ध करता है), अन्त (में विद्ध हुआ) वैकल्यकर मर्म अधिक काल तक तकलीफ देता है और पीड़ा भी करता है, (अन्त में विद्ध हुआ) रुजाकर मर्म वहुत पीड़ाकर नहीं होता ॥ २५ ॥

वक्तव्य—पीछे १४ वें सूत्र में आघात या वेघ के परिणाम के अनुसार कर्मों के सद्यः प्राणहरत्वादि पांच प्रकार वर्ताये गये हैं । उसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार के मर्मों के नाम दिये गये हैं । इस सूत्र में यह वर्ताया जाता है कि मर्माघात का परिणाम आघात के औचित्य के साथ वदलता रहता है । यदि आघात उचित जोर का या उचित स्थान पर न हो तो एक प्रकार के मर्म से दूसरे प्रकार का परिणाम निकल सकता है । अन्ते विद्धम्—आगे ३८, ३९वें श्लोकों में मर्मों के परिमाण (मोटाई) वर्ताये गये हैं । उसके परिमाण के घेरे के धाहर परन्तु समीप वेघ होने से । अन्त शब्द से कहीं धार निर्दिष्ट स्थान का समीपवर्ती भाग अभिप्रेत होता है—पौष्पमासस्य रोहिण्यमष्टकायामधापि वा । जलान्ते द्वन्द्वसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्धाः ॥ (याज्ञवल्क्य १-१४३) । नारीयोत इमशानान्ते व्रामान्ते गोवजेऽपि वा । (मनु-४-११६) । इस प्रकार का अर्थ करने का कारण यह है कि आगे लिखते हैं कि मर्मपाश्वर्म में आघात होने से भी मृत्यु होती है । इसलिए मर्मस्थान को पृष्ठतया छोड़कर शक्तम् करना चाहिए—गार्वाभिवानितमपीह निहन्ति मर्म तस्मादि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् । यह जैसे वेधन या आघात का विचार मर्मस्थान की दृष्टि से हुआ, वैसे ही वेधन की गहराई (Depth) तथा आघात की प्रवलता (Strength) की दृष्टि से भी विचार होना चाहिए । और यहां पर स्थान का जो सिद्धान्त वर्ताया गया है, उसका उपसिद्धान्त (Corollary) करके यह भी समझना चाहिए कि यदि वेघ गहरा न हो या आघात कमजोर हो, उसके परिणाम भी अन्त वेधन के समान ही होते हैं और यदि अतिवेधन या अतिप्रवल प्रहार हो तो अपेक्षित प्रकार से अधिक तीव्र स्वरूप का परिणाम होता है—शेतेन पूर्वं पूर्वं मर्म कारणवैकल्यत्परस्य परस्य कार्यं करोति, परं परं परस्पि मर्माति-विद्धविकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्ता करोति । (ढलहण) । यही उपसिद्धान्त अब आगे के सूत्र में वर्ताया जा रहा है ।

तत्र सद्यः प्राणहराणि सत्तरात्राम्यन्तराः मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पत्ताभ्यासाद्वा, तेष्वपि त्तिप्राणि कदाचिदाद्यु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥ ३० ॥

१ विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं छंशयति कालान्तरेण च रुजां करोति.

(मर्मों का घातक काल और घातक मर्मों का घातकर्व—) इनमें सद्यः प्राणहर मर्म सात दिन के अन्दर मार देते हैं, कालान्तर प्राणहर मर्म दो सप्ताह में अथवा एक मास में (मार देते हैं), इन (कालान्तर प्राणहर मर्मों) में से चिप्र कभी कभी तकाल मार देते हैं, विशल्य प्राणहर, वैकल्यकर और (रुजाकर) कभी कभी अभिहत होने पर मार देते हैं ॥ ३० ॥

वक्तव्य—चिप्राणि हृत्यादि—कदाचिदाद्यु मारयन्ति ‘अतिवानि’ इति शेषः । अनतिएतानि तु कालान्तरेणैव मारयन्ति । (ढलहण) वैकल्यकराणि च—‘च’ का प्रयोग यहां पर ‘अनुकूलसमुच्चार्यं’ किया है, जिससे वैकल्यकराणि च का अर्थ वैकल्यकर तथा रुजाकर होता है । हृत्यका अभिप्राय यह है कि रुजाकर भी प्रवल आघात से मारक होते हैं । हृत्यमें कोई असम्भवनीय धात नहीं है क्योंकि वे भी मर्म हैं और ‘मारयन्ति मर्माणि’ यह मर्मों की व्याख्या है । ढलहणाचार्य लिखते हैं—एतचोपलक्षणं, तेन रजाकराण्येव वैकल्यं जनयन्ति, एवं वैकल्यादिविपि स्वनियतकर्मव्यभिचारः । यह अर्थ यीक नहीं है, क्योंकि असिहस होने पर रुजाकर मर्म भी धातक होते हैं । दूसरा कारण यह है कि हृत्य सूत्र में मर्मों की घातकता का ही विचार हो रहा है, अन्य व्यभिचार का नहीं; वह विचार ऊपर के सूत्र में हो चुका है । संतेषु में सभी मर्म अतिवातित होने पर मारक होते हैं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है ।

अत ऊर्ध्वं प्रत्येकम् यो मर्मस्थानानि व्यास्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विश्वस्यादेषेषु मरणः, मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्रापि रुजाभिर्मरणः, क्षिप्रस्योपरिष्ठादुभयतः; कूचों नाम, तत्र पादस्य भ्रमणेवेषने भवतः; गुल्फसन्धेष्वरेष्व उभयतः; कूर्चशिरो नाम, तत्र रुजाशोफौ; पादजह्न्योः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तव्यपादता खज्जता वा; पार्चिणि प्रति जह्नामध्ये इन्द्रवस्तिनाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणः; जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता; जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यजुलमाणी नाम, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तव्यसक्थिता च; ऊर्ध्वमध्ये ऊर्ध्वी नाम, तत्र शोणितक्षयात् शक्थिशोषणः; ऊर्ध्वी ऊर्ध्वमध्ये वह्नेणसंधेष्व रुमूले लोहिताक्षं नाम, तत्र लोहितक्षयेण पक्षावातः सक्थिशोषो वा; वह्नेणवृषण्योरन्तरे विटपं नाम, तत्र पारक्ष्यमल्पगुक्ता वा भवति; एवमेतान्येकादशसक्थिमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३१ ॥

(पादमर्म—) अब इसके बाद मर्मस्थानों का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं । पांच के अंगूहे और (समीपवर्ती) अंगुलि के ओच में क्षिप्रनामक मर्म है, वहां पर विद्ध हुए (मरुष्य) की मृत्यु आवेष से होती है । मध्यम अंगुलि की रेखा में ऊपर पादतल के मध्य में तलहृदय नामक मर्म होता है, वहां पर भी (विद्ध हुए मरुष्य की) वेदनाक्षं

१ क्षिप्रमिति मर्म. २ मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण जङ्घोर्वोः. ३ जानुसन्धेष्वरेष्व जह्नामध्ये इन्द्रवस्तिनाम. ४ ऊर्ध्वमध्ये लोहिताक्षम्. ५ लोहितक्षयेण मरणं पक्षावातः वा.

से मृत्यु होती है। विप्र के ऊपर दोनों ओर कर्च नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) पांव में टेडपन और कफन होता है। मुल्सपि से नीचे दोनों ओर कर्चित नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) पीढ़ा और सूजन होती है। पांव ओर जड़ा के स्थोग पर गुरुत नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) पीढ़ा, पांव में लकड़न, अथवा लंगाड़पन होता है। जड़ा में एर्ही की ओर इन्द्रियस्त नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) रक्त (चावजन्य) तथा से मृत्यु होती है। जड़ा और ऊर के स्थोग पर जानु नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) लंगाड़पन होता है। जानु से तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर जानी नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) सूजन की शुद्धि और ठांग में उत्पत्ता (जड़न तथा मृत्यु) होती है। ऊर के मध्य में जब्ती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) रक्तपय से ठांग शुद्धि होती है। जब्ती से ऊपर वृहणस्पि से नीचे उह के मूल में लोहिताच नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) रक्तपय से पचाबात अथवा ठांग की हृतता होती है। वृहण और वृपय के मध्य में विटप नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) पञ्चता या अल्पमृत्युता होती है। इस प्रकार ठांग के खारद मर्मों का स्थारथान किया है ॥३॥

पक्षपय—क्षिप्र—यह स्नायु मर्म है। इसकी मोटाई अर्धीकूल है और कालान्तर प्राणहर है। प्रत्यष्ठशारीर की इहि से पह यथम श्लाकान्तरीय (First intermetatarsal) स्थान है। इस स्थान में प्रथम पावाहुलिंगालाका पृष्ठगा (First dorsal metatarsal) धमनी और पुरोजिका भैंसीरा (Deep peroneal nerve) नाड़ी की अंगुष्ठमूलगा शाखा ये दो मध्यव के अंग होते हैं। इस मर्म के वेधन से आपेक नामक रोग होकर मृत्यु होती है। आपेक से Convulsions और घुरुर्वति (Tetanus) दोनों का ही वोष होता है और ये दोनों रोग रक्ताकावाधिक और अभिवात के कारण उत्पन्न होते हैं। निवासस्थान प्रथम अध्ययन के अ०-२०८ इलोक सथा उनका वक्तव्य देखो। जब रक्ताकावजन्य आपेक होते हैं, तब मृत्यु तकाल होगी। जब घुरुर्वति के जीवाणु का उत्पन्न होगा, तब देर में होगी। हाथों और पैरों की ओटों में घुरुर्वति का उपसर्ग बहुत हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। तलदृश्य—मध्यमाहुलिन्मुलकीकृत्य क्षेत्र पश्चत्तस्म मध्ये तनहुइयम्, माइसमेंद्रमधुल्लकालान्तर प्राणहर च। (दृश्य)। प्रत्यष्ठशारीर की परिभासा में तलदृश्य पात्रलमध्य (Centre of the planter side) है। इसमें पादतलघुतुरी (Lateral planter) धमनी और पादतलीया बाह्य और अन्तरा (Medial or lateral planter) नाड़ी ये दो मध्यव के अंग होते हैं। इन अंगों की रक्षा करने के लिए इनके ऊपर वही मंजूरत दीर्घ पादतलिक स्नायु (Long planter ligament) का आवरण होता है। विप्र और तलदृश्य मर्मों से मृत्यु की मीमांसा के लिए आगे भर्वाँ इलोक और उसका वक्तव्य देखो। कर्च—उपरिएतिव दृश्यमूले इनि देव। उमयन इत्यादि कर्वसंपथ तथ्य कर्च इति नाम, विदि इति देव। स्नायुमर्मद वैद्यक्यर चतुरगुरुं च। (दृश्य)। प्रत्यष्ठशारीर की इहि से इस

मर्म में दूर्चशालाका की स्नायुओं (Tarsos metatarsal and intertarsal ligaments जैसे Canonavicular, cubito-donavicular, long planter etc.) का समावेश होता है। इनके ऊपर आधात होने से पांव की कमान (Arch) कमजोर होकर फैल, अभ्यं (जैसे, समनलपाद flat foot) इत्यादि विकार होते हैं। कर्चित—इन्द्रियस्त नामुमां एकाहुल वैद्यक्यर च। (दृश्य)। इससे विहारिक और अन्तराशीरिक स्नायुओं (Deltoid ligaments, Talo-calcaneal and calcaneofibular ligaments) का योष होता है। इनके ऊपर आधात होने से गुरुक्षयिति में पीढ़ा तथा सूजन आ जाती है और यदि उचित चिकित्सा न हुई तो कुछ वेष्य भी आ जाता है। उल्क—स्थिरमेंद्र इन्द्रियस्त वैद्यक्यर च। (दृश्य)। गुरुक से गुरुक्षयिति (Ankle joint) का वोष होता है। इसमें अन्तर्जांडिय और विहारिति का नीचे का जोड़ (Tibio-fibular) तथा इन दोनों का कर्चितारिय के साथ जोड़ (Talo-crural articulation) इनका समावेश होता है। गुरुक पर आधात होने से प्राय अस्तिभग या भागविरक्षेप (Fracture dislocation) होता है जिससे पीढ़ा, सूजता, लंगाड़पय इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इत्यति—मासमें दमर्माहुल पाण्डि प्रति वयोदयागुणे रिपत कालान्तर प्राणहर च, भोजनु दृश्यमुलप्रमाणमाह। (दृश्य)। यथापि यहाँ पर नहीं तथापि चिकित्सास्थान में इन्द्रियस्त का पाण्डि से अन्तर तेरह अंगुल बताया गया है—पाण्डि प्रति देश चाहुलानि निहि दृश्यं परिवर्ण्य भीमान्। (अध्याय १८)। पहाँ से इन्द्रियस्त का जो अन्तर दिया है उससे, तथा यह मासमें होने से इन्द्रियस्त जंधा की पिंडली (Calf) मालम होता है। पिंडली वह स्थान है, जहाँ पर जब का देश सब से अधिक होता है। यह स्थान ठीक पाण्डि से बाहर या तेरह अंगुल होता है। पिंडली में जंधापिंडिका गुर्वी (Gastrocnemius), लच्छी (Soleus) और गतीया (Plantaris) ये तीन पेशियाँ होती हैं—इच च पेशीवय जड़पिंडिकेति पिंडली वा बच्चते। (प्रस्तु शारीर)। इन पेशियों के पीछे विहारिका (Peroneal) और पश्चिमजिकिका (Posterior tibial) धमनियाँ तथा पश्चिमजिकिका (Tibial) नाड़ी होती है। यह मस्ति मर्मविद होने से उपर्युक्त धमनियाँ कठने की समावना होती है और जब कठ जाती है, तब इकानात से मृत्यु होने का दर होता है। रसयोगसामान की प्रस्तावना में इन्द्रियस्त से पश्चिमानुजात (Popliteal fossa) बताया गया है। यह स्थान जानुमध्य के पीछे होता है और जानुमध्य पाण्डि या गुरुक से अन्तर अंगुल दूर होती है—जानुदाशाहुला जैव। (सूत्र ३१)। इन्द्रियस्त पहाँ से केवल सेरह अंगुल लगाई है पर होने के कारण इन्द्रियस्त से पश्चिमानुजात मानवा उचित नहीं होता। इसके लिए वहाँ पर जानुमध्य का परिणाह और इन्द्रियस्त का परिणाह द्वितीय उत्तरायादि द्वारा होता है, इसकिए जानुमध्य से इन्द्रियस्त पृथक् स्थान मालम होता है। जानु—संविमेंद्र इन्द्रियस्त वैद्यक्यर च। जानुमध्य knee joint। आयी—जानुदाशाहुला अंगुल वैद्यक्यर च। (दृश्य)। भाँड़ी से चतुरिंगका भाँड़ी (Quadriceps femoris) पेशी की

कण्ठरा, जो जानुकपालिका (Patella) में संसक्त हुई है, का बोध होता है। उरु—सिरामर्मदेमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (दलहण)। उरुमर्म उरु के मध्य में और सिरामर्म है। इस दृष्टि से यदि उरु की रचना का परीक्षण किया जाय तो इससे संव्यूहनप्रणाली (Adductor Canal) मालूम होती है। इस प्रणाली में ओर्वी धमनी, सिरा और नाड़ी (Femoral artery, Vein and Saphenous nerve) ये महत्व के अंग होते हैं। धमनी या सिरावेधन से रक्तज्य और नाड़ी के वेधन से सविधशोष हो सकता है। ये तीनों अंग अत्यंत समीप होने से तीनों ही एक समय में विद्ध हो सकते हैं। लोहिताक्षम्—सिरामर्मदेमर्माङ्गुलं वैकल्यकरं च। (दलहण)। इस मर्म का स्थान चंच्छनसंधि के नीचे उरुमूल में और उरु में सामने की ओर है। इस वर्णन के अनुसार यह मर्म ओर्वित्रिकोण (Femoral triangle) के साथ मिलता है। इस त्रिकोण में उरु मर्म के समान सब महत्व के अंग होते हैं। अर्थात् इसके वेध के परिणाम उत्त्वेध के समान होते हैं। विटप—सामुदर्मदेमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (दलहण)। इसका स्थान वृद्धण और घृण के मध्य में है। इसके अनुसार यह मर्म वृद्धण सुरंगा (Inguinal canal) मालूम होता है। यह सुरंगा स्नायुओं से बनी है और उसमें से होकर घृण की बन्धनी तथा शुक्रवह नाड़ी (Spermatic cord) के भीतर चली गई है। इसके ऊपर आघात होने से नाड़ी बंद हो जायगी और घृण में उत्पन्न हुआ शुक्र शिशन में नहीं आयगा। नों के ऊपर चोट लगने से सन्ध्यता (Sterility) उत्पन्न होगी। इसमें मैथुन का असामर्थ्य न होकर प्रजोत्पादन असामर्थ्य होता है। एक के ऊपर चोट लगने से केवल फ़ ही घृण का शुक्र मैथुन के समय निकलेगा, याने उपशुक्रता उत्पन्न होगी।

एतेनेतरसक्तिं वाहू च व्याख्यातां। विशेषस्तु यानि सक्तिन् गुलफजानुविटपानि तानि वाहौ त्रिणवन्धकूर्परक्तज्यधराणि; यथा घड्ग्नयुवप्रणयोऽन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् वेद्रे त एवोपद्रवाः; विशेषपतस्तु मणिवन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुण्ठिः, कक्षधरे पक्षाधातः। एवमेतानि ब्रतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥३२॥

(वाहुमर्म—) इसी से ही दूसरी दृंग और दोनों शाङ्कों (के मर्मों) का व्याख्यान हो गया है। विशेष करके दृंग में जो गुरुक जानु विटप हैं वे ही वाहु में मणिवध, कूर्पर कक्षधर हैं; जैसे वृद्धण और घृण के बीच में विटप है वैसे ही वक्ष और कक्ष के बीच में कक्षधर है, उसके विद्ध होने से वे ही उपद्रव होते हैं; विशेष करके मणिवन्ध में (वेध होने से हाथ का) वैकल्य (कलाई की शक्ति नष्ट होना, उसकी गति कम होना इत्यादि), कूर्पर नामक मर्म में (वेध होने से) अग्रवाहु का लळापन, कक्षधर में (वेध होने से) पक्षाधात होता है। इस प्रकार शाखाओं में चौवालीस मर्मों की व्याख्या हो गई है ॥३२॥

वक्तव्य—तस्मिन् विद्रे त एव उपद्रवाः—‘तस्मिन्’ शब्द

यहाँ पर वाहुमर्मसमूह के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका

अर्थ इस प्रकार है—वाहुमर्मसमूह विद्ध होने पर, सक्तिमर्मसमूह विद्ध होने पर जो उपद्रव ऊपर यत्तलाये गये हैं, वे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार साधारण निर्देश करने पर पश्चात् विशेष निर्देश ‘विशेषतस्तु’ से करते हैं। दलहणाचार्य ‘तस्मिन्निति मणिवन्धादी, त एव इति गुलफादिवेषाताः’ ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु यह अर्थ असंगत है क्योंकि इससे ‘विशेषतस्तु’ इत्यादि का प्रयोजन वर्थ हो जाता है। चिप्र—यह मर्म बंगुष्टतर्जनीशलाकान्तरीय स्थान है (First intermetacarpal space) और इसमें वहिप्रकोष्ठ धमनी की शलाका पृष्ठिका शाखा (First Dorsal metacarpal artery) होती है। तलहृदय—यह हस्ततल का मध्य है जिसके ऊपर करतिलिकाजायु (Palmer aponeuroses) फैली रहती है। इसके पीछे करतल धारुपी धमनी (Palmer arch) और उसकी शाखाएँ तथा नाडियाँ (Nerves) भी होती हैं। हृतके कारण हस्ततल में मर्मत्व आ गया है। कूर्च—इससे हस्तकूर्चस्थियाँ और शलाकाएँ हृनको जोड़ने वाली जायु (Carpometacarpal and intercarpal ligament's) अभिप्रैत होती हैं। कूर्चशिर—इससे मणिवन्धसंधि की अन्तःपार्श्विक और वहिपार्श्विक स्नायुओं (Ulnar and radial Collateral ligaments) का बोध होता है। मणिवन्ध—इससे कलाई जोड (Wrist joint) का बोध होता है, जिसमें प्रकोष्ठान्तरीय जोड (Distal radioulnar) तथा वहिप्रकोष्ठकरकूर्चस्थियजोड (Radio carpal) दोनों का समावेश होता है। रसयोगसागर प्रस्तावना में मणिवन्ध का अर्थ Intercarpal ligaments दिया है। परंतु यह अर्थ दो दृष्टि से उचित नहीं मालूम होता। मणिवन्धसंधि मर्म है, अतः मणिवन्ध से संधि का ही प्रहण करना चाहिए। दूसरी दृष्टि से यह है कि कूर्चमर्म की दीर्घता चार अंगुल है, अतः कूर्च में ही कूर्चन्तर स्नायुओं का समावेश हो जाना चाहिए। पाँच में भी ऐसा ही है। इसलिए वैसे अर्थ पीछे हस्तकूर्च और पादकूर्च मर्मों के किये गये हैं। कलाई के जोड में खराबी होने से हाथ की हर एक काम में कुण्ठित गति हो जाती है। इन्द्रवस्ति—अग्रवाहु की पिण्डली का स्थान जहाँ पर मणिवन्धसंकोचित्यादि उत्तान पेशियों के नीचे अन्तःप्रकोष्ठीया (Ulner) धमनी और मध्यप्रकोष्ठिका (Median) नाड़ी हृत्यादि महत्व के अंग होते हैं। रसयोगसागरकार के समान इससे कूर्पराग्रखात (Cubital fossa) समझ सकते हैं। कूर्पर—यह संधिमर्म है। इससे कोहनी जोड (Elbow joint) का बोध होता है। आणी—यह स्नायुमर्म है। इससे द्विशिरस्का (Biceps) पेशी की कण्ठरा का बोध होता है। इसके पास वाहवी धमनी तथा मध्यप्रकोष्ठिका नाड़ी होती है। इस मर्म के उपद्रव कण्ठरा तथा नाड़ी के वेध से होते हैं। ऊरु—यह सिरामर्म है। इसका स्थान वाहुमध्य अग्रभाग है। इससे वाहवी धमनी, अन्तर्वाहुका सिरा, वहिवाहुका और मध्यप्रकोष्ठिका नाड़ी का प्रहण करना चाहिए। सिरा या धमनी का वेध होने से रक्तज्य और नाड़ी का वेध होने से वाहुशोष (Atrophic paralysis) हो जाता है। लोहिताक्ष—यह भी सिरामर्म है। इसमें भी ऊरुमर्म के महत्व के अंग हैं, केवल स्थान कुछ कपर की ओर कक्षा में होता है। यहाँ पर धमनी कज्ञाधारा (Axillary) कहलाती है।

है। इस मर्म के वेष से पचापात या बाहुगोप हो जाता है। ये लघुण नार्वे (Nerve) के वेष से होते हैं। रसयोग-सागर में छोहितात् (अर्थ-शास्त्र का) का आंगलानुवाद Sacral plexus दिया है। सेकल प्लेजिस थोगि में होता है, उच्चवासा में नहीं। अतः यह मुद्रणगोप मालम होता है। यथापर—यह स्नायुमय और पक्षाहुल है। अस्टोगढ़दय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विश्व सिराम में यत्काया गया है—मनविशात् सिराया। इहसी मार्म नीले मर्मे कलापी पणी। (विद्ये । शा० ४)। इसको सिराम में मानने की अपेक्षा स्नायुमय मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वर्णन में प्रमाणी क्या है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका इथान बाई और कड़ा के मर्म में याने काँच के शिखर में बताया है। वहाँ पर महाव का अग्र कलानुगा नारी प्रवेणी (Brachial plexus) का कवचाइस्तित भाग आता है, जिसमें पार्सिकी, मध्यानुगा और पवित्रा वेणिङ्गार्ड (Lateral, median and posterior cords) आती है। इनके वेष से पचापात होता है। पचापात—यह उपद्रव छोहितात् नामक हायो और पार्दो के मर्मों में भी बताया गया है। पचापात का सामान्य अर्थ सर्पूण एक एच पाने आये शारीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। वहाँ पर पचापात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। वहाँ पर इसका अर्थ है 'एच की जिस शास्त्र के मर्म में वेष फूला है, उस शास्त्र का घात' अर्थात् पक्षागत (पचापित एक शास्त्रावात्)। शास्त्रिन मर्मों का परीक्षण—शास्त्रकर्म की दृष्टि से घमनी, नारी और वहीं सिरा ये महाव के अग्र होते हैं। यदि शास्त्राधित मर्मों का अनुसंधान इन महाव के अग्रों की दृष्टि से किया जाय तो कहना परस्ता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि मर्मों के निमित्त शास्त्रों के इन प्रयान अग्रों का स्थान चिकित्सकों को मालम होता है। जैसे, चिम, तलद्रव, कूर्चिरि, इन्द्रवरित, आगी, ऊर, छोहितात् और बाहु का कष्ठवर ये सब मर्म शास्त्रों के इन अग्रों के मानों के नीचे से ऊपर तक के पकाव हैं। सिरामर्म—जोड़े दूसरे सूत्र के वक्तव्य में बताया जा चुका है कि मर्म का नाम उसके शारीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शास्त्रों में ऊर, छोहि तात्, कावात् ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आयुनिक झट अर्थ (Vein) दिया जाय तो पचापात या संविशरोप ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येकशारीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रक्षना देखी जाय तो इनमें घमनी Artery शुद्र रक्तवाहिनी), सिरा (Vein अन्युद रक्तवाहिनी) और नारी (Nerve वातवाहिनी) ये तीनों अंग उपरित रहते हैं। आयुनिक दृष्टि से पचापात या पक्षागत या संविशरोप ये विकार प्रायः नारी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नारी होती है। इसलिए, जैसे कि अमरकोश में लिखा है 'नारी तु घमनों सिरा' उसके अनुवासन सिरा से तीनों का प्रहण करना चाहिए और सिरामर्म में आवश्यकता के।

अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वमुद्रोरेसोर्मर्माण्यतुद्यायास्याम—
तथ घातवर्चोनिरसनं स्थूलान्यप्रतिवद्यं गुदं नाम
मर्म, तथ स्थोमरणम्; अल्पमांसशोणितोऽन्यन्तरातः
कट्यां मूर्त्याये वस्तिनांम, तनापि स्थोमरणमश्म-
रीयणादते, तद्राप्युमयतो मित्रे न जीर्णति, एकतो
भिन्ने मूर्त्यायी द्वाणे भवति, स तु यत्नेनोपकान्तो
रोदति, पक्षामाशययोर्मन्ये सिराप्रभवा नाभिनाम,
तथापि स्थोमरणम् ॥ ३३ ॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का व्याप्तिगत करेंगे। इनमें भल और बात को निकालने वाला, वही आंत से उड़ा दुआ गुद नामक मर्म है। वहाँ पर (वेष होने से) तलाल मूर्त्यु होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मात्र और एक अण रहता है ऐसा मूर्त्र का आवार वस्ति नामक मर्म है; वहाँ पर अरमरोदण के अतिरिक्त (अन्य कारण से वृण उत्पन्न होने पर) तलाल मूर्त्यु होती है। अरमरी के लिए भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता, एक में भेद करने से मूर्त्यायी वृण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पक्षाशय और आमान्य के मर्म में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेष होने से) तलाल मूर्त्यु होती है ॥ ३३ ॥

बक्ष्य—युद—मासमर्मदं चतुर्णुल स्त्रोधाति च ।
(दलहण)। अटांगदृदय के अनुसार गुद घमनी मर्म है। इसको मोसमर्म कहना ही चर्चित है। गुद के सवध का कुठ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्तव्य (प्रयम उत्थ ४४ २२९) में किया गया है। गुद से वहाँ पर गुदनलिङ्ग (Adal canal) और गुदार (Aulus) का ही प्रहण करना चाहिए। मलानाय (Rectum) का प्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातवर्चोनिरसन है, व्योधारक नहीं है। चक्रसहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'बहरगुद' किये गये हैं। उसकी दोनों में चक्रपाणित लिंगते हैं—उत्तरगुद वृत्त पुरुषवतिलिंग, देन द्वारा पुरी निष्कामनि उत्तरगुद। (शारीर ४-१०)। वहाँ पर युद से चक्रोक्त अधरगुद अनिप्रेत है। युद के ऊपर आपात होने से तलाल मूर्त्यु रसवृत्ता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गमीर हुआ हो तो उद्दावरण में शोथ (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। युद को इसना महाव देने का और एक कारण यह मालम होता है कि प्राचीन काल में जैसे सिर के शारीर का मूल मानने की कल्पना थी—कर्षण्यमूलम शास्त्रवृद्धयः पुष्प विदु । मूलप्रदारिणस्तत्त्वाद् रोगाद् रीवितर जयेत् ॥ (अटांगदृदय, उत्थ ४० १५) जैसे ही युद को भी शारीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन वस्ति की फल प्राप्ति चक्र में वर्णन की गई है—मूले निष्को दि वया

दुगः स्यादीलच्छ्रदः गोभूषपठवाययः । काले मद्भूत पृथक्फलप्रदश तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥ (सिद्धि १) । इसकी टीका में चक्रपाणिकृत्त लिखते हैं—गूडूटान्तेन चानुवासनेन क्षत्तात्पर्णशीयस्य गुरुस्य देहगूलत्वं दर्शयति । उक्तां हि पराश्रे—मूलं शुद्धं शरीरस्य क्षिरात्तप्र प्रविष्टिः । सर्वं शरीरं पृथक्फलं मूर्खान्तं यावदाभिताः ॥ अस्ति—स्नायुपमेदं चतुरुंगुलं सपोधाति च । (उल्लहण) । यद्यी मूद्याशाय (Urinary Bladder) है । इसका वर्णन निदानस्थान के तीसरे अध्याय के १८-२० इलोकों में तथा उनके चक्रव्य (प्रयमखण्ड पृष्ठ ३२६-३३७) में किया गया है । यहाँ पर उसका और उदरावरण (Peritoneum) का संबंध देखना जरूरी है । परिस्ति के चार पृष्ठ (Surfaces) होते हैं—एक ऊर्ध्व, एक अधर और दो पार्थिक । इनमें से ऊर्ध्व भाग पर उदरावरण लगा रहता है । अधर और पार्थिक पृष्ठ उदरावरणरहित होते हैं । वस्ति मूल से परिपूर्ण होने के समय वस्तिप्रदेश पर आवाह या घोट लगने से वह विदीर्ण (Rupturo) हो जाती है । यह विदार चारों में से किसी एक पृष्ठ में हो सकता है । वस्ति ऊर्ध्व पृष्ठभाग में विदीर्ण होने से मूत्र उदरगुहा में प्रवेश करेगा । इस विदार को पर्युदरान्तर्य (Intraporitoneal) कहते हैं । इनमें विदीर्ण होने के समय स्तब्धता, पीड़ा दूर्यादि तीव्र लघुण उत्पन्न होकर थोड़े समय में तीव्र उदरावरणशोय होकर उसी से मृत्यु हो जाती है । वस्ति का भेद प्रायः इसी प्रकार का होता है और इसी से जल्दी मृत्यु होती है । यदि पार्थिक या अधर पृष्ठ में भेद हुआ तो मूत्र उदरगुहा में न जाकर श्रोणिगुहा में उदरावरण के बाहर फैलता है । इसको पर्युदरवाय (Extra poritoneal) विदार या भेद कहते हैं । इस प्रकार के विदार से कटि की संयोजक धातुओं में तीव्र स्वच्छ का पाक (Suppurative pelvic cellulitis) उत्पन्न होकर पृथमयता या विप्रमयता से मृत्यु होती है । संचेप में, यद्य आगन्तुक कारणों से वस्ति विदीर्ण होगी, तथ उदरवाय या उदरान्तरीय भेद होगा और दोनों में ही मृत्यु हो जायगी । अश्मरीयणादृते—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि इस शब्दसमूह का अर्थ ‘आकस्मिक, आधातजन्म्य, आगन्तुक और शल्पशास्त्रज्ञ से जो नहीं किया गया है, ऐसा व्यव उत्पन्न होने पर’ होता है । अश्मरी का व्यव शल्पशास्त्रज्ञ सोच-विचार करके योग्यस्थान में करता है, जिससे मूत्र दूधर-उधर न जाकर सीधा उससे बाहर निकलता है और न उदरगुहा में, न कटिगुहा में विकृति पैदा होती है । उभयतो मिन्न इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि अश्मरी निकालने के लिए सावधानी से किया हुआ एक व्यव सुशिक्ल से भरता है और दो व्यांकों का रोपण होना असंभव हो जाता है, जिससे इन व्यांकों से मूत्र उत्पन्न होता है । विकिसास्थान के सातवें अध्याय में अश्मरी का जो शाश्वर्कमेर्वर्णन किया है, वह मूलाधारपार्श्विक वस्ति-भेदन (Lateral cystotomy) है । भेदन के समय यदि थीक सरल भेदन न हुआ हो और त्वचादि धातुपुँ प्रथिक दूधर उधर कटी हुई हो तो वस्ति का मूत्र दूधर उधर कैलकर श्रोणिगुहा में शोथ, (Pelvic cellulitis) उत्पन्न करता है । दोनों तरफ भेदन करने से इस शोथ के उत्पन्न होने की संभावना हुगुनी बढ़ जाती है । इसी लिए किखा

है कि उभयतो भिन्न होने पर मृत्यु हो जाती है, क्योंकि श्रोणिगुहागत शोथ घातक होता है । संचेप में, प्राचीन काल में वयपि वस्तिगत अश्मरी मूलाधारपार्श्विक वस्ति-भेदन से निकाली जाती थी तथापि वहुत कम लोग उसके बाद व्यवहार के लौंग जो व्यवहार के लौंगों में मूत्रवाही व्यवहार करता था । विकिसास्थान में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है—अकियार्था भ्रूमो मृत्युः कियार्थो संशयो भवेत् । अश्मरीशृङ्खल्य कर्त्यनीस्तरं साधुकारिण्य ॥ नाभि—सिराममेदं चतुरुंगुलं सपोधाति च । नाभिसिराभां का प्रभव (सातवें अध्याय के ३ श्लोक का वक्तव्य देखो) गर्भावस्था की हृषि से माना गया है । जन्म के पश्चात नाभि का और सिराभां का कोई संबंध नहीं रहता है । नाभि के पीछे उदरगुहा है । उदर में सब महस्त के अंग होते हैं । नाभि के ऊपर आघात होने से भीतरी महस्त के अंगों के ऊपर उसका परिणाम होकर, अंगों के विदीर्ण होने से, प्रत्यावर्तनजनन्य हृद्देश से या स्तनघता से भ्रूमो व्यवहार हो जाती है । यदि किसी नोकीले शास्त्र द्वारा वेधन हुआ हो तो आन्त में ऐद उत्पन्न हो सकता है और मल उदरगुहा में आने के कारण उदरावरण शोथ से मृत्यु हो सकती है । यद्य विपम ज्वर या कालज्वर (कालाजार) के कारण यकृत और लीहा वहती है, तथ नाभिप्रदेश या उसके आस पास प्रहार होने पर यकृत या लीहा विदीर्ण होकर रक्तस्राव से या स्तनघता से रोगी की मृत्यु हो जाती है । संपूर्ण दृद्दर के सामने का पृष्ठ-भाग मर्मस्थान है, जिस पर घोट लगने से मृत्यु हो सकती है । यहाँ पर उदर के दो विभाग किये गये हैं—वस्तिविभाग और नाभिविभाग । वस्तिविभाग में जघनकपाल के पूरोर्ध्व छूटों (Anterior Superior Iliac Spine) को जोड़ने वाली रेखा के नीचे का भाग आता है और उसके ऊपर का भाग नाभिविभाग में आता है ।

स्तनयोर्मध्यमधिप्रायोरस्यामाशयद्वारां स्तन्वरज-स्तनमसामधिधानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणः; स्तनयोरधस्ताद् द्वयद्वुलमुभयतः स्ननमूले नाम (मर्मणी), तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां भ्रियते; स्तनचूचुक्योरुर्ध्वं द्वयद्वुलमुभयतः स्तनरोहितौ नाम, तत्र लाहितपूर्णकोष्ठतया कास-श्वासाभ्यां च भ्रियते; अंशकूटयोरधस्तात् पाश्वोपरिभागयोपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्; उभयत्रोरसो नाड्यौ चातावहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र चातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युद्रोरसोद्दर्दिशमर्मणिव्याख्यातानि ॥३४॥

(छाती के मर्म—) छाती में दोनों स्तनों के मध्य प्रदेश में अवस्थान किया हुआ आमाशय का द्वार और सत्त्व, रज तथा तमं का अधिष्ठान हृदयनामक मर्म है वहाँ पर (वेध होने से) भी तक्काल मृत्यु होती है । स्तनों के नीचे दो अंगुल दोनों ओर स्तनमूलनामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती), कफ से भरकर कास-श्वास से मृत्यु हो जाती है । स्तनचूचुक्यों के ऊपर दो अंगुल दोनों ओर स्तनरोहित नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) रक्त से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है । दोनों अंशकूटों के नीचे पाश्वों के

है। इस मर्म के वेध से पदाघात या पाहुँशोप हो जाता है। पैलचण नाडी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोग-सागर में लोहिताच (अर्च-शाखा का) का आंगनामुवाद Baoral plexus दिया है। सैकड़ प्लेक्जस थोगि में होता है, अर्चशाखा में नहीं। अतः यह सुदण्डदोष मालम होता है। वक्षापर—यह स्नायुमर्म और पकाहुँल है। अर्ट्रोग्राह्यदय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विद्रप सिरामर्म वृतलादा गया है—सहविश तिराशया। इहत्यौ मारुका नीले सभै वक्षाधरो फणी। (विट्टपे। शा० ४)। इसको सिरामर्म भानने की अपेक्षा स्नायुमर्म भानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे १ अध्याय के हितीय सूक्ष्म के वक्तव्य में भसनी कदा है। इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका इयान वृच्छ और कड़ा के मध्य में याने कॉर्ड के विवर में वृतलादा है। वहाँ पर महाव का अग कजानुगा नाडी प्रवेणी (Brachial plexus) का कजान्दीस्थित भाग जाता है, जिसमें पार्श्विकी, मध्यानुगा और पश्चिमा वेणिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इनके वेध से पदाघात होता है। पदाघात—यह उपद्रव लोहिताच नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी वृतलादा गया है। पदाघात का सामान्य अर्थ सूर्पण एक पच याने अपेक्षी शारीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। वहाँ पर पदाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। वहाँ पर इसका अर्थ है 'पच की जिस शाखा के भर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् एकांगवात (पदाघात एक शाखाघात)। शाखाघित मर्मों वा परीक्षण—शाखाकर्म की हाइ से घमनी, नाडी और वक्षी सिरा ये महाव के अग होते हैं। यदि शाखाघित मर्मों का अनुसंधान इन महाव के अर्गों की हाइ से किया जाय तो कहना पढ़ता है कि व्यधापि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि भर्मों के निमित्त शाखाओं के इन प्रधान अर्गों का स्थान विचारकों को मालम होता है। जैसे, विधि, तलहृदय, कूर्चिर, इन्द्रियिल, आगी, ऊरु, लोहिताच और बाहु का कधार ये सब मर्म शाखाओं के इन अर्गों के मार्गों की नीचे से उत्पर का क्षेत्र के पड़ाव हैं। सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में वृतलादा जा जुका है कि मर्म का नाम उसके शारीर की वनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, लोहिताच, कधार ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आगुनिक इड अर्थ (Vena) लिया जाय तो पदाघात या सरियशोप ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशारीर की हाइ से यदि इन मर्मों की इच्छा देखी जाय तो इनमें घमनी Artery और रक्तवाहिनी, सिरा (Vena अग्नुद रक्तवाहिनी) और नाडी (Nervus यातवाहिनी) ये हीनों की उपरिक्षेत्र रहते हैं। आगुनिक हाइ से पदाघात या एकांगवात या सरियशोप ये विकार ग्राय नाहीं के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाडी होती है। इसलिय, जैसे कि अमरकोश में लिखा है 'नाडी तु घमनी सिरा उसके अनुवाद सिरा से हीनों का ग्रहण करना आहिप और सिरामर्म में आवश्यकता के

अनुसार हीनों का समावेश करना आहिप।

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मार्णयनुव्याख्यास्याम—
तत्र यातवर्णोनिरसनं स्थूलान्तप्रतिवर्द्धं गुदं नाम
मर्म, तत्र स्योमरणम्; अल्पमांसशोणितोऽप्यन्तरातः
कट्पां मूनाशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि स्योमरणमश्य
रीव्रणादृते, तत्राण्युभयतो भिन्ने जीवति, एकतो
भिन्ने मूवद्वायो ग्राणे भवति; स तु यत्नेनोपकाळो
रोहति, पकामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम,
तत्रापि स्योमरणम्॥ ३३॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और घाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मठ और बात और निकालने वाला, बड़ी अंत से उंडा हुआ गुद नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल सूख्य होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मास और रक्त अवध होता है पैसा मूत्र का आधार यस्ति नामक मर्म है, वहाँ पर अस्मीत्रिण के अतिरिक्त (अन्य कारण से ज्ञान उत्पन्न होने पर) तत्काल सूख्य होती है। अरमरी के लिये भी हीनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं वृतला, एक में भेद करने से मूवद्वायी कण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पकाशय और आमाशय के मध्य में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल सूख्य होती है॥ ३३॥

बहुव्य—गुद—मासमर्मदं चतुर्थुलं सलोकाति च।
(हृदय)। अतीग्राह्यके अनुसार गुद घमनी मर्म है। इसको मासमर्म कहना ही अवित है। गुद के सबध का कुरु विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के धौपै सूत्र सदा उसके वक्तव्य (प्रयम लण्ड पृष्ठ ३२६) में किया गया है। गुद से वहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Anus) का ही महण करना आहिप। मलाशय (Rectum) का प्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातवर्चोनिरसन है, वचोधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी दीक्षा में घकपाणिद्वय लिखते हैं—उत्तरगुद यज्ञ प्रुत्रवदिष्ट्ये, वैन दु पुरोप निकामिति उदयरुदर। (शारीर ८-१०)। वहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद अभियेत है। गुद के ऊपर आघात होने से तत्काल सूख्य रसन्धता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गमीर हुआ हो तो उदरवरण में शोष (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। गुद को हलना महाव देने का और एक कारण यह मालम होता है कि मासीन काल में जैसे सिर की शारीर का मूल मानने की कल्पना थी—अध्यमूलस्य शास्त्रपदः पुरुष विदुः। मूलप्रशारिणस्ताद् रोगान् शीतल जयेत्॥ (अर्ट्रोग्राह्यदय, उत्तर २५) ऐसे ही गुद को भी शारीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और हसी कल्पना के आधार पर अनुवादसन वस्ति की कल्पना चरक में वर्णन की गई है—पूर्ण निषिको हि यज्ञ

वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से कुफकुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस् (Pneumothorax) और अपलापवेध की पूर्यभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें सन्देह नहीं) से पूयोरस् अन्तःपूयता (Empyema समझना उचित है । ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है । तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the mamma रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तम्भ से two bronchii (नाडीशब्देनेह वातवहत्वेन विवितात्मु वकोगतासु सिरातु मध्ये कुफकुसाद् हृदयगमिन्यौ स्नायुसचिवे दे सिरे लक्ष्यते । हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं ।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवरणी हीनैरुपश्च भ्रियते, पाश्वजघनवहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकृण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पाश्वान्तरप्रतिवद्वौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोषो द्वौर्वल्याच्च मरणम्; अधःपाश्वान्तरप्रतिवद्वौ जघनपाश्वमध्योस्तिर्थगूर्ध्वं च जघनात् पाश्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया भ्रियते; रतनभूलाद्जूभयतः पृष्ठवंशस्य वृहैत्यौ नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्भ्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतिक्षेप्त्रेऽसंसफलतेके नाम, तत्र वाहोः स्वापैशोषौ; वाहुमूर्ध्यग्रीवामध्येऽस्पीठस्कन्धनिवन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तवधावहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक शोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तश्च से पाण्डु, विवरण और क्षीणदेह होकर मरता है । पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्ने) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुन्नता और चेष्टानाश होता है । शोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है । शोणिकपालों के नीचे वैष्णे हुए जघनपाश्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पाश्वसंधि नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है । पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में वृहती नामक मर्म है, कहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न

१ अनुव्याख्यास्यामः २ हीनदेहथः ३ वृहती ४ स्वापः शोषो वा ।

होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है । पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संवंधित अंसफलक नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) वाहुओं का शोप (कृशता) और सुन्नता होती है । वाहुशिर और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को वाँचने वाले अंस नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) वाहुओं की स्तवधता (अकार्षण्य) होती है । इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य— कटीकतरुण—प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यव श्रियोणि कर्णो इति केचित्पठन्ति । तत्र श्रोणिकर्णो लच्चीकृत्य त्रिकसन्धियाने श्रोण्यसुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरै च । (डल्हण) । पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तत्वेन तद्वत्प्रतिभातस्य नितम्बप्रदेशस्योभयत उभयार्थे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिवर्यं भागार्थः, काण्डं शाखेति पर्यायौ, श्रोण्याः सव्यापसन्धे भाग इत्यर्थः । अरिथनी अपदिवद्रे किञ्चित् साचीकृते अर्धवर्षो मिथः-संयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पाश्वयोर्वामदक्षिणसंशक्योः, जघनवहिर्भागे इति कथाः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पाश्वजघनभागे' इति पठित्वा पाश्वयोर्जनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईपञ्चिन्मानारे वैकल्यकरे चेति । (डल्हण) । कुकुन्दरौ रिफ्फोर्सपरि उत्तरभागो । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७) । जघनशब्देन कटिसामान्यमधिभीयते । खीकथाः पुरोभागे तावस्तुप्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनस्तनजघनाया' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, अविवेषेण खीपुं सोरभयोरेव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्वतेऽस्थिन तात्पर्यमिति उद्धिमारोहति कुकुन्दरायिषानत्वेनाऽभियानात् । तथा च पाश्वजघनवहिर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पाश्वं इति पाश्वजघने तयोर्वहिर्भागेऽप्यः-प्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृमितयोनितम्बास्थनो-रम्भयापाद्वै नातिनिम्नेऽस्थिस्तादात्रृत्वेनानतिगम्भीरे कुकुन्दरे आवर्ताकारे द्वे शुष्पिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोर्सपरि, आशयच्छादनी आमाशयपिधायकी, पाश्वान्तरप्रतिवद्वौ पाश्वसन्धे प्रतिवद्वौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरै च । (डल्हण) । इदमात्रामनन्ति—श्रोणिगुदयोरुपर्यधो नामे: पक्षाशयः इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्यवोचाम । वदिदानीमूर्ध्वार्थःसंयुक्त्योर्वामदेवगतेनावरेण पक्षाशयस्य योऽस्त्रौदृष्टिथमारुक्षति तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशकान्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र) । पाश्वसन्धि—अधोभागे यत्पाश्वयोरन्तरं मध्यं तप्तप्रतिवद्वौ, जघनपाश्वसन्धयोरिति पश्चाद्ग्रामपाश्वभागयोर्यां मध्यी वामदक्षिणौ भागौ तयोः, कथं स्थितावित्याह—तियंगूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पशुकानां क्रमवृद्धेः संधरपि तियंगूर्ध्वत्वं; जघनादिति त्यपि लुप्ते पश्चमीयम्, तेन जघनपश्चाद्ग्रामगमाश्रित्य स्थिती पाश्वसन्धी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरै च । (डल्हण) । अथःपाश्वान्तरोति प्रत्यास्तादा श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं विद्रमिति पर्यायी । तथा च अथःपाश्वान्तरप्रतिवद्वौ कुकुन्दरप्रतिवद्वौविति तात्पर्यम् । जघनपाश्वसन्धयोः कटिकपालयोः पाश्वं मध्ये च । तथा जघनातिर्थगूर्ध्वसूखप्रदेशो पृष्ठवंशस्योभयापाद्वै इति यावत्, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरसहकृतौ सिरामर्मणी पाश्वसन्धी नाम इति प्रत्येव्यम् । (हाराणचन्द्र) । वृहत्यौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लच्चीकृत्य ऋजशलाकावेधनान्यायेन पृष्ठवंशत्वोभयापाद्वै ।

उपर के भागों पर अपलाप नामक, मर्म हैं, वहाँ पर (वेष होने से) रक्त को पूर्यभाव प्राप्त होकर गृह्ण होती है। धाती के दोनों ओर अपराम नामक दो धातवह नामियों हैं, वहाँ पर (वेष होने से) धाती घातु से भरकर कास-शाश रे गृह्ण होती है। इस प्रकार उदर और धाती के बारह मर्मों का व्याख्यान किया गया। ३४॥

पृथग्य—हृदय—सिरामर्मरं कमलमुखुलानरामोमुखु चतुर्गुण च स्थोक्षाति । यह वही वृच्छय यन्त्र है, जिसके संकोच-विकास से संपूर्ण धाती में रक्त का परिवर्तन होता है। इस कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों का विवरण पीछे लौटे अध्याय में ३५थे श्लोक के वृच्छय में दिया गया है। इससे स्वाधादि का अधिकान हृदय वयों माना जाता है, उसका पता चलेगा।

हृदय दो श्वानों के बीच में रहता है, परन्तु उसका अधिकारी वाहू ओर होता है। धाती की दीवाल के ऊपर उसका अधिकारी वाहू होता है। धाती की दीवाल के ऊपर उसका अधिकारी वाहू होता है।

हृदय एवं अन्य पाँचुल (Apex)—इसका स्थान वाहू ओर के पश्चम पाँकान्तररथान में घृतुक के नीचे वह फलक की ओर है। इस या वह मध्य रेखा से इह होता है। इसी स्थान पर दर्शन वा स्वर्णन से हृदय के अप्र का स्पन्दन प्रतीत होता है। हृदय की विहृतियों में यह स्थान नीचे ओर बाहर की ओर सकता है। हृदयाप्र का स्थानान्तर दृष्टिकृति का निश्चित विहृत है। (१) वाहू ओर का सततवां उपपशुकावच-फलक स्थित। (२) वाहू ओर वृच्छ-फलक के किनारे से ; से १२५ इच्छ की दूरी पर तीसरी उपपशुका के किनारे पर। (३) वाहू ओर वृच्छ-फलक के किनारे से एक हृदय दूसरी उपपशुका के निचले किनारे पर। अब प्रथम और द्वितीय विनु हृदय प्रकार से जोड़े कि रेखा वृच्छ-फलक के मध्यभाग और अप्रत्र (XII. hord.) के संयोगस्थान में से हाकर चली जावे। यह रेखा हृदय का निचला किनारा धाती है। फिर दूसरा और तीसरा विनु हृदय प्रकार से जोड़े कि दौये उपपशुका पर रेखा का उभार वृच्छय से १५५ हृदय का हो जावे। इससे हृदय का दार्या किनारा बनता है। यह चौथे उपर पहले विनु को इस प्रकार से जोड़े कि रेखा का कुछ उभार वाहू ओर हो जावे। यह हृदय का वार्या किनारा है। आमाशयद्वारम्—अरण्यदत्त अर्णवहृदय की दीका में इसका वर्ण लिखते हैं—५वामाशयद्वार द्वार मुख्यः। तेन हि द्वारे आप्तानामाशये प्रविशति। (शा. ४)। यह वर्ण गलत नहीं है। हृदय आमाशयद्वार हृदयिष्ठ कहा गया है कि वह आमाशयद्वार के बहुत समीप रहता है। हृदय महाप्राचीरा पैशी (Diaphragm उदरवस्थुग्रह विभाजक) के ऊपर स्थित है। गले से निकली हुई अप्रणाली हृदयसमीपवर्ती महाप्राचीरा के क्षिति में से उदरघुणा में प्रवेश करके आमाशय से मिलती है। आमाशय का यह ऊपर हृदय के बहुत समीप होता है। दोनों में केवल महाप्राचीरा पैशी होती है। इस कारण से आनुनिक प्रात्याप वरिभाषा में भी आमाशय का ऊपर का द्वार हृदिक द्वार (Cardio orifices) कहलाता है—तत्रापि क्षेत्रद्वारमन्तिलिकाद्वारातुनिय—तत्प्राप्तिक द्वारमन्ति लिकाद्वारा द्वारमन्ति। (प्रायवस्थारीत)। इसके स्विवाय आमाशय का स्रोता भाग, जहाँ पर अच्छ हकड़ा होता है, हृदयसमीप होने के कारण हृदिक भाग (Cardiac portion) कहलाता

है। इस साक्षिप्त के कारण ही अधिक मोजन करने पर उसका भाग हृदय पर पड़ता है और उसके कार्य में वाया उत्पन्न होती है। मात्रानुसार मोजन का एक छद्ग जो 'अनेन हृदयावाप' वह इसी समीपता के कारण होता है। स्वामूले—सिरामर्मणी द्वयुठुले वालान्तरप्राणायेच। (द्वहण)। स्वामूले—स्वामूलयोर्वृद्ध्युठुले स्वामूलोदिते। अर्चहुलुमिते मासमर्मणी परिकीटिते। रक्षप्रतिकोद्दरय वालान्तरण-कारिणी। अप्तामौ—सिरामर्मणी अप्त्युठुले वालान्तरप्राणायेच। अप्तामौ—सिरामर्मणी अप्त्युठुलप्रमाणेवालान्तरप्राणायेच। (द्वहण)

प्रत्यवसारीर की इटि से हृदय को छोड़कर धाती के अन्य मर्मों का अंगविनिश्चय विशेष महाव का नहीं है। धाती में दो ही मर्मस्थान होते हैं—एक रक्तवाहिनी युक्त हृदय और दूसरा तुम्हुस। ये दोनों पञ्चगुण को पूर्णतया व्यापते हैं। हृदय का स्वतन्त्र निर्देश किया गया है। शेष मर्मों का किसी भी प्रकार से कुरुकु के साथ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि स्वनमूल में कफूर्णकोष्टया, स्वनरोक्तिमें लोहितपूर्णकोष्टया, अपलाप में रखेन पूर्यमागतेन और अपरस्तम में वातपूर्णकोष्टया गृह्ण होती है। यहाँ पर कोष्ट शब्द उत्तोचक है। धाती पर आवात, वेच इत्यादि होने से धाती की दीवाल पसली हृदयादि टूट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहर की हवा कुपुक्सावरण के भीतर जाकर वातोरस् (वातपूर्णकोष्टया Pneumothorax) हो सकता है। बाहर के जीवाणु भीतर प्रवेश करके कुपुक्सपाक (न्युमेनिया), खसनीकुपुक्सपाक (याको-न्युमेनिया) (कफूर्णकोष्टया) हो सकती है। बाहर की दीवाल में हृ-पूट या धान न होते हुए भी भीतर रक्तवाहिनियों के विनीयन होने से खोणितोरस् (खोणितपूर्णकोष्टया Haemothorax) या कुपुक्सपात इत्यादि और स्वर्णय रक्तीदान (Haemoptysis उदरस्त, 'भूशमभ्याहतस्य वा। विकृते वृच्छ-व्याख्यितवाद् समुदायेते। चरक) हो सकता है, या भीतर का सुख उपरस्त उत्पेत होकर अन्त-तृतीय धूप्रेत्रस् (Empyema), राजवद्यमा (Pulmonary tuberculosis) हृदयादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं—Pneumonia may follow directly upon injury, particularly of the chest, without necessarily any lesion of the lung Trauma, as for example a blow on the chest may be followed by local tuberculosis. Coler's Medicine, Trauma involving the chest wall, may be followed by active pulmonary tuberculosis. Haemoptysis occurs frequently in wounds of the chest both penetrating and non-penetrating, Inflammatory serous effusion may also occur as a complication of injury to the chest wall. In most of these conditions the exudate often becomes purulent. Text-book of medicine by F. W. Price Haemothorax commonly results from wounds, injuries etc Taylor's Medicine वे सब रोग कालान्तर प्राणहर हैं, इसमें भी संदेह नहीं है। अतः स्वनमूलवेच की कफूर्णकोष्टया से खसनीकुपुक्सपाक, खसनीकुपुक्सपाक, स्वनरोक्ति

वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से कुफकुसगत रक्तज्वाव (Haemonecrosis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस् (Ptenomothorax) और अपलापवेध की पूर्यभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें सनदेह नहीं) से पूयोरस् अन्तःपूयता (Empyema) समझना उचित है । ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आवात होने से होते हैं, सो नहीं है । तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the mamma रसयोग), त्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तंभ से two bronchii (नातीशब्देन वातवरहत्वेन विवक्षितामु वज्जोगतामु सिरामु मध्ये कुफकुसाद् एवयामास्त्रियी स्नायुसंचये दे सिरे लक्ष्यते । हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं ।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुविंशणौ हीन्न-रूपश्च वियते, पाश्वजघनवहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाद्वानमधःकाये चेष्टोपघातस्य; श्रोणीकाण्डयोरुपर्यशयाच्छादनौ पाश्वन्तरप्रतिवद्वौ नितम्बौ नाम, तत्रायःकायशोपो दौर्वल्याद्व भरणम्; अधःपाश्वन्तरप्रतिवद्वौ जघनपाश्वमधयोस्तिर्थगृह्यं च जघनात् पाश्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया वियते; रतनमूलाद्वज्ञूभयतः पृष्ठवंशस्य वृहृत्यौ नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनमित्तेरुपद्रवैर्धियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतिहिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र वाहोः स्वापौशोपौ; वाहुमूर्धग्रीवामध्ये उस्पीठस्कन्धनियव्यवनांवंसौ नाम, तत्र स्तव्यवाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक शोणिकाण्ड में कटीकतरण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तज्वय से पाण्डु, विवर्ण और ज्ञानदेह होकर मरता है । पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर म सुन्नता और चेष्टानाश होता है । शोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है । शोणिकपालों के नीचे चैंपे हुए जघनपाश्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पाश्वसंधि नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है । पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में वृहत्ती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्त्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न

१ अनुव्याख्यास्यामः.

२ हीनदेहश्च.

३ वृहत्ती.

४ स्वापः शोपो वा.

होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है । पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर विक से संवंधित अंसफलक नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) वाहुओं का शोप (कुशता) और सुन्नता होती है । वाहुशिर और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को धाँधने वाले अंस नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) वाहुओं की स्तव्यता (अकार्मण) होती है । इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—जटीकतरण-प्रतिश्रोणिकाण्डमित्वश्च ‘प्रतिश्रोणिकाण्डमित्वश्च’ इति केचित्पठन्ति । तत्र श्रोणिकाण्डे लद्यीकृत्य विकसनियाने श्रोणिगुणरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डलहण) । पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तवेन तद्वत्प्रतिभावस्य नितम्बप्रदेशाद्योभयत उभयपार्यं इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरथं भागार्थः, काण्डं शातुरेति पर्यायी, श्रोणाः सन्व्यापसव्ये भाग इत्यर्थः । अरिधनी अधिक्षिद्वद् किञ्चित् साचीकृते जड्बधिपो मिथः-संख्यके द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पाश्वयोर्वामदक्षिणसंशुक्ययोः, जघनवहिर्भागे इति कट्याः पश्चाद् भागे, गयी तु ‘पाश्वजघनभागे’ इति पठित्वा पाश्वयोर्जघनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईपनिम्नाकारे वैकल्यकरे चेति । (डलहण) । कुकुन्दरौ रिफ्लोहपरि उभयतभागो । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७) । जघन शद्देन कटिसामान्यमधिभीयते । स्लीकट्याः पुरोभागे तावस्तुप्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि फचिद् प्रशुद्धमानो दृश्यते ‘पीनस्तनजघनायाः’ इति । किं पुनरव युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, प्रविशेषेण त्रीपुंसोरुभयोरेव मर्मोऽपेक्षाद् । एवं कटिसामान्यवचनस्यात्य जघनशब्दस्य तद्वतेऽपित्तमात् उद्दिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽप्तिमानाद् । तथा च पाश्वजघनवहिर्भागे इति जघनयोः कटियपालयोः पाश्वं इति पाश्वजघने तयोर्विहिर्भागेऽपि-प्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृम्भितयोर्नितम्बास्त्वो-रुमयपाश्वे नातिनिम्नेऽपेक्षादापृत्वत्वेनानतिगम्भीरे कुकुन्दरे आवर्ती-कारे द्वे शुपिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बी—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयन्दादनी आमाशयपिधायकी, पाश्वन्तरप्रतिवद्वौ पाश्वमध्ये प्रतिवद्वौ नितम्बी, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डलहण) । इदमात्रमनन्ति—‘श्रोणिगुदयोरुपर्ययो नामः पक्षाशयः’ इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्यवोचाम । तदिदानीमूर्धार्थाःसंयुक्त्योर्नितम्बास्त्वात्प्रतिवद्वावेण योऽप्तिवयस्य योऽप्तिवयस्यात्प्रतिवद्वावेण तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशकान्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र) । पाश्वसन्धि—अधोभागे यत्पाश्वयोरन्तरं मध्यं तत्पत्रिवद्वौ, जघनपाश्वमध्ययोरिति पश्चाद्गामापाश्वभागयोर्यां मध्यी वामदक्षिणी भागी तयोः, कथं स्थितावित्याह—तियंगूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पशुकानां क्रमवृद्धेः संधरपि तिर्थगूर्धवृत्वं, जघनादिति लयपि लुप्ते पञ्चमीयम्, तेन जघनपश्चाद्गामागमाश्रित्य स्थिती पाश्वसन्धी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डलहण) । अधपाश्वान्तरेति प्रत्यास्त्र्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायी । तथा च अधपाश्वान्तरप्रतिवद्वौ कुकुन्दरप्रतिवद्वाविति तात्पयम् । जघनपाश्वमध्ययोः कटियपालयोः पाश्वं मध्ये च । तथा जघनातिर्थगूर्धवृपूर्वप्रदेशो पृष्ठवंशस्यात्य इति यावत्, सिरामर्मणेनोपदेशाद् वर्तमानी स्नायुसहकृते सिरिपश्चोपो पाश्वसन्धी नाम इति प्रत्येत्यम् । (हाराणचन्द्र) । वृहत्य—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युपद्ये च । स्तनमूले लद्यीकृत्य क्लज्जशलाकावेषनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपाश्वे ।

अंतर्फलके—इषोपरि पृष्ठवशस्यावृत्स्वात्र प्रेशनिशमार्द इषोपरी-ल्युक्टम् । विकसक्त हीन भ्रीवाया असद्वरय च च स्पोगो स विनः, तत्र सद्द्वे असफलके अविममणी अर्थात् कुले वैकल्पकारिणी च । (दलहण) । अमगत हि विकममार्जनामकलाप्रस्त्रिप्रसुप दिशन्ति तन्मुच्यते विक इनि । (हाराणचन्द्र) ।

पृष्ठ के लो और वह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं । प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरण, कुकुन्द्र, नितम्ब और पारवंसधि ये आठ याने एक एक पच के चार चार मर्म आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें वृहती, अंतर्फलक और लेस ये छँ याने एक पृक पच के तीन मर्म आते हैं । निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या घोणीप्रदेश (Gluteal reg oo) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म भ्रीवा और दो अंतर्फलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं । अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नीचे पृष्ठ कोड से विकसावान तक) घोई मर्म नहीं हैं । ओणीप्रदेश के मर्मों का धर्मन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से घोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित लोग का अर्थ निकालना कठिन है । इसलिए प्रत्येक मर्म के सर्वघ में इलहण और हाराणचन्द्र की टीका ऊर दी हुई है । घोणीप्रदेश में उच्चरा और अधरा नितविनी नाडियाँ और धमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudenda), और गृभस्या नाडी (Sciatic nerve) में महस्व के अग हैं । धमनियों के दृत जाने से रक्तचय, पाण्डु इत्यादि और नाडी के ऊपर वेष्ह होने से चेटोपरम, स्पर्मांजाल ये लक्षण होते हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेष्ह होने से भी चेटोपरम या सकता है । ये मर्मों इच्छिन्द्रकृत (Ischial Tuberosity) उर्ध्वस्थिमहाशिलर (Greater trochanter) और जबन कपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात् इस स्थान में वेष्ह होने से नाडी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होते हैं । यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—नीदीनश्य—Sciatic notch; इच्छिन्द्र—Ischial tuberosity (स्पोगो-सामार के अनुसार Anterior or super or iliac spines); नितम्ब—Ala of the ilium (स्पोगोसामार के अनुसार Gluteal reg on) । अब पारवंसधि का प्रन रहा । इसके वेष्ह से छोड़िल्लूप्रोडुक्टम से सुनु होती है । एक प्र संदर्भ-नुसार कोड का अर्थ ओणिगुहा करना चाहिए । चाहर की किसी धमनी के विद्व होने से ओणिगुहा में रक्तलाप नहीं होता । अर्थात् पारवंसधि ओणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगतागाम में सूचित किया है, पारवंसधि से अधिश्रीयी का धमनी (Common iliac artery) का प्रदूषण कर सकते हैं या डासकी अन्य शास्त्र-प्रशास्त्र का प्रदूषण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्वविन के मर्मों में वृहती से अंतर्फलक के छोरे किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subcapular and transverse sc. corrio!) प्रदूषण किया जा सकता है । अस फलक से वायपि पूरे फलक (Capula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उससे अंतर्मालीरक (spine) के ऊपर का हिस्सा होना चित्त है । इस विभाग में अध्यसिका (Suprascapular) नाडी होती है तथा अस की पश्चियों के

निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की हृदाता और सुखना हो सकती है । लेन से अंससधान (" , oolder joint) के स्नायुओं का प्रदूषण कर सकते हैं । इसी में पृष्ठचदा (Trapezias) वेशी के निवेश वा समावेश होता है । इस स्थान में वेष्ह होने से स्वभावत बाहु का काम चार हो जाता है । अष्टांगहृदय में अस का कार्य बाहुविद्या का दिया है—असी बाहुकियामरी । (शा० ४) ।

अत ऊर्ध्वमूर्खज्ञप्रगतानि व्यार्थास्याम्—तत्र कण्ठनाडीमुम्भयतथतस्य धमन्यो द्वे नीले द्व च मये व्यैत्यासेन, तत्र मूरुता स्वरवैष्टतमरसथाहिता च; भ्रीवायामुम्भयतथतेऽस्यः सिरा भातुका, तत्र सद्यो मरणः; शिरोभ्रीवयोः सन्धाने कुकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥३६॥

(भ्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जड़ के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे । कण्ठनाडी के दोनों ओर व्याख्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं । वहाँ पर (वेष्ह होने से) गृणापन, स्वर में विकृति और (जिहा के) रसवान का अभाव होता है । भ्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेष्ह होने से) तत्काल मृत्यु होती है । तिर और भ्रीवा के बोढ़ पर कुकाटिका नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेष्ह होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वक्तव्य—पृष्ठनाडी—शास का भार्या, जिसमें स्वर-यन्त्र और नीचे की काशप्रणाली हून दानों (Larynx and trachea) का समावेश होता है । ध्यानांते—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और बसा ही दूसरी तरफ—एक नीला, एक मन्या चैविस्त्रन् पादेः, अन्या नीला अन्या मन्या चापरसिन् पार्थेः । (दलहण) । नील और मन्या—सिरामर्मीय चतुर्गुणे वैकल्पकारिणी च । (दलहण) । नील और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं । ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिहा की नाडियाँ (Nerves) खाराव होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं । गले में जिहा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कंठासरी (Glossopharyngeal) और जिहासूलिनी (Hypoglossal) ये नाडियाँ होती हैं तथा उत्तराभ्रीविका (Superior thyroid) और अनुजिहिका (Lingual) दो धमनियाँ भी होती हैं । यदि नीछे और सर्व पृष्ठ होने वाले परिणामों के ऊपर च्यान देकर इनका अगविनिक्षय करना हो तो इनसे ऊपर की नाडियों का और धमनियों का प्रदूषण करना उचित है । मन्या के सब घ में चरक में नितन चरक मिलता है—वैस वैसे परिमुद्रणाने न रखेवाडी दराङ्गिरि विद्युत् । (हिन्दूद्यस्थान ४) । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—सन्वे लगपाण्डगते धमनी । इस चरन का विचार प्रस्त्र शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carpal arteries का प्रदूषण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का प्रदूषण होगा । १० हरिप्रसादी नीला और मन्या से इन्हीं लंगों का प्रदूषण वरते हैं । नीले और मन्ये वैकल्पकर मर्म हैं (१५वा श्लोक देखो), मन्या (क्यारोटिड) धमनी

अध्यायः ६] इतनी महत्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक हाइ से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामार्गाणि चतुरुंगलप्रमाणानि मातृकाः । (डल्हण) । श्रीवा के दोनों ओर प्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल श्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे प० हरिप्रपञ्चजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से श्रीवा की उत्तरान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संचेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चित करना कठिन है। तथापि इनके हारा यह वताया गया है कि श्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—माधुरेत्वली वायुः सिराः सलाशु-कण्टराः । मन्याष्ट्रांत्रिता वायाः संशोऽवायायस्येद् वाहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका श्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। ८० म० म० गणनाथसेन प्रत्यचारारी में 'कृकाटिकं नाम अग्नीयकाकारं तरुणार्थं स्वरयन्त्राप्तरावयवभूतन्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अबदु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atmns.

कर्णपृष्ठोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र वा विर्यः; ग्राणमार्गं सुभयतः स्तोतो मार्गं प्रतिवद्धेऽथभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाशानं; भ्रूपुच्छान्तयोऽखोऽक्षणोर्व्याहृतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्धं दृष्ट्यपद्यातो वा: भुवोरुपारं निम्नयोरावतौ नाम, तत्रान्धं दृष्ट्यपद्यातो वा; भुवो: पुच्छान्तय रूपरिं कण्ललाट्यामेष्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणः शङ्खोरुपरि केशान्त उत्तेष्ठो नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पनितशल्यौ वा नोद्वत्तशल्यः भुवोमेष्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्तेष्ठोपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशमरणः; ग्राणश्चोत्राक्षिजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः श्रङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणः; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्ठत् सिरासन्धिसन्निपातो रोमवर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एवैः । एवमेतानि सर्तंशादूर्ध्वजन्मगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ श्रुतेरन्तोपरि. २ शङ्खाटकसंक्षेपश्चतुर्थ, तत्रापि. ३ सद्योमरणः.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) वधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छृत के पास श्रोत्र) स्तोत मार्ग से वैधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा हाइ की शीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवत्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और हाइ की कुछ शीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्तेष्ठ नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शाल्य चुम्ब जाय तो) शाल्य के साथ चत्तता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शाल्य गिर जाने पर चत्तता है, (शाल्य चुम्बते ही) शाल्य को निकालने से नहीं चत्तता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शाल्य का परिणाम) उत्तेष्ठवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पौच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्नामद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शङ्खाटक नामक सिरासन्निपात है, वे चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार उर्ध्वजन्मगत सेंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—शायुमर्मणी किञ्चित्विम्नाकारे वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं श्रीवायां पोटशावध्याः' करके ये सिराएँ चत्तलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म चत्तलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कण्योन्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी । इस स्थान पर पश्चिमकणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाते हैं। इस धमनी या सिरा का वेध होने से वधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी वाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। कणी—ग्राणमार्गस्य द्वयोः पादव्योरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) । अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणादुभयतो ग्राणमार्गं श्रीवप्तयातुर्गी । अन्तर्गलस्थितौ वैधाद्वयविज्ञानहारिणी ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—ग्राणमार्गस्यभयोः श्रीवप्तयातुर्गी श्रीवप्तयातुर्गी, अन्तर्गलस्थितौ गताप्यन्तरे स्थितौ, फणादिव संस्थान रूपमन्योः फणादिविति नाम । यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Oridice of the auditory tube , अभिप्रेत है । इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है । इसी स्थान को नासागृह कहते हैं ।

भूमिका—इडोपरि पृष्ठवैश्वायतलाश् प्रदैनिदमार्प पृष्ठोपरी-
हुल्द्। त्रिसंदर्भे इति ग्रीजाम अमृद्यथ च यः संयोगः स त्रिः;
त्र सद्वै अंगम्-के, अत्थिमार्पेणी खर्ब्बुने वैकल्पकरिया च।
(दलहण)। अम्बानं दि त्रिसंमार्पानकामाप्सविषायामुप-
दित्विन्त हितिमुच्चे त्रिक मनि। (हाराणसन्द्र)।

पृष्ठ के ओर चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं। प्रदम निम्न विभाग है त्रिसंमें कटीकतला, हुकुन्दर, नितम्ब और पारवैष्मिय ये आठ याने एक एक पृष्ठ के चार चार मर्म जाते हैं। द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है त्रिसंमें पृष्ठी, अंगस्तक और लीस ये थे: याने एक एक पृष्ठ के तीन मर्म जाते हैं। निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या थोणीप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और ही लंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं। अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (जीवे पृष्ठ कोरे ह से विक्संधान तक) कोई मर्म नहीं है। थोणीप्रदेश के मर्मों का बग्न इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रयोक मर्म से थोणीप्रदेश के पक्षाघ मर्यादित लंग का अर्थ निकालना कठिन है। इमलिप्र प्रयोक, मर्म के संरीप में दलहण और हाराणसन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है। थोणीप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितविनि नाडियों और घमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुरुप्रस्थिका नाडी और, घमनी (Internal pudendal) और गुप्रस्था नाडी (Sciatic nerve) ये महाव के थंग हैं। घमनियों के दृट जाने से रोचय, पाल्डु ह्यादि और नाडी के ऊपर वेष होने से चेटोपरम, स्पर्शहान ये दलहण होते हैं। इनके सिवाय नेतियों का वेष होने से भी चेटोपरावत हो सकता है। ये मर्मों इकुन्दरकृत (Ischial Tuberosity) ऊर्ध्वस्थिमहादिवर (Greater trochanter) और अचन-कपाल का ऊपर का किनारा इनके पीछे में होता है। अर्थात् इस स्थान में वेष होने से नाडी या घमनी के अनुसार छड़ग पैदा होते हैं। यदि प्रयोक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीरहण—
Ischial notch; नुकुन्दर—Ischial tuberosity (इसयोग-सागर के अनुसार Ante for superior iliac spines), नितम्ब—Ala of the ilium (इसयोगसागर के अनुसार Gluteal region)। अब पारवैष्मिय का प्रवर रहा। इनके वेष से थोणीप्रदेशोंकोठड़ा से गूँगु होती है। वहाँ पर संदर्भ-मुगार छोड़ का थंग थोणिगुहा करना चाहिए। याहर की दिनी घमनी के विवर होने से थोणिगुहा में रक्ताव नहीं होगा। अर्थात् पारवैष्मिय थोणिगुहागत कोई घमनी होनी चाहिए। इस हृषि से, जैसे कि इसयोगसागर में घृणित किया है, पारवैष्मिय से अभिगोषी का घमनी (Coarcton ilio artery) का प्रावर कर सकते हैं या उसकी अन्य लाग्न-प्रावर का प्रावर कर सकते हैं।

कर्व्वर्गों के मर्मों में पृष्ठी में अंगस्तक के लंगे किनारे के पास होने वाली घमनियों का (Hubcapular and transverse capular) प्रवर किया या सकता है। अंग-स्तक से वर्षपि पूरे कल्प (Capula) का अर्थ निकल गया है तथापि उपरे अंगस्तक (Capula) के ऊपर का द्विग्राम ऐसा उपर्याप्त है। इस किया में अप्पमिहा (Apprescapular, जाही होती है तथा थंग की नेतियों के

निवेदा होते हैं, जिनके वेषन से याहु की हृत्ताता और सुखता हो सकती है। अंत से लेससंधान ("oulder joint") के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी में पृष्ठद्वारा (Trapezius) नेती के निवेदा का समावेदा होता है। इस स्थान में वेष होने से स्वतन्त्रता: याहु का काम बढ़ हो जाता है। अहागुहृदय में भ्रंत का कायं याहुक्रिया का ही दिया है—प्रेत याहुक्रियारी। (शा० ४)।

अत ऊर्ध्वभूर्धनज्ञगतानि व्यारथ्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीसुमर्यतथतद्यो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूरुता स्वरथैष्टतमरसग्राहिता च; ग्रीवायासुभयतथतद्योः सिरा मातृका; तत्र सद्यो-मरणः; दिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमृद्धता॥ ३६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जातु के ऊपर के मर्मों का व्यास्थापन करेंगे। कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यास्थापन से दो नीला और दो मन्या नामक चार घमनियाँ हैं। यहाँ पर (वेष होने से) गृणापन, स्वर में विकृति और (जिहा के) रसशान का अभाव होता है। ग्रीवाके दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेष होने से) तल्काल शुद्ध होती है। सिर और ग्रीवा के जोड़ पर हक्काटिका नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) सिर हिलता है॥ ३७॥

बहुत्य—उठाने—बास का मार्ग, जिसमें स्वर-यन्त्र और भींगी की थारप्रगाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेदा होता है। व्यत्यासन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वसा ही दूसरी तरफ—एक नीला, एक मन्या ये रेमिन् पृष्ठें, याहा नीला मन्या मन्या चापरिकूर पर्याँ। (दलहण)। भींगे सन्दे—सिरामरणी चतुर्वृत्ते वेळकल्पारी च। (दलहण)। नीला और मन्या के वेषन से होने वाले सप्त ह्याण वातिक (Nervous) हैं। ये वातिक ह्याण स्वरथन्त्र और जिहा की नाडियाँ (Nerves) व्यावह होने से या—इनकी घमनियों वा माझे होने से हो सकते हैं। गले में जिहा और स्वरथन्त्र की स्वरथन्त्रा उठारा (Superior laryngeal), घटासनी (Glosso-pharyngeal) और जिहामृदिनी (Hypoglossal) ये नाडियों होती हैं तथा उत्तरामीषिका (Superior thyroid) और अनुमिदिका (Lingual) ये घमनियों भी होती हैं। यदि भींगे और मन्ये इनके वेष से होने वाले परिणामों के ऊपर घ्याण देकर इनका अंगविनियाद करना हो तो इनसे उपर की नाडियों का और घमनियों का प्रवर करना चाहिए है। मन्या के संरीप में चाल में निम्न व्यवहार मिलता है—उपर घ्याण देकर इनके ऊपर की भींगे और मन्या से Cerv. 1st arterio का प्रवर करना परेगा और नीला से Jugular vein का प्रवर करना परेगा। १० हिमप्रस्थी नीला और मन्या से हट्टी भींगों का प्रवर करते हैं। भींगे और मन्ये वेळस्तकर मर्म हैं (अर्थात् संदेह देखो); मन्या (ह्यांसेटिक) घमनी

हृतनी महत्व की है कि उसके वेद से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के लैंगविनिश्चय में भिजता होता है। माहूरा—सिरमर्मांजि त्रुतंगुलप्रसागाणि माहूराः । (ढलहण) । ग्रीवा के दोनों ओर व्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेद के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे प० हरिप्रदज्ञी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins) ग्रहण कर सकते हैं। संज्ञेष में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह वताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महातुंडवली वायुः सिरः ससातुकण्टराः । मन्यापृष्ठाप्रिता दाताः संशोधायामयेद् वदिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अनुरुपिकाकारं तस्यारित्वं द्वरवन्वापरावयवभृतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अबटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, नव्र चा धियं; ग्राणमार्गमुभयतः स्तोतोमार्गप्रतिवद्धेऽश्रभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाक्षानं; भूपुच्छान्तयो रघोऽद्वयोर्व्याहातोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्धं द्वयैषपदातो चाः भुवोर्स्पर्पां निम्नयोगवतौ नाम, तत्राऽन्धं द्वयैषपदाता चाः; भ्रुवोः पुच्छान्तय रूपर्वि कण्णललाटयोमध्ये शङ्खी नाम, तत्र सद्योमरणः शङ्खयोर्स्परि केशान्त उन्त्यौपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पनितशल्यौ चाः नोद्रतशल्यः भ्रुवोमध्ये स्थपनो नाम, तत्रोत्तेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशमरणः; ग्राणश्वोत्राक्षिजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शङ्खाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणः; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य पर्वतः। पव्रेतानि सप्तसंशादूर्ध्वजन्त्रगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ श्रुवोरन्तोपरि. २ शङ्खाटकसंज्ञश्रुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणः.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेद होने से) वधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छूत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से वैधु द्वय नामक मर्म हैं, वहाँ (वेद होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भूपुच्छों के अन्त के नीचे लौंगों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेद होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की शीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ शीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के दीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेद होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्तेष्ठ नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शाल्य चुम जाय तो) शाल्य के साथ चत्तता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शाल्य गिर जाने पर चत्तता है, (शाल्य चुमते ही) शाल्य को निकालने से नहीं चत्तता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शाल्य का परिणाम) उत्तेष्ठवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पौच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनादा से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिहा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शङ्खाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेद होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार उर्ध्वजन्तुगत सेंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्षस्थय—विधुर—लायुमर्मांगी किञ्चिन्निम्नाकारं वैकल्यकारिणी च । (ढलहण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, पर्व श्रोतायां पोटशावध्या' करके ये सिराएँ चत्तलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म चत्तलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्ताकरण्योनिम्ने विधुरे श्रुतिहारणी । इस स्थान पर पश्चिमकणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेद होने से वधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रवल हो, कर्णनाडी की खराकी होने से भी वाधियं उत्पन्न हो सकता है। फण—ग्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (ढलहण) । अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणाद्वयतो ग्राणमार्ग श्रोत्रपथानुगी। अन्तर्गलस्थितीं विधाद्वयविशानहारिणी ॥ इसकी टीका में अस्त्रदत्त लिखते हैं—ग्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगी श्रोत्रमार्गप्राप्ती, अन्तर्गलस्थितीं गताभ्यन्तरे स्थितों, फणाद्वय संस्थानं रूपमनयोः फणाद्वयि नाम । यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Oridice of the auditory tube ; अभिप्रेत है । इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है । इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं ।

भृत्यकान्ते—द्विपरि पृष्ठवद्दायायउवाद् प्रदेहतियमार्थं द्विपरी-
खुक्षण् । विश्वसन्देशि भृत्यायाय भृत्यवद्यर च च सयोग संवित्,
तत्र सद्व्य असप्लके, शारियमसंभी खर्च्छुक्षु वैकल्पकशर्लिं च ।
(दलहण) । अमान वि विकासात्तर्वासकानामाप्तिविग्रहमुप-
रियाति तदिमुच्च्ये विक्ष इति । (हाराणचन्द्र) ।

धृत्य के जो खीदह भर्ते हैं, उनके दो विभाग होते हैं ।
प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकात्तरा, कुन्डलर, निम्नव
और पार्वत्यविधि वे खाट थाने पक एक पक के घार घार मर्म
आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें धृत्यी, असप्लक
और औस ये दो पाने पक एक पक के लौंग मर्म आते हैं ।
निम्न विभाग के सब मर्म नितन्त्र या ग्रोणीप्रदेश (Gluteal
region) में पृक्त्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा
और दो असप्लक हनसे मर्मादिन श्याम में पृक्त्र हुए हैं ।
अर्थात् इन दोनों के खीच के प्रदेश में (जीवे धृत्य कठोर से
विकल्पवात्त तक) कोई मर्म नहीं है । ग्रोणीप्रदेश के भिन्नों
का वर्णन इतना रवर्त और असराट है कि प्रत्येक मर्म से
ग्रोणीप्रदेश के एकाध मर्मादित खींग का अर्थ निकालना
कठिन है । इसलिए प्रत्येक मर्म के संरच में दाढ़ण और
हाराणचन्द्र की टीका ऊर दी हुई है । ग्रोणीप्रदेश में
उत्तरा और अधरा नितविनी नाडियाँ और घमनियाँ
(Inferior or superior gluteal nerves and arteries)
गुदोपस्थिया नाडी और घमनी (Internal pudendal) और
गृहस्थिया नाडी (Sciatic nerve) वे महार के खींग हैं ।
घमनियों के हृत जाने से रक्तवय, पाण्डु इत्यादि और नाडी
के उपर वेध होने से खेदोपरम, स्वरांशन ये लक्षण होते
हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी खेदोपवात
हो सकता है । ये भमोग कुन्डलरकूट (Ischial Tuberosity)
ऊर्ध्वस्थिमहातिर (Greater trochanter) और लवन-
कपाल का ऊर का किनारा इनके खींग में होता है । अर्थात्
इस श्याम में वेध होने से नाडी या घमनी के अनुसार
छड़ण पैदा होते हैं । यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम
देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—क्षीरनश—
Sciatic notch, कुन्डलर—Ischial tuberosity (रसयोग-
सागर के अनुसार Anterior superior iliac spines);
नितन्त्र—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार
Gluteal region) । अब पार्वत्यविधि का प्रश्न रहा । इसके वेध
से लोहितरूपकोष्ठता से भृत्य होती है । वर्हा पर संदर्भ-
नुसार कोष्ठ का अर्थ शोणिगुहा करना चाहिए । बाहर की
किसी घमनी के विद्ध होने से शोणिगुहा में रक्तवात नहीं
होगा । अर्थात् पार्वत्यविधि शोणिगुहात कोई घमनी होनी
चाहिए । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया
है, पार्वत्यविधि से अभिशेषी का घमनी (Common iliac artery)
का प्राण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाला प्रशाला
का प्राण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्वविधि के भिन्नों में धृत्यी से असप्लक के हैं जिनके
के पास होने वाली घमनियों का (Subscapular and
transverse cervical) प्राण किया जा सकता है । अस
प्लक से व्यधि पूरे फलक (Capsule) का अर्थ निकल
सकता है तथापि उससे अंसप्राचीक (spine) के ऊपर का
हिस्सा लेना चाहिए । इस विभाग में अध्यसिलिं
(Suprascapular) नाडी होती है तथा अस की पेशियों के

नियेत्र होते हैं, जिनके वेधन से धृत्य की हृत्ता और
मुक्ता हो सकती है । और से लेटरसंधात (L, oilder joint)
के स्लायुओं वा प्राण कर सकते हैं । इसी में धृत्यस्त्रा
(Triceps) वेशी के नियेत्र का घमनेश होता है । इस
श्याम में वेध होने से स्वसाक्त धृत्य का काम बद हो
जाता है । अर्ट्रोग्राफ्य में भी या काव्य धृत्यिया का ही
दिया है—भीमो धृत्यियार्सी । (शा० ४) ।

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वज्ञग्रतानि व्यारायस्याम—तत्र
कण्ठनाडीमुभयतथत्यौ धमन्यो द्वे नीले द्वच मन्ये
ट्यत्यवसेन, तत्र मूकता स्वरवैष्टवत्तमस्त्रादिता च।
ग्रीवायामुभयतथत्यौः सिरा मातृका, तत्र सयो
मरणः, जिरोवीययोः सन्याने धृकाटिके नाम, तत्र
चलमूर्धता ॥३६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अथ, इनके याद जवु के ऊर के
मर्मों का व्यालयाम बरोगे । कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यायाम
से दो नीला और दो भन्या नामक घार घमनियाँ हैं । वर्हा
पर (वेध होने से) गृणापन, स्वर में विहति और (जिद्धा के)
रसशन का अभाव होता है । ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक
घार घार सिरादृहं है, वर्हा पर (वेध होने से) ताकाल धृत्य
होती है । सिर और ग्रीवा के जोड़ पर इकाटिका नाम का
मर्म है, वर्हा पर (वेध होने से) सिर इडता है ॥३६॥

चक्षु—जङ्गनी—श्यास का मार्ग, जिसमें स्वर-
यन्त्र और नीचे की शासप्रगाली हून दानों (Larynx
and trachea) का समावेश होता है । बृत्यानेन—एक नीला
और पृक भन्या एक तरफ और घसा ही दूसरी तरफ—
दाना नीला, दाना भन्या वैरसिन् दानेन, अन्या नीला भन्या
चारपिन्, पार्वत्य । (दलहण) । नीले भन्ये—सिरामध्ये
चतुरुणे वैकल्पवातिरिय च । (दलहण) । नीला और भन्या
के वेधन से होने वाले सब लक्षण घातिक (Nervous) हैं।

ये घातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिद्धा की नाडियाँ (Nerves)
स्वराव होने से या इनकी घमनियों का नाश होने से
हो सकते हैं । गले में जिद्धा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा
उत्तरा (Superior laryngeal), कठरासनी (Glass " pharyngeal) और जिद्धामुखिनी (Hypoglossal) ये
नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरार्थिडिका (Superior thyroid)
और अनुजिक्किंका Lingual ; ये घमनियों भी होती हैं ।
यदि नीले और भन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों
के ऊपर ध्यान देकर इनका अगविनिश्चय करना हो तो
इनसे उपर के नाडियों का और घमनियों का प्राण करना
उचित है । भन्या के सबवय में चरक में निम्न चरक मिलता
है—उपर भन्ये परिवृत्तमाने न रहनेवाले, परामुखि
विग्रह, (इन्द्रियस्थान ४) । इसकी टीका में चक्रपाणिदृत
लिखते हैं—भन्ये गलपाणिगत घमनी । इस व्यय का विचार
मर्त्य शारीर की दृष्टि से करने पर भन्या से Cervical
arteries का प्राण करना पड़ेगा और नीला से Jugular
veins का प्राण होगा । १०० हरिप्रजाती नीला और भन्या से
हर्षी अग्नों का प्राण करते हैं । नीले और भन्ये वैकल्पवात
मर्म हैं (१२०० लोक देखो), भन्या (क्यारोटिड) घमनी

इतनी महत्व की है कि उसके वेद से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामार्गिणि चतुरुंगुलप्रमाणाणानि नारुकाः । (ढलहण) । श्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेद के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल श्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना दूष तो, जैसे प० हरिप्रकाशी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से श्रीवा की उत्तरान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं । संज्ञेष में, नील, मन्या और मरुकुर की लीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि हृतके द्वारा यह घताया गया है कि श्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महादितुर्वली वायुः सिरः सदायुक्ष्टरः । मन्यापृष्ठान्तिर वायाः संशोऽयायामयेद् वहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका श्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। ८० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अग्नुरीयकाकारं तरुणात्मित्य व्यरयन्वापरावयवयभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अबद्व और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठोऽवःसंथिते विधुरे नाम, तत्र वा विद्यं; ब्राणमार्गमुभयतः शोतोमार्गप्रतिव्यद्धे अभ्यतरतः फणे नाम, तत्र गन्धाक्षानं; भ्रुपुच्छान्तयोऽप्योऽव्योर्याहतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्धं दृष्ट्युपव्यातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तय रूपर्विकरणललाटयामध्ये शङ्खो नाम, तत्र सद्यामरणः शङ्खयोरूपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पनितशल्यौ वा नोद्रतशल्यः भ्रुवोमध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशमरणः; ब्राणश्वेताक्षिजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्धिपातः श्रुद्धाटकानि, तानि चतवारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणः; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्धिपातो रोमावर्तीऽधिपतिः, तत्रापि सद्य पर्वः । पवर्मेतानि सर्पिंशादूर्ध्वजन्मगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ ब्रुवोरन्तोपरि. २ श्वक्षाटकसंक्षेपश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणः.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेद होने से) वधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छृत के पास श्रोत्र) ल्लोत मार्ग से वैधु दृष्टि हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेद होने से) गन्ध का ज्ञान न ए होता है। श्रुपुच्छों के अन्त के नीचे शाँखों के धाहर की ओर धापांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेद होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निश्च भागों में आवत्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगाने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के दीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेद होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्तेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुम्ब जाय तो) शल्य के साथ चत्ता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर चत्ता है, (शल्य चुम्बते ही) शल्य की निकालने से नहीं चत्ता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्तेपवद् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगाने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में श्वक्षाटक नामक सिरासन्धिपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेद होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्धिपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगाने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार उर्ध्वजन्मगत सेंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्षव्य—विधुर—ज्ञायुमर्मणी किञ्चिन्निम्नाकारे वैकल्यकारिणी न । (ढलहण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं श्रीवायां पोदशाक्ष्याः' करके ये सिराएँ वतलाई गहू हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म वतलाया गया है और इनका स्थान टीक कान के नीचे के निश्च स्थान में दिया है—अप्तस्ताकर्णयोनिमने विधुरे श्रुतिहारिणी । इस स्थान पर पश्चिमकणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेद होने से वधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगाने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tympanum । चिदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराकी होने से भी वार्षिक उत्पन्न हो सकता है। फण—ब्राणमार्गस्य दद्योः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (ढलहण) । अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—पार्श्वाद्वारामार्गी विधुरे श्रीवायां श्रीवपथातुर्गी। अन्तर्गलस्थिती वैधाद्वन्धविश्वानहारिणी ॥ इसकी टीका में अस्त्रदद्धत लिखते हैं—ब्राणमार्गस्योमयोः श्रीवपथातुर्गी श्रीवर्माप्रसाती, अन्तर्गलस्थिती गलाभ्यन्तरे स्थितो, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम । यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरक्षा का द्वार (Oridice of the auditory tube), अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागृहा कहते हैं।

अंसफलके—इषोपरि पृष्ठवंशस्यायनत्वाद् प्रदेशनियमार्थं पृष्ठोपरी-
त्कुम् । विसंरहदे इनी भीवाया असदयस्य च यः संवेगः स विवः;
उत्र मरद्वे अंसफलके, अस्थिमर्मणी अर्थात् होने वैकल्पिकारिणी च ।
(दलहण) । अस्थिगंगे हि विकेन्द्रियावृत्तिसंकायाग्रसिपात्तमुप-
दिशित्त तिनिदुच्छाने विक इनि । (हाराणचन्द्र) ।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके द्वारा विभाग होते हैं ।
प्रथम निन विभाग है जिसमें कटीकतारण, कुम्हन्दर, नितम्ब
और पारवंसंधि ये आठ याने एक एक पहुँच के चार चार मर्म
आते हैं । द्वितीय ऊर्जविभाग है जिसमें वृहती, अंसफलक
और अंस ये छः याने एक एक पहुँच के तीन मर्म आते हैं ।
निन विभाग के सब मर्म नितम्ब या थोणीप्रदेश (Gluteal
reg. op) में एकत्र हुए हैं और ऊर्जविभाग के मर्म भीवा
और दो असफलक इनसे मर्मादित स्थान में एकत्र हुए हैं ।

अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नीचे पृष्ठ कोरोन से
विकसितान तक) कोई मर्म नहीं है । थोणीप्रदेश के मर्मों
का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से
थोणीप्रदेश के पृष्ठाघ मर्मादित अंग का अर्थ निकालना
कठिन है । हमलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में दलहण और
हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है । थोणीप्रदेश में
उत्तरा और अधरा नितम्बी नाडियाँ और धमनियाँ
(Inferior or superior gluteal nerves and arteries)
गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और
गुदस्थिया नाडी (Scolic nerve) ये महसूव के अंग हैं ।
धमनियों के दृट आने से रक्तचय, पाण्डु ह्यांडि और नाडी
के ऊपर वेष होने से चेष्टोपरम, स्पर्शज्ञान ये लक्षण होते
हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेष होने से भी चेष्टोपरमात
हो सकता है । ये मर्मों गुकुन्दरकूट (Iachial Tuberosity)
ऊर्जस्तिमहादिवालर (Greater trochanter) और अवन-
कपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात्
इस स्थान में वेष होने से नाडी या धमनी के अनुसार
लक्षण पैदा होते हैं । यदि प्रत्येक मर्म के लिए इवतन्त्र नाम
देना हो तो निन प्रकार से दे सकते हैं—स्टीटनलथ—
Sciatic notch; कुम्हन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार
सागर के अनुसार Ante or superior iliac spines),
निनन—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार
Gluteal region) । अब पारवंसंधि का प्रदर्श रहा । इसके वेष
से लोहितपूँछोटा से भूमुख होती है । यहाँ पर संदभी-
तुमार कोष का अर्थ थोणिगुहा करना चाहिए । बाहर की
किसी धमनी के विद होने से थोणिगुहा में रक्ताव नहीं
होता । अर्थात् लार्वसंधि थोणिगुहागत कोई धमनी होनी
चाहिए । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में स्वचित किया
है, पारवंसंधि से अभिनियोगी का धमनी (Common iliac artery)
का प्राण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखाओंप्राणाशा का
प्राण कर सकते हैं ।

ऊर्जवंगों के मर्मों में वृहती से असफलक के द्वारे किनारे
के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and
transverso cervical) प्राण किया जा सकता है । अस-
फलक से यापि पूरे पलक (Pneumon) का अर्थ निकल
सकता है तथापि उससे लेसमार्चीक (spine) के ऊपर का
हिस्सा ऐना उचित है । इस विभाग में अस्थिसिंका
(Suprascapular), भासी होती है तथा अस की पेशियों के

निवेश होते हैं, जिनके वेषन से बाहु की कृशता और
सुधुता हो सकती है । अंस से अससंयोग (" ,oulder joint)
के इनायुओं का प्राण कर सकते हैं । इसी में शृङ्खला
(Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है । इस
स्थान में वेष होने से स्वभावत बाहु का काम दूर हो
जाता है । अटांगद्वय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही
दिया है—असी बाहुक्रियारसी । (शा० ५) ।

अत ऊर्ध्वमूर्द्धज अग्रातानि व्यारायास्यायः—तत्र
कण्ठांडीमुम्भयतथतस्मी धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये
द्यत्यासेन, तत्र मूकता स्थरवैष्टृतमरसाद्विता च,
प्रीवायासुम्भयतथतस्मी तिरा मातुकाः, तत्र सयो
मरणः, शिरोप्रीवयोः सन्वाने शुकाटिके नाम, तत्र
चलमूर्धता ॥ ३६ ॥

(भ्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जगु के ऊपर के
मर्मों का व्याख्यान करेंगे । कण्ठांडी के दोनों ओर व्याख्यान
से दो नीले और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं । वहाँ पर (वेष होने से) गृणापन, स्वर में विकृति और (जिद्धा के)
रसज्ञान का अभाव होता है । भ्रीवा के दोनों ओर मातुका नामक
चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेष होने से) तकाल मूर्दु
होती है । सिर और भ्रीवा के जोड़ पर शुकाटिका नाम का
मर्म है, वहाँ पर (वेष होने से) सिर हिलता है ॥ ३७ ॥

वक्ष्यन्त—पृष्ठांडी—शास का मार्ग, जिसमें स्वर-
यन्त्र और नीचे की शासप्रणाली इन दोनों (Larynx
and trachea) का समावेश होता है । व्यतीतेन—एक नीला
और एक मन्या एक तरफ और बसा ही दूसरी तरफ—
एका नीला, एका मन्या वैकसिन्दू पाइँवे, अन्या नीला भन्या
नापरितिन् पाइँवे । (दलहण) । नीले मन्ये—सिरामणी
जगुरुणे वैकल्पिकारिणी च । (दलहण) । नीला और मन्या
के वेषन से होने वाले सब लक्षण व्यातिक (Nervous) हैं।
ये व्यातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिद्धा की नाडियाँ (Nerves)
स्वराव होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से
हो सकते हैं । गले में जिद्धा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रा
उत्तरा (Superior laryngeal), कंदरासती (Glottis)
pharyngeal) और जिद्धामूलिनी (Hypoglossal) ये
नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरमीविदा (Superior thyroid)
और अनुमिहिद्वा (Lingual), ये धमनियाँ भी होती हैं ।
यदि नीले और मन्ये इनके वेष से होने वाले परिणामों
के ऊपर स्थान देकर इनका अगविनिक्षय करना हो तो
इनसे दूर क नाडियों का और धमनियों का प्राण करना
उचित है । मन्या के सवाप्त में चरक में निन व्यञ्जन मिलता
है—वृद्य वैनयी वरिष्यवाने न रन्देवाता, परामुर्ति
विपात । (इन्द्रियस्थान ४) । इनकी टीका में चाकपाणिदृश
लिखते हैं—मन्ये गलामार्गे धमन्यो । इस व्यञ्जन का विचार
प्रत्यय शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Car. १
arteries का प्राण करना पैदागा और नीला से Jugular
veins का प्राण होगा । १० हारिप्रपत्ती नीला और मन्या से
इन्हीं लोगों का प्राण करते हैं । नीले और मन्ये वैकल्पक
मर्म हैं (१९वीं श्लोक देखो); मन्या (क्यारोटिड) धमनी

इतनी महत्व की है कि उसके बेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरमर्माणि चतुर्गुलप्रमाणाणि मातृकाः । (डल्हण) । ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि बेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and interbal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे प० हरिप्रपञ्ची समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तरान सिराओं का (Anterior, external, posterior, external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं । संज्ञेष में, तीला, मन्या और मत्तुकर की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि हृनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहिंतुर्ली वायुः सिरा: सल्लायु-कण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता वाहाः संशोध्यायामयेद् वहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अद्वुरीयकाकारं तरुणारिथं स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अब दू और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठोऽधःसंग्रिते विधुरे नाम, जन्म वा धिर्यः; ग्राणमार्गमुभयतः श्लोतोमार्गप्रतिवद्धेश्च अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाक्षानं; भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्षेवर्वाह्योऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्धं दृष्ट्यपद्यातो धाः भ्रुवोर्हपारं निम्नयोगावतौ नाम, तत्रान्धान्धं दृष्ट्युपद्यातो धाः भ्रुवोः पुच्छान्तय रूपंरि कण्ठललाटयोमध्ये शङ्खो नाम, तत्र सद्योमरणः शङ्खयोरूपरि केशान्त उन्तेष्ठो नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पनितशल्यौ धा नोद्रतशल्यः भ्रुवोमध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्तेष्ठोपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमान्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनश्चरणः; ग्राणश्चोत्राद्विजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः श्लूड्याटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणः; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्ठात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तीऽधिपतिः, तत्रापि सद्य पञ्चैः। एवमेतानि सप्तर्त्तिशादूर्ध्वजन्मगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ श्रुतेरन्तोपरि. २ शङ्खाटकसंज्ञश्रुर्था, तत्रापि. ३ सद्योमरणः.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (बेध होने से) वधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छूत के पास श्रोत्र) ज्वेत मार्ग से वैधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (बेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। श्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (बेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की ज्ञानता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निश्च भागों में आवृत्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगाने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ ज्ञानता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के दीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (बेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्तेष्ठ नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुम्ब जाय तो) शल्य के साथ चत्ता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर चत्ता है, (शल्य चुम्बते ही) शल्य को निकालने से नहीं चत्ता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्तेष्ठ दृष्टि होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगाने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शङ्खाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (बेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगाने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजन्मगत सेंसीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्षव्य—विधुर—लायुमर्मणी किञ्चित्त्रिमाकारे वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां पोदशावध्यः' करके ये सिराएँ वतलाई गर्ह हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म वतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निश्च स्थान में दिया है—अप्तस्ताकर्णयोनिमने विधुरे श्रुतिहारिणी । इस स्थान पर पश्चिमकणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का बेध होने से वधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगाने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tympanum विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराकी होने से भी वाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फण—ग्राणमार्गस्य दयोः पार्वत्योरभ्यन्तरविवरदारसम्बद्धे फण, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) । अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निश्च प्रकार का है—परणाबुभयतो ग्राणमार्ग श्रीवप्तानुगों। अन्तर्गलस्थितौ वैधाद्वन्धविश्वानहारिणौ ॥ इसकी दीका में अस्त्रदृत लिखते हैं—ग्राणमार्गस्योभयोः श्रीत्रपथानुगों श्रीवप्तानुग्रासौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणानिव संस्थानं रूपमनयोः फणाविनि नाम । यहाँ पर श्रीत्रपथ से श्रुतिसुरक्षा का द्वार (Oridice of the auditory tube , अभिप्रेत है । इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रीवप्तान तक होता है । इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं ।

इसके ऊपर के भाग में तथा उसके सामने की नासाप्राचीर में गन्धार्दी (Olfactory nerve) की शाखा—प्रशाशाखा पैरे फैली रहती है, जिनके द्वारा गन्धग्रहण होता है। को—Olfactory regions of the nasal cavities : आपाङ्गी—सिरामंसो अर्थात् कुले वैकल्पकरे च। (ढलण)। भ्रो॒ सम्बन्धिनो पुच्छान्तयोर्बाह्या न्ययोरप॑, अस्योश्च विहिपाही मर्मली। (इन्द्रु)। Zygomatico, temporal vessels at the outer corner or canthus of the eye : आपाङ्ग॑—सनिधिमालयी अर्थात् कुले वैकल्पकराखिये च। (ढलण)। भ्रुवो॒परि—भ्रुवो पुच्छान्तयोरप॑। (अरुणदत्त)। गण्डास्थि, पुरुकपाण और जतुकास्थि के सन्धिस्थान (Junction of frontal, malar and sphenoid bone) पर यह मर्म होता है। श्वास—श्विमर्मसी अर्थात् कुले (स्थाप्राणहो च)। (ढलण)। शहूमर्म शाहूकास्थि (Temporal bone) का वह हिस्सा है, जिसके कनपटी (Temples) पहुंचते हैं। इस प्रदेश के ऊपर अनुशङ्खा उत्ताना (Superficial temporal) और शाहूकास्थि के भीतरी पृष्ठभाग पर मस्तिष्कवृत्तिंा मध्यमा (Middle's meeningual) नामक धर्मनियाँ होती हैं। शाहूकास्थि प्रदेश पर आघात होने से स्तनधना के कारण तकलाल मृत्यु हो सकती है, किंवा भीतरी धर्मनी दृढ़ने के कारण मस्तिष्क में रक्तावबन्ध सम्पीडन (Compression) से मृत्यु होती है। उत्तरी—स्लाइमसी अर्थात् कुले विश्वायमालयोरे च। (ढलण)। इससे शहूस्थान की सावरण पेशी (Temporal fascia and muscle) का बोध होता है। श्वपनी—सिरामंसो अर्थात् कुले विश्वायम् च। (ढलण)। इसको पूर्व भी कहते हैं—पूर्व मस्तीकी भ्रू॒पैद्येष। (अमरकोश)। अप्रेज्ञी में इसका रूपेला (Glabella) कहते हैं। इस स्थान पर ललिटिका सिरा (Frontal vein) या दोनों ओर की ललिटिका सिराओं को जोड़ने वाली सिरा (Nasal arch) होती है। श्वपनी के पीछे ललिटोटर (Frontal sinus) होते हैं। सीमान्त—इमानि संविमलाणि चतुरुङ्गुन्प्रभाणानि वलान्तप्राणहरणि च। (ढलण)। ये वे ही सीमान्त, Sutures of the cranium) हैं, जिनका वर्णन पौर्ववर्त अध्याय के १४ वें सूत्र में सीवनी करके किया गया है। सिर के ऊपर आघात होने निझ उत्तर उत्पन्न होते हैं—शिरस्यविहृते मन्त्रान्तमादितचक्षु विद्ममोर्त्येष्टेनेचेनानादानाशास्त्रादुवृद्धमूर्त्याग्रदत्तविजिमीजनागांड स्पन्दन्त्यूमण्यानानाहात्यरव्याहर्त्यानिवदत्तिविद्मत्तर्यनि । (च्वरक, सिद्धि॑ ९)। ये लड़ण मस्तिष्करूपदृष्टि (Cerebral con cussion ; Mastication-synapse (Con pression), मस्तिष्कप्रदोष (Irritation) के कारण उत्पन्न होते हैं और इन्हीं से कालान्तर में मनुष्य की मृत्यु होती है। श्वासक—इमानि सिरामानि चतुरुङ्गुन्प्रभाणानि। (ढलण)। मस्तिष्कगूळ में Cavernous और Intercavernous sinus करके जो सिरास्थिपात हैं, वही श्वासक है। इसमें आँखों की सिराएँ सीधी मिलती हैं और नासाकांच की अप्रत्यक्षतया मिलती है। इसका आकार भी बहुत्क्षेत्र होता है, जिसमें श्वासक तथा सुखानी दृश्यादि विदर्थी होकर मृत्यु होती है। अद्वैतदृष्टि में श्वासक धर्मनी मर्म बहुत्क्षेत्र है। अधिपति—मस्तिष्कमन्तरे परिदृष्टि मस्तिष्कमन्तरे रूपमित्यर्थं, सिरामन्त्रो निरापदो

रोमावर्तं, वहिरस्य लच्छमुपरिष्टाद्रोमावर्तं, वत् त् सरिमन्त्रम् भव्यात्प्रमाण च। (ढलण)। इसका भवतलव यह है कि अधिपति मर्म स्वोपीके के भीतर सिराओं के संस्थिपत से बना हुआ है। यह संधिमर्म है, इसका अर्थ सिरासंधिमर्म अस्थि-संधिमर्म नहीं। और इस आम्ब्यन्तरीय मर्म की बाहर की निशाती (Surface marking) रोमावर्त, याने जहाँ पर सिर के बालों में आवर्त दिलाई देता है, वह स्थान है। इस बर्णन के अनुसार अधिपति मर्म से अमुकिक शारीर बर्णन की इष्ट से मस्तिष्कवृति में पीछे की ओर मिलने वाले सिरासरिद् संधिपत (Confluence of sinuses या Torcular Herophili) का गोथ होता है। म० म० गणनाय सेनजी प्रत्यष्ठासारीर के सिराविभाग में अधिपति वा यही अर्थ देते हैं—मदाहिरात्रां नाम पूर्वोक्तान् प्राचानामपि मिरासरिता संविष्टिप्रिवात् पश्चिमपदाश्वास्यन्तरगलवेन्द्रस्य । तदपिविवित उपोमारक मर्मेति वर्णेदन्ति प्राचाऽ ॥ परन्तु अस्थिविभाग में पश्चिमकपाल और पाँचकपालों के सन्धिस्थान (Posterior fontanelle) को अधिपति मर्म बताते हैं—पश्चिमपदाश्वास्यन्तर्योदयमन्तिस्तल दिवरन्मर्मपिपिरित्य वा नाम नश्वरममंशवरणाद् ॥ यथापि ये दोनों स्थान बहुत समीप हैं, तथापि शिवरन्ध में सिराओं के सन्धियों का संविशात न होने से उसको अधिपति मर्म मानना उचित नहीं है। इस मर्म का स्थान बुद्धी नीचा गुरी (अबृह) के पास भीतर होता है। इसके सिवाय शिवरन्ध का ग्रहण पौर्व सीमान्तममीं में हो जाता है। शिवरन्ध की अपेक्षा अद्वैत (Anterior fontanelle) अधिक महसूल का होने पर भी उसका उल्लेख मर्मों में नहीं, इसका कारण यह है कि ये नन्य सीमान्तों में आ जाते हैं। इसलिए अधिपति मर्म से शिवरन्ध न समाप्तकर महासिरावर्त ही रमणना उचित है। इस तरह सिर में कुल तेर्वेस मर्म होते हैं। इन मर्मों से सिर का कोई हिस्सा नहीं बचा है। इनके निमित्त सम्पूर्ण सिर का वर्णन मिलता है। जैसे कि चरक के त्रिमर्मीय अध्याय में कहा है, वैसे ही सम्पूर्ण शिर एक मर्म कहने से भी सिर का वही एक महसूल रहता जो यहाँ पर तेर्वेस मर्मों के बीच में रहता है। इसलिए इस अध्याय के प्रथम सूत्र के वक्तव्य में लिखा है कि मर्मों के वर्णन के कायदे शारीररक्षा और शायद की हाइ से जसे होते हैं, वैसे ही शारीर अद्वैतिनिशय की हाइ से भी होते हैं।

मर्यन्ति चाथ—

कर्व्यः शिरांशि विटपे च सकृदापावै

एककमहूलमित स्तनपूर्णमूलम् ।

विद्यथ्यहुलद्वयमित मणिप्रद्यगुलकं

धोण्यवै जातु सपर्त सद्वूर्पूर्णराम् ॥३॥

द्वद्वित्यूर्चगुदनाभि एदति मूलमि

चत्वारि पञ्च च गले ददा यनि च द्वे ।

ताति स्वपाणितलकुञ्चितसमितानि

शोपान्वेदि परिविस्तरतो अलार्घम् ॥३६॥

(मर्मों के परिवार—) उर्ध्वा, दूर्धिर, विटप, कठा-घर दें (आठ मर्म) पृष्ठ एक अद्वैतपरिमित, स्तनमूल, मणि-पूर्ण और गुलक दें (दो मर्म) दो अद्वैतपरिमित, दो कूपर और दो जातु तीन अद्वैतपरिमित जानने काहिरे ॥३६॥

हृदय, वस्ति, कूच, उद, नाभि, सिर के चार (शंगाटक) और पाँच (सीमन्त) तथा गले के दस और दो (दो मन्या, दो नीला और आठ मात्रुका, ये उन्तीस) मर्म मुष्टिपरिमित होते हैं । शेष (छप्पन) मर्मों को अर्धाङ्गुलपरिमित समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—शिरासि—कूचशिरांसि । कक्षपर्श्वे—कक्षधरे इत्यर्थः । सपरम्—द्वितीयजानुसहितं जान । स्वपाणितलकुञ्जितसंमितानि—चतुर्खुलप्रमाणानीत्यर्थः । (डल्हण) । मुष्टिप्रमाणानि । (हाराण-चन्द्र) । कई आचार्यं शेष छप्पन मर्मों का प्रमाण तिल याचावल के समान बताते हैं—प्रग्रामात पट् च मर्माणि तिलनीहिसमान्यपि । इषानि मर्माण्यन्येषाम् । (अष्टांगहृदय) ।

एतत्प्रमाणमभिवोद्य वदिन्त तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम् ।
पाश्वाभिघातितमपीह निहन्ति भर्म

तस्माद्वि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥ ४० ॥

(प्रमाण कथन का प्रयोजन—) इन प्रमाणों को ध्यान में रख करके (मर्मस्थानों को) छोड़कर शस्त्र के द्वारा कर्म करना चाहिए, ऐसा शल्यचिकित्सक कहते हैं । (चूँकि) आस-पास चोट लगने पर भी मर्मघात करता है, इसलिए मर्मस्थान को (शस्त्रकर्म के समय) छोड़ना (वचाये रखना) चाहिए ॥ ४० ॥

छिन्नेषु पालिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगतपमतो निरेति ।
प्राध्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः

संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥ ४१ ॥

(शाखा मर्मों का गौणत्व—) मनुष्यों के हाथ-पाँवों में छिन्न हो जाने पर (छेदस्थान की) सिराएँ सिकुड़ जाती हैं; अतः अधिक रक्त नहीं निकलता । इसलिए (हस्तपादच्छेदन रूप) कठिन चिप्ति को प्राप्त हो करके भी, जिसकी शाखाएँ कट गई हैं से छूँचों के समान मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते ॥ ४१ ॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छुत्यतीव पवनश्च रुजं करोति ।

एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र चिढ़ा
चृत्वा इवायुधविघातनिकृतमूलाः ॥ ४२ ॥

(चिप्र और तलहृदय का महत्व—) हाथ-पैरों में चिप्र और तलहृदय चिप्र होने पर रक्त अत्यधिक राशि में निकलता है और वायु अधिक पीड़ा करती है । इस प्रकार जैसे शस्त्र (कुलहाड़ी) से मूल कटे हुए छूँच मर जाते हैं, वैसे ही इन मर्मों पर चिप्र हुए (मनुष्य पीड़ा और रक्त-स्रावाधिक्य के कारण) मर जाते हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—मर्मघात से मृत्यु होने के कारणों का विचार पीछे २४वें सूत्र के वक्तव्य में किया जा चुका है । रक्तस्थाव मृत्यु का एक प्रयान कारण है, इसका उल्लेख यहाँ पर किया गया है । अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है कि छेद, भेद, वेधादि से यदि रक्त अत्यधिक राशि में निकले तो, वेध का स्थान चाहे मर्म हो या न हो, मृत्यु हो जाती है

और सर्मस्थान पर वेध होने से भी यदि रक्तस्थाव अधिक न हो तो मनुष्य की मृत्यु नहीं होती—अर्मविद्वोऽपि नरश्छेद-भेदाधिपीडितः । अतिनिसुत्ररक्तश्च सद्यस्यजति जीवितम् । अतोऽन्यथा जीविति तु विद्धः शरशतैरपि ॥ (शारीर ७) । इस पर हृन्दु लिखते हैं—न केवल मर्मविद्व एव जीवितं त्यजति यावद् मर्मविद्व-ऽपि रक्तस्थातिसृते: सथ एव जीवितं जहाति । अतोऽन्यथा यथोऽक्तवै-परीत्ये मर्मव्यधे रक्ताद्यौतौ च शरशतैरपि विद्धो जीविति । एवं विनाशमायान्ति—रक्तस्थाव से मर जाते हैं । रक्तस्थाव के कारण होने वाले लक्षणों का विवरण सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ३०वें सूत्र में, तथा उसके वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४४ देखो) किया गया है । वहाँ के लक्षण मध्यम रक्तस्थाव के हैं । जब रक्तस्थाव अधिक होता है, तब मृत्यु जलदी होती है । इसके लक्षण अष्टांगसंग्रह में बहुत सुन्दर दिये हैं और आधुनिक लक्षणों के साथ ठीक लिखते हैं—विक्षिप्यते भृशं सीदन् शून्यो भ्रमति वेषते । ऊर्ध्वं श्वसिति बृच्छ्रेण स्वस्तगात्रो मुहुर्मुहुः ॥ हृदयं दद्यते चास्य नैकस्थानेऽवतिष्ठते । मर्मोपधानान्मरणमेत्तर्लङ्घः समस्तुते ॥ (शारीर ७) । रक्तस्थाव के कारण शारीर में विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए रोगी वैचैनी के साथ हृधर उधर शरीर को बुझाता है (विक्षिप्यते भृशं, To-sing) और बड़े जोर के साथ, और तेजी से साँस (ऊर्ध्वं श्वसिति gases for breath) लेता है । अन्त में अवसाद, संन्यास और आचेप के साथ मर जाता है ।

चिप्र और तलहृदय मर्मों का महत्व रक्तस्थाव की हाइट से ही होता है । इन मर्मों की सिराएँ तथा धमनियाँ अत्यन्त निगूढ़ होती हैं, जिसके कारण उनसे होने वाले रक्तस्थाव को रोकना बहुत कठिन समस्या होती है । आधुनिक काल में प्रत्यक्ष शारीर-विज्ञान में तथा संगोपांग शल्यचिकित्सा में आश्रयजनक उन्नति होने पर भी इन स्थानों के रक्तस्थाव को बंद करने में कठिनाई मालूम होती है—Wounds of the volar arches are always difficult to deal with, Wounds of the planter arch are always serious on account of the depth of the vessel. Grey's Anatomy. अब इसके बाद चिप्र-तलहृदय मर्मव्यध की चिकित्सा वर्णन करते हैं—

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पालिपादं

छेद्वद्यमाशु मणिवन्धनगुलफदेशे ॥ ४३ ॥

(चिप्रतलहृदय मर्मव्यध चिकित्सा—) इसलिए इन मर्मों पर अभिवात हुए (मनुष्य) के हाथ, पाँव, मणिव्यध और गुलफदेश में तल्काल काटकर उसको बचाना चाहिए ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—मणिव्यन्धनगुलफदेशो—हाथ के मर्म का वेध होने पर मणिव्यध प्रदेश में और पैर के मर्म में चोट होने पर गुलफदेश में । छेत्रव्यन्—पीछे ४१वें श्लोक में यह बताया जा चुका है कि हाथपैर कट जाने पर भी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वहाँ की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने से प्राणधारक रक्त का नाश बहुत नहीं होता । रक्तवाहिनियाँ के संकोच के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि, उनमें कट जाने पर संकोच (Contraction) करने का गुण होता है और रक्तस्थाव रोकने के नैसर्गिक उपायों में से यह एक उपाय है (४१वें श्लोक का वक्तव्य देखो) । परन्तु जब वही वडी रक्तवाहिनियाँ कर

१ इवायुधनिपाननिकृतमूलाः ।

जाती है, तब नैसर्गिक उपायों के ऊपर रक्तस्राव बंद होने के लिए निम्नरं रहना उचित महीं होता और तुरन्त कृतिम उपायों के द्वारा स्राव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के देवं सूत्र और उसके वक्तव्य (प्रथम संलग्न पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाय पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तस्राव बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके तुरन्त कृतिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्तस्राव से ज्ञानी की स्थूल नहीं होती। तलहृदय मर्म में चोट लगने पर यह रक्तप्रवाह शुरू होता है, तब वे धमनियाँ अव्यन्त निगृह होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का स्राव कृतिम उपायों द्वारा रोकना अव्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिनन्ध या गुलफदेस में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर छेदन करने से कृतिम उपायों द्वारा रक्तस्राव बंद करना बहुत सहल होता है और विद्व की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्थ का अभिप्राय ठीक ध्यात में आने के लिए निगम (स्वकृत) श्लोकार्थ से उसकी पूर्ण की जाती है—एव भैश्च मुग्म विविपैरसायै रास्थापनमसुविपादक शौखिनस्य।

मर्मायात, रक्तस्राव और अगुदृष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—रोड्यपत्र विद्युद् यथैव रक्तदेहोऽप्यामर्थवस्तुनोऽहित । लिखातदृश्युगामनोऽहित शेषं सुगम जीवनि यद्विजनन्तम् ॥ (भीमद्वागवत ३५-३७)। आशुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय समन बुआ है—The actual removal of a limb may be required as an immediate urgent necessity in order to save life from shock haemorrhage, or in infection. Manual of Surgery by Rose and Carless प्राचीन और अव्याचीन शाल्यवास्तु समत होने पर भी अगुदृष्टि-देह का उपाय मान्यता नहीं है। वैथ या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और ज्ञानी के लिए एक स्थायी बैकल्य उत्पन्न होता है। इसलिए खंगम-छेदन का उपाय शाल्यविधिक अवस्थाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सब स्थानों के रक्तस्राव का विचार न करके तलहृदयगत रक्तस्राव का विचार साधारण उपायों की हाई से किया जायगा। इधे लेंयों और तुम्हाँकी चोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी चिकित्सा का ज्ञान बहुत ध्वनिशक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाय या पैर के तलहृदय से रक्तस्राव होने पर धमनुमूल को हुँड़ थोड़ा करके धमनीसदृश से हटी हुई धमनी के द्वारों सिरे पकड़कर सांत से थोप देने चाहिए । यदि यह न हो सके तो धमनीरीदृशनसदृश (Protopressure forceps) से द्वों सिरे दबाकर सदृशों को बैंसे ही बाय में रसार घट थोपना चाहिए । यदि सदृश से बाय का सुख पकड़ने में कठिनाई हो सो धमनुमूल पर रक्तस्राव कर्मिका की मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और मुट्ठी थोपकर घट लगाना चाहिए और रोगी को विस्ते पर हाय या पैर ऊचा करके लिटाये रखना चाहिए । यदि इससे भी रक्त स्थान न हो सके तो बाहु या ऊपर धमनी के ऊपर रक्तुन्त्रधन (Tourniquet) करके या उन धमनियों को लोकड़ ऊपर टॉका (Ligature) लगाके

रक्तस्राव रोकना चाहिए । आविरी दो उपायों से रक्तस्राव क हो जाता है। आशुनिक काल में रक्तस्थान, धमनुमूल और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्र्यजनक उपाय होने के कारण धार्थपैरों के चोट में उनका अम्पुटेशन (Amputation) करने के भयावह उपाय को अग्रीकृत करने का प्रसंग बहुत कम आता है ।

मर्मायि शल्यविपर्याध्यमुद्दाहरन्ति

यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः ।

जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्

ते प्रानुयन्ति धिकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महाव—) यत् मर्मों पर आघात (या वेध) होने से तत्काल (मरुधृष्टों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैद्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई वच भी जाय तो भी वे विकल्पों की नि संशय प्राप्त होते हैं। इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों (के ज्ञान) की शल्यविपर्याध्यमुद्दाहरन्ति है ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—शल्यविपर्याध्यम्—संसूर्ण आयुर्वेद में शल्यतन्त्र का प्राचान्य शाखाचारादि प्रयोगान से तत्काल काम करने के कारण होता है—ज्ञात्यरवि चायुर्वेदत्रैत्यन्देवाचित्तमितमायुर्विद्यारुद्योगवशस्तुरादिप्रयोगानात् । (सूत्रस्थान १)। यदि यन्त्र, शस्त्र, चार और अग्नि का प्रयोग करते मरमय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल उपाय हो जायगा । अर्थात् शल्यतन्त्र का ऐत्यृत्व जिस किया के ऊपर अधिष्ठित है, वही किया मर्म विश्वान के सिवा हाजिर करक होती है। इसलिए मर्मों का ज्ञान आधा शल्यतन्त्र कहलाता है ।

समिद्वजर्जिरितकोष्ठिराः कपाला ।

जीवन्ति शाल्यविपर्याध्यमुद्दाहरन्ति शरीरदेशैः ।

छिन्नैन्द्र्य सन्तियमुजपादकरैर्शेष्ये-

देष्यो न मर्मपतिता विविधाः प्रहाराः ॥ ४५ ॥

(मर्मप्रहार का महाव—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इत्यस्तन) प्रहारों के कारण जिनके कोड और शिरकापाल जरजिरत हुए हैं, वेसे मनुष्य शर्कों के द्वारा विद्युप्रप्त अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सविध, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्दे रहते हैं ॥ ४५ ॥

सोऽप्माहृततेजासि रजाःसत्यतमन्तिनि च ।

मर्मसु धायशाः पुंसां भूतात्मा चायतिष्ठोऽप्तु ॥

मर्मस्त्रियाद्यागतस्याम जी-नित शर रिणः ॥ ४६ ॥

(मर्मायात से स्थूल जीवरपति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्त्व, रज, तम सत्त्वा जीवायामा प्राप्त मर्मों में (विशेषतया) अव्यन्तर करते हैं। इसलिए मर्मों पर येथे होने से (जूनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—प्राप्ता—मर्मों पर आघात होने से बहु धार धुँपु होती है, यह अनुभवरिद्य घटता है। इस पटला के कायं-कारण संदेश का दिवदर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अमुमान प्रमाण के आधार पर

किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। ये भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण चर्तालाये गये हैं। जड़ शरीर को चैतन्य सच्चादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। ये प्राण सर्वशरीरव्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु मर्मों पर आधात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्वव्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्प्राण हो जाता है।

इन्द्रियार्थप्रसंगास्तिमनोबुद्धिविपर्ययः ।

रुज्यध विविधास्तीवा भवन्त्याशुहरे हते ॥ ४७ ॥
हते कालान्तरद्वन्द्वे तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ।
ततो धातुक्षयाज्ञान्तुर्वदनाभिश्च नश्यति ॥ ४८ ॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैयुणात् ।
शरीरं क्रियया युक्तं विकल्पवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥
विशल्यद्वन्द्वेषु विक्षयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥ ५० ॥
रुजाकरणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥ ५१ ॥

(पञ्चविध मर्मधात के लक्षण—) सद्यः प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से इन्द्रियों का स्वचिपयग्रहण में असामर्थ्य वैहोक्षी (), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह राह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण होते हैं ॥ ४७ ॥) कालान्तर गणहर मर्म पर अभिघात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चित न होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की कुदालता से ही शरीर कार्यक्रम होकर विकल्पता को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ विशल्यद्वन्द्व मर्मों में जो कारण पहले वताया गया है, वही जानना चाहिए ॥ ५० ॥ पीड़ाकर मर्म (आधात होने पर) विविध प्रकार की पीड़ाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—असंग्रामिः—इन्द्रियार्थनामसम्यक्संबंधः, इन्द्रियार्थनामग्रहणस्तिर्थः ।

वेदना—लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वाङ्गिकाला वेदना इति ।
(चरक, शारीर ६) । अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित विविध रोगों से ।

वैद्यनैयुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वैद्य होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है।

कुवैद्यवशगो यदि—पीड़ाकरमर्म विद्ध होने पर यदि रोगी कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायें तो वैकल्य प्राप्त होता है।

मर्मधात के सामान्य लक्षण सुत्रस्थानके पचीसवें अध्याय के 'त्रमः प्रतापः पतनं प्रमोहोः' इन दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवैध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसुमिरुखता संमोहः श्रीतकामिता । स्वेदो मूर्च्छा वसिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवैध के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्वेऽज्ञमसुक्षावो मांसधावनवत्तनुः । पाण्डुत्वमिन्द्रियाशान मरणं चाशु मांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्युतो विद्युद्वक्षावो रक्त् चास्तिम-र्मणिः ॥ आयामादेवप्रकल्पन्मासानावेऽभ्यधिकं रजा । यानस्थानासना-शक्तिवैकल्यमयवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोप्यं धमनीस्ये विचेत्सः । सिरामर्मव्यये सांद्रमज्जं वहृष्टमज्जवेत् । तत्त्वायातृट्भ्रमश्वासमोहदि-धामिन्त्वकः ॥ वस्तुशक्तैरिवाकीर्णं रुद्धे च कुणिलक्षता । दलचेष्टा-क्षयः शोपः पर्वशोकथ संधिजे ॥ (शारीर ४) ।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तक्षाव, मूर्च्छा (Syncope), और स्तवधाता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं।

द्वेदेवाभिधातेभ्यो दहनाद्वारास्त्रादपि ।

उपधातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(मर्मसमीप धात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आधात मर्मधात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—उपधातं सर्पीपधातम् । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आधात या वैद्य के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आधात के समान होते हैं।

मर्माभिधातस्तु न किञ्चिद्विरित

योऽहपत्ययोऽद्विपि निरत्ययो वा ।

प्रायेण ममस्वभितादितास्तु

वैकल्यमृच्छन्त्ययवा मियन्ते ॥ ५३ ॥

मर्याण्यधिष्ठाय हि ये विकारा

मूर्च्छन्ति काये विविधा नरणाम् ।

प्रायेण ते कुच्छुतमा भवन्ति

नरस्य यन्त्रैरपि साध्यमानाः ॥ ५४ ॥

इति सुश्रूतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशरीर नाम पठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(मर्मधात में प्रयत्न पराकाषा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या विलक्ष न होती हो । प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल्प होते हैं या मर जाते हैं ॥ ५३ ॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ५४ ॥

बाती है, तब नैपर्सिक उपायों के ऊपर रक्ताव घंट होने के लिए निर्वर रहना उचित महीं होता और तुरन्त कृत्रिम उपायों के द्वारा ज्ञाव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सुश्रृतान के चौदहवें अध्याय के ३५वें सूची और उसके पठन्त्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाय-पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्ताव घंट होने के लिए नैपर्सिक साधनों पर विश्वास न करके तुरन्त कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्ताव से ब्रानी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में घोट लगाने पर जब रक्ताव हुआ होता है, तब वे धमनियों भ्रत्यन्त निर्गूड होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का ज्ञाव कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना आवश्यक किंतु होता है। इसलिए इस रुदोक में मणिवन्य या गुलामदेन में छेदन (Amputation at the web or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्ताव घंट करना यहुत सहज होता है और विद्व की जान बच जाती है। इसलिए इस रुदोकार्प का अभिप्राय तीक अध्याय में खाने के लिए निम्न (स्वरूप) रुदोकार्प से उसकी पूर्णि की जाती है—“इस में व्युगम विविधसारै रासायनमतुविधारशोलित्रया”

भर्मांशत, रक्ताव और झांडुटि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—नोड्यपत्य द्वितीय, वर्षोपर स्वदेशोऽप्यामयवल्लुनोऽदिति । किन्दाकाद्वय थदुतानोऽदिति शेष मूल जीवित थदिवज्जनन ॥ (भीमद्वायवत ३-९-३७)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय समत हुआ है—The actual removal of a limb may be required as an named a's urgent necessity in order to save life from shock haemorrhage, or infection Manual of Surgery by Rose and Carless। प्राचीन धौर अर्वाचीन शल्यशास्त्र समय होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है। वैद्य या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और ब्रानी के लिए एक स्थायी बंकर उत्तम होता है। इसलिए अंगच्छेदन का उपाय अल्यायिक अध्यायों में बहुत सांकेतिक विवार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सर स्थानों के रक्ताव का विवार न करके तलहृदयगत रक्ताव का विवार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा। हथेलियों और ततुजों की घोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी विविलता का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाय या पैर के तलहृदय से रक्ताव होने पर ब्रानुसुख को कुछ चौदा करके धमनीसंदृश्य से हटी हुई धमनी के दोनों सिरे पकड़कर तांत दे से बॉंच देने चाहिए । यदि यह न हो सके तो धमनीपीडनसंदृश्य (Proximal pressure forceps) से दोनों सिरे दबाकर सदरों को बेसे ही ब्रान में रखकर पहली बॉंचना चाहिए । यदि सदरा से ज्ञाव का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो ब्रानुसुख पर स्वच्छ कवलिका की मोटी ताह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और मुट्ठी बॉंचकर घट लगाना चाहिए और ब्रानी को विस्तरे पर हाय या पैर ऊचा करके लियाये रखना चाहिए । यदि इससे भी रक्त स्तम्भन न हो सके तो बाहु या ऊह धमनी के ऊपर रक्तुन्त्रण (Tourniquet) करके या उन धमनियों को खोलकर उनके ऊपर टॉक्स (Ligation) लगा के

रक्ताव रोकना चाहिए । आधिरी दो उपायों से रक्ताव कट हो जाता है। आधुनिक काल न रक्तसंग्रहन, शल्यक्रम और जीवायुनाशन के माध्यमों में आश्रयनक उपचार होने के कारण हाय ऐसे के घोट में उनका अम्बुलेटेन (Amputation) करने के भयावह उपाय को आगृहित बनाए का प्रसंग बहुत बहुत बहुत बहुत होता है ।

मर्माणि शल्यविषयार्थमुदाहरनिं

यस्माच्च मर्मसु होता न भयन्ति सद्यः ।

जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित् ।

ते प्राण्युवन्निं विकलत्वमसंदायं है ॥४४॥

(श्वल्यतन्त्र में मर्मों का महाव—) यत् मर्मो वर आधान (या वेष) होने से तल्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैष्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई यज भी जाय तो भी वे विकलता को निर्संशय प्राप्त होते हैं । इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों (के ज्ञान) को शल्यविषयार्थ बहते हैं ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—उल्यविषयार्थं—संरूपं आमुखेद में शल्यतन्त्र का प्राधान्य शश्वरादि प्रणिधान से तल्काल काम करने के कारण होता है—भ्रातृत्वपि चतुर्वेदन्तेभेददेवाविवमितवायु-क्रियारूपय-शश्वराद्वाराविग्रीणात् । (स्वरूपान १) । यदि यन्त्र, शश्व, चार और अमिका प्रयोग बरते समय मर्मों का अध्याय न दिया जाय तो तल्काल उपाय होने के बदले तल्काल उपाय हो जायगा । अर्थात् शल्यतन्त्र का शेषत्व जित किया के ऊपर अधिकृत है, वही किया भर्म विज्ञान के सिवा हानि-कारक होती है । इसलिए मर्मों का ज्ञान आपा शल्यतान्त्र कहलाता है ।

समिद्धजर्जरितकोष्ठिरः कपाला

जीवन्ति शश्वविनि)हतैष्य शरीरदेशै ।

त्रिनैश्च समिथ्यमुजपादकरैरेशोपे-

देयं न मर्मपतिता विविधाः प्रहारा ॥ ४५ ॥

(मर्मप्रहार का महाव—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परतु इत्यन्तरं) प्रहारों के कारण जिनके कोष और शिरकपाल जर्जरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शर्कों के द्वारा विद्युप अपने शरीर शर्कों के साथ तथा पूर्णतया करे हुए अपने सक्रिय, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्दे रहते हैं ॥४५॥

सोममाहतेज सि रजःस्त्वत्मानिं च ।

मर्मसु प्रायाशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥

मर्मस-मिहाताः तस्मात्त्वं जी-निं शर रिणः ॥ ४६ ॥

(मर्मांशत से मृत्यु की जागरूकी—) सोम (जल या कफ), बायु, तेज और सख, रज, तम तथा जीवात्मा प्राय मर्मों (विशेषतया) अवस्थान करते हैं । इसलिए मर्मों पर वैष्य होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—प्रायय—मर्मों पर आधात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अवृभवसिद्ध घटना है । इस घटना के कार्यकारण सर्वधं का दिवर्दान यहाँ पर प्राचीन कला के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर

किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। वे भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण वर्तलाये गये हैं। जड़ शरीर को चैतन्य सखादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। वे प्राण सर्वशरीर-व्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु ममों पर आधात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे वह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्वव्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान ममों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्पाण हो जाता है।

इन्द्रियार्थेऽसंग्रासिर्मनोद्विद्विपर्ययः ।

रुज्य विविधास्तीवा भवन्त्याशुहरे हते ॥ ४७ ॥
हते कालान्तररहे तु ध्रुवो धातुक्षयो नुणाम् ।
ततो धातुक्षयाज्ञन्तुर्वदनाभिश्च नश्यति ॥ ४८ ॥
इते वैकल्यजनने क्लेचलं वैद्यनै मुणात् ।
शरीरं क्रियया युक्तं विकल्पमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥
विशल्यन्नेषु विश्यं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥ ५० ॥
रुज्यकराणि मर्माणि ज्ञतानि विविधा रुजः ।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥ ५१ ॥

(पञ्चविधि मर्माधात के लक्षण—) सद्यग्राणहर मर्म पर भिधात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असामर्थ्य वैहोशी (), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह रह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते हैं ॥ ४७ ॥ कालान्तर ग्राणहर मर्म पर अभिधात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चित न होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिधात होने से केवल वैद्य की कुशलता से ही शरीर कार्यक्रम होकर विकल्पा को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ विशल्यन्न ममों में जो कारण पहले वराया गया है, वही जानना चाहिए ॥ ५० ॥ पीड़कर मर्म (आधात होने पर) विविध प्रकार की पीड़ाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—असंग्रामिः—इन्द्रियार्थानामसन्यक्संबंधः, इन्द्रियार्थानामप्रहसित्यर्थः ।

वेदना—ज्ञाण—चिकित्सि भिषक् सर्वाङ्किकाला वेदना इति ।
(चरक, शारीर ६) । अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित विविध रोगों से ।

वैद्यनै मुणात्—वैकल्यकर ममों पर वैद्य होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मनुष्य मर जाता है ॥

कुवैद्यवशगो वदि—पीड़करमें विद्र होने पर यदि रोगी कुवैद्यों के हाथों में सुषुर्द किये जायें तो वैकल्य प्राप्त होता है ।

मर्माधात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थानके पचीसवें अध्यायके 'थमः प्रलापः पतनं प्रसोहोः इन दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं ।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवैधि का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसुमिरुखा तंमोहः शीतकामिता । स्वेदो मूर्च्छा वमिः द्वासो मर्मविद्यस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवैधि के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्वेऽज्ञमस्तुक्षावो मांसधावनवत्ततुः । पाण्डुत्वमिन्द्रियाशान मरणं चासु मांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छ्वो विद्विद्यस्तावो रुक्चास्त्विम-र्मणि ॥ आयामाक्षेपकस्त्वमासनावजेऽभ्यधिकं रुजा । यानस्थानासनाशक्तिवैकल्यमयन्तकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोप्यं धमनीस्थे विचेतसः । सिरामर्मव्यथे सांद्रमजसं वासुप्रसादेत् । तत्क्यात्तद्भ्रमश्वासमोहिद्धमाभिन्तकः ॥ वस्तुशूक्रैरिवाकीर्ण रुदे च क्वाणियजाता । दलचेष्टकः शोपः पर्वशोफथ संधिजे ॥ (शारीर ४) ।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तस्राव, मूर्च्छा (Syncope) और स्त्रवधता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं ।

छेदमेदाभिधातेष्यो दहनादारणादपि ।

उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(मर्मसमीप धात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिधात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आधात मर्माधात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—उपघात समीपधातश । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आधात या वेद्य के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आधात के समान होते हैं ।

मर्माभिधातस्तु न कश्चिद्वित

योऽप्तत्ययोऽपि निरत्ययो वा ।

प्रायेण ममस्वभितादितास्तु

वैकल्यमृच्छन्त्ययवा द्वियन्ते ॥ ५३ ॥

मर्याण्यधिष्ठाय हि ये विकारा

सूच्छन्ति काये विविधा नरणाम् ।

प्रायेण ते कुच्छुतमा भवन्ति

नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ ५४ ॥

श्वि सुश्रूतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर नाम पष्टोऽव्यायः ॥ ६ ॥

(मर्माधात में प्रथल पराकाष्ठा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिधात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या विलक्षुल न होती हो । प्रायः ममों पर अभिधातित हुए (मनुष्य) विकल्प होते हैं या भार जाते हैं ॥ ५३ ॥ मनुष्यों के जो विविध रोग ममों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हैं ॥

घण्टकमानुसार नमी का फोटोफ

नमी	संख्या	स्थान	प्रकार	परिणाम	अंगेशी शासीरिक पर्याय
अस्पन्डिटि	२	एड	स्लिप	वैश्वलयर	Coraco-humeral, gleno-humeral ligaments, Trapezius muscle
अभिप्रति	३	दिर	संधि	वैश्वलयर	Spine of the scapula
अप्लाइ	२	झाँड़ी	निरा	वा० प्राणहर	Torcular herophilia
अप्लाइ	२	झाँड़ी	निरा	वा० प्राणहर	Lateral thoracic and subscapular vessels
अपाहृ	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Two bronchii
आटो	२	उर्ध्वशाया	जांतु	वैश्वलयर	Zygomatico-temporal vessels
आया	२	अध शाया	जांतु	वैश्वलयर	Tendon of biceps
आर्टर्ट	२	दिर	संधि	वैश्वलयर	Tendon of quadriceps femoris
इट्रेटिं	२	उर्ध्वशाया	मांस	वा० प्राणहर	Junction of the frontal malar and sphenoid bone
इट्रेटिं	२	अधशाया	मांस	वा० प्राणहर	Cubital fossa
इट्रेटिं	२	दिर	जांतु	वैश्वलयर	Calf muscles
इट्रेटिं	२	उर्ध्वशाया	निरा	वैश्वलयर	Temporal muscle and fascia
इट्रेटिं	२	जांतु	निरा	वैश्वलयर	Brachial artery, Bacillo vein
इट्रेटिं	२	जांतु	निरा	वैश्वलयर	Femoral vessels
इट्रेटिं	२	उर्ध्वशाया	जांतु	वैश्वलयर	Brachial plexus
इट्रेटिं	२	अध शाया	मांस	वा० प्राणहर	Sciatic notch
इट्रेटिं	२	एड	संधि	वैश्वलयर	Ischial tuberosity
इट्रेटिं	२	१२५-१४	जांतु	वैश्वलयर	Carpo-metacarpal and intercarpal ligaments
इट्रेटिं	२	अध शाया	जा०	वैश्वलयर	Tarso-metatarsal and intertarsal ligaments
इट्रेटिं	२	उर्ध्वशाया	जांतु	वैश्वलयर	Lateral ligaments of the wrist joint
इट्रेटिं	२	अध शाया	जांतु	वैश्वलयर	Lateral ligaments of the ankle joint
इट्रेटिं	२	उर्ध्वशाया	संधि	वैश्वलयर	Elbow joint
इट्रेटिं	२	जांतु	संधि	वैश्वलयर	Atlanto occipital articulation
इट्रेटिं	२	अधशाया	जांतु	वा० प्राणहर	First intermetacarpal ligament
इट्रेटिं	२	अधशाया	जांतु	वा० प्राणहर	First intermetatarsal ligament
इट्रेटिं	२	दिर	संधि	वैश्वलयर	Anal canal and anus
इट्रेटिं	२	दिर	मांस	वैश्वलयर	Ankle joint
इट्रेटिं	२	दिर	मांस	वैश्वलयर	Knee joint
इट्रेटिं	२	दिर	मांस	वैश्वलयर	Palmar aponeurosis
इट्रेटिं	२	दिर	मांस	वा० प्राणहर	Long plantar ligament
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Umbilicus
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Via of the ileum
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Blood vessels of the neck
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Common iliac vessels
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Ofactory region of the nose
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Urinary bladder
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Scapulo-pectoral and transverse cervical arteries
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	I. Laryngeal vessels of the neck
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	II. Laryngeal vessels of the neck
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Axillary vessels
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Femoral vessels
इट्रेटिं	२	दिर	निरा	वैश्वलयर	Inguinal canal
इट्रेटिं	२	दिर	जांतु, जि०	वैश्वलयर	Posterior articular vessels
इट्रेटिं	२	दिर	जांतु, जि०	वैश्वलयर	Tendon

नाम,	संख्या	स्थान	प्रकार	परिणाम	अङ्गेजी शारीरिक पर्याय
शून्याटक	४	शिर	सिरा	सदृशः प्राणहर	Cavernous and inter-cavicular sinuses
सीमन्त	५	शिर	संधि	काठ प्राणहर	Cranial sutures
स्तनमूल	२	द्वाती	सिरा	काठ प्राणहर	Internal mammary vessels
त्तनरोहित	२	द्वाती	मांस	काठ प्राणहर	Lower portion of Pectoralis major
स्थपनी	१	शिर	सिरा	विशल्यम्	Nasal arch of the frontal vein
हृदय	१	द्वाती	सिरा	सदृशः प्राणहर	Heart

इति भास्त्ररशम्भा गोविदात्मजेन विरचितायामासु वैदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रूतभाषाटीकायां शारोरस्थाने प्रत्येकमर्मनि-
देशशारीरं नाम पठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः सिरावर्णविभक्तिं नाम शारीरं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद सिरावर्णविभक्ति नामकशारीर का व्याख्यान
करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—सिरावर्णविभक्तिः—सिरायां वातादिवहानां तद्व-
र्णानां चास्यनीलशुचुलोहितानां विभक्तिविभागः: समुदायात् पृथक्करणं
यस्मिन् शारीरे वत्तथाविधम् ॥ वर्ण का अर्थ गुणवर्णन, ऐसा भी
होता है। हाराणचन्द्र के सुश्रूत में ‘सिरावर्णनविभक्ति’ ऐसा पाठ है।

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमा-
राम इव जलहारिणोभिः केदार इव च कुल्यामिरु-
स्त्रिहाते उनुगृहाते चाकुञ्जनप्रसारणादिमिविशेषैः;
मपत्सेवनानामिव च तासां प्रतानाः; तासां नाभि-
र्लं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमवस्थितर्यक् च ॥ २ ॥

भवतश्चात्र—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् ।

नाभ्यां सर्वां निवद्वास्ताः प्रतेन्वन्ति समन्ततः ॥ ३ ॥

नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाध्रिता ।

सिराभिरावृता नाभिश्चकनाभिरिकारकैः ॥ ४ ॥

सात सौ सिराएँ होती हैं। जैसे (बड़ी बड़ी) जल-
शरिणियों (नालियों) द्वारा उपवन का और (छोटी
छोटी) क्यारियों द्वारा खेत का उपस्थेन और परिपोषण
होता है, वैसे ही इन सिराओं द्वारा आकुञ्चन एवं प्रसारण
आदि कर्मों से इस शरीर का उपस्थेन और परिपालन
होता है। छूटों के पत्तों की सेवनी की तरह इनके प्रतान
होते हैं। इन सिराओं का मूल नाभि है और वहाँ से ऊपर-
नीचे और आस-पास ये फैलती हैं ॥ २ ॥ यहाँ पर दो श्लोक
हैं—ग्राणियों के शरीर में जितनी सिराएँ उत्पन्न होती हैं,
वे सब नाभि से संवंध रखती हुई चारों ओर फैलती
हैं ॥ ३ ॥ ग्राणियों के प्राण नाभि में स्थित होते हैं और प्राणों
पर नाभि आध्रित है। जैसे, पहिये का मध्य अंगों से चिरा हुआ
रहता है, वैसे ही सिराओं से नाभि आघृत (धिरी हुई) रहती है॥

वक्तव्य—दूसरे सूत्र में तथा उपसंहारात्मक नीचे
के दो श्लोकों में सिराओं की रचना तथा कार्य की डाइ से

१ सिरावर्णविभक्तिशारीरं, २ प्रवर्तन्ते ।

संपूर्ण वर्णन संक्षेप में दिया गया है। यहाँ पर सिरा शब्द
रक्तवाहिनी (Blood vessel) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
इसमें अर्थानुरोध से रसवाहिनी (Lymphatic vessel)
का भी समावेश होता है। आराम इव जलहारिणीभिः केदार
इव कुल्याभिः—पुष्प, फल, वृक्षयुक्त संपूर्ण द्वैत्रविशेष
आराम या वर्गीचा कहलाता है। वर्गीचे के हर एक हिस्से
में बड़ी बड़ी पक्की नालियों द्वारा कुपूँ का पानी पहुँचाया
जाता है, परन्तु हन नालियों से वर्गीचे के किसी भी वृक्ष
या पौधे का उपस्थेन या पोषण नहीं होता। इसके लिए
नजदीक की पक्की नाली से पौधे तक छोटी कच्ची नाली
या ब्यारी बनाई जाती है, जो पौधे का उपस्थेन से पोषण
करती है। शरीर में भी वर्गीचे के समान शरीर के हर एक
हिस्से में रक्त पहुँचाने वाली बड़ी बड़ी पक्की नालियों होती
हैं और हन पक्की नालियों से छोटी छोटी कच्ची नालियाँ हर
एक धातु के पास जाकर उसका पोषण करती हैं। इसलिए
'एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलसृज्मसिराप्रापणार्थम्' यह दल्लहणाचार्य का
बचन बहुत यथार्थ है। अब यहाँ पर आराम का जो दृष्टान्त
दिया है वह एकदेशीय है, इसलिए कि कूप से पक्की नालियों
द्वारा बाहर गया हुआ पानी फिर से कूप में बापस नहीं
आता, परन्तु शरीर में मूलस्थान से नालियों द्वारा बाहर
निकला हुआ रक्त फिर से दूसरी नालियों द्वारा मूलस्थान में
बापस आता है। इसलिए वर्गीचे के समान शरीर में एक
प्रकार की रक्त को ले जाने वाली नालियों से काम नहीं
बनता; रक्त को ले जाने वाली और बापस ले आने वाली
नालियों की आवश्यकता होती है। बापस लाने वाली
नालियों के भी दो प्रकार होते हैं—एक प्रकार में रक्त
होता है और दूसरे प्रकार में लस (Lymph) होती है। इस
तरह शरीर में चार प्रकार की नालियाँ होती हैं—एक मूलस्थान
से रक्त ले जाने वाली, जिसको आयुनिक परिभाषा में
धमनी (Artery) कहते हैं; दूसरी रक्त बापस ले जाने
वाली, जिसको आयुनिक परिभाषा में सिरा (Vein) कहते
हैं; तीसरी सिरा और धमनी को जोड़ने वाली सूक्ष्म,
जिसको केशिका (Capillary) कहते हैं; और चौथी
लसिका को ले आने वाली, जिसको लसवाहिनी (Lymphatic
vessels) कहते हैं। सिरा में यहाँ पर हन चारों का समावेश
होता है। उपलिखाते—वर्गीचे में जो पक्की और बड़ी बड़ी
नालियाँ होती हैं उनके द्वारा यथापि वर्गीचे के हर एक हिस्से
में पानी फैलता है तथापि उनसे वर्गीचे के किसी पैड या पौधे
को पानी का एक भी बूंद नहीं मिलता, क्योंकि उनकी दीवाल
में से पानी बाहर नहीं जा सकता। पैडों का पोषण पक्की
नालियों से स्थान स्थान पर जो छोटी नालियाँ या क्यारियाँ
बनाई जाती हैं, उनसे होता है। इसका कारण यह है कि

उनकी दीवाल की होने के कारण पानी उससे रिसकर चारों ओर फैलकर समीपवर्ती वनस्पतियों को मिलता है। शरीर में भी ऐसी ही व्यवस्था है। उपर जो चार प्रकार की नालियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें दो नालियाँ (सिरा और लसिका-याहिनी) अगुद रक्त तथा लस का बाहन करती हैं, अतः उनके रक्तसे से शरीरपोषण का सवाल ही नहीं उटता। शारीर जो दो नालियाँ हैं, उनमें शुद्ध रक्त बहता है। अतः धातुपोषण के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इनमें धमनियाँ वारीचे की पक्की नालियों के समान हैं, जो शरीर के हर एक हिस्से में शुद्ध रक्त की रसीद पूँछाने का काम किया करती है। इनकी दीवाल काफी मोटी (आगे आकृष्ण-प्रसारणादि की टिप्पणी देखो) होती है, जिसमें से होकर रक्त बाहर नहीं जा सकता। दूसरी याहिनी (केशिकाएँ) शरीरपोषण के काम में आती है। इन केशिकाओं की दीवाल अत्यन्त पतली, पृक्करी, चर्टी अन्तर्रक्तीयेकोशाओं की (Single layer of flattened endothelial cells) बनती है। इन केशिकाओं में से जब रक्त बहता है, तब दीवाल पतली होने के कारण रक्त का कुछ भाग रिसकर आस-पास की धातुओं में फैलकर उनका पोषण करता है। उपरेहन का यही अर्थ है और यह कार्य केशिकाओं की दीवाल से रक्त के निर्यास (Exudation) से होता है। सिराओं की दीवाल भी धमनी प्राचीर से पतली होने पर भी काफी मोटी होती है, जिसके कारण उससे रक्त का निर्यास नहीं हो सकता।

निदान अध्याय १ स्लाक १७ की टिप्पणी भी देखो। आमु-भ्रनप्रसारणादिविद्विही—इन किंवितों के द्वारा सिराओं की बानावट बद्ध ही गई है तथा उपरेहन का कारण प्रदर्शित किया गया है। धमनी, सिरा और केशिका इनकी दीवाल की मोटाई व्यापि भिन्न होती है तथा प्रत्येक की दीवाल में लचकीले तन्तु (Elastic fibers) होते हैं, जिनके कारण इन नालियों में सूक्ष्म-विकास तथा रियत-स्थापकता का गुण आ जाता है। केशिकाओं की पतली पतली दीवालों में से रक्त का कुछ तरल भाग चूकर बाहर निकलता है और आस-पास की धातुओं का पोषण करता है क्योंकि इस तरल भाग में धातुओं के लिए आवश्यक सव्य खाद्यसूखे उपस्थित रहती है। केशिकाओं की दीवारों में से उपस्थित होने के लिए जैसे उनकी प्रवेश्यता (Permeability) कारण होती है, वैसे ही रक्त का निर्यास भी कारण होता है। यह रक्त का निर्यास जैसे हृदय-संकेत के ऊपर निर्भर होता है। संशेष में, सिराओं की सूक्ष्म-विकाससीलता और रियत-स्थापकता उपरेहन के लिए आवश्यक होती है। हुमप्रत्येकनीनामित्र प्रताना—मृदुओं के पत्तों का यह इष्टान्त सम्पर्क है। पत्रसेवनी प्राचारों का विद्य व्यार्थ चित्र देखना हो तो पानी में धोकी देर तक सबने के पश्चात् सूखे हुए पत्रों को देखना चाहिए। इस प्रकार के आलीदार पत्र कई बार देखने में आते हैं। सीबन से यहाँ पर पत्तों के मध्य में होने वाली मोटी सिरा तथा उसकी मोटी शाखाएँ अभिमेत हैं। इन सीबनियों से छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनसे सूखन, सूखनतर, सूख्मतम् इस तरह उपरोक्त सूखम् प्रशाशापै निकलकर

संपूर्ण पत्र प्रतानों से ध्यास होता है। शरीर में भी रक्त-वाहिनियों की यही स्थिति रहती है और उनके प्रतान यहाँ तक सूखम् होते हैं कि वे चर्मचक्ष से नहीं दिलाई जाते। प्रतानों से यहाँ पर धमनिकाओं और केशिकाओं (Arterioles and capillaries) का घोष होता है। केशिकाओं की साधारण, मोटाई इनौठ इच्छ के लाभम् होती है। नाभिमूलम्—यह मूल वाल्वाकाल प्राणियों का अवस्थान मात्रा के शरीर में होता है, ताकलाल होता है। जन्म के पश्चात् नाभि-संवद सिराएँ सिरुड़ जाती हैं। अतः जम्मोत्तरकाल में सिराओं का मूल नाभि न होकर हृदय होता है। अर्थात् सुकृत का वर्णन यथाकालीन है। अष्टांग-हृदय और अष्टांगसंग्रह में इन सिराओं का मूल हृदय बताया है, अर्थात् वामपट का वर्णन जन्मोत्तरकालीन है—यह मूलसिरा हृदयस्थानः सर्वं सर्वोदये बुः रसात्मकवृद्धन्देशो तत्रिवद दि वैष्टित्रिम्। स्थूलमूलाः क्षुद्रमूलाः पत्रेवाप्नानवद्। मिलने वालतः नपशानान्वासा भवन्ति तु॥ (अष्टांगहृदय २)। दृश्य मूलसिरा हृदयस्त्रिवदाः सर्वाङ्गस्त्रियोचोजो नवनिति। दात्यु द्रव्यहुलमूलगर्भाणुलं यवं व्यार्थं च गता हुमप्रत्येकनीप्रतान-विद्ययामाः सप्तशतानि भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। अर्थ-मध्यस्त्रिवक्त्च—सर्वग्रन्थं शरीर में। समवन्ति शरीरिणाम्—इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गर्भाशय में जब जीवास्त्रा का शरीर उत्पत्ति होता है, उस काल की हृष्टि से नाभि सिराओं का मूल माना गया है और पृक्क दृष्टि से यह कथन ईक भी है क्योंकि नाभि की सिरा या नाड़ी से ही गर्भ का पोषण होता है और गर्भशरीर की प्रत्येक सिरा का संवध नाभि-सिरा के साथ होता है, जिसमें शरीरपोषक रक्त बहता है। नाभि शरीर की उत्पत्ति के समय याने प्रारंभ में सिराओं का उत्पत्तिश्यान होने के कारण जन्म के पश्चात् भी यह सिरा-प्रभव ही माना जाता है। इसलिए नाभिमर्म में वर्णन में नाभि (द्वे अध्याय के ३५वें सूत्र में देखो) सिराप्रभवा बताली है। इसका अर्थ है जिससे दूरीरोत्तिति के समय में सिराओं का संभव होता है, ऐसी। प्राणा—नाभिमर्म होने के कारण पिल्ले अध्याय के ४८वें स्लाक के आधार पर प्राणों से सोममालतादि का ग्रहण हो सकता है, परन्तु यहाँ पर प्राणों का अधिष्ठान प्राणरूप रक्त का प्रहण करना ही उचित है—प्राण, प्राणमूला रजन्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३६)। तत्रिवद दि रथिर्व बलवर्णस्त्रियाणुम्। तुनक्ति प्राणिणः प्राणाः शोषित शुद्धवृत्तं॥ (चरक, सूत्र २४)। माता के शरीर से आया उड़ा पोषक रक्त अपरा में, अपरा से नाड़ी में, नाड़ी से नाभि में और नाभि से गर्भशरीर में (अध्याय का ३५व्याप्ति सूत्र देखो) प्रवेश करता है। यह किसी कारण से नाभिनाडी का पीड़न होता है, तब प्राणरूप रक्त के प्रवाह में आया उत्तर दोने के कारण गर्भ की मृदु हो जाती है। चक्कनामित्रिवादे—यह पृक्क कल्पनास्त्रियि है, वास्तविक स्थिति नहीं है। नाभि में प्रविष्ट हुई सिरा से संपूर्ण शरीर का पोषण होता है और संपूर्ण शरीर का पोषण होने के लिए सिराओं का संपूर्ण शरीर में फैलता आवश्यक है। यह कार्य किस प्रकार से हो सकता है, इसकी कल्पना इष्टिग्राम करने के लिए आरों का इष्टान्त दिया गया है। जैसे, पहिये के पेरे की साझारा देने के लिए नाभि के चारों ओर उससे निकले हुए अनेक

कोरे होते हैं, वैसे ही शरीर का पोषण करने के लिए नाभि से चारों ओर उससे निकली हुई अनेक सिराएँ होती हैं; यही हँस हृष्टान्त का तात्पर्य है। पहिये में आरों की संख्या बहुत होती है और जितनी संख्या अधिक होगी, उतनी अधिक मजबूती धेरे में आ जाती है। इन आरों की संख्या की महत्तम मर्यादा नियत होने की आवश्यकता नहीं होती; आठ, दस, बारह, पंद्रह हिंदू जितने चाहें उतने आरे रख सकते हैं। परंतु अल्पतम मर्यादा नियत होना आवश्यक होता है। पहिये के धेरे का सहारा न एक ओर से हो सकता है, न दो आरों से हो सकता है। कम से कम इनकी संख्या तीन होना आवश्यक होता है। जहाँ पर अधिक भार सहन करने का सवाल कहीं आता, वहाँ पर तीन आरों से काम भंडी भाँति निकल आता है। वज्ञों के खिलौने की मोटर-रेलगाड़ी के पहियों में अक्सर तीन ही आरे होते हैं। गर्भ के नाभिचक के भी तीन आरे होते हैं। एक आरा ऊपर की ओर होता है और दो नीचे की ओर होते हैं। आयुनिक परिभाषा के अनुसार ऊपर का आरा संवाहिनी सिरा (Umbilical vein) और नीचे के आरे दक्षिण और वाम संवाहिनी धमनियाँ (Left and right umbilical arteries) कहलाते हैं। ये तीनों आरे तीन दिशा से आकर नाभि में मिलते हैं और तीनों नाभि के बाहर आकर नाभिनाड़ी के घटक बनते हैं। अपरा के गार्भिक पृष्ठभाग पर सिराओं की रचना 'चक्रनाभिरिवारकै' के समान होती है, इसलिए कुछ लोग यह वर्णन अपरा के लिए लागू करते हैं। परंतु यह अपरा का वर्णन न होकर नाभि का ही वर्णन है और उसको भी ठीक लागू हो सकता है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट मालूम होगा। तीसरे सूत्र में सिराओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चौथे और पाँचवें श्लोक में नाभि का महर्व और वर्णन किया गया है। अब इसके बाद सिराओं का विभागः वर्णन किया जाता है।

तासां मूलसिराश्वत्वार्थशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु घातवाहिनीनां घातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्लीहोः, एवमेतानि सप्तसिराशतानि

(मूलसिरा और दोपवह सिराओं की संख्या—) इन (सात सौ शिराओं) की मूल सिराएँ चालीस हैं। इन (चालीस शिराओं) में वातवहन करने वाली दस, पित्तवहन करने वाली दस, कफवहन करने वाली दस, रक्तवहन करने वाली दस (होती हैं)। घातस्थान में होने वाली इन घातवह सिराओं की एक सौ पचहत्तर सिराएँ होती हैं; पित्तस्थान में पित्तवाहिनी सिराएँ, कफस्थान में कफवाहिनी सिराएँ, यकृत और प्लीहा में रक्तवाहिनी सिराएँ उतनी ही (होती हैं)। इस प्रकार ये सात सिराशत (हो जाते हैं) ॥१॥

वक्तव्य—मूलसिरा—इससे घातवाहिनी विभाग की मूल सिराएँ अभिप्रेत हैं। मूल जो नाभि या हृदय, हस्से चालीस सिराएँ उत्पन्न होती हैं; ऐसा इसका अभिप्राय नहीं है। घातस्थानगतानाम्—निदान के प्रथम अध्याय के १२-१६ तक के श्लोकों में वायु के स्थान दिये हैं, उन स्थानों में होने वाली

सिराओं की—एकाशयनदीसविधेयोत्राऽस्थिस्पर्शतेन्द्रियम्। स्थान वातस्थ। (अष्टांगहृदय, सूत्र १३)। पित्तस्थान, कफस्थान—पित्त और कफ के स्थान सूत्रस्थान के ब्रणप्रश्न नामक एक वीसर्वे अध्याय के छठे और वापरहर्वे सूत्र में वर्णन किये हैं—नाभिरामाशयः स्वेदो लसिका रुधिरं रसः। दृक्स्पर्शनं च पित्तस्थ ॥ उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः। मेदो ग्राणं च जिहा च कफस्थ सुतरासुरः ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)।

तत्र घातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सविक्षिन पञ्चविशतिः, एतेनेतरसविक्षिन घाहू च व्याख्यातौ। विशेषपतस्तु कोष्ठे चतुर्स्थिशत्; तासां गुदमेद्वाग्निताः श्रोण्यामष्टौ, ढे द्वे पाश्वर्योः षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि। एकचत्वारिंशत्त्वां उच्च्व, तासां चतुर्दश श्रीवायां, करण्योश्चतत्त्वाः, नव जिहायां षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं घातवहीनां सिराणां व्याख्यातं भवति। एष एव चिभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रोद्दर्श कर्णयोद्देहं, एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥ ६ ॥

(दोपवह सिराओं का पृथक् पृथक् संख्यान—) इनमें एक टाँग में घातवाही सिराएँ पच्चीस होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है। कोष्ठ में विशेषपतः चौतीस (सिराएँ होती हैं)। इनमें गुदा, शिरन और श्रोणि में आठ, पार्श्वों में दो दो, पीठ में छः, उदर में उतनी ही (छः), छाती में दस। जटु के ऊपर एकतालीस (सिराएँ होती हैं)। उनमें श्रीवा में चौदह, कानों में चार, जिहा में नौ, नासा में छः, दोनों अँखों में आठ; इस प्रकार (शाखा, कोष्ठ, और सिर में मिलाकर) एक सौ पचहत्तर घातवाही सिराओं का व्याख्यान हो जाता है। शेष (पित्त, कफ और रक्तवाही सिराओं) का यही विभाग होता है। विशेषपतया (मेद इतना ही है कि) पित्तवाहिनी सिराएँ आँखों में दस और कानों में दो हैं। इसी प्रकार रक्तवह और कफवह (सिराएँ होती हैं)। इस प्रकार विभागाः सात सौ सिराएँ वर्णन की गई हैं ॥ ६ ॥

वक्तव्य—एव एव विभागः शेषाणामपि विशेषपतस्तु—इस सूत्र में एक सौ पचहत्तर घातवाही सिराओं का प्रत्यङ्ग विभाग वर्णन किया है। उसी के अनुसार पित्त, कफ और रक्त इनका वहन करने वाली सिराओं का प्रत्यंग होता है। भेद केवल हतना ही है कि जहाँ नेत्रों में घातवाही आठ हैं, वहाँ पित्तवाहिनी, कफवाहिनी और रक्तवाहिनी दस हैं; और जहाँ कानों में घातवाहिनी चार हैं, वहाँ पित्त-कफ-रक्तवाहिनियाँ दो दो हैं।

भवन्ति चात्र—

कियाणामप्रतीघातममोहं द्युद्धिकर्मणाम् ।

करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥७॥

(घातवह सिराओं का प्राकृत कर्म—) अपनी सिराओं में संचार करता बुधा घात (शारीरिक) कियाओं को अप्रति-

१ घातवाहिनीः

हत् रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥ ७ ॥

बच्छव्य—क्रिदालास्— द्विक्रिया प्रसारणाकुबनादीना, बाकूनिया मधितादीनाम् । (बद्धण) । अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकृत्यन मधारणादि ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हड्डीयन्त्रादि अवयवों के प्रसारणाकुज्जनादि अवैच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं । उद्दिनमन्तरान्—बुद्धि का स्वामाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करके निर्णय करता है । यह कार्यं तत्त्व दीक्ष हो सकता है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन भी अपना काम दीक्ष करें । संवेष में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश हुदिकर्मों में होता है । अलास्—ज्ञानेन्द्रियों के हाता प्राप्त हुए ज्ञान का दीक्ष दीक्ष उपर्योग करता जाता है । इससे Clearness का अर्थ निकलता है । हारावचन्—‘बुद्धिकर्मों बुद्धिकर्मों प्रयोगमामोदृ’ तु सामावन् ऐसा अर्थ करते हैं । परंतु ‘क्रिदालास्’ पद से कर्मनियों का प्राप्त होने के कारण लिर से उनका प्राप्त होने की आवश्यकता नहीं है । अमोह से ‘जु लामाव’ का अर्थ भी दीक्ष मालूम नहीं होता, क्योंकि पर्याप्त पात्रायु के स्वामाविक (Physiological) कर्मों का निवेदा हो रहा है । बुद्धि की इन्द्रियों द्वारा व्यथों का दीक्ष प्राप्त होना, मन के हाता अर्थप्राप्ति में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के हाता उसका व्यवसाय ये इनके मोहविहृत कार्य हैं । जब ये कार्य दीक्ष नहीं होते, तत्त्व मोहयुक्त कार्य होते । इसमें हुत्त का क्षेत्र संख्या नहीं है । (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय के सूचक का वक्तव्य देखें) । अन्तर्जुणाधारा—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनका भी करने वाला । इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नीचे श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१) ‘बातुऽन्वदन्वधर’ । इस चरक वचन से किया गया है । इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए आगे सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखें ।

यदा तु कुपितो यायुः स्थाः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदा ऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ८ ॥

(कुपित वातवद सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भ्राजिष्युतामश्वद्विमनिर्देतिमरोगताम् ।

संसप्तस्थाः सिराः पित्तं कुर्याद्यान्यगुणानपि ॥ ९ ॥

(प्राकृत पित्तवद सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सचार फरता हुआ पित्त (शरीर में) शान्ति, अप में वृद्धि, अट्टाप्ति की प्रवरता, नीतोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥ ९ ॥

यदा प्रकुपिनं पित्तं सेपतं स्वपदाः सिराः ।

तदा ऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १० ॥

(कुपित पित्तवद सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आपय करता है, तब शरीर के विविध विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

स्नेहमहेषु रसगीनां स्पैर्ये यलमुर्द्धंताम् ।

कपोत्यन्यान् गुणांश्चापि वलातः स्वाः सिराधारन् ॥ ११ ॥

(प्राकृत कफवद सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सचार करता हुआ कफ खोंचों में चिकनाई, सिद्धियों की

स्थिरता, शक्ति, उत्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥ ११ ॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्थाः सिराः प्रतिपद्यते । तदा ऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥ १२ ॥

(कुपित कफवद सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफवन्य विकार होते हैं ॥ १२ ॥

घारूनां पूरणं चर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।

स्थाः सिराः स्वरद्रक्षं कुर्याद्यान्यगुणानपि ॥ १३ ॥

(प्राकृत रक्तवद सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का) वर्ण, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है ॥ १३ ॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेपते स्वपदाः सिराः । तदा ऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥ १४ ॥

(कुपित रक्तवद सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्त रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

न दि घातं सिराः काश्चित्पित्तं केवलं तथा । श्लेष्माणं या घदन्येता आतः सर्वपदाः स्तृताः ॥ १५ ॥

प्रदुषानां हि दोषाणां मृच्छुतानां प्रद्युमनाम् ।

धुममुम्मार्गमनमतः सर्वपदाः स्तृताः ॥ ६ ॥

(सिराओं का सर्ववात्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करती, अतः सिराएँ सर्ववात् कहलानी हैं ॥ १२ ॥ कुपित हुए, (स्वपमाण से) वे हुए (शरीर में) सचार करने वाले दोषों का अद्या वासनावह भागं छोड़कर दूसरे के भागं में जाना निश्चित होता है । इसलियु तिराएँ सर्ववात् करताती हैं ॥ १६ ॥

बच्छव्य—ज्ञार पौच्छे सूत्र में शारीरात सात सी सिराओं के वाताद्विवात करके चार प्रकार बनाये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के शोकों में प्रयोक प्रवार की सिराओं के पृथक् पृष्ठक कर्म भी बालं किये गये हैं । इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में बातवात, पित्तवात, श्लेष्मवात् और रक्तवात् चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रयोक समूह अन्य कार्यं स्वतन्त्रतया करता है । इस कल्पना को दूर करने के लिए प्रदृढ़वे और सोलहवे शोक में सिराओं का सर्ववात्व सकारण सिद्ध किया गया है । पात्रायां वैद्यक में शारीरोपेशन की इटि से रक्त की ओर महार है, वह आयुर्वेद में इस की महार है । पात्रायां परिभासा में रक्त-परिभासा कहते (Blood circulation), आयुर्वेद में रक्त-स्वहन कहते हैं—प्रक्लेश्वरो एवं रसायनशीलाः ॥

भायुरुद्धी की यह कल्पना भी दीक्ष है । आयुर्वेद के लिए प्रयोक स्वतन्त्र रस में दी होते हैं, जिनके महण काढ़े आयुर्वेदों का पोषण होता है । रस में लाल कण (Red blood corpuscles) मिलने पर रक्त बनता है । ये लाल कण प्राणायु का महण बढ़ावे प्रयोक द्रव्यों के सामग्रीकरण में सहायता करते हैं । यह

१ देव्युप्रिभूतान् ।

कार्य आयुर्वेद के अनुसार पित्त का है, इसलिए कभी कभी रक्त न रक्त एक स्वतन्त्र दोष गिना जाता है और उसके मुण्कर्म पित्त के समान माने जाते हैं। सूत्रस्थान के २१ वें अध्याय में तथा यहाँ पर भी रक्त का उल्लेख स्वतन्त्र दोष के तौर पर किया गया है—नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तात्र च मास्तात् । शोणिनादपि वा नित्यं देह एतेष्टु धार्यते ॥ (सूत्र २१) । शरीर की सात सौ सिराएँ आराम की जलहरिणियों के समान रसहारिणियाँ (द्वितीय सूत्र) हैं और उन्होंने के द्वारा संपूर्ण शरीर का पोषण होता है, इस बात को कदापि भी न भूलना चाहिए। इसके पश्चात् यह बताया है कि इनमें कुछ बातवह हैं, कुछ पित्तवह हैं, कुछ कफवह हैं और कुछ रक्तवह हैं। अन्त में यह बताया है कि सब सिराएँ सर्ववह हैं। बातादिवह सिराएँ केवल अपने याने तत्त्व दोपस्थान में ही होती हैं, परंतु दोष सर्वशरीरव्यापी होते हैं—दोषातुमलमूलो हि देहः । (अष्टांगसंग्रह) । ते व्यापिनः । (अष्टांगगद्य) । इसलिए अन्य स्थान में वे अन्यों की सिराओं में से बहते हैं, यह सिद्ध है। इससे भी सिराओं का सर्ववहत्व निश्चित है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शरीर में सिराओं के द्वारा पोषक रस बहता है और उस पोषक रस रूप बाहन पर आरूढ़ होकर बातादि दोष संपूर्ण शरीर में अमण करके अपना अपना कार्य किया करते हैं। संक्षेप में, बातादि दोषों का कार्य आधुनिक परिभाषा में जिनको रक्तवाहिनियाँ (Blood vessels) कहते हैं उन्होंने के द्वारा होता है, यह निश्चित है। अब बातादिवह सिराओं के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए के जिन स्थानों में बातादि दोषों की उत्पत्ति होती है, उन यानों की सिराओं में उन दोषों की अधिकता होती है और 'व्यपदेशरु भूयस' इस न्याय से किंवा 'उत्कर्पणकर्पात् ग्रहणम्' इस दृष्टि से वे सिराएँ बातादिवह कहलाती हैं, अर्थात् उन सिराओं में भी अन्य दोष न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इस दृष्टि से ग्राकृत और विकृत बातादिवह सिराओं का वर्णन केवल ग्राकृत और विकृत बातादि दोषों के गुणों का ही वर्णन है। ऐसे इतना ही है कि बातादि दोष किसके ऊपर आरूढ़ होकर कार्य करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हो जाता है। अब सातवें श्लोक में बातवह सिराओं का वर्णन देखकर आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान (Physiology) के साथ उस श्लोक का अर्थ मिलाने की दृष्टि से बातवह सिराओं को कुछ लोग नाडियाँ (Nerves) कहते हैं, परंतु वे नाडियाँ नहीं हैं, रक्तवह सिराएँ हैं। आयुर्वेद में (तान्त्रिक या वैदिक ग्रंथों का थहाँ विचार नहीं है) मस्तिष्कसंस्थान का वर्णन अंगविनिश्चय (Anatomically) की दृष्टि से कहीं भी नहीं मिलता। मस्तिष्क का जो वर्णन मिलता है (चौथे अध्याय के ३४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), वह अत्यंत अल्प और गौणरूप से मिलता है। परंतु मस्तिष्कसंस्थान के सब कार्यों के विवरण मिलता है और वे कार्य रक्त या रस की वाहिनियों द्वारा उनके साथ परिअमण करने वाले वायु के कारण होते हैं, ऐसा माना गया है। एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक भी है। जैसे, एक स्थान पर अधिक देर तक निश्चल वैठने से पैरों में छुनछुनी पैदा होती है। यह लक्षण नाडी-

गत (Noxious) है, परंतु पैरों की नाडियों को रक्त न मिलने के कारण उत्पन्न हुआ है। आयुर्वेद आधुनिक नर्वस सिस्टम (मस्तिष्कसंस्थान) के कार्यों का विवरण बात-दोष से रक्त ही के द्वारा करता है। इसलिए कार्य की दृष्टि से नाडी माल्झ होने पर भी उसको नाडी मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे—यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः । तदादिवपत्याणु सुदृश्यद्देहं मुदुश्वरः ॥ सुदृश्यद्दस्तदादेपादादेपक इति स्मृतः ॥ यहाँ पर धमनी शब्द नर्व (नाडी) बाचक माल्झ होता है, परंतु वास्तव में आयुर्वेद की कल्पना के अनुसार वह सचमुच धमनी (Artery) बाचक है। इसका कुछ अधिक विवरण आगे धमनी-व्याकरण अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। तत्रारुणा बातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः ।

पित्तादुषणाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात् । असुखवास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥ १७ ॥

(बातादिवह सिराओं के लक्षण—) इन (चतुर्विध सिराओं) में बातवह सिराएँ अरुण (किञ्चित् रक्तवर्ण) और वायु से भरी हुई होती हैं; पित्त से उप्पा और नील वर्ण होती हैं; कफ से गौरवर्ण, शीतल और स्थिर होती हैं; और रक्तवह सिराएँ रक्तवर्ण, न वहुत शीतल न उप्पा होती हैं ॥ १७ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर शरीरगत सिराओं के जो चार प्रकार वर्णन किये हैं, उनके लिए आधुनिक पारिभाषिक पर्यायशब्द निम्न प्रकार से दे सकते हैं। अरुण सिरा—तत्र श्यावारुणः प्रसन्दिन्यः सूक्ष्माः क्षणपूर्णरित्ता वातरक्तं वहन्ति । (अष्टांगसंग्रह) । रोहिणी सिरा—समा गूढाः लिङ्घा रोहिण्यः शुद्धरक्तम् । (अष्टांगसंग्रह) । ये दोनों प्रकार धमनी या शुद्धरक्तवाहिनी (Artery) के पार्याय हैं। पित्तवह नीला सिरा वास्तविक सिरा (Vein) का पार्याय है और कफवह सिराओं को लसवाहिनी / Lymphatics का पार्याय समझ सकते हैं। सिराओं से नाड़ी का वोध कदापि भी नहीं हो सकता, इसका विवरण पीछे किया गया है। परंतु जो केवल अर्थ के अनुसार ही अंगविनिश्चय करना चाहते हैं, शारीरिक दृष्ट्या नहीं, वे सिराओं को स्थान स्थान पर नाडी भी कहते हैं। पं० गंगाधर शास्त्री अरुण सिराओं से स्वतन्त्र नाडियाँ (Sympathetic nerve fibres which carry on all the involuntary vital functions) समझते हैं।

अत ऊर्ध्वं प्रवद्यमि न विध्येद्याः सिरा भिषक । वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥ १८ ॥ सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् । षट्त्रिंशत्त्वं शतं कोष्ठे चतुःषष्ठिं च मूर्धनि ॥ १९ ॥ शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशत्त्वदेव तु ।

पञ्चाशत्त्रुणश्चोर्ध्वमध्यध्याः परिकीर्तिताः ॥ २० ॥ (अव्यधि सिराभिमान—) अब इसके बाद जिन सिराओं का वेध वैद्य को न करना चाहिए, उनको कहेंगे। उनके वेध से वैकल्य तथा मूल्य निश्चय से हो जाती है ॥ १९ ॥ (प्रलयंगसिरापरिगणन—) बुद्धिमान् वैद्य शाखाओं में चार सौ सिराओं को, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस सिराओं को और जन्मूर्ध में एक सौ चौसठ सिराओं को समझे ॥ १९ ॥

हृत स्व से तुष्टि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-प्रभाव धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत स्व से) करता है ॥ ५ ॥

चतुर्थ—किण्वणम्—नायकिकाणा प्रसारणाकुञ्जनादीना, वाकुकियाणा शापितदीनाम् । (उद्देश्य) । अर्थात् इन विद्याओं में हृतपादादि अवयवों के लाकुञ्जन प्रसारणादि एविद्यक कर्म (Voluntary actions), सथा हृदयान्तादि अवयवों के प्रसारणाकुञ्जनादि अनेच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं । उद्दिष्टमेणाम्—तुष्टि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करने निर्णय करना है । यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पौर्णों शानेन्द्रियों और मन भी अपना काम ठीक करें । संतुले में पौर्णों शानेन्द्रियों, मन और तुष्टि इनके कर्मों का समावेश दुष्क्रियों में होता है । अलोहम्—शानेन्द्रियों के हृता प्राप्त हुए शरण का ठीक ठीक उपयोग करना असोह है । इससे Clearness का अर्थ निकलता है । हृतान्तर्वन्द्रु तुष्टिकर्मणा तुष्टिमेंद्रिवाणामोह दु लाभावम् प्रेसा अर्थ करते हैं । परतु 'किण्वणम्' पद से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होने के कारण फिर से उनका ग्रहण होने की आवश्यकता नहीं है । असोह से दु लाभावः का अर्थ भी ठीक मात्रम् नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वासाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है । तुष्टि की इन्द्रियों द्वारा अर्थ का ठीक ग्रहण होता, मन के हृता अर्थग्रहण में सहायता और उसका व्याकरण तथा तुष्टि के हृता उसका व्यवसाय ये हूँनके मोहर्विहित कार्य हैं । जब ये कार्य ठीक नहीं होते, तब मोहयुक कार्य होते हैं । इसमें दुख का कोई संबंध नहीं है । (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय क ३ सूक्ष्म का वक्तव्य देखें) । अन्यान् तुष्टिकापि—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला । इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नीचे श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१८) 'वायुस्तन्त्रवन्त्रवर' इस श्लोक वचन से किया गया है । इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए वायु सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखें ।

यदा तु कुपितो वायुः स्थाः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदा उत्त्व्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ८ ॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (वस्त्र) विविध वातवन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

आज्ञिष्पुत्रामन्त्रविमग्निदीसिमरोगताम् ।

संसर्पत्त्व्यः सिरा वित्तं तुष्टिकान्तान्तुष्टिनपि ॥ ९ ॥

(शाहून पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सचार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अस में हृषि, जटामि की प्रसरता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥ ९ ॥

यदा प्रकुपितं पित्त सेव्यते स्ववहाः सिराः ।

तदा उत्त्व्य विविधा रोगा जायते वित्तसंभवाः ॥ १० ॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का भावय करता है, तब शरीर के विविध वित्तवन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यै घलमुर्दिताम् ।

कर्येष्यन्यान् तुष्टिकापि वलासः स्थाः सिराद्यग्नन् ॥ ११ ॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सचार करता हुआ कफ थोर्गों में चिकनाई, सघियों की स्थिरता, हाति, उस्त्रादृशीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥ ११ ॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्थाः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदा उत्त्व्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसमवाः ॥ १२ ॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥ १२ ॥

थारूणं पूर्णं वर्णं स्पर्शशानमसशयम् ।

स्थाः सिराः सचरत्रकुर्याचान्यान् गुणानपि ॥ १३ ॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सचार करता हुआ रक्त धातुओं का धोरण, (शरीर का) वर्ण, स्पर्शशान और अन्य गुणों को निष्कर्षण करता है ॥ १३ ॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।

तदा उत्त्व्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥ १४ ॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्त रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

न हि वातं सिरां काश्यन्न वित्तं केशं तथा ।

श्लेष्माणं वा धन्त्येत अतः सर्ववहाः स्तृता ॥ १५ ॥

प्रदुषानां हि दोषाणां मृच्छितानां प्रधागताम् ।

ध्यायुन्मार्गमनमतः सर्ववहाः स्तृताः ॥ ६ ॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, वित्त अथवा कफ का धहन नहीं करती, अत रिताएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १६ ॥ कुपित हुए, (स्वप्नमाण से) वहे हुए (शरीर में) सचार करने वाले दोषों का अपना वातसंविक मार्ग छोड़कर दूसरे के मार्ग में जाना निश्चित होता है । इसलिए सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १६ ॥

चतुर्थ—उपर पौर्णवे सूत्र में शारीरगत सात सौ सिराओं के वाताद्वयह वरके चार प्रकार बताये गये हैं, तथा उसके पश्चात के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के पृष्ठक एवं पृष्ठक कर्मों भी वर्णन किये गये हैं । इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, प्रित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है । इस कल्पना को दूर करने के लिए प्रदुषहें और सीलहें शोक में सिराओं का सर्ववहत्व सकारण सिद्ध किया गया है । पाश्चात्य वैष्णव में शारीरोपण की दृष्टि से रक्त को जो महाव है, वह आयुर्वेद में रस को महाव है । पाश्चात्य परिभाषा में रक्त-परिज्ञासन कहते हैं (Blood circulation), आयुर्वेद में रस-सर्ववह कहते हैं—हृतवदेहरी व्याप्त है । रस-सर्ववहनोपयनः । आयुवद की यह कल्पना भी ठीक है । धातुओं के लिए प्रोपकवन्य रस में ही होते हैं, जिनको मृणन करके धातुओं का पाणण होता है । रस में लाल कण (Red Blood corpuscles) मिलने पर रक्त बनता है । ये लाल कण प्राणवायु का ग्रहण करके दोषक द्रव्यों के साथसीरकरण भं सहायता बढ़ते हैं । यह

१ दोषानुविहृतानां

परिहरेत् तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे ॥ ३० ॥
 (नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं । उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का परिहार करे । तीन चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में एक है (उसका परिहार करे) ॥ ३० ॥

वक्तव्य—त्रीपनासियः—नासासमीपवर्ती । इससे Angular vein and artery का घोथ होता है ।

अग्रीत्रिशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः रहरेत् ॥ ३१ ॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अटीस राएँ होती हैं, इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomaticotemporal artery का घोथ होता है ।

कर्णयोदश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥

(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिराको बचाना चाहिए ॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricular and anterior tympanic arteries का घोथ होता है ।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे पष्टिः, तासां केशान्तानुगताद्धतसः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या ॥ ३२ ॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही ललाट में साठ सिराएँ होती हैं । उनमें से केशान्त के साथ साथ दोनों बाली चार, आवर्त की एक एक और स्थपनी की एक दूर प्रकार सात) सिराओं को बचाना चाहिए ॥ ३२ ॥

इन वक्तव्य—ललाटे पष्टिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, नीं में से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं । अर्थात् इन सिराओं ने पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुर्विशिष्टं सागता याथ पट्टिश्वेत्रगतास्ता एव पट्टिलाटे शातव्याः । अतो पृथगणणनीयाः । ननु नेत्रगता अर्थत्रिशत्, तत्कथं विश्वनेत्रगता विव्याख्याय पष्टि पूर्यति १ सत्यं, यथपि अर्थत्रिशत्नेत्रयोः सिरा उक्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्योरपाप्ताश्चित्तत्वात्त्रामावः । अतो नेत्रगता अर्थत्रिशदपि ललाटे पुनः पट्टिश्वेत्रिति । (ढलहण) । केशान्तानुगताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की त्रालों की भर्यादा के साथ साथ जाने वाली । इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए । आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal veins का ग्रहण करना चाहिए ।

शङ्खयोदश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत् ॥ ३४ ॥

(शङ्खप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं । इनमें से शङ्खसन्धि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

१ पट्टिश्वेत्रगतेनेत्रयोः ।

२ 'श्वेता' नासानेत्रगता दोहन्याः इति कवचित्प्रधिकपाठः ।

वक्तव्य—शशसंधिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए ।

द्वादश मूर्धन, तासामुत्केपयोद्देशं परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, पकामधिपताविति; एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जन्त्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३५ ॥

(सिर की अवेध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं । उनमें से उत्तेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए । इस प्रकार जन्म के ऊपर की पचास अवध्य सिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोद्देशसे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाला-प्रशालाओं का ग्रहण करना चाहिए । ये रक्तवाहिनियां बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जलदी घंट नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी सुशिक्षण होता है । इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable, Grey's Anatomy.

यहाँ पर जन्म के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बहतराई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है । अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है । इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्टक दिया गया है—

जन्मरूप सिरासंख्या का कोष्टक

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	अष्टांगसंग्रह
ओवा	५६	२४
हनु	१६	१६
जिहा	३६	१६
नासा	२४	२४
नेत्र	३८	५६
कर्ण	१०	१६
सिर	१२	१२
जन्मरूप तुल संख्या	१९	१६४

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासानेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः पैदय, त एव च शङ्खयोः ।

भवति चाच्र—

व्याप्तुवन्त्यभितो देहं नामितः प्रस्त्राः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्द्राद्विसादीनां यथा जलम् ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थानं सिरावर्यविभक्ति-

शारीर नाम सप्तमोऽव्यायः ॥ ७ ॥

(अध्यय्य सिरापरिगणन—) इनमें से शारायों में न
वेधने योग्य सोलह सिराएँ, कोष में चत्तीस और जग्रूर्ध्म में
पचास होती हैं ॥ २० ॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सकृदिभवति; तासां
जालघरा द्वेका, तिष्ठस्याप्यन्तरा:—तत्रोर्वींसंस्तु छे,
लोहितादौसंक्षा चैका, पतास्थवद्यध्याः, पतेनेतर-
सन्तिय याहु च व्याख्यातौ, पथमशत्रुण्यत्याः पोडश
शास्वास ॥ २१ ॥

(शाकागत ज्वेष्य सिराण्—) शाकागत चार सो सिराओं में से (तत्र) एक टाँग में सी सिराण् होती है, हनुमें बाहर की आलधारा एक और अन्दर की तीन—जब्ती नामक दो सिराण् और लेहितारु सवक पृक—ज्वेष्य होती हैं । इससे दूसरीटाँग और दोनों बाहुओं का भी व्यालयन हो गया । इस तरह (चारों) शाकाओं में सोलह सिराण् ज्वेष्य हो गई हैं ॥ २१ ॥

बकव्य—जलधरा—टॉग में इससे दीर्घीताना सिरा (Great saphenous) का बोध होता है, और बाहु में धिर्वांडुका सिरा (Cephalic vein) का बोध होता है। अब येर लोहिताच—टॉगों में इनसे Femoral artery and vein तथा बाहुओं में Brachial artery, Basilic vein और Axillary artery and vein का बोध होता है।

द्राविशस्त्वोण्यां, तासामयावशस्त्वत्याः—द्रे द्रे
विटप्योः कटीकत्वस्योध ॥ २२ ॥

(श्रेणिप्रदेश की अवेष्य सिराएँ—) श्रेणिप्रदेश में सचोस सिराएँ होती हैं । इनमें से बाढ़ अवेष्य हैं—विटपों की ही हो और कटीक तरुणों की दो दो ॥ ३३ ॥

**वक्तव्य—विट्ठ—हस्से सूपाणरुम् Spermatic cord गत
सिराखों का दोष होता है। कटीवक्तव्य—हस्से Gluteal art
eries and veins का दोष होता है।**

(पार्श्वहरू— पार्श्वस्त्रीय तथा अन्य विषयों की व्याख्या देने के लिए) एक एक पार्श्व में आठ ज्ञान सिराएँ होती हैं। इनमें से एक एक ऊपर जाने वाली को और पार्श्वस्त्रिगत दो सिराओं को भी (शब्दकर्म से) ज्ञानान् चाहिए ॥ ३३ ॥

चतुर्व्यो विश्वतिष्ठ पृष्ठे पूर्णवशमुभयतः, तासा
भूर्भुगमिन्यौ द्वे द्वे परिहरेदद्युहती सिरे ॥ २४ ॥

(पृष्ठ की अवधि सिराएँ) पृष्ठवश के दोनों ओर पीठ में चौकोस सिराएँ हैं। इनमें से ऊपर की ओर जाने वाली पृष्ठती नामक सिराओं का परिहार करे ॥४४॥

यक्षम्य—नृहती—इससे Subscapular artery का प्रदर्शन करना चाहिए।

तावरय पघोदरे, तासां मेद्धोपरि रोमराजीमुम
यतो द्रेद्रेपरिहरेत् ॥ २५ ॥
(उदर की अवेष्य सिराए—) उतनी ही (चौरीस) सिराए— उदर में हैं। उतनमें से मेद्ध के ऊपर की रोमराजी के हौनों को लोट की दो दो सिराओं का परिहार करे ॥ २६ ॥

यहाँ पर दिखने के ऊपर की जो अवधि सिराएँ
उनसे Inferior epigastric vessels का प्रदूषण करता था।

चतुर्वारादद्वारास, तासा चतुर्दशशत्रहृत्या-
हृषये द्वे, द्वे द्वे स्तनमस्तु, स्तनरोहितापलापस्तम्भे
भयतोऽप्ती, परं द्वात्रिशतदशखण्डत्याः पृष्ठोदरेत
भवन्ति ॥ २६ ॥

(झाती की अवैधता सिराप्—) झाती में खालीस दिया होती हैं, इनमें से चौदह अवैध हैं—हृदय में दो, स्तनमूल दो दो, स्तनरोधित, अपलाय, अपस्तम्भ इनके दोनों ओर व इस प्रकार पीठ, उदर और झाती में बत्तीस अवैध सिराप् होती हैं ॥ ३६ ॥

वक्षव्य—स्त्रनरोहित इत्यादि—स्त्रनरोहितयोर्देहे दे, कलापोरोक्तैः, अपसंभवोरथेकैः, एवमशीत्वर्थः। (दृष्टव्य) छाती की सिराओं से Internal mammary, Intercostal lateral thoracic arteries and the branches का ग्रहण करना चाहिए। हृदय की सिराओं के हृदयसंबंधित सिराओं को न समस्तकर हृदयप्रदेशवर्त सिराओं का ग्रहण करना चाहिए।

वत्-पर्यासिराशते जन्मणि कृष्णं भवति, तः
पद्यंश्चाशच्छिरोधारायां, तांसामयो चतुर्थ्यम्
सक्षाः परिहृत्, द्वे वृकाटिक्योः, द्वे विशुर्योः, प्र
प्रीत्यायां योडशाब्दव्याध्याः ॥ २७ ॥

(भीवा की अवैष्य सिराणु) के लिए वैष्य सिराणु होती है। इनमें से उत्तराः विभिन्नों के द्वारा दीर्घीर दो विभिन्न कक्ष का कार से बनाये जाते हैं। उनमें से मर्मसंस्क्रक वाले भी सिराणुओं में

वक्तव्य ॥१४॥ उसे हुप, (स्वप्रभानु भूत्या
arotid artery स्वाक्षर करा) बाले दोसों का हृष्टि से
कुणिकों पर दूसरे के मार्ग में जाना सराजों
तोता है । देखि ॥१५॥ सुखद कहलाती है ॥ १५ ॥ हस-
tles and vein spasm भूम में शरीरगत सा चंगन
हस्तोरभयतों परिस्थार प्रकार बताये । दोसों का

परिहरेत् ॥ ये ॥ ५ एक प्रकार का "दोष" (हनु की अवध्य रिकाण्—) है। इसमें परीकरण शाल सिरापां हैं। उनमें से सभियों परिवर्तन, रखे गये हैं और तत्वविज्ञान देखे ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—सभिमन्नी—इससे—Intercalary batteries and veins का वोध होता है।

पट्टिशिल्हायां, वासामधः पोदशारे हैं । ॥ ३४ ॥
 सबहे द्वे, वागवहे च द्वे ॥ २६ ॥

(जिहा की अवधि सिरापुं—) जिहा में छत्तीस
 लगती है, इनमें नीचे की सोलह तिराओं में दो रसवह
 लगती हैं, जिनके नीचे दो तिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

बहुत बड़ा अवयव होता है ४५॥
बहुत बड़ा अवयव होता है ४५॥
बहुत बड़ा अवयव होता है ४५॥

दिर्दादश नासायां, तासामौपनासिम्यहतसः।

परिहरेत्. तासामेव च तालुन्येकां सृदावुहेशे ॥३०॥
 (नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं। उनमें से नासासमीपवर्ती बार सिराओं का परिहार करे। इन्हीं चौबीस में से तालु में सृदु प्रदेश में एक है (उसका भी परिहार करे) ॥ ३० ॥

वक्तव्य—ओपनासियः—नासासमीपवर्ती। इससे Angular vein and artery का बोध होता है।

अर्घ्यत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्ग्योः
परिहरेत् ॥ ३१ ॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस सिराएँ होती हैं; इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomaticotemporal artery का बोध होता है।

कर्णयोदंश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥

(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिराको बचाना चाहिए ॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricular and anterior tympanic arteries का बोध होता है।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे पष्ठिः, तासां केशान्तागतास्थृतस्यः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थपां चैका परिहर्तव्या ॥ ३२ ॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही लाट में साठ सिराएँ होती हैं। उनमें से केशान्त के साथ साथ गाँवाली चार, आवर्त की एक और स्थपनी की एक उन (प्रकार सात) सिराओं को बचाना चाहिए ॥ ३२ ॥

इस वक्तव्य—ललाटे पष्ठिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, वे में से ६० सिराएँ ललाट में थाती हैं। अर्थात् इन सिराओं में पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुविशित्वागता याश्च पट्टिंशवेत्रगतास्ता एव पष्ठिललाटे शतव्याः । अतो वहृप्रगणनीयाः । ननु नेत्रगता अर्घ्यत्रिशब्द, तत्परं विशनेत्रगता वै व्याख्याय पष्ठि पूर्वति ? सत्यं, यथापि अर्घ्यत्रिशनेत्रयोः सिरा क्षात्स्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाञ्चशित्वात्त्राभावः । अतो नेत्रगता प्रथिंशदपि ललाटे पुनः पट्टिंशदेवेति । (ढलहण) । केशान्तागताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की गाँवों की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली। इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए। आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए। स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal veins का ग्रहण करना चाहिए।

शङ्खयोदश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां
परिहरेत् ॥ ३४ ॥

(शङ्खप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं। इनमें से शङ्खसन्धि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

१ पट्टिंशदुभयोर्नेत्रयोः;

२ 'स्त्रेता' नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति कवचिदधिकपाठः..

वक्तव्य—शङ्खसन्धिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए।

द्वादश मूर्धन, तासामुत्केपयोद्दें परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमशङ्खकृत्याः पञ्चाशज्जन्त्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३५ ॥

(सिर की अवेध्य सिराएँ—) मस्तक में वारह सिराएँ हैं। उनमें से उत्तेष्प की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए। इस प्रकार जड़ि के ऊपर की पचास अवध्य सिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—उत्तेष्पयोद्दें—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए। सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए। ये रक्तवाहिनियाँ चहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जलदी बंद नहीं होता। तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है। इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. Grey's Anatomy.

यहाँ पर जड़ि के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् धूंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है। अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है। इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया गया है—

जन्मूर्ध्व सिरासंख्या का कोष्ठक

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	अष्टांगसंग्रह
ओवा	५६	२४
हनु	१६	१६
जिहा	३६	१६
नासा	२४	२४
नेत्र	३८	५६
कर्ण	१०	१६
सिर	१२	१२
जन्मूर्ध्व कुल संख्या	१९	१६४

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासानेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः पृष्ठेः, त एव च शङ्खयोः।

भवति चात्र—

व्याघ्नुचन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसुताः सिराः ।
 प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्विसादीनां यथा जलम् ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभिन्न-शारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

कमलन्द से विसादि (सूल) के प्रतान जैसे जल (कीचड़) में चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही नाभि से चारों ओर सिराओं के प्रतान देह में फैलते हैं ॥ ३६ ॥

बक्टव्य—इसपोरगामार में इस श्लोकगत सिरा का अर्थ नाड़ी (Nerve) किया गया है—इत्यत्र सिराश्वादेन द्वानुनन्ददे निरिण्यः। यदि यह श्लोक किसी तन्त्रार्थ में होता तो सिरा का अर्थ नाड़ी करने में कोई विशेष आपसि न होती, परंतु आयुर्वेद में, और विदेश करके जिस सिलसिले में यहाँ पर श्लोक आया है, उसके अनुसार सिरा का अर्थ रक्तवाहिनी ही करना उचित है, नाड़ी करना उचित नहीं है। महाभाष्योपभ्याय गणनायसेन प्रत्यक्षाशारीर की प्रस्तावना (षट् ६६) में इस श्लोकगत नामि और सिरा का कथं नाड़ी ही कहते हैं—प्रत हि शेषोत्तमे पर्य मणिपूरख्यक्राद् समन्वयं प्रदग्धः नाड़ो लक्ष्यन्ते विसरनुत्पृष्ठाः; न पुन रक्तवाहिन्यः प्रणाल्यः इति खुट्टिमिद्र पृष्ठमद्वाशम्॥ परंतु संशार्पेचकविमर्श में धमनी-विवरण के समय इस श्लोकगत सिरा को ‘रक्तप्रगाल्यः’ कहते हैं—यथा दत्तैव द्व्यमधरचार्य—धमनीनां शुक्रोतोत्त नाभिमध्यवल सङ्कमितु नामिषद्वयं मेदुला अदलेगेता सहित स्यामनल कड़ (Medulla oblongata with spinal cord)—अर्थात् ‘सशीर्पस्पन्दनाकाण्डः’ रूपार्थं पिण्डप्रसारणेन व्यप्रतिभया

संशोधनक सुन्नामाकाण्डः रूपाय पांडितम् इति ४५३७ वर्तमया आविष्टः, सोऽपि विदुषमुच्चैर्दीप्तवेत कल्पयति, निर्मूलत्वादस्तम-
वस्त्राच । न च तावतपि चतुर्विशिष्टसंख्यमधमीना तथमवत्स-
संगतिः युक्ता, तथमधाना नाडीना पद्मसिंहस्थलाद । किञ्च
नामिदर्शेत्तद्यायाकैवल्ये सिद्धायामपि नामिप्रदत्त समानार्थमेव
समर्पयन्ते । तत्त्वाशय शास्त्रिमयानुसारे लेखि न विस्मर्त्यन्तः । उर्त्ते
हि—‘वर्वत्यस्तु सिरा: वाये सर्ववित्त मरीत्यागः । नाम्ना सर्वा
निददास्ता: प्रत्यन्वन्ति समन्वयः ॥ व्याप्त्युवन्यमितो देहं नामित
प्रयत्नः सिरा । प्रताना पश्चिमद्विद्वासीना यथा जलम् ॥’
अत्यधी, सुमुते धमनीव्याकरणे भवतश्चेति ददृ प्राचीनवचनद्यम्,
ददृ—‘यथा स्वभावतः खानि गृहणलेतु रिसेतु च । धमनीना वथा
खानि रसो वैष्णवीयते ॥’ प्रयमदवत्तं धमनीना त्रिपत्र रसवहत्वं
च स्पृहमपिते । द्वितीयवद्वने तु ‘पश्चेन्द्रिय पश्चमु भावयन्ति’
इत्यस्त्रा सदावहनार्थं एव प्रतीयते तत्समाद धमनोसाधाय इवाय-
त्वमनेवार्थं तदा रौप्यत्वं । एवं सुमुते दृष्ट्यस्त्राने धमनीना हृद-
यमवत्सरमधियाप शारीरे नामिप्रदत्तवर्मुक्तं तद् गर्भस्थवालिप्रा-
येणीति इत्या सामाधेयम्, न उन सर्वाचार्यसन्त प्रयद्यासिद्ध धमनीना
हृदयस्थपमहत्वं ॥ पृष्ठ ६० । इत्येकं अपेक्षी तरुमा में लिखते
हैं—If Nabbhi means Medulla oblongata and Spinal
Cord in the case of Dhamani's, why should it
not mean the same thing in the case of Sira's
also? so the confusion seems worse confounded!
Probably the emerging of Sira's and Dhamani's
through the Nabbhi (Naval), mentioned in
Sasbrata, has been said in reference to the
foetal circulation. The abstrai has missed this
point altogether. Page 74 मा मा गणगापत्तेन जी का
हितीय कृपण टीक है, प्रथम कृपण गलन है । वर्णकि वहाँ पर
केवल कर्मी की ओर प्यास दैवत मिरा का भावविनिअप करने
की कोशिश की गई है, सर्वांग आपुदेशावध की हाइ से नहीं ।
भावविनिअप करते समय (Identification of the old

anatomical terms for modern anatomical terms) संस्कृत आयुर्वेद का विचार न करके केवल स्थानिक शब्दों का विचार किया जाय तो इस प्रकार के अनवस्था प्रसंग और विसंवाद (चौथे अस्ताय के दृश्य रूपों का वर्काप्य देखो) स्थान स्थान पर उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है। इस विषय का अधिक विवरण नीचे आज्ञायके दूसरे भूत्र के वर्काप्य में भी किया गया है, उसको देखो। अब इम के पाद अद्यति सिराओं का कोष्ठक दिया जाता है—

शरीर को अवैध्य से बचाएँ

अंग	नाम	ज्येष्ठी पारिमाणिक नाम
अध्यव्याख्या जालपरा		Great saphenous vein
कर्णी		Femoral artery and vein
लोहिताच		"
कध्यव्याख्या जालपरा		Cephalic vein
कर्णी		Brachial vessels
लोहिताच		Axillary vessels
ओणी	विटप	Spermatic vessels
	कटीरुख्य	Gluteal vessels
पृष्ठ	मुहांती	Subscapular artery
	मेडोपरि	Inferior epigastric vessels
बद्ध	स्तनमूलादि	Internal mammary and lateral thoracic vessels
मोता	माण्डक	Carotid arteries and Jugular veins
	कृष्णतिवा	Occipital vessels
	रिपुर	Posterior auricular vessels
इन्हु	इन्हसपि	Internal maxillary vessels
जिंडा	रसवडे, बासवडे	Deep lingual vessels
नामा	भ्रीयनासिनी	Angular vessels
नेत्र	अराग	Zygomatico-temporal vessels
पर्याए	शास्त्रवाहिनी	Anterior tympanic vessels
जलनाड	केशान्तरानाथा	Supraorbital, Superbrow Temporal vessels
आदर्द		Frontal branch of the Superficial temporal
स्पष्टनी		Nasal branch of the frontal vein
शैमसंविग्र		Superficial temporal vessels
उत्तेप		Parietal branch of the Superficial temporal
सीमत्व		Branches of the occipital and Superficial vessels
अधिपति		

ऐ भास्तुरद्युमेला नोविनिशामेने विचिकिंगादामातुरे रद्दस्त-
लीविरागी मुकुटमात्राद्वितीयी चाहोरस्ताने निरावर्लंगिकि
स्त्रीरी नाम सप्तमोऽस्यापः सप्तमः ५ ३ ५

अष्टमोऽध्यायः ।

**अथातः सिराव्यविधिशारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥**

अब हूसके घाव सिराव्यविधि शारीर का व्याख्यान करेंगे, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वालस्थचिरलक्षक्तत्त्वोणभीरुपस्थित्वान्तमयाध्व-
र्खीकर्पितवस्तिविरिक्तास्यापितानुवासितजागरित-
क्लोवक्षशगम्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपक-
पक्षायातोपवासपिणासामूल्द्विषीडितानां च सिरां न
विध्येत्, याद्याव्यध्याः, व्यध्याव्यधाप्राः, दृष्टाख्या-
यन्विताः, यन्त्रिताश्रानुतिथिता इति ॥ २ ॥

(सिरावेध का नियेध) वालक, घृद्ध, रुच, छत-
क्षीण, उरपोक, परिअन्त (थका हुआ), खीसंग मध्यसेवन
और प्रवास से थका हुआ, जिसे वसन हुआ है, जिसे विरेचन
हुआ है, जिसे निरुद्धवस्ति दी गई है, जिसे अनुवासन वस्ति
दी गई है, जिसने रात में जागरण किया है, नरुंसक, कृश,
गर्भिणी, कास, श्वास, अतिज्वर, शोष, आक्षेपक, पक्षाधात,
अनशन, तृष्ण, मूर्च्छा हनसे पीडितों का सिरावेध न करे;
तथा अवेध्य सिराखों का, वेधन योग्य, परन्तु दिखाई न दे
उनका, दीखने पर जिनका यन्त्रण न किया गया है उनका,
यन्त्रण करने पर भी जो न उठी हीं उनका वेध न करे ॥ २ ॥

वक्तव्य—गालस्थविरादि—ये रोगी दीर्घलय, भीति, सुकु-
मारता या रोगविशेष के कारण सिरावेध का शास्त्रकर्म या
तज्जन्य रक्तनाश वरदास्त नहीं कर सकते, अतः इनके संवेद्ध
में सिरावेध न करना चाहिए । ढलहणाचार्य प्रत्येक में सिरावेध
न करने का कारण अपने भत्तानुसार देते हैं—वालस्थविरयोरसं-
रूपांशुतुक्षीणत्वात्, सिरां न विध्येत् । रक्तक्षतक्षीणानां वातप्रकोप-
मयाद् सिरां न विध्येत् । क्षत इति उरःक्षतयुक्तः, खड्गाद्यगिद्वतो वा,
ज्ञेणः ज्ञीणपातुः, गयी तु ज्ञतेन ज्ञीणस्तस्यानिलव्याधिभयाद
विद्येदिति व्याख्याति । भीत्रोश तमोवक्षुलत्वात्तोहितदर्शनेन मूर्च्छा-
भयाद् विध्येत् । परिश्रान्तस्य थपक्षुपितो वातुः शोणितावसेचनेनाति-
प्रावल्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात् । मध्यस्य मदविक्षिप्तिस्या-
तिमूल्दांकत्वात्, अद्वक्षीकर्पितस्य वातप्रकोपमयाद् विध्येत् ।
वान्तविरक्तियोरक्षतसंसर्जनयोरपीतस्नेहयोर्वेमनविरेकान्तमेव वात-
प्रकोपमयाद् सिरां न विध्येत् । आस्थापितजागरितयोमंसरत्प्रकोपम-
याद् विध्येत् । अनुवासितस्य मन्देऽप्नी भूयोऽग्निमान्यभयात् । छीवस्य
प्रधानयातुक्षयेणालपसत्त्वेन च निश्चितविनाशत्वात् । कशस्य गर्भि-
णीनां चोपचीणयातुत्वाद् देहसंदेहभयात्, कासश्वासशोषपिण्यामप्यप-
चीयमानयातुत्वेन देहसंदेहभयान्न विध्येत् । प्रदृढज्वरस्यासक्षावेण
प्रलापादिभयात् सिरां न विध्येत् ।

वाल और घृद्धों में सिरावेध का नियेध, जैसे कि
ढलहणाचार्य ने बताया है, असंरूप ज्ञीणधातु के कारण
नहीं है । ये भी आवश्यकता पड़ने पर शोणितावसेचन
सहन कर सकते हैं, परन्तु सुकुमार या उरपोक होने के
कारण सिरावेध का शास्त्रकर्म और रक्तदर्शन सहन नहीं
कर सकते । इसलिए सूत्रस्थान के १३ वें अध्याय में लिखा
है—गुणवालस्थविरभीरुवर्लनारोट्टुकुमाराणामनुग्रहार्थं परम-
मुकुमरोदयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः । इसकी

टीका में ढलहणाचार्य लिखते हैं—अतुकुमारेषायरतु प्रस्तुतं
सिराव्यधमं च । सिरां न विध्येत्—यह नियेध साधारण
परिस्थिति में किया गया है । जब विशेष परिस्थिति या
विशेष कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध के द्वारा शोणित
मोक्षण कर सकते हैं—न हेतु नियेधे विषसंस्थेपसगतियित-
व्याधिः । (अद्यांगसंग्रह) । जैसे, व्याघ्रों में खींसी, शास-
कृच्छ्र, ज्वर इत्यादि लक्षण तीव्र होते हैं, तब (Broncho-
pneumonia), तथा ज्वर और श्वासकृच्छ्र के साथ स्वरयन्त्र
शोथ (Laryngitis), होता है, तब गले में सिरावेध करने से
फायदा होता है । अथवा गर्भिणी में जब गर्भाचेपक
या गर्भपतनातक (Eclampsia प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६५ देखो)
उत्पन्न होता है, तब शरीरगत विष को निकाटने के लिए
सिरावेध किया जाता है और उससे बहुत फायदा होता है ।
अथवा पक्षाधात में जब रक्त का भार अधिक रहता है, तब भी सिरावेध से रक्तमोक्षण करने पर फायदा होता है । अन्तःश्ल्यता या रक्त जमने के कारण (प्रथम खण्ड
पृष्ठ ३२५ देखो) पक्षाधात होता है, तब सिरावेध से तुकसान
होता है । हसलिए पक्षाधात में कारणों के अनुसार सिरावेध
का नियेध या विधि होती है । अथवा जब सर्प काटता है, तब
रक्तगत विष का उत्तरण करने के लिए मनुष्य निरपेक्ष
दंशस्थान की सिरा का वेध किया जाता है और उससे
फायदा होता है—समन्वयः सिरां विध्येऽन्शन्तु कुशलो भिषक् ।
रक्ते निर्दिष्यमाये तु कुरुतं निर्दिष्यते विषम् । तस्माद्विसावयेद्रक्तं
सा शस्य परमा क्रिया ॥ (सुश्रुत) । अथवा आचेपक (Convul-
sions) जब घृकरोगजन्य मूत्रविषमयता (Uroamia) के
कारण या मस्तिष्कगत रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं,
तब सिरावेध से फायदा होता है । याद्याव्यधाः—फिसी
रोग में सिरावेध की आवश्यकता होने पर भी विछुले
अध्याय में प्रत्येक धींग-प्रत्यंग की जो अवेद्ध सिरापृ-
ष्ठतलाई गई है, उनका वेध न करना चाहिए । याथापृष्ठः—
जो सिरापृष्ठ दिखाई न दें, उनका वेध न करना चाहिए ।
सिरा दिखाई न देने के निम्न कारण होते हैं—(१) सिरापृ-
ष्ठसाधारणतया उत्तान (Superficial) होती है, इसलिए
दिखाई देती है । जो गम्भीर होती है, वे नहीं दिखाई
देतीं । इसलिए गम्भीरता प्रथम कारण है । (२) अस्थूलता—
वेध के लिए साधारणतया स्थूल या मोटी सिरा प्रशस्त
होती है, जो दीख पड़ती है, उठती है और अन्त्रित भी
की जाती है । जो सिरा छोटी होती है, वह दीख नहीं
पड़ती । (३) अभाव या स्थानान्तर—सिराखों (Veins) के
सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यथापि उनका
स्थान निश्चित रहता है तथापि कई बार वे अपने स्थान में
न होकर इधर-उधर मिलती हैं या कई बार उनका अभाव
होता है । यह स्थिति मुख्यतया उत्तान सिराखों के सम्बन्ध
में होती है । इन कारणों से जब यथोक्तसिरा नहीं मिलती,
तब समीपवर्ती दूसरी सिरा का ग्रहण करने के लिए
वाग्भटाचार्य कहते हैं—यथोक्तानामदर्शने । मर्महीन यथासत्रे
देशेऽन्यं व्यथेच्छिराम् । (अद्यांगहव्य) । इष्टाशायन्त्रिताः—
यन्त्रिताश्रानुतिथिः—इसका कारण आंगे ३४वें श्लोक में
(सिरापृष्ठ शिक्षितो नास्ति) दिया गया है । ठीक यन्त्रण न करने से
सिरा का उत्त्यान ठीक नहीं होता और उत्त्यान ठीक न होने से

वेधन के कर्म में कठिनाई उत्पन्न होती है, जिससे हुए व्यधन के दोष (आगे ३३वाँ सूत्र देखो) उत्पन्न होते हैं और सिरा-वेष्ठ का लाभ भी नहीं होता।

शोणिता इसेकसाधायक ये विकाराः प्रागभिद्-
तास्तेपु चापक्षेष्ट्वये पु चानुकेपु यथाभ्यासं यथा
श्यायं च सिरां विघ्नेत् ॥ ३ ॥

(सिरावेष्ठ निर्देश—) रक्तमोरुण से साध्य होने वाले जो रोग पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, तथा जो अन्य (शोणिता वेसेक साध्य) अनिर्दिष्ट रोग हैं, उनमें अपकार्यया में यथाभ्यास तथा यथाविधि सिरा का वेधन करे ॥ ३ ॥

वक्तव्य—प्रागभिदिवा—सूत्रशायन के चौदहवें अध्याय के छोटीमिवे शोक में (प्रथम स्थान पृष्ठ ५१ देखो), इसके सिरा रक्तज और शाय्य विकारों का निर्देश २४ वें अध्याय के १० वें सूत्र में और २५वें अध्याय के ११-१२ वें सूक्ष्मों में किया गया है। अपेक्षु—अनेक रोग शोय (Inflammation) के कारण उत्पन्न होते हैं। शोय के स्थान में हमेशा रक्ताधिक्य हो जाता है और इसी रक्त के द्वारा स्थानिक विकृति का निराकरण होता है। शोय के दो पर्यावान मुख्यतया होते हैं—१ उत्पातम (Resolution), और २ पाक (Oppuration)। जब पाक बन जाता है, तब रक्तमोरुण से कोई फायदा नहीं होता। रक्तमोरुण से उपशम होने में सहायता होती है—देहोनप्राणार्थ्य तथा पाकशामाद प। अचिरोत्तनिति शोके कुर्याद शोणितमोरुणम् ॥ सदोके कठिने इयामे सरसों केदावानि । सरस्थे विशेष बातिं ब्रह्मे विश्वावण वित्रन् ॥ (सुश्रुत, चिं १)। इमलिपि रोग में जब तक उपशम होने की समावाना होती है, तब तक रक्तमोरुण का इलाज करना उत्तम है। रक्तमोरुण से उपशम में सहायता होती है तथा देहना कम होती है। इसको आयुर्विक शाखा भी मानते हैं। परन्तु उसके साथ रक्त का भोजण करने से स्थानिक प्रतिकर्त्तव्यक्ति भी कुछ कम हो जाती है, ऐसी उमरकी राय है। इमलिपि आयुर्विक चिकित्सक रक्तमोरुण के विषय में ही गये हैं। रक्तमोरुण उसी समय किया जाता है, जब शोयज्ञन्य रक्ताधिक्य मर्यादा से अधिक होता है और रोगी भी रक्तल (Plethora) होता है। यथाभ्यासम्—इसके निम्न तीन अर्थ होते हैं। इनमें प्रथम अर्थ अधिक प्रशस्त मालूम होता है—(१) वायाम, का, कर्य, प्रशस्त, प्राप्ति, या, प्रथा, (२) चूक्ष्मी, यथाभ्यास, का, कर्य, प्रशस्त, प्राप्ति, या, प्रथा, (३) चूक्ष्मी, यथाभ्यास, जित रोग में जहाँ पर सिरावेष्ठ करने की परम्परा होती, उसके अनुसार। इस प्रकार का अर्थ निम्न वाय्य में मिलता है—यथाभ्यासम् अभिधीयतम् । (उत्तर-रामचरित)। संचेते में तुरुष्वदिप मार्ण द्वारा । (२) अभ्यास—सामीक्ष्य या निकटता, यथाभ्यास समीकरण । जहाँ पर रोग होता है, उसके समीप में होने वाली सिरा—यथाभ्यासमिति यथासमीकरण । (दहूण) । (३) यथाभ्यास यथाभ्यासम्, यथा युग्मायामदर्शनविद्यम् । दारानित च—योजनामदर्शने । मनोहीने यथासने देहोऽया व्यपर्येक्षित्रम् । (हाराणवन्दन) । यथान्यायम्—जीसी कि आगे व्यधन की विधि यथाइ गई है, उसके अनुसार। यथाविधि—यथाविध लेश्वरेश्वरिक्षयननिकैरण यथान्यायम् । (दहूण) । हाराणवन्दन इसका सम्बन्ध सिरा के साथ खोड़ते हैं—यथाभ्यास यथोविधाम्, इति तु यथाविध वहीरूपितात् विषय व्यर्थनार्थम् ॥

प्रतिपिङ्गानामपि च विषोपसर्गत्यिकेपु सिरा-
द्यधनमप्रतिपिङ्गम् ॥ ४ ॥

(निपिङ्ग रोगियों में सिरावेष्ठ के प्रयोजन—) विषोपसर्ग और आत्मविक रोगों में (सिरावेष्ठ के लिए) निपिङ्ग रोगियों का भी सिरावेष्ठ निपिङ्ग नहीं है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—विषोपसर्ग—विष का उत्पन्न होने पर। सर्वविष के उत्पन्न में हिरावेष्ठ किया जाता है, इसका विवरण ३ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इसके सिवा विषज्ञन्य कामला (Toxic undios) में भी विष का नाश करने के लिए सिरावेष्ठ किया जाता है। कामला दो भ्रकार की होती है। एक वह है, जिसमें वित्तोत्सर्ग में शाधा उत्पन्न होती है। इसको विषज्ञन्य कहते हैं। प्रागार एक जारीय (CO) की विषमयता में भी सिरावेष्ठ से रक्तमोरुण किया जाता है। आत्मविक—अव्यय नाश प्रयोजन यस्तु। प्राणानाशक, महाविषस्तिक्तर। जैसे, गर्भिणी के आरोप। इसमें विषयि गर्भिणी सिरावेष्ठ के लिए निपिङ्ग होती है तथापि आरोपक में यह निषेध दूर हो जाता है।

तत्र लिङ्गवस्त्रद्वामानरं यथादोषप्रायनीकं द्रव-
प्रायमर्थं भुत्यन्तं यथार्गु पीतवृन्तं च यथाकालमु-
पस्थाप्यासेनं स्थितं चा प्राणानावायमानो यथापद्म-
चर्यान्तिर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नाति-
गाढ़ नातिशिथिल शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्त शार्व-
मोद्य विषरां विघ्नेत् ॥ ५ ॥

(सिरावेष्ठविधि—) चेहन और स्वेदन किये हुए दोषप्रिरोत द्रवमूर्यिष्ठ आहार सेवन किये हुए, अथवा यवागु-
पिये हुए, उचित समय पर उपशम करके ऐं हुए पांसुपृ-
निक्त किये हुए रोगी को शरीर (के एक) प्रदेश (की रोग के अनुसार ठीक फरके उस) में वस्त्रण, चम्भ (पट), बन्त वैलक्षण (पट), छता (प्रतान), इनमें में किमी एक से न बढ़त तग न बहुत शिखिल बैपार उचित लाल से प्राणों की बाधा न पकुचाते हुए सिरा को प्राप्त करके वेधन करे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—लिङ्गवस्त्र—सम्यक् स्नेहन और स्वेदन से दीरीगत दोष रक्तवाहिनियों में आते हैं और सिरावेष्ठ करने पर उत्सर्ग हो जाता है। इसलिए सिरावेष्ठ के पूर्व स्नेहन और स्वेदन दिया जाता था—नायक लिङ्गवस्त्रयुनद्रवोग्ना दोषा शोणितमनुप्रविष्ठा सम्यक् प्रच्यवते । (आठीं संग्रह) । अतिविषय या अतिशिथिल होने से रक्त का ज्वाव अधिक होता है—प्रत्युष्मानिदिवन्देतिप्रवर्तते । (सुश्रुत, सूत्र १४)। यथाविधयनमार्ग—दारारीक दोष या अतिविषय या दोषों का प्रतिकार जिससे होगा, ऐसा आहार। संचेप में धातुमास्यावस्था करने वाला। द्रव्यमायम्—द्रव्यमूर्यिष्ठ। रक्तावसेपत से शरीर का जो द्रवींदा नष्ट होगा, उसकी दूरी करने के लिए द्रव्यमूर्यिष्ठ आहार दिया जाता है। मुकुवन्दम्—लघुमुकुवन्दम्। सिरावेष्ठ शाफकम् है। इससे रोगी १. प्रतिपीडनम् ॥ २. प्राप्त शर्क गृहीता ॥

को मूर्छा जा सकतो है । उसको दूर करने के लिए रोगी को हल्का आहार दिया जाता है—न मूर्छेयमासंयोगाद् ॥ यवागू पीवन्तन्—यवागू भी रोगी को मात्रा से पिलाना चाहिए—यवान् प्रतिपीतन्य शोणितं नोद्योदिपक् । (सूत्र १४) । इस श्लोक की टीका में दल्हणाचार्य लिखते हैं—जा हि प्रायशः प्रक्षेत्रदातिमिका व्यैदलत्वाद् द्रवोग्णात्वाद् शोणितं विलाययति प्रति-शब्दोऽन मात्रार्थः, तेन यवागू मात्रा पीवदत इत्यर्थः ॥ उपाधाय—वलि, मन्त्र, स्वस्त्रयनादि करके । प्रत्येक शब्दकर्म के पूर्व देवतार्चन करने का प्राचीन रिवाज था । सूत्रस्थान के ५वें अग्रोपहरणीय अध्याय का ६ चतुर्दशोऽन । आसीनग्—विस्तरे पर या किसी आसन पर बैठा हुआ । सिरावेद के लिए बैठना यही उत्तम आसन है । रोगी को लड़ा करने से मूर्छा जलदी उत्पन्न होने का ढर रहता है और विस्तरे पर लियाने से शरीर से अधिक रक्तस्राव होने पर भी मूर्छा या चक्कर नहीं आता । मूर्छा रक्तस्राव रोकने के लिए एक सूचक लच्छा होता है । परंतु वह केवल बैठे हुए रोगी में ही योग्य सूचक होता है । स्थितं वा—किंवा यन्त्रणशाटक से सुयन्त्रित किये हुए । रोगी न हिलने पावे, इसलिए उसका यन्त्रण करने का रिवाज था । सिरावेद में प्रत्येक रोगी को सुयन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं है । यन्त्रण दो प्रकार का होता है—सार्वदैहिक, रोगी को स्थिर करने के लिए, और स्थानिक, सिरा को उत्थित करने के लिए । स्थानिक की आवश्यकता प्रत्येक समय होती है, परंतु सार्वदैहिक की नहीं होती । स्थित से सार्वदैहिक नियन्त्रण का बाध होता है । संकेप में ‘आसीनं स्थितं वा’ का अर्थ ‘सुयोपषिट् सुयन्त्रितं वा’ होता है । दल्हणाचार्य ‘स्थितं’ का अर्थ सहडे हुए (कर्व्यभृतम्) करते हैं । प्राणानवाधमानः—यह वैद्य का विशेषण है । अतिवेद, अवेद्य सिरावेद, मर्मवेद इत्यादि से (आगे सूत्र ३१ देखो) वैद्य रोगी के प्राणों को वाधा पहुँचा सकता है । इसलिए ‘मर्मादि’ का परिहार करके इसका अर्थ करना उचित है । वस्तपट्टादि—इनका उपयोग शरीर का अंग बाँधने के लिए किया जाता है । इससे सिरागत रक्तप्रवाह बंद होकर सिरोत्त्यान में सहायता होती है । यह बंधन हमेशा वेदस्थान से कुछ ऊपर की ओर हृदय और वेदस्थान के बीच में होना चाहिए । नातिगाढ़ नातिशिथिलम्—गाढ़ और शिथिल का संबंध रक्त-प्रवाह के साथ है । इतना तंग न होना चाहिए कि धमनी-गत रक्तप्रवाह रक्त जाय, तथा इतना शिथिल न होना चाहिए कि सिरागत रक्तप्रवाह जारी रहे । वस्तपट्ट हस्त प्रकार से बाँधा जाय कि धमनीगत प्रवाह में वाधा न हो परंतु सिरागत प्रवाह में वाधा पढ़े । इससे सिरा में अधिकाधिक रक्त आने से और आये हुए रक्त का मार्ग अवस्था होने से उसका उत्थापन भली भाँति होता है । ‘नातिगाढ़मुत्तमागे, नातिशिथिलं शाशादु’ यह दल्हणाचार्य का कथन ठीक नहीं है । यह शब्दसमूह एक ही स्थान के बन्धन के लिए प्रयुक्त हुआ है—वजादीनामन्यतमेन नातिगाढ़ नातिशिथिलं शरीरप्रदेश यन्त्रित्वा । आसाद—इसका सम्बन्ध ‘सिरां’ के साथ है; सिरा को प्राप्त करके । यथोक्त शब्दम्—सिरावेद में कुठारिका, धीहिमुख, आरा और वेतसपत्र हनका उपयोग होता है—कुठारिका त्रीहिमुखारवेतसपत्रकाणि व्यथने । (सुश्रुत,

सूत्र ८) । इनमें से अस्थि के ऊपर की सिरा का वेधन करने के लिए कुठारिका और मांसल प्रदेश स्थित सिरा का वेधन करने के लिए धीहिमुख प्रयुक्त होता है । आगे १८ वाँ सूत्र देखो । इनमें से योग्य शस्त्र को ग्रहण करके तदद्वारा । नैवातिशीते नात्युप्ये न प्रवाते न चाभिते । सिराणां व्यथनं कार्यमरोगे चा कदाचन ॥ ६ ॥

(सिरावेद के लिए अयोग्य काल—) अत्यन्त शीत-काल में, अत्यन्त उषणकाल में, जोर से हवा चलते समय में, अम्रान्त्युदित दिन में सिराओं का वेध नहीं करना चाहिए; तथा नरोग (स्थिति) में भी कदापि (न करना चाहिए) ॥६॥

वक्तव्य—नैवातिशीते इत्यादि—काल का यह नियम अनात्यधिक अवस्था के लिए है । आत्यधिक अवस्था में कृत्रिम पद्धति से शीतोष्णादि दोषों का परिहार करके सिरावेद कर सकते हैं—शीत शीतप्रवीकारखुण्ये चोश्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ (सुश्रुत, सूत्र १९) । चरक में भी लिखा है—तत्र साधारणलक्षणेष्यतुपु वमनादीनां प्रवृत्तिविधीयते, निवृत्तिरितरेतु । इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश भवन्ति । आत्यधिके पुनः कर्मणि कामगृह्णुं विकल्प्य कृपिष्ठाणुगोपधानेन यथर्तुरुण्यपरितेन...प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनाविदितः ॥ (विमान ८) । प्रोगे—वमन विरेचनादि का उपयोग एकाध घार नैमित्तिक कारण से नीरोग अवस्था में कर सकते हैं, परन्तु सिरावेद का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता । आगे ११ वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो ।

तत्र व्यथसिरं पुरुपं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रो—चिकृते उपवेश्यासने सक्ष्मोराकुञ्जितयोनिवेश्यं कृपरौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गृहाङ्गुष्ठकतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्टयो—रुपरि परिद्विष्यान्येन पुरुपेण पश्चात्स्थितेन वाम-हस्तेनोन्त्तानेन शाटकान्तद्वयं आहयित्वा ततो वैद्यो व्यायात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायत-शिथिलं यन्त्रमावैष्टयेति, असुक्स्तावालार्थं च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुपं च वायुप्रश्नमुखं स्थापयेत्; एष उत्तमाहगतानामन्तर्मुखवर्जनां सिराणां व्यथने यन्त्रणविधिः ॥ ७ ॥

(उत्तमांगसिरावेद की यन्त्रणविधि—) जिसकी सिरा का वेध करना हो, उस पुरुप को अरतिनिमात्र ऊँचे आसन पर सूर्य की ओर मुख करके बैठाकर, दोनों ठाँगों को सिकोड़ेकर, (दोनों जानु) संधियों के ऊपर कोहनियों को स्थापित करके, जिनमें अंगूठा अंदर की ओर हो ऐसी मुँहियाँ चांधे हुए हाथों को (ग्रीवा में) मन्याओं के ऊपर रखकर (पश्चात्) नियन्त्रण का पट्ट ग्रीवा और मुँहियों के ऊपर फेंककर, पीछे की ओर खड़े हुए दूसरे पुरुप से ऊँचे किये हुए वायें हाथ के द्वारा यन्त्रण-शाटक के दोनों सिरों को पक्कवाकर वैद्य (पुरुप को) कहे—कि सिरा को उठाने के लिए दाहिने हाथ से यन्त्रणशाटक को न बहुत गाड़ न बहुत शिथिल लेपेटो तथा रक्तस्रावणार्थ यन्त्रणशाटक को पीठमध्य में निष्पीडन करो और व्यथ-

मिर उप को मुख में चायु भरकर बैठाओ, मुख के अन्दर की सिराओं को छोड़कर सिर की शेष सिराओं का वेध करने (के समय) की यह यन्त्रणविधि है ॥ ७ ॥

यत्कल्प—प्रत्यारित्यमुद्गम—आदिय से यहाँ पर प्रकाश से मतलब है, अर्थात् प्रकाश। जिस तरफ से आता है, उस तरफ मुख करके। सुप्रकाशित मुख होने से, मुख के साथ सर्पण। शरीर भी हो जायगा, सिरा देखने में तथा कुडारिका प्रहार करने में सहलता हो जायगी, अन्यथा इधर उधर प्रहार होने का डर रहेगा। अरदिनामोनिक्ति—करिणामुलिप्रियमित इस्तमात्रेणोन्निते । (दल्हण) । मध्यामुलोक्यर्थर्योमध्ये प्रामाणिक कर। वहमुदित्तो रजिरति मननिक्ति ॥ (हलामुघ) । इस आसन के संबंध में हारणचन्द्र लिखते हैं कि यह वेक्षक है, जमीन पर रोगी को बैठाने से भी सिरावेष का काम उत्तम होता है—प्रतिनामोनिक्ति इत्यकिञ्चित्करमिवावभाति, शक्तिवै भास्तुपैश्वर्य कमं कुर्वाणानामसामक नियमेन सिद्धवत्ताने । सरिद्यस्तोपरि—जानुरेषिद्यस्योपरि । अनन्गौर्धायुक्तमुष्टि—तलसंतुराङ्गुहेन पालिन क्षामु शुद्धिर्य । इस प्रकार सुधी वृंदाने से मुट्ठीदन में जोर मिलता है। वामटाचार्यं मुहूर्ते में कुछ कपड़ा रखने के लिए यहाँ है—मुष्टिमा वक्षगमाभ्याम् । अंगूठा मध्य में रखने से जो कायदा होता है, वही कायदा घुल रखने से मिलता है। वामुरुमुद्गम—मुलाद्वार बंद करके यातु से गालों को फुलाना। इसके सिवा दन्तनीदन और उल्कासन करने के लिए कहा है—दन्तप्रपीडनोलास गण्डाभानानि जारेत् । (अष्टागहद्य) । दन्तप्रपीडनादि कल्पों से सिरोवायन में सहायता होती है। उल्कासने त्रोपसरभेष वापूर्ये निरा । (अष्टागसंग्रह) । वन्यामायकम्—यन्त्रणवद्यप्रहृष्ट ।

तत्र पादव्यर्थ्यस्तरस्य पाद समे स्थाने सुस्थिर स्थापयित्याऽन्य पादमीपतस्युचितमुच्चैः एत्या व्यव्यध्य-सिरपाद जानुसन्धेष्यः शाटकेनवेष्य इस्ताम्यां प्रपीड्यायुक्तं व्यव्यधेद्यस्योपरि चतुरहुले प्लोता दोनामन्यतमेन यथद्या वा पादसिरां विद्येत् ॥ ८ ॥

(पादमिरावेष यन्त्रणविधि—) जिसके पैर की सिरा का वेपन करना हो, उसके पौँव को समस्थान पर अक्षीय तरह से स्थिर करके दूसरे पौँव को कुद्र सिकोद्वर ऊँचा करके सिरावेष के पौँव को जानुमधि के नीचे (यन्त्रण) शाटक से (न बहुत दीला न यढुत तग) अपेक्षक (नीचे के भाग को) टहने तक दोनों हाथों से पीड़न करके (सिरा उठाने पर उसका वेपन करे), ध्वना वेष करने के स्थान से चार अंगूठ उपर वधादि में से किसी पृक से वौधर सिरा का वेपन करे ॥ ८ ॥

यत्कल्प—इस्ताम्या प्रयाप्त—हाथों से पीड़न करने पर भीतर का रक लाली सिरा में भाइर वह उपित होती है। दूसरा वा—यन्त्रणशाटक उगाने के दो स्थान बताये गये हैं; एक स्थान जानुमधि के नीचे भीर दूसरा व्यव्यधेद्यसे चार अंगूठ डरा। इनमें से किसी एक स्थान में शाटक वौधरा जाहिष।

अपोपरिप्रादस्तो गूदाहुष्टुतमुष्टी सम्यगासने हथापयित्या सुपापयित्य सूर्यन्यन्य यद्या इस्त सिरां विद्येत् ॥ ९ ॥

(हस्तमिरावेष यन्त्रणविधि—) सुए से ये: हुए मनुष्य के अन्दर की भीर दिये हुए अंगूठी मुहूर्त वैष्णव का

उपर उचित आसन पर स्थापित करके पहले की तरह बांधकर हाय की सिरा का वेपन करे ॥ ९ ॥

यत्कल्प—इस्तो—यहाँ पर दो हाथों की कोई आवश्यकता नहीं है, जिस हाय की सिरा का वेपन करना हो उस हाय को मुहूर्त बांधकर आसन पर रखने से काम होता है। इसलिए ‘इस्त गूदाहुष्टुतमुष्टी सम्यगासने स्थापित्वा’ इत्यादि परिवर्तन करने से योग्य धर्य निकलता है। अन्तर्गुदाहुष्टुतमुष्टि—अंगूठा भीतर रखने से सुधी वृंदाने में जोर मिलता है। इसके सिवा इस्ततल मध्य के ऊपर अंगूठे का दबाव पड़ता है, जिससे वहाँ का एक ऊपर सिराओं में चला जाता है। सुधी को कई बार दबाने का कार्य करना चाहिए। इससे सर्पण हाय की वेशियों का एक सिराओं में, विशेषतया उत्तान सिराओं में आकर वे उत्तित होती हैं। इसने काम न हो सो हाय में पाराण का गोल ढक्का भीदेने का रिवाज था—पाराणमहाइस्तस्य । (अष्टागहद्य) । पूर्ववृत—पाद की तरह हूर्परसधि के नीचे या वेष्यस्थान के चार अंगूठ ऊपर यन्त्रणशाटक से बांधकर। अवर्णीन इस्तसिरावेषनविधि—प्राचीनकाल की तुलना में अवर्णीन काल में सिरावेष का उपयोग बहुत मर्यादित हुआ है। इसके लिए प्राय हाय की सिरा पसद की जाती है। हाय की सिराओं में भी हूर्पर के सामने की सिरा (Median cubital vein) अधिकतर काम में आई जाती है। इसका एक कारण यह है कि यह वही सिरा है, जिससे काही रक निकल सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्य सिराओं के सामने यह बहुत चल नहीं है क्योंकि यह सिरा इन्युपटिका (Lacertus fibrosus) से कुछ दूरी है, जिससे इसकी धामने में सहलता होती है। सिरा को उत्तित करने के लिए हूर्परसधि के ऊपर यन्त्रणशाटक (Bardage) वैष्णव जाता है तथा हाय में कोई लकड़ी का ढक्का या बद्धपट का बेलन (Bandage Roleer) दिया जाता है। सिरावेष के समय रोगी कुर्सी पर या विस्तरे पर बैठाया जाता है। रिर लचा का विशेषन करके वाएं हाय के अंगूठ से सिरा को रियर करके दायें हाय से नकर द्वारा उस पर देवन किया जाता है। सिरा से निकलने वाला रक एक कौंच के वर्तन में इकड़ा किया जाता है। इससे निकाले हुए रक की रसि मालदम होती है।

गृध्रसीविभाच्योः सुकूचितजानुपूर्परस्य ॥ १० ॥

(गृध्री और विचारी में सिरावेषविधि—) गृध्री और विचारी में जाउ और हूर्पर संकुचित किये हुए (मनुष्य की सिरा का वेपन करना चाहिए) ॥ १० ॥

ओर्णीषुष्टुक्षेष्ट्रामितपृष्ट्यावाकृतिरस्कर्यो पविष्टस्य तिस्पृजितपृष्टस्य विष्टेत् ॥ ११ ॥

(पृष्टादिगत सिरावेषविधि—) पीठ को ऊपरी और सिर की भीतरी किये हुए, (अतएव) जिसकी पीठ तभी हुई है ऐसे दैंडे हुए (पुरु) की पीठ, थोणी और कैंपे में सिरा का वेपन करो।

उद्दोरोत्सोः प्रसारितोरस्क्षस्योदामितगिरस्कर्य विश्वजितदेदस्य ॥ १२ ॥

(दरवाय की मिरावेषविधि—) छाती की प्रसारित किये हुए सिर की ऊपरी दैंडे किये हुए और देह को ऐडाये हुए (मनुष्य की उद्दर और धानी का (सिरा का वेपन करे)) ॥ १३ ॥

चाहुभ्यामवलभ्यमानदेहस्य पार्श्वयोः ॥ १३ ॥

(पार्श्वसिरावेधनविधि—) वाहुओं से लटकते हुए (पुरुष)
।) शरीर की पार्श्व की सिरा का वेधन करे ॥ १३ ॥

अवनामितमेदस्य मेदे ॥ १४ ॥

(शिश्रिशिरावेधविधि—) जिसका शिख कुछ नीचे झुकाया
गया है, ऐसे (पुरुष के) मेडू में (सिरावेधन करे) ॥ १४ ॥

वक्तव्य—शिश्रिशिरावेधविधि के सिरावेधन के लिए उसका हर्षित होना
गाने रक्तरूप होना बहुत आवश्यक है 'इसलिए वामभार्चार्य
लेखते हैं—प्रहृष्टे माने । (अष्टांगहृदय) । उत्तरमेदस्य मेदे ।
(अष्टांगसंग्रह) । प्रहृष्ट होने पर वह सदा हो जाता है, तब
सिरावेध के समय उसको जरा दबाकर कर्म करना पद्धता है ।

उत्तमितविदप्रजिहात्रस्याधोजिहायाम् ॥ १५ ॥

(जिहासिरावेधविधि—) जिसकी जिहा का अग्र ऊपर
और मोढ़कर अंदर गले की ओर किया गया है, ऐसे पुरुष की
जीभ के नीचे की (सिरा का वेधन करे) ॥ १५ ॥

वक्तव्य—विदष—जिहा के अग्र को गले की तरफ लेना ।
इससे जिहा का अधोभाग स्पष्ट हो जाता है—जिहा विदषा
अवर्घमुत्तिष्ठान्तप्रवृणेन नले नीता । (हन्दु) ।

अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च ॥ १६ ॥

(तालु और दन्तमूल सिरावेधविधि—) मुख को अत्यन्त
चौड़ा खोले हुए पुरुष की तालु और दन्तमूलों की (सिरा का
वेधन करे) ॥ १६ ॥

एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतुन् बुद्ध्या-
त्वेद्य शारीरवशेन व्याधिवशेन च विद्ध्यात् ॥ १७ ॥

(अनुकूल यन्त्रविधि—) इस प्रकार (वैद्य अपनी)
बुद्धि से सिराओं को उठाने के लिए अन्य यन्त्रोपायों
को अविकृत करके रोग और शरीर के अनुसार (उनको
सिरावेधन के) काम में लावे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—यन्त्रोपाय—पट्टादि से वाँधना यही केवल
प्रन्त्रण का अर्थ नहीं है; शरीर या अंग को फैलाना,
सेकोड़ना, चिस्फूर्जित करना, टेढ़ा करना हृत्यादि उपाय
मी यन्त्रण में समाविष्ट होते हैं । संचेप में, सिराओं का
उत्थापन करने में सहायता करने का हर एक कर्म यन्त्रण
का उपाय होता है ।

मांसलेप्त्वकाशेषु यवमात्रं शास्त्रं निदध्यात्,
अतोऽन्येष्वर्धयवमात्रं श्रीहिमात्रं चा श्रोहिमुखेन,
अस्त्वामुपरि कुटारिकया विध्येदर्थयवमात्रम् ॥ १८ ॥

(सिरावेधन में शशपातन का प्रमाण—) मांसल
प्रदेशों में यवमात्र शश भुसाना चाहिए, इससे अन्यत्र
(जहाँ मांस अधिक न हो) आधे जौ के वरावर या श्रीहि-
मुख से श्रीहि के वरावर (वेधन करे) । हृदियों के ऊपर
कुठारिका से आधे जौ के वरावर वेधन करे ॥ १८ ॥

वक्तव्य—सिरावेध में शशपात का यहाँ पर जो
प्रमाण वसताया गया है, वह केवल मार्गदर्शन के लिए है ।
सिरावेधन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेधन से
सिरा में आर-पार छेद न हो, केवल सामने की दीवाल में
हो । अन्यथा सिरासमीपवर्ती धमनी नाड़ी आदि में चोट
पहुँचने का ढर रहता है । आगे इरवें सूत्र में दुष्ट सिरावेध
भी देखो ।

भवन्ति चाच्र—

व्यञ्जे वर्षाद्यु विध्येत (त्रीष्मकाले तु शीतले ।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शश्यकालात्ययः स्मृताः ॥ १६ ॥

(शश्यकर्म के लिए उचित काल—) वर्षाश्रतु में जब
यादल न हो तब, श्रीष्मकाल (पूर्वाह्नि) में
और हेमन्तश्रतु में भव्याह्नि में वेधन करे । शश्यकर्म के लिए
(इन अनुचित छतुओं में) ये ही काल होते हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—शश्यकर्म तथा वमनादि पंचकर्मों के लिए हमेशा
प्रावट, शरद और वसन्त ये तीन साधारण लक्षण अनुचित हित
होते हैं । वर्षा, श्रीष्म और हेमन्त अतिशय छत्तणनित होने
के कारण निपिद्ध माने गये हैं । परंतु आत्यथिक अवस्था में सब
छतुओं में चिकित्सा करनी पद्धती है । उस समय किस दिन और
दिन के किस समय पर काम करना चाहिए, इसका विवरण
इस श्लोक में किया गया है । पीछे भी ६ श्लोक की टिप्पणी देखो ।
सम्यकशश्यनिपातेन धारया या स्वेदस्त्रक ।

सुहृत्तं रुद्धा तिष्ठेच सुविद्धां तां विनीदशेत् ॥ २० ॥

(सुविद्धसिरा का लक्षण—) शश्य के सम्यक प्रयोग से
(विद्ध हुई) जो (सिरा) धारारूप में कुछ काल तक रक्त को
चवती है तथा रोकने पर बंद हो जाती है, उसको सुविद्ध
जानना चाहिए ॥ २० ॥

वक्तव्य—रुद्धा—शारीरिक कर्मों का या शाटक का नियन्त्रण
छोड़ करके जरा सा दवाने पर । दवाने का काम प्रायः अंगुलि
से किया जाता है—अंगुल्येणावपीडयेत । (सुधुत) ।

यथा कुसुम्भपुषेभ्यः पूर्वं स्ववति पीतिका ।

तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमन्त्रे प्रवर्तते ॥ २१ ॥

जैसे, कुसुम्भ (Carlhamus Tinctorius) के फूलों
(को तोड़ने) से प्रथम पीला रस बहता है, उसी प्रकार
सिराओं के वेधन से प्रथम दुष्ट रक्त बहता है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—रक्तमोक्षण से रक्तदोप तथा अन्य दोप दूर होकर
स्वास्थ्य ठीक होता है, यह अनुभवसिद्ध धात है । इस अनुभव
के आधार पर यह कल्पना की गई है कि जो रक्त प्रथम निक-
लता है, उसमें दोप होते हैं । परंतु यह कल्पना सिरावेधनव्य
रक्तमोक्षण के संबंध में पूर्णतया ठीक नहीं है । सिरागत रक्त
में संपूर्ण शरीर के रक्त का संबंध है—सिराइद्व्यापके रक्ते । यदि
रक्त में कुछ दोप हो तो प्रारंभिक और अन्तिम रक्त में एक सा
होगा और जितने प्रमाण में रक्त निकला जायगा, उतने प्रमाण
में दोप भी रक्त के साथ निकल जायगा । प्रथम स्वराव और
पश्चात् शुद्ध यह कल्पना शंगा, अलादु और प्रच्छान इनके द्वारा
निकाले जाने वाले रक्त के संबंध में ठीक है, क्योंकि वहाँ पर
प्रथम स्थानिक रक्त का संबंध आता है । आगे २६ वें सूत्र का
वक्तव्य भी देखो ।

मूर्दिंछुतस्थातिमीतस्य श्रान्तस्य तृपितस्य च ।

न वहन्ति सिरा विद्धास्तथा अनुत्थितयन्त्रिताः ॥ २२ ॥

(सिरावेधन से सम्यक प्रवाह न होने के कारण—) वेहोशा,
अत्यन्त डेरे हुए, थके हुए, प्यासे (ममुव्य) की सिराएँ तथा
(ठीक) न उठी हुई और यन्त्रण की हुई सिराएँ विद्ध होने पर
(ठीक) नहीं स्वती हैं ॥ २२ ॥

वक्तव्य—न वहन्ति—अल्पमात्रा में रक्त निकलता
है या नहीं निकलता—शोषित न स्वती, अल्प वा ज्वरति ।

(सूत्र, १४)। इसके कारण मूर्छाई होती है। इन कारणों से सिरागत रक्तप्रवाह क्यों यदि हो जाता है? इसका यथार्थ ज्ञान होने के लिए शारीरगत रक्त की राशि का रक्त धारियों में और शारीर के विविध भागों में किस प्रमाण में विभजन होता है, इसका विवरण करना आवश्यक है। रक्तवहसंस्थान के हृदय, धमनियाँ, धमनिकार्पै (Arterioles) और केशिकार्पै (Capillaries), तथा सिराएँ उनके चार ओर होते हैं। हृदय से निकला हुआ रक्त धमनियों में, धमनियों से धमनिकार्पै और केशिकार्पै में, और केशिकार्पै से सिराओं में आवर फिर से हृदय में प्रविष्ट होता है। (१) सिराएँ और धमनियों काफी मोटी मोटी होती हैं। धमनिकार्पै और केशिकार्पै अत्यन्त छोटी होती हैं। परंतु इनकी सरलता अवगत होने के कारण इनकी समाई बहुत अधिक हो जाती है। एक शाखाज्ञ ने यह अनुमान किया है कि शारीर की संपूर्ण केशिकार्पै का व्यावस्थ पेसफल (Cross section area) महाघमनी (Aorta) के लैफल से आठ सौ गुना के लगभग अधिक होता है। दूसरे शाखाज्ञ का कथन है कि यदि मारी केशिकार्पै एक रेला में छाई जायें तो उनकी लम्बाई धूपी के येरे से कई गुना अधिक हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि केशिकार्पै अत्यन्त छोटी होने पर भी उनकी समाई बहुत अधिक होती है। (२) धमन्यादि रक्तवाहियों के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें स्कोब और विस्फोर हो सकते हैं और इसका नियन्त्रण एक वाहिनी-प्रेरक विशेष केन्द्र (Vasomotor centre) के द्वारा और स्वतन्त्र नारीसंस्थान (Autonomous Nervous system) के वाहिनीप्रेरक नारियों से (Vasomotor Nerves) होता है। यह संकेच-विस्फोर धमनियों और सिराओं से केशिकार्पै में अधिक हो सकता है। (३) शारीर की संपूर्ण केशिकार्पै एक समय में विस्फोर नहीं होती; शारीर के जिस भाग में कार्य होता है, उस भाग की केशिकार्पै विस्फोर होती है और ऐसे भागों की कुछ सुरक्षित हो जाती है। (४) यथापि संपूर्ण शारीर में केशिकार्पै होती है, तथापि प्रचलितस्थान में उनकी बहुत अधिकता होती है। इस विभाग की औद्योगिक (Oplanchnia) बहते हैं। इस विभाग की केशिकार्पै विस्फोरित होने पर उनमें संपूर्ण शारीर के रक्त का विहार और येरे भाग जाता है। इस क्षेत्र के अर्थ की दृष्टि से निम्न वातों ध्यान में रखनी चाहिए—केशिकार्पै से रक्त सिराओं में आता है; शारीर की संपूर्ण केशिकार्पै की समाई बहुत होती है। यदि वह सारी ही शारीर या केवल औद्योगिक विभाग की विस्फोरित हो जायें तो वे संपूर्ण शारीर का रक्त अपने में संग्रह की भाँति सोच ले सकती हैं। ये जब विस्फोरित होती हैं, तब इनकी समाई बढ़ने के कारण यहाँ इनके भीतर रक्तनिपीड़ (Blood pressure) कम होने के कारण सिराओं में रक्त नहीं आ सकता, जिससे वह लम्बाई अतिकृत नियन्त्रित (C. Haaped) हो जाती है और धमन्यादि बनें पर भी इन न आने के कारण ये उत्तिय नहीं हो सकती। औद्योग—मूर्छाएँ के कारणों का और मंगासि का कुछ विवरण पीछे दिए अध्याय के चौथीसर्वे गुण के वर्णन में किया है। इनमें मात्रम् हाता कि मस्तिष्केन भागों में, विशेषता उद्दरविभाग में, केशिकार्पै का अविभाग और

उसी के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी यह मूर्छाएँ की संप्राप्ति है। केशिकार्पै का अविभाग सूर्योदय के कारणों का परिणाम वाहिनियों के प्रेरक केन्द्र के ऊपर होने से होता है। सिरावेष करने से वहले यदि रोगी मूर्छित हो, या सिरावेष के समय रोगी मूर्छित हो जाय तो सिरावेष से रक्त नहीं निकल सकता, क्योंकि संपूर्ण शारीर का रक्त केशिकार्पै में फॉस जाता है तथा जिन केशिकार्पै का रक्त विद सिरा में आता है, वे केशिकार्पै भी विस्फोरित होती हैं और रक्त को अपने भीतर रक्त लेती है। अविभाग—भीति का परिणाम मस्तिष्कगत वाहिनीप्रेरक केन्द्र के ऊपर होकर वह कम्हीन हो जाता है, जिससे शारीर की केशिकार्पै विस्फोरित हो जाती है और सिरा को रक्त नहीं मिलता। इद्धणाचार्य के 'अतिमोतादिविभवादिजिनिव-वातेन सिरामुखिनरोपाद' व्यवन का अर्थ इसी दृष्टि से करना चाहिए। शास्त्र—परिवर्त के कारण यहके हुए मनुष्य का अधिकांश रक्त पेशियों में फॉस रहता है, जिससे सिरा में बहुत कम रक्त आता है। एविन—एका शारीरगत जड़ींगी की कमी की सूचक होती है। जब शारीर में जड़ींगी कम होता है, तब सिराएँ भी टीक नहीं उत्तीर्ण तथा वेष करने पर उससे टीक खाल नहीं होता। सिरावेष के एवं द्रव-भूषिष्ठ आहार देने का यही कारण है। अभिभीतस्थ—अति-शब्द का मंबंध भीति के समान धात्वा और तृप्तिके साथ भी लेना चाहिए। इन बातों का उल्लेख सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में (प्रथम स्तर) पहले किया जा चुका है।

द्वीणस्य घुड्योपस्य मूर्छ्याऽभिदृतस्य च ।

भूयोऽपराहे रिक्वाया साऽपरेद्युस्त्यहेऽपि धा ॥२३॥

(ुनवंधन के लिए कारण और काल—) दुर्घट, अधिक दोषयुक्त और मूर्छा से आक्रान्त (मनुष्य) की सिरा फिर से अपराह में, दूसरे दिन या तीसरे दिन लोलनी चाहिए ॥२३॥

घञ्चय—दीणस्य—दुर्घट मनुष्य से एक समय में अधिक रक्त का निहंरण नहीं कर सकते हैं, इसलिए दो तीन घार वर्के उसमें रक्त निकालना चाहिए। दुर्घटय—एक समय निकाले हुए रक्त में शारीर से जितना द्वेष निकल जाना चाहिए, उतना नहीं निकल सकता। इसलिए अबेक घार करके अधिकदोषयुक्त रोगी का रक्त निकालना चाहिए—घञ्चयाऽभिदृतस्य—रोगी दुर्घट और घुड्योपस्थ युक्त होने पर भी कई घार वर्के द्वेषकर मूर्छित हो जाते हैं। मूर्छा रक्तविकाल के समय का एक उपद्रव है। यह उपद्रव अधिकतर प्रतिवेदितय के कारण ही उत्पन्न होता है—समाद्रस्य गमेन मूर्छित मात्रा। (सुभृत)। इसलिए 'मूर्छ्याऽभिदृतस्य' का अर्थ है 'रक्तविकाल के समय याने रक्तविकाल के दीप्त में धारा मूर्छा उत्पन्न हुई है, उसकी मिता'। रक्तविकाल के दीप्त में धारा मूर्छा उत्पन्न हो जाय तो रक्तविकाल बन्द बर्के रोगी की मूर्छाएँ शीतल जलादि के प्रयोग से दूर करने की कोशिश करनी चाहिए—दृष्टि गुरु दृष्टि रोगी की मूर्छा जाने के दृष्टि ब्रह्म दर्शन शोषणाद्यादिविशेषीन व्यवनशुल्क भ्रष्टदृष्टेन वक्षत ध गमाद्यमन्तर । (ब्रह्मार्गमहाप)। वासात्र में मूर्छा उत्पन्न होने

के पूर्वरूप मालूम हो जाय तो विस्तावण बन्द करना चाहिए । प्रकृतिवैशिष्ट्य के अतिरिक्त अत्यधिक रक्तस्राव से भी मूर्ढ्यां उत्पन्न होती है । मूर्ढ्यां में, मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है । प्रकृतिवैशिष्ट्यजन्य मूर्ढ्यां में वाहिनीप्रेरक केन्द्र के अस्थर्य से मस्तिष्केतर भागों में रक्त छकटा होने से मूर्ढ्यां होती है और अतिस्रावजन्य मूर्ढ्यां में वास्तव में शरीर में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क में भी होती है । सिरावेधन के समय रोगी को खदा रखने से रक्त की उचित राशि निकलने से पूर्व मस्तिष्क के ऊंचे स्थान के कारण उसमें जलदी रक्त की कमी होकर मूर्ढ्या आती है । लेटे हुए आसन में सिर हृदय के समतल होने से अधिक रक्त की राशि निकलने पर भी रोगी को जलदी मूर्ढ्या नहीं आती । इसलिए सिरावेधन के लिए घैने का आसन उत्तम होता है । साडपरेश्वर्यहेऽपि वा—इनके अतिरिक्त पक्ष के या भास के बाद भी फिर विस्तावण कर सकते हैं—ल्नेऽपरकृतदेहदय पक्षादा भृशद्वितन् । (अष्टांगहृदय) । भासमात्रं वा स्तेषादिभिरुपचर्यं पुनर्विधेत् । (अष्टांगसंग्रह) ।

रक्तं स्थेषपदोपं तु कुर्यादपि विचक्षणः ।

न चातिप्रस्तुं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥ २४ ॥

(रक्तविस्तावण में कुछ दोप शेष रहने का महस्व—) बुद्धिमान् वैद्य रक्त को कुछ दोपयुक्त रखते, परन्तु उसको अतिस्रावित न करे, (और जो कुछ भी) शेष (रहे, उस) को संशमन (ओषधियों) द्वारा निवारण करे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—स्थेषं दोपं कुर्यात्—शरीर में छकटे हुए दोपों को निःशेष करना यह चिकित्सा का उद्देश्य होता है । जब तक दोप शरीर में शेष रहते हैं, तब तक रोग का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता तथा रोगी भी पूर्णतया रोग से निर्मुक्त नहीं कहा जा सकता । रोगों की चिकित्सा ओषधियों द्वारा तथा शब्दप्रणिधान द्वारा की जाती है—शरीरदोप-प्रक्रोपे खलु शरीरमेवाग्नित्य प्रायशस्त्रिविधमीषप्रभिन्नति—अन्तःपरिमार्जनं, वहिःपरिमार्जनं, शास्त्रप्रणिधानं चेति । (चरक, सूत्र ११) । ओषधियों की विशेषता यह होती है कि उन्हीं के द्वारा शरीरगत दोपों की पूर्ण निःशेषता होती है, परन्तु यदि दोपों की राशि अधिक हो तो समय अधिक लग जाता है । शस्त्रकर्म की विशेषता यह होती है, उसके द्वारा थोड़े समय में शरीरगत अधिकांश दोप शरीर के बाहर निकाले जा सकते हैं और इसी दृष्टि से प्रथम अध्याय में लिखा है—अष्टांगपि चायुवेदतन्त्रेष्वदेवाधिकमितमासुक्रियाकरणात् । (सूत्रस्थान) । परन्तु इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शस्त्रकर्म के निःशेषता नहीं हो सकती । ओषधि और शस्त्रकर्म के भेद के स्पष्टीकरणार्थ यहाँ पर दो उदाहरण दिये जाते हैं—यदि शरीर में कहीं विद्रव्धि हुई हो तो उपनाहप्रलेप के द्वारा वह विद्रव्धि होकर ठीक हो जायगी, परन्तु इसके लिए अधिक समय लगेगा । यदि शस्त्र से चीरा लगाया जाय तो चीरा देते ही विद्रव्धि के अधिकांश दोप चले जायेंगे, परन्तु निःशेषता नहीं होगी । इसके लिए फिर भी ओषधियों का प्रयोग करना पड़ेगा । केवल ओषधिचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रकर्म और ओषधि की संयुक्त चिकित्सा विद्रव्धि को थोड़े काल में ठीक कर देगी । वसा ही, जलोदर में अनुभव

आता है । केवल ओषधिकी अपेक्षा शस्त्रकर्म से जल निकाल देने पर ओषधिचिकित्सा करने से जलोदर थोड़े समय में ठीक हो जाता है । संचेष में, जहाँ शक्य हो वहाँ पर शस्त्रकर्म के द्वारा अधिकांश दोपों को निकालकर ओषधियों के द्वारा दोपों को निःशेष करना उचित है । विस्तावण रोगों की चिकित्सा भी इसी साधारण तथ्य पर करनी चाहिए । यदि केवल विस्तावण के द्वारा निःशेषता करनी हो तो रक्त की अत्यधिक राशि निकालनी पड़ेगी । रक्त शरीर का मूल और प्राणों में से एक प्राण है—दैहस्य शर्थिरं मूलं रुधिरणेव धर्यते ॥ दशैवायतनान्याःुः प्राण्या येषु प्रतिषिद्धाः । इहो मर्मत्रयं काठो रक्तं युक्तो वसी गुदर् ॥ (चरक, सूत्र २६) । इसलिए यदि दोपों की निःशेषता उत्पन्न करने के लिए रक्त अत्यधिक राशि में निकाला जाय तो दोप निःशेष जल्लर हो जायेंगे, परन्तु उसके साथ शरीर भी निप्राण हो जायगा । इसलिए लिखते हैं—त चातिप्रस्तुतं कुवाद् । अष्टांगहृदय में वामभट्टा-चार्य लिखते हैं—अतिसुती हि मृत्युः स्यादस्तु वा चलामयाः । शेषं संशमनैर्जयेत्—सिरावेध करके रक्त के द्वारा अधिकांश दोपों का शोधन होने के पश्चात् जो अंश शरीर में शेष रहता है, उससे फिर रोग उत्पन्न होने का डर नहीं रहता । वे कमज़ोर हो जाते हैं और उनका नाश संशामक ओषधियों द्वारा धीरे धीरे कर सकते हैं—किञ्चिद्दि शेषे दुष्यास्ते नैव रोगोऽतिवर्तते । संशेषप्रयतो धार्य न चातिस्त्रुतमाचरेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । फिर जो शेष दोप रहते हैं, उनका संशमन विरेचन, उपवास, शीतोपचार, स्त्रिघमधुरादि भोजन, इत्यादि से करना चाहिए—त्रोडपि शेषं सर्वधावाप्य विस्ताव्य रक्तस्य शीतसेक्षणप्रदेहविरेकोपचारसिंहभुराजपानैः प्रसादयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । वे जो शीतसेकादि उपचार शेष दोपसंशमनार्थं प्रयुक्त किये जाते हैं, वे ही अविस्ताव्य रोगियों में, जेसे गर्भिणी, अल्पदोपयुक्त अवस्था में प्रयुक्त करने चाहिए—ग्रविस्ताव्यरक्तस्य गर्भिण्यादेवमेव प्रसादयेत् । (इन्दु) ।

वलिनो वहुदोपस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ।

परं प्रमाणिमच्छ्रुन्ति प्रस्थं शोणितमोक्त्वा ॥ २५ ॥

(सिरावेध में रक्त निकालने का परम प्रमाण—) वलवान्, अधिक दोपयुक्त, युवा मनुष्य के रक्तमोक्त्वा में (आचार्य रक्तराशि का) अधिक से अधिक परिमाण प्रस्थ पसंद करते हैं ॥ २५ ॥

वक्तव्य—वयःस्थ—हस्तसे यद्यपि सर्वावस्था का वोध होता है तथापि यह शब्द कई बार यौवनावस्था के लिए प्रयुक्त होता है । यहाँ पर भी इसका अर्थ जवान मनुष्य है । अष्टांगहृदय में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—मासं स्थोहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत् । (सूत्रस्थान ६) । इस श्रीक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—यथा वयसि विष्टीति वयःस्थम् । यद्यपि सर्वं मासं स्थोहतं वयःस्थमेव तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या शोभनं तस्यां वय इति शस्त्रते । तस्माद्यूनः प्राणिनो मासं भजेत्र वालुपुद्योरिति ॥ शरीरिणः—मनुष्यस्य । प्रस्थम्—रक्तमोक्त्वा में रक्तनिर्हरण की चरम सीमा इससे बताई गई है । वास्तव में १६ पलों का प्रस्थ होता है, परन्तु रक्तमोक्त्वा में ३३ ॥ पलों का प्रस्थ माना जाता है—परन्ते च विरेके च तथा शोणितेमोक्तेण । साथैव योदशपलं—प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इसके अनुसार रक्तमोक्त्वा की परम राशि ४४ तोले की होती है । इक्सा

मतलव यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बलधान् जावान मनुष्य की सिरा से चौबन तोले रक्त निकाल सकते हैं। अत्येक रोग और रोगी में इतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं है। किसी में वा तोले से, किसी में चार तोले से, किसी में छात तोले से काम हो सकता है। रक्त की राशि रोग और रोगी का बलावल देखकर निश्चित करनी चाहिए। बलावलप्रयाणादा विशुद्धया श्विरस्य वा। श्विर साधयेन्नरोगश्वरं प्रसारीयथा ॥ (१५ चरक, सूत्र ४४)। यहाँ पर रक्तरक्षि का जो पर प्रमाण बतलाया है, वह कुछ लोगों को आतुरिक काल में अधिक मालूम होता है—बलिन हति। अब बसने व विरेके च तथा शोषितोक्षये। सार्वत्रयोदशपल प्रस्थमाद्युर्मीपिण् ॥ इन विधेऽपि बुद्धोऽभिवीच्य बलवस्त्वादिथर्वदामिदार्भी द्रिप्लमेव पर प्रसारामित्य ख्यवस्थाम । (हाराणचन्द्र)। परन्तु वास्तव में यह प्रमाण बहुत ठीक है। आतुरिक पाञ्चाशय वैद्यक में यथापि बहुत नहीं दर्शयि कई रोगों में सिरावेष काम में लाया जाना है और यहाँ पर अत्येक समय रक्त की राशि भी यथाहै जाती है। चिकित्सालीन हृदये में २०-३० ऑंस (५०-५५ तोले) तक रक्त निकालने के लिए बतलाया है—The withdrawal of blood to the extent of 20 or 30 ounces by a cut into the median basilic vein relieves the distress by diminishing the blood flow to the heart Tayor's Practices of Medicine A good quantity of blood occasionally even up to 20 or 30 ounces should be withdrawn

Practices of Medicine by F W. Price

पश्चात्मे—सिरावेष करने पर रक्त इकट्ठा करने के लिए वेधस्थान के नीचे कोई पात्र रखना चाहिए, जिससे निकाले हुए रक्त की राशि निश्चित करने में मुश्विधा होती है। उचित राशि में रक्त निकालने पर सिरामुख को अंगूठे से दबाकर और बन्धन छोड़कर, तैल में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी उस पर रखकर बौधना चाहिए और कुछ रोज तक सिरावेष के थंग को आगम से रखना चाहिए तथा रोगी को अविनाशक मुख्यत्व आहार तथा पथ्यकर विहार सेवन करना चाहिए—वैः सूत्रकर्त्त्व व्यप्रमाणोन्नमदुर्भेदोन्नप्रभृत्य नहीं उन्नैवन्नमप्यनीयान्वास्तवेत् । सर्वत च ष्वेत सिरामुखे दस्ता बध्नीश्यत् । सर्वेषैव्यैवैनम् । उमानांगं यन्त्रिनीडनेन स्वस्थान मायान्वि पुनर्न वावद् । दोषा प्रदृष्टा रुचिर प्रपञ्चात्तावद्विताहार विहाराम् च च्याव ॥ नायुण्डीन लघु दीपनीये रक्तेऽपनीते हिनम अपानम् । दश शरीर इनविद्वाण्डामिविदीषादिति रक्तित्वं ॥ (श्वर्णग्रन्थम्, सूत्र ३६) ।

अब इसके बाद रोगानुसार सिरावेष के स्थान बतलाये जाते हैं

तत्र पाददादपादद्वयविश्वरुद्धुकविष्पविद्याप्यथातशो गितपातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतियु लिङ्ग्रम मण्ड उपरियाद्याहुले धीमिसुरेन सिरा विघ्नेत्, अद्योपदे तद्यिक्तिस्ते यथा वदयते, क्रोष्टुकविद्युत्यज्ञ पात्रुलयात्येवनासु ज्ञायां गुलस्योपरि चतुरुद्दोषे, अपच्यामित्यद्वयस्तरथस्ताद् च्यहसे, जातुसन्धेष्य यंतो वा चतुरुद्दोषे गुधस्थाम्, ऊर्घमूलसंधितां गल-गपदे, पतेनेतरसंक्षिप्त याद्व च व्याख्याता ॥ २६ ॥

(रोगानुसार शास्त्राओं 'की वेष्य सिराएँ—) पाददाद, पादहर्प, अववाहुक, चिष्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी, प्रभृति (रोगों) में विप्रमर्म से ऊपर दो अगुल धीहिमुख से सिरावेष करे। धीपद में उसकी चिकित्सा में जैसा कहा जायगा (वैसा करे)। धीपदक्षितर, खज्ज, पहुल, वातवेदनाओं में गुलके के ऊपर चार अगुल जड़ा में (धीहिमुख से सिरावेष करे)। अपची में इन्द्रियस्ति से दो अगुल नीचे (सिरावेष करे)। गुधरी में जातुयान्धि से दो अगुल ऊपर चु नीचे (सिरावेष करे)। गलापण में ऊस्मूल में रित्य निरा का (वेष्न करे)। इसी से दूसरी टाँग और दोनों धारुओं की (रोगानुसार वेष्य सिराओं की) शायदा हो जाती है ॥ २६ ॥

कथक्य—यहाँ पर जो अनेक रोग निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें पाददाद, पादहर्प, अववाहुक, वानवोणित, वात-कण्टक, व्रोड्जुकशिर, खज्ज, पहुल, गुधस्ती ये वातरोग हैं जिनका वर्णन निदान के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। पाददारी, विचर्चिका और चिष्प छुद्रोग हैं, जिनका वर्णन निदान के तेरहवें अध्याय में किया गया है। अपची और गल गण का वर्णन निदान के ग्याहवें अध्याय में और विस का दसवें अध्याय में किया गया है। वातवेदना—शाखाओं में होने वाली वातजन्म विविध वेदनाएँ । इसमें साषु निक वातनाडीशूल (Neural gias) और वातनाडीशूल (Neuralitis) का समावेश कर सकते हैं। पाददाद पादहर्प—इससे इस्तदाह और हस्तहर्प का भी शोष हो सकता है—Hot or itching hands and feet, Paraesthesia is of the hands and feet अववाहु—हाराणचन्द्र के पाठ में अववाहुक नहीं है। वे लिखते हैं—कैतविदवाववाहुदोषिपठवरी, तत्र समीचान, प्रतिदर्विपात्रस्य व्याप्ते विशिष्टतात् ॥ इस विषय का विवरण वातव्याधिविचिकित्सा में किया जायगा। पादवाहादि रोगों में Dorsal venous arch में वेष होता है, कोट्डकशीरीडि रोग, अपची में Small saphenous vein में वेष होता है।

विशेषतस्तु वामगाही कूर्परसन्धेरमन्तरसो वाहु-मध्ये लीहि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एव दक्षिणाराही यह दात्ये (कफोदरे च,) यतामेव च कास श्वासयोरर्धादिशन्ति, गृधस्थामित्र विश्वाव्याम् ॥७॥

(वाहु के विशेष सिरावेष—) विशेष करके झीहा (धृष्टि) में धामवाहु के मध्य में कूर्परसन्धि के भीतर अथवा कनिष्ठिका और अनामिका (अहुलियों) के मध्य में सिरावेष करे। इसी प्रकार यहाँदाय में दिणगाहु में कूर्परसन्धि पर अथवा कनिष्ठिका अनामिका के मध्य में सिरावेष करे। कास-श्वास में (कहू आवर्य) इन्हीं का वेष करने को कहते हैं। विशाची में गुप्रसी के समान कूर्परसन्धि के ऊपर या नीचे चार अगुल प्रदेश में वेष करना चाहिए ॥ २७ ॥

कथक्य—पैरेस्परेस्ट्रन्स—बोहीनी के सामने धाढ़ी सिरा Median cubital vein : धीही—झांडोदर में। आतुरें में धीही का यही एक रोग भिलता है, अर्थात् झांडोदर के जो काणगूत रोग होते हैं, उनमें जब धीही उपरी धीही, तब उन रोगों में भी सिरावेष करना चाहिए।

कनिष्ठिकानाभिकोमंडे—दूसरे First dorsal metacarpal vein का वोध होता है। कफोदरे च—दूसरे सम्बन्ध में शाराणचन्द्र लिखते हैं—जब यकृताये कफोदरे च इत्यनाकरः पाठः कफोदरे सिरान्वप्यत्तुप्योगात् ॥ नासापात्तयोः—हृदोग और धूपरोगजन्य कास-धास में सिरावेध से फायदा होता है। श्लीहोदर और यकृतोदर में जिस धूर्परसन्धेरभ्यन्तर सिरा का वेध करने के लिए कहा गया है; आयुर्विक काल में जब सिरावेध की आवश्यकता होती है, तब रोगनिरपेच प्रायः इसी सिरा का वेध किया जाता है। कास-धास के अतिरिक्त अन्तविंद्रधि में भी इसी सिरा का वेध कुछ आचार्य कहते हैं—रजपित्तानिलोत्पेषु केचिदाहं वदन्ति तु । (सुधुत, चिकित्सा १६) । ज्वर और विपम ज्वर में भी इसी का वेध होता है। २९ वें सूत्र का वर्तव्य देते हैं।

श्रोणि प्रति सम्भादृ द्यद्वृले प्रवाहिकायां शूलिन्यां परिवर्तिकोपदंशशूकदोपशुक्रव्यापत्तु मेढ़-मध्ये, (वृपणयोः पाश्वे मूत्रवृद्धयां, नामेरथश्च-तुद्वृले सेवन्यां वामपाश्वे दकोदरे,) वामपाश्वे कद्यास्तनयोरन्तरेऽन्तविंद्रधौ पाश्वेश्वृले च वाहु-शोपाववाहुक्योरप्येके वदन्त्यसंत्योरन्तरे, विकसन्धिमध्यगतां चृतीयके, अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपाश्वसंस्थितां चतुर्थके ॥२८॥

(रोगानुसार पीठ और घुड के सिरावेध स्थान—) शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी से आस पास दो अंगुल पर सिरावेध करे। परिवर्तिका, उपदंश, शूकदोप और शूकदोपों में शिशन के मध्य में (सिरावेध करे)। मूत्रधृद्वि में, वृपण के पाश्व में, और जलोदर में नाभि से नीचे चार अंगुल सेवनी के बाहू और (वेधन करे)। अन्तविंद्रधि और पाश्वशूल में वामपाश्व में कद्या और स्तन के बीच में (सिरावेध करे)। (कई आचार्य) कहते हैं कि वाहुशोप और अववाहुक में अंसों के मध्य प्रदेश में (सिरावेध करना चाहिए)। चृतीयक (स्वरूप के विपम ज्वर) में विकसन्धि के मध्य की सिरा का (वेधन करे)। चतुर्थक (स्वरूप के विपम ज्वर) में स्कन्धसंधि के नीचे स्थित किसी भी पाश्व की सिरा का (वेधन करे) ॥२८॥

वक्तव्य—मैदूमध्य—दूसरे Superficial dorsal vein of the penis का वोध होता है। वृपणयोः पाश्वे इत्यादि—मूत्रधृद्विद्विकोदर के वहाँ पर जो वेधस्थान वतलाये गये हैं, वे सिरावेध के न होकर जलवेधन के हैं—अथो नामेवामतश्चतुरद्वृगुलमपहाय रोमराज्या त्रीदिसुखेन विघ्नेत् । (जलोदरचिकित्सा) । सेवन्याः पाश्वेतोदप्तस्ताद्येद् त्रीहिसुखेन तु । (मूत्रधृद्विचिकित्सा) । अज्ञान से यह भूल हो गई है। इस पर हाराणचन्द्र लिखते हैं—अहो गुरोरप्तसुत्रः कथित् मूत्रवृद्धयां दकोदरे च दोपेदकावसेवनार्थं विधिस्तिते व्यधेने पव सिराव्ययो मन्यमानोऽत्र 'वृपणयोः पाश्वे मूत्रवृद्धयां' तथा 'नामेवामतश्चतुरुंगुलमपहाय रोमराज्या त्रीदिसुखेन विघ्नेत् । समझसामाचारणः त्वस्यैवाश्रतव्यमदृकर्कमत्वमस्यानवादित्वेन पुनर्व्यधिसिरत्वं चाल्यापयतीति ॥ अन्तविंद्रधौ—कफजान्तविंद्रधौ—यथोद्वृत्ति सिरा विचेत् कफजे विद्रवी मिपक् । (चिकित्सा १६) । अन्य दोषन विद्रवी में कफजे विद्रवी मिपक् । (चिकित्सा १६) ।

यताते हैं। उपर २८वें सूत्र के वक्तव्य में कास-ध्यास की टिप्पणी देते हैं। पार्श्वशूल—दूसरे Dry pleurisy या Pneumonia की प्रारंभिक अवस्था का ग्राहण कर सकते हैं। नीचे १०वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में अर्द्धनीनकालीन सिरावेध के रोग देते हैं। वदन्ति—यह दूसरे का भूत है, सुश्रुतसंस्मत नहीं है। इस पर डलहणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं—शोणिगायूत्यावजनितयोवांशुशोपाववाहुकयो—रप्यसयोः सिरान्वयः, न तु कैवलयावश्चयोरित्येके वदन्ति । परमतं चाप्रविपिदमनुभवमेवेति जेजटाचार्यः । गवदासस्तु 'वाहुशये वाहुशोपाववाहुकयोरप्येके वदन्त्यसंयोरन्तरे' इति पठित्वा व्यास्याति—वाहुशोपाववाहुकयोरप्येके वदन्त्यसंयोरन्तरे इत्यर्थः । गतान्वरगाह—एके वदन्त्यसंयोरेन्तर इति ॥ तृतीयक, नगुर्यां—ये विपमज्वर के प्रकार हैं, जिनमें प्रत्य से तीसरे और चौथे दिन जाये के साथ ज्वर आता है। इन रोगों में अत्रोक्त स्थानों के अतिरिक्त वाहुसिरा और शाङ्क केशान्त सिरा का भी वेधन यताया गया है—शाङ्ककेशान्तसंभी वा नोक्षेत्वो गिपक सिरान् । उन्मादे विपमे चैव उद्देपस्मार एव न ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । गवास्वं च सिरां विष्टेदशान्ती विपमज्वरे । (अटांगसंग्रह, चिकित्सा २) । इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—प्रशान्ती यथास्वं सिरां विष्टेषु, तृतीयके अंसयोगसंघे स्वन्तस्याधश्चतुर्थके बाहोद्वेष्यादि यथास्वशम्भारः ॥

हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शाङ्ककेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्यादिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णश्वृले तद्वेषेषु च, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाये, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वद्यामयेषुपनासिके लालाङ्गामपाङ्गयां घा, एता एव च शिरोरोगाधिमध्यगतप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥२६॥

(रोगानुसार जन्मध्यसिरावेधन स्थान—) अपस्मार में हनुसन्धि के मध्य की (सिरा का वेधन करे) । उन्माद में शाङ्क और केशान्तसंधि में स्थित तथा छाती, अपाङ्ग और ललाट में स्थित सिरा का वेधन करे। जिह्वा रोगों में तथा दाँतों के रोगों में जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे। तालु के रोगों में तालु में सिरावेध करे। कर्णश्वृल और कान के रोगों में कान के ऊपर आस पास की (सिरा का वेधन करे) । गंध न आने और दूसरे नाक के रोगों में नासा के अग्रभाग में (सिरा-वेधन करे) । तिमिर, अक्षिपाक प्रभृति नेत्ररोगों में नासासमाप्तवर्ती, ललाट में स्थित, या अपाङ्ग की (सिरा का वेधन करे) । शिरोरोग, अधिमन्थ प्रभृति रोगों में भी सिराएँ वेध्य होती हैं ॥ २९ ॥

वक्तव्य—उन्मादे—यहाँ पर 'उन्मादेष्वस्मारे' ऐसा भी पाठ है। इस पर डलहणाचार्य लिखते हैं—त्राप्तस्मारस्य पाठो न संगच्छते । तथा च वाग्भटः—उरोपाङ्गललाटस्थामुन्मादेष्वस्मृती पुनः । हनुसंधी समस्ते च, सिरा भ्रूमध्यगामिनीम् ॥ अर्थात् वाग्भटाचार्य के अनुसार अपस्मार में केवल हनुसन्धिगत सिरा का वेधन होता है। परंतु चरकाचार्य का जो बचन ऊपर उद्धृत (२६ वें सूत्र के विवरणम् में) में एक विवरण दिया गया है—हनुसन्धिगत स्थानम् ॥

में शकुकेशान्त संधिगत सिरा का भी वेधन होता है। इसलिए यह पाठमेड असंगत नहीं कहा जा सकता। इनुपरिमध्यग्रन्थ—इसके संबंध में अलादत्त कष्टोगदृश्य के उपर्युक्त लोक की टीका में लिखते हैं कि—अपस्मारे इनस्थी रितां सिरा विष्टेत्। समस्ते सर्वेश्वर वा ही इनी सिरा विष्टेत्। तिरां भ्रूमध्यग्रन्थिनी भ्रूमध्यस्थी वाप्रस्तूती विष्टेति वार्ष्ण्योत्त्रावृत्तये योग्यः। उरोग्रहलला देहु—उरोग्रहललादेहु विष्टाम् इत्यर्थः। उर और अपाक के अर्थ के संबंध में उत्तरस्थान के 'उरोग्रहललादेहु सिरावृत्तये विष्टेति' (वल्लय १२)। इस लोक की टीका में द्वारणाचार्य लिखते हैं—उर स्तनोग्रहललादम्, अपाकाङ्गम् शब्द शब्द बतते, सामीप्याद। न तपादश्वस्त्रिः, कुरु! वक्रकर्त्ता पत्रावृत्तयसिराय निरैक्ष्यात्। अत्य उभासित्। भ्रूमध्यासिद्धान्तादुर प्रश्नितुः सिरावृत्तनमुक्तम्। सिरावृत्तनविष्टेत् यज्ञस्थी। भ्रूोत्त्र उभासिते उभासितापि सिरावृत्तनमित्तम्॥ इसका मतलब यह है कि अपस्मार तथा उन्माद में भ्रूमध्यसिरा (Frontal या Supraorbital vein) शीख केशान्त संधिसिरा (Superior temporal vein) और स्तनान्तरसिरा का वेधन होता है।

आचारीन वालीन सिरावेष योग रोग और सिरावेष के तत्त्व—यहाँ पर २७-२० वें सूचों में जिन रोगों में चिकित्सा के लिए सिरावेष किया जाता था, उनके रोगों के नाम और वेष के रूपाने लिखते हैं। इनको देखकर यह कह सकते हैं कि आकुवेद में सिरावेष रक्तज रोगों की चिकित्सा का एक महावक का उपाय था (आगे १५ वाँ लोक देखो)। परंतु आशुनिक काल में सिरावेष की परम्परा छुट दो गई है। यूरोप में भी प्राचीन काल में सिरावेष Phlebotomy) चिकित्सा का एक प्रधान था था, परंतु यहाँ पर भी यथापि सिरावेषन की प्रथा पूर्णतया छुट नहीं हुई है स्थापि यहुत मर्यादित अतएव कम ही गई है। आशुनिक काल में पाक्षात्य वेषक में सिरावेष का उपयोग निम्न कारणों के लिए किया जाता है—(१) उच्च रक्तमिट (High blood pressure) विकारों में वीडन को कम बरने के लिए। (२) रक्तगत विकारों को निकालने के लिए। (३) अपनी विहृति पा हृत्यादि अन्य अंगों की विहृति के कारण यज फुफ्पुस, उनमें आपे हुपु रक्त को शुद्ध करने में असमर्थ होता है, तत्। (४) कुछ शोथजन्म (Inflammatory) विकारों में जब रोगी सशल और राल (अधिक रक्तुक Full blooded) होता है, तत्। इन सभी के अनुसार आशुनिक पाक्षात्य वेषक में निम्न रोगों में सिरावेष का उपयोग किया जाता है—प्रथम तत्त्व के अनुसार विशुद्ध उच्चरक्तमिट में तथा दूसरी अधिक रक्तुक रक्तमिट में तथा रक्त का दूषण अधिक हाफर सिरदर्द, घटर हृत्यादि मास्त्रजगत दृश्य तथा पश्चात्यात उत्पन्न होते हैं, तत्। दूसरे तत्त्व के अनुसार रित्रवन्द कामदा (Toxic haemod ice), मूर्यिष्यमयता (Urethane), गर्भविषयमयता (Toxaemia of pregnancy), रक्तविषयता (S. aka poliomyelitis) हृत्यादि विरामय अवस्थाओं में। तीसरे तत्त्व के अनुसार वर उत्पुरुष अवस्था काम बने में असमर्थ होकर बासाहृष्ट (Dyspepsia), लक्षा में रक्षावात् वा भीड़िमा

(Cyanosis), सिराजों की विस्तृति इत्यादि उत्पन्न उत्पत्ति होते हैं, तथा। ये इस्त्र हृदय के दक्षिणांतर के काटों के चिरकालीन विकारों (Chronio heart disease) में, कुपुरुस के रक्षाविक्षय (Hyporesmia) और शोष (Oedema) में, महाधमनी की विस्तृति (Aneurism) में तथा छाती में वायु के प्रवेश होने से उत्पन्न हुए वातोरस (Pneumo thorax) में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् चिरकालीन हृदयविकार, कुपुरुसरोष और रक्षाविक्षय, महाधमनी विस्तृति, वातोरस, ह्रास विकारों में शास्त्र, कास, नीलिमा उत्पन्न होने पर सिरावेष बरके रक्त निकाला जाता है। चतुर्थ तत्त्व के अनुसार कुपुरुसपाक (न्यूमोनिया), भ्रसनीकुपुरुसपाक व्याक्रोम्यमूमोनिया (ये दोनों भी कुपुरुसशोष के रोग हैं), स्वरयन्त्रावृत्ति (Laryngitis), मस्तिष्कावरणोष्य (Meningitis) हृत्यादि शोथजन्म विकारों में भी कभी कभी सिरावेष का प्रयोग शास्त्र, प्रलोपादि उद्यग उत्पन्न होने पर किया जाता है।

सिरावेष का स्थान—कोई रोग ही जब रक्तमोहण की आवश्यकता होती है तब प्राचाराय वेषक में रोगनिरेष कूर्पंसंधिमध्य सिरा (Median orbital vein) का उपयोग (पीछे नींवें सूत्र का वक्षम्य देखो) किया जाता है। आयुवेद में रोग के अनुसार सिरामिहता होती है। प्राय यह सिरा विहृत कूर्गसमीक्षर्ती होती है, परंतु कई बार दूरवर्ती भी होती है—जैसे, गलागड गले में होने पर भी उसके लिए उससूत्र की सिरा का वेधन बताया है, तथा चक्षुलीदीर में वायुमध्य सिरा का वेधन बताया है। समीक्षर्ती सिरावेषन का तत्त्व इस कल्पना पर निर्भर है कि उस सिरा से आने वाला रक्त उसी विहृत अंग से आता है। इस कल्पना में कुछ सत्य है। जैसे, तिर के विकार में सिरा की विसी सिरा का वेष करने से प्रथम सिर में इकट्ठा हुआ रक्त निकालेगा अर्थात् यह एक दूषित रक्तहो थीर प्रथा द्वारा कुछ हुदूर रक्त था जागरा। इसी दृष्टि से पीछे २१वें लोक में लिखा है—या निरुप विद्युत दुष्मये प्रवत्ते। दूरवर्ती सिरा का वेष करने पर भी उसमें शरीर के विहृत अंग का रक्त भी जाता है क्योंकि एक सारूप शरीर में परिवर्तन करता है, परंतु उसमें शरीरिक दोष चौकटी, शरीर, शर्कर, दोली, और शार्करिक रक्त और दोषी के रक्त में कोई फर्क नहीं होता। इसलिए दूरवर्ती सिरावेष की अपेक्षा समीक्षर्ती सिरावेषन में वो भी भेद मिलते हैं—(१) यानिक रक्त की अविहृता (Congestion) कम होती है तथा (२) स्थानिक दोष की मात्रा बहुत होती है। प्राचाराय वेषक में स्थानिक रक्तदोषरक्त बनने के लिए सिरावेष का उपयोग प्राय नहीं होता, सार्वदैहिक रक्तदोष या रक्तराशि को कम बरने के लिए किया जाता है। इसलिए हमेशा कूर्पंसंधिमध्य की सिरा सुविधा के कारण (पीछे नींव का वक्षम्य देखो) पर्याप्त नहीं होती है। इस सिरा के सिरा कभी कभी गले भी माझुडा (External jugular vein) भी वेषक के काम में लाई जाती है। इस विकार का कुछ विवरण आगे १८वें लोक के वक्षम्य में भी किया है।

अत ऊर्ध्वे दुरुप्रयत्नमुष्याव्यास्यमा—तत्र

दुर्विद्वा अतिविद्वा कुञ्जिता पिण्डिता कुटिता प्रस्तुता—
अत्युदीर्णा अन्तेऽभिहता परिशुष्का कूणिता वेपिता अन्ति-
त्थितविद्वा शब्दहता तिर्यग्विद्वा अपविद्वा अव्यध्या
विद्वता धेनुका पुनः पुनविद्वा मांससिरास्त्रायवस्थ-
सधिपर्मसु वेति विश्वातिर्दुष्टव्यधाः ॥ ३० ॥

(दुष्टव्यध के नाम—) अब इसके बाद दुष्टव्यध का
व्याख्यान करेंगे—दुर्विद्वा, अतिविद्वा, कुञ्जिता, पिण्डिता,
कुटिता, अप्रस्तुता, अत्युदीर्णा, अन्तेऽभिहता, परिशुष्का,
कूणिता, वेपिता, अनुरिथतविद्वा, शब्दहता, तिर्यग्विद्वा,
अपविद्वा, अव्यध्या, विद्वता, धेनुका, पुनःपुनविद्वा, और
मांस, सिरा, सायु, अस्थि संधि मर्म में विद्वा, इस तरह वीस
दुष्टव्यध सिराएँ होती हैं ॥ ३० ॥

वक्तव्य—इन दुर्विद्वादि सिराओं का विवरण आगे के
सूत्र में किया गया है । वे दुर्विद्वादि प्रकार सिरादोष से,
शब्ददोष से, शब्दकर्म करने वाले के दोष से तथा रोगी के
दोष से उत्पन्न होते हैं ।

तत्र या सूक्ष्मशब्दविद्वा अव्यक्तमसूक्ष्म शब्दति
रुजाशोफकर्तो च सा दुर्विद्वा, प्रमाणातिरिक्तवि-
द्वायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा
सा अतिविद्वा, कुञ्जितायामध्येवम्, कुरुठशस्त्रप्रम-
थिता पृथुलोभावमापना पिण्डिता, अनासादिता
पुनःपुनरन्तयोश्च वहुशः शस्त्राभिहता कुटिता,
शीतभयमूर्च्छाभिप्रवृत्तशोणिता प्रस्तुता, तीक्ष्ण-
महासुखशस्त्रविद्वा अत्युदीर्णा, अलपरक्षाविरय-
न्तेविद्वा अन्तेऽभिहता, तीणशोणितस्यानिलपूर्णा
परिशुष्का, चतुर्भागा(व)सादिता किञ्चित्प्रवृत्तशो-
णिता कूणिता, दुष्टस्थानवन्धनाद्वेपमानायाः शोणि-
तसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुरिथतविद्वायाम-
ध्येचं, छिद्वा अतिप्रवृत्तशोणिता कियासङ्करो शस्त्र-
हता, तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किञ्चिच्छेषा तिर्यग्विद्वा,
वहुशः ज्ञाता हानशस्त्रप्रणिधानेनापविद्वा, अशस्त्र-
कृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्वा विद्वता, प्रदेशस्य
वहुशोऽवघट्टनादारोहदव्यधा, मुहुर्मुहुः शोणित-
स्त्रावा धेनुका, सूक्ष्मशब्दव्यधनाद्वहुशो भिन्ना पुनः
पुनविद्वा, मांसस्त्रायवस्थसिरासन्धिपर्मसु विद्वा
रुजां शोफ वैकल्यं मरणं चापादयति ॥ ३१ ॥

(दुष्टव्यध सिराओं का विवरण—) इनमें जो सूक्ष्म
(सुख) शब्द से विद्व हुई है, जिससे अस्पष्ट (नहीं के
बावर) रक्त श्ववता है तथा जो पीड़ा और सूजन से युक्त
है, वह दुर्विद्वा है । प्रमाण से अधिक विद्व होने के कारण
जिसका रक्त (शरीर के) भीतर प्रविष्ट होता है अथवा
जिससे रक्त अधिक प्रमाण में वहता है, वह अतिविद्वा है ।
कुञ्जिता में भी ऐसा ही (अतिविद्वा का लक्षण) होता है ।
कुण्ठित (थोये) शब्द से (कई बार) कुचली हुई तथा
चपटी हुई पिण्डिता होती है । ठीक न उठी हुई (इसलिए
ठीक प्राप्त न होने के कारण) बार बार दोनों पार्श्वों पर शब्द

से प्रहारित हुई कुटिता है । शीत, भय और मूर्च्छा के
कारण रक्त न श्ववने वाली अप्रसुता है । तेज और वडे सुख
के शब्द से विद्व हुई अत्युदीर्णा है । एक किनारे पर विद्व
हुई अल्प रक्त श्ववने वाली अन्तेऽभिहता है । रक्तश्वयुक्त
(मनुष्य) की वायुपूर्ण सिरा परिशुष्का होती है । चौथाई
हिस्से में कटी हुई, अल्परक्त श्ववने वाली कूणिता है ।
अनुचित स्थान में वाँधने के कारण कोपयमान होने वाली
सिरा से रुक्षस्कर रक्त निकलता है, वह वेपिता है । ठीक
न उठने पर विद्व होने वाली सिरा में इसी प्रकार लक्षण
होते हैं । (शब्द से पूर्णतया) कटी हुई, अत्यधिक रक्त
श्ववने वाली, (और ज्ञात के कारण मूर्च्छादि उपद्रव
उत्पन्न करके हलचल बन्द करने वाली) शस्त्रहता है । शस्त्र
के टेप प्रहर से विद्व हुई, जिसका (अधिकांश भाग कट
गया है और) जरास्ता भाग रह गया है, ऐसी तिर्यक्विद्वा
है । दोषयुक्त शब्द के अनेक प्रहारों से विद्व हुई अपविद्वा
है । जिसके ऊपर शस्त्रकर्म नहीं कर सकते, वह अवेध्या है ।
चब्बल (स्थिति में) विद्वा सिरा विद्वता होती है ।
(शस्त्रकर्म में वैध के अनैषुण्य से व्यध्य) प्रदेश के उपर
कई बार ताङ्गन करने के कारण, जिसमें एक से ऊपर एक
करके अनेक वैध हुए हैं, ऐसी बार बार रक्त श्ववने वाली
धेनुका होती है । सूक्ष्म (सुख) शब्द वैधन में प्रयुक्त करने
से (सिरा का वैध उचित परिमाण में बढ़ा करने के लिए)
कई बार वैधित की हुई पुनःपुनविद्वा होती है । मांस,
सिरा, सायु, अस्थि, संधि और मर्म में वैध करने से पीड़ा,
शोथ, विकलता और मरण प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अव्यक्तम्—अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जो स्पष्ट-
तया न दिखाई दे । अन्तःप्रविशति शोणितम्—अतिविद्वा
में शब्द का सुख मोटा होता है, जिससे शरीरगत
शब्दजन्य भेद (Incision) काफी बढ़ा होता है ।
यदि यह भेद पूर्णतया सिरा में हो तो सुख बढ़ा होने
के कारण शोणितातिप्रवृत्ति होगी । यदि यह पूर्णतया
सिरा में न हो तो सिरासमीपर्वती मांसादि धातुओं में
होकर उनमें रक्त का प्रवेश होगा । कुञ्जितायामध्येवम्—
कुञ्जितायामिति कुटिलीभूतायामित्यर्थः । (डल्हण) । सिरा
में कुटिलता (Varicosity) वायु के कारण उत्पन्न होती
है—कुञ्यात सिरागतः शूल सिराकुञ्जनपूर्णम् । (निदान,
प्रथमलण्ड पृष्ठ ३१९-३२० देखो) । पृथुलीभावमापना—
कुण्ठशस्त्राभिपातन चिप्पटतया प्रसरं प्राप्ता । (डल्हण) ।
अनासादिता—ठीक न उठने के कारण जो उचित रूप से
नहीं प्राप्त हुई थी, ऐसी । अप्रसुता—भय, मूर्च्छा के परिणाम
से शरीरगत केशिकाएँ विस्तारित होकर उन्हीं में अधिकांश
रक्त संचित होकर (पीछे २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो)
सिराओं में वह थाता नहीं है, इसलिए वैध करने पर भी
उससे रक्त का ज्ञात नहीं होता । तीणशोणितस्य—जिसके
शरीर से रक्त का काफी नाश (रक्तज्ञात से या गोग से)
होने के कारण जो तीणरक्त (Anaemic) हो गया है, ऐसा ।
चतुर्भागावसादिता—चतुर्भाग भागश्वतुर्भागोऽन्तर्गता शोणितधरा
कलति यावत्, तत्राऽवसादिता सङ्कुञ्जितया रक्तं विस्तारितुमन्त्रमा
चतुर्भागावसादिता, न तावदर्थोऽयमनुपत्तः; 'कृण सङ्कोचे' धातु-
स्त्रस्य कूणिति रूपेण संशोकरणात् । (दाराणचन्द्र) । चतुर्भागः

सादिता चतुर्भागेन प्राप्ता । (उल्लहण) । जिसमें घोड़ ठीक नहीं हुआ है, ऐसी सिरा, इतना ही इन विवरणों का तात्पर्य मालूम होता है । दु ख्यातवन्पत्तन—अनुचित स्थान में यन्त्रण करना । शोणितसमोह—मनुष्य को सम्मोह होने से जैसे उसके कर्म बन्द हो जाते हैं, वैसे ही रक्त का सम्मोह होने से उसका साव बन्द होता है । अर्थात् वीच वीच में जिसका शाव बन्द हो जाता है, पेसी । उल्लहण इनका अर्थ रक्षति-प्रसूचि करते हैं—शोणितसमोहः शोणितान्प्रसूचितः । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि आगे 'अनुचित विद्युतामयोब्दम्' लिखा है । अनुचित सिरा से अवधिक रक्षाव नहीं होगा । विद्या—जो पूर्णतया दो भागों में विभक्त हुई है, पेसी । कियासकूरी—गमनादिविद्याविनाशकरी । (उल्लहण) । वपेनामितानि सभी विद्याएः शोणितवयोमा योकाना शोणितान्प्रसूचितिनिमित्ताना शोणितापादीना सम्बन्ध करोतीत्यर्थ । सङ्गो मेलन सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम् । (हाराचन्द्र) । संचेप में अत्यधिक रक्षाव के कारण उत्पत्ति होने वाले उपद्रवों को करने वाली । अग्रहकृत्या—सातवें अध्याय के २९ वें सूत्र से ६८ वें सूत्र तक जो अवेष्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनमें से किसी एक के ऊपर वेष्य करना यह भी एक सिरावेष का दोष है । आरोहणया—उपर्युपरीपिण्डा, अनश्वर तैः शशपदपैर्येत्युत्तरित्वं व्यवाद भेदुका । (उल्लहण) । हाराण-चन्द्र 'आरोहण्यथा' पाठ लेते हैं और 'आरोहो' दैवेण्योपलक्षित व्ययो यस्या सा तदोक्ता' पेसी उसका अर्थ करते हैं । बहुओऽवद्वानाद—इससे कर्म करने वाले का अनन्यास और भयस्व सूचित होता है । बहुओ भिन्ना—'कथाने पद इति शेष ।

इस सूत्र में तथा इसके पहले सूत्र में दुष्ट्यथा के जो दीर्घ प्रकार तथा उनके लड्डण दिये हैं, इनका ज्ञान सिरावेषन का कर्म निर्दोष करने के लिये काम में लाना चाहिए, न कि दुष्ट्यवेष के प्रकार और उनके लड्डण कण्ठ करने के लिए । अतः इनका उपयोग निर्दोष सिरावेष में किस तरह किया जायगा, इसका विवार यहाँ पर संचेप में बताया जाता है । सिखें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में यह वाराणा गया था कि ये दोष पाँच स्थानों से उत्पत्ति होते हैं । अतः इन दोषों का वर्गीकरण इन स्थानों के अनुसार यहाँ पर किया जायगा । (१) शक्तदोष—सिरावेषन में शब्द न बहुत सूखमुख, न बहुत सूखमुख, न कुपित, न बहुत तीक्ष्ण, न अन्य दोषयुक्त होना चाहिए । इन दोषों से दुक्ष होने के कारण हुविद्ध, अतिविद्ध, पिच्छित, अत्युद्दीर्घ, अपविद्ध, और पुन उपनिविद्ध ये छु दोष उत्पत्ति होते हैं । (२) रागी दोष—रोगी शीत, भय, मृद्दांत तथा रक्तहीणता से पीड़ित न होना चाहिए, वरना अप्रसुत और परिशुद्ध ये दो दोष उत्पत्ति होते हैं । (३) व्याप्त दोष—उचित व्याप्त से बन्धन न करने से सिरा का ठीक उत्पत्ति नहीं होता, जिससे उसको स्थिर करने में तथा वेष्यन करने में कठिनाई उत्पत्ति होकर वेष्य, अनुचितविद्ध और विद्युत—तीन दोष उत्पत्ति होते हैं । (४) निरादोष—वेष्यन के लिए रक्षावहनी सिरा (Vein) होनी चाहिए, यहुत महाव की स्तोती न होनी चाहिए । इस तरफ व्याप्त वस्त्रमें कोई विकृति न होनी चाहिए । इस तरफ व्याप्त वस्त्र से कुछित और जवेष्य ये दो दोष उत्पत्ति होते हैं ।

(५) वैष दोष—शीर्यं, आगुक्षिया इत्यादि शक्तकर्म के लिए आवश्यक गुण (सूत्रस्थान व वें अध्याय का नौवीं श्लोक देखो) जिसमें न हो, तथा सिरावेषन का अन्यास जिसे न हो, ऐसे वेष के द्वारा सिरावेष करने से अन्तेन्द्रियहत, कृषित, दिक्ष, तिर्यक्विद्ध, घेनुक, कृषित और माससिरा शोणितविद्यसंविद्यम् विद्य ये सात दोष उत्पत्ति होते हैं । वयपिं दोषों के पाँच विभाग किये गये हैं तथापि ये नव विभाग वैष के अधीन होते हैं, क्योंकि उत्तम शब्द, योग्य रोगी, युक्त यन्त्रण और उचित सिरा इनका संगम करने का काम आविर्भाव में वैष (आगे इष्ट वाँ श्लोक) की सिरावेषन में योग्यता और अनुभव पर निर्भर होता है । अतः इन दोषों को ढालने का उत्तम उपाय शायादि सामग्री की उत्तमता और अन्यास है । इन दोषों की उत्पत्ति के कारणों का संवेष में विवरण आगे के दो श्लोकों में किया गया है ।

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिवितो नास्ति चला होताः स्वभावतः ।
मस्त्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडेत् ॥ ३२ ॥

(सिरावेषन उपर्युक्त करने की आवश्यकता का कारण—) सिराओं (के वेष्यन) में कोई भी शिवित नहीं होता, (क्योंकि) ये स्वभावत अस्थिर (होकर पकड़ने पर भी वेष्यन के समय) मद्भुली की तरह परिवर्तन करती है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक इनका वेष्यन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—शिवित—अन्यास से जिसको सिरावेष में नैयुष्य प्राप्त हुआ है, ऐसा । चला होदा स्वामान—यहाँ पर अधिकतर उत्तान सिराओं (Superficial Veins) का विवार किया गया है, इसलिए 'चला' लिखा गया है । शरीरसंविनियोग की दृष्टि से उत्तान सिराएँ व्यथा के नीचे की धातु में इस प्रकार निविष्ट हुई है कि वे इच्छ आधा हृच्छ इधर उधर हो सकती हैं । संचेप में, ये सिराएँ बहुत अस्थिर (Movables) होती हैं । मस्त्यवत् परिवर्तन्ते—पानी में मत्स्य को पकड़ने पर भी वह जैसा आमानी से हाय से फिलक जाता है, वैसे ही वेष्यन के समय वन्यासे नदी अगुलियों से पकड़ी हुई सिरा, शशप्रहार के समय अंगुलियों से फिलक दूर हो जाती है । यत्नेन—इसलिए प्रत्येक सिरावेषन के समय सिरा को अच्छी तरह पकड़ने का प्रयत्न करके लिए ताढ़न करे । पकड़ने में गाफिल रहने में ताढ़न के पैन वक्त उपर्युक्त होंगे । यत्न का सम्बन्ध अधिकतर पकड़ने के साथ है, ताढ़न के साथ नहीं है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वेष्य सिरावेषन के कर्म में कितना भी विचारभासी और अनुभवी क्यों न होनी चाहिए, उसको प्रत्येक समय नवसिंखिया की तरह सतर्क रहकर वेष्यन का कर्म करनाचाहिए ।

अज्ञानता गृहीते तु शरण कायनिपातिते ।

भवन्ति व्यापद्वयैता धृव्याप्त्यापुष्पद्वाः ॥ ३३ ॥

(दुष्ट्यवेष का कारण अज्ञानी वैष—) (सिरावेषन में) अज्ञानी वैष से धारण किया हुआ शब्द शरीर (भी सिरा) पर छलने से (दुर्बिज्ञादि) ये व्यापत्तियाँ तथा अलेक उपद्रव होते हैं ॥ ३३ ॥

ज्ञेहाविभिः कियायोग्येन तथा लेपनरूपि ।

यान्त्याशु ध्वायथैर्यथा सम्भिन्निराध्यगत् ३४

स्वेहन, स्वेदन आदि, कियाओं से तथा लेपों से इतनी शीघ्र च्याधि शांत नहीं होती है, जितनी ठीक ठीक शिरा-वेधन से शीघ्र शांत हो जाती है ॥ ३४ ॥

सिराव्यवच्चिकित्साधं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तिः ।

यथा प्रणिहितः सम्यग्वस्तिः कायचिकित्सिते ॥३५॥

(सिराव्यवच्चिकित्सा का प्राधान्य—) जिस प्रकार यथाविधि दिया हुआ चस्ति कायचिकित्सा में आधी चिकित्सा (के वरावर) कहा जाता है, उसी प्रकार शल्यशास्य में (यथाविधि किया हुआ) सिरावेधन आधी चिकित्सा (के वरावर) कहा जाता है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—चिकित्सार्थम्—कायचिकित्सा में चस्ति चिकित्सार्थ (या संपूर्ण चिकित्सा) इसलिए मानते हैं कि चस्ति के प्रयोग से संपूर्ण शरीरगत रोग, विशेष करके त्रिदोषों में प्रधान दोष जो वायु उससे होने वाले रोग, ठीक ही जाते हैं—शाखागताः कोषगताऽथ रोग मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश । ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ विष्णुत्रपित्तादिमलाशयानां विद्येपसंधात्वकरः स यस्मात् । तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्वस्ति विना भेपजमस्ति किञ्चित् ॥ तस्माच्चिकित्सार्थस्तिं वृद्धन्ति सर्वा चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥ (चरक, सिद्धिस्थान २) । कायचिकित्सा में वायु को जो प्राधान्य है, वही प्राधान्य शल्यचिकित्सा में रक्त को है, क्योंकि उसी से व्याय की हुए, पूर्यभवन, संधान, रोपण इत्यादि कार्य होते हैं और इसलिए दोषों में रक्त का समावेश शल्यतन्त्र में किया गया है—तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः शरीरं भवति । (सूत्र २१) । इस रक्त की शुद्धि सिरावेध के द्वारा जैसी होती है, वैसी अन्य उपायों के द्वारा नहीं हो सकती—मासमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात् । धमन्यश्च विशुद्धयन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः । रसस्वेदाभिनिष्पन्नद्विशुद्धयन्ति न पुष्कलम् ॥ (डल्हणटीका में उद्धृत श्लोक) । इसलिए कायचिकित्सा में चस्ति का जो स्थान है, वही स्थान शल्यचिकित्सा में सिरावेध का है । संक्षेप में, चिकित्सार्थ का तात्पर्य यह है कि यथापि सब रोगियों में नहीं, तथापि अनुरूप रोगियों में जैसे कायचिकित्सा में चस्ति से अधिकांश चिकित्सा का काम हो जाता है, वैसे ही अनुरूप रोगियों में शल्यचिकित्सा में सिरावेधन से चिकित्सा का अधिकांश काम हो जाता है ।

तत्र द्विग्धस्विन्नवान्तविरक्तास्थापितानुचासित-सिराविद्धैः परिहृतव्यानि—क्राधायासमैथुनदिवास्व-प्रवागव्यायामधानाध्ययनस्थानास्तन्त्रङ्कमणशीतवा-तातपावरुद्धासाम्याजीर्णान्यावलालाभात्, मासमंके मन्यन्ते । एतेषां विस्तरमुपरिष्ठाद्वयामः ॥ ३६ ॥

(पंचकर्म के पश्चात् निषिद्ध कर्म—) जिसको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन (निरुद्धवस्ति), अनुचासन काराया गया हो तथा जिसके सिरा का वेधन (करके रक्तचिकित्सा) किया गया हो, उसके लिए (पूर्ववत्) वलप्राप्ति (के काल) तक क्रोध (करना), (अधिक) परिश्रम (करना), स्त्रीसंग, दिन में सोना, (अधिक या ऊँची आवाज से) चोलने का च्यायाम, (चोड़े आदि पर) सवारी करना, (अधिक) पट्टना, (देर तक) खड़े रहना, (अधिक) चलना, ठंडी हवा, धूप, विरुद्धाश्रान् असाम्य अनुसेवन

और (जिनके सेवन से) अजीर्ण (हो जाय, ऐसा गरिष्ठ आहार या अध्यशन ये कर्म) परित्याग करने योग्य हैं । कई आचार्य ये कर्म महीना भर के लिए परित्याज्य वताते हैं । इनका विस्तार (से विवरण) आगे कहेंगे ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—स्विन्नवान्तविरक्तास्थापितानुचासित—रक्तमोक्षण पंचकर्मों में से एक है । कायचिकित्सक पंचकर्मों में रक्तमोक्षण के बदले शिरोविरेचन लेते हैं । पञ्चकर्मों के पहले स्नेहन और स्वेदन कराने से पंचकर्मों से अधिक लाभ होता है । पञ्चकर्मों में से किसी एक का सेवन कराने के पश्चात् निषिद्धकर्म नहीं होते हैं । इसलिए यहाँ पर सिरावेध के साथ स्नेहन, स्वेदन, वमनादि का उल्लेख किया गया है । आवलालाभात्, मासमेके मन्यन्ते—क्रोधादि कर्मों का परित्याग करने की कालमर्यादा अभ्यन्तर स्थिति के ऊपर निर्भर होना उचित है और उस इष्टि से 'आवलालाभात्' यह सुश्रुताचार्य का कथन युक्तियुक्त है । वल का वर्णन कभी 'यावद् प्रकृतिस्थः स्थादोपतः प्राणतस्थ' इस प्रकार से भी किया जाता है । कालमर्यादा दिनसंख्या में प्रदर्शित करने से कभी वह अधिक हो सकती है और कभी वह अपर्याप्त हो सकती है । अर्थात् इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दोनों दोष आ जाते हैं । अतिव्याप्ति में रोगी को दिना कारण बन्धन में रहना पड़ता है और अव्याप्ति में बंधन में रहना आवश्यक होने पर भी रोगी नहीं रहता । अतिव्याप्ति व्यावहारिकदृष्ट्या ठीक नहीं होती और अव्याप्ति वैद्यकीयदृष्ट्या ठीक नहीं होती । इसलिए यहाँ पर वल लाभ की इष्टि से पथ्यसेवन की कालमर्यादा प्रदर्शित करना उत्तम पक्ष है, और दिनसंख्या में प्रदर्शित करना गौण पक्ष है । १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के 'पुनरात्मवर्द्धनात्' की विपरीणी देखो ।

भवतश्चात्र—

सिराविषाणुतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा ।

अवगाढं यथापूर्वं निर्देशेद् दुष्प्रशोणितम् ॥ ३७ ॥

(रक्तचिकित्सा के विविध उपायों की रक्तस्थिति के अनुसार मर्यादा—) सिरावेध, सौंगीलगाना, तुम्बीलगाना, जौंकेलगाना और प्रच्छान से यथापूर्व गादृपित रक्त को निकाले ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विषाणुतुम्बैस्तु—इनके विवरण के लिए सातवें अध्याय के १२वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०) और १३वें अध्याय के २वें श्लोक का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७१) देखो । पदैः—शास्त्रपदैः, प्रच्छानेतत्पर्यः । प्रच्छान के विवरण के लिए सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के २६वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४) देखो । अवगाढं यथापूर्वम्—सब से अधिक गंभीर सिरावेध से, उससे कम सींग से, उससे कम तुम्बी से, उससे कम जौंकों से और सब से उत्तम प्रच्छान से । गंभीरता की अधिकता पहले में अधिक और उत्तरोत्तर कम होती है—अवगाढमन्यन्तराश्रये यथापूर्वं पूर्वान्तिकमेण, एतेनोत्तानं पदैः, अवगाढं जलौकाभिः, अवगाढतरं तुम्बैः, अवगाढतमं विषाणेन, सार्वाङ्गिकमवगाढतमं च सिराभिरिति । (डल्हण) । इसका मतलब यह है कि प्रच्छान, जलौका, तुम्बी और सींग, ये साधन स्थानिक (जहाँ पर लगाया जाय, वहाँ का) रक्त निकालने में एक से एक बलवान् होते हैं और जब दोष गंभीर धातुओं में स्थित होता है जबकि पूर्वान्तिकमेण

उपर्योग का उपयोग नहीं कर सकता, या दोप सार्वदैहिक होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में इनको प्रयुक्त नहीं कर सकता, तब सिरावेष द्वारा रक्तमोहण करने से फायदा होता है। यही अधिग्राम्य वायमटाचार्य आषागहद्य में घटलाते हैं—प्रच्छाननैकदेशस्थ व्रिति जलजन्मनि । एरेच्छां दिभिः सुभस्मस्यापिसिरावपै ॥ (सूत्र १६) ॥ सुश्रूत के उपर्युक्त श्लोक और इस श्लोक के सम्बन्ध में आगे के श्लोक का वक्तव्य भी देखो ।

अवगाढे जलौका, स्थान् प्रच्छान पिण्डिते हितम् ।
सिराङ्ग्रह्यापके रक्ते प्रद्वालात् त्वचि स्थिते ॥ ३८ ॥

इति सुकृतसंहिताया शारीरस्थाने सिरांवपविषिशारीर
नामाटोड्याय ॥ ८ ।

(दूसरी इटि से जलौकादि की कार्यमर्थदा—) गम्भीर स्थान में (से रक्तनिर्हरण के लिए) जलौका होती है, जमे हुए रक्त के लिए प्रच्छान हितकर होता है सर्वाङ्ग-व्यापी रक्त में सिराव (वैष्ण द्वितकर होता) है और त्वचा में (रक्तदुषि) स्थित होने पर सींग और तुम्बी (हितकर होती है) ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—पूर्वस्लोक में इन की गम्भीरता की इटि से सिरावधादि साधनों का अधिकार त्वत्या गवा, परन्तु प्रत्यक्ष उनके उपयोग के सम्बन्ध में उस श्लोक से भार्गदीशन नहीं होता है, वह केवल तात्त्विक विवरण (Theory) है। इसलिए इस श्लोक में रोग को देखकर रोगी के ऊपर इन में से किसका उपयोग किया जाय, इसका निदेशन (Indication) किया गया है। यह श्लोक पूर्वी मत का नहीं है, जैसे कि दलहणाचार्य लिख रहे हैं—उत्तर सिरावियातुम्बलोक प्रच्छानानि विषय कथितात्, अवगाढे इत्यादि । परंतु पिण्डिले श्लोक के स्पष्टीकरणार्थं सुकृताचार्यं ही लिख रहे हैं । तथा यह श्लोक पदान्तर भी नहीं है, जैसे कि द्वाराणचन्द्र कहते हैं—पूचा नमवतारयति—यत्वेति । न तावद्वचनस्यास्य पञ्चान्तर विवरत्वमश्वेदयम्—प्रच्छान पिण्डिते वा इवादयादे जलौकस । तदपेतलातुम्बीभूष्म दिवेव व्यापकेऽसु ॥ इति चुट्टवाचित् वायम्भेन वाचन्त्रोपादानात् ॥ जिस आधीर पर द्वाराणचन्द्र इस श्लोक को पदान्तर कहते हैं, वह 'वा' शब्द विषुले श्लोक के वक्तव्य के अन्त में दिये हुए वायमटाचार्य के श्लोक के पश्चात् आता है । परंतु ये दोनों श्लोक समानार्थी होने के कारण आषागहद्य में पञ्चान्तर होता है परतु यहाँ पर नहीं होता, यद्योकि सुकृताचार्य का 'सिरावियातुम्बलेत्तु' यह श्लोक और वायमटाचार्य का 'प्रच्छाननैकदेशस्थम्' यह श्लोक समानार्थक नहीं है । सरेष पै, विषुद्ध उपवस्ति (Pure theory) और कर्माङ्ग्यासामक (Applied) उपवस्ति में जो संवेद और भेद होता है, वही संवेद और भेद इन अन्तिम दो श्लोकों में है, न कि पूर्वी मत का, न पदान्तर का । अब इन दोनों का आपस में जैसा संबंध है, इसका विचार किया जाता है ।

इन निकालने की आवश्यकता जिन रोगों में होती है, उनके बारे विभाग कर सकते हैं—(१) इस विभाग में जो दोग आते हैं, जिनम संरूप शरीर में ऐलने वाला इन निकालने की आवश्यकता बही है । जैसे—पुरावा हृद्योग, मृत्रविकरमदाता, रक्षीडनाधिष्ठ तथा तम्भ्य पञ्चान्तर

इत्यादि । सरेष में जिनमें दोप की सर्वाङ्गव्यापकता होती है, वे सब विकार इस वर्ग में आते हैं । अत इस श्लोक में 'शिराङ्ग्याप्ते रक्ते' जो लिखा है, वह वर्मांग्यास की दृष्टि से भी बहुत ठीक है । वायमटाचार्य 'सिरैव व्याप्ते तुम्बी' लिखते हैं । इसमें भी 'एव' शब्द बहुत सुखक है । इससे स्पष्ट बताया जाता है कि जिन रोगों में सर्वाङ्गव्यापक दोप होते हैं तथा सर्वाङ्गव्यापक रक्त को निकालना है, उनमें सिरावेष ही इनमोहण का एकमात्र मार्ग है । उसकी दीका में असंदर्भ भी लिखते हैं—सर्वशरीरत्वाके रखे शिरैव । लिराया मतपिकलोगे नास्तीवैत्येवाशम्भाद्य ॥ सर्वाङ्गव्यापक कर्तव ये अवगाढातमत्व का भी वोध होता है क्योंकि मस्तिष्क, कुपफुस हृत्यादि अत्यन्त गहराई में स्थित प्रत्यक्षों का भी रक्त इसी मार्गे द्वारा निकाला जाता है । (२) इस विभाग में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति गहराई (अवगाढ) पर होती है और उपर की त्वचा में कोई खाराची नहीं होती । जैसे—अर्च, नेत्रोग, कुपफुसपाक (न्युमोनिया), खसनी कुपफुसपाक बान्कों न्युमोनिया, मासितकावरणशोष, कर्णोरोग हृत्यादि । इन रोगों में खण्डाक के ऊपर जोके लगाने से अवगाढ स्थान के रक्त का निर्हरण होता है । ऊपरी त्वचा को कम से कम नुकसान पहुँचाते हुए अवगाढ स्थान का रक्त निकालने का जोक यही एक मार्ग है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ५७ देखो) । इसलिए 'अवगाढे जलौका स्थान' यह जो लिखा है, वह बहुत ठीक है और वर्मांग्यासामक है (३, ४) इन दो विभागों में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति त्वचा तथा उपवचा या उसके आस-पास में होती है । जैसे—फोड़, तुनिर्यां, विद्रूषि उपत्वचाशोष (Colitis) हृत्यादि । इनमें से जिन विकार में त्वचा गल जाती है, पृष्ठ जाती है, हृट जाती है, उनक समावेश तीसरे विभाग में कर सकते हैं और इस विभाग के लिए सींग या तुम्बी का प्रयोग उचित होता है । इसलिए लिखा है 'श्वालाङ्गु त्वचि दिखेन' । चौथे विभाग में उन रोगों का समावेश कर सकते हैं, जिनमें विकृति त्वचा में कम परंतु त्वचा के नीचे अधिक, या त्वचा में होने पर भी त्वचा खाराव ज होने से दोप या रक्त उसके नीचे इकट्ठा हुआ है । पिण्डिल का अर्थ जमा हुआ रक्त (पनीभू मंसत्वमिश्रेन) (हाराणचन्द्र) हो सकता है, परंतु इससे प्रदात अर्थ यह है कि 'जिसको बाहर निकलने के लिए मार्ग न मिलने से जो पिण्डिल याने इकट्ठा हुआ है, ऐसे । पिण्डिल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ से गुलम के निदान में मिलता है—उत्तर मार्गनिरोधाश्लभाष्यो बायु पिण्डिलतात् । गुलमसा लगते : (आषागहद्यम) । ऐसी अवस्था में जो इकट्ठे हुए रक्त का साकृपटी से मार्ग बनाया जाता है और पश्चात् यदि आवश्यक हो तो सिरों या तुम्बी छगाई जाती है, जिससे पिण्डिल रक्त बाहर निकल आता है ।

सरेष में सर्वांगीत्यापी दोप में जब त्वचा में कोई खाराची नहीं होती तब सिरावेष, जब गहराई में स्थित किसी प्रत्यक्ष या अवयव में दोप होना है और त्वचा में कोई खाराची नहीं होती तब जलौका, जब त्वचा में दोप होकर त्वचा की खाराची होती है तब सिरों या तुम्बी छगाई जाती है और त्वचा में या त्वचा के नीचे खाराची होने पर त्वचा में

दोप को बाहर आने का कोई मार्ग या मार्ग की अल्पता होती है तब प्रच्छान का उपयोग करना चाहिए; यह इस श्लोक का कर्मभ्यास की दृष्टि से तात्पर्य है ।

इति भास्तुरशम्यां गोविदात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषावीकायां सिराव्यथविषयिशारीरं
नामाष्टोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद धमनीव्याकरण (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः ।

तत्र केचिदाहुः—सिराधमनीश्वोत्सामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्नोतांसि चेति । तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्नोतांसि च सिराभ्यः; कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वान्यूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च; केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सद्वशागमकर्मत्वात् सौक्रम्याच्च विभक्तकर्मणामध्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ २ ॥

(सिराओं से धमनियों का पृथक्त्व—) नाभि से उत्पन्न होने वाली चौबीस धमनियाँ (पहले) कही गई हैं। इस विषय में कुछ (आचार्य) कहते हैं कि सिरा, धमनी और स्नोतस् में कोई विभेद नहीं है; धमनियाँ और स्नोतस् सिराओं के ही चिकित्सा कार होते हैं। परंतु यह (मत) ठीक नहीं है। धमनियाँ और स्नोतस् सिराओं से विलक्षण भिन्न हैं। क्यों? लक्षणभिन्नता से, मूल (संख्याभिन्नता को) निश्चिति से, कर्मभिन्नता से और शास्त्राधार से। केवल परस्पर निकटता से, शास्त्र में (कहीं कहीं इनकी) समानता (निदर्शक वचन मिलने) से, समान कर्म होने से, सूक्ष्म(अंगविनिश्चयाज्ञान)ता से भिन्न भिन्न कर्म के होने पर भी हन्तके कर्म में अभिन्नता (प्रतीत) होती है ॥ २ ॥

वक्तव्य—नाभिप्रभवाः—नाभि से जिनका उद्भव होता है, ऐसी। आयुर्वेद में जैसे हृदय एक है, वैसे नाभि भी एक ही है और वह उदर प्राचीर मध्य में स्थित होती है। इस नाभि के साथ गर्भ की नाभिनाडी संबंधित होती है, जिससे गर्भ का पोषण होकर उसकी धृद्वि भी होती है। सिराओं का संवंध इसी नाभि से वत्ताया गया है, वह भी गर्भवृद्धि की दृष्टि से है। संत्रेप में आयुर्वेद में नाभि का संवंध गर्भपोषण के साथ होने से सिराएँ और धमनियाँ जो पोषण के काम में आती हैं, नाभि से संबंधित वत्ताई गई हैं—गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मालतामाननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति । तस्यान्तरेण नामेत्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं मतम् । तदा धमति वातसु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ मातुरु खलु रसवहायां नाव्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिवदा, साऽस्य मातुराहाररसतीयमभिवहति, तेनोपलेहनास्याभिवृद्धिर्भवति । असुखाताङ्गप्रत्ययप्रिविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीराववानुसारिणीनां रसवहानां तर्य-

गतानां धमनीनामुपस्तने हो जीवति ॥ गर्भस्य खलु संभवतः पूर्व नाभिरिति पराशर्यस्तो हि वर्धते देहो देहिनः ॥ पकामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम ॥ नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणात्राभिर्वृप्रतिता । सिराभिरावृता नाभिश्वकनाभिरिवारकैः ॥ (सुश्रुत) । चरक, अष्टांगसंग्रह अष्टाङ्गहृदय-इत्यादि अन्य ग्रंथों में भी नाभि का वर्णन इसी प्रकार का मिलता है । इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि नाभि एक कोषाङ्ग है। गर्भवस्था में इसी से गर्भनाडी संबंधित होती है। सिराओं और धमनियों का प्रभव इसलिए नाभि से होता है। अतः योगशास्त्र में तथा अन्य तन्त्रग्रंथों में नाभि का अर्थ कोई भी हो, आयुर्वेद में नाभि Umbilicus naval के लिए प्रयुक्त होती है (पीछे सातवें अध्याय के ३९ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो) Brain or spinal cord (मस्तिष्क या सुषुम्ना) से उसका कोई संबंध नहीं है। जिस दृष्टि से नाभि सिराओं का प्रभवस्थान माना गया है, उसी दृष्टि से नाभि धमनियों का प्रभवस्थान माना गया है, याने गर्भशय में शरीर उत्पन्न होने के काल की दृष्टि से धमनी नाभिप्रभव मानी गई है। और सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में जिस प्रकार सिराओं की नाभि के पास रचना वत्ताई गई है, उसी प्रकार की रचना धमनियों की नाभि के पास अष्टांगहृदय में वर्णन की गई है—धमन्यो नाभिश्वदा विश्वतिश्वतुरुत्तराः । नाभिः परिवृतो नाभिश्वकनाभिरिवारकैः ॥ (शारीर ३) । जन्म के पश्चात् धमनियों का सम्बन्ध नाभि के साथ न होकर केवल हृदय के साथ होता है, और इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में इन चौबीस धमनियों का सम्बन्ध हृदय के साथ स्पृष्टया वत्ताया गया है। तस्य (रसस्य) हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विशितं धमनीनुप्रविश्योर्धर्वगा दश दश चाचो गामिन्यश्वतस्त्रश्च तिर्यग्गाः कुरुत्वं शरीरमहरहस्तरपर्यति वर्धयति धारयति चाद्यएहेतुकेन कर्मणा ॥ चरक-संहिता में भी धमनियों का संबंध हृदय से ही वत्तलाया है, केवल फक्त हृतना है कि वहाँ पर धमनियों की संख्या चौबीस के बदले दस है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश । श्रोजेवाहः शरीरेऽस्मिन् विश्वन्ते समन्वतः ॥ (सूत्र ३०) । प्रागभिहिताः—शोणितवर्णनीय अध्याय में सूत्रस्थान में। इसका अभिग्राय यह है कि वहाँ पर हृदयस्थ रस जिन चौबीस धमनियों द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलकर शरीर का पोषण और तर्पण करता है, वे धमनियाँ नाभिप्रभव हैं। सिराधमनीश्वोत्सामविभागः—इसका अभिग्राय यह है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार सिरा, धमनी और स्नोतस् वे एकार्थक या पर्याय शब्द (Synonym) हैं। जैसे, चरक में लिखा है—स्नोतांसि सिरा धमन्योऽस्यां शारीरधारवत्वकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति । (विमान ६) । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—स्नोतसां व्यवहारार्थं पर्यायानाह । अन्ये त्वेतानपि धमनीपर्यायानाहुः ॥ इसी मत के अनुसार अमरकोप में ‘नाडी तु धमनी सिरि’ करके धमनी और सिरा पर्याय वत्ताये गये हैं। सिराविकाराः—सिराओं से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट आकारयुक्त प्रकार, जैसे—दूध से दूधी, इच्छरस से गुड चीनी इत्यादि—सिराविकारा इति सिराणामेवाकारान्तरेण परिणामाः, पिण्डिकाराचौरविकारवत् । तत्तु न सम्यक्—सुश्रुतस्त्रां नाभि का मत है कि धमनी सिरा विकार न होकर स्वतन्त्र और

सिराओं से विलक्षण भिन्न है। इसके लिए निम्न चार हेतु बतलाये जाते हैं। (१) व्यजनान्यवाद—दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से। इसकी टीका में लक्षणाचार्य लिखते हैं—उत्तर सिंहासन बावादिवहानामम्बन्धनाशुकुलोऽहृतवर्णं लक्षण लक्षणादिवसमनोना तु वर्णानुकृते रथातुलस्यर्थात्मन्, एव सोवता मपि। उकुल चरके—हृतवर्णातुसमवर्णानि वृत्तश्लान्यपूर्णि च। शोवासि दीर्घायाहृत्या इत्यादिवम्॥ इस पर हाराणचन्द्र लिखते हैं—व्यजनान्यवादिवहान्यत्वाद् सिरालामिति धमनीता नपि दिवृत्यमासात्मवसाहृतस्यत्वे सत्यविक्षिप्तिशुल्केन गृह्यस्कोचविक्षिप्तेन च, शोवता पुन रथचन्द्रतुल्योमलपदा शुलान्यहृत्येनानिर्वा शुल्केन शुल्केनोचिक्षिप्तिशेन च वैशिष्ठ यादिति यादत्॥ धमनी और सिरा में मुख्य भेद स्पन्दन का है। स्पन्दनयुक्त धमनी और स्पन्दनरहित सिरा—भानाद्यम्ब, सत्रपाद, शोत्रासि, सरणाय, सिरा। (चरक, सूत्र ३०)। (२) मूलसिनियम्—मूलसिनियों द्वितीयों भेदों यथा लासा भूतसिराश्लारियदिवस्यारम्भ यावदेव मैत्रिनि सप्तसिरादिवानि, धमनीना तु चतुर्विंशतिर्भवन्य स्नोवत्ता उन्नदिविधिनि शोवासि। (दद्वद्य)। नियोडभ्युपगम्भेनि प्लांचो। उदयमर्यः। मूलानां पृथक्त्वेनास्युगमो वस्त्रात्मामूल सविशेषयों सत्यावानां भूतसिरारीनां विजातीवेनविवितमनन्ता प्रत्येषपदमादिति निर्कर्त्। (३) कर्मवैश्यापाद—कर्मणाम प्रतीक्षात्॥ इत्यादि सातवें अध्याय के ७ वें स्लोक में वर्णन किया हुआ सिराओं का कर्म और शब्दरूप गणिति का इहन धमनीयों का कर्म। (४) आगमाच आमुर्वद के प्रयोग में स्थान स्थान पर सिरा धमनी इनका पृथक पृथक उल्लेख मिलता है। जैसे सूत्रस्थान के अप्रोपहरणीय अध्याय में शास्त्रकर्म के समय लिखा है—रैषो मर्मसिरालुलव्यरिक्ष धमनी परिहृन् अनुनोन शब्द निष्पादात् शनात्॥ वैसे ही शारीरिक प्रत्यक्षों की परिगणना में सिरा, धमनी और शोत्रस् इहनका उल्लेख स्वतन्त्र किया गया है—तत् पुन सत्यानं—सर्वाणि सिरा धमनो योद्यानि शोवासि च। (शारीर ५)। यदि धमनी और मिरा शब्द शरीरित एक ही प्रणय के लिए प्रयुक्त होता सो इनका पृथक पृथक उल्लेख किया जाता। इत्यलिपु धमनी और सिरा ये पृथक पृथक हैं, यदि कहने का अभिप्राय है। विभक्तकर्मणा सप्तविमान इत्—इस तरह लक्षणभित्ता, मूलस्थाया मिलता, कर्मभित्ता और शास्त्राधार इन चार कारणों से सिरा और धमनी का प्राविमान मिल होने पर भी ध्यवहार में ये शब्द अधिकतर समानार्थी प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं। यदि दोनों जैसे सत्प्रकालीन उल्लेख प्रयोगों में दिखाई देता है, वैसे प्राचीन कालीन प्रयोगों में तथा व्यवहारम्, कम से कम सुधुत्वसहिता के समय में दिखाई देता था। अब इस दोष के लक्ष होने के चार कारण यहाँ पर बताये जाते हैं—(१) परप्रसुतिविकारं—धमनी, सिरा और शोत्रस्, इन हीनों प्रयोगों के शारीर में अस्पन्दन समीप होने के कारण। शारीर में ऐसा कोई लंग नहीं मिलेगा, जहाँ पर दो तीनों प्रणयों न हों और अस्पन्दन समीप न हों। इसके लिए बहुत्याकारं इत्यान्त देते हैं—प्रयादिसिनिर्दुक्षीहृताना हृताना भवेत् भिन्नभवनक्षिवालामिभिन्निति वरहन प्रीतिः॥ सूक्ष्मागमध्येत्स्ताद्—पृथक्यगमाद् उद्यवर्त्तयत्॥ (५) उद्या-

गमाव—शास्त्र में धमनी और सिरा की विभिन्नता के जितने उदाहरण मिलेंगे, उससे कई गुना अधिक उदाहरण दोनों का एकार्थीं उपयोग करने के मिलेंगे—जैसे, ‘कृष्णरथो धमनी वत् प्राणो (शारीर ४), धमनीजातस्त्रवत् (चरक, सूत्र २१) हृतादि स्थानों में धमनीशब्द सिरावाचक प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही दद्य मूलमिरा हृतस्थापा सर्वा सत्त्वे यु। रसात्मक वहनयोग। (अष्टागहदय), अस्पन्द हृत्यु रोधिष्य सिरा नालुशशीवला। (सुश्रुत)—इन स्थानों में सिरा शब्द धमनीवाचक प्रयुक्त किया गया है। (६) संश्लक्षत्वाद्—दोपथात्ववहन यह इनका कर्मसामान्य है। कर्मसामान्य के साथ इनमें लक्ष रचनासामान्य भी है। ये तीनों ही अवकाशयुक्त याने मध्यस्थिद्वयुक्त या अन्तस्मुपरि (Hollow) होते हैं—प्राचारोवावरदाना देव नामानि देविनाम्। सिरा शोवासि माया ख धमनो नाक्ष आश्रया॥ इनमें सिरार्थं धातादि तीन दोषों का धहन करती हैं, शोत्रस् इस का इहन करते हैं और धमनी (रक्तयुक्त) धात का बहन करती हैं। अर्थात् भेद विद्युषी चीज के बहन में है। (७) सौन्दर्याद्—सूक्ष्म अंगविनियश्य ज्ञान के अभाव से। सिरा, धमनी, शोत्रस् सूक्ष्म होने के कारण इनका पृथक्स्वर नहीं माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ये तीनों प्रत्यंग वास्तव में पृथक् होने पर भी हृतने सूक्ष्म शारीर ज्ञान का अभाव वैष्णों में या सामान्य जनता में होने के कारण ये पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं।

धमनी क्या है? जमनी के धातविक अर्थ के संबंध में कर्तवयी स्नातु इत्यादि के समान कुछ सत्त्व भेदप्रचलित है। इस भत्तेदेव के अव्यर्थं पूला के स्वार्गवासी वा गोपालर शास्त्री जीवी हैं। उनके मतानुसार धमनी महिलाक्ष्यमुपुनाना से निकलने वाली नारियों (erebrospinal nerve) हैं। इस भत्त का विचार करने के पहले धमनी के संबंध में आयुर्वेद में ये मुख्य वातं मिलती हैं, उनका विवरण किया जाता है। वे मुख्य वातं देव हैं—(१) धमनी नालों के समान अवकाशयुक्त या सुपिर वस्तु है—प्राचारोवावरदाना देव नामानि देविनाम्। निरा शोवासि माया ख प्रस्त्वं॥ ज्ञोनामि सिरा धमनो भासीं शरीरोच्चारणि। (चरक, विमान ८)। (अष्टागहद, शारीर ६)। (२) हृये से सूत्र—यद्यपि यहाँ पर धमनीयों की उल्लति लाभि से बताई गई है (इसका अर्थ इस वक्तव्य के प्रारम्भ में तथा सातवें अध्याय के ३३वें स्लोक के वक्तव्य में स्पष्ट किया गया है) तथापि साधारणतया धमनीयों का संबंध हमेशा हृदय के साथ ही लिखा जाता है—सूक्ष्माच्छुरितिः धमनोरुपवस्थ इत्यन्तरिक्षस्त्रेवति। (सूत्र १४)। इदि च दद्य धमन्यः। चरक, सिद्धिस्त्रत १॥। तेन यूनैत महाया मायूना मता दद्य। भोवेता तारोटेस्मिन् विप्रम् ते समाप्ततः॥ (चरक, सूत्र १०)। ज्ञाने नेत्रानि तीन में दिये हुए उदाहरण मी देते। (३) धमनी में रस और रक्त का सबहन होता है—मैत्रदाना जीउत्ता हृत्यु नूल दद्य च धमन्यः। (चरक, विमान ८)। शोवितदाना दु सृष्टु कुपे समान समुदायान् रसन रक्तादिन्यो धमन्यः। (चरक, विमान ८)। धमनीयो (दायें) सकेन रक्तादिन्यो धमन्यः। सुउर्द्ध निर्विद्यतः। (सुश्रुत, सूत्र ३१)। उपेत्य इद्य प्राप्य धमनीरुपस्थमागत्। रिचोभेदिवयेत्तासि वीर्यं ददर्ते विराद्।

(सुश्रुत, सूत्र ४३) । मासेनोपचितं काले धमनीमया तदातंवग् । इपत् कृष्ण विग्रहं च बायुर्भेदः नमुखं नयेद् ॥ (सुश्रुत, शारीर ३) धमन्यः संकृदाशः क्षयाता स्तनसंक्षिनाः । दापाविस्त्राचाचासा न भवन्ति स्तनामयाः ॥ (सुश्रुत, निदान १०) । धमनीना एष्ट्रियथाना विषुवादनः तरन् । चतुरावात् विक्रादा ग्रीष्मा स्त्रयं प्रवर्तते ॥ (सुश्रुत, शारीर १०) । असंजातादप्रयद्यप्रविभाग-मानिषेऽकात् प्रभृतीं स्ववैद्यी-वयवानुसारिणीना रसवाहाना धमनीना विर्यगतानुमुख्येहो जीवयति । (सुश्रुत, शारीर ३) । संकृदाश्यावृत्तिः धमनीरुप्रविष्टोद्योधवं दश दश चापो गमिन्य-धनवश्य विर्यगतः कृत्वन् उरीर तप्यति । (सुश्रुत, सूत्र १४) । (४) धमनियों में धमान या स्पन्दन मिलता है—मानाद्य-मन्यः, स्फवणाद् त्रीभूति, सरणात् सिराः । (चरक, सूत्र १०) । धमन्यो रसवादिन्यो धमन्ति पवनं तनी । करस्त्रयुष्मले या धमनी दीवसाक्षिणी । तदेष्या सुखं दुःखं उयं कायस्य पटितोः । उत्तरकोपेन धमनी सोष्णा वैग्रही भवेत् ॥ (शारीर, प्रथमस्तुपण) । सत्य चेन्मन्ये परिमुख्यमाने न स्वन्दैवावान्, परामुखिति विषयात् । (चरक, इन्द्रियस्थान ४) । मन्ये गत्पार्श्वाने धमन्यो । (चक्रपाणिद्रुत्त) । संरेप में आयुर्वेदोक्त धमनियां नाली-दार हृदय से निकलने वाली, रसरक्तवह और स्पन्दनशील (Pal sating) होती है । प० गंगाधर शास्त्री हृदय का अर्थ मस्तिष्क (Brain) करते हैं—How the dhamanis are said to proceed from hṛdaya and नाभि is a Question connected with the ancient Yoga-philosophy. Suffices it to say here that even Dr. Gana Nath Sen and the late Prof. Bhanu of Poona have acknowledged that In the ancient philosophy of Yoga and the Upanishads हृदय did mean a part of Brain. योगशास्त्र में हृदय का अर्थ मस्तिष्क भले ही हो, आयुर्वेद में हृदय से वृक्षःस्य रक्तपरिचालक यन्त्र का ही निरपवाद घोष होता है । इस विषय का विस्तृत साधक वाधक प्रमाणों के साथ विवरण चतुर्थं अध्याय के ३३ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । इस लिए धमनी से आयुर्विक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार आर्टरी (Artery) का ही घोष होत है । अब, जैसे कि यहाँ पर वताया गया है, सूचम ज्ञानाभावादि कारणों से धमनी का उपयोग हमेगा आर्टरी के अर्थ में नहीं किया जाता है, यह वात दूसरी है । परन्तु इससे धमनी का वास्तविक मूल अर्थ कहीं भी नहीं छिप सकता । जिस ग्रन्थ में कहीं भी मस्तिष्क का या सुपुंजा का वर्णन नहीं मिलता, उस ग्रन्थ के कुछ शब्दों से (Cerebro-spinal nerves, sympathetic nerve fibers इत्यादि का अर्थ निकालना अज्ञान और धृष्टता का काम है । धमनी का अर्थ Nerve करना इसी स्वरूप का काम है । नर्व या नाड़ी ठोस होती है, उसमें रस या रक्त का बहन नहीं होता, न स्पन्दन होता है तथा उसका सवध सुपुंजा या मस्तिष्क के साथ होता है । याने धमनी और नर्व में एक भी वात की समता नहीं है । ऐसो अवस्था में धमनी को नर्व कहना एक दुराग्रह है । नर्व के सवध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सूखु के पश्चात् शरीर का संशोधन करने से उसके कार्य का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता । वह अंग आयुतन्तु के साथ भूला जा सकता है ।

बंगला में नर्व के लिए जायु शब्द का ही प्रयोग होता है । हाराणचन्द्र भी जायु शब्द से नर्व समझते हैं । आगे नीवें श्लोक के वक्तव्य में हाराणचन्द्र का उद्दृष्ट वचन देखो । धमनी का ज्ञान सूखु के पश्चात् भी हो जाता है और सूखु के पूर्व भी उसका ज्ञान स्पन्दनादि से हो जाता है । संरेप में रक्तवह संस्थान का ज्ञान जितना सुलभ है, उतना मस्तिष्कसंस्थान का नहीं है । अमीं तक मस्तिष्क के कुछ प्रदेश तथा उनके कार्य अज्ञात हैं । इस सारे विवरण का तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीयों को और उनके साथ आयुर्वेदवेत्ताओं को मस्तिष्क और सुपुंजा का तथा शरीर-गत नाडियों का ज्ञान नहीं था । परन्तु यह ज़रूर कहना पड़ता है कि मस्तिष्कसंस्थान का ज्ञान हो या न हो, आयुर्वेदवेत्ताओं ने मस्तिष्कसंस्थान जैसे प्रमुख परन्तु कठिन संस्थान के परिचय के ज्ञेन्ट को छोड़कर मनुष्य शरीरगत प्राकृत और विकृत कार्यों का समाधान करने की वही सुन्दर और सरल उपपत्ति निकाली, जिस उपपत्ति के कारण कम से कम प्राचीन काल में, वैद्यकशास्त्र में वहुत सुलभता आ गई । मस्तिष्कसंस्थान के शारीरिक या अंग-विनिश्चयात्मक ज्ञान (Anatomy का अभाव इसी कारण से आयुर्वेद में दिखाई देता है, परन्तु उसके कार्ये Physiology) का काफी विवरण आयुर्वेद में मिलता है (स्वन्दैवान के १४वें अध्याय के ११ वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में पृष्ठ ८० पर नर्वस टिशु का वर्णन देखो) । यह उपपत्ति क्या है ?

आयुर्वेद की नीव विदोपांकों के ऊपर है, इसमें कोई संदेह नहीं है । कोई हनको माने या न माने, तथा पाश्चात्य वैद्यक हनको वैज्ञानिक समझे या न समझे । हन विदोपांकों में जायु नामक एक दोष सर्वप्रधान माना गया है । इस जायु का वहुत सुदर वर्णन चरकसंहिता के वातकला-कलीय अध्याय में किया गया है—जायुस्तन्त्रव्यवधरः प्राणोदान-समानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकशेषानामुदावचारान्, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुदोजः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोदा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शीः, ग्रोत्स्पर्शनयोर्मूलं, हृपोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽन्नेः, संशोपणो दोषाणां, चैता वहिर्मलानां, स्थूलाणु-स्रोतानां भेत्ता, कर्ता गर्भकृतीनाम्, आयुषोऽनुप्रवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकृपितः । कुपिपस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधिविकारैरुप-तपति वलवर्णसुखायुप्रधानाय, मनो व्याहर्यति, सर्वेन्द्रियाण्यु-पद्धन्ति, विनिहन्ति गर्मान्, विकृतिमापाद्यत्यतीकालं वा धारयति, भयदोक्षोदैन्यनिप्रलापाजनयति, प्राणांशोपणादि ॥ (सूत्र १२) । यह जायु क्या है ? आज टीक नहीं कहा जा सकता । कोई हनको आविसज्जन समझते हैं, कोई कार्वन दायोदासाहृद समझते हैं; और कोई ह्रेष्टा ग्राणालीविहीन ग्रंथियों के अन्तःक्षाव (Hormones) समझते हैं । कुछ भी हो, यह वात शरीर में निरन्तर संचार करता रहता है और इसी संचार के ऊपर, ग्राणियों का स्वास्थ्य निर्भर होता है—अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृती रितिः । जायुः स्यात्सोधिं जीवेद्विनरोगः समाः शतम् ॥ (चरक, चिकित्सा २८) । जायु के साथ अन्य दो दोष भी शरीर में संचार करते हैं, परन्तु उनका नियन्त्रण जायु के द्वारा ही होने के कारण वे, विशेष महत्व के नहीं माने गये हैं—पिंतं पंगु कफः पंगुः पङ्क्तो मलधातवः । जायुना

मस्तिष्कसंस्थान का स्वास्थ्य रक्त के उचित संगठन पर निर्भर होता है। यदि रक्त में जीवतिक्ति द्रव्य (Vitamines) चूना (कैलसिअम), भास्वर (फास्फरस), तिक्तीभग्ल (एमिनो एसिड) हृत्यादि द्रव्यों की तथा शरीरगत अन्तःज्ञावों (Hormones) की कमी हो तो मस्तिष्कसंस्थान शारीरिक हृष्टया ठीक होने पर अनेक नाड़ीविकार उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद में मस्तिष्क तथा नाडियों के लिए जो स्थान नहीं दिया गया है, उसके लिए एक दार्शनिक हृष्टान्त दिया जा सकता है। सभी लोग जानते हैं कि धनि की उत्पत्ति के लिए वायु की आवश्यकता होती है, वायु के विना धनि उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह सब कुछ होते हुए भी दर्शनशास्त्रों में शब्द आकाश का गुण बताया गया है—गृथिव्याप्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि। गन्धरसलपत्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणात्तदर्थाः। (न्यायदर्शन १)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि आकाश (Ether) में शब्दोत्पत्ति होती है। आजकल आकाशवाणी (Radio) अत्यन्त दूर स्थान से आकाश द्वारा ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार शारीर में वातिक, प्राकृत और विकृत लक्षण मस्तिष्कसुपुम्ना नाडियों के द्वारा ही होते हैं, परन्तु आयुर्वेद में नाडियों के बदले रक्तस्थ वात को ही प्राधान्य दिया है। इसलिए आयुर्वेद में शारीरिक अंगविनिश्चय की हटि से कहीं भी मस्तिष्क या सुपुम्ना या नाडियों (Nerves) का उल्लेख नहीं मिलेगा। भाषान्तर में कहीं कहीं जो नाड़ी का उल्लेख आता है, वह तो केवल आधुनिक परिभाषा की हटि से अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया गया है। आगे भी आठवें और नौवें श्लोकों का वक्तव्य देखो।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्धर्वगा
दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्स्तिर्यग्गाः ॥३॥

(चौथीं धमनियों के विभाग—) नाभि से उत्पत्ति होने वाली हृन धमनियों की दस (धमनियां शरीर के) ऊपर की ओर, दस (धमनियां) नीचे की ओर और चार तिर्यक् (पाश्वों में जाती हैं) ॥ ३ ॥

अर्धव्यग्गाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छूनासजृ-
म्भितक्षुद्धसितकथितस्वदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः
शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमिप्रपत्नालिंग्या जायन्ते, तार्क्षिशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितर-
सान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानप्ताभि-
र्गहोते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिवृध्यते, द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं लिंग्या वहतः स्तनसंश्विते, ते पव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेतार्क्षिशत् सविभागा व्याख्याताः। पताभिरुधर्वं नाभेरुदरपाश्वर्पृष्ठोरःस्कन्धं विश्रोतावाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ४ ॥

(लक्षण धमनियों के कार्य—) ऊपर जाने वाली (धमनियां) शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छूनास, जम्माई, छोंक, हँसना, रोना, बोलना हृत्यादि विशेषों को अभिवहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं। ये दस धमनियां हृदय के पास पहुँचने पर तीन भागों में विभक्त

होती हैं। वे तीस हो जाती हैं। हृनमें वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हैं वे दस, शब्द, रूप, रस और गन्ध को (प्रत्येक के लिए दो दो करके) धाठ ग्रहण करती हैं, दो से भाषण करता है, दो से अव्यक्त शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो (आँखों के) अश्रु का वहन करने वाली हैं, दो स्तनाश्रित लिंग्यों के स्तन्य का संवहन करती हैं, वही दो स्तनों से पुरुषों के शुक्र का संवहन करती हैं, (हृस तरह अर्धवं दस धमनियों की) ये तीस धमनियां उनके विभाग के साथ वर्णन की गई हैं। हृनके द्वारा नाभि से ऊपर पेट, पार्श्व, पीठ, छाती, कन्धे, ग्रीवा और बाहु हृनका धारण और यापन होता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—प्रश्वासोच्छूनास—हृनके अर्थ के सम्बन्ध में भत्तमिज्ञता दिखाई देती है—प्रश्वासोन्तः प्रविशति वायुः, उच्छूनास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्युषुः। (डलहण)। प्रश्वासः श्वासप्रेरणामुच्छूनासोऽन्तः प्रवेशनम्। (हृन्दु, अष्टांगसंग्रह, सूत्र २०)। भाष्टे, घोषं करोति—भाष्ट इति तालवादिस्थानव्यापारनिध्यादिवाकारादिवर्णव्यं तियुक्तं शब्द करोति, घोषश्च तिष्ठप्रतीतोऽन्यतः शब्दः। (डलहण)। ग्रीवा—सशिरधीवा। शिर के साथ ग्रीवा।

हृस सूत्र में तथा आगे के दो सूत्रों में जो धमनियों वर्णन की गई हैं, उन सब धमनियों का प्रत्यक्षशारीर की हटि से पर्याय नाम देना कठिन है। तथापि जिनका दिया जा सकता है, उनका अंग्रेजी पर्याय नाम नीचे दिया जाता है। उसके साथ साथ पं० गंगाधर शास्त्री के पर्याय भी कोष में दिये जाते हैं।

शब्दवह धमनी—Internal auditory artery (Acoustic nerves); रूपवह धमनी—Central retinal artery (Optic nerves); रसवह धमनी—Lingual artery (Nerves of taste that is branches from glossopharyngeal and lingual); गन्धवह धमनी—Sphenopalatine branch of the internal maxillary (olfactory nerves); घोषकरा धमनी—Laryngeal arteries (Inferior laryngeal nerves); भाषण धमनी—Sublingual artery (Hypoglossal nerves); अश्रुवाही धमनी—Lacrimal artery (Lacrimal nerves); स्तन्यवह धमनी—Mammary artery; स्तन्योरपाक्षन से सम्बन्ध रखने वाली नाडियों ही शरीर में नहीं हैं—No secretory nerves of the mammary gland have yet been discovered. It is possible, they do not exist, and that the normal stimulus to mammary activity is a chemical one brought about by the ovary. Halliburton's physiology. इसलिए इच्छा रखने वाले भी स्तन्यवह धमनी के लिए कोई नाड़ी नहीं बता सके। प्रश्वासोच्छूनासजृम्भितक्षुद्धसितकथितस्वदितादीन् विशेष—ये श्वसन के ही विशेष प्रकार हैं, जिनमें श्वसन की महाप्राचीरा (Diaphragm) तथा अन्य पेशियाँ काम करती हैं। इसलिए हृनको रक्त की रसद पहुँचाने वाली धमनियां ग्रहण करनी चाहिए; जैसे—Phrenic and inter-costal arteries। हृन स्थानिक धमनियों के सिवा ये सब कार्य मरित्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित होते हैं; इसलिए अर्धवं धमनियों से मस्तिष्क की संपूर्ण धमनियों का ग्रहण होता है। हृस सूत्र की टीका में डलहण-

यत्र नीवन्ते तत्र वर्णन्ति भेदवद् ॥ (शाङ्खघर) । अविश्वसीयो दोषाणां नेता रोगमन्त्राद् । (मुख्यतः) । ये दोष शरीर में सचार करते हैं, अर्थात् इनके संचरण के लिए भासी की आवश्यकता है। शब्दविच्छेदन तथा पाकार्य वैद्यक पद्धते से जिमको नवीन इष्ट प्राप्त हुई है (जैसी कि प० गंगाघर शास्त्री जी को भ्रात्र हुई थी), वे कह सकते हैं कि वायु का मार्ग शरीरगत नवं (Nerves) होती हैं। इसके संबंध में यह व्यायाम में रखना चाहिए कि तीनों दोष हमेशा साथ रहते हैं, पक ही वाहिनी में से संचार करते हैं। यह वाहिनी नालीदार पोली होती है और इनका वाहन रस (या रक्त) होता है—कृपिताना हि देवाणा शरीरे परिषवताम् । यत्र सुगः खेदेण्याद् व्यापिस्तोपजायेऽ ॥ (मुख्यतः, स्त्र २४, ५८) । व्यानेन रसात्पूर्वि विषेषे चित्तलाञ्छणा । उग्रपद सर्वोदज्ज्ञ देहे विष्यत्प्रवे सदा ॥ विष्यमाणः स्ववैगुण्याद्यास्त्र सञ्जत यन्त्र सः । ततिमन् विकारं कुरुने त्वे वर्द्यमिव तीयदः ॥ (अष्टांगदृश्य, शारीर ३) । इसकी दीक्षा में अलगाद्वच लिखते हैं—प्रवसेन न्यायेन देवाणामपि वातात्मीना व्यानेन विष्यमाणान् विदेवाप्रोपणं विकारकरणं स्यात् ॥ व्यायाम धारु इद्य में निवास करके रससंवहन का कार्य करता है। इससे रूप है कि यह इद्य हार्दि है, भेन नहीं है। अर्थात् वातादि दोष रससंवहन के साथ शरीर में हमेशा परिग्रहण किया करते हैं और प्राकृत अवस्था में प्राकृत कार्य और विहृत अवस्था में विकार उत्पन्न करते हैं, परंतु उनका मार्ग और वाहन दोनों अवस्थाओं में पक ही होता है। नवं में से वायु का संचार मानने के लिए सभी (प्राचीन तथा आधुनिक) तैयार होंगे। परंतु उसी में से पितृ और कफ का वाहन मानने के लिए कोई भी तयार नहीं होगा। औकि ये तीनों साथ रहते हैं और रस के द्वारा रसात्प्राप्तियों में से संपूर्ण शरीर में सचार करते हैं। इसलिए वायु का कार्य जहाँ पर दिखाई देता है, वहाँ पर शारीरिक ऋगविनिश्चय की इष्ट से नवं अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, न अयुवेद की उपपत्ति की इष्ट से उसका अर्थ नवं कर सकते हैं। इस भ्राता यदि अर्थ किये जायें तो कहीं थार अनवश्यक प्रसरण उत्पन्न होंगे। इसके कुछ उदाहरण सातवें अध्याय के ३६ में श्लोक के वक्तव्य में तथा दोषे अध्याय के ३४ में श्लोक के वक्तव्य में इद्य का अर्थ करने के समय दिये गये हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर भी दिये जाते हैं—(१) भाद्रनौ पूर्ण तर्यं द्वर्षेण्यानम-संवयम् । स्वाः सिराः सच्चरक् कुर्याद्यामान् उणानपि ॥ (मुख्यतः, शा० ५) । इस श्लोक पर प्रथमशारीरी की प्रस्तावना में म० म० गणनाय सेन लिखते हैं—न हि सिरायु सच्चरक्तं स्वर्णादानं सापवति, तदेव सर्वशारायादिभिर्नीतीप्रानामः (Nerves) सप्तपते ॥ रसयोगसागर उपोद्धात् (पृष्ठ २४८) में भी इस श्लोक पर लिखा है—रसव भासी रूपसिद्धेन चिरायमन्यादुच्छी । स्वर्णादानसिरपते दानात्मा (Nervous) कार्य निर्विहृत । यत्र सिरायु संबंध निरुत्त भासानमनुविनाशी, सिरायु संबंधकृत तत्र सापवति ॥ (२) एवंसेदं तात्त्वं शब्दादिनी-नामेवैर्ण परिवरेत् ॥ परिमाणितावद्यमें सिरायुप्रयोगः । (प्रत्यक्षशारीर मस्तावता ११) । (३) पदा तु भयनोः सराः कृपितोऽप्येति मासनः । तदाधिपत्यागु मुकुर्मुदर्देवं मुख्यरः ।

मुडमुंडुलादावेपादावेपक दति स्तृतः ॥ (मुख्यतः, निवान १) । इत्यत्र शानतनुषु पदमदीशब्दः प्रयुक्तः । (रसयोगसागर उपोद्धात् १२४) । इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहाँ पर कार्य की इष्ट से सिरा या भ्रमनो या नाली का उल्लय नवं किया जा सकता है। परंतु शास्त्रव में आयुवेदोक्त सिरा, भ्रमनी, शोतस् या नाली नवं नहीं है, रस या रक्त को वाहन करने वाली नाली है। ये प्रयोग न गलती से हुए हैं, न गफलत में, न प्रतिसंस्कर्ता के दोष से, न प्रवेष से, परंतु शीक आयुवेद की उपपत्ति के अनुसार हुए हैं। यह उपपत्ति आधुनिक पाकार्य तत्र के अनुसार गलत कही जा सकती है, यह दूसरी शात है। परन्तु इस नवे तत्व के आधार पर पुरानी कहनाको बदलकर नवे के साथ मिलाने की कोशिश करना ठीक नहीं है। रस या रक्त के साथ आत्मदि दोष सचार करके शरीर में प्राकृत (Normal) तथा विहृत (Abnormal) कार्य करते हैं। इस उपपत्ति में सत्य का संपूर्ण अभाव नहीं मालम होता, विलिंग बहुत कुछ तथ्य प्रतीत होता है। जैसे, मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से चक्रवर्त, अंगता उत्पन्न होती है, रक्त की अधिकता होने से सिरदर्द होता है। मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह के बद्ध होने से सूखा होती है, किसी पक स्थान का प्रवाह बन्द होने से एकांगात, पश्चात्पात होता है। सुमुना में कहाँ पर रक्तप्रवाह में वाषा होने से पृष्ठता उत्पन्न होती है, कान के रक्तप्रवाह में वाषा होने से विषय, कण्ठेव द्वारा होता है। आंखों की रक्तवाहिनी में वाषा उत्पन्न होने से धैर्यता होती है। कुर्सी पर या कठिन आसन पर अधिक देर बैठने से टांगों के रक्तप्रवाह में वाषा उत्पन्न होकर पैरों में झुनझुनी, स्वाप, लदता इत्यादि उत्पन्न होते हैं। नींद में पृष्ठ करवट अधिक समय तक सोने से हाथ के रक्तप्रवाह में वाषा उत्पन्न होकर हाथ में भी पैर की सरद झुनझुनी इत्यादि लगण उत्पन्न होते हैं। आधुनिक पाकार्य संप्रसारि के अनुसार ये सब नालीकंस्यान के रोग (Neurological diseases) होते हैं, परन्तु इन विकारों में मस्तिष्कसंस्थान की वायु में कोई खाली नहीं होती। जो कुछ भी होती है, वह असल में रक्तवद्ध की होती है। अर्थात् अगर कोई इन विकारों का कारण मस्तिष्कसंस्थान-न समस्करण रक्त समझे तो इसमें पितृपौत्रावद नहीं है। यत्र कान की रक्तवाहिनी में वाषा होने से कान का कार्य ठीक नहीं होता, तथा इसका अनुमान यह होता है कि रक्तवाहिनी ठीक होने से कान का काम भी ठीक होता है। आयुवेद में सब कार्य वायु के द्वारा होते हैं, ऐसा माना गया है। इसका भातलव यह है कि यत्र प्रत्येक प्रत्यय की रक्तवाहिनी में विहृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य ठीक होता है। और यत्र विहृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य लाल होता है। जिन्होंने रक्तवाहिनी में अविहृत वायु का संचार होने पर यात्रायात ठीक होगा और विहृत वायु का संचार होने पर गंधकात में गड़वड़ हो जायगी। सरेप में, रसरक्त के द्वारा शारीर के संरूपी कार्य विहृत परिवर्त होते हैं, यह आयुवेद का सिद्धान्त है। पाकार्य वैष्ण की भी मानवा पद्धता है कि वायु रसांशि कार्य शारीर में पद्धति मालिकसंस्थान के द्वारा होते हैं तथापि

मधिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे । इति स्पष्टं गवीन्येतेव निर्देशः । (प्रत्यक्ष शारीर, प्रस्तावना) । शुक्रवहे द्वे—शुक्रोत्पादक अंगों याने सूषणग्रंथियों को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली धमनियाँ Testicular and spermatic arteries (Spermatic plexus) । इनके द्वारा रक्त पहुँचने पर सूषणग्रंथियाँ शुक्रोत्पादन में समर्थ होती हैं । इसलिए लिखा है—शुक्रप्रादुर्भावाय । द्वे शुक्रविसर्गाय—सूषणग्रन्थि में उत्पन्न हुआ शुक्र मैथुन के अन्त में अधिक्षयणिका; शुक्रवाहिनी, शुक्राशय और अष्टीला ग्रन्थि, इनके संकोच से मूत्रमार्ग द्वारा बाहर फेंका जाना है अर्थात् शुक्रविसर्गकर धमनियों से हन अङ्गों की धमनियों का बोध होता है—Arteries supplying epididymis, Vasa deferentia, Seminal vesicle and prostate । नारीणामार्तवसंज्ञे द्वे आर्तववहे—कार्तव की उत्पत्ति की कारवाई वीजकोश और गर्भाशय में होती है । इसलिए आर्तववह धमनियों से गर्भाशय और वीजकोश की धमनियों को ग्रहण करना चाहिए—Uterine and ovarian arteries (Hypogastric and ovarian plexus) वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिवद्वे—स्थूलान्त्र का काम मल की नीचे की ओर ले जाकर बाहर फेंकने का है । इसलिए स्थूलान्त्र के हस्त काम में सहायता करने वाली धमनियाँ 'वर्चोनिरसनी' कहलाती हैं—Inferior mesenteric artery, middle colic and right colic arteries (Pelvic visceral nerves) । एताभिर्धोनभेः पक्षाशयकीमूत्रपुरीष-गदवस्तिमेंसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च—ये तीस धमनियाँ पनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा नाभि के नीचे के पक्षाशयदि-क्त तथा अनुकूल अङ्गों को रक्त की रसीद पहुँचाकर उनका पारण और पोषण करती हैं । अधोगामी धमनियों से आधुनिक अत्यध शारीर की हड्डि से औदरिक महाधमनी और उसकी गाला-प्रशाखाओं (Abdominal aorta and its branches) का बोध होता है । सक्षिय में कोई विशेष कार्य न होने के कारण उपर्युक्त विवरण में उसका उल्लेख नहीं किया गया है, अन्त में उनका सिर्फ नाम दिया है । स्वेदमप्यन्ति—स्वेदापनयनार्थं रक्तं (रसं वा) अप्यन्ति ।

भवति चाव—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्मण्येतानि सर्वशः ।

तिर्यगाः संप्रवद्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥ ६ ॥

अधोगामी धमनियाँ ये (उपर्युक्त) सब कर्म करती हैं । (अव) तिर्यगामी धमनियों तथा उनके कर्मों को याथात्यय से वर्णन करेंगा ॥ ७ ॥

तिर्यगामानां तु चतुरस्त्रणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोक्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्त्वसद्व्ययेयाः, ताभिरिदं शरीर गच्छात्तिं घिवद्यमाततं च, नासां सुखानि रोमकूपप्रतिवद्यानि, ये: स्वेदमिवद्यन्ति रसं चाभितप्यन्त्यन्तर्देहस्य, तैरेव धार्मज्ञप-रिषेकावगादालेपनवोर्याण्यन्तःशारीरमधिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं चा गृह्णति; तास्त्वेताश्वत्स्त्रो धमन्यः सर्वाङ्गनातः:

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) निर्यगामी अर्थात् धमनियों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर मेंकदों और द्वारासीं शायामीं में विभक्त होती है, (हस प्रकार शाया यशायामीं में विभक्त हुई) ये धमनियाँ अपरिस्त्वये हो जाती हैं, जिनके द्वारा यह शारीर द्वारोलेदार (जालीदार) वंचा द्वारा और धायाम धोया है । इनके सुख (अन्तिम सिरे) लोमकूपों में धूमध्याद्य हैं जिसके द्वारा ये स्वेद का अभिवहन करती है तथा धीनर धीर बाहर अन्नरस (को पहुँचाकर उस) के द्वारा संयोग करती हैं । इन्हों के द्वारा ही त्वचा में प्रयुक्त हुए अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन तथा अलेपन (के द्रव्यों) के द्वारा धीर के भीतर प्रवेश करते हैं, इन्हीं के द्वारा सुखकर या धमुखप्रद (दुखकर) स्पर्श का ग्रहण (जीवारमा) करता है । यद्यपी शरीर में फैली हुई ये चार धमनियाँ विभागों के साथ वर्णन की गई हैं ॥ ८ ॥

वक्तव्य—तिर्यगामी धमनियाँ—ऊर्ध्वगामी धमनियाँ सिर, ग्रीवा, छाती और ऊर्ध्वशाला के भीतरी कार्यों से सम्बन्ध रखती हैं; अधोगामी धमनियाँ उदरगुदागत अङ्गों से तथा टांगों से सम्बन्ध रखती हैं और तिर्यगामी धमनियाँ शारीर के बाह्यभाग से याने त्वचा से सम्बन्ध रखती हैं । आधुनिक परिभाषा के अनुसार तिर्यगामी धमनियों को (Cutaneous or peripheral vessels) कहा सकते हैं । रोमकूप—हससे स्वेदग्रंथियों का ग्रहण करना चाहिए । आसुर्वद में स्वेद का संबन्ध हमेशा रोमकूपों के साथ लगाया जाता है—स्वेदक्षये स्तवधरोमकूपता । (सूत्र १५) । स्वेदे रोमच्युतिः स्तवधरोमता स्फुटनं त्वचः । (अपांगहृदय) । रोमकूप और स्वेदग्रंथियाँ स्वतन्त्र होती हैं और जहाँ पर रोमकूप बिलकुल नहीं होते—जैसे, हस्तपादतल—वहाँ पर स्वेदग्रंथियाँ बहुत अधिक होती हैं । त्वचि विपक्वानि—त्वचा पर प्रयुक्त होकर प्रचूरित होने के पश्चात् उसकी अभि के द्वारा विपक्त हुई । त्वचा में अभ्यङ्ग (Massage) के लिए विविध तेल, परिषेक (Spray) के लिए विविध ओषधियों के काढे अवगाह (Bath) के लिए विविध ओषधिजल, भालेप और ग्रलेप (Ointments, paints, pigments) के लिए विविध ओषधियों के रस और कल्पक प्रयुक्त होते हैं । ये सब ओषधियों त्वचा के कूर्पों (Pores) से शोषित होती हैं, यह बात आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुई है । विएन्ना (Vienna) के प्रो० स्टेन्स्केल (Stenskell) ने यह बात अपने अनुभव पर निश्चित की है और बताया है कि जिस समय रोगी सुख द्वारा अन्न सेवन करने में असमर्थ होता है, उस समय त्वचा के ऊपर विशेष प्रकार के अच्छ का ग्रलेप करने से उसका शोषण होकर रोगी का पोषण कुछ काल तक हो सकता है । आपने हसके लिए एक विशेष कल्पक (Paste) भी बनाया है, जिसका उपयोग त्वचा द्वारा रोगी के पोषण के काम में होता है । धमनी का अर्थ नाड़ी करने में जैसे स्तन्यवह धमनियों में कठिनाई होती है (पीछे ४ सूत्र का वक्तव्य देखो) वैसे यहाँ पर भी है विषेक की नाडियों द्वारा अस्यांगादि का वीर्य शारीर में प्रवेश नहीं कर सकता रक्तवाहिनियों के द्वारा ही कर सकता है । ये: स्वेद-मिश्रहन्ति तैरेव—‘ये’ और ‘तैः’ का सम्बन्ध धमनियों के सुखों के साथ याने पर्याय से रोमकूपों के साथ होता है ।

चार्य लिखते हैं—रक्षादीवदुरः प्रादेकं दास्या द्राम्बादिपदामी
उपर्यागिनामयनयोध्वनेऽनुवापमिवेद्विभिर्युहोते । मनस-
क्षात्पुष्टादेहराच्च त सी तु ग्राम्यवृत्तिनांस्तीति, तासो वा घमनी
मनसाऽनुवृत्तेन हेतुवै कृत्वा इत्यन्यदमाश्वा गृहीते, न तु न्युन-
देव रुद्धादिकं सर्वं चार्यमिति ।

भृति चात्र—

ऊर्ध्वंगमात् (त)स्तु कर्त्तव्यिकं कर्मण्येताति सर्वशः ।

अधोगमास्तु वृथायापि कर्मं तासां यथायथम् ॥५॥

उर्ध्वंगमात् घमनियो ये सब कर्मं करती हैं । जब अधोगमामी
घमनियो तथा उनके कलों का धारात्म्य वर्णन करत्याहुं ॥६॥

अधोगमास्तु धात्मूल्यपुरोपगुरुकार्त्तव्यादेन्यदेव वृ-
द्धन्ति । त स्तु पित्ताशयमभिप्र(ति)पत्रारतत्रस्यमेग-
भ्रणनरस ग्रिङ्गमोत्प्रगटिवे(रि)चयनयोऽभिवृक्त्यः
शरारं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वंगानां तिर्यग्गाणां
च, रसस्थानं चमिपूरयन्ति, भूयपूरीपस्वेदाद्य वि-
वे(रि)वृथन्ति । आमपकाशयान्तरे च विधा जायन्ते,
तात्त्विकाशात्; तासां तु धातपित्तकफ्शेणितरसान्
द्वे द्वे धृतरसा दश, द्वेऽप्याहिन्यावन्नाधिते, तोय-
यहे द्वे, मूत्रवस्त्रिमधिप्रस्त्रे भूययहे द्वे, शुक्रयहे द्वे
शुक्रमादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते पव रक्तमधिवृहतो
(विद्युततथ्य) नारं एमार्तवृहंसं, द्वे धृत्वानिरतन्त्यो
स्थूलान्तप्रतियज्ञे, अणवन्यास्तिर्यग्गाणां घमनीनां
स्वेदमर्पयन्ति; तास्त्वेतात्त्विकाशात् स्विभागा व्य-
प्त्याताः । पताभिरधोनामेः पकाशयकटोमूद्यपुरोपगु-
द्यस्तिमेद्वस्मयोनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥६॥

(अधोगमामी घमनियो का वर्णन—) अधोगमामी घम-
नियो तो वात, मूत्र, मन, शुक्र तथा आतंत्र इनको अधो-
गमाम में धृत करती हैं । ये वित्ताशय के पास पहुँचने पर
पाचकाद्यि से अरुद्धी तरह पाचित हुए, अर्ज-पात के रस को
इनके अधिभृत करती हुई, शरीर का तपेण करती हैं,
उर्ध्वंगमामी और तिर्यग्गमामी घमनियो को (रस) पहुँचाती
हैं, रसस्थानों को रस से पूर्ण करती हैं, मूत्र पुरीय और
स्वेद को (अप्रसास से) पृथक करती हैं और आमाशय
तथा पकाशय के मध्य में तीन भागों में विभक्त होती हैं ।
(इस प्रकार विभाग होने से) ये तीन घमनियों बनती हैं ।
इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो धृतन
करती हुई दृश्य होती हैं; आन्व में आवय को को दो अभ
वहन करती हैं, दो अलवहन करती हैं; मूत्रवस्त्रि की ओर
लाने वाली दो भूययह घमनियों हैं; शुक्रोत्पति के लिए
दो शुक्रवृत्त घमनियों हैं; दो शुक्रविसर्जन के लिए हैं; वही
(मूत्रवृत्त घमनियों) छियों में आतंत्रवहन का काम करती
है, स्थूलान्त्र के साथ संयुक्त हुई दो मलनिरसी हैं,
शेष आठ घमनियों तिर्यग्गमामी घमनियों को स्वेद (के लिए
रक्त) अपेण करती हैं; इस तरह ये ठीस घमनियों विभागों
के साथ विभिन्न हुई हैं । इन घमनियों से नाभि से नीचे
पकाशय, कफी, मूत्र, पुरोप, गुद, स्वेद, मैदू, और सविय
हृकृष्णा धारण और पापन होता है ॥ ६ ॥

वृक्षमय—अधोगमामी घमनियों का संरंप और इनके
विभाग और अधोगम धात्मानों से देखता है । वातमूल्युरो
शुक्रान्तरात्मयो वृथन्ति—धात्मूल्यादि वृथादेव उद्दरविभाग में
उत्पन्न होते हैं और इनकी गठि की द्वितीय नीचे की ओर
होती है । ये वृथादेव घमनियों से रक्त की रसीद पहुँचने पर
तत्त्वज्ञन क लोगों से उत्पन्न होकर नीचे की ओर चल देते हैं,
इमलिए घमनियों इनको नीचे ले जाती है, ऐसा वात-
प्रयोग किया गया है । विद्युतविभिन्नता—आमाशय और
प्रशास्य में पहुँचने के बाद । विद्युता कला का यही स्थान
है । इसी स्थान पर सेवन किये हुए धृत धृत का पाचन और
दोषय होकर धृतस बनता है और शोरोर का पोषण उससे
होता है । पाचन और शोषण का कार्य करने में आन्व तथा
समय होता है, जब उसको घमनियों से रक्त की रसीद
मिलती है । इमलिए घमनियों अध्यापन रक्त की विवेदक
और अभिवाहक बल्टाई गई है । अर्थवन्ति च अर्धगाना
नियग्गानाम—अधोगमामी घमनियों से अध्यापन का पचन
होने में सहायता मिलकर इस बनता है, जो तिरांत्री और
रसायनी ह्यारा दृश्य में जाकर अर्धगामी तथा तिर्यग्गामी
घमनियों का तर्पण करता है । अर्थात् अर्धगामी घमनियों
का तपेण अप्रत्यरुदय अधोगमामी घमनियों ही करती है ।
रसस्थानम्—हृदयम्—वैस्त्रेत्रेभूतः सारः परपदमः स रक्त
रक्तुच्छृण्ये । तस्य च दृश्य रसानम् । (सूत्र १४) । कि वा रसस्था
(Cysterna chyl.) और रसहृदय (Thoraxio duot.) अभ्यं
का पाचन होने के पश्चात् सामय भाग शोषित होकर वह
भाग यांत्रे अन्वरस प्रथम रसप्रपा और रसहृदय में जाता
है और उनमें से होकर दृश्य में बला जाता है । मूत्रशूरी-
स्वेदादेव विवेदयति—मूत्र, पुरोप और स्वेद ये तीन अभ्यं
के मल होते हैं जो आन्व, स्विति (पृक्) और त्वचा ह्यारा
पृथक् किये जाते हैं । इनमें से मूत्र और मल को पृथक्
करने का काम उद्दरविभाग में ही होता है, जिसका उल्लेख
'वैसोनिरतन्मौ' और 'मूत्रवृद्धे' करके किया गया है । स्वेद
का काम तिर्यग्ग घमनियों का है रक्तन्तु तिर्यग्गामी घमनियों
को रक्त की रसीद ये घमनियों पहुँचती हैं, इसलिए स्वेद
का विक यद्यां पर किया गया है । आमपकाशयान्तरे—
आमाशय और झुटान्त्र के बीच में या आमाशय और
झुटान्त्र का जो अवकाश है, वह अवकाश में कहीं पर ।
अवरात्म्यावन्यावन्यादेव—आमाशय और झुटान्त्र को जाने
वाली घमनियों निकले ह्यारा रक्त की रसीद पहुँचने पर
आमाशय और झुटान्त्र अपनी विरोध गति के ह्यारा अन्व को
नीचे की ओर ले जाने में समर्थ होता है—Superior meso-
enteric and coeliac arteries (Vagi and sympathetic) । मूत्रवृद्धे दे—जिनके ह्यारा रक्त पहुँचने से मूत्रोत्पत्ति
होती है । आन्ववृद्धे में मूत्र का प्रथान रसान्त रसाना गया
है । यदि शब्दप्रधान्यम् माना जाय तो मूत्रवृद्धे घमनियों
से Ventral arteries समस्त सकते हैं । यदि अर्थ की रक्ति
से आयुनिक कवचनों के अनुसार देखे तो Renal arteries
हूँहों की घमनियों समस्ता उत्पित है (Nerves from the
renal plexus spermatic, ovarian, inferior mesenteric
plexus and hypogastric plexus.) । कविराज गण-
नाथसेन इससे गोचरी (Ureters) समझते हैं—'मूत्रशू-

स्थान हृदय ही है। वह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर हृन्दियों में प्राप्त होता है और जास्ता को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्वोत्तरि यथापि पृथग् नोक्तानि तथापि मनसः: 'केवलभेवदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिपानात् रस्व-शरीरक्षोत्तरिसि गृष्णन्ते, विशेषेण तु एव्याग्रितत्त्वानमनसस्तदाधिक्ता ददा धमन्यो मनोवहा ब्रह्मिधन्ते। (चक्रपणिदत्त, हृन्दिय स्थान ५)। दूसरी बात यह है कि शरीर-विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक सुख्य गुण धमन या स्पन्दन है। याचक्षीय धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन घंडहोने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सतत स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम्। तत्य चेमन्ये परिगृह्यमाने न स्पन्देयातां पराहुरिति विचात्। (चरक, हृन्दिय ३)। चूर्यं अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तदित्येषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में यहुत मतभिप्रता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर टल्हण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—प्राभिभूताः पश्चम्यो भूते-भ्योऽपि समन्ताद् भूताः, शब्दस्पर्शस्तपरसगन्धैर्वा पश्चभिरभिभूता व्याप्ताः; आकाशपवनददनतोयभूमिभिर्वा पश्चभिरभिभूता व्याप्ताः धमन्यः; कं १ पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केषु १ पञ्चमु शोत्रादिविन्दिय-धिष्ठानेतु, कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, आयान्ति, आगच्छन्ति, काः? धमन्यः, किं? पञ्चतम्, किं कृत्वा? विधित्वा संयोज्य, किं तत् पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सद्मरुपं, पु? पञ्चस्वाकाशादिपु मद्भूतेषु; एतेनैतदुक्त भवति—आकाशादिपंचभूतसमुदायसमुत्पन्ना धमन्यः कर्मपुरुषपञ्चिन्दियधिष्ठानेतु अवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिपु भूतेषु संयोज्य वेनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति। अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ अकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्यका-शादीनि पञ्चमद्भूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चमु चक्षुरादिविन्दियधिष्ठानेतु योजयन्ति, ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिपु भूतेषु संयोज्य वेनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति। अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ स्वयं पञ्चाकाशादिपु मद्भूतानि, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति, किं? पञ्चत्वं विनाशं, क? विनाशकाले, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत्? पञ्चेन्द्रियं बुद्धिन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं, केषु? शब्दादिपु च वचनादिपु च स्वकोषेष्वर्थेषु। अथवा पञ्चानामाकाशपवनददन-तोयभूमीनां पृथग्भिरुख्येन भूतः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथात्वं पञ्चमु चक्षुरादिविन्दियधिष्ठानेतु भावयन्ति योजयन्ति॥ गयी त्वन्यमाडपातनिकां विधाय व्याख्याति। यथा—अत्र रूपादिव्याहिषीनां धमनीनां पञ्चवाराद् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद् ग्रहणेण भेवितव्यमित्याशङ्कापाद—पञ्चाभिभूता इत्यादि। अस्याध्यमर्थः—पञ्चमु रूपादिपु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो 'भावयन्ति वेदर्यन्ति। त्वयं तावद् पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विन्दति, ताक्ष पञ्च-धमन्यस्तेषु वेदयन्ति। कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्। न च एकवारमेव, पञ्चापि धमन्यः।

पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चत्वपि रूपादिपु वेदयन्ति। तदु कुतः पुनरिति ऐतुपर्भविद्येष्यमाद—अभिभूतं भमिमुखं प्राप्ताः। केन? 'मनसा' इति शेषः। कस्मात्? कर्तुमनःपुरःस्त्रैन्द्रियापंप्रदण्यात्। मन्त्रा इ शरीरे एक एव, मनोदृष्ट्यमेव, तेन मनसा यैष धमनीशब्दादिवासु धमनीष्वभिप्रपश्ना सैव धमनी द्वयम् व्राद्यति मन्त्रानाम्यैति; यतो मनःपुरःस्त्रैवेन्द्रियप्रवृत्तिः। इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिविष्यमासां न पुनरनिदोपामिपदस्य मरणेऽपीत्याद—एत्र त्वमित्यादि। विशेषानाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; पमन्यः पाञ्चमीतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतमावेनावस्थानात् पश्चत्। गता उच्यते। पञ्चेन्द्रियं पञ्चमु भावयित्वैति पुनरभ्यतुशादस्तेषां नियन्त्रविषय-याइत्वदर्शनार्थः। अन्यान्तरे—ऐतवैनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा। शब्दादिग्रहणोच्च्वासनिः । सवचनानि च ॥ भावयन्ति पृथक् पश्चत् प्रत्ययाः पञ्चमु। तत्संख्याकरणं यान्ति नाश काले तु पञ्चतम्। शरीरं दि गते तत्त्वम् शूल्यागारमचेतनम्। पञ्चत्वावस्थशीत्वात्पश्चवर्णा गतमुच्यते ॥ इति ।

इस श्लोक के उत्तरार्थ के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—मपि यदि इन्द्रियाभिमुखमेव प्रस्तावता धमन्यः किं तदिविनाशकाले 'पुरुपस्य प्रयतो बाटगनसि, नः प्राणे इत्यादिनान्तर्तुं पुनरनिद्रियाणा प्रतिलोमगमनभिनिर्षय्यं प्राणोपसंदारं प्रति मार्ग-न्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति। विनाशकाले पञ्चमु प्राणादि-पञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्रापान्येन व्यपेदेश भवन्ति' इति न्याय-दुपदिश्यते वाल्यकरणनिचयमित्यर्थः। यदाह भगवान् भाष्यकारः 'प्राणश्च तदोद्वैच्छासो स्वामन्युपसंष्ठुतवाकरणः' इत्यादि। नेह प्राण इत्येकत्वनं विप्रतिपिदं भवति 'अतएव प्राणः' इति शारीरिक-सूक्ष्माद्ये प्राणस्य पञ्चमु वातविकारे प्रसिद्धतरत्वेनाभ्युपगमात्। भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृत्येति यावत्। इदमत्राकृतम्—विनाश-काले कञ्च्चर्वेच्छासिप्राणाकर्षणविष्टुलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्या सर्वप्राणेनेनिद्रियजातमाकर्पंतं पञ्चत्वं प्राणं प्रापयित्वैव निक्षियत्वैन पञ्चभूतवशेषत्वं प्राप्नुवन्ति १८ च धमनीनामेव तादृशप्राणोप-संहारसाधनक्षमवैन तावत्कालमवस्थाननियमान्त्र मार्गान्तरमपेक्षित-व्यमित्यध्यवसेयम् ॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शावा-प्रशालाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पञ्चति के अनुसार शब्दविद्धेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है। यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की हाइ से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि बतलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन धमनी अवर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी हाइ से इन तुलनामक वातों का विचार करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं स्नोतसां मूलविद्वत्तदण्मुपदेव्यामः। तानि तु प्राणाद्वोदकरसरक्तमांसमेदोमूलपुरीषशु-क्रातर्वचहानि, येष्वधिकारः; एकेषां ब्रह्मनि; एतेषां विशेषा वहवः ॥११॥

भाषुनिक पाश्चात्य शारीरकाये विज्ञान से स्पर्श में दर्शि भाषुनियों का ही मुख्य काम होता है तथा प्रिय सम्बंधान में इस का भी अनिष्ट सम्बन्ध होता है। इस विषय की जानकारी हो सुनी है—Loss of blood supply, produced experimentally by compressing an artery digitally or with a pneumatic cuff, and in disease by embolism, thrombosis, arterial spasm, etc., also causes an orderly succession of sensory disturbances resembling three of mechanical compression (of the nerve trunk) Physiology in Health and Disease by Wriggert स्पर्श में गुणवृद्धि, कण्ठ, उत्तरांशी, सुखता, जटन इत्यादि कई प्रकार की वैद्यनाओं का समावेश होता है।

भवतव्यात्र—

यथा स्वभावतः यानि मृगालेपु यिसेपु च ।

धमनीनां तथा यानि रसो यैषपचोयते ॥ ५ ॥

(स्वभावित विद्यों का प्रभाव—) जैसे कमलालों में तथा (उनके) तन्तुओं में स्वभाव से ही छिप (नालिया) होते हैं, वैसे ही धमनीयों के छिप होते हैं, जिनके द्वारा रस का उपचय होता है ॥ ५ ॥

पृष्ठव्य—इस इलोक में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि धमनीयों मृगाल या विस के समान छोटी सोटी आकार की अन्त सुरिय होती हैं और उनमें से रस का संबंध होता है। अर्थात् धमनी शारीरवात पृष्ठ रस या रक्तवद नाली है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वेद, उपनिषद्, सूति, महामारत इत्यादि प्राचीन ग्रंथों में हस्ती अर्थ में धमनी का प्रयोग किया गया है—गृहस्त धमनीना सहजस्य द्विषाण्। असुरिण् सम्भवा ग्रामा साक्षमो भरितवत् ॥ निष्ठावेदे तिष्ठ पर एते तत्पि सम्भव में, विविदा य निराति तिष्ठादित् धमनीर्वती । (अथवेद १-१३-२, १)। अस्तिवस्ते सम्भवं नावस्वो धमनीर्वत् । इसम् पाणिष्ठाद्युतिस्यो नवैष्यो वि द्वाराति स । (अथवेद २-३३-३)। तथद्रवत सेव्यं पृष्ठिया पातुर्वयं । सा दीप्तवर्णत्वा ते पृष्ठता गुलुम् ॥ स भैषो नीहारो या धमनवस्तुना नयो यदा लोकानुरुद्देश समुद्र । शौकोर्योपनिषद् (३-११-२)। एकोनिश्चरवाणि तथा नव जानानि च । पृष्ठाद्याव जानीति लिङ्गानिश्चरवाणि । (३-११-३)। आकारं मातुरु शारीरविश्व धमनीर्वति । कथम नव प्राप्तास्यामि फेनिलं रवित्व तु ॥ (महाभारत, आदिवेद १५२)। द्वाराणवन्द भी धमनी का अर्थ रक्तवाहिनी होते हैं । उनके मतानुसार स्नायु नारी (Nerve) का कार्यं करते हैं । युत्तरांशन की स्थानात्तरा से आंग विनियोग करते समय स्नायुरुद्धु या उत्तरांशायु को नादी धानने की भूल की जा सकती है, धमनी को नादी सम्बन्ध की भूल करती ही नहीं हो सकती व्यक्ति दोनों में कुछ भी समता नहीं है। स्नायुरुद्धु और नादी दोनों ही शुभ्र, सुखमय दोस दोते हैं । इसलिए स्नायु को नादी धानने की भूल सम्य है । शारीरविश्वेदन के समय इस प्रकार की भूल कहू वार बुझा करती है । नालियों के कार्यं का ज्ञान सूत शरीर में करतायि नहीं हो सकता । द्वाराणवन्द लिखते हैं—त्रिवृद्धपै यथा औजादिगतानु तातु तातु स्नायुषु इत्यादि लिखानु वा स्नेहपि शास्त्राद्यो मैय व्योजादिविद्यीवर्वति,

धमि धमरे वेषिद्वागा विनशकसैगन्तेन न दृष्टा धमनी विविधानु विविदीति इनावद एव शम्भादीनमपद्धतिनि न दुर्लभं ही ततु न साध्य, शम्भादावदागारामपद्धतिनि इत्यादिप्रिया विनशकसैगन्तेविविद्याते तद्विद्वान कठेन तद्विविद्यात् इनावद धमि समूलायामुद्गतीतेविविद्यात् । न वेषिद्वादेव राज वेषिद्विष्टि धूपे हृतेषु धूमेषु भर्तुर्द्धुरवाप्तिविद्यानान् ॥ यदि कार्ये के अनुमार अर्थं किया जाय तो जैसे घर की सेवान को करके घोते समय घोवित, घर का काम करते समय नौकरानी, बच्चे का मल-भूत्र उठाते समय मिहनारनी करने का अनवस्था प्रसार उत्तर देवता है, वैसी ही धमनी के नाड़ी, सिरा, स्नायु कहने का प्रसार उत्तर देवता है परंपरा जैसे उपर्युक्त सब काम करने पर भी सेवानी सेवान ही होती है, नौकरानी नहीं हो सकती; वैसे ही धमनी सब दृढ़ करने पर भी अगविनियतप की दृढ़ से बासनी (Artery) ही रह जाती है । धमनी की शुद्धिता रसोय धारा के उत्तोदात (४४-१२६) में प० हरिप्रसादी है—परमपै उत्तरविनियोगेषु पूर्णे दोषेव वा शारीर वासिनिष्ठा प्राप्तं तति धूतस्या साधरणता वस्तिविद्वान्मायोपत्वितादिति धमनी दायर्द्ध्य बोगस्वलेन न सिरादिभिन्नादिति । 'भिन्नाद्युत्तरविनियोगेऽनि' (३० शा१०२) दृष्टिवित्यये 'विद्वादीरित्यव्य' (प० शा१३) इति दृष्टि धमनीति संपत्ते । धमनीना शरीरे रसभवनेत्रायत्वाद् शुद्धरूपविनियम उच्चते ।

पञ्चाभिभूतास्त्वयथ पञ्चरूपा

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्या

पञ्चाद्यमायान्ति विनाशकाले ॥ १० ॥

(धमनीयों का माहात्म्य—) पञ्च इन्द्रियों से प्रस्तु हुए धमनीयों आत्मा को पञ्च इन्द्रियायों में पञ्चरूपा संयोगत्रित्या करती हैं, (और इस तरह विनाश काल तक) आत्मा को पञ्च इन्द्रियायों के साथ निष्ठाकर शारीर विनाशके समय (रूप) पञ्चरूप को प्राप्त होती है ॥ १० ॥

पृष्ठव्य—पञ्चभूता—पञ्चेन्द्रियायामिभुवेन्द्रेन प्राप्ता । पञ्चेन्द्रियायामिभुवेन्द्रेन का साधारण इन्द्रियायों होती हैं । यथापि इन्द्रियायों पौर्व है तथा प्रिय सम्बन्ध एक होता है और जर तक मन इन्द्रियों के साथ नहीं बिलता, सब तक आत्मा से अर्थ प्राप्त होती होता—आत्मा मनसा सुवृद्धते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमनेन । (चक्रपाणिहृत, चरक 'सृष्टि') । मन एक होने के कारण पांच इन्द्रियों के अयों का प्राप्त होने के लिए आत्मा मन का पांचों के साथ पांच वार संयोग होने की आवश्यकता होती । एक वार सम का संयोग और प्राप्त होती होगा । इसलिए पञ्चरूपविनियोगेऽनि धमनीयों के अयों का प्राप्त होने के लिए आत्मा मन का पांचों के साथ पांच वार संयोग होने की आवश्यकता होती है । एक वार सम का संयोग और प्राप्त होती होगा । इसलिए पञ्चरूपविनियोगेऽनि धमनीयों का ज्ञान पञ्चेन्द्रियों द्वारा ही होता है—आत्मा व करणेणीज्ञानान् तत्त्वं प्रवत्तते । (चरक, शारीर) ।

इस इलोक में धमनीयों के संबंध में सो मात्रव की बातें बताई गई हैं । प्रथम यात तो यह है कि आत्मा का ज्ञान का साधन जो इन्द्रियों, उनका आत्मा के साथ संयोग लोडने का काम धमनीयों ही करती हैं । आत्मा हृदय में रहता है (४ ऋच्याय में ३४वं श्लोक का वक्तव्य देखो) । मन का

स्थान हृदय ही है। वह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर हन्दियों में प्राप्त होता है और आत्मा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवदानि स्तोत्रासि यथपि पृथ॑ नोकानि तथापि मनसः ‘केवलभेदं शरीरस्वनभूतम्’ इत्यभिपानात् सर्व-शरीरस्तोत्रासि गृणन्ते, विशेषेण तु इत्याधितत्त्वान्मनस्तदाधित्ता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते। (चक्रपाणिदत्त, हन्दिय स्थान ५)। दूसरी बात यह है कि शरीर-विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक सुख गुण धमन या स्पन्दन है। यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन घंडहोने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सतत स्पन्दनानां शरीरदेशानामस्पन्दनम्। तस्य चेमन्ये परिशृष्ट्यमाने न स्पन्दयात् परामुखिति विद्यात्। (चरक, हन्दिय ३)। चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में ‘तदिशेषेण चेतनास्थानम्’ इसकी विप्पणी देखो।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में यहुत मतभिस्थता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर ढलहण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—ज्ञानभूताः पञ्चभ्यो भूते-भ्योऽभि समन्वाद भूताः, शब्दस्पर्शस्तप्तसान्वैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः, आकाशपवनददनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः धमन्यः; कं ? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केतु ? पञ्चसु श्रोत्रादिविन्दियाधिष्ठानेषु, कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, यान्ति, आगच्छन्ति; काः ? धमन्यः, किं ? पञ्चतत्त्वं, किं कृत्वा ? वयित्वा संयोज्य, किं तत् पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूक्ष्मस्तप्तं, पु ? पञ्चस्त्वाकाशादिषु महाभृतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आकां-दिपंच्चभूतसमुदायसमुत्पन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु व्याप्तवारान् भावयन्ति तत्थेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भृतेषु संयोज्य वेनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति। अन्ये तु—‘पञ्चादिभूतान्यध्यकृत्वा’ इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्यका-गादानि पञ्चमधाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादि-देविन्दियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, तत्थं पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिविन्दियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदि-भूतानि विनाशकाले पञ्चतत्त्वायान्ति। अपरे तु—‘पञ्चाभिभूता-स्वयं पञ्चधा वा’ इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः ? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति, किं ? पञ्चतत्त्वं विनाशं, क ? विनाशकाले, किं कृत्वा ? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् ? पञ्चेन्द्रियं बुद्धिनिर्दिपयञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं च, केतु ? शब्द-दिषु वचनादिषु च स्वकोषेष्वर्थेषु। अथवा पञ्चानामाकाशपवनददन-तोयभूतीना पृथग्मिसुख्येन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिविन्दियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति॥ गयी त्वय्याम्याऽपातनिका विधाय व्याख्याति। यथा—अत्र रूपादिग्राहिणीना धमनीर्ना पञ्चतत्त्वं पञ्चमिर्थमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीर्ना युगपद ग्रहणेन भवितव्यमित्याशृद्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि। अस्यामर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो भावयन्ति वेदयन्ति। स्वयं तात्त्वं पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विन्दति, ताथ पञ्च-धमन्यत्वेषु वेदयन्ति। कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्। न च एकवारमेव पञ्चापि धमन्यः।

पञ्चापीन्द्रियाणि पश्चादिषु वेदयन्ति। तदुक्तः पुनरिति ऐतुगम्भिदेष्यमाद—भग्निभूता भग्निभूतं प्राप्ताः। केन ? ‘मनसा’ इति शेषः। कस्मात् ? कर्तुमनःपुरःसरेन्द्रियार्थंग्रहणात्। मन्ता हि शरोरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्द-दिवाद्यसु धमनीधमिप्रश्ना सैव धमनो स्वर्थं व्यादयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरेन्द्रियप्रसृतिः। इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिग्राहिणीशासां न पुनरतिदोषाभिपश्नस्य मरणेऽपीत्याह—पञ्चस्वभित्यादि। विशेषानाशकाले पञ्चतत्त्वं यान्ति; धमन्यः पाप्त्यमातिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चता गता चर्यन्ते। पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियन्त्वविषय-ग्राहित्वदर्थानार्थः। ग्रन्थान्तरे—एतद्वन्नं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा। शब्दादिग्रहणोच्चवासनिः। सवन्ननानि च ॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चमु। तत्संख्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम्। शरीरं हि गते तस्मिन् शृण्यागारमचेतनम्। पञ्चतत्त्वावशीष्यत्वात्पद्धत्वा गतमुच्यते ॥ इति ।

इस श्लोक के उत्तरार्थ के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—‘प्रथ यदि हन्दियाभिसुखमेव प्रदृशत्वा धमन्यः कि तद्विविनाशकाले ‘पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि, नः प्राणे इत्यादिनाश्रतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमामनाभग्निर्दृत्यं प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमध्युपाद्यसि नेत्याह पञ्चेति। विनाशकाले पञ्चसु प्राणादिपञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति ‘प्राणान्येन व्यपदेशा भवन्ति’ इति न्यायादुपदिश्यते बाधकरणित्यस्मित्यर्थः। यदाद भगवान् भाव्यकारः ‘प्राणश्च तदेवोच्चशास्त्रो त्वामन्युपसंदृढतवायकरणं’ इत्यादि। नेद प्राण इत्येकवचनं विप्रतिपिदं भवति ‘अतएव प्राणः’ इति शारीरिक-सूचयाद्ये प्राप्तस्य पञ्चश्चती वातविकारे प्रसिद्धतरवेनाभुयुपगमात्। भावयित्वा प्राप्तिविवादपत्तं घट्यत्वेति यावद्। इदमत्राकूपम्—विनाशकाले ऋद्वर्वोच्चसिप्राणां कर्षणविहृलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्या सर्वप्राणेनिद्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वैव निष्क्रियवेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्त्युवन्ति एवं च धमनीनामेव तात्त्वशास्त्रोपसंहारासाधनं तात्त्वकालमवस्थाननियमान्त्र मार्गान्तरमपेचित्तव्यमित्यध्ययेसेयम् ॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शास्त्रा-प्रशास्त्राओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पञ्चति के अनुसार शब्दविज्ञेन्द्रनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है। यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रथम होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि वर्तलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन अर्धांशीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनाओं का विचार करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं स्तोतसां भूतविज्ञेन्द्रनपूर्वायाः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमासमेदोमूत्रपुरीषु-क्रांतवचहानि, येष्वविकारः; एकेवां वहृनि; एतेषां विशेषा वहृवः ॥१॥

(स्रोतस् , उमके नाम और सख्त्या—) अब इसके पश्चात् स्रोतसों के मूलविषय के लघुण बहलायेंगे । जिनके ऊपर (साध्य शाख का) अधिकार है वे प्राणवह , अञ्जवह , उदकवह , रसवह , रक्फवह , मांसवह , मेदोवह , मूत्रवह , पुरोपवह , शुक्रवह और अंतर्ववह हैं । कई आधारों के अनुसार स्रोतस् बहुत होते हैं ; (परन्तु धन्वन्तरि कहते हैं कि स्रोतस् इन्हें ही होते हैं) उनके विरोप (भेद) बहुत हैं ॥१॥

यक्षम्—मूलविद्वास्याम्— स्रोतसों के प्रमव स्थान में वेष्ट होने से वापर होने वाले लड्ज़। प्राणोऽवात्र इत्यादि— यहाँ पर यथार्थ भाव दिये हैं , जिनके बाहक स्रोत होते हैं । प्रत्येक भाव के दो स्रोतस् हैं , इस प्रकार वाईस स्रोतस् ही जाते हैं । घरकसंहिता में कुल तेरह भावों के स्रोतस् धृतये गये हैं जिनमें अस्थिवह , मज्जवह और स्वेच्छवह स्रोतस् अधिक हैं और अंतर्ववह स्रोतस् नहीं दिये हैं , तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस् की संख्या सुधृत के समान द्वे व द्वेष्ट बहुत दोस्री हैं । एको द्वृष्टि—एवं जैव स्रोतसोंमेव समुदर्यं पुरुषमिच्छित्वा सर्वगतवात् , सर्वसत्त्वाच्च दोषप्रोपयत्वामनानाम् । न लेदेनदेवत् , यस्तु हि स्रोतानि स्वयं वहन्ति वस्त्रवाइन्ति , यत्र चाविद्विनानि , सर्वं तद्वच्चेत्व । अति बहुतात् खलु वैदिकप्रतिरेकवाच्याच्छ्रद्धते धोतासि , परिसंख्ये यानि पुनरन्देय । (चरक , स्रोतोविमान) स्रोतसों की संख्या के सम्बन्ध में यह स्थान में खलना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस् एक याने जायें तो उनकी संख्या परिसंख्ये हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस् को पृथक् पृथक् गिना जाय , याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की शाखाग्राहा क्षाण् पृथक् गिनी जायें तो स्रोतस् अपरिमितये हो जाते हैं । असरुपय भानने का कारण शाखा ग्राहात् है , यह नारों के मधुकोशा के उद्भरण से व्यष्ट होगा—ननु अर्पा वातिविनि बहुतचन विद्धु , द्वे उक्तवहौं इति सुधृतेनोक्तात् । नैदन् , तयोरैकतेनप्रातानयोगादिति । (तृष्णानिश्चन) । अब तेषों के प्रकार किस अधार पर बनाये जाते हैं , इसके सबधृत में चरक में लिखा है—यावन्तु पुरुषे मूर्तिमनो भाविद्विवात्ता बन्त एवं रिमन् स्रोतसा प्रकारविवेष । (स्रोतोविमान) । शारीर में प्राण , अञ्ज , जल , सत घातु , तीन मल , तीन दोष और क्षियों में शुक्र का प्रतिनिधि अंतर्व इन्हें सत्रह ही मूर्ति अन्त माव होते हैं । इनमें से विद्योप सर्ववृत्तीरज्यायी होने से इनके लिये इवतन्त्र स्रोतस् नहीं होते । इसलिये शारीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारी के अनुसार केवल चौदह होती है । चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस् वर्णन किये हैं । सुधृत में अधिग्रह , मज्जवह , और स्वेच्छवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है । इसके सबधृत में इवाण्याचार्य लिखते हैं—प्रतिमस्त्रवेदिवादिषु स्तोऽप्त सर्व पृथिविकाः , कथम् ? तत्त्विवद्वान्तां सकलानोद्देव मेदो मूल रसववहानां च तेषां सकलानां वै अस्तीनि सकलशारीरग्राहानि , न च सकलशारीरगतविद्वद्वाच्य साधादिवानिश्चकारन् , एव वैदेव इत्यानामपि केलं देवो मूलमिति पूर्वोलेव समानम् , अतः शब्दवन् वै तेषां मूलविद्वद्वाच्यानप्रिकाः । अनुभेदार्थं चेति शुल्काद्दर्श , वैभिकार इति । ‘अस्थन्-त्रै’ इति देव , वायविद्विनामात्रा प्राप्तोद्दृष्टिवाच्य वाच्य तेन सकलशारीरग्राहानामपि स्रोतसों काय विद्वियामप्रिकाः । शब्दवन्-त्राचिकारिति विनष्टदेवस्तिषेदु

विद्वत् वेदनाविदीपस्यानिश्चपत्वात् साधादिवानिश्चान्तर्विमि तेवामनपिकाः ॥ सुधृत में प्रत्येक प्रकार के स्रोत दो बहुताये गये हैं । चरक में ऐसा नहीं है । स्रोत व्याह है ?—(१) स्रोतसों के सम्बन्ध में चरक में लिख है—तदेव विभागा यात्रा पुरुषे नाम्नरेत्र स्रोतस्यविवितरेत्वे च वाप्यमित्यद्विनिति । स्रोतानि खलु परिणामापवदामानं च त्रनामित्वादीनि भवन्त्यव्यायामेन ॥ इस पर इलगण्डा लिखते हैं—भविनिवर्तनं इति सन्तानव्यायेन । प्रियामार्थ मानवमिति पूर्वपूर्वसिद्धिवानारियोगेनोत्तरोत्तरकादिस्त वाप्यमायमानानाम् । अयमायेन वचनान्तर्विमि यात्रान्तर्विमि वर्तित स्रोतानि , किन्तु देवानामाप्यायेनामित्वादीनि वर्तिति । एव मन्यने—रक्तात् वृद्धिं योविन्स्तरतया परिवान रसेन विनिनेन कर्त्या , स च स्थानान्तरतद्वयं रसध्य विरेत्वा संप्रेतके न गमनमायां स्रोतस्वदकमन्तरा भवति । अर्यं तत्तदिक्षणि—स्रोतःस्वार्थालिको हि भातून् । भायो रक्तादीनामुत्तरवाचुपेषक मा , पृथिव्यामो भवति , तक्षाप्युत्तरातुरेत्वं नाम्नरेत्र स्रोतो भवति , वश रुक्षं यथ स सर्वं शारीरे भावे , न चां-स्वेतासाऽन्यथातुरुपूर्वं तपशति , सर्वेषामाण्यो भिन्नदेवतावाऽप्त । न श्वामिनेन लक्ष्मा प्रियोदीश्वावये भवन्त्यमिति ॥ इसका अभिग्राय यह है कि स्रोतस घातुओं के रूपान्तर में याने शरीरात विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके बहन में भाग लेते हैं । स्रोतसों का यह प्रथम और सुख्य लड्ज़ है । (२) स्रोतों के वर्ण जिन भातूओं में होते हैं या जिनका बहन करते हैं उनके अनुवार्ता होता है , वे गोल चर्पें और सूचम होते हैं तथा पत्ते के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—वृषात्मुत्सवद्वयानि वृत्तस्वृलायनि च । स्रोतासि दीर्घिवाकुर्या प्राप्तमसदृशानि च । (३) स्रोतस घातुओं के समान या अवकाशातुरुक्ष शारीरगत अवयव है—ज्ञोतसि तिरा भय-यो रसायनो रस-वाहिन्यो नाड्यः प्राप्तो मार्गां शरीर विद्युत्वा सृष्टानासृष्टानि श्वान-यात्राया निकेतनावेति शरीरधरवकाशाना लक्ष्मानश्वर्णा नामानि भवति । (चरक) । (४) स्रोतसों से रस का ध्वज भी होता है—मरुत्यात्मोवासि । (चरक) । ध्वजानिति इस द्वे वैयाप्त व्यवहार । (चक्रपाणिग्रन्थ) । ये चार लक्षण प्रत्येक होते के लिये आवरणक नहीं हैं , किसी में एक किसी में दो लड्ज़ मिलते हैं , किसी में चारों मिलते हैं । इसलिये स्रोतसे से साधारणतया शरीरात नालियों (ducts , tubular structures) का व्योग होता है । योनिं घातुया मल की उत्पत्ति रस-रक्त से ही होती है , जब रक्त विशिष्ट घातु में या विशिष्ट मलों-पादक लंग में पहुँचता है । इस तरह सदर्भके अनुसार यहाँ पर स्रोतस का धर्य कर लेना चाहिए । इन अणों के सिवा आयुर्वेद में ऊपर तीसरे नम्रर में वसाये हुए सब पर्यायों के लिये भी स्रोतस् शब्द प्रयुक्त होता है ।

तत्र प्राणवहे द्वे , तयोर्मूल हृदयं रसगद्विन्यन्य वाच्याः , तत्र विद्युत्य ग्रोदानविनमनमाहन ध्वमण विपनानि मरणे या भवति ॥ १२ ॥

(प्राणवह स्रोतस्) इनमें प्राणवह होते हैं ; इनका मूल धृत्य और रसवाही ध्वमणीयों हैं । इनमें वेष्ट होने से आकोश ,

शरीर का छुकना, मूर्छा, चक्र, कंप अथवा मरु होती है॥१३॥

वक्तव्य——रसवाहिन्यश्व धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवा-हिन्यश्व धमन्यः' ऐसा भी पाठभेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii) का वोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतसों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिस्थः प्राणवपनः स्पृष्टा हृत्कलान्तरम् । कण्ठाद्विविनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् । पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ॥ (शार्ङ्गधर) । प्राणवह द्वे—प्राणवह स्रोतसों से दोनों तरफ के दो कुफकुसों का ग्रहण करना उचित है। इन कुफकुसों का मूल हृदय याने हृदय से कुफकुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arteries) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त कुफकुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर कुफकुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग कुफकुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—अतिसृष्टमतिवदं कुपितमल्पात्प-मभीष्टं वा सशब्दश्लमुच्छ्वसन्तद्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतासि प्रदु-षानीति विद्यत् ॥ इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतस् दूषित होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द (Wheezing) और पीड़ा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ (Dyspnea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतसों की हुई के कारण—ज्यात् संधारणाद् रीत्याद् व्यायामात् दूषितस्य च । प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतास्य-न्यैश्व दारणैः (कर्मसिः) ॥ (चरक) । स्थान, लक्षण और विकृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतसों से कुफकुस समझना ही उचित है। पं० हरिपन्नजी प्राणवह स्रोतसों (Pulmonary arteries (कुफकुस धमनियाँ) समझते । यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतसों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं।

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्व धमन्यः, तत्र विद्वस्याध्मान शूलान्नद्वेषो छुर्दिः पिपा-लाऽन्धं मरणं च ॥ १३ ॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आध्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नद्वेष, चमन, प्यास, चक्र अथवा मरण होता है॥१३॥

वक्तव्य——अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और छुदान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विद्याहारस्याधारः । (सूत्र २१)। अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और छुदान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतस् हुई के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् । अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकन्य च ॥ (चरक) । अन्नवह स्रोतसों के साथ आमाशय भी वैसे आ जाता है। आन्यं मरणं वा—आमाशय या छुदान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तन्द्रवता या मूर्छा या

हृदय से (छठे अध्याय के ३४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। छुदान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अन्यविधानमन्तर्य अरण्याद् ग्रहणी मता । नाभेष्वपि सा याग्निवलोपस्तम्भवृहिता । अपकर्व धारयत्पञ्च पक्वं सज्जति पार्श्वतः । दुवेलाग्निवला दुष्टा त्वाममेव विमुच्यति ॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित) ।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्वस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

(उदकवह स्रोतस्—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और क्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मरु होती है॥१४॥

वक्तव्य——उदकवहे द्वे—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परन्तु शरीरगत जल याने लस्, (Lymph) अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परियाकाद् परिणामेन दकोदरता सर्वेष मेव; अयान्युदरार्णं परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः । (दृश्यण, निदान अध्याय ७) । उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अम्बुदाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिवेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतासि दुष्यन्ति हि तद्वानि । (सुश्रुत, उदरनिदान) । इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वानि उदकवहानि । अवररस उपस्तेन्यायेन वहिनिःस्त्वोदरं जनयतीर्थ्यः । अर्धांधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्भुवाहिनीः । कुरुः***उदरम् ॥ रुद्ध्वाद्भु-मार्गाननिलः कक्ष जलमूर्च्छितः । वर्धयेत तेवाम्भु तत्थानादुदर-श्रिती ॥ (अर्धांगहृदय, उदरनिदान) । उदररोग में लसवाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध धात है—Asciites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. Practice of medicine by F. W. Price. ये उदकवहाही स्रोतस् दो होने पर भी अनेक वयों वतलाये गये हैं? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसवाहिनियाँ विशेष करके चाम और दक्षिण रसकूप्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु क्लोम च—रसकूप्या और लसवाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतसों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान सर्पूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीर-

(खोतस , उनके नाम और संख्या)— अब हसके पश्चात् खोतसों के मूलवेष के उद्भव घटताहो गये । जिनके ऊपर (शल्य शास्त्र का) अधिकार है वे प्राणवह, अज्ञवह, उद्कवह, रसवह, रक्तवह, मासवह, मेदवह, मूत्रवह, पुरोपवह, शुकवह और आर्तववह हैं । कई शास्त्रों के अनुमार खोतस बहुत होते हैं ; (परन्तु घन्वन्तरि कहते हैं कि खोतस इन्हें ही होते हैं) उनके विवेष (भेद) बहुत हैं ॥ १ ॥

खक्ष्य—मूलविद्लहाणम्— खोतसों के प्रमुख स्थान में वेष होने से बारप्रभ छोने लाले लड़ग । प्राणवहावात् श्लादि—यहाँ पर श्यारह भाव दिये हैं, जिनके बाहक खोत होते हैं । प्रत्येक भाव के दो खोतस् हैं, इस प्रकार वाईस खोतस् हो जाते हैं । चारकसंहिता में कुल तेहर भावों के खोतस् घटाये गये हैं जिनमें अस्थिवह, मरजवह और रुद्रवह खोतस अधिक हैं और आर्तववह खोतस नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के खोतस की संख्या सुधुत के समान हो न होकर बहुत होती है । ऐसा बहुनि—अपि वैके सौनसामेव समुद्रवं पुष्टविन्दन्ति सर्वगत्वात्, सर्वस्त्राच्च दोषप्रबोपष्टश्वामगामात् । न वैदेवतेवम्, शस्य हि स्तोशाति यन्त्र वहन्ति यच्चवाइन्ति, यत्र चारकसंहिता, सर्वं तद यत्तेष्य । अति बहुत्वात् लहु केचिर्पारिसंख्येयान्याच्चत्वे खोतसिं, परिस्तये यानि पुनरन्त्रये । (चारक, खोतोविमान) खोतसों की संख्या के सम्बन्ध में यह स्थान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के खोतस प्रत्येक खोतसों को पृथक् पृथक् गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के खोतसों की शास्त्रांगशास्त्राएं पृथक् गिनी जायें तो खोतस् अपरिसंख्येय हो जाते हैं । असलवेष मानने का कारण याकाम प्रशासार्थी हैं, यह नीचे के भासुकोश के उद्भरण से श्वष होगा—ननु यार्था वादिविति बहुत्वन विकद दे उद्भवे इति भ्रुत्वनेनोक्तात् । मैदग्, तयोरेवानेनप्रतानयोगादिति । (तृष्णानिन्दान) । अब खोतसों के प्रकार किस आधार पर बनाये जाते हैं, इसके सम्बन्ध में चारक में लिखा है—यवन्तु पुरुषे मूर्तिमनो भावशिद्येषाना वन्तु एवस्तिमन् खोतसों प्रभावदिवेषा । (खोतोविमान) । शरीर में प्राण, अङ्ग, जल, सतत धातु, तीन यज्ञ, तीन दोष और विषों में शुक का प्रतिनिधि आरंभ इतने संग्रह ही मूर्ति मन्त्र भाव होते हैं । इनमें से क्रियेप सर्वशरीरस्यामी होने से इनके लिए इवतन्त्र खोतस् नहीं होते । इमपिए शरीर में खोतसों की संख्या प्रकारी के अनुमार केरल चौहु होती है । चारक में चौहु प्रकार के खोतस् चारों दिये हैं । इसके संबन्ध में इश्वराणामाये लिखते हैं—भृत्यमस्त्रेऽसामितु सोऽपि स्त्र स्त्रव व्यवसिका, कथम् । तत्त्विवदानी सकृदान्वये ये भौति मूल व्यवदानी च तैरी सकृदान्वये भौतिकीनि सकृदान्वयानामि, न च सकृदान्वयानविद्वश्वय साध्यादिकामनिकायकात्, परं रैत्व इतानामिति केरल देवे मूलमिति पूर्वोन्देव सत्यानन्, च । शृण्यान्मै देवो मूलविद्लहाणमनिकार । अनुमेवार्थं वेगति कृष्णाऽहु, वैभविकार इनि । ‘इत्यत्र’ इति ये इव, शाविविकाया तु योगोद्दिव्यवचारं वायं तेन सहन क्षमगामामिति सोतसों शाविविकायामनिकारः । इश्वराणामितिरु निवृदेशितिरु

विदेशु वेदनाविद्येवरयानिष्ठृपत्वात् साध्यादिकामनिकायात् तेवामसंविकार । सुधुत में प्रत्येक प्रकार के खोतस् दो खताये गये हैं । चारक में ऐसा नहीं है । खोतस बया है ?—(१) खोतसों के सम्बन्ध में चारक में लिखा है—सर्वे हि यावा पुष्पे ना-उद्देष्य खोतस्यविनिवर्त्ते एव वाप्यविभूद्धिनि । खोतसि खतु परिणामप्रयामानानाम् च दूनामधिवादीनि भवन्त्यवन्त्येन ॥ इस पर डलहणाचार्य लिखते हैं—भृत्यिवर्त्ते इति स तात्र यायेन । परिज्ञामापय मानानामिति पूर्वैरसारिस्पत्वारित्वानेनोत्तराचारित्व-नामापयमानानाम् । अवनायेनैनि वचनात्र विधराणा यातुनाममि वाहीनि भवति खोतात्सि, लिन्दु देश तत्रापयेनामिवादीनि भवति । एव म ये—करक युद्धि शोणिकरन्तया परिणामा रेतेन विनिनेन कर्त्तव्या, स च स्थानान्तरस्तर्व रसस्व विपरीत सम मैलको न गमनमार्गं त्रोत सहुक्षम-तरा भवति । अय तत्वदिवि पृष्ठि—शोणिर्बालिको हि खातुना प्रायो रक्तादीनामुत्तरात्तुप्रोक्त या । परिणामो भवति लक्ष्मी-त्रुत्यात्तुप्रोक्त यान्तरेय खोतो भवति पश्च रक्ते-याय स सर्वं शारीरे भावे, न च यद्योन्साऽप्यात्मापुरुष तमवति, सर्वोपायाणां मिन्द्रेशात् । न द्युमितेन व्यतया प्रियंश्चैत्यतो वैचत्वमिति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि खोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शारीरगत विविष भावों की उत्पत्ति में तथा उनके बहन में भाव लेते हैं । खोतसों का यह प्रथम और मूल लड़ग है । (२) खोतसों के बारे जिन धातुओं में होते हैं या जिनका बहन करते हैं उनके अनुमार होता है, वे गोल चतुर्भुज और सूचम होते हैं तथा पर्याप्ते के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—पृष्ठात्तुप्रसरणानि वृत्तशूलायत्वनि च । खोतसि नीर्वाण्याकृया प्रायान्तरसूचानि च ॥ (चारक) । (३) खोतस भाली के समान या अवदाशुद्ध शरीरागत अवयव है—खोतात्सि सिरा धम्ये रसायनी धर्मा वाहि यो नादय पर्य नो भारी शारीरिकद्वयि सूक्ष्मात्तुप्रसरणि स्थाना याशया निकाशेनि शारीरात्तवसाधानो लहवालदृश्य यां नामानि भवन्ति । (चारक) । (४) खोतसों से रस का अवण भी होता है—लग्नात्तोर्गति । (चारक) । लग्नानिति रसादेव पृष्ठस्य लत्याद् । (चक्राणिंदत) । ये चार लडण प्रायेक खोत के लिए लावरश्यक नहीं हैं, किंतु मैं एक किसी में ही लड़ग मिलते हैं, किंतु मैं चारी मिलते हैं । इवलिपू खोतस्से साधारणतया शारीरागत नालियों (Utricula tubularia struc-) का बोध होता है । इसके सिवा खोतसे रसकादिनियों (Bod vesseles and capillaries) का भी साधारण बोध होता है । क्योंकि धातु या भूल की उपरित रस रक्ष से ही होती है, जब रस विशिष्ट धातु में या विशिष्ट भूल तापक अंग में पहुचता है । इस तरह संदर्भ में अनुसार यहाँ पर खोतस का अर्थ कर सेना चाहिए । इन अंगों के सिवा आयुर्वेद में उत्तर तीसरे भगवर में यात्राये दुष्प्रस वर्ष पर्यायी के लिए भी खोतस् शब्द प्रयुक्त होता है ।

तत्र प्राणवद्ये द्वे, तयोर्मूल द्वद्य रस गद्यन्यव्य तमन्यः, तत्र प्रिदद्य शोदानग्निमनमन्याद्वन्धमण वेपनानि मरण्यं या भवति ॥ १२ ॥

(प्राणवद खोतस्)— इनमें प्राणवद होते हैं; इनका शूल द्वद्य और रसवाही भवनितों हैं। इनमें वेष होने से आकोश,

शारीर का शुकना, मूर्ढ्दा, चाहर, कंप अथवा मृत्यु होती है ॥१२॥ वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवा-हिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठमेव है। इस पाठमेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii) का वोध होता है। यह पाठमेद अद्भ्या है, इससे प्राणवह स्रोतसों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिरथः प्राणपवनः स्पृष्टा श्वलमलान्तरम् । कण्ठादिविनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् । पीता चाम्यरपीयूर्धु पुनरायाति वेगतः ॥ (शार्दूलघर) । प्राणवह द्वे—प्राणवह स्रोतसों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arteries) तथा कण्ठनियिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के हारा आया हुवा रक्त-फुफ्फुस के भीतर केशिकारों में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं हारा हृदय में चला जाता है। शारीर में प्राणवायु का ग्रहण और बहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—प्रतिसृष्टमतिवद्यं कृपितमत्पाल्यमभीहयं वा सशब्दशुलमुच्छृंसरतं दृष्टा प्राणवहान्यस्य स्रोतासि प्रदृष्टानीति विद्यात् ॥ इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतस् दृष्टिपत्र होने पर सांस में सब प्रकार भी कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द (Wheezing) और पीड़ा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र (Dyspnoe, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतसों की हुई के कारण—स्वात् संधारणाद् रोक्षाद् व्यायामाद् द्युषितस्य च । प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतस्य-श्वासणः (कर्मभिः) ॥ (चरक) । स्थान, लक्षण और इक्ति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतसों से फुफ्फुस मक्षना ही उचित है। प० हरिप्रसारी प्राणवह स्रोतसों (Pulmonary arteries (फुफ्फुस धमनियाँ) समक्षते । यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतसों से दो श्वासप्राणलियाँ (Bronchii) समक्ष सकते हैं।

अन्नवह स्रोतस्— अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आमाशय (पेट का फूलना), शूल, अन्नहृष्ट, वमन, प्यास, चक्र अथवा मरण होता है ॥ १३ ॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आमाशय (पेट का फूलना), शूल, अन्नहृष्ट, वमन, प्यास, चक्र अथवा मरण होता है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और ज्ञानान्त्र सम्हार सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्याधारः । (सूत्र २१) । अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का बहन करती है और ज्ञानान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का बहन करता है। अन्नवह स्रोतस् हुई के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् । अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वै उप्यन्ति पावकस्य च ॥ (चरक) । अन्नवह स्रोतसों के साथ आमाशय भी वैसे आ जाता है। आन्यं मरणं वा—आमाशय या शुद्धान्त्र के ऊपर आवात होने से स्तब्धता या मूर्ढ्दा या

हक्केद से (हुठे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये उल्लंघन उत्पन्न हो सकते हैं। ज्ञानान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संवंध अन्न से अधिक रहता है—अग्न्यधिष्ठानसन्नत्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नाभेस्परि सा द्विनिवलोपस्तम्भवृद्धिता । अपत्वं धारयत्पन्नं पत्तं सूजति पार्श्वतः । दुवेलानिवला दुष्टा त्वामेव विमुश्वति ॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित) ।

उदकवह हो, तयोर्मूलं तालु झोम च, तत्र विद्वस्य पिणासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

(उदकवह स्रोतस्—) उदकवह हो है, उनका मूल तालु और झोम है। उनका वेध होने से प्यास भौंर मृत्यु होती है ॥ १४ ॥

वक्तव्य—उदकवह हो—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परन्तु शरीरगत जल याने लस (Lymph) अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वेष मेव; अ-यानुवृद्धराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः । (हृदहण, निदान अन्याय ७) । उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अमृतावाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिंजलं शीतलमाशु तस्य स्रोतासि दुष्यन्ति ति तदहानि । (सुश्रुत, उदरनिदान) । इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तदहानि उदकवहानि । अन्नरस उपस्नेहन्यायेन वहिनिःस्योदरं जनयतीत्यर्थः । ऊर्ध्वाधो धावो रुद्ध्वा वाहिनीरम्भुवाहिनीः । कुरुः***उदरम् ॥ रुद्ध्वाऽम्भु-मार्गाननिलः कफश जलमूर्च्छितः । वर्षयेता तदेवाम्भु तत्त्वानादुदरा-ग्रिती ॥ (अट्टांगहृदय, उदरनिदान) । उदररोग में लसवाहिनियों (Lymphatics) में खरावी होती है। यह सिद्ध घात है—Ascites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. Practice of medicine by F. W. Price. ये उदकवहावी स्रोतस् दो होने पर भी अनेक वर्षों वतलाये गये हैं । इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसवाहिनियों विशेष करके वाम और दक्षिण रसकूप्ते (Lymphatic vessels, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु झोम च—रसकूल्या और लसवाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतसों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान सम्पूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है।

गत जल के साथ होता है तथा एषा का सम्बन्ध शरीरगत जल के साथ होता है, ये दोनों घाते निविवाद हैं। उदरोग में अंतुवाही घोतसों की कुप्री होने से उदरगुहा में जल इकट्ठा होता है और उस समय एषा भी मालम होती है—*सोऽऽु दृष्ट इति—पुष्प वक्षोदरकमूर्चिदतः । वर्षयैव तदेवातु स्वस्य-मादुरायाम् ॥ तत्य रूपाणि—मनसारुद्धा पिपासा ॥* (चरक, उदरविकिता)। पाकार्य वैषय में जलोदर के लड्जों में व्यापि पिपासा का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता तथापि जलोदर उपच होने के समय पिपासा उपच हो सकती है। इसका उदयेष्व अप्रत्यष्टता हृष्टं क्रेष्ट अपनी किताय (Differential diagnosis) में करते हैं—*Cases of extreme thirst may be subdivided into two main groups, namely, those with and those without polyuria.* To the other group belong such conditions as excessive loss of fluid into serous membranes: उदरवह घोतसों का सम्बन्ध शरीरगत जलोदर के साथ होता है। इसलिए उनको तुष्टि में पिपासा की दरपति पक्ष इवामाविक परिणाम है। चरक में केवल पिपासा ही लड्ज घताया है—जिहातलोड्डक्षण्डोमशोर्वं पिपासा चातिप्रदृढ़ा द्वौदरकवान्द्यस्य लोपात्ति प्रदुष्टानीनि विद्याम्। मनुष्यों को व्यास की संरेना केवल गले के आस-पास के भाग में ही होती है, अन्यथ नहीं होती। इसलिए पिपासा के समय इमेशा गला, तालु इत्यादि मुखगत प्रथम्हों का उल्लेख होता है—*Third is a sensation referred to the pharyngeal region rather than to the stomach. Halliwell's physiology उदरवह घोतसों का सम्बन्ध जल के साथ, जल का संरेव पिपासा के साप और पिपासा का सम्बन्ध गले के या तालु के साप होता है। इस पिचाप्राणाणी के आधार पर उदरवह घोतसों का सम्बन्ध, याने पर्याप्त से मूल तालु में माना गया होगा, ऐसा मान्य वहता है। पिपासा—*इसको उरपति के सम्बन्ध में पाकार्य परिवर्तों का पहल कथन है कि शरीरगत जलोदर कम होने से आला तथा मुख्य अवयव प्रभियों से खाव निकलना बन्द होकर तालु, गला इत्यादि दृष्ट हो जाते हैं और इस दृष्टकाते के कारण व्यास मान्य होती है—*The theory postulates that the salivary and buccal glands, like other tissues, become dehydrated and consequently secrete less liquid or none at all. When insufficient fluid is provided to moisten the mucous membranes continually, the local discomfort provoked is interpreted as thirst. Physiology in Health and Disease by Wiggers चारकसंहिता में भी पिपासा के सम्बन्ध में पर्याप्त से यही उपरपति वर्णन की गई है—रिता नितो दृष्टो मीवात् भास्य योरयः। इसादिवीय नाभीविह-मूर्चाराम् योरेष्ट। नंतरेष्व नृणां देवे क्रुञ्णास्त्रूणां मारान्वादेषी॥ (मृगाविकितम्)। संसेप में उदरवह घोतसों का पिपासा से भीर पिपासा का तालु से यो व्यासविक सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध के कारण उदरवह घोतस तालुप्रब याने गये हैं। स्वप्नवारी की हृष्टि से तालु और उदरवह घोतसों में कोई व्यास सम्बन्ध नहीं होता। उदो मरण य—वही पर अवि-*

करत उदरस्य उदरवह घोतस अभिप्रेत है, इसलिए उदर पर आघात होने से मृत्यु भी शीघ्र हा सकती है।

रसवह है द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यस्य व्याप्त्याः, तत्र पिदस्य शोयः प्राणवद्विद्वय मर्त्यं तिलिङ्गानि च ॥ १५ ॥

(रसवह घोतस्—) रसवह दो हैं; उनका मूल हृदय और रसवह धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेष्ट होने से शोष, प्राणवह (घोतोमूल) वेष्ट के समान गृथु तथा (अन्य) लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

व्याप्त्य—रसवह है—रसवह घोतसों का मूल हृदय और वौचीस या दस रसवाही पाने आधुनिक कल्पना के अनुसार रसवाही धमनियाँ हैं। इसलिए रसवह घोतसी से शारीरगत रसवह घोटो घोटी नालियाँ, जो आधुनिक परिमाण में केशिकाएँ (Capillaries) कहलाती हैं, समझना चाहिए। प्राणवह घोतसों का भी वही मूल वत्ताया गया है। दोनों में कई आधुनिक कल्पना के अनुसार निम्न प्रकार से कर सकते हैं। शारीर में रक्तपरिवर्तन दो विभागों में बाटा गया है—लघुपरिवर्तन (Lesser circulation) और दीर्घ परिवर्तन (Greater circulation), इनमें लघु का सम्बन्ध प्राणवायु वहन के साथ होकर कुप्रकृत में होता है और दीर्घ का सम्बन्ध संग्रूह शरीर के पोषण के साथ होकर कुप्रकृतेलर अन्य हिस्से में होता है। इसलिए प्राणवह घोतसों से कुप्रकृत सायत केशिकाएँ (Pulmonary capillaries) और रसवह घोतसों से शारीरिक केशिकाएँ (Systemic capillaries) समझ सकते हैं। प्राणवहविद्वय—दोनों का मूल हृदय होने से दोनों में भी वेष्ट के लड्ज पक्ष से होते हैं, तथा भर्माओंत के कारण गृथु भी हो सकती है।

रक्तपृष्ठे द्वे, तयोर्मूलं यगृत्प्लोदानो रक्तय हिन्द्यस्य धमन्याः, तत्र पिदस्य श्यावाहृता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेप्रता च ॥ १६ ॥

(रक्तवह घोतस्—) रक्तवह दो हैं; उनका मूल पृष्ठ, झीठा और रक्तपृष्ठी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेष्ट होने से शारीर का कालापन, उत्तर, दाह, पाण्डुरक्तांता, रक्तवय की अधिकता और भाँतीं इतित होती है ॥ १६ ॥

व्याप्त्य—रक्तवह घोतस—आधुनेद्वे में रसोविति का व्याप्त व्यक्त और झीठा माना गया है। इसलिए रक्तवह घोतसों का मूल पृष्ठ, झीठा और तत्तत धमनियाँ मात्री गई हैं। रक्तवह घोतसों से, अतः, पृष्ठ झीठागत केशिकाएँ मानना उचित है। आधुनिक कल्पना के अनुसार व्याप्तवह रक्तपरिवर्तन (Portal circulation) व्याप्तवह माना जाता है और उसी के अनुसार रक्तवह घोतसों की काटकेशिकाएँ (Portal capillaries) कह सकते हैं। तत्र पिदस्य—पृष्ठ और झीठा के ऊपर वेष्ट होने से दोनों ही विद्युतेः (Rop १००) होने का दर रहता है। विद्युत होने पर प्रायः गृथु हो जाती है। पदि वेष्ट कुप्रकृत जारीता में हो तो गृथु नहीं होती। इवादाहः—शारीर का वेदर्पण (cynoecosis)—दाहु एवं दूर्देवंतः रसाद्वितः ददादीपः ॥ (चरक)। दाहः—जलन, यह पीड़ा का उपलक्षन है। शोणितागमनम्—रक्तयाविकितः। पहुँच रक्तवय शारीर के बाहर म होकर व्यक्त झीठा के भीतर

होता है जा उदरगुहा के भीतर होता है । रक्तनेत्रता—रक्त का अर्थ यहाँ पर लाल न करके रजित (Coloured) करना उचित है । प्रयः अंतर्खो में कुछ पीलापन आ जाता है । यह पीलापन शारीरगत रक्तरोपण के समय उत्पन्न हुई कामला का परिणाम है । नीचे पाश्चात्य शाल्यतन्त्र से यकृत् वेध के लक्षण दिये जाते हैं, जो इन लक्षणों के साथ बहुत हुँक मिलते हैं—The chief symptoms are shook, pain and tenderness and the evidences of loss of blood. The process is usually attended by certain amount of jaundice. Well-marked pyrexia may follow the initial shock. Rose and Carless manual of surgery वेध के बदले यदि चरक के अनुसार, ये रक्तवह स्रोतोदृष्टि के लक्षण माने जायें, तब भी ये लक्षण यकृत् प्लीहा की खराकी जिन रोगों में हुआ करती है (जैसे—कालाजार, विषम ऊर, विवध पाण्डुरोग, कामला) उन रोगों के लक्षणों के साथ बहुत मिलते हैं ।

मांसवह द्वे, तयोर्मूलं स्नायुः वचं रक्तवहाभ्यधमन्यः । तत्र विद्वस्य श्वयथुर्मोसशोपः सिराग्रन्थयो मरणं च ॥ १७ ॥

(मांसवह स्रोतस्—) मांसवह दो हैं । उनका मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवहाही धमनियां हैं । वहाँ पर वेध होने से सूजन, मांसशोप, सिराग्रन्थयो मरणं च ॥ १७ ॥

वक्तव्य—मांसवह स्रोतसों से पेशीगत केशिकाएँ (muscular capillaries) समझ सकते हैं । तत्र विद्वस्य—इनका मूल त्वचा और स्नायु होने के कारण त्वचा और स्नायु पर चोट होने के लक्षण इसमें मिलते हैं । मरणं च—मामूली त्वचा पर वेध होने से मृत्यु होने का कारण नहीं है, परन्तु सिर या ग्रीवा की त्वचा में चोट लगाने से और वह घण दृष्टिपत होने से उपत्वचाशोथ (Cellulitis), के कारण मृत्यु हो सकती है ।

मेदोवह द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्तो च, तत्र विद्वस्य स्वेदागमनं स्त्रियाङ्गता तालुशोपः स्थुलशोफता विपासा च ॥ १८ ॥

(मेदोवह स्रोतस्—) मेदोवह दो हैं । उनका मूल कटी और वृक्त है । वहाँ पर वेध होने से पसीना आना, झड़ों की स्निग्धता, तालु की खुशकी, स्थूल सूजन और प्यास होती है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—तयोर्मूलं कटी वृक्तो च—चरक में मेदोवह स्रोतसों का मूल वृक्त और वपावहन बतलाया है—मेदोवहाना स्रोतसों वृक्ती मूल वपावहनं च ॥ (स्रोतोविमान) । कटी (नितग्न प्रदेश) और वपा इन दोनों स्थानों में मेदोवृद्धि अधिक हुआ करती है—वपावहनं वपा उदरस्या लिंगवर्तिका यमाहुर्जनात्तेलवर्तिकेति । (चक्रपाणिदृक्त, स्नोतोविमान) । वपावहनं मेदःस्वानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् । (चक्रपाणिदृक्त, शारीर ७) । वपानाम (Great omentum) उदर्यायाः कात्याः स्तरचतुर्यासमको भाग आमनायप्रसिद्धो येन स्थूलजवनिवारुपेण पुररत्नात् संच्छायनेऽन्वाणिः । (प्रत्यक्षारीर) । वृक्तों का कार्य—आयुर्वेद में वृक्तों का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है—पंचदश कोषाङ्गनि प्लीहा च वृक्तो च वस्तिश । यानि

मातृतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यात्यामः । वृक्तों च वस्तिश वृक्तजार्या विद्रध्या पृष्ठकटियहः । (चरक) । रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्तोः वृक्तोः पार्श्वसंकोचः । (सुश्रृत) । वृक्तो पुष्टिकरी प्रोक्तो जठरस्थस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर्मधर्म) । वृक्तो कुषिगोलकी, तौ तु रक्तप्रसादसम्भवी, अतएव जठरस्थस्य मेदसः पुष्टिकरी कथितौ, तत्सम्भवात् । (शार्ङ्गधर्मदीपिका) । इन सब उल्लेखों में कहीं वार वस्ति और घृक, इनका साहचर्य होने पर भी कहीं भी घृकों का मूत्रोत्पत्ति के साथ सम्बन्ध नहीं यताया गया है, परन्तु मेदोत्पत्ति के साथ यताया गया है । उदरगुहा में आमाशय, चुदान्त्र, स्थूलान्त्र, मलाशय, यकृत्, प्लीहा, मूत्राशय, गर्भाशय और घृक ये प्रधान अवयव होते हैं । इस सब अवयवों के कार्यं आयुर्वेद में वर्णित हैं । वस्ति और घृकों के कार्यों को छोड़कर शेष अवयवों के कार्यं आयुर्विक वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक है । मूत्ररोगों का एकमात्र अधिष्ठान वस्ति बतलाया गया है—सर्वेषां मूत्ररोगाणामधिष्ठानं वस्तिः । (आषांगसंग्रह) । और मेदोत्पत्ति का अधिष्ठान घृक बतलाया गया है—वृक्तो पुष्टिकरी प्रोक्तो जठरस्थस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर्म) । मूत्र रोगों के लिए वस्ति का जो जो अधिष्ठान बतलाया गया है, उसमें कुछ तथ्य है परन्तु जो घृकों का मेदोत्पत्ति में संबंध बतलाया गया है, उसमें उतना भी तथ्य नहीं है । यह द्वोष कैसे उत्पन्न हुआ? इसको जानने के लिए मृतसंशोधन की ओर ध्यान देना चाहिए । मृत मनुष्य की उदरगुहा खोलने पर उसमें कहीं अवयव और कहीं पदार्थ मिलते हैं । वस्ति में मूत्र मिलता है, जिससे वस्ति का और मूत्र का संबंध निश्चित हो जाता है । मृतशरीर में घृकों में न मूत्र मिलता है, न मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने का कोई मोटा साधन उपलब्ध रहता है । घृक से निकलने वाली गदीनी (Ureter) वस्ति तक जाती है, परन्तु वह बहुत पतलों होने के कारण स्नायुसूत्रों के समान समझी जा सकती है । इसलिए, केवल मृतशरीरसंशोधन से घृकों का संबंध मूत्रोत्पत्ति के साथ जोड़ना असंभव है । वस्ति का संबंध मूत्र के साथ जोड़ना आसान है और इसी कारण से वस्ति मूत्ररोगों का प्रधान स्थान माना गया है । अब घृकों का मेदोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने के कारणों का विवार करना है । उदरगुहा में वपा में बहुत मेद मिलता है । इसके सिवाय घृकों के आसपास और घृकों के ऊपर भी मेद होता है—The kidneys are situated in the posterior part of the abdomen, one on either side of the vertebral column, behind the peritoneum, and surrounded by a mass of fat and loose areolar tissue. The kidney and its vessels are imbedded in a mass of fatty tissue, termed the adipose capsule. Behind the renal fascia is a considerable quantity of fat which constitutes the paranephric body. Grey's Anatomy. जैसे, अज्ञ और आमाशय, मल और मलाशय, मूत्र और मूत्राशय इनका नित्यसाहचर्य देखकर इनका आपस में कार्यकारण या आश्रयात्रियसंबंध माना गया है, वेसे ही घृकों के ऊपर और आसपास मेद (घृक योस होने से

इनके भीतर मेद नहीं हो सकता) का साहचर्य देखकर शोनों का आपस। मैं जनक-जन्य भाव माना गया है, ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसी अवस्था में मेदवह शोतसों का टीक पर्याय बदाना कठिन है। तथापि यदि पर्याय देना हो तो *Capsulae of the perinephric tissues and omentum* से सकते हैं।

मूत्रघृह द्वे, तयोर्मूलं घस्तिमेंद्रुं च । तथ विद्ध-स्थानद्वयस्तिता मूत्रशिरोयः स्तन्यमेंद्रुं च ॥ १६ ॥

(मूत्रवह शोतस—) मूत्रवह दो हैं, उनका मूल घस्ति और मेंद्रु है। वहाँ पर वेष्ठ होने से वर्तित का फूलना, मूत्र का एक जाना और शिरन की सफ्टी होती है ॥ १६ ॥

बक्षय—मूत्रवह स्तोत्र— आतुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कथना पढ़ है कि आनन्द में ही मूत्र पृथक् होकर आनन्द से असत्य सूखम् शोतसों द्वारा घस्ति में आता है। अर्थात् इन शोतसों का ऊपर का सिरा आनन्द से और नीचे का वर्तित से सम्बन्धित रहता है। आनन्द में मलावर कला से पृष्ठक् बुझा तरल मणि और समान बायु के कार्य से इन शोतसों में बहते समय पूर्णतया मूत्र में परिवर्तित होकर घस्ति में आता है—३काशयगतास्त्र नादयो मूत्रवदानु याः। तपदनिं सदा मूत्र सर्वतः सागरं यथा ॥ सुखस्वाक्षीपत्तस्यते मुख व्यासां सहस्राण् । नाडीभिरपनीतस्य शूक्रस्वामाद्यानवराद् ॥ (मुखुत, निदान ३) । इसका बक्षय भी देखो। अपोमुखो ऽपि वित्तिः मूत्रवाही चिरागुरुः । पार्थेन्म् पूर्वते द्वारम् । इयम्भूमानेनात्मद् ॥ (आटोगद्वय) । तिराभिस्त्वल नीठ बसी मूत्रवाहान्युवाप् । (शार्दुर्वर) । इस विषय के विशेष विवरण के लिए प्रायकार की Ayurvedic conception about uride fumatis: n नामक पुस्तक देखो। प्रायत्र शारीर कार्य की इसी से आतुरवह भी यदि मूत्रोत्पत्ति की कथना टीक नहीं है। इसलिए मूत्रवह शोतसों का कोई टीक अंग्रेजी पर्याय नहा दिया जा सकता। यदि आपुनिक शारीरकार्य विज्ञान के भव्युमार इनका अर्थ करता हो तो मूत्रवह शोतसों से बक्षय मूत्रोत्पत्ति (Ranai, रानाय) याने पृष्ठान्तरीन मूत्रोत्पादक नाडिर्या समान सकते हैं। और यदि शास्ति का साधक टीक इतना हो तो तात्पर्य भी इसी इसी से गायीनीतुक् बुद् (Kidney's wills, predators) इनसे समान सकते हैं। द्वारांश्च तथा कुञ्ज अन्य दोग यूवहे हैं से गायीनी (Urinator) समान होते हैं—पृष्ठे दे इका प्रक्षेत्र दह। परन्तु यह अर्थ टीक नहीं है, इयोडि चरक में मूत्रवाही शोतसों की दुहि के द्वारा यिहैं तथा उनकी विलक्षण मूत्रहरू के समान बताई है—३विदोऽस्त्रप्रतिक्षेपेत्ता मूत्रनियाद् । मूत्र-वाहान् ४५८। दोग्यानियाद् ४ ॥ मूत्राद्येत्ताना विलक्षण नीत्रप्रतिक्षेपी ॥ आयुर्वेद में वा पाकार्य वेष्ठ में दृढ़विनियोग का कोई ऐसा रोग नहीं है। इसलिए यदि गायीनी अर्थे कामा हो इच्छुक गायीनी कामा उभित है। ४५८ इसका उपर्युक्त मूल में वर्णना भी इसी से हिता गया है।

पुरीपरदे द्वे, तयोर्मूलं पहाड़यो गुरुं च, तथ यित्तमनादां दुर्गम्यता प्रयित्तमन्तता च ॥ २० ॥

(इतिर्द योनम्—) पुरीपर हो जै, उनका मूल

पक्षाशय और गुद है। वहाँ पर वेष्ठ होने से उपर का फूलना, (मणि में) दुर्गम्य और गर्भ उपर द्वारा होती है ॥ २० ॥

बक्षय—पुरीपरह शोतस् से उण्डक और स्थूलान्त्र का प्रहण करना चाहिए । तब विद्धय—पक्षाशय या गुद के ऊपर वेष्ठ होने से मलावरोध या प्रवाहिका उपरह हो सकती है। मलावरोध होने पर वेष्ठ फूलना, दुर्गम्य और मणि अधिक देर तक रहने से गांठदार होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ग्रन्थिअन्त्रा—ग्रन्थिमलान्त्रा, मणि की गरित उत्पन्न होने की विधि । चरक में साफ लिखा है—कृष्णेणा लावर सुशृद्धशुलमतिद्वयमविषयमविदर्शु चोपविजित द्वा पुरीपरहाम्यत्वं शोतसिं प्रदृष्टानाति विधाप ॥

शुक्रवह द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च । तत्र सिद्धस्य द्विवितां चिरात् प्रसेको रत्नशुक्रता च ॥ २१ ॥

(शुक्रवह शोतस—) शुक्रवह हो हैं, उनका मूल रत्न और वृषण हैं। वहाँ पर वेष्ठ होने से धंडता, देर से बीर्य स्तलन और इच्छुक भीर्य (का निकलना ये लक्षण) होते हैं ॥ २१ ॥

बक्षय—शुक्रवह दे—शुक्रवह दो नालियों से Ductus deferens का प्रहण करना चाहिए और उनसे जो अनेक शोतस आगे वृषण की ओर होते हैं, उनसे Ductus efferentes and testiculus का प्रहण करना चाहिए । वृषणप्रयित्र में उपरह बुझा शुक्र इनके द्वारा बाहर आता है । दोरवा—बीर्य है ज निकलने से यह वृषदता उत्पन्न होती है । स्तनो—बाहरतव में वृष्ठे पर स्तनों का कोई सम्बन्ध नहीं है । परन्तु शुक्रोत्पत्ति और स्तन्योत्पत्ति का मानसिक और शारीरिक अर्थी ही इसी द्वारा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है (निदान के १० में अध्याय के ११ १२ १३ शुक्र और उनका बक्षय देखो) इसलिए वहाँ पर उसका उपर्युक्त किया गया है । यह एक रक्तस्त्र वाय है, विशेषी पूर्ति हस प्रकार से कर सकते हैं—उत्त-पृष्ठे दे, तयोर्मूल स्तनों । तत्र विद्यायाम्यता, विद्युत् प्रछेदो रक्तस्त्र वाय । इत्यवह शोतसों से Tubuli secretori of mamma समझ सकते हैं ।

आर्तवदे द्वे, तयोर्मूलं पर्माशय आर्तवदायाद्य-द्वय व्यमन्यः । तत्र विद्याया व्यमन्यात्वं मैथुनार्दिष्ट्य-व्यमार्तवद्यनामाद्य ॥ २२ ॥

(आर्तवद शोतस—) आर्तवद शोतस् दो हैं, उनका मूल पर्माशय भ्रो आर्तवदायी व्यमन्याद्य हैं। वहाँ पर वेष्ठ होने से व्यमन्यता, मैथुन व्यमन्य को सहन न करना और आत्मवासा होता है ॥ २२ ॥

बक्षय—शार्दुर्वह शोतस्—आर्तवद शोतस् के दो अर्थ पृष्ठे अस्त्राय के प्रारम्भ में बातें यहैं है—आर्तवदोषित (Menstrual blood), और व्योतीर्थ (Ovary), इन ही अर्थों से अनुगम आर्तवद शोतस् के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) आर्तवदायित्वाद् बातें यहैं शोतस् Blood vessels and capillaries of the ovaries, (२) व्योतीर्थाद् व्योतीर्थ Fallopian tubes । व० ५८ित्तमनी तथा काम्य वृष्ण दोग आर्तवद प्रातर, का दूसरा अर्थ होते हैं, परंतु यह अर्थी नहीं है । इसका काम्य यह है कि इन आर्तवद शोतसों का संरप्त व्योतीर्थ बातें साप भ होकर आर्तवद व्यमन्य के गाय होता है । इसका रात्र विद्युत् व्यमन्य अस्त्राय

के निम्न वचन के 'दृश्यते' शब्द से मालूम होता है—गृहीतगर्भाणार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवृद्ध्यन्ते गर्भेण तस्माद् गृहीतगर्भाणार्तवं न दृश्यते ॥ पीछे २३८ सूत्र का वक्तव्य भी देखो । आर्तवसाव के समय गर्भाशय की श्लेष्मल कला के नीचे रक्तवाहिनियाँ (आयुर्वैदिक परिभाषा के अनुसार आर्तव स्रोतस्) बहुत विस्फारित होती हैं और श्लेष्मल कला को तोड़कर मासिक चाव के समय आर्तवशोणित को उत्सर्जित करती हैं । हन आर्तव स्रोतसों के मार्ग गर्भाधान होने पर श्लेष्मल कला की मोटाई काफी बढ़ जाने से बन्द हो जाते हैं, जिससे गर्भवती छियों में आर्तव दर्शन नहीं होता—The uterine mucous membrane undergoes extensive changes as a result of pregnancy. The mucosa as a whole grows to four or five times its former thickness. *Introduction to sexual Physiology by Marshall.* चरक में हन आर्तववह स्रोतसों (रजोवह) का सम्बन्ध प्रदर्श में वर्णन किया है—रक्तं प्रमाणमुक्त्य गर्भाशयगतः सिराः । रजोवहः समाप्तित्य रक्तमादाय तद्वजः ॥ यत्प्राद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानवा । तस्मादसुग्रदं प्रादुरेत्तन्त्रविशारदाः ॥ (चिकित्सा) । इससे यह स्पष्ट होगा कि आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशयगत रक्तवाहिनियों का ग्रहण उचित है, क्योंकि गर्भाशयगत रक्त ही आर्तव बनता है—तथा रक्तमेव च छीणां मासे मासे गर्भकोषमनुप्राय त्र्यं प्रवर्तमानमातृवसित्याहुः ॥ (अष्टांगसंग्रह, शारीर १) । प० गंगाधर शास्त्री आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशय की श्लेष्मल कला (Uterine mucosa) समझते हैं । परन्तु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्लेष्मल कला आर्तव का बहन नहीं करती है, परन्तु स्वयं आर्तव में ग्राविहित हो जाती है और गर्भाधान होने पर आर्तववह स्रोतसों का मार्ग अवरुद्ध करती है । आर्तववाही धमनियाँ—Uterine and ovarian arteries । तत्र विद्यायां वन्ध्यात्म—गर्भोत्पादन के असामर्थ्य को वन्ध्यात्म (Sterility) कहते हैं । पुरुषों की वन्ध्यता का विवरण पीछे २ अध्याय के २ सूत्र में किया गया है । छियों के वन्ध्यात्म का विवरण यहाँ पर दिया जाता है । हारीतसंहिता में छियों के वन्ध्यात्म के तीन प्रधान कारण विभाग दिये हैं—वन्ध्या स्त्राद पट्प्रकारेण वाल्येनाप्यथवा पुनः । गर्भकोषस्य भजादा, तथा धातुक्षयादपि । जायते न च गर्भस्य सम्भूतिश्च कराचन ॥ (३-४८-७) । (१) वाल्येन—वाल्यावस्था में गर्भाशयादि अंगों की जो स्थिति होती है वैसी ही स्थिति युवावस्था में होने से । इस विभाग में Infontile uterus, cochleate uterus तथा अन्य सहज (Congenital) विकृतियों का समावेश कर सकते हैं । (२) गर्भकोषभद्र—इसमें जन्मोत्तर (Acquired) गर्भाशय में होने वाले निज या आगन्तुक विकारों का समावेश कर सकते हैं । (३) धातुक्षय—इसमें सार्वदैहिक विकारों (General conditions) का समावेश कर सकते हैं, जिनके कारण शरीरगत धातुओं का ज्यय या दौर्वल्य बुआ करता है—जैसे, उचित आहार का न मिलना, रक्तज्य, 'पाण्डुरोग, घृद्वावस्था इत्यादि । यहाँ पर वन्ध्यात्म का जो कारण दिया है वह इसरे विभाग में आता है । वन्ध्यता के निम्न चार महात्म के शकार हारीतसंहिता में वहाँ पर दिये हैं—

काकवन्ध्या भवेच्चैका, अनपत्या द्वितीयका । गर्भसावी उत्तीयाकथिता मुनिसत्तमैः । मृतवत्सा चतुर्थी न्यात ॥ (१) काकवन्ध्या—जिसको एक वार गर्भधारणा हुई है और पश्चात् जो वन्ध्या हो गई है, वह काकवन्ध्या कहलाती है । काकवन्ध्या च या नारी मृतापत्या च या भवेत् । वहपत्या जीववस्ता सा भवेत्तात्र संशयः ॥ (पद्मपुराण) । काकवन्ध्यता को एकगर्भवन्ध्यता (One child sterility) कहते हैं । इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारणा के समय स्त्री के शरीर में कोई खराबी न होने पर भी प्रसूति के समय या पश्चात् गर्भाशय में उपसर्ग (Infection) पहुँचने के कारण गर्भाशय या श्रीजवाहिनी (Fallopian tubes) में खराबी होने से दूसरी वार गर्भधारणा नहीं होती । औपसर्गिक पूर्यमेह या सोजाक (Gonorrhoea) और राजदमा (T. B.) इस प्रकार की वन्ध्यता के प्रधान कारणों की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रसूति के समय मूलाधार पीठ का विदीर्ण होना (Laceration of perineum) या गर्भाशय ग्रीवा का विदीर्ण होना (Laceration of cervix uteri) और वैसा ही रहना या चोट लगने के कारण इनका विदीर्ण होना और पश्चात् इनका द्वारा पूर्णतया बन्द हो जाना Acquired atresia) ये प्रधान होते हैं । (२) अनपत्य—इसका अर्थ यद्यपि जीवित अपव्यवहित है ऐसा भी हो सकता है तथापि यहाँ पर 'जिसको गर्भधारणा कदापि नहीं हुई है, ऐसी स्त्री' यह अधिक प्रशस्त है । इस प्रकार को पूर्ण वन्ध्यता (Absolute sterility) कहते हैं । इसके कारण प्रायः सहज होते हैं । आगन्तुक कारणों में वेधजन्य गर्भाशय ग्रीवा या योनिसकोच प्रधान कारण हैं । (३) गर्भसावी—जिस स्त्री को गर्भधारणा होती है, परन्तु तीन चार महीने में गर्भ का चाव या पात प्रस्तेक समय होता है, वह गर्भसावी कहलाती है । इसके कारण कुछ सहज और कुछ जन्मोत्तर होते हैं—जैसे, योनिगर्भाशय के अन्दरःस्तर के विकार (Endometritis, Vaginitis etc.) तथा गर्भाशय के स्थानापसरण (Displacements) तथा उनके स्वाभाविक आकार की विकृति—जैसे, ग्रीवा और शारीर के वीच में अधिक वक्ता होना (Acute Flexions) इत्यादि । (४) मृतवत्सा जो गर्भधारणा होने के सातवें महीने के (३८वें सप्ताह के) पश्चात् प्रत्येक समय मृतगर्भ को जन्म देती है, वह मृतवत्स या मृतगर्भ (Still born) कहलाता है और ऐसे जन्मोत्तर के मृतजन्म (Still birth) कहते हैं । गर्भसावी के जो कारण होते हैं, वे इसके भी होते हैं । इनके सिवा कुछ अज्ञात कारण भी हो सकते हैं । मैयुनासहित्यम्—मैयुन सहन करने का असामर्थ्य । यह असामर्थ्य मैयुन कर्म के समय होने वाली पीड़ा से उत्पन्न होता है । इस अवस्था को मैयुनकृद्ध (Dysprenuria) कहते हैं । यहाँ पर वेध के कारण योनिगर्भाशय तथा उनके आस-आस के भाग पर धाव या ब्रण होने से मैयुन में असहित्यम् उत्पन्न होती है । इस आगन्तुक कारण के बिना

गुद, वस्ति, मलाशय, थोनि, गर्माशय, यीज्ज्वोप हृनके विकारों में विशेष करके शोषणमय (Inflammatory) विकारों में भी मैथुनासंहित्याहोती है। यह असहित्याना योन्यादैप (Vaginismus) से होती है। यह योन्यादैप या थोनि का सरोक उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त मानसिक परिस्थिति (जैसे, पति पर प्रेम न होना) के कारण भी उपर्युक्त होता है।

सेवनाल्टेदादुजाग्रादुर्भाव, वस्तिगुदविदलक्षणं प्रागुत्तमिति ॥ २३ ॥

सेवनी पर वेष होने से बेदना उत्पन्न होती है। वस्ति और गुद के वेष के लक्षण पहले कह दुके हैं ॥ २३ ॥

बक्षम्ब—सेवनी—गुद से शिरनमूल तक जाने वाली रेखा (Perineal raphe)। प्राशुक्लम्—वस्तिमेद के लक्षण १५वें सूत्र में आनदेवस्तिता हृत्यादि और गुदवेष के लक्षण २०वें सूत्र में आनाहो, हृत्यादि। यह सूत्र अथर्वाशस्त्रकर्म में भी (विद्वासा अध्याय ७) दिया गया है।

स्रोतोविद्व तु प्रत्याल्यायोपचरेत्। उद्धृतश्चल्यं तु ज्ञातविधानेनोचरेत् ॥ २४ ॥

(स्रोतोवेष की साध्यासाध्यता और चिकित्सा—) खोतो मूल में विद्व हुए को असाध्य समस्तर (उसकी) चिकित्सा करे। शब्द निकाले हुए का चतुर्चिकित्सा के अनुसार उपचार करे ॥ २४ ॥

बक्षम्ब—लोतोविद्वत्—यहाँ पर अब तक खोतोमूल विद्व के ही लक्षण बताये गये हैं। इसलिए खोतोविद्व से खोतो मूलविद्व समझना उचित है। इसके सिवा प्रत्याल्याय (असाध्य) से भी वही अर्थ निकलता है, यद्यकि हुए वस्ति तथा अन्य मूल मर्मांग होते हैं।

भवति चार—

मूलात् खाद्यन्तरं देहे प्रस्तुतं त्वभिवाहि यत्।

स्नोतस्तदिति विद्येय सिराघ्रमनिवर्जितम् ॥ २५ ॥

इन स्नुत्रसंहितायां शारीरशाने अमनीव्याकरण शारीर

नाम नवमोऽव्याय ॥ २५ ॥

(खोतस की व्याध्या—) मूल छिद्र से शारीर में फैला छुआ, (रसादि का) जो वहन करता है, और सिराघ्रमनी से जो धूपक है उस अवकाश को स्नोतस जानना चाहिए ॥ २५ ॥

बक्षम्ब—मूलात् खाद्य—हृदयादि अवकाशयुक्त या अन्तसुप्ति अगों से। सिराघ्रमनिवर्जितम्—सिरा और घमनी को छोड़कर। इस श्लोक का लाखर्य इतना ही है कि शारीर में जो वही वही सिराएं और घमनीयों होती हैं, उनको छोड़कर जो नालियाँ होती हैं और जो किसी अन्तसुप्ति अंग से सबसे रुक्त उससे रसादि तरत एकर्थ का वहन करती है, वे खाद्यत हैं।

अब इसके बाद घमनी और खोतसों का कोहक अंग्रेजी पर्यायों के साप दिया जाता है।

घमनीकोहक

नाम पर्याय

घमनवद्वा घमनी Internal auditory artery

रसवद्वा घमनी Lingual artery

नाम	पर्याय
गृध्रवद्वा	Sphenopalatine branch of the internal maxillary
थोपकरा	Laryngeal artery
मारण	Sublingual artery
घटुवाही	Lacrimal artery
सून्दवद्वा	Mammary artery
प्रशोलोच्छासादिता	Phrenic and intercostal artery
क्षत्राहिनी	Superior mesenteric and colic arteries
मूर्खवद्वा	Renal or Vesical arteries
तुक्तवद्वा	Testicular and spermatic arteries
मुक्तिलिहां	Artery supplying epididymis seminal vesicle etc
मार्चवद्वा	Uterine and ovarian arteries
वर्तनिरसी	Inferior mesenteric and Colic arteries
जट्टंगादी घमनीया	Aortic arch and thoracic aorta and branches
अभीगामी घमनीया	Abdominal aorta and its branches
निर्दगामी घमनीया	Cutaneous vessels
खोतस कोहक	
प्राणवद्वा खोतस	Lung capillaries
शाप्तवद्वा	Oesophagus duodenum
उद्कवद्वा	Lymphatics
रसवद्वा	Capillaries
रक्तवद्वा	Capillaries of the liver and spleen
माहसवद्वा	Capillaries of the muscles
पेटोवद्वा	Capillaries of the perinephric tissue and omentum
मूर्खवद्वा	Renal tubules
पुरोवद्वा	Caecum and Colon
तुक्तवद्वा	Ductus deferens
सून्दवद्वा	Tabuli lactiferi
मार्चवद्वा	Blood vessels of the uterus
इति भास्त्रकरणं योविद्वासमजेत विचित्रायामुख्येदरस्य दीपिकायां द्व्युत्तमाशीकायां अमनीव्याकरण शाप्ते	
नाम नवमोऽव्याय समाप्त ॥ २५ ॥	

दशमोऽव्यायः ।

श्वातो गमिणो याकरण शारीरं व्यास्त्यास्यामः। ग्रयोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद गमिणीव्याकरण नामक शारीर का व्यास्त्यासन करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरिजी में किया था ॥ १ ॥

बक्षम्ब—गमिणीव्याकरण—व्याकरण शब्द के व्यवस्था करण और विस्तारकरण इस प्रकार दो अर्थ होते हैं। शारीर श्वान के गर्भव्याकरण, शारीरव्याकरण और घमनी-

अध्यायः १०] व्याकरण इन स्थानों में व्याकरण शब्द का प्रयोग विस्तार करण के लिए किया गया है। यहां पर प्रथम अर्थ के लिए किया गया है। आहार, विहार, प्रसूति इत्यादि गम्भिणी संघंधित वार्ताओं की व्यवस्था जिसमें वर्णन की गई है, वह अध्याय गम्भिणीव्याकरण कहलाता है।

गम्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यत्तद्बुक्ता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवतावाह्यण-गुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्देजनीयाद्य कथाः, शुष्कं पर्युपितं कुथितं क्षिण्डं चाक्षं नोपभुजीत, वहिनिष्कमणं शून्यागारचेत्यशमशानवृक्षाश्रयान् क्रोधमथसक्तरांश्च भावानुच्छैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभोदरं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निपेवेत, न चायासयेच्छरोरं, पूर्वाक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृद्घास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंवाधं च विद्ययात्, हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्तिर्घं दापनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात्॥ २ ॥

(गम्भिणी समान्य परिचर्या—) गम्भिणी प्रथम दिन से जैकर प्रतिदिन प्रसच्चचित्त, पवित्र, धलद्वारों से विभूषित, श्वेतवस्त्र धारण करने वाली, शान्तिहीन, मंगलकर्म, देवता, व्याहण और गुरु इनकी पूजा करने वाली होते; मैले, रोगी और हीन (जाति के) शरीरों को स्पर्श न करे; दुर्गंधयुक्त (पदार्थों), दुर्दर्शन (इर्षयों) और उद्गेग उरपञ्च करने वाली कथाओं का परित्याग करे; सूखा, वासी, सफा हुआ, कुन्त्र अक्ष सेवन न करे; वाहर निकलना, शून्यगृह, चैत्य, रमशान, धृत्याश्रय, क्रोध और भययुक्त भाव, ऊची आवाज से बोलना इनको तथा गर्भ का नाश करने वाले अन्य भावों का परित्याग करे; तेल की मालिश और उत्थटन आदि का वार वार सेवन न करे; शरीर को (वहुत) न थकावे; पहले वताये हुए (अपथयों) का परिहार करे; लेटने का और बैठने का स्थान (गही तकिया इत्यादि) मृदु वस्त्रों से युक्त, न वहुत ऊँचा, अपाश्रय युक्त और वाधाविरहित बनावे; हृदय, तरल, मधुरप्राय, स्तिर्घ, अमिदीपक (मरिच, जीरा इत्यादि) द्रव्यों से संस्कृत भोजन खिलावे। प्रसूति तक यह साधारण (परिचर्या) है ॥ २ ॥

वक्तव्य—प्रथमदिवसात् प्रभृति—गम्भिणीति का ज्ञान ‘अमो लानिः पिपासा’ (तीसरे अध्याय का १६वां सूत्र) इत्यादि लक्षणों से होने के दिन से लेकर प्रसूति तक । यह शब्दप्रयोग तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के ‘तदाप्रभृति’ शब्द प्रयोग के अर्थ में किया गया है। इसका दूसरा भी अर्थ कर सकते हैं। क्रतुकाल के प्रथम दिन से याने क्रतुस्तात् दिन से। क्रतुकाल प्रारंभ दिन के संबंध में तीसरे अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखें। अपरत्य की इच्छा करके खी-पुरुष जब समागम करते हैं तब गर्भधारणा होगी, इस कल्पना से क्रतुस्तात् दिन से ही खी को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य रखना अधिक हितवह होता है। इससे गर्भधारणा की समावना भी बढ़ती है तथा जिस गर्भ

का आधान होता है, उसके लिए पहले से ही सब तरह से अनुकूल परिविति उत्पन्न की जाती है। शान्तिमंगल इत्यादि—ये सब उपाय आस्तिकों के लिए हैं। इससे मनःतान्ति तथा मनोवल प्राप्त होता है। छिक्क—सदने के कारण जिससे पानी निकल रहा है। चैत्य—इसके कहीं अर्थ वताये जाते हैं—(चैत्यं देवतापिष्ठितो वृक्षः, अन्ये वौद्वालयमाणुः । (ढलण))। चैत्यतु विशिष्टदेवतापिष्ठितो लोकप्रसिद्धो इष्टविशेषः। उद्वालय इत्यन्ये। (अरुणदत्त, अरुणगहदय, सूत्र २)। चैत्यधृष्ट के ऊपर श्रीरामकृष्णादि साध्विक देवताओं का वास नहीं होता परन्तु भूत, प्रेत, पिशाचादि तामस देवताओं का वास होता है। इसलिए चर्य के पास जाना अनुचित माना गया है। यदि चैत्य से वौद्वालय माना जाय तो वह परधर्म का होने के बजाए से उसका निपेद किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। इशान—इमानः शवाः शेरतेऽवेति इमशान्। दहन और दफन करने का स्थान। शुक्रवसन—शुभ्रवस्थ निर्मलता का उच्च आदर्श होता है, इसलिए शुभ्रवस्थ करने के लिए कहा है। चैमकुत्तहल में शुभ्रवस्थ के निम्न गुण वर्णन किये हैं—शुश्रे च सुखदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम्। न चोप्यं न च वा शीतं शुखं वस्त्रं च धारयेत्॥ मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्युशेत्—जो मनुष्य हमेशा गंदे रहते हैं, जो रोगों से पीड़ित होते हैं, तथा चमार, चण्डाल हृस्यादि हीन जाति के जो लोग होते हैं और जो हमेशा गंदे रहते हैं उनसे दूर रहना चाहिए। यहां पर ‘हीन’ शब्द हीन जाति के लिए और ‘गात्र’ शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूर्वाक्तानि—तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में वताये हुए। अपाश्रयोपेतम्—अपाश्रिते आच्छायतेऽनेन इति अपाश्रयः, तेन सहितम्। अपाश्रय शामियाना की तरह ऊपर लगाने की एक वस्तु होती है। यहां पर इसका भत्तलव इतना ही है कि हमेशा ऐसे स्थान पर सोवे, जो ऊपर से खुला न हो। जैसे खुले आंगन में सोना। खुले स्थान में सोने में ओस या हवा से (Exposure) वीमार होने का ढर रहता है। इसलिए गम्भिणी खी हमेशा जो स्थान ऊपर से बढ़ हो, ऐसे स्थान में अपना विस्तरा लगावे। चरकसंहृता में चिह्नित स्थान में सोना गम्भिणी के लिए दोषावह माना गया है और उसका परिणाम गर्भ की उन्मत्तावस्था वतलाया है—विवृतशायिनी नक्तंत्चारिणी चोमन्त्च जनयति। (चरक, शारीर ८)। विवृते अनावृते देशे शयनशीला विवृतशायिनी। विवृतशायिनी तथा नक्तंत्चारिणी रक्षः प्रतिभूताभिगमनीया भवति; ततश्च भूतैरभिभूतो गर्भ उन्मत्तो भवतीति युक्तम्। (चक्रपाणिदत्त)। इससे यह स्पष्ट होगा कि ऊपर अपाश्रयोपेत का जो अर्थ किया गया है, वही युक्त है। किंच अपाश्रय से तकिया (अपाश्रयते शिरः यत्र) भी समझ सकते हैं। अपाश्रयोपेत से सिर के नीचे या बैठने के लिए जिस पर तकिया इत्यादि कुछ आश्रय स्थान हो, ऐसा। हारणचन्द्र अपाश्रय से चन्द्रातप समझते हैं—प्रपाश्रयशन्द्रातपश्चेति पर्यायी। और दशहण अपाश्रय से प्रतिवाहक समझते हैं—प्रपाश्रयोपेत प्रतिवाहकसहितम्। ये दोनों अर्थ गौण मालूम होते हैं। असंवाशम्—जीद में जिससे वाधा न उत्पन्न हो जाय, उस प्रकार का। जैसे जांडों के दिनों में, गरम कपड़ों से युक्त,

गरमियों के दिनों में हृलके पतले कपड़ों से तुक्क, मच्छर होने पर मशादीरी से तुक्क, खटमल विरहित हृत्यादि । हृथय—हृत्यके दो अर्थ होते हैं—(१) हृत्याम् वित्यम् । हृत्य के लिए हितकर अर्थात् हृत्य को बल देने वाला अथवा हृत्य को तकलीफ न देने वाला । तुक्क अथ ऐसे होते हैं कि जो सेवन करने पर हृदयप्रदेश में जलन या बेचैनी पैदा करते हैं । जैसे उच्च अम्ल, तो इस मासाले तुक्क खाय दृश्य—विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्ल कुरुत्याच्या तुक्काम् । हृदि दाह च जनयेत् पाकं गच्छति तविरात् । (भावप्रकाश) । हस्ती कारण से अरक और अर्णांगसप्रह में विदाही द्रव्यों का गर्भिणी के लिए (आगे देखो) निषेध किया गया है । हस्ते के सिवाय हृत्य का सम्बन्ध कुक्कु अथ की मात्रा के साथ भी होता है । अधिक मात्रा में अच्छ सेवन करने पर उसका दूषाव हृत्य के ऊपर पड़ता है, जिसमें घटकन, बेचैनी हृत्यादि लक्षण उपस्थ होते हैं—अपोदनं भवेत् कुक्कु वार्ष्योरेवपीदनम् । अननेन हृदयाभो नठरयत् तु गोरवद् । अर्थात् अधिक मात्रा में अच्छ का सेवन अद्भुत होता है । (२) हृत्यस्य विद्यम् । यहाँ पर हृत्य शब्द मन के लिए प्रयुक्त होता है । ऐसा अच्छ हो, जो मन को पतः दहो जाय अर्थात् रुक्षिकर । संषेप में हृत्य से हृत्य को याने शारीर को बल देने वाला, मच्छर मात्रा में सेवन किया हुआ, जो विदाही न हो तथा मन को पसन्द होने वाला, याने रुक्षिकर हो, ऐसा अच्छ अभिप्रेत होता है । हृत्य सार्विक अनन्त का एक महात्म का गुण है—शुद्ध सख दक्षारोद्यमुकुतीतिविवर्णना । रसा लिपा स्थिरा हृत्य आहारा सार्विकिया ॥ (भगवतीता ३५) ।

गर्भिणी के स्वस्थपृष्ठ का विवरण हृत्य के सिवा पीछे तीसरे अध्याय के ११ वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में किया जा तुक्का है । यहाँ पर उन्हीं विषयों का पृथक्कर गारमक हृत्य से किर से सेवन में विचार किया जाता है । (१) आहार—गर्भिणी का आहार विदोष महत्व का होता है । उसके सवध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भिणी की अपना तथा अपने गर्भ का पोषण करना पड़ता है । उससे उत्पन्न के पात्रक धौंगे और तुक्क, खचा, फेंकड़े शूद्यादि मल्येसर्जन के अवशेषों पर विदोष करके हृत्यों पर अधिक काम पड़ता है । इसलिए आहार सुप्राप्त, सुशोध्य और पौष्टिक होना चाहिए, उससे शारीर में विषये पृथक्य कम बनने चाहिए, मलावरोध न उत्पन्न होना चाहिए, उसमें लैटिक (चूना Calcium) उचित मात्रा में होना चाहिए और जीवद्रव्य उत्प्रेरित होने चाहिए । गर्भ अपने पोषण के लिए आवश्यक सब पृथक्य मात्रा से ग्रहण करता है, और जब मात्रा के आहार में उन पृथक्यों की कमी होती है, तब मात्रा की उत्ति पृथक्यांतर उसके शारीर से छेता है । इसका विदोष महत्व का दृढ़ाहरण चूना है । बालक को अपनी अधियों के लिए पूने की अधिक आवश्यकता होती है । यदि मात्रा के आहार में चूना पर्याप्त मात्रा में हो तो कोई कठिनाई नहीं होती । अब मात्रा के आहार में इसकी कमी होती है तब गर्भ मात्रा की अधियों से तथा दूर्तों से पूने अथ ग्रहण कर देता है, जिससे मात्रा में अस्थिमुक्ता (Osteomucalacia), हमिन्टन ये विकार उत्पन्न होते हैं । जीवद्रव्य 'ही' पूने के सामग्रीकाण के लिए आवश्यक

होता है । उसके न होने से आहार में चूना होने पर भी उसका उपयोग अस्थिविकास में नहीं हो सकता । जीवद्रव्य 'पृ' उपसर्गीनाशक होता है । उसकी कमी से मात्रा का औषधिक (Infectious) रोगों की विकार होने की समावना होती है, विदोष करके प्रसुतिज्वर होने का बहाड़ रहता है । जीवद्रव्य 'धी' की कमी से गर्भपात—गर्भदाव, ज्वाल—प्रसव, मृत्युत्सज्जनम् हृत्यादि आपार्तियां उत्पन्न होती हैं । इस दृष्टि से, मात्रा के आहार में दृष्ट, भट्टा, मालान, धी, चावल, गोदू की रोटी, बाटा, प्याज, गोमी, मूली, पालक, दोमालो, शलगम, गाजर, आदि हृत्यादि साग-सविचार, संतरा, सेव, आम, अनार, द्राघा हृत्यादि फल होने चाहिए । मांस, मछ, चाय, काफी हृत्यादि उत्सेजक पदार्थ, मिर्च, मलाई, अचार हृत्यादि तीक्ष्णोण पदार्थ चट्टु कम होने चाहिए । संषेप में, गर्भिणी का आहार सार्विक हो प्रस्त्रेक, वार यह सभ्यम मात्रा में उसको सेवन करे, जिससे कुर्दि में पीड़ा न हो सके । परंतु दिन रात में आहार की राशि दूतीनी हो कि वह उसके लिए तथा उसके बालक की पूष्टि के लिए पर्याप्त हो जाय—१२वैद, गर्भिणीमूलिक बाल चूदाम् । मांसतीरिंगिनासप्तिमुखुर्विवरवित्तिः ॥ (अर्णांगसप्रह, सूत्र २४) । न मदकराति मवान्यमवरोदेत्, न मासमदीनोयत् । (चरक, शारीर ४) । गर्भस्वामगेण । (भगवतीते) । (चरक, शारीर ६) । गर्भस्वामगेणत्यव्य भावगमेणाप्तादि स्वेष समुदायताना मासादीना सम्यग्निशमानां च मृदुरुद्धर्वते । (चक्रागिंदृच) । समासन सर्वतिगुरुलक्ष्मीत्त्वाहृदमप्राप्तं (गर्भोऽवाक्तव्यात् सेवेत्) । (अर्णांगसप्रह, शारीर ३) । न वर्णीपृष्ठादौरै साना वैनमुगाचरेत् ॥ उत्पवासाप्तवनीश्लोक्युरु विदिष्मिद्विवरन् । (स्वेष) । (लटांगहृत्य, शारीर १) । निविद आहार और कुक्कु द्रव्यों के अतियोग के संरक्ष में चरक में लिखा है—मध्यवित्ता विप्रासातुमलवर्मृतिमनवित्त वित्त वा, गोमातासराया शार्दैरितमदमरितं उत्तेऽहिष्य वा, वराईमात्राया रक्तघ कथनमनिष्टशोभाय वा, मध्यवित्त नित्या विनिषेष स्त्रयाय वा, मधुमतिश्लूल वा, भवतित्या रसितिन्द्रियां विग्रहिण वा, लवलित्या दीप वलीतित द्वालित्यरोगिण वा, कुटुंबिनित्या दुर्लभमलवर्मृतमनवित्त वा, निच्छित्या शोदितवरमनुपचित वा, काशयनित्या इत्यत्र माननिमुद्वारितिन वा । यद्यपि यत्य स्थ आवेदिनामुक्ते उत्तरासेवनामान्दुर्वंशी त्रिवित्तिकावृद्धुमपत्त अनवित्तः उत्तरादित्तिमात्राहरिविवारान् ग्रावासप्तिमध्यमी ती विदेशेष वर्यवैद ॥ (चरक, शारीर ८) । सा निकोलस गर्भवती ती के आहार के संरक्ष में दिखते हैं—Her diet should be moderate, simple, pure and perfectly healthful consisting chiefly of brown bread and its equivalents, fruit, milk, vegetables, with little, if any, flesh meat, no heating or exciting condiments, and no tea, coffee, or alcoholistic stimulants. *Ectopic Anthropology* (१) उत्पद्धा—उसमें शारीर की अस्थिमूलि स्वच्छता का समावेश होता है । काष उत्पद्धता में इनके द्वारा वाया की रासाई, निर्मल हृत्य वस्त्रप्रिक्षिण, मधिन विहृतादि तूर रुदना, इनके समय तथा मलावृत्त विमर्जन के पश्चात् प्रयोग समय गुणांगों की

स्वच्छता, हृनका समावेश होता है। अन्तःस्वच्छता में मल-मूत्र के आवेगों को न रोकना (वेगविधारण त्यजेत् । अष्टांग-हृदय), पर्याप्त मात्रा में जल सेवन करके मूत्र के द्वारा विविध पदार्थों को बाहर निकालना, मलावरोधक आहार को न सेवन करके जिससे कठज पैदा न हो ऐसे साग, सब्जी, फल—हृनका सेवन करना, मलावरोध होने पर सृदु विरेचन (जैसे, पूर्णदी का तेल, लिपिड पेरफिन) से कठज को दूर करना, पुली हवा में प्रतिदिन सुवाह-शाम योद्धी द्वे तक ठहलकर फुफ्फुस के द्वारा रक्तशुद्धि करना हृत्यादि वातों का समावेश होता है । वहिनिष्करणम्—यहाँ पर हृनका विचार करना आवश्यक है । बाहर जाने का निषेध हृस सूत्र में किया गया है । हृनका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री घर के बाहर ही न निकले, न खुली हवा में ठहलने के लिए जाय । वहिनिष्करण का निषेध दौ दृष्टि से किया गया है । प्रथम दृष्टि स्थान की होती है । चैत्य, शमशान, कव्रस्तान, चट्टर, शून्यस्थान, वर्षस्थान हृत्यादि भन में उद्देश, विषण्णता, भय हृत्यादि भाव उत्पन्न करने वाले स्थानों में जाने का निषेध हृसलिए होता है कि ये भाव माता के हृत्यार गर्भ पर भी उत्तराव परिणाम करते हैं । हृमरी हृषि स्त्री की होती है । लज्जा स्त्री का एक स्वाभाविक गुण है । स्त्री का यह गुण पुरुषसमाज में जाने पर अधिक प्रकट होता है । उसमें भी यदि स्त्री गर्भवती हो तो अधिकतम स्पष्ट हो जाता है । लज्जा के मारे स्त्री सिर नीचा करके और ढाती सिकोइकर चलती है । ऐसी अवस्था में वहिनिष्करण से उसको कुछ भी फायदा नहीं हो सकता । हृसलिए गर्भवती स्त्री को ऐसे स्थान में न जाना उचित है, जहाँ पर उमको अधिक लज्जा मालूम हो और लज्जा के मारे चलने फिरने में पाठा उत्पन्न हो जाय । देवताओं और सातु-संतों के दूर्घन के लिए, कथा पुराण प्रवचनादि धर्मिक कथा सुनने के लिए बाहर जाने में कोई आपत्ति नहीं होती है । प्राचीन काल में द्यियां दृढ़न्हों कारणों के लिए बाहर जाया करती थीं । आधुनिक काल के समान केवल ठहलने के लिए बाहर जाने का रिवाज उस काल में नहीं था । देवता-व्रातण गुरुपरता जैसे घर में होती थी, वैसे ही बाहर जाकर उनके दर्शनों और पूजाओं द्वारा भी होती थी । हृसलिए वहिनिष्करण का निषेध चैत्यादि स्थानों के लिए तथा जहाँ पर स्त्री को मानसिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, उन स्थानों के लिए समझना उचित है ।

(३) मनःशान्ति—उत्तम आहार, पर्याप्त गाढ निद्रा, अनुकूल उद्देश्यकर हृन्दिव्यार्थ, आस्तिक्य, ये मनःशान्ति प्राप्त करने के उपायों में महत्व के उपाय हैं । हृनमें 'हृष्ण द्रवं शुक्रं पर्युषितम्' से उत्तम आहार का दिवदर्शन, 'श्रयनात्तरणम्' से रात में उत्तम गाढ निद्रा प्राप्त होने के उपाय का दिवदर्शन, 'दुर्गुष्टुर्णीशनानि उद्देजनीयाद्वच कथाः, नोभधयसंकराद्वच मावान्' हृस से अनुकूल हृन्दिव्यार्थ (चरक में लिखा है—सर्वेन्द्रियप्रतिकृतांश्च मावान् दूरतः परिवर्जयेत् । शारीर ४), 'शान्तिमंगल' से आस्तिक्य का दिवदर्शन किया गया है । गर्भिणी के स्वस्थवृत्त में उसकी मानसिक स्थिति एक महत्व का अंग है । यह मनःस्थिति गर्भ के ऊपर कैसे और उन्हें लंबा में परिणाम करती है यह यथापि तीक नहीं कहा जा सकता, तथापि गर्भिणी का मनःस्वास्थ्य गर्भस्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक

है, इसको पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं—The mental condition and the surroundings of the pregnant woman are of importance, in as much as they largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible be sheltered from all influences which tend to give rise to excitement, annoyance or depression. *Gelle's Midwifery*. No work should worry her no anxiety disturb her, no lust excite or torment her. *Ecclesiastic Anthropology*. (४) प्रत्यक्ष गर्भधातक गर्भ—यथपि उपर्युक्त तीनों विषय अप्रत्यघतया गर्भ के लिए घातक हो सकते हैं, तथापि उनका प्रत्यक्ष गर्भ से कोई संबंध नहीं है । परंतु अतिव्यायाम, अतिव्यायाम, अधिक भारी वृद्धि उठाना, उरकटकासन, वेगविवारण, उद्धर के ऊपर प्रहार, प्रपीटन, अतिमात्रसंशोभक यान में भवारी करना, तोव घमन विरेचन ये तथा हृस ग्रकार के अन्य दारण कर्म गम्भंत या गर्भधात्र में प्रत्यक्ष सहायता करते हैं ।

संशेष में गर्भिणी को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक आहार सेवन करना चाहिए । शरीर की अन्तर्यामी स्वच्छता उसनी चाहिए, मन को प्रसन्न और शान्त रखना चाहिए और मन की शान्ति को विगड़ने वाले तथा गर्भ के लिए घातक कर्मों से दूर रहना चाहिए ।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवयायमाहारमुपसेवेत्, विशेषतस्तु तृतये परिकौदनं पश्चसा भोजयेत्तुर्ये दध्ना पञ्चमे पश्चसा पष्टे सर्पिषा चेत्येके, चतुर्थं पयोनवनीत-संस्कृतमाहारयेजाङ्गलमांससहितं हृद्यमनं भोजयेत्, पञ्चमे ज्ञीरसपिःसंस्कृष्टं, पष्टे श्वदपूर्सिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवाग्नं वा; सप्तमे सर्पिः पृथक्-पण्यादिसिद्धम्, एवमात्यायते गर्भः, अष्टमे वद-रोदकेन बलातिवलाशतपुष्पापललंपयोदधिमस्तु-तैललघुणमदनकलमधुघृतमिश्रणास्थापयेत् पुराण-पुरीपशुद्धयर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयो-मधुरकपायसिद्धन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायो सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्तिरधार्मियचागूभिर्जङ्गिलरसैशोपक्रमेदाप्रसवकालात्-त्; एवमुपक्रान्ता स्तिरधा वलवती सुखमनु-पद्रवा प्रसूयते ॥ ३ ॥

(गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम—) विशेषतया गर्भिणी प्रथम, द्वितीय और तृतीय महीने में मधुर, शीतवीर्य, तरलभूयिष आहार सेवन करे । विशेष करके तीसरे महीने में साठी चावल के भात को दूध के साथ लिलावे, चौथे (महीने) में दही से, पांचवे (महीने) में (फिर) दूध से, छठे (महीने) में ची से ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है । चौथे महीने में दूध और मक्कन के साथ, जांगल (प्राणियों के) मांस से युक्त हृष्ण

(रुचिर) अथ लिलावे । पांचवें (महीने) में दूष और धी से दुक (अथ लिलावे) । छठे (महीने) में गोलह से मिट्ठ धी या यवान् माणुसार पिलावे । सातवें में पृथकरणी (विद्विग्नशादि ग्रन्थ) आदि द्वारा सामित शूत (पिलावे) । इस प्रकार गर्भ परिवर्तित होता है । आठवें में चटा, खतिबटा, शतपुण्या, पलल, दूष, धी का पानी, तेल, नमक, मैनफल, शहद और धी (इन घटुतों) से मिथित देव के द्वाय से उताने मल के विदोधन के लिए सप्ता (ध्वन) वायु के अनुलेभन के लिए आध्यायन (निरुहवस्ति) करावे; उसके पश्चात दूष और मधुर (ग्रन्थ की ओषधियों के) द्वारे से सिद्ध हिये हुए तेल का घटुतासन करावे । वायु अनुलोभ होने पर (गर्भिणी धी याटक को) सुख से जम्म देती है और उपद्रवरिहित होती है । इसके पश्चात प्रसवकाल तक स्त्रिय यवान्गों और जांगल (प्राणियों के मांस) इसों द्वारा (उसकी) चिकित्सा करे । इस प्रकार (प्रथम मास से प्रसव काल तक) उपकान्त (गर्भिणी) स्त्रिय और चलवान् (होकर) उपद्रव के सिवा सुख से प्रसूत होती है ॥ ६ ॥

बृक्ष्य—इस सूत्र में गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम वर्णन किया है । इत्यै—यह मतमेद 'विद्विग्नशुभ्रुमोदे विकौटिनम्' से 'पडे संविचा' तक है । शृणुपर्णी—पूर्विन-पर्णी, विद्विग्नशादिगणगत ओषधि । आदि दाढ़ से विद्विग्नशादिगण का मण्डन कर सकते हैं । पनल—पनल शब्देनात्र ग्राम्यजाङ्गनमासोदेव परिव्राग कियते । अत वलारीना चतुर्था गरावतिर क्षाय पद्यग्रस्तीना व्रयायाम्पर्यावो मधुतेपूर्णा प्रत्येकशः कर्त्ता लवणमदनयोद्यु शाय एवात्मारूपा पनाय ॥ (हारागच्छन्द) ।

सातवें महीने से उदर पर किफिस (दीसरे अध्याय के १०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) तथा कण्ठु उत्पद्ध होती है । उसकी चिकित्सा चरक में लिली है—उत्र चोलीकेन नदनीनस्य मधुरौपचसिद्दस्य पाणितलमात्रं काले कालेऽस्य पानार्द्ध दण्डा । चन्दनमूलालौभास्या स्वप्नोदर विष्णुदीपाद् । शिरेष धानीमैरपमपूचक्ज्ञायैर्ग, कुटार्जवीकीभुतुर्हरिदाकलैर्व निम्बदेहत्तुरसमज्जितालैर्ग, पृष्ठदरिलग्नपरियुवया विकलया वा, करवीरप्रतिदेन वैलैमास्यज, परिषेक पुनर्मालांगो मधुमिद्दनामसां, जांकण्डुश कण्ठदन व वज्रेष्वरमेवद्यप्य परिहारार्थं, चस्त्रायां तु काष्ठवामुन्मदेनोदर्शयाम्यां परिवार स्यात् । मधुरमाहात्मात् वाहाहमप्यस्तेहलवयमलोदकागुणन च भूजित । (शारीर ४) । अनुवातसंहिते—चरकसंहिता में अनुवातनवस्ति के लिए प्रमुक तेल से गर्भिणी की योनि में तैलपिण्डु रखने के लिए लिला है—पत्रवैवासारदेलात् यितु योनी प्रयोगप्रभूत्यामाग्नेनाह्यं ॥ योनि में रखने की ओषधियुक्त रुद्ध को मेडिकेटेड टप्पा (Medicated ta poο) कहते हैं । गर्भस्तानमार्गं स्लेहन करने के लिए योनि में तैलपिण्डु (Oiled tampon) रखने की कृति में घटुत व्यावहारिक सत्र भरा है । तैलपिण्डु एक प्रकार से योनिमार्ग का अस्त्र है । अस्त्र से जैसे व्याप्ति मृदु होती है, उसकी रूचता दूर होती है, रुचन नहीं होता, वह तनाव सहन कर सकती है, वैसे ही तैलपिण्डु से योनिमार्ग मृदु होता है, उसकी रूचता दूर होती है, उसमें रुचन

नहीं होता और वह तनाव सहन कर सकता है । ऐस एवं युग प्रसूति के समय योनिमार्ग में आवश्यक होते हैं क्योंकि उस समय उसमें काफी तनाव पैदा होता है । यदि उसमें मृदुता और तनाव सहन करने की क्षमित न हो तो उस समय उसमें विदार (Lactation) उत्पत्त होने का दर रहता है । आधुनिक काल में प्रसूति के समय जननेनिय्य की सफाई करने के लिए, विधिप्रधार के वीवाणुनाशक या उपमर्गानाशक ओषधियों के घोल प्रयुक्त करते हैं । इनके सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि इनके प्रयोग से जननेनिय्य में सलती पैदा न हो जाय, यद्यपि कुछ स्नेहन हो । इस ईद्ध से रसक्षण का घोल यद्यपि उत्तम जीवाणुनाशक होता है तथापि सलती पैदा करने के कारण पसंद नहीं किया जाता, क्योंकि उसके उपयोग से विदारण होने की समावना होती है । सक्षम्यपद (lysol) इसलिए प्रयोग किया जाता है कि उससे कुछ मृदुता तथा स्नेहन पैदा होता है—In all cases, the external genitals must be well washed by the nurse with soap and water and then bathed with an unirritating antiseptic for this purpose lysol is most suitable. The use of corrosive sublimate for this purpose during labour is contraindicated, as it constricts the parts, and so makes them prone to lacerate Gelle's Midwifery इसलिए, नौवें महीने से योनि में तैलपिण्डु व्याप्त करने की प्रसूति के समय अपत्यमार्ग विदारण से बचने के लिए घटुत उत्पन्न होते हैं, इनमें कोई सरेह नहीं है और इसका उपयोग जहर बरना चाहिए । रात में साने के समय इसका प्रयोग करने से और सुबह के समय उसको निकाल देने से ही को किसी प्रकार की असुविधा या सकटीकृत या धेचनी नहीं मालूम होगी । मनुपदवा प्रयोगे—यहाँ पर केवल प्रसूति के समय के उपद्रवों का विचार करना है । प्रसूति के पूर्व और पश्चात जो उपद्रव होते हैं, प्रस्तर्य कालीन उपद्रव अधिकतर गर्भाशय की विकृति से उत्पन्न होते हैं । गर्भाशय में अत्यन्त प्रवल सकार उत्पन्न होने से साइरस प्रसव (Precipitate labour) होता है जिसमें अन्यलक्षण में वालक तोप के गोले की तरह अचानक बाहर फेंका जाता है । यदि अपमार्ग लीक विस्तारित न हुआ ही तो उसमें विदारण पैदा होता है और प्रसव तर इक्षास्त्र भी होता है । कभी कभी गर्भाशय में कम्बोरी के कारण स्कोच उत्पन्न होते या अव्यवल होते हैं, जिससे गर्भ भास्य के बाहर नहीं आ सकता । इस स्कोच-हीनावस्था को गर्भाशयासग (Uterine inertia) कहते हैं । इसका उल्लेख सूत्रस्यान के ११वें अध्याय के १२वें श्लोक में 'गर्भकेष परासुग करके किया गया है । इस श्लोक की विकृति के सिवा प्रसव के समय अपत्यमार्ग का विदारण भी होता है । इस सूत्र में तथा हस्ते पहले और तीसरे अध्याय के ११वें सूत्र में वतावे हुए आहार विहार के अनुसार गर्भिणी की परिचर्या करने से कालप्रसवपूर्व प्रसवकालीन तथा कुछ अर्थात् में प्रसवोत्तर उत्पन्न होने वाले उपद्रव ठीक जाते हैं ।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रश्न-
स्तिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणत्रियवंशयशुद्धाणां
श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु विलवन्यग्रोधति-
न्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वीगारं यथास्सूह्यं तन्म-
यपर्यङ्गमुपलिपिभिर्ति सुविभक्तपरिच्छब्दं प्रागद्वारं
दक्षिणद्वारं वाऽप्यहस्तायतं चतुर्हस्तस्तुतं रक्षाम-
ङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥ ४ ॥

(सूतिकागार—) नौवें महीने में शुभ तिथ्यादि पर
उसको सूतिका घर में प्रवेश करते । यह सूतिकागृह ब्राह्मण,
चत्रिय, वैश्य और शूद्रों (की स्थियों) के लिए क्रमशः सफेद,
लाल, पीली और काली भूमि पर बेल, चरणद, तिन्दुक
और भिलावे (की लकड़ी) से निर्मित, इन्हीं (की लकड़ी)
से निर्मित पलंगयुक्त, जिसकी दीवाल लीप-पोतकर अच्छी
तरह साफ की गई हो, जिसमें (प्रसवोपयोगी सब) सामग्री
यथास्थान रक्खी गई हो, जिसका द्वार पूर्व या दक्षिण की
ओर हो, आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा और रक्षा-
मंगलसंपन्न, ऐसा बनावे ॥ ४ ॥

वक्तव्य—सूतिकागारम्—यत्र गर्भिणी प्रमुखा यत्र च
तिष्ठति तत् सूतिकागारसुव्यते (चक्रपाणिदत्त) । नवमे मासि—
नौवें महीने में गर्भिणी सूतिकागृह का आश्रय करती है,
इसलिए सूतिकागृह आठवें महीने के अन्त तक सब तैयार
हो जाना चाहिए—प्राक् चैव वरया नवमान्मासात् सूतिकागारं
कारयेत् । (चरक) । प्रश्नस्तिथ्यादौ—तिथ्यादि पंच धर्मों
की प्रशस्तता जिस समय हो, उस समय पर—निधिर्वारश
नक्त्रं यागः करण्वेव च ॥ नौवें महीना प्रारम्भ होने पर
सर्वप्रथम जो तिथ्यादि शुभ योग मिलेगा, उस योग पर ।
चरकसंहिता में सूतिकागार प्रवेश की विधि निम्न प्रकार
से वर्णन की गई है—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्ड्रेऽहनि
प्रशस्तनक्त्रयोगमुपाते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे
च करणे मैत्रे मुहूर्ते शार्निं हृत्वा गोब्राह्मणमनिसुद्धकं चादी
प्रवेश्य गोभ्यस्तुरुणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान्
सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीषानि दस्तोदकपूर्वमासनस्त्वयेऽभ्यो-
ऽभिवाय पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत् । ततः पुण्याहश्चादेन
गोब्राह्मणं समनुरूपमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकागारम् ।
(शारीरस्थान ८) । सूतिकागार में एक बार प्रवेश करने
पर स्त्री वहाँ पर प्रसवकाल तक रहती है और उसके पास
हमेशा भजननकुशल स्थियाँ भी रहा करती हैं—ततोदीनेत
सा सर्वं सूतिका परिवारिता । (अट्टंगददय) । श्रावण
प्रसविष्ये इति चेति सिविधाय सा गर्भिणी तत्राऽसीदित्यर्थः । किंभूता
सूतिका परिवारिताऽनेकवारप्रसवानुभूतन्त्वालोचितव्यवहारकुश-
लाभिः स्त्रीभिः परिवारिता । (अरुणदत्त) । अरिष्टम्—सूतिका-
गारम्—श्रिष्टथ्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन
तैजसा । (रघुवंश ३) । ब्राह्मणत्रिय इत्यादि—चरकसंहिता
में नाल्लणचत्रियादि वर्णों की दृष्टि से भूमि और काष्ठ की
प्रशस्तता न बतलाकर साधारण प्रशस्तता बतलाई है—
अपहृतास्थियरक्तपाले देशे प्रशस्तस्तुरपरसगन्धार्थां भूमी वैलवानां
वाष्णवानां आगार कारयेदिति संवंधः । । (चक्रपाणिदत्त) ।
तैन्दुकेमुद्रकानां भर्त्यात्कानां वारुणानां खादिगण्यां वा । (चरक) ।
मवांगारम्—प्रसूतिगृह का जो भाग लकड़ी से बनाया

जाता है—जैसे, चौखट, किवाड, खिड्कियाँ, अलमारियाँ,
खैटियाँ इत्यादि—वह सर्व भाग जिसमें उपर्युक्त धृत्यों की
लकड़ी से निर्माण किया गया है । यथासंख्यम्—इसका
संवंध भूमि, लकड़ी और पलंग के साथ है । अभिप्राय यह
है कि ब्राह्मण के लिए भूमि श्वेतवर्ण हो, मकान की लकड़ी
बेल की हो, और खटिया भी उसी की बनाई जाय । इसी
प्रकार चत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी समक्ष लेना चाहिए ।
सुविभक्तपरिच्छब्दम्—जिसमें प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री
(परिच्छब्द) इस प्रकार विभक्त याने व्यवस्थित रक्खी
हुई है कि आवश्यकता के समय वहाँ की प्रवेक चत्सु
आसानी से और शीत्रता से मिल सके । चरकसंहिता में
प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री का वर्णन निम्न प्रकार से
मिलता है—तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविद्लवयविद्ज-
गुड्जुष्टकिलमनागरपिष्ठपीपिष्ठलीमूलहस्तिपिष्ठलीमण्डूकपर्वणेलाला-
झलीवचाचव्यविचकचिरविलवहिङ्गुसर्पेलगुनकतककरणकणिकानीपात-
सोवल्वजमृज्जुलत्यमैरेयसुरासवाः सन्निर्हिताः स्युः । तथाऽ-
शमानां द्वी, द्वे (चतु) षट्सुसले, द्वे ऊदूखले, सरवृष्टभेश, द्वी
च तीच्छी सूचीपिष्ठलकी सौवर्णराजत, शक्षाणि च तीव्राण्यसानि,
द्वी च विलवमयी पर्यङ्की, तैन्दुकैङ्गुड्जानि च काष्ठान्यविनिसन्धुत्तणानि ॥
वसनालेपनाच्छादानपिधानसंपदुपेतम् ॥ दक्षिणद्वारं वा—चरक
में दक्षिण के ददले उत्तर दिशा में द्वार बतलाया है—
प्राग्द्वारसुद्रद्वारं वा । साधारणतया दक्षिण दिशा यम की
होने के कारण अशुभ मानी जाती है । अष्टहस्तायतं चतुर्हस्त-
विस्तुतम्—आधुनिक परिभाषा के अनुसार १२-१४ फुट
लम्बा और ६-७ फुट चौड़ा प्रसवामार होगा । केवल स्त्री
के लिए यह स्थान पर्याप्त हो सकता है, परन्तु प्रसूति की
दृष्टि से यह स्थान अपर्याप्त माल्यम होता है । चरकसंहिता
में कई जगह गृहों का वर्णन किया गया है । जैसे—कुमारा-
गार, सूतिकागार (शारीर ८), वैद्यगृह इत्यादि । परन्तु
कहीं पर रोगी के लिए स्थान की मर्यादा नहीं बताई है ।
इनमें वैद्यगृह का वर्णन एक दृष्टि से आदर्श वर्णन है,
इसलिए उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—दृढं निवातं
प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजासामनिभगमनीय-
मनिद्यानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलमुसलवर्चः-
स्थानलानभूमिभानासं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहेव वावत्
पूर्वसुपकल्पयेत् । (सूत्रस्थान १५) । जहाँ पर स्त्री तीन
चार महीनों तक रहेगी वहाँ पर ज्ञान करना, पालना,
पेशाव करना, रसोई बनाना, उपर्युक्त सब साधनसामग्री
रखना, प्रसूता के पास रहने वाली कोई स्त्री या नौकरानी
का रहना इन सर्वों के लिए स्थान की आवश्यकता होगी ।
केवल एक गर्भवती या प्रसूता स्त्री की खटिया रखने से
काम नहीं चलेगा । चरकसंहिता में इन सब वार्ताओं का
विचार करके लिखा है—सूतिकागार कारयेत, वास्तुविद्या
हृष्टयोगाभिसतिलोदूखलवर्चःस्थानलानभूमिमहानसमृद्धुसुखं च ॥
अर्थात् सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिए, जिसमें
ज्ञानगृह, वर्चोगृह (पालना), महानस (रसोई घर) तथा
अन्य आवश्यक कार्यों के लिए काफी स्थान हो । इसके सिवा
सब साधन-सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के
समय किसी प्रकार की कठिनाई न होनी (सुखप्रविचारम्)
चाहिए । इससे यह स्पष्ट होगा कि ४×४ हाथ का यहाँ पर

वर्णन किया हुआ सूतिकागृह शी के उठने, घैटने, लेटने का ही स्थान समझना चाहिए । उसमें चानगृहादि का समावेश नहीं हो सकता । रवामहानसमव्यग्—भूत, मैत, पिशाचादि से रक्षा करने के लिए प्रश्नगुणसामाधैवेद के मन्त्रों का पाठ तथा सप्तारिका का भूषण (सुत्रस्थान ११-२६, २७ देखो) हृत्यादि का प्रबन्ध जिसमें किया गया हो—पूर्णाचिन्सपृष्ठ मशकावपवित्रिन् । ग्रन्थधैषे । साधित्वैदित वेदम् शश्वते ॥

(काशयपत्संहिता, जातिसुव्रीती शारीराभ्याय) । किंवा चरक के अनुसार निम्न प्रबन्ध जिसमें किया गया हो—आदीनी खदिरकलन्तु पीतुप्रकलहसामिरस्या गृह समन्वय, परिजात्येत् । सर्वतथ शृतिकागारस्य सर्पादतसौत्तुलवयकाणिका प्रक्रियेः । द्वे च मुसल दैत्यलीमनुविरक्तिन् न्यसेत् । वचानुष्ठौषकविहृ सर्पादास्तीलुगुणकर्यकिनान् रवोत्समालकातानमोष्टवीतः । पोद्वलिका दधा शृतिकागारस्योत्तरदैत्यलामवस्तुवेत्, त्यैव च द्वयोऽद्वयत्वोः । अनुपलोप्रदामजलादायीः शृतिगिनवादित्र च तदेवम् कार्यम् । (शारीर १०) । यत्तिकागार कैसा दीना चाहिए?—चरक तथा मुश्रुत में सूतिकागृह का जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय प्रसूति के लिए रहने के मकान से स्वतन्त्र स्थान बदाने की पद्धति प्रचलित थी । प्रत्येक समय अस्थायी स्वरूप की सोपवी की तरह ये सूतिकागृह बनाये जाते थे, ऐसा मालम होता है । आधुनिक परिस्थिति में इस प्रकार का प्रवर्ध कुछ अव्यावहारिक मालम पड़ता है । परन्तु यदि इस प्रकार के गृह स्थायी और एकके बनवाये जायें तो इनकी सुलना आधुनिक प्रसूति-गृहों (Maternity-homes) के साथ की जा सकती है । कुछ भी हो यह पद्धति उत्तम है, इसमें कोई शक नहीं है । आधुनिक प्रसूतिगृह सब साधन—सामग्री से सुझा, सुप्रकाश युक्त, स्वच्छ और हवादार होते हैं । अब हमारे बहुत इस समय प्रसूति के लिए बर में ही एक कमरा दिया जाता है । यदि उसकी ओर च्यान दिया जाय तो वह अत्यत अंदेरा, हवावेद और अल्पन्त गन्दु दोता है । इस प्रकार का इथान प्रसूति के लिए देना अस्थायजनक ही नहीं, बल्कि हानिकारक है । इसके साथ साथ आधुनिक प्रसूति-गृहों में पाश्चात्यों की देला-देली प्रकाश और हवा का जो अतिवेग होता है, वह भी ठीक नहीं है । प्रसूति-गृह में प्रकाश और हवा का प्रबन्ध प्रसूता शी और नवजात बालक की इन्हि से होना आवश्यक है । प्रसूता शी और नवजात बालक की इन्हि से होना आवश्यक है । प्रसूता शी और नवजात नहीं है कि उसके शारीर से सभा चास-प्रशास से खराच चीजें और बायु अधिक मात्रा में निकलती हों । प्रसूता शी प्रस्तवेना और इच्छात के कारण अल्पन्त परिवर्तन होती है । प्रसूता शी के रोग के असाध्य होने के कारणों में हीसी कारण का ही प्रायस्य से निर्देश किया गया है—गर्भादिक्षिणिदिलवर्ष-पद्मवात्, प्रवाहृतेनादेनरक्तनि त्रुतिविशेषपृष्ठवश्यरीत्वाच्च । (चरक) । परिवात दुखेन मनुष्य आराम करने के लिए हमें हवा के शोके-व्यापटे से दूर (निवात) और कुछ अंदेरा ही स्थान पसन्द करता है, और हावदर या बैठ भी ऐसे ही स्थान में आराम परने की सलाह उसको देते हैं । अब गर्भ की हाँसि से विचार किया जायगा । गर्भ महीनों सब हवा और प्रकाश के लिए बंद स्थान में रहता है । अन्न के पासात वह हवा और प्रकाश के इथान में आता

है । जन्म के पश्चात् बालक को हवा की आवश्यकता होती है परन्तु प्रकाश की नहीं होती । एक हाँसि से देखा जाय तो उसकी ओर प्रकाश सहन करने की रिक्ति में नहीं होती । निम्न धैर्यी के प्राणियों में, पञ्जियों में, बच्चों की आंखें कुछ दिनों तक बन्द रहती हैं, पश्चात् धैर्य-धैरि सुखती हैं । इसमें ताक है । सभी लोक जानते हैं कि जो मनुष्य सजा होने के कारण धैर्यी कोटरी में महीनों तक रहा है, वह मनुष्य हुटकारा होने पर भी प्रकाशयुक्त स्थान में जाना पसन्द महीन करता और न उसकी ओरें प्रकाश को सहन कर सकती है । अगर जवरदस्ती वह मनुष्य धैर्यी कोटरी से प्रकाश के स्थान में लाया जाय तो उसकी ओरें खराब होने की सम्भावना होती है । जिसको बहुत दिनों से धब्ब नहीं मिल रहा है, वा जिसने यहुत दिनों तक अच्छत्याग्रह किया है, उसको प्रारम्भ से ही भरपेट धब्ब देने की सिंकारिश कोई नहीं करेगा, क्योंकि उससे अस्सत्याग्रही के नाश होने का ढर होता है । यही सम्बन्ध बालक के ओरें में और प्रकाश में होता है, और होना भी चाहिए परन्तु इस बात की ओर पाश्चाय ढर्के के अनुसार प्रसूति गृहों का इबन्ध करने वाले लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है । इन बातों में आधुनिक दृष्टि का मत सुवर्णमध्यं (Golden mean) के समान प्रभाव करने योग्य है । आधुनिक इनके स्थान हमेशा प्रकारौदेश, निवात, आत्मरूपज्ञत और अत्यस्तक होने चाहिए, ऐसा आदेश किया जाता है—प्रश्नवासास्तुनि गृहे गुच्छी आनपवित्रिते । निवाते न च रोग स्य शारीराण्मनुमानाम् ॥ (सुश्रूत, सूत्रस्थान ११-५) इस श्लोक का वक्तव्य भी देखो । वास्तुविषयकुशल प्रशस्त रस्यमत्स्तुनि निवात प्रावैर्देश तुमागार त्रुपर्यदि ॥ (चरक शारीर १०) । इसका मतलब यह है कि सूतिकागार में पृष्ठ रास्ते से हवा आती जाती रहे, जिसने कमरे के भीतर हवा की सुलासगी (Ventilation) अच्छी होती रहे, परन्तु हवा के आवामन का उपर्याग प्रसूता शी तथा उसका बालक जड़ों पर रहता हो, उस स्थान पर कदाचित् भी न पूँछ रक्खे । अर्थात् प्रसूता और बालक का स्थान निवात हो और अन्य स्थान में हवा प्रवाह के रूप में बहती रहे । प्रकाश के दोरे में भी ऐसा ही होना चाहिए । कमरे में इतना अंदेरा न हो कि भीतर कोई दिलासा ही न दे, उथा इतना असदा काश भी न हो कि प्रसूता शी तथा उसके बालक को प्रकाशस्त्रास (Photophobia), याने प्रकाश के कारण ओरें मूँदने की नीवत पैदा हो जाय । प्रकाश के लिए अनभ्यस्त बालक को प्रकाश सहन करने का अव्याय करने के बहुत उत्तम विधान आधुनिक में वर्णन किया है । वह यदि है कि प्रथम महीने में बालक को सूर्योदय के समय सूर्य का और प्रदोष में बन्द्र का दर्शन प्रतिदिन करावे—स्पष्ट उत्तर विद्युत विद्युतविद्युतसे प्रथम दर मानि कृतरक्षाण्ममान्तर्वयनरय चर्योदयश्यनोपस्थान, प्रदोषे चक्र-मासः ॥ (काशयपत्संहिता, जातकर्मोत्तर अस्थाय) । इस नियम से यह स्पष्ट होगा कि जो इष्टिक्षेप ऊपर बढ़ाया गया है, उसी इष्टिक्षेप से बालक का कमरा आत्मरूपज्ञत रखा जाना है । आधुनिक धैर्यानिक इष्टि से भी इसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं मालम होती, विक्षिप्ति-युक्त मालम होती है ।

संचेष में, जैसे कि धायुवेंद्र में वर्णन किया गया है, सूतिकागार स्वच्छ, सब साधन-सामग्रियों से सुसज्जित, आन-गृहादि सुविधाओं ने युक्त, प्रशस्त, सुख-प्रविचारक, प्रत्यु के धनुसार सुख-कर, प्रधात परन्तु निवात, आतपर्यावर्ति परन्तु अतमस्क, धौर-यदि हो सके तो मुख्य गृह से पृथक् होना उचित है।

जाते हि शिथिले कुक्कौ मुक्के दृदयंघंने ।
सशते जघने नारी दया सा तु प्रजायिनी ॥५॥

(प्रस्तरसामीप्य केलहण—) कुणि मैं दियिलता उत्पन्न होने पर, दृढ़य का वंधन मुक्त होने पर और जबन (प्रदेश) में पीड़ा होने पर न्यी प्रजायिनी समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्रसव समीप आ रहा है और इसके लक्षण चताये हैं। प्रत्यधि प्रसव-प्रारंभ के लक्षण नहीं चताये हैं। इनको प्रसवपूर्व लक्षण (*Premonitory symptoms*) कहते हैं। ये लक्षण प्रसव से लगभग दो सप्ताह के पूर्व उत्पन्न होते हैं। जाते ही धिथिने कुच्छी—गर्भाशय में गर्भ का आधान होने के पश्चात् मास प्रतिमास गर्भाशय की घृद्धि एतोती जाती है और उसकी घृद्धि का परिचय भगास्थि के ऊपर प्रतिमास उसकी ऊँचाई नापने से हो जाता है। नींवें महीने के अन्त तक गर्भाशय उदर गुहा में धरावर ऊपर की ओर बढ़ता जाता है (तीसरा अध्याय के १५ वें श्लोक के वक्तव्य में गर्भाशयघृद्धि देखें) और माता की कुच्छि याने उदर खूब तन जाती है। इसके बाद गर्भाशय कुछ नीचे की ओर धाता है और माता की कुच्छि में कुछ ढीलापन महसूस होने लगता है। शुद्धयन्नन्यने—नींवें महीने के अन्त तक गर्भाशय की हृत-

द्वि होती है कि वह उदरगुहा को प्रायः पूर्णतया व्याप्त रहता है और उसका ऊपर का सिरा महाप्राचीरा पेशी Diaphragm उदर और वज्र के मध्य की प्राचीर) के ऊपर दबाव ढालता है। इसका परिणाम यह होता है कि भिन्नी स्त्री को सौंस लेने में कठिनाई होती है तथा हृदय व्याप्राचीरा पेशी के ऊपर स्थित होने से उसके कार्य में गाने संकोच-विकास में कुछ कठिनाई होती है, जिसको ज़ी भी अच्छी तरह महसूस करती है। इस गर्भवृद्धि का परिणाम यह होता है कि स्त्री को अपना हृदयप्रदेश जकड़ा हुआ सा मालूम होता है। गर्भवस्था के अन्तिम दो सप्ताहों में गर्भशय कुछ नीचे की ओर आता है और उसका उदर में स्थान आठवें महीने के अन्त के बराबर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री का हृदय बन्धन छूट जाता है और उसको रघास-प्रश्वास में आसानी से मालूम होने लगती है। चरकसंहिता में सौंस की इस कठिनाई को लक्ष्य में रखकर इस लक्षण का वर्णन 'विमुक्त वन्धनविधि वक्षसः' ऐसा किया गया है। काश्यपसंहिता में कुचिं अर्थात् गर्भशय के नीचे आने का स्पष्ट उल्लेख किया है—कुचेश्च स्यादवसंस्त्वधोभागस्य गौरवम् । (जातिसूत्रीय शारीराध्याय) । अर्थात् अन्तिम कुछ दिनों में स्त्री को कुछ हल्कापन (Lightening) मालूम होता है—During the last two weeks of pregnancy, or occasionally rather earlier, the uterus sinks a little. If the

and difficulty in breathing, she will now feel more comfortable and breathe with more freedom. This is sometimes spoken off as 'lightening'. *Ten teacher's Midwifery.* हाराणन्द श्वस का अर्थ योनि और हृदयवन्धनमुखि का अर्थ गर्भाशायग्रीवा-मुखविस्तृति (Dilatation of the os) समझते हैं— रोटिमत्स्वस्य मुखाकारस्वेनोपिदिष्टा हि योनिरवश्यं हृदयमध्यगुप्त-रोति भूयिष्यं तदाकारस्वात्। विशेषतशापते गर्भं समं गर्भाभिषृद्याऽग्निषुद्धं प्रपि योपरिते प्रजननकाले ददिद्धारं प्रत्यगुल्ययाभिल-द्वितीयानामप्रमुखी निसर्गेत एव विगुल्यन्धना भयत्यास्त्वेन उदिद्युच्यते मुख इति । तथा च सिंहो माणवक इविवृद्धीयोऽयं हृदयशब्दो योनि लक्ष्यतीति हृदयमध्ये योनिमुखवन्धे मुक्ते अंगुल्येष्य खुटिवस्वेनागुभूय श्वस्यम् ।

एरामयनद्वी पा अर्थ निन्न यारणों से ठीक नहीं मालूम होता—(१) इद्य का सरल अर्थ कर सकते हैं, सरल अर्थ प्रत्यक्ष स्थिति के साथ भली भौति मिलता है और किसी प्रकार का विरोध नहीं करता। ऐसी अवस्था में इद्य से योनि समझने का जो अतिदूरान्वय किया गया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। (२) इस श्लोक में जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे प्रजायिनी स्त्री के हैं। आगे के सूत्र में जो लक्षण दिये हैं, वे आसन्नप्रसवा के हैं। अर्थात् ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रजायिनी स्त्री वह है, जिसका प्रसवकाल समीप था गया है। प्रत्यक्ष प्रसव के लक्षण उसमें नहीं दिखाई देते। ये लक्षण गर्भिणी स्त्री के घर बालों को सावधान करने के लिए दिये गये हैं, क्योंकि इनके उत्पन्न होने पर प्रसव किसी दिन प्रारंभ हो सकता है। इसलिए ये प्रसवपूर्व लक्षण कहलाते हैं और इन लक्षणों से युक्त काल प्रसवपूर्व स्थिति (Premonitory stage) कहलाता है। इस स्थिति में गर्भाशयसुखविस्तृति नहीं होती है, प्रसव प्रारंभ होने के पश्चात् होती है। इसका विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया जायगा अर्थात् यह लक्षण आसन्नप्रसवा स्त्री के लक्षणों में रखने योग्य है, प्रजायिनी के लक्षणों में रखने योग्य नहीं है। इसलिए इस श्लोक में यह अर्थ ठीक संगत नहीं मालूम होता। (३) अगर मान लिया जाय कि प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय-सुख की कुछ विस्तृति होती है, जैसे कि जेलेट ने अपनी (Manual of Midwifery नामक) पुस्तक में वर्णन किया है, तब भी यह लक्षण केवल वहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में ही दिखाई देता है—In multiparae, the external os usually begins to dilate some days before the onset of labour, so that the finger may be passed a short way into the cervical canal. ये प्रसवपूर्वकालीन लक्षण प्रथमगर्भ स्त्री में अधिक दिखाई देते हैं और अनेकगर्भी स्त्रियों में वहुत कम दिखाई देते हैं या नहीं दिखाई देते; इसका स्पष्ट निर्देश जेलेट ने किया है—In primiparae the symptoms are well marked, in multiparae they may be slight or altogether absent. अब शारीरस्थान में प्रति-

प्रसव हृत्यादि जो विषय वर्णन किये हैं उनका यदि सूचनाता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ये सभ विषय भी मैं प्रथम बार याने उत्तरी आठू में पहले पहल होने वाली घटनाओं के संबंध में लिये गये हैं। अर्थात् इनका उपयोग बार बार होने वाली हृत्याकांडों में होता है, यह हृत्याकांड है। परंतु असल में ये प्रथमगार्भी छी के नियमित लिये गये हैं। अर्थात् हृत्याकांड के प्रसववृत्तवस्था के लक्षण भी प्रथमगार्भी छी के होते हैं। अब जेलेट, जो बहुप्रसवाकांडी में प्रसववृत्तवस्था में गर्भाशयमुखविस्तृति होती है, ऐसा लिखता है कि यह यह भी स्पष्ट कर देता है कि प्रथमगार्भी छी में इस प्रकार की विस्तृति नहीं होती—In primiparae, there is, as a rule, no dilatation of either the internal or the external os until labour has actually begun इस विवरण का लालर्ड यह है कि हृत्यवर्णन का अर्थ किसी भी दृष्टि से योनि-मुखविस्तृति नहीं हो सकता है। मशूर लघने-लघन से यहाँ नानि और गुणोंगतिय के लिये का भाग, याने पेहँ प्रदेश अभिन्नेत है। इस प्रदेश में प्रसवपूर्वकाल में कुछ पीढ़ा होती है। यह पीढ़ा पचनस्त्रयन की खाली से ही प्राय हुआ करती है और विरेचन से या कोष्ठुदि करने से दूर होती है। प्रसव के पूर्व होने से इसको प्रसववेदना या आवी (Labour pains)। समझते हैं, परंतु यह पीढ़ा आवी नहीं है। इसको मिथ्यावी (False pain) कहते हैं। आवी और मिथ्या आवी में भेद—(१) मिथ्यावी प्रसव के पूर्व और आवी प्रसव के समय उत्पन्न होती है। (२) मिथ्यावी आन्वयित वायु या अन्य कारण से और आवी गर्भाशयसकोच से उत्पन्न होती है। (३) मिथ्यावी आन्वयित में और आवी पीठ के नीचे के हिस्से में मालूम होती है। (४) मिथ्यावी का उद्द्वय अनियमित समय पर और आवी का नियमित समय पर होता है। (५) मिथ्यावी मालूम होने के समय गर्भाशय पर हाथ रखने से वह कहा नहीं मालूम होता, परंतु आवी के समय गर्भाशय कहा मालूम होता है। (६) यदि गर्भाशय का मुख विस्तृत हुआ हो, जैसे कि बहुगर्भी छी में हुआ करता है, तो उसमें अंगुली ढालने से मिथ्यावी के समय गर्भ के आवरण में कोई तनाव नहीं प्रतीत होता, परंतु आवी के समय होता है।

इस तरह प्रसववृत्त स्थिति में गर्भाशय का कुछ जाँचे उत्तरना, उसके कारण हृदय के ऊपर का दबाव कम होकर आस प्रश्नास में आराम मालूम होना और उदर में कुछ पादा होना ये तीन लक्षण होते हैं। अब इसके बाद प्रसव प्रारंभ होने पर होने वाले लक्षण वर्णन करते हैं। इस प्रसव पूर्वकाल में मलमूत्र शुद्धि पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि मलारोध ही जाय तो ध्यान से कोष्ठुदि कर लेनी चाहिए—नन्त्र (चूनिकारे) अनुलोमीवैदिक विहारेखुलोमित्रवानमूरुपीतेन। इन्वेडि च विज्ञविद्वन्ये कलवतीं प्रशिद्यात्। (अद्यागसग्रह, शारीर ३)।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठ प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीदण्णु पुरीप्रवृत्तिमूर्त्यं प्रोसच्यते योनिमुखाच्छलेपा च ॥ ६ ॥

(आसनप्रसवा के लक्षण—) उपस्थितप्रसवा (छी) के कटी (समीपवर्ती) पीठ के पास तथा आरों और बार बार पीढ़ा होती है, मल (का उत्सर्ग करने)

की प्रवृत्ति होती है, मूत्र का बाव होता है और योनिमुख से श्लेषा निकलता है ॥ ६ ॥

बत्तश्व—उपस्थितप्रसवा—जिसका प्रसव प्रारंभ हुआ है, ऐसी छी। कटीपृष्ठ—कटीपृष्ठ का संधिस्थान याने विक (Sacrum)—सिन्नसवको पृष्ठवशास्त्रोर्यं संप्रिसाद विक मन् ॥ अभीश्वाम्—इसका संवेद वेदना, मूत्र और र श्लेषा का प्रसेक तथा पुरीप्रवृत्ति के साथ होता है। पुरीप्रवृत्तिमूर्त्यं प्रसिद्ध्यते—प्रसव के समय गर्भ का सिर नीचे की ओर आता है और मलाशय तथा मूत्राशय के ऊपर दबाव दालता है। इसके साथ साथ गर्भाशय में, जो कि मलाशय और मूत्राशय के धीर्घ में है, संकोष उत्पन्न होता है। इन कारणों से छी को बारबार मल-मूत्र ब्याग करने की इच्छा हुआ करती है। योनिमुखात् श्लेषा च—प्रथमगर्भ छी में प्रसव के प्रारंभ से और बहुगर्भी छी में उससे भी कुछ दिन पहले से गर्भाशय का मुख फैलने लगता है। सूर्यं गर्भाशय में प्रसवकाल तक योनिमुख बृद्ध रहता है तथा उसमें मार्गावरोधक श्लेषा का विधान (Operculum) भी बना रहता है। प्रसव के समय गर्भाशयमुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। इसके प्रसारित होने से मुख के पास संसक हुआ गर्भवरण (जारायु) मुख से पृथक होने लगता है। इसके पृथक होने से कुछ रक्त और लैसिका मुख के अध्यन्तरीय स्थान से निकलने लगती है। इस तरह गर्भाशयमुख के प्रसारित होने से मुखस्थ श्लेषा तथा कुछ रक्त योनि से खबरने लगता है। प्रसववर्तम के रक्तमिश्र श्लेषावायाव के प्रशापन ५४-५ कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि गर्भाशयमुख प्रसारित हो रहा है। बहुप्रसवा छी में यह लक्षण प्रसवपूर्वकाल में भी मिल सकता है क्योंकि उसके गर्भाशय का मुख कुछ पहले प्रसारित होने लगता है।

प्रसव की अवस्थाएँ—आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था के अनुसार प्रसव तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। (१) प्रसिन्नराख्याशय (stage of dilatation)—गर्भ बाहर निकलने के लिए गर्भाशयमुख कारी छी होने से की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे धीरे फैलता जाता है। प्रथमप्रसवा छी में इसके लिए अधिक समय (१२ घंटे या इससे अधिक) और अनेकप्रसवा में धोड़ा समय (४० घंटे) लगता है। यह अवस्था प्रसववेदना (आवी) के प्रारंभ से गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति तक होती है। (२) गर्भन्यामाशय (stage of expulsion of the child)—यह अवस्था गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारंभ होकर गर्भ का जन्म होने पर समाप्त होती है। प्रथमप्रसवा छी में इसका काल साधारणतया १-२ घंटे का और अनेकप्रसवा में १०-१५ मिनट का होता है। (३) अपराज्ञामाशय (Placental stage)—यह अवस्था गर्भजन्म होने से प्रारंभ होकर अपरा के निकलने वाले पर समाप्त होती है। यदि अपरा के निकलने में कुछ सहायता दी जाय तो यह अवस्था १०-१५ मिनट में समाप्त होती है, परंतु कुछ भी मदद न ही जाय तो इसका काल कई घंटों का हो सकता है। साधारणतया हस्तकौशल से ही अपरा निकाली जाती है।

अभिस्तरणावस्था—इस सूत्र में अभिस्तरणावस्था के ही लक्षण घर्णन किये गये हैं। इस अवस्था के निम्नलक्षण होते हैं—
 (१) प्रसववेदना या आवी (labour pains)—इस अवस्था का यह प्रधान लक्षण है और इसी के कारण अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रसववेदना गर्भाशय के आकुञ्जनों से उत्पन्न होती है। ये आकुञ्जन अनैच्छिक, सान्तर और नियमित होते हैं। प्रारंभ में ये देर में याने आधे आधे धूटे में उत्पन्न होते हैं, अल्पवल और अल्पकालीन होते हैं। धीरे धीरे इनके वीच का काल कम होता जाता है और इनका वल और काल बढ़ता है, जिससे प्रसववेदना उत्तरोत्तर प्रवल और तीव्र होती जाती है। यह प्रसववेदना अनैच्छिक (अपने मन का या इच्छा का जिस पर अधिकार नहीं होता, ऐसी) होने पर भी लज्जा, घबराहट इत्यादि मानसिक विकारों से और मल और मूत्र से भरे हुए मल-मूत्राशय की रुकावट से कम हो जाती है; और गरम पानी की वस्ति, भगायीठ पर दबाव इत्यादि से अधिक हो जाती है। यह वेदना पीठ के निचले हिस्से में याने त्रिक में और उसके आसपास (कटोष्टुं प्रति समन्वात्) इस अवस्था में मालूम होती है—During the first stage of labour, the pain is principally referred to the region of the os, Gelle's midwifery. वेदना के समय गर्भाशय कड़ा हो जाता है। प्रारंभ में गर्भाशय का आकुञ्जन औसत वीस मिनट पर एक बार होता है। धीरे धीरे यह आन्तराकुञ्जन काल कम होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में तीन-चार मिनट का होता है। अर्थात् प्रारंभ में प्रसववेदना प्रत्येक वीस मिनट पर हुआ रहती है और धीरे धीरे यह समय कम होकर प्रथमावस्था के अन्त में प्रत्येक तीन-चार मिनट पर हुआ करती है।

(२) गर्भाशयसुखविस्तृति (Dilatation of the os)—शीतन्तुओं के कार्य की दृष्टि से गर्भाशय के दो विभाग होते हैं—शरीर और ग्रीवा। शरीर के पेशीतन्तु गर्भाशय जी लंबाई में और ग्रीवा के पेशीतन्तु चौडाई में होते हैं। ग्रीवातन्तुओं के संकोच से गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद हो जाता है। प्रसव प्रारंभ होने के पूर्व ये तन्तु संकोच-युक्त अवस्था में रहते हैं, जिससे बाहर से कोई बस्तु गर्भाशय के भीतर नहीं जा सकती, न भीतर का गर्भ बाहर आ सकता है। गर्भाशय-शरीर-तन्तुओं के संकोच से गर्भाशय की भीतरी समाई कम हो जाती है और भीतर का गर्भ बाहर निकलने का कार्य होता है। इस तरह गर्भाशयशरीर और ग्रीवा के पेशीतन्तुओं के कार्य में विरोध होता है। अगर यह विरोध हमेशा के लिए होता तो अनवस्थाप्रसंग उत्पन्न हो जाता। परन्तु यह विरोध हमेशा के कारण उसकी समाई कम होती है तथा गर्भ ऊपर से नीचे को दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का सिर, जो पहले वस्तिगुहा (Pelvis) के किनारे के ऊपर था, नीचे वस्तिगुहा के किनारे पर उचित व्यास पर ढूँढ़ हो जाता है। चरकसंहिता में 'वस्तिशिरोऽवगृहात्' इस पद का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है—स यदा जानीयादिमुच्य हृदयसुरमस्यास्त्वाविशति वस्तिशिरोऽवगृहाति त्वरयन्तेनामाव्यः परिवर्तेऽधो गर्भ इति। (शारीर १०)। काश्यपसंहिता में भी गर्भशिर ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—गालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम्। वस्तिशिरोऽमधोभागमवगृहाति जन्मनि ॥ जाति-सूत्रीय शारीराध्याय ॥ (५) जायुविदारण (Rupture of the membranes)—गर्भाशयसुख विस्तृत होने के कारण गर्भवरण का नीचे का आधार टूट जाता है और ऊपर से संकोच के कारण दबाव पड़ता है। इसका परिणाम यह

में गर्भनिर्गम के लिए जितनी विस्तृति आवश्यक होती है, उतनी हो जाती है। ग्रीवा और शरीर के संकोच-विकास का यह विरोध जैसे स्वभाव से उत्पन्न होने वाले संकोच-विकास में होता है, वैसे ही कुन्त्रिम पद्धति से उत्पन्न किये हुए संकोच-विकास में होता है। कभी कभी प्रारंभ में गर्भाशय में उत्पन्न होने वाले संकोच कुछ काल के पश्चात् कमजोरी के या अन्य कारण से बन्द हो जाते हैं। उस अवस्था में हाथ की अंगुलियों से या यन्त्र की सहायता से ग्रीवामुखविस्तृति करने से गर्भाशय-शरीर में संकोच शुरू होकर प्रसव ठीक हो जाता है। किंवा जब कमजोर संकोच के कारण गर्भाशय ग्रीवामुख की ठीक विस्तृति नहीं होती, तब पोयणक ग्रन्थि निस्तार (Pituitrin) की सुरुदेकर गर्भाशय के संकोच जोरदार करने से ग्रीवामुखविस्तृति होकर प्रसव हो जाता है। गर्भाशय के शरीर और ग्रीवा के संकोच-विकास का जो यह नियम है, उसको अंग्रेजी में ध्रुवधर्म (Law of polarity) कहते हैं। इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्म शरीर के अनेक कर्मों में दिखाई देते हैं—जैसे, आँखों की पुतली फैलने के समय एक प्रकार के तन्तु संकुचित होते हैं और दूसरे प्रकार के शिथिल हो जाते हैं, तथा पुतली छोटी होने के समय प्रथम शिथिल हुए संकुचित होते हैं और संकुचित शिथिल हो जाते हैं। संवेष में यों कह सकते हैं कि शरीरगत सम्पूर्ण कर्मों का नियमन इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्मों के ऊपर निर्भर होता है। कविकुलगुरु कालिदास ने चन्द्र-सूर्य के अस्तोदय को देखकर ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जो एक नियम बताया है, (शाकुन्तल ४-९) वही नियम निष्प्रभेद करके शरीर के लिए भी यथार्थ होता है—रसद्वयस्य युगपद्वयसनोदयान्यां देहो नियम्यत इवात्मदशान्तेरेषु। गर्भाशय शरीर संकोच के कारण उसकी ग्रीवा छोटी और उसका सुख काफ़ी विस्तृत हो जाता है। (३) योनिमुख से सरक्ष श्लेष्मा का साव। इसका विवरण पीछे किया गया है। तीसरा और चौथा लच्छन प्रथमप्रसवा द्वी में इस समय में ही मिलता है। बहुप्रसवा द्वी में इससे कुछ पहले भी मिल सकता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रीवामुखविस्तृति उस समय में अधिक नहीं होती। (४) शिरोऽवग्रहण Fixation of the head)—गर्भाशय के संकोच के कारण उसकी समाई कम होती है तथा गर्भ ऊपर से नीचे को दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का सिर, जो पहले वस्तिगुहा (Pelvis) के किनारे के ऊपर था, नीचे वस्तिगुहा के किनारे पर उचित व्यास पर ढूँढ़ हो जाता है। चरकसंहिता में 'वस्तिशिरोऽवगृहात्' इस पद का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है—स यदा जानीयादिमुच्य हृदयसुरमस्यास्त्वाविशति वस्तिशिरोऽवगृहाति त्वरयन्तेनामाव्यः परिवर्तेऽधो गर्भ इति। (शारीर १०)। काश्यपसंहिता में भी गर्भशिर ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—गालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम्। वस्तिशिरोऽमधोभागमवगृहाति जन्मनि ॥ जाति-सूत्रीय शारीराध्याय ॥ (५) जायुविदारण (Rupture of the membranes)—गर्भाशयसुख विस्तृत होने के कारण गर्भवरण का नीचे का आधार टूट जाता है और ऊपर से संकोच के कारण दबाव पड़ता है। इसका परिणाम यह

होता है कि मुख की काफी विस्तृति होने पर उसके सामने की जारायु विदीर्ण होकर गर्भोदक बाहर निकलता है—आवीना मनुष्यमात्रस्तो गर्भोदकस्तः । (अष्टांगहृदय) । तोड़नन्तर-मावीना प्रादुर्मावं, प्रेनकंशं गर्भोदकस्य ॥ कभी कभी गर्भाशय-मुख पूर्ण विस्तृत होने पर भी जारायु विदीर्ण नहीं होती और गर्भोदक का साथ नहीं होता । ऐसी अवस्था में योनि में अंगुष्ठी ढालकर उसके दबाव से साथवानी से जारायु को विदीर्ण करना चाहिए । प्रयत्न के प्रारम्भ में गर्भाशय में सकोच प्रारम्भ होने पर गर्भ का सिर नीचे की ओर आगी के छिनारे पर दबाया जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि सिर के सामने का आवरण कुछ जल के साथ पीछे के जल से पृथक् हो जाता है । सिर के सामने जो जल होता है, उसको प्रसवपूर्वजल (Fore-waters) और पीछे जो होता है, उसको प्रसवोत्तर जल (After-waters) कहते हैं । प्रसवपूर्व जल जारायु के साथ सिर के सामने पक्की छोटी पानी से भरी हुई भोट के समान होता है । इसको पनमोटीरी : Bag of membranes कहते हैं । गर्भ के सिर की ओर आगी गर्भाशय का मुख विस्तृत करने में यह पनमोटीरी बहुत उपयोगी होती है । इसका दबाव गर्भाशय के मुख पर खारों ओर से समान पड़ता है, जिसके कारण गर्भाशय के प्रयोक्त सकोच के समय मुख धीरे धीरे विस्तृत होता है । जब पूर्ण विस्तृत हो जाता है, तब पनमोटीरी निराधार होने के कारण घूटनी है और उसका गर्भोदक योनि के बाहर निकलता है । प्रयत्नस्थाय के अन्त तक पनमोटीरी के अविदीर्ण रहने के लिए गर्भ की नीचे की ओर आगे वाला धौंग और कटीर के नीचे के छिनारे में कुछ मेल । (१) होने की आवश्यकता होती है । जब गर्भ प्रतिलोम या विश्राम स्थिति में आता है या कटीर टेढ़ा या सकुचित (Contracted polvis) होता है, उस समय इन दोनों में टीक मेल न होने से पनमोटीरी बहुत पहले पूर्ण जाती है और गर्भोदक बहुत पहले बाहर आता है । इसके निश्च परिणाम होते हैं । गर्भाशय का मुख विस्तृत होने के लिए काफी देर टाक जाती है और प्रयत्नस्थाय विलिवत होती है । (२) गर्भ का नीचे का धौंग और कटीर में मेल न होने से पीछे के जल को आगे को आगे के लिए कुछ मार्ग मिलता है, जिससे पीछे का जल धीरे धीरे घटता रहता है और कुछ समय के पश्चात् गर्भाशय के भीतर का गर्भोदक करीब करव नष्ट हो जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय के सकोच से गर्भ सीधा दबाया जाता है, जल के द्वारा उसका जो रक्षण होता था वह नहीं होता । इससे कभी कभी गर्भ की मुख्य हो जाती है । (३) गर्भाशयमुख का किनारा भगास्थि और सिर के बीच में पक्कड़ जाने का डर रहता है । इस तरह पक्कड़ जाने पर पह किनारा काफी इलात है और प्रसव के मार्ग में रुक्षावट पैदा करता है । ऐसी अवस्था में उस किनारे को अंगुष्ठी से ऊपर की ओर एक तरफ दबा देना चाहिए । कभी कभी जारायु के माथ बालक का जन्म होता है । यदि जारायु आप से आप न विदीर्ण हो या कृत्रिम रीति से विदीर्ण न किया गया हो । आगे ११वें सूत्र का कथन येते ।

प्रज्ञनविष्यमाणां कृतमङ्गलस्त्रस्तिपाचनां कुमा-रपरिवृत्तां पुष्पामरकलदस्तां स्वयम्भक्षुप्योदकपरिवि-

कामयैनां समभृतां यवाग्नामकण्ठात् पाययेत् । ततः कृतोपश्चाने सृदुनि विस्तीर्णं शयने स्थितामाभुमस-पर्यीमुत्तानामशङ्कनीयाभ्यतत्त्वं; स्थियः परिलुत्प्रयसः प्रज्ञनवकुशलाः कर्तितवन्याः परिचरेयुरिति ॥ ७ ॥

(प्रप्रसवास्था का कर्म—) मद्गङ्ग और स्वस्तिपाचन (उप्याहवाचन) की हुई, कुमारों से पैरों हुई, हाथ में उच्चामफल मध्यन की हुई, तैल से अम्बू और गरम पानी से स्नान की हुई, प्रसृत होने वाली छी को बल्कर यवाग्न कण्ठ तक (भरपेट) पिलाये । तदनन्तर मृदु, विस्तीर्णं (सिरहाने में) तकिया रक्षे हुए विस्तरे पर टाँगों को सिको-कर उत्तान (पीठ के बल) लेटी हुई छी की अशाङ्कनीय, हृदय प्रसवबुशल, कर्तितवन्य चार स्थिर्यों परिचयों करे ॥ ८ ॥

कथ्य—कृतमङ्गलस्त्रस्तिपाचनाम्—प्रत्यक्ष महावृ के कर्म के पूर्व वेदों के मन्त्रोदाशरूपक उप्याहवाचन करने की जो विधि है, उसके अनुसार प्रसववक्रमें के पूर्व मद्गङ्ग और पुण्याहवाचन करके । कुमारपरिवृत्तां—कुमार से यहां पुमान् अप्यत्य अभिप्रेत है । छोटे हुए बालक सी के चारों ओर रखने से 'अप्यते को भी पुत्र हो जायगा' इस कल्पना से छी की प्रसववेदना की तकलीफ कम मात्रम होगी, हृदय हाँसे से यह कर्म किया जाता है । हारणचन्द्रु कुमार से छोटे छोटे बाल समझते हैं, जिसमें बालक और बालिकाएं भी शामिल हो सकती हैं—कुमारपरिवृत्तामिति इर्वेय क्लेशपाचार-यामित्पुरिदिशते इति गमते । अनः कुमारदार्दैने रिंग्यानों कुमारी-गामपि परियोदे न्यायः । पुष्पामकलदस्ताम्—पुंषिणी जिसका नाम हो रेसा कोई फल जिसके हाथ में हो, रेसी । ऐसा पुंषिणी फल भी पुत्र की हृषि से ही छी के हाथ में दिया जाता है । गर्भ के लिंग की सूचना देने की हृषि से पढ़ते भी हृस प्रकार का शब्द प्रयोग किया गया है—शक्लान्तु पुष्पामधेयु प्रभौषु दृहृदमधियायति । (शारीर ६) । हारणचन्द्रु पुष्पाम कल से पुष्पाग समझते हैं—पुष्पाम पुमाण, 'पुमाण' पुरुषत्वं पुष्पाम पाटलमूर्ति इति राज-तिष्ठुः । पुष्पामकलदस्त्रत्वं पुनः पुष्पाप्रसव प्रत्येन वर्णयतीत्य-वचते सदिवसुर्मुखं पुष्पामिति । पश्चले पांचवें छोक के वक्तव्य में बताया गया है कि शारीरस्थायन की गर्भाशयन प्रसवादि घटनाएं प्रथमगमीं छी के संबंध में लिखी गई हैं । प्रयत्न-गर्भीं छी को तथा उसके पति तथा वर बाले अन्य लोगों को पुत्र उत्पन्न होने की वरदरत्त इच्छा होती है । हृसी इच्छा के कारण ही पुष्पवन विधि का आविष्कार तुआ है । अपार्वं प्रसव के समय भी उसके आसपास की स्थिति है प्रकार बनाये रखने छी की शिशिर की जाती है कि उसको पुत्र उत्पन्न होगा, ऐसा ही विचार उसके मन में हैं । हृसी ऐसी धौंग होती है । प्रत्यक्ष प्रसव के समय भी 'पुत्र हुआ, पुत्र हुआ, धन्य हो' ऐसे शब्द प्रयोग किये जाते हैं—'प्रवाणा प्रगाना धन्यं पुत्रं' इव । तथाऽस्यां इर्वेण्याव्याप्तयोऽपाणा ॥ (चरक) । इसलिए यहां पर कुमार में कुमार अप्यत्य और पुष्पामफल से पुष्पामवाप्तक फल (जिसमें पुष्पाग भी आ सकता है, पत्नु अथं पुंषिणी फल भी भी चल सकते हैं) ही ऐसा वाचित है । जैसे अष्टांगहृदय में भी लिखा है—पुष्पाम दाविदादिकं स्वस्यास्त्रात् । इसकी दीका में अस्त्रादित्त लिखते हैं—पश्च इसका उपाय दाविदादिकं स्वस्यास्त्रात् ।

उष्णोदकपरिपित्ताम्—उष्णोदक से गर्भिणी की नहलाने के लिए जेलेट भी कहते हैं—It is also a good thing for the patient to have a warm bath during the premonitory stage. स्नान से शरीर की और जननेन्द्रिय की सफाई होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं और गर्भिणी प्रसव-देवनाओं को अच्छी तरह सह सकती है। सम्भूतां यवागूम्—चीर, घृत इत्यादि से युक्त होने के कारण पुष्टिकर। प्रसव के पश्चिम में शक्ति देने के लिए यवागूदी जाती है। उत्तोपथाने मृदुनि विस्तीर्ण शयने—रुई की मृदु गही पर सिरहाने में तकिया युक्त विस्तृत विछौना। आधुनिक काल में गही और चादर की रक्षा रक्कादि से करने के लिए उस पर जलाभेद चहर (Mackintosh) विछौने की पद्धति है। अटांगसंग्रह में शयन के ऊपर चर्म-प्रच्छुद का प्रयोग करने के लिए लिखा है। इसका भी उपयोग म्याकिन्टोश के समान हो सकता है—ततः चुरक्तार्पं चर्मप्रच्छुदे मृदुनि भूमिशयने। (शारीर ३)। आमुस-सक्तेयुक्तानाम्—जानु सिकोड़कर पीठ पर लेटना। इस आसन को पृष्ठासन (Dorsal position) कहते हैं। अशङ्कनीया—यासां लज्जाभयादिकं न करोति गर्भिणी। (ड्रहण)। किंवा जिनके शील, शौच, आचार, विनय, सौहार्दं, अनुरक्ति इत्यादि गुणों के संबंध में (आगे चरक का चत्तन देखो) शंका न हो। तत्सः लियः—चरक और अटांगसंग्रह में अनेक स्थिर्याँ उपस्थित रखने के लिए लिखा है—स्थिर्यथ वहयो वहुशः प्रजाताः। इनके लिए पृथक् पृथक् काम भी वताये गये हैं—(एका) स्त्री पादतोडस्या निष्पण्णाया योनिमनुलोभमनुसुलमध्यज्य स्फिन्जी पादाभ्यां पीड़येत्। अन्या (द्वितीया) तु वामकर्णेऽस्या मन्त्रिमिं जपेत् 'क्षितिर्जलम्' इत्यादि (आगे ८वें सूत्र के चक्रव्य के अन्त में देखो) तथा परा(तृतीया) तुशिष्यात्, अनागतायां वैदनायां मा प्रवाहिष्टाः। तद्वचान्त्यतमा (चतुर्था) स्त्री जातमात्रमेव वालं वालो-पचरणीयेन विधिनोपादयेत्। (अटांगसंग्रह, शारीर ४)। इसमें संदेह नहीं है कि, काम ये ही हों या आधुनिक काल के अनुसार दूसरे हों, प्रसव के समय अनेक स्थिर्याँ होने से काम करने में सब प्रकार की सुविधा होती है। इसलिए प्रसव के समय अनेक स्थिर्याँ रखने की प्राचीन पद्धति आधुनिक काल में भी अनुकरण करने योग्य है। प्रजनन-कुशलाः—प्रतिपत्तिकुशलाः। (चरक)। गर्भनिकासने कुशलाः। (इन्द्रु)। कर्तवत्तनयाः—योनि में हाथ प्रवेश करते समय अंगुलियों के नख घण उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए उनको कटवाना बहुत आवश्यक है। इसके सिवा नखों के नीचे बहुत मल (आधुनिक परिभाषा के अनुसार Septic matter) इकट्ठा होता है, जो योनि में प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकता है। नालून काटने पर उनके नीचे इकट्ठा हुआ मल चला जाता है और हाथों की सचमुच सफाई होती है। नालूनों के अतिरिक्त हाथों के अन्य हिस्से में कोई विशेष खरादी नहीं होती। आधुनिक काल में भी शास्त्रकर्म के पूर्व हाथों की सफाई में नालूनों के ऊपर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है और काटने के पश्चात उनके और मांस के बीच का भाग जहाँ पर मल इकट्ठा होता है, शुश्रा से रगड़कर स्वच्छ किया जाता है। शारीर की स्वच्छता

की हाइ से आयुर्वेद में हमेशा नालून कटवाने का उपदेश किया गया है—नीचरोमनस्वशमश्विर्मलायनः। (अटांग हृदय)। पञ्चरात्रान्त्रालक्ष्मशकेशोमाणिं कर्तवेत्। (योगरत्नाकर)। चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी स्थिर्यों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—स्थिर्यथ वहयो वहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ता सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवस्तलास्त्यक्तविधादः क्लेशात्तिहन्योऽभिमताः। चरक के इस वर्णन में 'वहुशः प्रजाताः' यह गुण बहुत महत्व का है। जो स्त्री स्वयं कई बार प्रसूत हुई है, वही स्त्री प्रसूति के समय स्त्री को कितना कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी लाचारी होती है, कितनी लज्जा (जो कि स्त्री का परम भूषण है) छोड़नी पड़ती है, और इन वातों का परिणाम आसन्नप्रसवा विशेषतया प्रथमप्रसवा स्त्री के मन पर कैसे होता है, इसको समझ सकती है। इसलिए वहुशः प्रजाता स्त्री प्रसव रूप आपत्ति (एक हाइ से आपत्ति ही कहना उचित है यद्यपि वास्तव में वह आपत्ति नहीं है) में फैसली हुई स्त्री के साथ जितना सौहार्द, अनुराग और सहस्रवेदना (सहानुभूति) प्रकट कर सकती है उतनी सहानुभूति कारी, वन्ध्या या वालविधवा स्त्री नहीं प्रकट कर सकती। स्थिर्योंकि जैसे 'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वा प्रसववेदनाम्' वैसे ही—कुमारी न विजानाति गुर्वा प्रसववेदनाम्। आधुनिक काल में दाई (Midwife) का व्यवसाय हो गया है, जिसमें शुल्क लेकर दूसरे का काम किया जाता है। इसमें प्रेम, अनुरक्ति और सहानुभूति का सम्बन्ध बहुत थोड़ा होता है। इसके सिवाय ये स्थिर्याँ प्रायः कारी, या विधवा या वन्ध्या (स्वाभाविक या कृत्रिम) होती हैं। इसलिए प्रसववेदना से पीड़ित स्त्री को सान्त्वना देने के बदले ये स्थिर्याँ कई बार उसकी दिल्लगी उड़ाती हुई देखी जाती हैं। यह कथन अधिकतर अस्पताल के लिए लागू है, घर के लिए नहीं। कुछ भी हो, एकाध अपवाद या सुखभावी स्त्री को छोड़कर कारी या वन्ध्या स्त्री की अपेक्षा वहुशः प्रजाता स्त्री प्रसव के काम के लिए अधिक अच्छी होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम मनुष्य के मन पर जैसे होता है, वैसे उस अनुभव की कल्पना करने से नहीं होता। सौहार्दयुक्ता, सततमनुरक्ता, प्रकृतिवस्तलाः—स्त्रिवधता, अनुरक्ति ये परिचारक के गुण (सूत्रस्थान ३४-२२ और उसका वक्तव्य देखो) हैं। प्रसूता यद्यपि रोगी; नहीं है तथापि उसकी परिचारिका रोगी के समान करनी पड़ती है। अर्थात् सौहार्द और अनुराग ये गुण स्थिर्यों में बहुत आवश्यक हैं। इनके सिवा और एक गुण प्रसूता की परिचारिका में होना आवश्यक है, जो अन्य परिचारिका में उतना आवश्यक नहीं है। वह गुण है प्रकृतिवस्तलता, याने दिलूंसे बच्चों को प्यार करने का स्वभाव। त्यक्तविधादः—प्रसव के समय प्रसूता की लाचारी को और दुःख को देखकर विपाद उत्पन्न होता है। उसमें अगर विलम्बित प्रसव, मूढगर्भ, रक्तज्वाव इत्यादि आपत्तियाँ खड़ी हो जायें, तो विपणनता और भी बढ़ जाती है। विपाद से चेतोभङ्ग होता है—विपादश्वेतसो भङ्ग उपायभावनाशयोः। अर्जुन के भारतीय युद्ध के पूर्व विपाद हुआ था। विपाद से शरीरकी क्या दशा होती है उसका सुन्दर वर्णन माहौलीता में स्थित है, सीढ़िवृत्ति में ग्रामार्पि सुखं च।

परिगुणनि । वैपुषुक शरीरे में प्रसववैद्यत जापते ॥ गाण्डीव संतरे हस्तारम्बन्धे परिदर्शो । न च यज्ञोऽवश्यात् ग्रन्थोऽ च मे मन् ॥ (प्रथम अध्याय ११-१०) । यदि प्रसव के समय छीं की ऐसी अवस्था हो जायगी तो उत्तरे कुङ्ग भी काम नहीं होगा । इसलिए प्रसव कराने वाली दियों में रक्ष-विपाक्ष यह एक महत्व का गुण है । खद्वासास—अष्टावासप्रह में उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त यह शब्द अधिक है । इससे प्रसाविका के कपड़े की स्वच्छता की ओर ध्यान लींगा गया है । प्रसाविका को अपने हाथों और कपड़ों की स्वच्छता पर बहुत ध्यान देना चाहिए । इसका निर्देश 'अहतवासा' और 'हृत्तनावा' से किया गया है । इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसाविका दिनी रोग से पीड़ित न हो । विवेच करके खद्वा के और मुख तथा खसनस्थान के रोगों से पीड़ित होना भयावह होता है । इससे योनि, गर्भाशय दूषित होने का डर होता है । दाक्तर या वार्षीय भी अगर प्रथम प्रसव में भाग लेने वाले हों तो वे भी मुख या खसनस्थान के और खद्वा के रोगों से मुक्त और स्वच्छइसवाक्युक्त होने चाहिए । प्रसाविका के समान प्रसूत होने वाली छीं के लिए भी जो जो वस्त्र प्रयोग में जाती है, वे सब स्वच्छ-निर्मल होने चाहिए । प्रसूत होने वाली छीं के कपड़े प्रसव के बाद खराब हो जाते हैं, इसलिए उसको प्रसव के समय गान्धे कपड़े देने का रिवाज कई जगह देखा जाता है । परन्तु यह रिवाज बहुत खराब है । भाजन करने के पश्चात् यादी खराब हो जाती है, इसलिए भोजन करने के लिए जब खराब यादी लेने का कहीं पर रिवाज नहीं है तब इसमें इस प्रकार का रिवाज क्यों ? भाजन के लिए स्वच्छ यादी की जितनी आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक प्रसव के लिए स्वच्छ कपड़ों की आवश्यकता है । इसलिए प्रसव के साथ सम्बन्ध रखने वाली सब चीजों (जैसे—वस्त्र, जल, पात्र, यन्त्र, खाद्य हस्तादि) का स्वच्छ और निर्मल होना आवश्यक है । आधुनिक काल में ये सब चीजें कम्पविशेषण से शुद्ध करके ली जाती हैं ।

प्रथमावस्था की अवस्था—प्रसववेदना के प्रारम्भ से प्रथमा अवस्था का प्रारम्भ होता है । इसका प्रारम्भ होते ही गर्भिणी को पूर्ण द का तैल या चट्टिमध्यादि चूर्ण या अन्य विशेषन देकर कोठ शुद्धि करना चाहिए और प्रथमावस्था के मध्य में वस्ति देकर मलाशय को खाली करना चाहिए । इससे गर्भ के रास्ते में मलाशय की रक्कावट नहीं होती तथा प्रसव के समय भल से अपवर्यमार्ग तथा अन्य लकड़ियाँ खराब होने का डर नहीं रहता । काष्ठशुद्धि ठीक होने से बार बार मलोत्तरण करने की श्रृंखला कम हो जाती है । इस अवस्था में बार बार मूत्र त्वागने की इच्छा भी होती है । इसके लिए बार बार मूत्र त्वागना ही उचित होता है । यदि गर्भ सिर के द्वाव के कारण मूत्र त्वागने में कठिनाई भालूम होती हो तो सालाई से भूतावाय खाली करना उचित है । मलाशय और मूत्रावाय खाली रहने से गर्भ का भारी निकटवास हो जाता है । (३) लान और जननेनिय भी स्वच्छा—रातम पावी से खान और रसान के समय ही गरम पानी से खाननेनिय की अन्वरद्धि स्वच्छता

करना । (५) तपु आहार या सेवन—प्रसववेदना में माता को यकावट होती है, इसलिए इस अवस्था में माता की सुखाश्य शल्कर आहार देना चाहिए । हस टॉटे से यवां दर्ने की पहित उत्तम है, यवोंकि यवां गृहकी, शल्कात्क, नुसा और शुधा भी शामक होती है—patients should be encouraged to take light food during the first stage. Ten Teachers' Midwifery कारयपद्धति में उत्तम छीं को मध्य देने का पृथक्य मत दिया है, परन्तु कारणपद्धति उसको प्रमद्द महों करते—उत्तम पायदे मध्यामलेक, नति अवश्य । (आतिसूदीय शारीराभ्याय) । (६) गर्भिणी या भासन—यदि प्रसववेदना बहुत तीव्र हो आर माता को यकावट मालूम होती हो तो विस्तरे पर घेना टीक है । परन्तु यदि वे मामूली हो तो माता को उसे रहकर दृढ़ना ही उचित है—सारथ वृत्तमध्यम (धृष्टांगहृदय) । अन्यथा चक्रमण व पुनरुद्धेयमिति । (चरक) । प्रसववेदना तीव्र होने पर ग्रीवामुखविलृति होने में देर नहीं लगती, परन्तु यह मन्द होती है तब देर लगती है । इसी अवस्था में गर्भिणी के सदी होकर चलने-फरने से गुरुत्वाकरण के कारण गर्भोदक तथा गर्भ के द्वाव ग्रीवा के ऊपर पड़ता है, जिससे गर्भाशय का सुख विस्तृत होने में सहायता होती है । इसके सिवाय ग्रीवा के ऊपर द्वाव पड़ने से तथा उसका सुख विस्तृत होने से गर्भाशय के आकुलन भी जोरदार होने लगते हैं । जूम्भण के समय कुपुष्प के भीतर सारांश यास की अपेक्षा अधिक हवा भीतर लगती है । इसका परिणाम यह होता है कि उद्दृक्तमध्यस्थ महाप्राचीरा देखी अधिक नीचे को जाती है और गर्भाशय की अधिक नीचे की ओर द्वावती है । सचेप में, जूम्भण और चक्रमण प्रसववेदना बढ़ने के अनायासी उपाय हैं—The uterine contractions of the first stage act more advantageously when the patient is in erect posture, as the action of gravitation increases the downward pressure of the ovum. Jellies Midwifery चरकसहित में अन्य लाचारों का मुख्य ग्रहण करके लोखडी में धान्य कूटने के ल्यादाम का जो मत दिया है, उसका स्वरूप धर्ती पर भगवान् आत्रेयजी ने किया है । अतः उस मत के अनुसार दाला अध्याम इस अवस्था में न करना चाहिए । इसके सिवा यह भी देखा जाता है कि प्रथमावस्था में गर्भिणी स्वयं विस्तरे पर उत्तरे तक देखे की अपेक्षा दृढ़ना ही प्रसन्द करती है । प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि गर्भिणी प्रारम्भ से ही विस्तरे पर लेटी रहे तो उसका मन प्रसव जलदी न होने के कारण कुङ्ग निराशामुक आर चिंतित हो जाता है, क्योंकि शुरू से ही वह प्रसव होने के फेर में रहती है । दृढ़ने से उसका मन कुङ्ग इधर-उधर जाता है, जिससे बेदना इधर कम मालूम होती है । तथा पैदा बेदना कितनी ही कम क्षम हो, इससे ही को जहर हुब्ब बेचनी मालूम हो सकती है । ऐसी अवस्था में छीं के पीठ, कमर, पार्श्व इत्यादि स्थानों में गरम तैल का मालिश करने से उसको कुङ्ग आराम मालूम होता है—इसाधानवरतना कटीश अष्टसंविदेशनीदुष्णेन तेलनाम्यज्ञानुद्युमनवृद्धोदय (चरक) ।

Many women experience a feeling of relief and comfort when the lower part of the body is pressed on or rubbed during a pain. *The Teachers' Midwifery* इसलिए यदि शावस्यक हो तो आवी का पृथमाग वेदना के समय मर्दन करना उचित है। इस प्रकार प्रथमावस्था में गर्भिणी की परिचर्या करनी चाहिए। अब हितीयावस्था का कर्म वर्णन करते हैं—

**अथात्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्या-
नुव्याच्यनैनामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्रासादी
प्रवाहस्व, ततो यिमुक्ते गर्भनाडोप्रवर्ष्ये सश्लेषु
श्राणिवृष्ट्यावस्तिशिरःसु च प्रवाहेणः शनैः शनैः
(पुर्व॑ ; ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढ़, ततो गर्भं योनिसुखं
प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात् ; अकालप्रवाहणाद्
वधिरं मूकं कुञ्जं व्यस्तहनुसूर्ध्वाभिघातिनं कास-
श्यासशापोपद्रवं विकटं वा जनयति ॥ ८ ॥**

(हितीयावस्था के कर्म—) अब उन (स्त्रियों) में से एक (सी) उस (गर्भिणी) के अपत्यद्वार पर अनुलोम और सुख से (तैल का) मालिश करके उसको कहे कि हे सुभगे ! (अब) प्रवाहण करो, आवी न होने पर प्रवाहण न करो । (प्रयम) गर्भमार्ग का बन्धन खुल जाने पर और शोषी, चहूण और वस्ति शिर में पीड़ा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो, गर्भ के बाहर निकलने के समय अधिक लोर से (प्रवाहण करो) और पश्चात् गर्भयोनिसुखद्वार पर पहुँचने पर (योनिमार्ग गर्भ रूप) शल्यविरहित होने तक अत्यधिक लोर से (प्रवाहण करो) । अकाल में प्रवाहण करने से (गर्भिणी) वहरे, गूंगे, कुरवे, व्यस्तहनु के, सिर पर धातित, कास श्वास और शोष से युक्त अथवा विकृताकारी (अपत्य) को जन्म देती है ॥ ८ ॥

**वत्तश्य—विशिखान्तरम्—विशिखाया अपत्यमार्गस्थान्तरम्-
भ्यन्तरं विशिखान्तरम् । अपत्यमार्ग का अभ्यन्तर भाग
याने योनि—श्वायोनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य । (अष्टांग-
संग्रह) । अनुलोममनुसुखमभ्यज्य—जपर से नीचे की ओर
मूढ़ता से तैल से मालिश करके । प्रवाहण—निकृन्धनं कुरु;
'वाह' प्रयत्ने, इत्यस्य धानोरात्मनेपदिनः प्रयोगः । (ढल्हण) ।
प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों ओर से
आधार दिया जाता है तथा गर्भाशय नीचे की ओर दवाया
जाता है । प्रवाहण में उदर-ग्राचीर की पेशियाँ, उदरवज्ज्ञ-
मध्य महाग्राचीरा पेशी, वक्ष की पेशियाँ सुख्यतया
सहायता (Accessory muscles of labour) करती हैं ।
इनके सिवा इनका कार्य ठीक होने के लिए शाखाओं की
पेशियों से भी सहायता ली जाती है, जो वक्ष और उदर
को स्थिर किया करती हैं । इन सहायक पेशियों के संकोच
से उदर की समाई कम होकर गर्भाशय में दबाव पड़ता है ।
जैसे कि मल्मूत्रोत्सर्ग के समय कुन्धन से मल्मूत्रोत्सर्ग
में सहायता होती है, वैसे ही गर्भनिष्कासन के लिए
उत्पन्न हुई प्रसववेदना के समय प्रवाहण या निकृन्धन
(Bearing down efforts) से गर्भनिष्कासन में सहायता
होती है । न चाप्रासादी प्रवाहस्व—गर्भनिष्कासन का कार्य
आवी का याने गर्भाशयसंकोच का है, प्रवाहण उसमें**

सहायता करता है । अर्थात् गर्भजन्म में आवी प्रधान और प्रवाहण गौण कारण है । हस्तलिपि जिस समय आवी नहीं होती उस समय प्रवाहण कितने ही जोर से क्यों न किया जाय, वह आवी का काम नहीं कर सकता, व्यर्थ होता है और माता को थकावट पैदा होती है । चरकसंहिता में अकाल प्रवाहण का सुन्दर वर्णन किया है—या शनागवावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति । यथा हि चक्षुद्वारवावूप्तपुरोपवेगान् प्रयत्नानोऽप्यप्राप्तकालात् लभते कुच्छेष्याप्तवास्त्रोत्तिः, तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहाणाणा । (शारीर ८) । विमुक्ते गर्भनाटीप्रवन्धे—गर्भस्य नादया मार्गस्य प्रवन्धः प्रकर्मण गतिरोधो यदि तदिनन् गर्भनाटीप्रवन्धे गर्भाशयमुखे विमुक्ते प्रस्फुटिने इत्यर्थः ॥ नाढी शब्दं यहाँ पर मांग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—नादयः पंथानो मार्गाः शरीरच्यद्विद्याणि । (चरक) । संदेष में, गर्भाशयमुख पूर्णतया प्रस्फुटित होने पर । गर्भनिर्गमे—गर्भं गर्भाशय से चलित होने पर—दस्त्यानाऽर्भस्य निःसरणाय गमनं गर्भनिर्गमत्स्थिन् गर्भनिर्गमे । (ढल्हण) । योनिगुहम्—योनि का वाल्य द्वार या भग्द्वार (Vulval orifice) । गर्भ को योनिद्वार पर बाहर निकलने के लिए कुछ रुक्कावट होती है । गर्भाशय मुख से बाहर निकल जाने पर गर्भ योनि में आता है । योनि की दीवार श्रोणिगुहाभूमि (Polvico floor) पर आधारित होती है । यह भूमि पेशियों से बनती है । गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से योनि में आया हुआ गर्भ (अर्थात् गर्भ का सिर) संकोच के स्थायकाल में श्रोणिभूमि पेशियों के द्वारा फिर से ऊपर दवाया जाता है । इस तरह भग्द्वार तक आया हुआ गर्भ कई बार फिर योनि में चला जाता है । धीरे धीरे गर्भाशय के जोरदार संकोचों से तथा प्रवाहण से श्रोणिभूमि इतनी तन जाती है कि वह 'गर्भ को ऊपर दवाने में असमर्थ होती है, जिससे योनिद्वार पूर्णतया विस्फुटित होकर गर्भ का दिश द्वार में स्पष्टतया और पूरा दिखाई देता है । हस्तको शीर्पदर्शन (Crowning of the bone) कहते हैं । गाढतरमाविशल्यभावात्—गाढतरमाप्रसवात् । अष्टांगसंप्रह में स्पष्ट लिखा है—'गर्भस्य योनिसुखप्रतिपत्ती गाढतर-माप्रसवादिति । (शारीर ३) । अर्थात् गर्भ का जन्म होने के समय तक । ढल्हणाचार्य 'अपरासहितगर्भप्राप्त्यर्थम्' लिखते हैं । परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ के साथ अपरा बाहर नहीं आती, योदो देर के बाद आती है; हस्तको स्पष्ट उल्लेख 'अथ प्रसवाया न चेदपरा पतति ततः' (अष्टांग-संग्रह) इस वाक्य में भिलता तथा व्यवहार में देखा जाता है । इसके सिवा अपरापतन के लिए गाढतर प्रवाहण की भी आवश्यकता नहीं होती । वह गर्भाशय के संकोच से ही नीचे चली आती है । यहाँ पर शल्य शब्द का जो प्रयोग किया है वह एक इष्टि से बहुत योग्य है और उसका तथा गाढतर प्रवाहण का संबंध भी होता है । गर्भ या बालक माता को कितना ही प्यार क्यों न हो, माता की योनि के लिए वह शल्य (Foreign body) रूप होता है और उस शल्य को निकाल देने के लिए प्रवाहण चाहे माता करे या न करे, प्रतिद्वेष किया (Reflex action) से आप से आप होता है—These expiratory or expulsive efforts are partly voluntary but largely

reflex, due to the presence of a foreign body in the vagina. Ten Teachers' Mysterious द्वितीयास्था की प्रगतिरेतना—द्वितीयास्था में गर्भादाय के संकेत अधिक जोरदार होते हैं, अधिक देर तक होते हैं और उनके द्वितीय का समय अल्प होता है। इस अवस्था के अन्त में, यांत्रे प्रवाह के भव्य प्रवाह संकेत एक जिनठ या उससे कुछ अधिक होता है और उनके द्वितीय में २-३ मिनट का समय होता है। प्रवाह गर्भजन्म के समय यह संकेत निरन्तर होता है। इसके सिवा इसके गर्भ प्रवाहणार्थ आप से आप होता है, यांत्रे को पाहूँ निकालने में केवल गर्भादाय संकेत असमर्पि रहते हैं। इसलिए प्रसव के समय विना कहे भी स्त्री प्रवाहण किया करती है। परंतु यदि यह सोच-भस्तरक टीक उसी समय अपने संरूप बाल से प्रवाहण करे तो और भी अधिक सफलता मिलती है; इसलिए 'प्रवाहस्त्र, न चप्राहाशी प्रवाहस्त्र' इस प्रकार कहने का रिकाज पढ़ गया है। गर्भालयवाहाणम्—अप्राप्तावी-कालप्रवाहाणम्। वर्षित मूर्ख—हस्तादि—अकाल प्रवाहण से ये विकार उत्पन्न नहीं हो सकते। अगर जन्म के पश्चात् ये विकार बालक में दिलाई दें तो उनकी उत्तरि गर्भवृद्धि-कालीन पूर्वार्द्ध तथा माता के आहार-विहार से सम्बन्धित होती है। इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के २४५५ अध्याय के खें सूत्र के वक्तव्य में, शारीरस्थान के दूसरे अध्याय के २२५-२३५ खें रखेंहो में तथा उनके वक्तव्य में, तीसरे अध्याय के २२२ खें सूत्र के वक्तव्य में तथा उनके रखेंहो और उनके वक्तव्य में किया गया है। योगेश्वीरन के समान भवालप्रवाहण अहिताह दोता है, इसमें कोई संसाध नहीं है—ददा ऐश्वर्य चुवाहालीन संसाधलग्नवाजदोरपदा, चोप्राप्तावय गर्भवाहाणम्। (चरक)। अत्राकाल में प्रवाहण और प्राप्ताकाल में अप्रवाहण का परिगम यह होता है कि प्रवाहण इस गर्भ को पाहूँ निकालने में असमर्पि होती है और वह वार अप्रवाहण मिलने के बारे गर्भादाय असमर्पि हो जाता है। इसका परिगम गर्भादाय की जड़ता या गो (Uterina foecula) में और दूसरी दृष्टि से प्रवाहणिक रूप में होता है। इसके विना और द्वितीय गर्भ को पाहूँ निकालने में असमर्पि होती है और वह वार अप्रवाहण मिलने के बारे गर्भादाय असमर्पि हो जाता है। इसका परिगम गर्भादाय की जड़ता या गो (Uterina foecula) में और दूसरी दृष्टि से प्रवाहणिक रूप में होता है। इसके विना और द्वितीय गर्भ को पाहूँ निकालने में असमर्पि होती है और वह वार अप्रवाहण मिलने के बारे गर्भादाय असमर्पि हो जाता है।

दृष्टि-दृष्टि से न्या—द्वितीयास्था का गुण कहा जाता है कि वार वर्षीय गर्भादाय नहीं, उत्तरि विवाहा और अप्रवाहण दोहरा होती है। दर्शी के बारे यह की वर्ती और लालौं तुष तेज द्वा जाती है तथा वर्ष यह दर्शी का अन्त जाता होता है। गाय और गध गर्भ गर्भादाय से बचते रहते हैं और रेत गर्भादाय से बचते रहते हैं। न्या—द्वितीयास्था में वर्ती होता जाता है। न्या द्वितीयास्था होती है, उत्तरि द्वितीयास्था नहीं होती है। उत्तरि द्वितीयास्था के वाराम से दी गयाएँ विनाएँ जब लेता रहता है। वह विनाएँ अवृत वर्ष में होती है।

सकता है, परन्तु उससे स्त्रिया या पछां पर होता अधिक प्रशस्त है क्योंकि पछां या स्त्रिया पर सहायता करने वाली विनों के प्रसव के समय सहायता करने में कुछ सुविधा होती है। प्रसव के समय सहायता से भी पछां अपना होता है क्योंकि स्त्रिया में बोच में झोला पड़ता है—आपो दि स्तरदण्डेन खट्टवायारेष्वर्तुः। (अर्णवग्रहण)। अस्त्रावस्थाना पर्यैत्तेनामारोप्य प्रवाहित्युमुनमेत्। (चरक)। प्रसव के लिए पछां पर दी का आसन आनुप्राप्तिय उत्ताव ही (Dorsal position) होता है जैसे कि पिछले समय में बर्णन किया है, किंवा मूर्शमंदसुखकर्म में बताया है—उत्तावाना आनुप्राप्तिय बायापाकेन्त्रिकरण्या। (चिकित्सा १२)। उत्तावासन के लिए पछां उत्ताव ही आसन आनुप्राप्तिय उत्ताव होता है। आनुप्राप्तिय काल में कुछ दोग उत्तावासन की ओर कुछ पार्श्वस्थान छोड़ पसन्द रहते हैं। इस आसन में लेने पर दी को स्तरिताने और पैदाने से कुछ आधार प्रणाल करके आपी आने पर प्रवाहण का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। प्रवाहणयुक्त प्रसवदेतना से गर्भ घरे घरे गर्भादाय से जीवे योनि में जाता है और योनि से बाहर चढ़ा जाता है। इसमें योनिहार में भी कुछ कठिनता होती है। इस कठिनता को दूर करने के लिए योनिहार तथा उसके आस-पास का, विशेषता भी वा (मूर्शाधार पीठ Pectenium) भाग स्तु, चिकित्सा और प्रसरणार्थी इसने की कोशिका करनी चाहिए। वैसे हो गर्भार्थीहार्दिन से इन झटी में छासिका भरकर इन्होंने स्तु बना ही देनी है। इस स्त्रामाधिक युक्तुा से हृतिमीरिया अधिक युक्तुा उत्पन्न करना कठिन है। उत्तरि द्वितीया इस बांधी की जाती है कि यह स्त्रामाधिक युक्तुा बायामें रहे और इसमें योनि प्रवाहण करने के लिए योनिहार तथा उसके आस-पास का, विशेषता भी वा (मूर्शाधार पीठ Pectenium) भाग स्तु, चिकित्सा और प्रसरणार्थी इसने की कोशिका करनी चाहिए। इस काम के लिए राशदूरा का धोरे (Mercury lotion) प्रयुक्त नहीं होता। क्योंकि वह माझी होने के कारण विस्त्रे संकुप होता है, उसको सक्त बना देता है। आनुप्राप्ति में योनि की युक्तुा इसने के लिए ही विस्तारासन का अवयव करने के लिए बहुत ही दोनोंदण्डेनामुक्तुा आवश्यक होती है। (वर्णाग्रहण)। अवयव से युक्तुा बनाव होती है, वह यदि बहुत हो जाए तो वह बारेरा। (चिकित्सा ११)। हार्दिन धारण के गमय योनि का आवाह अपरामानी में गार्भ उत्तरि बरने के उत्तराय से ही दिया जाता है, इसमें घोरे गोरे नहीं होते हैं। द्वितीयास्था में द्वारारेतना के गमय प्रवाहण करने की वाराम जाती है। वह वार द्वितीयास्था में गमय द्वारारेतना के गमय की वाराम होती है—द्वारारेतना वार द्वारारेतना होती है। (वारारेतना ग्रन्ति १-३)। अद्यायी, the loud uterine叫声 can be like a roar. *Uterine discharge*, हार्दिन वह अपराम दृष्टि तृप्त हो जाता है तब आवारेतना के गमय वारारेतना

करना उचित नहीं है । इससे योनिद्वार या मार्ग चिदीण (Loceration) होने का ढर रहता है । योनिद्वार पर गर्भ आने से प्रसववेदनाएँ अत्यन्त तीव्र स्वरूप की हुआ करती हैं, जिससे माता प्रवाहण कर नहीं सकती, परंतु रोने या चिलाने लगती है । रोने या चिलाने से प्रवाहण का कार्य आप से आप बन्द होता है । इस रुदन या क्रन्दन को योनि का रुदाकर कर्म (Infelty ralorato notion) कहते हैं । यह कर्म निसर्गतः हुआ करता है । इसलिए गर्भ के सिर का जन्म होते समय अगर स्त्री रोती या चिलाती हो तो उसको कुछ भी न कहना चाहिए । अगर उस समय वह पहले की तरह प्रवाहण करना चाहे तो उसे प्रसववेदना के समय प्रवाहण करना मना करना चाहिए । प्रसववेदना के वीच में जरान्सा प्रवाहण करने पर प्रायः सिर योनिद्वार से बाहर निकलता है और दूसरी प्रसववेदना के समय संपूर्ण चालक बाहर आता है और उसके पश्चात् शेष गर्भोदक और कुछ रक्त निकलता है । गर्भ का जन्म होने पर द्वितीयावस्था समाप्त होती है । प्रथमप्रसवा स्त्री में इस अवस्था का काल १-२ घंटे का होता है और अनेकप्रसवा स्त्री में १५-३० मिनट का होता है । गर्भ का जन्म होने के पश्चात् गर्भाशय नाभि से नीचे आ जाता है ।

द्वितीयावस्था का वैदिक कर्म—निष्ठ मन्त्र गर्भिणी स्त्री के कान में पड़े जाते हैं—त्रितीजं वियत्तेजो वायुविष्णुः प्रजापतिः । सगर्भा त्वा सदा पांतु वैश्लयं च दिशन्तु ते ॥ प्रदृष्ट ऋसविष्टु-मविद्विष्टा शुभानने । कार्त्तिकेयस्थिति पुत्रं कार्तिकेयाग्निरचित्तम् ॥ (चरक) । अष्टांगसंग्रह में निम्न दो श्लोक और दिये हैं—इदमृतश्च सोमश्च चित्रभानुश्च भासिने । उच्चैःश्रवाक्ष तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥ इदमृतमपां सम्भूतं वै तव लयुगर्भमिमं प्रमुद्धतु स्त्री । तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्नुपूर्वदिशन्तु शान्तिम् ॥ किंवा इन च्यवनग्रणीत मन्त्रों से सप्तवार अभिमन्त्रित जल पाने के लिए दिया जाता है—जलं च्यावनसंब्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम् । पीत्वा प्रसृते नारी । (घृन्दमाधव)

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् ॥६॥

उसमें प्रतिलोम (गर्भ) को अनुलोम करे ॥६॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—विषम शरीरस्थिति से धाया हुआ गर्भ प्रतिलोम कहलाता है । अनुलोमन—विषम शरीर को सम करके निकालना—गांत्रं च विषमं स्थितम् । आंद्रनोतीट-संपीडविक्षेपेत्वेषादिभिः । अनुलोम्य समाकर्पयोर्नि प्रत्यार्जवागनम् ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर २) । इस विषय का अधिक विवरण चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय में किया गया है ।

गर्भसङ्गे तु योनि धूपयेत् कृष्णसर्पनिमोक्तेण पिण्डीतकेन वा, वधनीयाद्विरण्यपुष्पीभूल हस्तपादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥१०॥

(गर्भाशयसंग की चिकित्सा—) गर्भसंग में काले सांप की कुचुली या मदनफल (को जलाकर उसके खुएं) से धूपन करे; हाथ-पांव में हिरण्यपुष्पी का मूल वौधे, अथवा (गले में) सुवर्चला या विशल्या को धारण करे ॥१०॥

वक्तव्य—गर्भसंग—गर्भ का बाहर न निकलना ।

प्रारंभिक अवस्था में प्रसववेदना शुरू होने पर भी इस्तरी

अवस्था में उसका बाहर न निकलना । इसके निम्न कारण होते हैं—(१) गर्भ का प्रतिलोम या विषमस्थिति में आना । (२) मलाशय और मूत्राशय की परिषोष्टि । (३) अकालप्रवाहण और प्रासकाल में अप्रवाहण । इनके सिवा और भी कारण हो सकते हैं । परंतु यहाँ पर उसकी जो चिकित्सा वतलाई गई है, उसको देखकर इससे अधिक गम्भीर कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं होती । प्रथम और द्वितीय कारणों का परिणाम एक सा होता है, याने गर्भ के लिए अपत्यमार्ग तंग हो जाता है । इसलिए प्रारम्भ में वहुत कुछ कोशिश करने पर भी गर्भाशय गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होकर अन्त में थक जाता है । तृतीय कारण का परिणाम भी वही होता है । अकालप्रवाहण से स्त्री थक जाती है और प्राप्त काल पर प्रवाहण न होने से गर्भाशय निराधार होने से थक जाता है । संकेत में यह गर्भसंग (Uterina inorsia) गर्भाशय के थक जाने का परिणाम है । यह गर्भाशयसंग दो प्रकार का होता है—प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) । प्राथमिक गर्भाशयसंग अधिक गम्भीर स्वरूप का और अधिक गम्भीर कारणों से उत्पन्न होने वाला होता है । जैसे—गर्भाशय के विकार, अर्धुद, व्यंग, प्रसवपूर्व रक्तस्राव, माता, राजयस्मा, रक्तज्य ह्यादि विकार । इस प्रकार का संग धातक भी होता है और इसी का उत्तरेत मूदगर्भ के असाध्य लक्षणों में 'गर्भकोपपरासंग' करके (सूत्रस्थान के ३३ वें अध्याय का १२ वाँ श्लोक देखो) किया गया है । द्वितीयक संग कारण, लक्षण और परिणाम की दृष्टि से उतना गम्भीर नहीं होता । उसका निर्देश यहाँ पर किया गया है । इसको शान्तगर्भाशय (Exhausted uterus) कहने का भी रिवाज है । चिकित्सा—प्रतिलोम गर्भ को अनुलोम करना यह प्रथम कारण की चिकित्सा है, उसका निर्देश ऊपर के सूत्र में किया गया है । मलाशय या मूत्राशय मलमूत्र से परिषोष्ण हो तो वस्ति या सलाई से उनको रिक्त करना चाहिए । इस कारण को दूर करने के लिए ही प्रसव के प्रारम्भ में माता को विरेचन और वस्ति देना उचित है । तृतीय कारण की चिकित्सा माता को आराम देकर पश्चात् प्रसववेदना उत्पन्न होने पर प्रवाहण करना है । यहाँ पर ओषधियों के द्वारा जो चिकित्सा वतलाई गई है, उसका विवरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं । (१) मानसिक परिणाम—जिसका इन ओषधियों की शक्ति पर विश्वास है, वह स्त्री इनके प्रयोग से निश्चिन्त होकर गर्भसंग दूर हो जायगा, ऐसा मानने लगती है । इसका परिणाम गर्भाशय के संकोच में होकर प्रसव होता है । (२) समय का परिणाम—ओषधियों को ले आना, धूपन करना, गले में या हाथ-पैर में वौधना, ह्यादि में कुछ समय चला जाता है । इसके सिवा माता की कुछ सान्त्वना करने में भी समय चला जाता है । जैसे कि अध्यवशान्त मनुष्य किसी पेड़ के नीचे थोड़ी देर आराम करने पर फिर से अपना मार्ग तथ करने में समर्थ होता है, वैसे ही गर्भनिष्कासन-श्रान्त गर्भाशय सुवर्चलादि धारण के निमित्त थोड़ी देर तक आराम करने पर फिर से गर्भनिष्कासन के अपने कर्म

में समर्थ हो जाता है। (३) प्राची औषधियों का परिणाम या प्रभाव—हिरण्यपुण्य, सुवचंला, विशेषया हूनमें यह प्रसवकारक वासिक कहा जाता है, यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन कुछ प्राचीयों में यह प्रसवकारक (जागे देशों) घटलाई गई है। लोगों विभिन्नों में इस प्रकार की आवश्यकता दर्शक होती है, इसमें बोई सन्देह नहीं। इसके सिद्धार्थ वाँचों से देखा हुआ एक उदाहरण दिया जाता है। पश्चिम चनांदेश चिले के मुख्य स्थान गुजिया में एक मनुष्य के पास विशृंख की जड़ी है। एक दिन दोपहर को एक शूदा साझे वराही उसके घर पर अन्न मांगने आया था। संयोगवता उसके घर में अन्न था और उसने उसको दिया। उससे संतुष्ट होकर उसने वह जड़ी उसको प्रदान की। उस जड़ी की विशेषता यह थी कि दूसरस्यान के सामने (दूसरस्यान से प्रायः सम्बन्ध नहीं) पानी में भिंगोकर वह रक्षी जाती थी, और निनिट दो मिनिट में यह जड़ी, लेहुन्यक जमे लोह को अपनी ओर लोह को बिना इर्हां किये सीधी लिया करता है, वैसे शूश्रिकविष को लौंच लेती थी। पश्चात् पानी से घोकर वह रख दी जाती थी। प्रत्येक साल में सैकड़ों शूश्रिकविष के मनुष्य एकाध मिनट में निरपवाद टीक होकर चले जाते थे। आनुनिक विज्ञान दूसरक उत्तर नहीं दे सकता, और जिनकी दृष्टना की दौड़ विज्ञान से आगे नहीं जा सकती, वे या सो ऐसी घटना का असर्य मानते हैं, या मेसेरिज्म, हिंजोटिग्म या अन्य इस से इसका कार्य-कारण संबंध का विवरण करते हैं। परन्तु विशृंख को उस जड़ी में न कोई इम्म होता है और न उसके प्रभाव में जस्तयता ही है। सैकड़ों बार आँखों से देखी हुई वह चात है। इसलिए प्रसवकारक वयस्तितियां भी हो सकती हैं। अविकाय करने का कोई कारण नहीं है। हिरण्यपुण्य—द्यागली। लागनी होनी सीधे विलाया बनियारिया। अग्नितिहा स्वप्नयुग्म दोता नक्षेत्र-पुरिप्रस्त्र॥ लागली यटवा चोप्या कफवानप्रसा सरा। अपरापानी चैत्र सूधाप्रसवत्रिया॥ दिरण्युपी स्वर्णकेऽतो शास्त्रवृत्त्यन्ते। (द्यागलन्द्र)। लागनी वारिया रिया करपाद प्रतिपिण्डा। अपरा पानवलायु न सदेहोऽन कथन। शुभीत लागनी-मूल वारिया परिपैत्रिम्। नामी योनी प्रविष्ट या सद प्रसव कृमत्रय। (सतर्तरिणी)। उपचरा सूर्यमत्ता, विशेषा पाठ्या। (द्यागण)। विशेषा उद्यौति। (द्यागलन्द्र)। दया हुन्यवाचा विशेषयाया या मणिरच्छदीरो वारयम्। (इन्दु)।

अथ जातस्योत्तमपनीय, सुख च सैन्वतसपिण्डा विशेष्य, धृतानं मूर्च्छिण पिचु दद्यात्; ततो नाभिना ऊभप्राहुलमायम्य सूर्येण दद्युग्मा द्येदपेत्, तत्सुधेक देश च कुप्रारस्य प्राचायां सम्प्रयग् धध्नयात्॥११॥

(चात वालक के कर्म—) अब जन्म लिए हुए वालक के जारायु को हानकर, सैन्धवयुक्त धी से मुख का विशेषित करके, उसके सिर पर धी से भीमा हुआ काया रखते। पश्चात् (नामि से) नाभिनादी आठ थगुल नापकर (धीरों पर) सूत्र से बोधकर (उसके आगे कंची से) करो। फिर उस भूत्र का दूसरा सिरा वालक के गले में टीक ठीर से बंधि॥ ११॥

वृक्षम्—उल—गर्भावरणजरायु। पहले यह बताया था

जुका है (इस सूत्र के वक्तव्य के अन्त में) कि प्रथम-वयस्या के अन्त में गर्भावायनुव पूर्ण विस्तृत होने पर गर्भ के सिर के सामने आया हुआ गर्भावरण का भाग निराचार होने के कारण पृथक है और गर्भोदक बाहर निकलता है। कभी कभी जारायु के भग्नशृंखले रहने या अन्य कारण से पनमोर्दी नहीं पृथक ही यदि लंगुलि से न विदीर्ण की जाय तो गर्भ के साथ उसका सिर योनि के बाहर आने के समय तक ज्यों छी खो रहती है और पश्चात् पृथक है। कभी कभी संतुर्ण गर्भ जारायु के साथ जन्म लेता है। इस अवस्था को उल्व के साथ जन्म (Born with a caud, छोल वर्थ उल्व है) कहते हैं। इसमें गर्भ के आवरण अपरा से अलादिता होकर गर्भ के साथ बाहर आते हैं। गर्भ योनि के बाहर आते ही सौंस लेने की कोशिश करता है और यदि उसके मुख पर पानी और आवरण हो तो अपने ही पानी में हूँवकर मरने का दर रहता है। इसलिए यदि गर्भ उल्व के साथ योनि के बाहर आ जाय तो शीघ्रतातिशीघ्र जारायु को विदीर्ण करके और मुख को जारायु से व्यवस्था करना चाहिए। किंवा उल्व से संतुर्ण जारायु का वर्थ न रखेकर केवल जारायु का ढक्का भी समझ सकते हैं। कभी कभी जारायु का ढक्का चालक के सिर के साथ निकल जाता है और मुख पर चिपट जाता है, जिससे शास्त्र-व्यास में बाधा उल्व होती है—The child is born I lay it on the right side, see that its face is free from any portion of membrane or other hindrance to breathing. *Ecology Anthropology* उल्मानयी—सर्वत्र जारायु के साथ जन्म हुआ हो तो जारायु को विदीर्ण करके मुख को खुलाकर, किंवा मुख के ऊपर जारायु का कोई ढक्का हो तो उसको ढूँक करके। यापक हृदय से उल्मानयी का वर्थ चालक के बेहरे को धाने मुख के बाहरी भाग को साफ करके। मुख और नासा को साफ करने में देरी होने से शास्त्रवृत्रोप से मृत्यु हो जाती है। उल्वस्य—जातमात्रस्य। उल्वुक कारण से 'जातस्य' का वर्थ जन्म होते ही तल्काल, ऐसा करना चाहिए। लक्षागतस्माह में जातमात्र उल्व का प्रयोग किया गया है—अथ उल्व जातमात्रेव बालमुलाय सैववर्तिना मार्वेत्। (उत्तर तत्त्व १)। जातमात्र वलान पव। (इन्दु)। इस प्रकार उल्व के साथ चालक का लम्ब क्षिति होता है। इसलिए उल्वस्यामें जातकर्मों में उल्व निकालने का कर्म नहीं यताया गया है। मुख च विशेष्य—मुख के भीतर का भाग, विशेष करके गला। गले में श्लेष्मा भरा रहता है, जो इवाम-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न करता है—कर्ते च कर्तव होते। इसलिए उल्व होते ही गले को भी साफ कर लेना उचित है। चारक में कण्डविशेषण की विधि बहुत अच्छी तरह वर्णित है—अथात् तालोड्डश्चित्तिग्रामवर्नमेत्तातुल्या मुरिलिलिनःनाराया मुरदालितोपायनार्थपितुमत्या। (शारीर ८)। इससे गला साफ होकर इवास लेने में आसानी होती है। कभी कभी गले में श्लेष्मा बहुत गहराई तक भरा रहता है, जो कराहुङ्गि से साफ नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उसको निकालने के लिए संघर्ष और धी से चालक को उल्टी कराने का दिवाज था—नोड्स्यानन्दर देखोरहितेन संपिण्या कावे प्रस्तुर्दंतम्।

(चरक)। आस्तुनिक काल में गले के नीतर का लेमा नाड़ी-दन्त या स्ट्राई Catheeter के हारा चम्सके निकाला जाता है। गले का नीतर का लेमा बाहर निकालने के लिये बालक के दैर से उद्याक्ष सिर नीचा करने का भी त्रिवाल है। हस्ते से जाम से जाम दलेमा बाहर आता है, जो स्ट्राई से या कार्पसियुक्ट कंपुटि से निकाला जा सकता है। सुख की नीतर द्वी सफाई के साथ सुख की बाहर की सफाई भी करती चाहिए। हस्ते विशेषतया आँखों पर ध्यान देना पड़ता है। आँखों की सफाई हस्तलिपु आवश्यक होती है कि अपश्वसनार्थ में से जावे समय आँखों के ऊपर योनिन्द्राव और मल्लूब्र आ छुड़ संवंध हो जाता है। यदि हन आँखों की सफाई न की जाय, तो आँखें सुख जाने पर ये इन्वर्स नीतर पहुँचकर उनमें शोथ पैदा कर सकते हैं। यदि माता पोताके द्वे पीढ़ित हो तो आँखों की सफाई के बाहर अविक्ष ध्यान देना पड़ता है। हस्तमें प्रयम रुद्धि के फायदा से आँखें साफ़ करके पश्चात् दंकगाल (वोरिक) होते से आँखें बोहं जाती हैं, और अन्त में १४० शा० सिल्वर नैट बोल के एक दो बैंड उनमें लोडे जाते हैं। फोजाक के लिया योनिमार्थ में अन्य पृथक्क जीवाणुओं का दरखर्ग होने पर भी (पृथक्क जीवाणुओं के लिये चुक्रस्थान के १५वें अध्याय के १२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) इसी बरह से स्ट्राई करनी चाहिए, बरता आँखों में उनका दरखर्ग पहुँचने पर आँखें आती हैं। हस्त विकार को बदलाने त्रिमिथन्ड Opthalmia neonatorum कहते हैं। हस्त अम्बियन्ड का परिग्राम अन्वना में होता है। आँखों की सफाई बोलक आ पूरा बन्स होने के पूर्व, जाने लिये बाहर निकालने ही करनी चाहिए, और बालक के संपूर्ण बाहर निकालने के पश्चात् कल द्वी सफाई करनी चाहिए।

जा जाय तो समझना चाहिए कि वालक नवजात श्वासावरोध से पीड़ित है, और उसके अनुसार शोषणात्मिकीय चिकित्सा करनी चाहिए। नवजात श्वासावरोध (*Asthma ne natu pum*)—मनुष्यों को प्राणवायु की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति श्वास से होती है। गर्भाशय में स्थित वालक श्वसनश्वास का कार्य नहीं करता, उसका कार्य माता के द्वारा होता है—मानुषिक्षिप्तोन्द्रवासुर्द्वामस्तप्त्वान्। (शारीर ३)। अर्थात् गर्भाशय से बाहर आने के पूर्व वालक को प्राणवायु माता के रक्त से मिलता है। गर्भाशय के संकोच के समय गर्भाशयगत अतएव अपरागत रक्तसंचार बंद हो जाता है तथा गर्भहृदय की गति भंड होती है। अर्थात् गर्भाशयसंकोच के समय गर्भ को प्राणवायु कम मिलती है। संकोच स्थापात होने पर फिर से रक्तसंचार शुरू होकर प्राणवायु मिलने लगती है। द्वितीयावस्था में जब संकोच की लहरें जल्दी जल्दी आने लगती हैं तब गर्भ को प्राणवायु कुछ मिलती है, परन्तु पूर्णतया उसका अभाव नहीं होता। इच्छित् द्वितीयावस्था में गर्भाशय की संकोच लहरें साम्नतरित के बढ़ते निरन्तर हो जाती हैं। उस अवस्था में गर्भ को प्राणवायु नहीं मिलती और उसका परिणाम श्वासावरोध में होता है। इस कारण के सिवा कभी कभी गर्भ की नासिनाई दब जाती है, या अपरा गर्भाशय से जल्दी घुटक होने लगती है और श्वासावरोध होता है। श्वासावरोध का पृक्ष और भी कारण होता है। प्राणवायु की कभी होने से गर्भ गर्भाशय में या योनि में होते समय मुख्त से साँस लेने की कोशिश करता है। इसका परिणाम वह होता है कि गले में या फुप्फुस में कुछ गर्भेन्द्रक या रलेम्या प्रविष्ट होकर चायु के रास्ते में रक्कावट पैदा करता है। यह श्वासावरोध द्वारा प्रकार का है—(१) पाण्डुर : *A. pallida*—हृतसे वालक का वर्ण फीका, शरीर ढंडा और हृदय भंड और चौंग होता है। यह श्वासावरोध क्षात्राध्य होता है। (२) श्वास : *A. Livida*—इसमें वालक का वर्ण नीलाभ होता है। उसका हृदय टीक काम करता है। यह श्वासावरोध प्रायः साध्य होता है। इसमें प्राणप्रत्यानयन के ऊपर जो उपाय बताये हैं, जैसे, शीतल जलावसेचन इत्यादि, उनसे काम हो जाता है। यदि इससे काम न हो तो पाण्डुर श्वासावरोध के समान कृत्रिम श्वसन का उपयोग करना (सुक्रस्यान् २५वें अव्याय के १५वें सूत्र के वक्तव्य में कृत्रिम श्वसन की विविधाएँ) चाहिए। पाण्डुर श्वासावरोध में कृत्रिम श्वसन का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। कृत्रिम श्वसन प्रारंभ करने के पूर्व वालक का मुख और गला साफ करना आवश्यक है। वालक पाण्डुर श्वासावरोध से पीड़ित हो तो तुरन्त उसकी नाड़ी काटकर उसको योद्धी द्वारा तक (कुछ सैकंदर) गरम पानी में (१००° फै०) रखना चाहिए। पश्चात् उसको वहाँ से निकालकर और अच्छी तरह पौष्ट्रकर कृत्रिम श्वसन कराना चाहिए। कृत्रिम श्वसन में सिलेस्टर, ल्वोइं की तथा मार्शल की पद्धतियाँ जान में लाई जाती हैं। मार्शल की पद्धति में वालक प्रसारित होते ही पर कम से पीछे बैठ लैर छाती के बाल पर रक्त जाता है, जिससे उसका सिर और नास्कार्ड, जींडे की ओर लटकती रहती है। मार्शल की

पद्धति इयावश्वासावरोप में अधिक उपयोगी होती है। संमुख्यतन (Mouth to mouth respiration)—इसमें बालक के सुख में सुख से हवा छूँकी जाती है। रैपने के समय नासा बैंड की जाती है तथा आमातप के ऊपर कुछ दबाया जाता है, जिससे हवा नासामार्ग से न बाहर आ सके, न आमातप में चली जाय। इस प्रकार का संसुख इयतन कई बार बिया जाता है। इत्रिम इयतन का कर्म हृदय और इयतन के अच्छी तरह घटने के समय तक या पूर्णतया बढ़ हो जाने के समय तक करना चाहिए। प्राण-प्रत्यानयन में इत्रिम इयतन के अतिरिक्त पित्तुनिन का हृन्जे-इशन (श्वास में माथा २-५ बैंड) और मदुरों पर तथा छाती पर माही भलना इन उपायों का भी उपयोग होता है। इयावश्वासाक्रोष में भासूली उपायों से बाहर काम न हो सो उसकी नाई काटकर पाण्डुर के समान सब उपाय करने चाहिए। अष्टगुणमादय—नामिनि देखेणाद्युतुल परिसाप। धाम्पत आठ अंगुल के पश्चें थार अंगुल बढ़ते हैं—नामिनाल नासामिर्वन्धनात्युतुलस्त्रवैष्णोमुद्देश दद्वा। (अष्टागुणदय) । नामि च प एंद्रेष चतुरुणाल दद्वोद्देश। (अष्टागुणदय) । चतुरुणुल की मर्यादा आवृत्तिक कल की मर्यादा से अधिक मिलती है। शीर्यादा वर्णनात—दलौणाचार्य कहते हैं 'शावरिहायन्'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। नाई के अन्त में गाँड़ लगाने पर ध्याय होने का कोई दर नहीं होता। हाताणचन्द्र कहते हैं कि गले में धौंधने से नाई के भीतर का रसप्रवाह बन्द होकर नाई सूखने में सहायता होती है—पीवार्या वर्धीयादिति तु निवरा। रसादिग्निप्रतिवेद-पेन त्वरितुमुद्दोषेत्विमुत्तुरेदम्। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि गले में धौंधने से रसादि की गति की स्काट होने का कारण नहीं है, न उससे सूखने में सहायता होती है। गले में धौंधने का प्रयोगन यह मालूम होता है कि बाहर आठ अंगुल लम्बी नाई का दूसरा सिरा बैसा ही छुला रखता जाय तो वह स्वतन्त्र और लम्बा होने के कारण हर बूक काम में दूखल करेगा। बालक के मल-मन्त्र से खाराहोगा तथा शीला भी होगा, क्योंकि वह जननेन्द्रिय के बहुत कीब होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए उसका सिरा बालक के गले में धौंधने का वादेश किया गया है। यदि नाई अंगुल हो अंगुल लम्बी रखती जाती तो गले में धौंधने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इन्हुंनी टीका में गले में धौंधने का उद्देश्य छन्दलप्रदित्त हवा बढ़ाव देना है—विद्युति नामिनाल नास्य शीर्यादा सैवेणामज्ज्वलप्रदित्त रुप। नाईकलन की विधि चरकस्त्रहिता में बहुत उत्तम प्रकार से वर्णित है—नामिनभनाप भृत्याद्युतुलमनिदान बृत्या देवदानवश्वस्य द्योरन्तरयो चौर्गृहीत्वा तीर्णेन रोदम राज्ञावयनां देवदानानामवद्यतेन देवदेवत।

नाईकलन के सम्बन्ध में कुछ बातें—(१) नाईकलन का समय—माता के शरीर में नामिनाई के हारा माता और गर्भ में आदान-प्रदान का कार्य हुआ करता है। अर्थात् यह आदान प्रदान नामिनाईगत रक्षप्रवाह से होता है जिसका ज्ञान हमें नाईगत स्पन्दन से हो जाता है। बालक के स्वतन्त्रत्व से होने पर यह आदान-प्रदान घाने

नामिनाईगत स्पन्दन बन्द हो जाता है। अप्रय भाग से बाहर आते ही बालक प्रथम श्वास प्रवाह करता है। इससे बालक के उपुपुम में रक्त की रक्ति अधिक जाने द्यती है और अपरा (जो पहले उपुपुम का काम करती थी) में कम जाने द्यती है। हुँडु मिनीटों में रक्त परिवर्तन की यह अद्यत्यन्त धूरी हाकर नाईगत रक्तप्रवाह पूर्णतया बन्द होता है, जिसका ज्ञान नाईगत स्पन्दन बन्द होने से होता है। इसलिए नाई का बन्धन उस समय पर करना चाहिए, जब कि बालक की नामिनाई का स्पन्दन बन्द हो गया हो। अन्य के पश्चात् मुख्यविशेषण, अरमसंघटन इत्यादि कर्म करने के लिये जितना समय लागता है, उसने समय में नामिनाईगत रक्तप्रवाह आप से आप बन्द हो जाता है। चरकस्त्रहिता के '७३ बल्पन नाई' इस शब्द प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है कि नाई का कल्पन अरमसंघटनादि कर्मों के पश्चात् किया जाता था। परन्तु उपर्युक्त कर्मों कोई करे या न करे, नाई का बन्धन समय कल्पन नाईगत रक्तप्रवाह बन्द होने के पश्चात् करना चाहिए। यदि बालक के बाहर आते ही नाईकलन किया जाय तो बालक ६ तोले रक्त से बचित हो जाता है याने नाई का स्पन्दन बन्द होने के समय तक अपरा से बालक के शरीर में ६ तोला रक्त प्रविष्ट होता है। अष्टागुणदय में नामिनाई के बन्धन का समय 'स्वस्थीभृत्य' शब्द से सूचित किया गया है। जब कोई व्यक्ति अत्यन्त भिज परिस्थित में, या स्थान में, या आधृत्वा में चला जाता है, तब यों काल सक वह अस्वस्थ होता है। फिर धौरे धौरे धूप वस्त्र द्वारा अस्वस्थ हो जाता है। बालक के लिए भी ऐसा ही होता है। माता के शरीर के भीतर की परिस्थित और शरीर के बाहर की परिस्थित में जमीन-कासमान का भेद होता है, जिसके कारण बालक कुछ देर तक अस्वस्थ रहता है। इसका सुन्दर धौन अष्टागुणदय का ऊपर जो उद्दरण दिया है, उसमें मिलता है। कुछ देर के पश्चात् बालक इस नई परिस्थिति के लिए दैयार हो जाता है। उस अवस्था को 'स्वस्थीभृत्य' कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आपुवेद में नाईकलन के लिए जो काल बताया गया है, वह आवृत्तिक काल के साथ जिलता है। (२) वप्तों की स्थान—ऐदन करने के पूर्व नाई में दो बन्धन लगाये जाते हैं। एक बन्धन नामिन के साथ लगी हुई नाई के अन्त में रहता है और दूसरा अपरा से सम्बन्धित नाई के अन्त में रहता है। गर्भ को नाई के साथ बन्धन की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि बन्धन न लगाया जाय तो उससे रक्त का छाव होगा। दूसरे बन्धन की उत्तीर्णी आवश्यकता नहीं होती ही और न लगाया जाय तो भी कोई व्याप्त त्रुक्तिनाल नहीं होता। सुकृत, अष्टागुणदय तथा संग्रह में एक ही स्थान पर बन्धन धौंधने के लिए कहा है। आवृत्तिक काल में दो बन्धन धौंधने का रिवाज है। दूसरे बन्धन का उपयोग अपरापत्तन का ज्ञान होने के लिए होता है। इसके सिवा जब यमल की उपर्युक्त होती है, तब कोई बार दोनों की नामिनाई का आपस में सम्बन्ध रहता है। उस अवस्था में यदि अपरा से सम्बन्धित नाई पर बन्धन न लगाया जाय तो दूसरे गर्भ से रक्तग्राव होने का

डर रहता है। इसलिए दूसरा वन्धन लगाना यद्यपि हरेक वालक के लिए जावश्यक नहीं होता तथापि प्रसव की वृत्तीयावस्था के लिए सुविधाजनक और यमलों के लिए जावश्यक होता है। अतः परिपाठी के तौर पर आजकल दो वंधनों का प्रयोग होता है। घरकसंहिता में भी दो वंधनों का उपयोग करने का उपदेश किया गया है—*छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा वीक्षणे छेदयेत् ।*

(चरक)। इसका अभिग्राय यह है—*छेदनावकाशस्योर्वैभेदकमध्यैष्म वंधनं श्वीमस्तेण इट्कार्पासस्त्रेण वा दस्त्वा द्वयोर्वन्धनयोर्मध्ये तीक्ष्णे शख्सेण शख्सेण छेदयेत् ।*(३) छेदन और वंधन के सब और शस्त्र—ये दोनों ही विशेषित (*Sterilized*) होने चाहिए। हनके विशेषण पर ध्यान न देने से नाभि और नाड़ी में पाक उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। कभी कभी यह दोष गर्भ के शरीर में फैलकर जीवाणुमयता (*Sep'toximix*) से वालक की मृत्यु भी हो सकती है। नाभिपाक से नाभिप्रदेश में कमज़ोरी उत्पन्न होकर आयाम-व्यायामादि विकार उत्पन्न होते हैं—प्रसन्न्यफलपने, इनाडथा आयामव्यायामों त्रुटितापिण्डलिकाविनाभिमिजिभिकावाधेभ्यो भयम् । (चरक)। इस विषय का विवरण आगे भवें शोक के वक्तव्य में किया गया है। (४) फल्पनोचर नाडीवन्धन की पद्धति—नाभि के साथ सम्बन्धित नाडी का हिस्सा प्रायः पाँचवें दिन नाभि से स्वतन्त्र हो जाता है। कभी कभी पन्द्रह रोज तक नाडी नाभि से पृथक् नहीं होती। तब तक नाडी को इस प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए कि जिससे वह जलदी सूख जाया करे, मलमूत्रादि से दूषित न हो तथा जर्वेस्ती न खीची जाय। यहाँ पर कल्पित नाडी गले में वाँधने की जो विधि वत्ताहृ गर्ह है, उसमें प्रायः उपर्युक्त तीनों कार्य निकल आते हैं; इसमें संदेह नहीं है। केवल एक आध धार वच्चे को उठाते समय, नहलाते समय, कपड़े पहनाते समय, वह अनजाने खींची जाने का डर रहता है। परन्तु पैरों में दखल देने वाली धोती की ढाँग को धूमते और सायकल पर सवार होते समय जैव में खोंसने की वंगालियों की पद्धति जैसे कामचलाऊ होने पर भी सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, वैसे ही गले में लटकाने की यह पद्धति कामचलाऊ होने पर भी उत्तम नहीं कही जा सकती। उत्तम विधि तो यह है कि किसी स्वच्छ मृदु कपड़े की करीब तीन इंच चौड़ी, चार इंच लम्बी, कुछ मोटी, मध्य में छिद्रयुक्त तह बनाकर उस छिद्र में से नाडी को पिरोकर, वह कपड़े की तह नाभि पर रखें और पश्चात् उस पर नाडी को रखकर तथा टंकणामूल (घोरिक) या अन्य ओपथि की छुक्की छुरकाकर नाडी के ऊपर उदर के चारों ओर बंध (Bandage) बाँध दे। नाडी गिर जाने के दिन तक इस प्रकार सुवह शाम उसका वंधन किया जाय। बुरकाने के लिए कोई ओपथि न हो तो कोई हरज़ों नहीं होता, परन्तु कपड़े और बंध विशेषित होना चाहिए। आजकल नाडीवंधन इसी तरह से होता है। गले में वाँधने का रिवाज नहीं है। (५) स्वच्छता—नाडी के कल्पन और बन्धन के काम में आने वाली सब चीजें अत्यन्त स्वच्छ होनी चाहिए। इसमें लापरवाही करने से प्रयोगनक जीवाणुओं का प्रवेश नाभिनाडी में होकर

नाभिपाक तथा अन्य ज्ञापत्तियाँ रद्दी होती हैं। आयुर्वेद में नाडी कल्पन के पश्चात् नाभि के ऊपर कुष्ठतेल सेचन करने के लिए लिखा है—नाभि च कुष्ठतेल सेचयेत्। (*अष्टांगहृदय और संग्रह, उत्तरस्थान १*)। कुष्ठ (*Saussurea Lappa*) में उडनशील तैल होता है। इस तैल में जीवाणु-नाशक विशेषतया पूर्यजनक जीवाणुनाशक गत्ति है, यह यात आधुनिक खोज से सिद्ध हुई है—The essential oil has strong antiseptic and disinfectant properties especially against the streptococcus and staphylococcus. Nadkarni's Indian Materia Medica, इससे यह स्पष्ट है कि कुष्ठसिद्ध तैल में जीवाणुनाशक का गुण होने से नाभि के ऊपर उसका प्रयोग करने की पद्धति हितावह ही है। परन्तु 'प्रशालनादि पंजर्म्य द्रवदर्पशनं वरम्' इस व्यावहारिक तथ्य के अनुसार नाभि और नाडी के पास पूर्यजनक जीवाणुओं को पहुचाने का भीका ही न मिले, इस प्रकार के वस्त्र नाभिवन्धन में प्रयुक्त करना उचित है। नाडी की दुष्टि में वालक के स्नान का भी कुछ संवंध होता है। इसका विचार आगे के सूत्र में किया गया है।

अथ कुमारं 'शीतामिर्द्धरावस्य जानकर्मणि कृते मधुसपिरन्तचूर्णमद्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्; ततो घलातैलेनाभ्यज्य, क्षं रवृक्षकपायेण सर्वगन्धोदकेन च रूप्यहेमप्रतसंन चावारिणा स्नापयेदेनं कपित्यपत्रकपायेण चाकोणेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥ १२ ॥

अब वालक को शीतल जल से (परिपेचन द्वारा), आश्वासित करके जातकर्म करने पर मधु और धूत के साथ सुवर्ण का चूर्ण अनामिका धंगुलि से चटावे। पश्चात् घलातैल से मालिश करके मन्दोषण तोरघृक्षकपाय से, सर्वगन्धयुक्त जल से, प्रतस चाँदी-सोने के (निमज्जन के) जल से, अथवा कैथ के पत्ते के कपाय से दोष, काल, और सामर्थ्य के अनुसार (वालक को) स्नान करावे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—कुमार—यहाँ पर, पिछले सूत्र में तथा अन्य स्थानों में भी कुमार शब्द से कुमारी का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि कुमार या उत्र शब्द अपल्यवाचक ही प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं। फर्क इतना ही है कि जहाँ संस्कारों का संवंध होता है, वहाँ पर कुमार के संस्कार मन्त्रयुक्त और कुमारी के संस्कार मन्त्रविहित किये जाते हैं—अमन्त्रिका, तु कार्यं खीणामावृद्धशेषतः ॥ (मधु २-६६)। जैसे, कुमार हो तो मधु-धूत समन्वयक चटाया जायगा—मधुसपिरी मन्दोषप्रतित यथाप्राय प्राशितुं ज्ञात् ॥ (चरक)

कुमारी हो तो वैसे ही, चटाया जायगा। परन्तु यहाँ पर वालक के लिए जो कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है, वह इसलिए है कि गर्भ स्थापन होने पर पुंसवनविधि का प्रयोग किया गया था। अनन्तचूर्णम्—सुवर्णचूरणम्। कहीं कहीं 'अनन्ता' ऐसा भी पाठ है। हाराणचन्द्र—'अनन्ताशाहीरसेन' ऐसा पाठ देते हैं। वामभट अष्टांगसंग्रह, मैं—और भी कई ओपथियों का समावेश करते हैं—नतश्चैद्रीत्राहीशहृष्णी, वचाकलं मधुधूतोपेत इरेणुमात्र कुशाभिमन्त्रितं, सौवर्णं नाश्वयनं पत्रेण मेधायैवलजननं प्रशयेत्। तदत् त्राहीवलजननाशवावयेन्न-

तमचूर्ण था। यहाँ पर का पाठ गृष्मसूत्रानुसार है—कुमार जाते पुराण्येरात्मापाद् संपिन्देतुनी हिरण्यनिकार द्विष्टेन प्राप्तेन ॥ गृष्मसूत्रोक्त चटाने की विधि यह है कि किसी सान पर भी और मतु लेकर उसमें सोना रगड़कर उसी सोने से वह अबलेह बालक के मुख में छाना। यहाँ पर अंगुष्ठ से चटाने के लिए लिखा है। प्राशन गत्व—प्रते ददामि मुखो इवत्पय देद सवित्रा प्रथम मधोनाम्। गृष्माभान् युतो देवतामि शत और शरदो लोके अग्निम्। बलार्देनाम्यन्तं—बालक के शरीर पर बदक में अधिक काढ़ रखने की इसी से एक प्रश्ना का चिकना पदार्थ (Vernix caseosa) तीसरे अध्याय के ३५ वें श्लोक का वक्तव्य देखो। यह नहीं है। कभी कम होता है। कभी पदार्थ अधिक होता है, कभी कम होता है। केवल बछ से यह साक नहीं होता है। तेल से यह जल्दी निकल आता है। इसलिए सूर्योऽर्थीर पर सल की मालिदा करने से त्वचा की सफाई होने में सहायता मिलती है। बछातैल का बर्णन चिकित्सास्थान के भूदग्न्यमिक्तिस्त अध्याय के अन्त में किया गया है। चारहृष्ट—लवस्थादि दूष जिनकी त्वचा पर घाव करने से दूष के समान सफेद गाढ़ रस निकलता है—प्रथमेदुम्पुष्पुष्पविपलस दिन। परेव शीरणो यजा, उमस्थावा विचदये॥। सर्वगन्ध—चातुर्वात्कर्मरकोलायुरदृक्षुभूम्। लवस्थसदित वैव सर्वगन्ध प्रकृतिंग्॥। किंवा सूक्ष्मस्थान के द्रव्यसंप्रहरणीय अध्यायोक्त 'एलादिगण' की ओरप्रत्येकों का भी अहग्न किया जा सकता है। रूप्यमप्रवर्तने—सोने और चारी के पदार्थ को प्रतत करके पानी में घार घार भुसाने से गरम किये हुए जल से—कोणेन तपारजतपनीयनिरजने। (अष्टाहृष्ट)। आपदेष्ट—जन्म के पश्चात् शरीर पर तेल छानकर साउन और मन्दोषण जल से बालक को नहलाने का चिकित्सा प्राचीरथ देखो भी मैं भी है। परन्तु जान के समय बालक की नाभिनादी गीली हो जाती है और जान के पश्चात् नाड़ी को सुखाने की ओर ठीक ध्यान न दिया जाय तो उसमें पाक होने की संभवनीयता बढ़ती है। कुछ चिकित्सकों ने यहाँ तक सिद्ध किया है कि नाड़ी को सुखाने की कितनी भी कोशिश कर्यों न की जाय, अस्तान्तर्भूतों की अपेक्षा स्नान बालकों में नाड़ीक अधिक हुआ करता है। इसलिए उन लोगों का कथन है कि जन्मदिन से नाभिनादी निरने के पश्चात् नाभिनियन कार्यपूर्ण रोपण होने के समय तक बालक को न नहलाना चाहिए। परन्तु नामि और नाड़ी गीली न हो जाय, उस प्रकार से शरीर को पोंछ देना चाहिए। इस कथन में कुछ तथ्य है। इसलिए बालक को नहलाने के पश्चात् प्रतिदिन नाभिनादी को सुखाने पर तथा उसके साथ संबंध रखने वाले कर्यों की सफाई पर विदेष ध्यान देना चाहिए। कोणीन—शारीरतापक्रम से कुछ अधिक, १००° के ० The water should be nearly blood warm and it is best to rub the skin all over first with some sweet oil *Ectocetes d'anthropology* कोण का अर्थ मंदोषण याने शारीरतापक्रम से कुछ अधिक। जान का पानी शारीरतापक्रम से कुछ अधिक रखने पर जान के समय यह शारीरतापक्रम के बाहर हो जाता है। यह बालक के अनुसार—काढ़ के अनुसार। जैसे, शीतकाल में पानी

कुछ अधिक गरम हो, मध्यम काल में, भंडोण हो और नाभिनियों के दिनों में कुछ ठंडा (०°—८°^० F) हो। यथादोष दधानिम व च—दोषान्वितकेषु, चीरिष्वदधवशयेषु पिण्डनेत, संदग्नोष्टकेन वानामेन। विमशानविकरणे स्पृहेष्वत्वानेवानिदा। (इहण)। जातकर्म—जातमात्रस्य देवोत्तमं ।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतस्यादनन्तरम् ।

चतुराविरात्राद्वा र्षीणां स्तम्य प्रवर्तते ॥ १३ ॥

तस्मात् प्रयोगेऽहि मधुसप्तिरन्तमिदं मन्त्रपूर्वं चिकालं पाययेत्, प्रितीये, लक्षणासिद्धं संपि, तृतीये च; ततः प्राण्डिनिवारितस्तन्यं मधुसप्तिः स्वप्नाः पितलसंमितं द्रिकालं पाययेत् ॥ १४ ॥

(स्वन्योत्पत्तिकाल—) हृदय (प्रदेश) में स्थित धमनियों के विस्तृट होने के कारण (प्रसूति के) पश्चात् तीसरे या चौथे दिन से छियों को दूष द्यूर होता है ॥ १५ ॥ इसलिए प्रथम दिन (बालक को) मन्त्रपूर्व—सुकर्णमिद्र मधुसप्ति (दिन भर में) तीन बार लिलावे, दूसरे और तीसरे दिन लक्षणासिद्ध धृत (प्रथम दिन के समान तीन बार), चौथे दिन पहले (भाता का) दूष न लिलाये गये उस (बालक), को (उसकी) हथेली में जितना रहे उतना भी और मतु दो बार लिलावे, (पश्चात् तीसरे समय से भाता का दूष लिलाना शुरू करे) ॥ १५ ॥

बृहद्य—धमनीनां हृदिस्थानाम्—हृदयप्रदेशस्थित अर्थात् स्तनसंवित्त धमनियो—धमन्या सहृदयार्थान्वयाना स्तनसाक्षाৎ। दोषाविसराजाचासी न भवन्ति स्तनामया ॥ वासामेव धमनानां गविनियोनां च ता पुनः । 'स्तनावदेव विकृता जायन्ते। (निदान १०)। विषुवृत्तात्—स्तनसंवित्त धमनियों की विकृतता प्रदूर्ति के पश्चात् नहीं होती, वह गर्भावस्था के प्रारंभ से शुरू होती है और सूर्यो गर्भावस्था पर रहती है, यह बात उपर्युक्त स्कोर्कों से स्पष्ट है। अर्थात् तीसरे या चौथे दिन स्तम्य उत्पत्त होने का कारण विकृतता नहीं है, इसको ध्यान में रखना चाहिए। स्तनसंवित्त धमनियों के दो कारण हैं—(१) स्तनाम—जैसे गर्भ का आवाहन होने के पश्चात् स्तनाम से स्तनसंवित्त धमनियों विकृत होती है, (२) गर्भ की विकृतता या चौथे

स्वन्योत्पत्ति के सम्बन्ध में भावुकिन मत—भावुकिन काल में इसके संबंध में बहुत कुछ लोक द्युई है, परन्तु अभी तक टीक टीक निर्णय नहीं हुआ है। तथापि स्तनसंवित्त के संबंध में निज उपपत्ति बहलाई जाती है। मस्तिष्क के पोषणिका ग्रन्थि (Pituitary body) के अभिना माया से ज्वे अन्तर्जाव निकलकर रक्त में मिलता है, वह स्तनों में रक्त के साथ पूर्वकर उनको स्तनस्योत्पत्ति में सकर्त्तित करता है। यह द्रव्य स्तनसंवित्त का स्तन्यवृत्तं (Prolactin, Galactotu) कहलाता है। बालक को दूष भी आवश्यकता जिस अवधि में होती है, उस अवधि में यह द्रव्य उस प्रतिक्षय के अधिग्राम (Anterior), हिस्से में बहता रहता है और दूष की उत्पत्ति में सहायता करता है। यह दूष की आवश्यकता महीं होती, तब यह मध्य भी उसमें

नहीं बनता । इसका अभिग्राय यह है कि गर्भावस्था में यह द्रव्य नहीं बनता और प्रसूति होने पर बनने लगता है जिसके कारण दूसरे या तीसरे दिन दूध का प्रवर्तन शुरू होता है । अब प्रसूति के और इसके बीच में क्या सम्बन्ध है ? इसके बारे में कई मत प्रचलित हैं, जिनमें निम्न दो प्रधान हैं—(१) प्रसूति के बाद गर्भाशय सिकुड़ता है और उससे पोषणिकांग्रीथ का नाड़ियों द्वारा (reflexes) सूचना मिल जाती है कि अब दुग्धप्रवर्तक द्रव्य बनाने का समय आ गया है । (२) गर्भावस्था में अपरा और बीजग्रन्थि से कुछ द्रव्य (तीसरे अध्याय के १५ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) बनते हैं, जो प्रायः पोषणिकांग्रीथ के स्तन्यप्रवर्तक द्रव्य की उत्पत्ति के विरोधी होते हैं । प्रसूति के पश्चात् अपरा का यह विरोधी कार्य नष्ट होने से वह अंथि दुग्धप्रवर्तक द्रव्य को बनाती है, जिसके परिणाम स्वरूप में स्तनों में दूध का प्रवर्तन होता है । संदेश में, जो स्वभाव गर्भावस्था में वालक का पोषण पूर्ण प्रगल्भ होने पर गर्भाशय से उसका निष्कासन करता (निदानस्थान ८ वें अध्याय के ८ वें श्लोक और उसके वक्तव्य को देखो) है, वही निष्कासन के पश्चात् दूध उत्पन्न करके उसका पोषण करता है । परन्तु स्वभाव प्रस्तुत्वर के समान निर्णय निराकार होने के कारण कार्य करने के लिए उसको संगुण साकार अंगों और द्रव्यों का आधार लेना पड़ता है । स्वभाव प्रत्येक कार्य के लिए किस प्रकार और किसका आधार लेता है, इसको जानने में ज्ञान है । इसको जानने की कोशिश अल्पन्त प्राचीन काल से अब तक हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी और इसके कारण ज्ञान की धृष्टि भी होती रही है और होती जायगी । परन्तु एक मर्यादा पर अन्त में स्वभाव पर ही छोड़ना पड़ेगा । ज्ञान की धृष्टि इस मर्यादा को बढ़ाने में होती है । प्राचीन काल में यह मर्यादा बहुत छोटी थी, अब अधिक वढ़ गई है, भविष्य में इससे अधिक वढ़ेगी । चतुरात्रात् त्रिवात्रादा—इसमें संदेश नहीं है कि प्रारम्भिक दो तीन दिन स्तनों में दूध नहीं होता या अत्यरिक्त होता है । प्रसूति के कारण उत्पन्न हुए परिवर्तन का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होने के लिए दो तीन दिन की अवधि आवश्यक होती है । जब स्तनों में दुग्धोत्पत्ति प्रारम्भ होती है, तब वे कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं । क्षचित् उस समय शरीर का ताप एक दो अंश से चढ़ सकता है । इसको स्तन्यज्वर (Milk-fever) कहने का रिवाज है । काश्यपसंहिता में सूतिकाज्वर के कारणों में स्तन्यागम एक कारण दिया है, तथा उसके लक्षण दिये हैं—स्तन्यागमाद् यद्यावाधादोर्पाद् दुष्प्रजायनात् । ज्वरः सज्जायते नार्यः पद्विधो हेतुभेदतः ॥ तृष्णीयेऽद्वि चतुर्थं वा नार्यः स्तन्यं प्रवर्तते । पयोवहानि स्तोतांसि संश्वतान्यमिष्टयेत् ॥ करोति स्तनयोः स्तम्भं पिपासा: हृदयद्रवम् । कुषिं पार्श्वकटीशूलमज्जमदं शिरोरुजाम् ॥ एतत् स्तन्यागमोत्पत्त्य उत्तरस्योत्त्वं स्वलक्षणम् । स हि पीयुपसंशुद्धौ क्रमसात्रेण तिष्ठति ॥ इसका अभिग्राय यह है कि तीसरे या चौथे दिन दूध उत्पन्न होकर बन्द पयोवह स्त्रोतसों (Lactiferous tubules and duots) में अभिवृद्धन याने उत्तेजना पैदा करता है, जिससे स्तनों में स्तम्भ (कठिनता और पीड़ा) और छाती

में वेचैनी (हृदयद्रव) हृत्यादि लक्षण होते हैं । पीयुप की शुद्धि होने पर ये लक्षण आप से आप ठीक होते हैं । अर्थात् दुग्ध का प्रवर्तन ठीक प्रारम्भ होने पर स्तनगत कठिनता, पीड़ा, सिरदर्द तथा हारत ये लक्षण आप से आप ठीक हो जाते हैं । कुछ पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्र स्तन्यज्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो शंका प्रदर्शित करते हैं, वह ठीक नहीं है । स्तन्यज्वर यथापि सब छियों में नहीं तथापि कुछ छियों में, विशेषतः वातिक और कोमल प्रकृति की छियों में कई घार उत्पन्न होता है । इसका कारण अभी तक ठीक ठीक भालूम नहीं हुआ है—And as to the cause and significance of the rise of temperature which sometimes accompanies the shooting in of the milk, we are still more uncertain. Ideal Birth. स्तन्यज्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह कुछ घटटों से अधिक देर तक नहीं रहता । यदि अधिक देर ज्वर लगातार बना रहे तो स्तन्यज्वर न समझकर योनिदोपज समझना चाहिए और उसके अनुसार जननेन्द्रिय की ओर अधिक ध्यान देकर चिकित्सा करनी चाहिए । स्तन्यम्—प्रारम्भ में जो दूध स्तनों से निकलता है, उसका संगठन नित्य के दूध से भिन्न होता है । इस दूध को पीयूप या लैस्ट्रिम (Colostrum) कहते हैं—आसात्रावं प्रसवात् ज्ञीरं पीयूपमुच्यते । इसमें प्रोभू-जिनों (प्रोटीनों) की रक्षा अधिक (६ प्रतिशत) होती है और शर्करा तथा चरवी की स्वाभाविक से आधी (शर्करा २ प्रतिशत; चरवी ३४ प्रतिशत) होती है । चरवी की विशेषता यह होती है कि वह कोशालों (सेलों) के भीतर रहती है । ये पीयूप कोशालों (Colostrum corpuscles) कहलाती हैं । तीन चार दिन के बाद ये दूध में नहीं मिलतीं । पीयूप वर्ण में पीला, गाढ़ा और लालीय होता है, जो गरम करने से या बैसा ही जम जाता है । इसमें कुछ सारक गुण भी होता है । वस्त्रात्—प्रथम दो तीन दिन वालक को दूध नहीं मिलता, इसलिए । काश्यपसंहिता में लेहप्राशन के जो अनेक निर्देश (Indications) बताये गये हैं, उनमें माता को दूध न होना या कम होना ये दो निर्देश मिलते हैं—अच्चीरा जननी यैपासन्पीरीपि वा भवेत् । (सूत्रस्थान, लेहाध्याय) । इस हृषि से प्रारम्भिक लेहसेवन अच्चीरावस्था के लिए है, ऐसा समझ सकते हैं । अर्थात् इसका उपयोग आहार के लिए भी हो सकता है, क्योंकि वी और मधु दोनों भी उत्तम आहार्य द्रव्य है । हारणचन्द्र अवलेह सेवन स्तन्याभावजनित दोपेशमन के लिए मानते हैं—पाययेदिति स्तन्याभावजनितदोपेशमार्थं न पुनराहारार्थमिति निश्चीयेऽन्नरेण्यायस्वेन मध्वादीनां गन्धमात्रेणोपेशोगात् । आहार के सिवा अवलेह का दूसरा भी एक उपयोग हो सकता है । यथापि स्तन्यचूपण एक स्वाभाविक कर्म है तथापि प्रारम्भ में दूध गाढ़ा होने के कारण तथा वालक को चूसने तथा निगलने का अभ्यास न होने के कारण दूध खोचने में कठिनाई होती है । अवलेह चाटने से वालक को चूसने तथा निगलने का कुछ अभ्यास हो जाता है, जिससे तीसरे दिन जब वालक स्तनों पर लगाता जाता है तब वह स्तनपान करने में समर्थ होता है । साधारणतया प्रथम या

हीतीय दिन में बालक को स्तनपान की इच्छा बहुत कम होती है तथा स्तनपान करने का सामर्थ्य भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में अबलेह चाटने का प्रयोग कायदेमन्द होता है। चीरप्रवर्तन के पूर्व बालक को धूप दिया जाय या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर सीसेरे दिन के स्तन्यप्रवर्तन में ही मिल जाता है। बालक के पोषण के लिए जो धूप माता के स्तनों में स्वभाव से उत्पन्न होता है, उसकी यदि आवश्यकता प्रारम्भिक तीन दिनों में होती तो स्वभाव प्रथम दिन से ही स्तन्यप्रवर्तन कर देता। परन्तु ऐसा कहीं नहीं होता। इसका अभियाय यह है कि बालक को प्रथम दो दिनों में भोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ माता के स्तनों से (आगे चरक का वचन देखो) मिलता है तथा मधुसर्पि के रूप में घोड़ा सा दिया जाता है, उतना ही उसके लिए काफी होता है। अहानी लोग इस अस्थीरावस्था में बालक को गाय का या अन्य जानवर का धूप पिलाने लगते हैं। यह वहो भूल है। सन्नामादे पश्चिमगण या तद्युग्म हिन्दू यथा आमदीचार्य का वचन प्रथम तीन दिनों के स्तन्याभाय के लिए नहीं है, परन्तु सीसेरे दिन दूष न आगे पर उत्पन्न हुए स्तन्याभाव के लिए है, क्योंकि प्रथम तीन दिनों की मधुसर्पि चाटने की विधि देने के पश्चात चौथे दिन से माता का ही धूप पिलाने के लिए मातृदेव विद्रेस्तन्य तद्युग्म देहदृढ़ये यह रखेका थाता है, और उसके बाद 'स्तन्याभावे' यह रखेका थाता है— Nature intended the infant to wait for a couple of days or so before receiving any food. For the first two days nothing is taken. Ten teacher's Midwifery इसलिए तत्र तत्र आहाराय 'स्तन्याभावे' पश्चिमगण या तद्युग्म हिन्दू इत्यागमानुसरय नानुपप्रसम् यह हारण चन्द्रजी का कथन ठीक नहीं है।

धरक्षसहित में प्रथम दिन से ही स्तनपान करने के लिए छिका है—मधुसूखिये मन्त्रोचमन्त्रिते यथाग्रामय प्रथम प्राप्तितु दधात्। इनमन्त्र उच्चेततेनैव विभिन्ना दक्षिणा पार्शु पुरुषात् अप्रज्ञेत्। आधुनिक पाश्चात्य औमारम्भलों का भी कथन है कि प्रथम दिन से ही बालक को स्तनपान करावे। इससे वो फायदे होते हैं—(1) बालक के स्तनपान करते समय, चाहे स्तन से धूप निकले था न निकले, गर्भाशय में उत्तरवा पृष्ठा होती है, जिसका परिणाम गर्भाशय के संकोच होने में होता है। (2) यथापि बालक का संबंध न होने पर भी तीसरे या चौथे दिन स्तनों में स्तन्यप्रवर्तन स्वभाव से ही हुआ करता है, तथापि बालक को प्रथम दिन से स्तनपान कराने से स्तन्योत्पत्ति में सहायता होती है। बालक को आहार की आवश्यकता है या नहीं? स्तनपान करने का सामर्थ्य है या नहीं? इसका ज्ञान जब तक स्तनपान नहीं कराया जायगा, तब तक नहीं होगा। इसलिए तथा उपर्युक्त फायदों के लिए धरक्षमातुसार प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने की विधि ही मन्त्राणि है। मन्त्राणि मन्त्रपूर्णम्—‘प ते इत्यमि इत्यन्’ इस मन्त्र (१२वें सूत्र के वक्तव्य में देने) से सुर्यर्घण्य थी और मधु के साथ दिया जाता है। अपरैद यन्मने की विधि और मधुवर्ण के फायदे कारणप संहोता में निम्न प्रकार से लिखिए हैं—रिष्य ओने हुए

प्राणसुखी लगुनाम्बुना । आवाय मध्यादिन्धी लेहैये । कलके
विशुद्ध ॥ शुद्धव्यापारां द्वेषन्मेवानिवर्तन्पर्वन् । आवाय मंगलं
पुरुषं वृष्टे वर्णं प्राणवह्य ॥ मासादरमधेशी न्यायिनिं च
वृष्टते । ॥ इमित्सौ शुद्धव्यापारां द्वेषन्मेवानिवर्तन्पर्वन् ।
(लोहाभ्याय) ॥ प्राणविवारितस्तन्यव-यह बालक का विशेषण
है और इसका अर्थ है—जिसके लिए प्रथम तीन दिन
स्तन्य निषिद्ध किया गया था, उसको । अष्टांगसंग्रह में
स्तन्य लिखा है—इस प्राणविवारितस्तन्यव रसपिण्डिलसीर्वत
संप्रिद्धकाल दायेण । अनन्तर च स्तन्यमिष्ट ॥ इसका अर्थ
यह है कि चौथे दिन थो बार मधुसर्पि बालक को चटावे
और तीसरी बार से उसको येष्ठ रसपिण्डि स्तन्यानन करावे । किंवा
इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि चौथे दिन थो
बार प्रथम बालक को मधुसर्पि चटावे और तुरन्त उसको
पश्चात स्तन्यानन करावे । यहले पहले स्तन्यानन कराने के पूर्व,
तीसरे की धाराके बारे में जागे ३७वें सूत्र में बताया गया है
तीन को साफ थोकर तथा निचोड़कर कुछ दूध निकालकर
पश्चात थालक को स्तन रिखावे । दहशण वापरभट्टानुसार
प्रथम अर्थ देते हैं—उठकतुर्ये दिवसे प्रातर्मध्याह्नदिवलिद्वये
मधुसर्पि प्राणवह्य, उदनन्तर चतुर्प्रदिवसस्य दूतीकालमारम्भ
ज्ञामादिवेषु येष्ठ रसपिण्डि वालैये । क ॥ बाल, कि
विशिद्ध प्राणविवारितस्तन्य, प्राक् पूर्व निवारित स्तन्य वर्ण लक् ॥

अथ सूतिका वक्तात्वेतत्प्रयत्नं वातहरोपथनिकायेनोपचरेत् । सरेषपदोपां तु तद्वा पिपलोपेप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचिंडकभृंगवेरचूर्णं शुद्धोदेनामणे पाययेत्, एवं द्विरात्रं चिरात्रं च फुर्यादाहुषशोणितात् । विशुद्धे ततो विदरिगन्धादिसर्वां ज्वेहयवाग्मं लीरवाग्म चा पाययेत्विरात्रम् । ततो यवकोलकुलत्यसिद्धनं जाह्नवरसेन शाखोदनं ज्वेहयेद्वालमधिवलं चावेद्य । अनेन विधिनाऽप्यव्याप्तसुपवेस्वता विमुक्ताहारवारा विगतसूतिकाप्रधाना स्यात्, पुनरात्ववदर्शनादियेके ॥१॥

धन्वंभूमिनाता तु धृतको सु धृतलयरन्वतरस्य
पार्थं पाययेत् पिप्पलयदिक्याद्युपानां, छोटनित्या
स्यात्रिरामं पञ्चारामं या (धृतवती,) अथलां
रवार्णं पाययेत्रिरामं पञ्चारामं या । अत उर्ध्वं
ज्ञागेनावसरसमणोपचरेत् ॥ १६ ॥

प्रायशाध्यनां प्रभूतेमोष्णोदकेन परिपञ्चेत्,
तेऽप्युपास्येद्यते त परिष्ठेत् ॥ १७ ॥

(सुतिका की परिचय) (अपरा गिरने के पश्चात्) सुतिका थोड़ा बलात्मक करता है यातहर थोरपियों कांथा से चिपकता करे। यदि (गमराश में थोर्ड) दोष पर रहा हो उसी (प्रसव के) दिन यिष्टी, हस्तिपाली, विष्टीमूल, विश्रक, सौठ हुनका घूँस गरम थोड़क के साथ यिष्टावे, इस प्रकार हो दिन, तीन दिन तब तक दुह रक निष्टकाह हो दब तक (यिष्टावे); इ द्युद हो जाने पर विदारिगम्भादि (शग की थोरपियों) सिद्ध हृन सुख या चीमुक यवाहू तीन दिन यिष्टावे। उसके पश्चात् (सुतिका के शारीरिक) बहु और जलामि-

ल को देखकर (उसके अनुसार) जौं, वेर और कुलथी से सिद्ध जांगल (पशु-पत्तियों के मांस के) रस के साथ चावलों का भात (न्यूनाधिक मात्रा में) खिलावे । डेढ़ महीने तक इस प्रकार (आहार और आचार के नियमों के अनुसार) परिचारिता (प्रसूता स्त्री उसके पश्चात) आहार और आचार (के नियमों) से तथा सूतिका नाम से विमुक्त हो जाती है । कई आचारों का मत है कि (प्रसूति के पश्चात) फिर से आर्तवदर्शन होने के समय तक (स्त्री सूतिका होती है तथा तब तक उसको उपर्युक्त आहाराचार के अनुसार रहना चाहिए) ॥ १५ ॥

जाइलदेश (मरुभूमि) में प्रसूत हुई सूतिका को (पूर्वोक्त) पिप्पल्यादि कथाय के अनुपान के साथ घी या तैल में से किसी एक को मात्रानुसार पिलावे । (इस प्रकार वलवती प्रसूता) तीन दिन या पाँच दिन (तक) नियम स्नेह सेवन करे । निर्वल प्रसूता को (स्नेह के बदले) यवागू तीन दिन या पाँच दिन (तक) पिलावे । इसके बाद स्नेह से युक्त अज्ञ से उपचार करे ॥ १६ ॥

साधारणतया सूतिका को बहुत से गरम जल से (प्रतिदिन) स्नान करावे । (प्रसूता) क्रोध, (अत्यधिक शारीरिक या मानसिक) परिश्रम, मैथुन हत्यादि का त्याग करे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—इन सूत्रों में सूतिका की परिचर्या तथा स्वस्थ-घृत का वर्णन किया है । सशेषोपा—गर्भजन्म के पश्चात् अपराजन्म होता है, जिसका विवरण आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । अपरा और जरायु बाहर निकल आने पर गर्भाशय पूर्ववत् होने के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता होती है । उस अवधि में योनिगर्भाशय से प्रसवशोणित का (Lochia) स्राव होता है । इसी स्राव के द्वारा गर्भाशयगत दोष बाहर निकल आते हैं और गर्भाशय की अन्तःकला पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है । जरायु तथा अपरा के बाहर आने पर भी उसके कुछ छोटे बड़े ढुकड़े गर्भाशय के भीतर रह सकते हैं और प्रायः रहा करते हैं । ये ढुकड़े भीतर रहना ठीक नहीं है, यह दोष स्वरूप होते हैं । ये कणशः रक्त के साथ बाहर आया करते हैं । इस प्रकार का दोषयुक्त रक्त तीन चार दिन तक साधारणतया गर्भाशय से बाहर निकलता है । उसके पश्चात् गर्भाशय के स्राव का वर्ण कुछ फीका हो जाता है और तीन चार रोज के पश्चात् अधिक से अधिक दसवें दिन तक गर्भाशयगत स्राव पानी के समान कुछ धीलापन लिये स्वच्छ हो जाता है । गर्भाशयगत स्राव को दोष मानने का रिवाज है, जैसे आर्तवशोणित को दोष मानते हैं, और जैसे आर्तवशोणितस्राव बन्द होने पर चौथे दिन स्नान कराके स्त्री शुद्ध की जाती है, वैसे ही प्रसूता प्रसवोत्तर दोषशोणितस्राव बंद होने पर ग्राहक दिन स्नान कराके शुद्ध की जाती है । प्रसूति के पश्चात् निरपवाद स्त्री सशेषोपोष हुआ करती है, जिसको दूर करने के लिए पिप्पल्यादि चूर्ण दिया जाता है । यदि दोष हो तो पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह सशेषोपोष का अर्थ नहीं है । स्त्री सशेषोपोष होती है, इसलिए प्रसवोत्तरकाल के प्रारम्भिक कुछ दिनों में पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह परिचर्यापरिपाटी है । इसलिए चरकसंहिता में, सूतिका को भूख मालूम होते ही पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त

स्नेह देने के लिए बताया है । आदुष्टोणितात्—जब तक स्वाव अधिक खराब रहता है, तब तक सूतिका की अवधि तीन चार दिन की होती है । इसलिए पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह दो तीन दिन तक देने के लिए कहा है । अर्थर्घमास—इससे सूतिका की अवस्था (Puerperium) की अवधि बताई गई है । प्रसूतावस्था शब्द स्त्री की उस अवस्था के लिए प्रयुक्त होता है, जिस अवस्था में गर्भावस्था और प्रसव के कारण उत्पन्न हुए उसके शरीर के हास की पूर्ति होकर वह यथापूर्व स्वस्थ और एक हृषि से फिर गर्भज्वर हो जाती है । इस अवस्था का प्रारम्भ प्रसवदिन से होता है और अन्त गर्भाशय के पूर्वावस्था प्राप्त होने पर होता है । अन्तिम मर्यादा प्रारम्भिक मर्यादा के समान निश्चित नहीं है । उसमें प्रत्येक स्त्री में कुछ अन्तर हो सकता है । तथापि व्यावहारिक हृषि से, अगर कोई खरादी या विशेष कारण न हो तो, गर्भाशय की पूर्वस्थिति छः हफ्ते में प्राप्त होती है । इसलिए आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्र भी प्रसूतावस्था की अवधि छः सप्ताह की मानते हैं—Strictly speaking, it (puerperium) lasts from the commencement of the third stage until the completion of the uterine involution—that is, for about six weeks. Jellel's Midwifery प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में सूतिकावस्था की अवधि तीन महीने की मानी है जाती है और चौथे महीने के प्रारम्भ में बालक के साथ देवतावदर्शन (आगे ५३वें सूत्र के वक्तव्य देखो) करने के पश्चात् स्त्री विगतसूतिकाभिधाना और आहाराचार से स्वतन्त्र होती है—लुप्तद्रवां विशुद्धां च विशाय वरवणिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियम परिहारेत् । हन आधारों पर प्रसूतावस्था की कम से कम अवधि डेढ़ महीने की और अधिक से अधिक तीन महीने की समझना उचित है । पुनरार्तवदर्शनात् एकीय मत से यह शब्द प्रयोग प्रसूतावस्था की उत्तर मर्यादा बतलाता है । एक हृषि से यह मत ठीक है क्योंकि आर्तवदर्शन से गर्भाशय अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो चुका है, इसका परिचय हो जाता है । परन्तु आर्तवदर्शन के ऊपर मर्यादा स्थिर करने में उसमें बड़ा अस्थैर्य आ जाता है । इसका कारण यह है कि दूध पिलाने की अवस्था में आर्तवदर्शन न होना यह एक नष्टार्तव का स्वाभाविक कारण है (दूसरे अध्याय के २२वें श्लोक का और आगे १६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) और इसलिए कई स्थियों में प्रसूति के पश्चात् बारह मास तक आर्तवदर्शन नहीं होता । आर्तवदर्शन पर उत्तरमर्यादा निश्चित करने का परिणाम यह होगा कि प्रसूतावस्था की अवधि कुछ स्थियों में दो महीने की, कुछ स्थियों में तीन महीने की, कुछ स्थियों में चार महीने की और कुछ स्थियों में साल भर की हो जायगी, और उनको उतने काल तक नियन्त्रित आहार-विहार से रहना पड़ेगा । इस प्रकार के नियन्त्रित आहार-विहार से अधिक काल तक रहना न व्यावहारिक हृषि से शक्य है, न स्वास्थ्य की हृषि से हितकर है । इसके सिवा कुछ स्थियों में कई बार विना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है । इस नियम के अनुसार ये स्थियाँ कभी प्रसूता और कभी

गम्भीरी रहेगी, तीसरी अवस्था इनके लिए न हो सकेगी। अर्थात् गम्भीरी और प्रसूता ये दोनों अवस्थाएँ नियन्त्रित आहार-विहार की होने के कारण इन छियों को अपनी प्रजोत्पादन की आयु नियन्त्रित आहार विहार में बितानी पड़ेगी। संचेत में यथापि एक इष्ट से पुनरार्थवदर्शन पर प्रसूतावस्था की उत्तरार्थवद्धा स्थिर करने में कुछ तथ्य है, तथापि व्यावहारिक इष्ट से यह नियम अनुपाय है। अन्यभूमिजाता—प्रसूतूमिजाता—सामानी मरुमानी (अमर-कोष)। विषये पिपासाद वसिन्मृग। आयुर्वेदिक परिमापाके अनुसार इसको जांगलदेश कह सकते हैं—अल्पोदकद्यो यस्तु प्रवात प्रवारातप। शेय स जाङलो देश। (चरक, विमान ३)। ऐसे देश में प्रसूत हुई। तु—परन्तु। इससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले याने पन्द्रहवें सूत्र में जो उपचार वर्णन किया गया है, वह आनंद देश प्रजाता छी के लिए है। धूतैतोरेन्यन्तरस्य—काशयपसंहितां के अनुसार पुश्पजाता के लिए तैल और कल्यापजाता के लिए छी। काशयपसंहिता में तीनों प्रकार के देशों में छी की उपर्याह के संचितसूत्र निष्ठ प्रकार से 'वर्णित हैं—त्रिविधं देशमित्रय वद्यामि त्रिविधं विषिम्। आनूपैदो भूमिष्ठ वातस्त्रै'मात्मका गदा॥ वशमिष्ठन्दूभूत्वादादी रोदो विग्रहित। मण्डादित्र कर्त्त्वं—सत्त्वोऽविकालवाद्॥ स्वेदो निवातशयन सर्वमुख्य च दशस्त्रै। निष्ठ जागृते देशे वातपित्तात्मका गदा। तदश्च स्नेहास्यन्यत्वात् स्नेहादि स्नायुप्रकाम। कार्यप्रजातमाप्याया विशेषशार्व तुष्टये॥ कुम्भाप्रसवे वैल कुमारीप्रसवे शूलम्। विदेशोऽप्येयं यवागूच दीप्तियोपस्त्वत्तापम्॥ पवात् स्नायुत वा ततो मण्डाप्रकाम। देशे साधारणे चायाद हित साधारणो विषि॥ (सुधूतोपकामनीय अन्याय)। उत्थानकेन परिविहृत—चरक और अष्टागत्तेश्वर में यवागूच पान करने से पूर्व दिन में दो बार गरम पानी से परिपेचन या स्नान करने के लिए लिखा है—उभयत काल ओप्पोदेक्षे च परिवेचये प्राक रेतेवद्यवागूपानान्यागम्॥ जोशायास मैथुन—इनके सम्बन्ध का विवरण हस्ती वक्ष्य में लागे स्वतं न्द्रस्य से किया पाया है।

प्रसूता की परिचयों तथा स्वस्थृत—उपर्युक्त तीन सूत्रों में प्रसूता की परिचयों और इसस्थृत का विचार किया गया है। हस्ती का विचार अब जरा अध्यवस्थित रूप से किया जायगा। अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता की परिचयों का प्रारम्भ होता है। अपरा के निकल जाने का, निकालने का और निकल जाने पर उद्दर और जननेनिद्र के सम्बन्ध का विचार अते २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। यहाँ पर सर्वांत्प्राचारण अन्य घातों का विचार करन्त्य है। (१) भाराम—अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता को स्थिरिया या पलङ्ग पर उत्तापालन में लेटे रहना ही प्रारम्भ होता है। स्थिरिया या पलङ्ग का सिरहाना कुछ केंचा करने से प्रसववोगित (Lochia) के नीचे की ओर घहने में जासानी होती है। यह उत्तापालन प्रसूता हो दो हपते से बार हपते तक रलना चाहिए। प्रारम्भिक कुछ दिन मरुमूत्र विसर्जन और अप्रदाहन भी लेटे लेटे करना चाहित है। पर्याप्त यह न हो सके तो इन आवश्यक कामों के लिए भोवी देर तक प्रसूता ठड़ सकती है, परन्तु बाकी सब काल प्रसूता को दिल्ले पर भाराम से पहे रहना चाहिए।

साधारणतया जब तक थोनि से प्रसवशोगित का सावं बंद होता रहता है, तब तक पूर्ण भाराम करना चाहिए और आवं बंद होने के पश्चात् कुछ दिनों तक आवश्यक कामों के लिए भोवी देर बैठना चाहित है। यदि दूसरे फिर से योनि से सावं प्रारंभ हो जाय तो फिर से बैठना बंद कर देना चाहिए। भारतवर्ष में प्रसूता छी को श्रम दस दिन पूर्ण भाराम और पश्चात् महीना भर अधिकांश भाराम देने का विवाज अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह विवाज अत्यंत सुकियुक और स्वास्थ्यवर्धक है। परन्तु आयुनिक काल में भारतीय जैसे अपने अस्त्रे अस्त्रे अस्त्रे विवाहों और रीतियों को पश्चात्यों की बदल करने के लिए छोड़ रहे हैं, ऐसे इस विवाज के बारे में भी हुआ है और प्रसूति के दो चार दिनों के पश्चात् छियाँ उठनेबैठने, चलनेबैठने लगी हैं। यह पश्चात्य ढंग अधिकतर छिसी-परी छियों में और प्रसव के लिए अस्त्राल में जाने थाली छियों में दिखाई देता है। लिंबी परी छियाँ वैसे भी कमज़ोर रहती हैं और पश्चात्यों की देसा देसी इस प्रकार के चोचले करने से उनकी मिट्टी और भी पलीद हो जाती है और उनका स्वस्थ द्वारा हो जाता है। भाराम की इष्ट से छियों के दीन विभाग कर सकते हैं। (१) जगती और दैदाती छियाँ—ये छियाँ मजबूत होती हैं। इष्ट भाराम की आवश्यकता बहुत कम होती है। जगती छियाँ अधिक मजबूत होती हैं, जो आविर तक जंगल में या रास्ते में अपना काम किया करती हैं और प्रसव के समय जरा सी ओक्सीजन होकर, प्रसूति के पश्चात् बच्चे को अपनी पीठ पर बाँधकर फिर से अपने काम में लग जाती हैं। दैदाती छियाँ उतनी मजबूत नहीं होतीं। ये प्रायः दस दिन तक भाराम करके फिर अपने काम में लग जाती हैं। (२) मध्यमवर्ग की विद्या—ये छियाँ प्रायः अनपढ या उनके बराबर होती हैं तथा अपने गृहकर्म में लागी रहती हैं। अत इनमें न बहुत चोचले होते हैं, न बहुत कमज़ोरी होती है। क्योंकि गृहकर्म करने की आवश्यकता पड़ने के कारण उनको चोचले करने के लिए समय नहीं मिलता, तथा शहीर को काफी व्यायाम होता है। इन छियों के लिए प्रसूति के पश्चात् पहले बाग की छियों की अपेक्षा अधिक भाराम की आवश्यकता होती है। इनको एक महीने से कम भाराम न मिलना चाहिए। (३) लिंबी-परी छियाँ—ये छियाँ वैद्यन से तथा शारीरिक धमन करने से अधिक कमज़ोर होती हैं। इनके लिए तीन महीने के भाराम की आवश्यकता होती है। भाराम की आवश्यकता छियों प्रसूति के पश्चात् प्रसूता को भाराम करने के दो कारण होते हैं—(१) गर्भाय की विद्यि—गर्भाय के अपने भीतर समाने के लिए सरगमावस्था में गर्भाय कम्बाई, थोकाई, मोटाई, समाई और भार इन सब घातों में अगरमावस्था की अपेक्षा कई गुना बढ़ता है। प्रसूति होते ही जादू के असर से गर्भाय अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें भीते घीरे परिवर्तन होते हैं, जिससे यह यथापूर्व हो जाता है। इस प्रक्रिया को गर्भाय की स्वसंस्कृति (Innovation) कहते हैं और इसके लिए यह सासाह लग जाते हैं। प्रसूता वस्था की अवधि इसी स्वसंस्कृति पर (पीठे अप्पर्मास की टिप्पणी देखो) निमंत्र होती है।

प्रसव के पश्चात् उसी दिन गर्भाशय का तोल, लम्बाई और समाई अनुक्रम से १ सेर २ छटाँक, ८ इंच और ७ इंच होती है। दो रोज के बाद तोल पैन एक सेर, लम्बाई ७ इंच, समाई ६५ इंच होती है। एक हफ्ते के बाद तोल आधा सेर, लम्बाई ५ इंच और समाई ४॥ इंच होती हैं। दो हफ्ते के बाद तोल ६ छटाँक, लम्बाई ३५ इंच होती है और समाई ३५ होती है। ६ हफ्ते के बाद गर्भाशय के नाप और तोल पूर्ववर्त हो जाते हैं। प्रसूति के पश्चात् जैसे गर्भाशय के तोल और नाप अधिक रहते हैं वैसे ही उसके बन्ध (Ligaments) गर्भावृद्धि और प्रसवप्रवाहण के कारण अत्यन्त परिश्रान्त और शिथिल होते हैं। इसके सिवा श्रोणिगुहा के भीतर कुछ शून्यता भी आ जाती है। चरक में प्रसूता के रोगों की कृच्छ्रसाध्यता के जो निम्न कारण वराये गये हैं, वे गर्भाशय तथा उसके धंधों के लिए भी लागू होते हैं—गर्भावृद्धिक्षयित्विशेषशून्यशरीरत्वाच्च। संतर्प में प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय स्थायं कमज़ोर, मोटा और भारी तथा उसके बन्धन हीले, ऐसी स्थिति होती है। इस स्थिति में अगर प्रसूता विस्तरे पर आराम न करे तो योनिन्दंश (Prolapse), गर्भाशय की स्थानापृष्ठि इत्यादि अनेक गर्भाशय के विकार उत्पन्न होते हैं और गर्भाशय की स्वसंबृति के लिए अधिक समय लगाकर वह ठीक भी नहीं होती। योनिन्यापतियों के कारणों में मिथ्याचार एक कारण वराया गया है। इस मिथ्याचार में प्रसूति के पश्चात् आराम न करना, इसका समावेश होता है। (२) शरीर की स्थिति—प्रसव के पश्चात् प्रसूता की स्थिति उपर्युक्त चरक के वचन के अनुसार अत्यन्त दुर्बल, शिथिल और शून्य होती है। दुर्बलता की चिकित्सा के जो अनेक उपाय होते हैं, उनमें आराम (Rest in bed) एक प्रधान उपाय है। इस उपाय को छोड़कर अन्य उपायों को अंगीकार करने से उनसे पूर्ण और शीघ्र लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए प्रसूति के पश्चात् दो तीन महीनों तक आराम करने की भारतीयों की पद्धति प्रशस्त और स्वास्थ्यवर्धक है। उसी के अनुसार प्रसूता को रहना चाहिए। पांचास्त्र देशों में भी प्रसूता को आराम देने की प्राचीन पद्धति का महर्व ज़च्चने लगा है और वहाँ के प्रसवशाखाज्ञ प्रसूता को आराम देने की पद्धति के पंच में हो गये हैं—training and muscular effort with a bulky uterus and a relaxed outlet predispose to prolapse, and hence it is more often met with among those who resume their household duties or perhaps go out to daily work after ten days in bed and a few days convalescence than in those who have a longer rest in bed followed by a further period in which fatigue and strain are avoided. There is, therefore, much to be said for the old fashioned plan of waiting till the uterus has diminished in size and weight, and has sunk well down into the pelvis, and its muscular and ligamentary supports have recovered from the stretching and relaxa-

tion of pregnancy and labour before permitting the assumption of the erect position. Ten Teachers' Midwifery.

(२) आहार—प्रसूता स्त्री का आहार रुचिकर, सादा, हल्का, पौष्टिक और पर्याप्त होना चाहिए। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज उसको तरल आहार देना ही उचित है क्योंकि उस समय उसकी पचनशक्ति कुछ दुर्बल होती है। इसके साथ साथ इस बात को भी ध्यान में रखें कि एक समय अधिक मात्रा में देने की अपेक्षा अल्पमात्रा में अधिक समय उसको भोजन दिया जाय। खाद्यद्रव्यों में प्रोभूजिनों की अधिकता होनी चाहिए क्योंकि शारीरिक धातुओं की हासा की पूर्ति के लिए वे आवश्यक होते हैं। प्रोभूजिनों के अलावा जीवनीय द्रव्य और खट्टिक (चूना Calcium) की भी आवश्यकता होती है। पिण्यमय (Carbohydrates) और चर्वीमय पदार्थ अधिक न होने चाहिए। इनके सेवन से पचनक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है तथा आभ्यान और मलावरोध उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी बर्ज्य करने चाहिए। इस हिटि से प्रसूता को दूध, चाय, काफी तथा दूध के अन्य पदार्थ, मालवन, यवागू, काँजी, हाथकुटे चावलों का भात, संथूण गेहूँ की रोटी, हल्लुआ, मधुररस के फल (जैसे, मीठा, नींबू, मोसंवा अनार इत्यादि) वे पदार्थ अधिक मात्रा में विशेष करके दूध देना फायदेमन्द होता है। ताजी डबल रोटी, मिल (Mill) के साफ किये हुए (Polished) चावल, दाल, आलू, गोभी, कच्ची साग-सज्जी, मद्य इनको बर्ज्य करना चाहिए। मांसाहार के संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रारंभ में अण्डा दिया जा सकता है, परंतु मांस न देना ही प्रशस्त है। आगे स्वास्थ्य ठीक होने पर मांस दिया जा सकता है। पीने के लिए प्रसूता को पर्याप्त मात्रा में पानी देना उचित है। रक्तस्राव तथा प्रसव प्रवाहादि के कारण उसको पिपासा वहुत होती है। इसके लिए उबालकर ठंडा किया हुआ जल देना उचित है। सोडा वाटर भी दें सकते हैं। इन सर्वसाधारण वारों के अलावा आहार में कुलसात्म्य और देश का भी विचार करना पड़ता है—दादशरात्रापरं जांगलरसादिभिश्च क्रमादाप्याययेदग्निवलादीन्यपेत्य। कथितशीतत्वं तोर्व पाययेत्। तथा जीवनीय-बृंहर्णीय-मधुर-वातहरसिद्धैज्ज्वलानैश्च दृष्टैरूपाचरेत्। एवं पुनर्नीवभवति। (अंष्टांगसंग्रह, शारीर ३)। वैदेश्याश्र प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः ॥ रक्तमांसस्य निर्यूहं कल्न्दमूलफलानि च ॥ कुलसात्म्यं च दृष्ट्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा। श्रीचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्त्वयात् तुरुतरंते ॥ अतो नैकान्तिकत्वाच्च, सूतिकोपक्रमसंस्य च ॥ देशं च जातिसात्म्यं च संप्रधार्य प्रयोजयेत् ॥ (काशयपसंहिता, सूतिकोपक्रमसंगीय)। आहार के संबंध में आगे १९वें श्लोक के वक्तव्य में अपर्तर्पण की दिप्पणी में विचार किया गया है, उसको भी देखें। (३) मलप्रूत-विसज्जन-मलाशय और मूत्राशय का आहार कम होने से, उदरगुर्हा की रिक्तावस्था से, उद्धर की पेशियों की शिथिलता से, प्रसूता की कमज़ोरी से, मूत्रमार्ग की सूजन से या पीड़ा के कारण मूत्रमार्ग बन्द हो जाने से। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज तक प्रसूता स्वयं मल-मूत्र का त्वाग करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसलिए आयुर्वेद में मूत्रसंग, मलावरोध, आभ्यान इत्यादि प्रसूता

के रोग माने जाये हैं—जोनिम्रांघा द्वारा चैव विभिन्ना मृतप्रयिनी ।

आनन्दाभासपने लोमे बचोमूर्त्यमात्रापि ॥ (कारणपरसहिता, सूतिकोपक्रमणीय) । प्रसूति के कुछ पूर्व यदि स्त्री को विरेचन दिया गया हो तो प्रसूति के पश्चात् एक दो दिन पालाना न होने से कोई हरज़ा नहीं है । उसके बाद न हो सो पूरणी का तेल कोषुद्धि के लिए देना प्रशस्त है ।

रेवद्वीनी, न्यायासरक या अस्त्र चारीय विरेचक माता के दूध में कुछ खराकी पैदा करते हैं, इसलिए उनको जहाँ तक हो सके, न देना चाहिए । पूरणी के तेल की मात्रा कुछ अधिक (३॥ तोला) देनी चाहिए । उसके पश्चात् प्रत्येक दो दो तीन तीन दिन के पश्चात् काषुद्धि रखनी चाहिए ।

यदि विरेचन से पालाना न हो तो वस्ति भी भी खा सकती है, परन्तु जहाँ तक हो सके बस्ति न देना ही उचित है क्योंकि उससे बवालीर (अर्थः दृष्टि की समावना होती है) । बाहर घटे में कम से कम एक बार स्त्री को मूत्रलयाग करना चाहिए ।

इससे अधिक काल बस्ति में मूत्र रहने से वस्ति विस्तारित और निर्बल होने का दर रहता है । इसलिए छँ सात घंटे में अगर स्त्री ने मूत्रलयाग न किया हो सो भग पर गरम सेक करना चाहिए और बस्तिप्रदेश पर हाथ से योका दबाव डालना चाहिए । इससे प्रायः स्त्री मूत्रलयाग करने में समर्प हो जाती है । यदि अवश्यक हो तो उस समय उसके बैठाने से मदद होती है । यदि इन उपायों से काम न हो जाय और बाहर घटे तक मूत्र का लाग न हो सके तो सालाई के हारा मूत्र को निकालना चाहिए ।

सलाई डालते समय योनि की सफाई की ओर बहुत प्राप्त होना चाहिए । (४) मानसिक आराम और निज़—शारीरिक आराम के साथ प्रसूता को मानसिक आराम भी मिलना आवश्यक होता है और मानसिक आराम ठीक न मिलने से शारीरिक आराम मिलने पर भी उससे पूरा कायदा नहीं होता । प्रसूता को क्षोध, चिन्ता इत्यादि मानसिक विकारों से पूर्ण रहना चाहिए तथा ऐसे काम न करने चाहिए, जिससे उसे गुस्सा, रुज़ और फिक पैदा हो । इन मानसिक विकारों से उसका स्वास्थ्य दबाव होकर दूध भी दबाव (यात्रा इत्यादि दूध देसो) हो जाता है और बालक को भी खड़की होती है । प्रसूता को पर्याप्त निदा भी मिलनी चाहिए और प्रायः मिलती भी है । निदानाय के कारण—जैसे, कमरे के पास खोर या भीष (पीड़ी खूबी अध्याय का ४१वाँ खोक देसो) ॥ भी न होने चाहिए । (५) मैसुन—प्रसूतावस्था में मैसुन वर्ष्य करना चाहिए । मैसुन वर्ष्य करने के तीन कारण हैं—(१)

प्रसूति के कारण अपव्यामार्ग असंतुष्ट कमज़ोर और उत्तुष्ट हो जाता है । मैसुन के समय संर्पण अपव्यामार्ग पर काफ़ी दबाव और वर्षा होता है । इससे अपव्यामार्ग के किर से उत्तुष्ट होने का, उससे रक्ताव दोने का दर रहता है । (२) प्रमव के कारण अपव्यामार्ग की क्षेपण कला

उत्तुष्ट और कमज़ोर होती है, जिसके कारण उसके क्षय विद्युती विद्युती का क्षिकार अस्त्री जम सकता है ।

बननेविद्य के बाद मात्र होनेवा ही गम्भे रहते हैं और मैसुन के कारण बाहर की गम्भीर होती है । (३)

गम्भीर—मैसुन से गम्भीराणा होने का दर इस्ता है ।

जो उसर इसमें उतावले रहते हैं, उनका यह गुप्त कर्म कई बार साल भर के भीतर दूसरी बार स्त्री प्रसूत होने से प्रकट हो जाता है । जल्दी जल्दी वच्चे होने से पहले बालक का स्वास्थ्य द्वारा दूध मिलने से द्वारा होता है और होने वाले बालक का स्वास्थ्य माता की कमज़ोरी से अच्छा नहीं हो सकता और दोनों के मात्र से माता का स्वास्थ्य और भी द्वारा हो जाता है । पुनर्मर्मधारण करने के लिए स्त्री का स्वास्थ्य पूर्ववत् हो आना चाहिए । यदि प्रसूत में कोई गम्भीर न हुई हो तो उचित आहार-विहार से स्त्री का पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए छँ महीनों की अवधि बताई गई है—इन्हिमाती प्रसूताया खात्वी रुक्षितदद । प्रयागच्छ ले गेवा बालर्व परिसंवितिन् । (कारणपरसहिता, सूतिकोप क्रमणीय अध्याय) ।

अर्थात् इसके पहले मैथुन करने से आहर गम्भीराणा हो जाय तो होने वाले बालक का स्वास्थ्य दबाव होगा । अब वर्तमान बालक की हाई से विचार किया जाय तो जब तक वह माँ का दूध पी रहा है वह तक भी गम्भीराणा होना ठीक नहीं है क्योंकि गम्भीराणा से माता का दूध द्वारा हो जाता है और उससे पारिगमित नामक रोग होता है—पुद्धुषांगमित्या स्वयं योगर यशो । (अष्टांगद्रव्य) । य गम्भीरा पितृदृष्ट्यै पारिमित्यकृदि वद । (अष्टांगस्प्रह) । पाश्राय चिकित्सक भी मानते हैं कि गम्भेती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारकारी होता है । बालक को माता के दूध की तरह तक आवश्यकता होती है, जब तक वह अप्सेवन नहीं करता । अप्सेवन बालक के लिए तद दित्कर हो सकता है, जब बालक के दौतं निकल जाते हैं । यद्यपि छँ महीने में अप्सेवननिधि की जाती है, तथापि बालक की आहार की हाई से अद्य देने का बाल एक वर्ष का है ।

इसका विवरण आगे ५२ वं शूरु के वक्तव्य में किया गया है । अर्थात् बालक के अर्जसेवन करने के पश्चात् आगर माता गम्भेती हो जाय तो बालक को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हो सकती । घर्मांशाल में बालक के दृष्टव्यन के पश्चात् मैसुन के लिए खाशा दी गई है—प्रसूतार्थ कामये ग यों गम्भीरा लियदेव हि । शर्दूलवनादूर्मैव भासो न दीयते । (अत्रिसृति) ।

(इस विषय के कुछ विवरण यीड़े दे क्षम्याय के १७ वं छोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है, उसे देखो) बालकों के दौतं दो से दाईं साल में सम्पूर्ण निकल जाते हैं ।

यद तक मैसुन न किया जाय तो उसम पञ्च है, परन्तु इसमें अस्त्रावहारित्वा है । दौतं निकल जाने का प्रारंभनक काल १-२ महीने का होता है । ओमुर्वद में आठवाँ महीना प्रसूत माता याता है—यद्यपि दूसरुलग्नम वर्दित ।

(कारणपरसहिता, वृत्तामित्य अध्याय) । अर्थात् मैसुन करने के लिए जीवी की गम्भीरा खात महीने की मात्र सहज है । इसलिए मैसुनवर्दिन का काल प्रसूति के पश्चात् आठ महीने का मानने में कोई अपरिवृत्ति नहीं है । जातदर्शन बाल की आयु एक वर्ष की मी मात्री जाती है । और उसके पश्चात् बालक का स्वास्थ्याग करके उसको अप्रदिव्यायाम देव दिया जाता है—

मैसुन के द्वारा जीवी में अप्सेवन विद्युत द्वारा देवान् द्वितीय । (अष्टांगसंग्रह) । इसकी दीक्षा में इन्दु लिपते हैं—प्रयागच्छ

बालं क्रमशः स्तनादपनयेत् । इस आधार पर बालक एक वर्ष का होने के बाद मैथुन करना चाहिए । संत्रेप में प्रसवोत्तर मैथुन के सम्बन्ध में निम्न नियम मार्गदर्शन के लिए होते हैं—प्रथम तीन महीनों में मैथुन करना नियं और गर्ह है । प्रथम छः से आठ महीने के बाद करना कनिष्ठ पक्ष है । एक साल के बाद करना मध्यम पक्ष है और दो साल के बाद करना उत्तम पक्ष है । (६) अभ्यंग और आयास (Massage and exercise)—व्यायाम या शरीर की हलचल स्वास्थ्य चिरन्तन करने के लिए एक आवश्यक कर्म है । प्रसूता स्त्री को भी उसकी आवश्यकता होती है । परन्तु उसकी शरीर को स्थिति देखकर उसके लिए व्यायाम या शारीरिक परिश्रम अहितकर होते हैं । प्रारम्भिक कुछ दिनों तक उसको पूर्ण आराम करना चाहिए और उसके बाद भी दैनिक आवश्यक कर्मों के अलावा अधिक थकावट उत्पन्न करने वाले कर्म न करने चाहिए, परन्तु विस्तरे पर लेटे रहने से यथपि शरीर को आराम मिलता है तथापि केवल आराम करने से शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो सकता । इसलिए कोई मध्यम मार्ग निकालना चाहिए, जिसमें आराम और व्यायाम के गुण हों परन्तु दोष न हों । जैसे, गरम या ठंडे पानी में निचोड़े हुए तौलिया से शरीर पोंछने पर स्नान न करते हुए स्नान का फल मिलता है, अथवा मलखांव करने पर दूसरे कुरतीवाज के साथ कुरती न लड़ते हुए कुरती लड़ने का फल मिलता है, वैसे ही विस्तरे पर पड़े रहकर दूसरे से अभ्यंग या मालिश करवाने से व्यायाम न करते हुए व्यायाम का फल मिल जाता है । भारतवर्ष में प्रसूता को बलातैल या अन्य ओषधियों के तैलों को लगाकर मालिश कराने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से जारी है—जीवनीयवृण्डीयमधुरवातदरसिद्धैरस्यद्वौत्सादन-परिपैकवाग्हैरुपाचरेत् । (अर्थांगसंग्रह) । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवते । (चिकित्सा १५) । पाश्चात्य देशों में भी मालिश का महत्व काफी बढ़ गया है और वहाँ के प्रसूति-शास्त्र प्रसूता के लिए भी उसका प्रयोग हितकर मानते हैं—Gentle massage of the skin is useful also in childbed. Light massage of the back and extremities by some one especially trained for this is in many cases to be especially recommended. In general, one should be cautious with active exertion in the first days, and, where there is good assistance, devote oneself more to the passive movements and light massage, but never too great exertion. Ideal Birth. (७) लान, अवगाह, परिपैक-प्रतिदिन तैल की मालिश करने के पश्चात् एक या दो बार गरम पानी से स्नान करना चाहिए । स्नान के समय संपूर्ण शरीर की सफाई के साथ वाय जननेन्द्रिय की सफाई के लिए भी बहुत ध्यान देना चाहिए । जननेन्द्रिय का वाय भाग खराब होने से वह खराबी भीतर पहुँच जाती है । स्नान के पश्चात् तथा अन्य समय में भी प्रसूता को हवा के स्रोतों से तथा सर्दी से चचकर रहना चाहिए । शरीर कमज़ोर होने के कारण सर्दी से बीमार होने का बहुत रहता है । इसके संबंध का कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के वर्णन में किया गया

है । (८) आगन्तुक परिचर्या—इसमें जननेन्द्रिय का ही अधिक संबंध आता है । इसका विवरण आगे २० वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । संत्रेप में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थधृत—प्रसूता हितमाहारं विहारश्च समाचरेत् । व्यायाम सैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ॥ सर्वतः परिशुद्धा स्यात् लिङ्घपथाल्पमोजना । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मास-मतन्दिता ॥ व्युपद्रवां विशुद्धां च विशाय वलवर्णिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्भ्यों मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् ॥ (भावप्रकाश) । ये ही श्लोक थोड़े भेद से सुश्रुत के भूदगर्भचिकित्सित अध्याय में भी मिलते हैं । अब इसके बाद उक्त आहार-विहारादि का उल्लङ्घन करने से क्या होता है, उसको श्लोकहृष्य से संत्रेप में बताते हैं—

भवतश्चात्र—

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते ।
स कृच्छ्रसाध्याऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ॥ १८ ॥
तस्मातां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा ।

परीद्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

(सूतिका रोग) मिथ्याचार और अत्यपतर्पण के कारण सूतिका की जो (कोई) व्याधि उत्पन्न होती है, वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य रहती है ॥ १८ ॥ इसलिए देश और काल को देखकर व्याधिसात्म्य उपायों द्वारा उसकी चिकित्सा करे, जिससे वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाय ॥ १९ ॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में सूतिका रोग उत्पन्न होने के कारण दिये हैं और दूसरे श्लोक में उसकी चिकित्सा का सूत्र बताया है । सूतिका रोग उत्पन्न होने के तीन कारण होते हैं, जिनमें से दो का उल्लेख यहाँ पर किया गया है और तीसरा चरक और अस्त्रांगसंग्रह में दिया है । काशय-संहिता में सूतिका रोगों में प्रधान चरक बताया गया है और उसके कारण दिये हैं—सर्वेषामेव रोगाणा चरः कष्टमो मतः । वंगसंधाराणाद्वैचाद् व्यायामादत्यस्वक्षयात् । शोकादत्य-दिसंवापात कट्वस्तोष्यातिसेवनात् ॥ दिवास्वमाद् पुरोवानादुगुर्व-मिष्यन्दिभोजनात् । स्तन्यागमाद् ग्रहवायादजीर्णोदुष्प्रजायनात् ॥ उरः सजायते नार्याः षष्ठ्विथो हेतुमेदतः ॥ (सूतिकोपक्रम-णीयाध्याय) । ये कारण भी इन तीन कारणों में समाविष्ट होते हैं । इन तीन कारणों में प्रथम कारण सहायक (Predisposing) है और शेष दो एक प्रधान या उत्पादक (Precipitating) हैं । (१) शरीरदौवल्य—यह प्रथम सहायक कारण है, जिसका उल्लेख यहाँ पर नहीं किया गया है, परंतु चरक में किया है और कृच्छ्रसाध्यता का वही कारण बताया गया है—त्यस्यात् यत् यो व्याधिरुपद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवद्वितीयतिशयिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनालेदनरत्निःक्षुविविशेषशृण्यशरीरत्वाच् ॥ इसके दो परिणाम होते हैं । प्रथम परिणाम प्राणशक्ति तथा रोगापहरण सामर्थ्य घटने में होता है, जिससे जरा सा कारण होने पर स्त्री रोगों की शिकार हो जाती है । दूसरा परिणाम कृमियों या आधुनिक परिभाषा के अनुसार विकारी जीवाणुओं के प्रवेश में हो सकता है । अगर सफाई की ओर ध्यान न देने से उनका अवस्थान जननेन्द्रिय के पास हो जाय । (२) अत्यपतर्पण—लंघन या मात्रा से बहुत कम आहार करना । दलहण-चार्य तथा हारणचन्द्र अत्यपतर्पण रोग की असाध्यता का

कारण मानते हैं—प्रस्तुतवर्णयादिति स्वस्थयने हैं। (ददहण)। अत्यपनैरादात्साप्तर्त्वं च। इनका छद्मने का सापेक्ष यदृ है कि प्रसूता के रोग मिष्पाचार से उत्पन्न होते हैं, ये फूलदात्य होते हैं और अत्यधर्त्तुं से वे वस्त्रात्य हो जाते हैं। यह कथन एक हाइटीक है, परन्तु अत्यपत्तें का संरूप रोगोपचिकि के साप भी डगाया ला सकता है। प्रसूति के पश्चात् बानुचींगता की पूर्ति करके स्वस्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रसूता को पर्याप्त पौष्टिक आहार मिळना चाहिए। प्रसूतावस्था कोई वीमारी नहीं है कि उसको दैनन्दिन दिया जाय, या अवस्थामात्रा में आहार दिया जाय। प्रसूतावस्था नी मर्दीने बालक का घोस उठाने के कारण तथा प्रसूति के कठिन परिधान के कारण उत्पन्न हुई स्वस्थ्य मनुष्य की परिव्रान्तावस्था है, जिसमें घकावट दूर करने के लिए स्वस्थ्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक पौष्टिक आहार की अवैधता होती है। केवल एक हृतना ही होता है कि स्वस्थ्य मनुष्य का पचनस्थान स्वस्थ होता है और प्रसूता का कुन्द कमज़ोर तथा यका हुआ रहता है। इस हाइटी से प्रसूता को धार्मिक दुष्क दिनों तक हल्का और शुभात्य आहार देना चाहिए, परन्तु कम मात्रा में देने का कोई कारण नहीं है। यदि आहार की राशि शारीरधारुचींगता की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त न हो तो गर्भधारणदोषण तथा प्रसूति से वीण हुआ शारीर धीरे यो वीण होगा और वीण हुए शरीर पर मिष्पाचार से कोई भी रोग जड़दी अपना अधिकार जमा लेगा। प्रसूता को वीमार समझकर उसके पर्याप्त मात्रा में आहार न देने का रिवाज या परम्परा उस समय में होगी, उसको घान में रखकर यह बांध धर्हा पर लिखा गया है, ऐसा मात्रम होता है। शुरोप में इस प्रकार की अपतर्पण की पद्धति थी, इसका उत्तरेत लेलेट अपनी प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में करते हैं—The older notions, that a low diet was required at this time have, in the words of a recent writer, been consigned to the same limbo of disfavour as the 'starve a fever' principle. A puerperal woman, more than other people, requires the maximum amount of nourishment which she can digest without imposing too great a tax on her digestive organs. इस उद्दरण से यह स्पष्ट होगा कि प्रसूता आहार की हाई से संतर्पणीय अवधि है, अर्थात् प्रसूता को हृष्ट, धी, सफ़रा, मांसपास इत्यादि पौष्टिक आहार द्वारा से पुष्ट करना चाहिए। पाञ्चात्य वस्त्रन के आवार पर बनाया हुआ यह निराधार मत नहीं, परंतु आयुर्वेदसम्पर्क पह मत है। विविधोपक्रमणीय अव्याय (अष्टाहृदय, सूत्र १४ और अष्टारीत्यादि, सूत्र २५) में वामप्रदाचार्य लिखते हैं कि चिकित्सा संप्रदाय किनते भी कर्यों न हों, ये दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—संतर्पण चिकित्साविभाग और अपतर्पण चिकित्साविभाग। ये ही विभाग 'हृष्ट चिकित्सा' और 'लंबत चिकित्सा' कहलाते हैं। प्रसूता हृष्टचिकित्सा योग्य होती है—चपकान्त वि द्रिवादि रिप्रेसेप्टो मत। एक संतर्पणतत्त्व द्रिवीयशास्त्रदर्शणः ॥ बृहद्यो लवनघेति तत्त्वायामुदाद्युमि ॥ बृहद्य एव इत्यर्थं लैभन्ते सावधान यत् ॥ हुयेद्युक्तिमैत्र्यम्बद्यक्तिशेष-

हिंसात् । गंगयोदयिकाशास्याद्यै धीरे पराननि ॥ माटीतीर-
सिलारपिंडुरिविषयवित्तिः ॥ इन्द्रजायामुत्तम्भवाननिर्विति-
इत्येः ॥ इससे पहुँ इत्योगा कि जहाँ पर संतरण दी
भावरक्तदा है, पहाँ पर अपतरण काने से वह रोगात्पति
का कारण हो जाता है । जेले और अपने प्रसूतितन्त्र में सह
लिहते हैं—It is probable that the custom still
observed by some physicians of keeping parturient
patients on unnecessarily low diet is responsible
for occasionally bringing about a susceptibility
to infection. *Jellies Midwifery* (१) विष्वाचार-
परीत और कपड़ों की सराई न करना, उदर पर बलपूर-
ग बांधना (आगे के सूत का बलपूर देखो), शीत से
दूरी की रक्षा न करना, प्रसूति के पश्चात् उचित काल तक
विस्तरे पर आदाम न करना और प्रारम्भ से ही घृनना
फिरना, मधुन इत्यादि । सरेह में प्रसूता के लिये जो स्वस्य
हृष्ट बतलाया गया है, उसके विस्तर आचार । ये आधि-
य-वोद्धवि आधि । सूतिका को मिथ्योपचार से अनेक दो-
उपचार हो सकते हैं । रोग कोई भी हो, प्रसूता दीप्तिमोत्तर
होने के कारण रोग दूर्ग और हृष्टसायं होते हैं
कारणपक्षहिता में सूतिका के निम्न घौसठ रोग पतला
गये हैं—योनिभ्रात्र दृढ़ा ऐव विश्वा मूरसनिनी । चोब
स्त्राविदी ऐव प्रसूता वेदनावदी ॥ पार्श्वेष्वर्दीत्युल इति ए
सूतिका । चीदा शोरोवर च राशाचारोऽजमरं
भूवेषो इनुत्तम्ये मन्यात्तम्बोऽपठानकः । महातो विद्यां शोक
प्राणोन्मादकामाणा । द्वैर्वेष्य भ्रमतो वार्ष्ये भ्रम्भोऽपिवाकः
उत्तरितारो वैसर्वेष्यद्विष्टुता प्राणविद्य ॥ विद्या अमृतं कासु
पापुरुषलक्ष रक्षः । राशाचाराभावे चोमे वचोऽपूर्वादिवि ।
मुद्रेषोऽपिवेष्य प्रतिशयागवधी । राशयनार्दित कम्प
कर्णेश्वर व्राणामार ॥ उपायातो प्रशारधनरोगोऽपि रोदिदो ।
वानादेना वाताद्यस्मरकपित्तिविचिक ॥ इत्येते सूतिकोरोगाद्यु-
विहितादा ॥ (सूतिकोपकर्मणीयस्याय) । इनमें से
कुछ रोग प्रसव के समय दोनि तथा उसके आसपास के
लोगों पर भी तादात और दूर्ग पड़ता है उसीसे होते हैं—
जैसे, मधुमूल सम, दोनिचत या विदार इत्यादि । कुछ
रोग पहले से ही चीं में गुस या प्रकट रहते हैं और प्रसूति
के पश्चात् जोर एवं पकड़ते हैं । जैसे, राशयना, उम्माद
इत्यादि । इनमें सब से महाव का रोग है उवर—सर्वोदय
रोगाणा ज्वर वृक्षभो मतः । (कारणपक्षहिता, सूतिकोप-
कर्मणीय) । इसको सूतिकावर (Puerfo al fever)
कहते हैं । अतः इसी का पहाँ पर विचार किया जायगा ।

तथा जो प्रसूतावस्था में प्रसव के कारण गर्भाशय और अपत्यमार्ग में उत्पन्न हुई स्वाभाविक विशिष्ट स्थिति की विकृति से उत्पन्न होता है। इस हृष्टि से प्रसूतिज्वर को 'प्रसूतयोनिदोपज ज्वर' ऐसा संप्रासिद्धक नाम दे सकते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए कहे संप्रासिद्धक नाम प्रचलित हैं। जैसे, Puerperal sepsis, puerperal infection, puerperal toxæmia, P. septicaemia, surgical fever of childbed etc. प्रथान कारण—प्रसव के कारण गर्भाशय तथा अपत्यमार्ग चण्डयुक्त और कमजोर हो जाता है। ऐसे स्थान में यदि पूरोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश हो जाय तो वे जलदी चण्डयुक्त स्थानों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और गंभीर विकृति उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण ज्वर उत्पन्न होता है। विकार उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु होते हैं—मालागोलाणु (Streptococci), स्ट्रैफ्लोकोलाणु (Staphylococci), मलाशयी दण्डाणु (B. coli), फुफ्फुसगोलाणु (Phaenacoccus), गुणगोलाणु (Gonococcus), चातकोथ दण्डाणु (B. wachlii) हृत्यादि। इनमें मालागोलाणु विशेष महत्व का और अधिकता से मिलने वाला होता है। ये जीवाणु कष्टप्रसूति के समय प्रसव करने के लिए प्रयुक्त हुए गन्दे हाथों से या औंजारों से भीतर प्रविष्ट होते हैं। अथवा प्रसूति के पश्चात् योनिद्वार की सफाई दौक न रखने से तथा योनिद्वार के साथ सरबन्ध रखने वाले कपड़े गन्दे प्रयुक्त करने से भीतर प्रविष्ट होते हैं। सहायक कारण—कष्टप्रसूति जहाँ पर यन्त्रशास्त्रों का उपयोग किया गया हो, विलम्बी प्रसूति, प्रसवजन्य अधिक रक्तस्राव, अपतर्पण (पीछे अतर्पण देखो), चिन्ता दुख हृत्यादि मानसिक विकार, प्रसवशोणित का स्वाव ठीक न होना, अपरा और जरायु का कुछ अंश गर्भाशय में शेष रहना, मॉल्यावरोध, अकालप्रसूति, जैसे गर्भावात् या गर्भावाव हृत्यादि—खोणमप्रजानानां प्रजाताना तथाऽहितैः। दाहउवरको धोरो जायत रक्तविद्रुतिः। अपि सम्यकप्रजातानामसुकायादनिःसृनम्। रक्तं विद्रुतिं कुर्यात् कुचौ मक्तुमंशितम्॥ (निदान ९)। शारीरिक विकृतियाँ—व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक विकृतियों के तीन विभाग किये जाते हैं—(१) स्थानिक—इसमें जीवाणु योनि-गर्भाशय में ही सीमित रहते हैं। इसमें स्थानिक लक्षण अधिक और सांकेतिक सौम्य रहते हैं। स्थानिक विकृति में गर्भाशय का वह भाग, जहाँ पर अपरा लगी रहती है, अधिक दूषित होता है। इसके सिवा योनि में या योनिद्वार में कहीं विदार या चण्ड हुए हों तो वहाँ पर भी विकृति होती है। (२) समीपवर्ती विकृतियाँ (Localise secondary lesions)—इसमें गर्भाशय तथा योनिसमीपवर्ती अङ्गों में विकृति समीपता के कारण सिराओं, रसायनियों और वीजवाहिनियों द्वारा फैलती है, जिसके परिणाम स्वरूप में सिराशोथ (Phlebitis), रसायनोशोथ (Lymphangitis), वीजवाहिनीशोथ (Salpingitis), वीजप्रिन्थिशोथ (Oophoritis), शोणिगुहाशोथ (Pelvic cellulitis), मूत्राशयशोथ (Cystitis) और उदरावरप्पशोथ (Peritonitis) हृत्यादि उपचर होते हैं। (३) सार्वदैविक और दूरवर्ती विकृतियाँ—ये विकृतियाँ तीन प्रकार को होती हैं—(अ) विषमय (Toxæmia)—इनमें स्थानिक विकृति से विष रक्त के साथ

संपूर्ण शरीर में संचार करता है। विष का परिणाम अधिकतर यकृत, झींहा, हृदय और मस्तिष्क पर होता है। प्रत्येक स्थानिक विकृति के साथ, चाहे सौम्य हो, चाहे तीव्र हो, न्यूनाधिक विषमयता हुआ करती है। (आ) औनायुमय (Septicemic) इसमें स्थानिक विकृति के जीवाणु रक्त और लस के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं और कभी कभी स्थान स्थान पर अवस्थान करते हैं। (इ) अन्तःशल्यमय (Embolic)—कभी कभी गर्भाशय समीप-वर्ती सिराओं में जमा हुआ रक्त हुलचल या दबाव के कारण वहाँ से छोटे छोटे कणों के रूप में रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में फैलता है और स्थान स्थान पर अन्तःशल्य (Embolus) के रूप में अवस्थित होता है। जमे हुए रक्त के साथ जीवाणु भी रहते हैं। द्वितीय और तृतीय विकृति के अनुसार जीवाणु या जमा हुआ रक्त अधिकतर फुफ्फुस, हृदय, हृदयावरण, संधियाँ, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण हृत्यादि में अवस्थान करते हैं। उपसर्ग सौम्य और प्रसूता का स्वास्थ्य अच्छा होने पर विकृति प्रायः स्थानिक रहती है और उपसर्ग तीव्र और प्रसूता का स्वास्थ्य खराच होने पर विकृति समीपवर्ती या दूरवर्ती अंगों में फैलकर राग गंभीर हो जाता है। लक्षण—चिकृते के समान लक्षणों के स्थानिक और सांकेतिक विभाग किये जाते हैं। स्थानिक लक्षण—हृनमें योनिगर्भाशय के लक्षणों का समावेश होता है। यानि में सूजन, जलन और पीड़ा होती है। गर्भाशय आकार में बढ़ा रहता है, टोलने पर पीड़ायुक्त और पिलपिला मालूम होता है। विकृत समीपवर्ती भागों में फैलने पर वे भाग कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं। जब गर्भाशय में अपरा और जरायु के कुछ अंश वाकी रहते हैं, तब जीवाणुओं के उपसर्ग से उनके सद्विनेक कारण गर्भाशय एक विद्रुति सा हो जाता है। इसी का उल्लेख निदान में मक्तुविद्रुति (Putrid emmetritis) करके और काश्यपसंहिता में विद्रुति करके किया गया है। प्रसवशोणित के ऊपर स्थानिक विकृति का परिणाम दिवाई देता है। इसकी राशि कम या अधिक होती है, या यह चिह्नकुल बंद हो जाता है; उसका रंग भूरा या काला सा होता है, उसमें गाढ़ापन आ जाता है तथा उससे दुर्गंध अनेक लगती है। उदर कुछ बढ़ा रहता है। यदि उपसर्ग प्रसव के समय पहुँच गया हो तो ये लक्षण दूसरे या तीसरे दिन से प्रारंभ होते हैं। यदि प्रसव के बाद उपसर्ग हुआ हो तो देर में प्रारंभ होते हैं। सांकेतिक लक्षण—हृनमें उवर सहस्रव का और प्रधान लक्षण है। सौम्य रोग में उवर दूसरे या तीसरे सप्ताह में आ सकता है और तीव्र रोग में प्रसूति के दिन भी आ जाता है। प्रसूति के पश्चात् ज्वर आने के दिन से रोग की तीव्रतांतरा, का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ज्वर एकाएक चढ़ता है, तब ज्वर के पूर्व सर्दी या जाड़ा मालूम होता है। रोग की स्थिति के अनुसार ज्वर १०१°-१०५° शतक चढ़ता है। जब रोग शरीर के अन्य अंगों में फैलता है, तब रोगी को बार बार सर्दी लगती (प्रतिशीतता Hypoesthesia) है। तीव्र रोग में फुफ्फुसों में विकृति होने से कास, श्वास मस्तिष्क में विकृति होने से चित्तभ्रम, प्रलय,

वैद्योही; वृचा पर विविध प्रकार के और सरक विस्पौट, कामला, पचावात, एकांगावात, अदित इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर प्रसूता की सूखु होती है। जब गम्भीरशय और योनि में अपतानक के जीवाणु का उपसर्व होता है सब अपतानक (Tetanus), हतुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ ये लक्षण होते हैं। कुछ खियों में उपसर्व का परिणाम उमाद में होता है। हस्तको प्रतिवोन्माद Puerperal insanity) कहते हैं। संसेप में, कारब्यपसहिता में प्रसूता के लो चौसठ रोग बताये गये हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्र रोग न होकर योनिगम्भीरशय की दृष्टि होने के कारण उत्पन्न हुए विविध लक्षण हैं।

देशकाली च परीक्ष्य—देश से यहां पर होगी क्वार काल
से आतुरावस्था महण करनी चाहिए। आतुर की परीक्षा
प्रकृति, विकृति इत्यादि दस खातों से बलदोषमान जानने
के लिए और काल की परीक्षा ओषधि का योग्य उपयोग
और लाभ होने के लिए की जाती है। चरक में लिखा है—
देशस्तु भूमिरात्मकम् । आतुरस्तु शङ्ख कार्येद्यः । दस्य परीक्षा
आत्मप्रसाधनानेतोर्वा स्याद्विदोप्रसाधनेतोर्वा । तस्मादात्मतुरं
परीक्षेत प्रकृतिरथ, विकृतिरथ, सारतथ, संहनतथ,
प्रसाधनतथ, सारमधतथ, सत्सवतथ, आहारसंक्षिप्तिरथ, व्यायाम-
शक्तिरथ, कवचशक्तिरथ, वक्षप्रसाधनविषयप्रसाधनहेतोः । कालः पुनः
सरत्सरात्मातुरावस्था च । अतुरावस्थास्मिन् तु कार्येद्यं प्रति
कालान्तरसंदृढः । अस्यामदस्यावस्थापरं भैरवस्थापातात्, वातः
पुनरन्तरस्य । न इतिप्राचितवायत्तमप्रसाधनार्थं वा भैरवमुपत्युवमान
यीर्गिर्क भवनि । कलो हि भैरवद्वयोगपर्याप्तिमिति निर्वर्तन्दयति ॥
(विमान ८) ॥ न्यायिकास्थेयन कर्मणा—रोग के लिए जीवय,
जल और विद्युत को लाभदायक प्रयोग हो, उसके
ज्ञाता—उग्रयो दि हेतुव्याविषयित्वानेविषयाव्यवस्थितिकौशा-
कारविहारः सुखातुरन्व । स दि न्यायिकास्थेयः ॥ (शास्त्रोग-
संग्रह, निकाट १) ॥ गवयदातारायं इस स्तोकार्च का याद

इस प्रकार स देत है—या तु 'दर्शकनाकम्पियाप्रतिवर्तनम्' भवेण। इति धर्मिणा देशादिभिः सह इष्टकं साम्बद्धं समाप्तिः, भोक्तव्यात्मयम् स्वासामालयम्। (इच्छणीका) । भोक्तव्यम्—
उपर्युक्ते दर्शिविषयादीक्रमात्मक दुखोः। इस पाठभेद से कोई
विदेश अर्थ नहीं निकल आता। इसकी अरेष्ठा मूलपाठ
सह इष्ट से प्रगत है। एव मात्वमानुवाद—प्रसूति का
रोग सारीरीवैषय तथा अन्य कारणों से दारण, कृष्ण-
साम्प्रथ या असाम्प्रथ होता है। इसकी विविधाना आपुनिक
उत्तमोत्तम ओषधियों (जैसे, शुक्लोपिधियों *Alpaca droga*
कूर्चंडी *Poo willia* इत्यादि) और चिकित्सापद्धतियों
द्वारा करने पर भी वृद्धि छियों का नाश होता है
और पर्दि पूर्ण शुद्धि से वृच्छी जाय सो रोग-
प्रसूत या गर्भात्मक या मुम्रवानिर्माणात्मक हो
जाती है। इमठिंड 'प्रदावनादि' परम्य दूरादपर्यन्तं भरन्तं
इस व्याप्ति से भी को प्रसूत रोग वैषा ही न हो जाय इस
प्रकार प्रगतवैष, प्रगवदातीन और प्रगतोत्तर परिवर्या
करना प्रशस्त है। इस विषय का विवरण यीदे गमिनी
परिवर्यो (तीव्रे अस्पाय के १३५०० शूल और इन अस्पाय
के १०५०० शूल) में, प्रगवदातीन परिवर्यों में और जागे के
शूल में दिया गया है। इष्टः ताप्यं वर्हा पर रसेवन में

दिवा जाता है। सगरमार्गस्या में छी सुपार्श्च, पौड़िक,
पर्याप्त, लीददम्ययुक्त खाहार का सेवन करे, खचा और
जननेन्द्रिय की स्वच्छता के ऊपर अधिक ध्यान दें; मुख
गला, नासा, खचा हृत्यादि में कोई दृष्टिपत ध्यान (Sight-
Focus) हों तो उनकी चिकित्सा करके ठीक करे। इन्द्रिय या
अन्य रोगों की चिकित्सा करे। जहाँ तक हो सके, योगि के
मीरां लंगुलियों को प्रविष्ट करके परीक्षा न करे। आगर
करना अस्त्रावश्यक हो तो हाथों की सफाई के ऊपर ध्यान
देकर करे। प्रसूति के कार्य में प्रयुक्त रिखों मुख, नासा, गला,
स्वरयन्त्र, फुकामुस और खचा के विकारों से पीड़ित हों
तो उनको तैनात न करे, दॉक्टर या दैव को भी खसन-
स्थेयान और खचा के रोगों से पीड़ित होने पर प्रसूति का
काम भ करना चाहिए। प्रसूति के समय विशेषन और
बस्ति के हारा भलाशय साक रखें। प्रसवोपयोगी वक्ष, पात्र
शाश्वपन्नादि को अत्यन्त विशेषित करके काम में लाएं।
योगिन्द्रिय में कहीं विद्यार हुआ हो सो सुरम्भ टॉक लगावे,
खाहार-विहार के संबंध में प्रसूता की परिवर्त्तन जिस प्रकार
से खत्ताई गई है उस प्रकार करे, योगिन्द्रिय की सफाई
रखें तथा योगिन्द्रिय के साथ संबंध रखने वाले सब वस्त्र
अत्यन्त स्वच्छ भयुक करे, हृत्यादि।

करात्मस्याः केशवैष्टिवाऽङ्गुल्या प्रमूजेत्, कटका-
लावृद्धतयेनसर्वपर्सर्वमीकैर्वा कटुतेलभिमैश्च-
योनिमुखे धृपयेत्, लाङ्गूलामूलकलंकेन वा उत्थायाः
पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्खं वा उत्थाया महावृत्त-
क्षीरमनुसेचयेत्, एषु उलाङ्गूलामूलकलंकं वा मध्य-
मूलयोरस्त्वतरेण पापयेत्, शालमूलकलंकं वा पिण्ड-
ल्यादि वा मध्येन सिद्धार्थकुषुलाङ्गूलामहावृत्त-
क्षीरमिश्चेण सुरामाणेन वा उत्थापयेत्, पत्तैरेव
सद्दून सिद्धार्थकलेनो तरयस्ति दधात्, निर्गयेन

(प्रथम की शृंखला) — पर्वतम के पश्चाद्
गर्भायाय से) न गिरि हुई अपरा आनाह और आप्तान
हत्ती है। अतः (अपरानानाय) यांडों से लिपटी हुई
रुखिं से उसके कठ (गढ़े) में प्रशुरुदी करो; अपरा
हत्ती हुआ, कहवी तोही, सरसों, सौंप की छुली को
उच्चे तेल से लिटाकर उनसे दानिमुख की घूण करो;
अपरा उसके हाथ पौरों की तरी में लोगाई की जह के
कल का लेप करो; अपरा उसे रिय पर सूर्यों के रस
सेवन करो; अपरा मध्य या गोमूर्ख के साप कुष्ठ और
लोगाई के मूल के कल के लिटावे; अपरा शालीमूर्खएक
पिण्डलादि (गण का पूर्ण) मध्ये साप (लिटावे);
अपरा बैत सरसों, हुड़, दांगली, सेहुण्डरी इनमें लिप
प्राप्तमण्ड का आवायन करो; हर्दी दृष्टये में लिद
प्राप्तमण्ड का आवायन करो; अपरा दृष्टये में लिद

विविध तरह का उत्तर बोला दि। अपना मानूल का हुए दीर से होड़म से स्थिरता हो दूर हाथ से निकाले ॥ २० ॥

तथा भाता को लत्यधिक परिणाम करने पद्धते हैं, जिसके कारण गर्भजन्म होने पर ये दोनों भी यात्रा जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दृष्टपंद्रह गिनट तक गर्भाशय में संकोच नहीं होता और इससे प्रसवयेदना भी उतने समय तक वंद द्वारा जाती है। इस अवधि में गर्भाशय पूर्णतया निष्प्रय नहीं होता। यदि इस अवधि में गर्भाशय के ऊपर हाथ रखना जाय तो उसमें एलकी सी हल्काल हो रही है, ऐसा मालूम होगा। इस हल्काल से गर्भाशय अपनी शक्ति को पिर से काम करने के लिये इकट्ठा करता है और दूसी ओर छोटा बनाता है। इस परिवर्तन को प्रत्याकर्पण या संहरण (Retraction) कहते हैं। यह संहरण का कार्य यहुत महत्व का है। प्रथम और द्वितीय अवस्था में गर्भाशयसंकोच (Contractions) का जो महत्व है, वही महत्व नृतीयावस्था में गर्भाशयसंहरण का है। नृतीयावस्था में गर्भाशय के दो कार्य होते हैं—एक कार्य अपने प्रति होता है और दूसरा कार्य अपरा के प्रति होता है। ये दोनों कार्य अत्यन्त महत्व के हैं और इनका एक समय में होना भी आवश्यक है। ये दोनों कार्य संहरण के द्वारा होते हैं। संहरण में गर्भाशय के तनुओं में स्वायी संकोच हो जाता है, जिसके कारण गर्भाशय आकार में छोटा होता है। आकार छोटा होने से उसका भीतर का पृष्ठभाग भी घेवफल में छोटा होता है। नृतीयावस्था के पूर्व अपरा का गर्भाशयाभिमुख पृष्ठभाग और गर्भाशय का अपराभिसंबंधित पृष्ठभाग इनमें मेल रहता है। नृतीयावस्था के प्रारंभ से जब गर्भाशय छोटा होने लगता है, तब दोनों के पृष्ठभाग में कुछ अनमेल शुरू होता है और धीरे धीरे यह अनमेल बढ़ता जाता है। अपरा गर्भाशय के साथ सिकुलकर छोटी नहीं होती, इसलिये नृतीयावस्था के प्रारंभ से अपरा गर्भाशय से पृथक् होने लगती है। प्रथम अपरा का मध्यभाग ग्रायः पृथक् होता है। पृथक् होने पर गर्भाशय और अपरा के दीच में कुछ रक्त इकट्ठा होता है। अनमेल के बहने से अपरा अधिकाधिक पृथक् होती जाती है तथा दोनों के दीच में अधिक रक्त इकट्ठा होता है। इसको प्रतीपापरा रक्तार्दुद (Retro-placental hematoma) कहते हैं। यह रक्तार्दुद भी अपरा को पृथक् करने में सहायता करता है संहरण का अन्तिम परिणाम अपरा के पूर्ण पृथक् होने में होता है। तत्प्रश्नात् गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से अपरा गर्भाशय के भीतर से निकलकर नीचे योनि में आती है। इस तरह संहरण का अपरा के प्रति परिणाम उसके पृथक्करण में होता है। अपरा पृथक्करण के साथ साय यदि अपरा को रक्त पहुँचाने वाली रक्तवाहिनियों के मुख वंद न किये जायें, तो अपरा के स्थान से रक्त का चाचा बहुत होगा। परंतु यह देखा जाता है कि अपरा के साथ जो दो-तीन छांक रक्त निकलता है उसके बाद रक्तस्राव नहीं होता। इसका कारण भी संहरण है। संहरण के द्वारा अपरा के स्थान की रक्तवाहिनियों के मुख गोया असंबंध बन्धनों (Ligatures) से वंद किये जाते हैं। इस तरह संहरण का गर्भाशय के प्रति कार्य रक्तस्राव वंद करने में होता है। जिस समय संहरण ठीक नहीं होता, उस समय अपरा गर्भाशय से अलग भी ठीक नहीं होती, और यदि ज्वरदस्ती निकाली जाय तो उसका कुछ

हिस्सा भीतर रहने का तथा रक्तग्राय होने का दर रहता है। अथ—गर्भजन्म के पश्चात्। प्रसव की तीसरी अवस्था में प्रसवरूपशृङ्ख की दो शासाण्यः होती हैं—मातृशास्त्रा और अपश्यास्त्रा। दोनों शासाण्यों का काम साय साय करना पड़ता है और किया भी जाता है। इन शासाण्यों के कार्य धालोपचर्या और सुतिकोपचर्या कहलाते हैं। ये दोनों कार्य साय साय घलने हैं, इसका स्पष्ट निर्देश धरक में किया गया है—तथासु रत्नपराया प्रपत्नार्णे नर्मणि कियमाने जातमात्रत्येन बुगारस्य कायार्णयेतानि नर्मणि भग्नति। यास्त्रहैं सूत्र में धालोपचर्या और पन्द्रहवें सूत्र से सुतिकोपचर्या का विवरण किया गया है। धास्त्रव में सुश्रुत में दिया हुआ सुतिकोपचर्या का काम कुछ उल्टा हो गया है। अपरापतन का काम सद्य से पहले याने पन्द्रहवें सूत्र के पहले देना जर्वी है। अपरापतन के सिवा प्रसव पूरा नहीं होता और धम्यंग-व्यान, भोजन इत्यादि कर्म नहीं किये जाते। धरक और जटांगसंग्रह में सुतिकोपचर्या का काम ठीक दिया है—ददा च प्रजाता रथार्द्वैनामयेश्वत्—याचिदस्या अपरा प्रपञ्चा न येति। तस्याद्येदपरा न प्रपञ्चा स्याद्यैनामन्यतमा शी इत्यादि। इसके बाद सुतिका के बाहर अभ्यंगादि के बारे में विवरण किया गया है। अपवृत्ती—यह अपरा का विशेषण है। धरक के उपर्युक्त वचन में और भी एक यात है, जो सुधृत में नहीं मिलती। यह यात इस सूत्र के पहले मानी गई है, ऐसा मालूम होता है। इस यात के साथ इस सूत्र का प्रारंभिक भाग निम्न प्रकार से परिवर्तित कर सकते हैं—अथापराऽप-तत्त्वानाशाधानानि कुरुते, वस्त्राण्यत्स्याद्येदपरा न प्रपञ्चा स्यात्तदि कण्ठास्याः केत्रादेवियागुल्या प्रगृजेत इत्यादि। इसका मतलब यह है कि गर्भजन्म के पश्चात् अपरा का निकासन या पतन आप से हो जाता है; उसके लिए विशेष कोशिश करने की आवश्यकता नहीं होती। गर्भाशय से पृथक् होने पर अपरा तुरन्त योनि से बाहर नहीं आती। प्रथम गर्भाशय से योनि में आती है और पश्चात् योनि से बाहर निकलती है। गर्भाशय से अपरा पृथक् कैसी होती है, इसका विवरण इस वक्तव्य के प्रारंभ में किया गया है। गर्भाशय और योनि की अपरा को बाहर फेंकने की शक्ति भिन्न होती है। गर्भाशय में धालोपचर्या के संहरण से अपरा पृथक् होकर उसी के संकोच से वह बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट में खट से योनि में निकाली जाती है। गर्भाशय में जो संकोच शक्ति है, वह योनि में नहीं है। इसलिए योनि से बाहर आने में अपरा को अधिक समय लगता है। अगर अपरा का संपूर्ण निकासन निसर्ग या स्वभाव के ऊपर ही छोड़ दिया जाय तो समय की दृष्टि से यह देखा गया है कि २५ प्र० श० शिर्यों में अपरा निर्गमन के लिए आधा घंटा, २९ प्र० श० शिर्यों में एक घंटा, २५ प्र० श० में दो घंटे और शेष में दो घंटे से लेकर १२ घंटे तक समय लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होगा कि संपूर्ण निकासन स्वभाव के ऊपर छोड़ने में कुछ अनिश्चिति है और कालापव्यय होने की संभावना होती है। इसलिए अपरा निकासन के लिए मध्यम मार्ग पसंद किया जाता है। वह मध्यम मार्ग यह है कि गर्भाशय से योनि तक का अपरा का निकासन स्वभाव के ऊपर छोड़ा जाता है और योनि से बाहर आने के कार्य में

इसद्वारा सहायता दी जाती है। प्रथम कार्य याने गर्भाशय से अपरा का पृथक होने का कार्य स्वभाव पर दोइने का उद्देश्य पह है कि उससे क्षेत्र पूर्णतया निकल आती है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Post partum haemorrhage)। नहीं होता। अगर यह कार्य जबदेसी किया जाय तो अपरा के कुछ हड्डिये भीतर रहने का डर होता है साथ गर्भाशय का संहरण टीक म होने से रक्तस्राव भी हो सकता है। योनि से अपरा को कृत्रिम उपायों द्वारा निकलने में हृत दोनों बातों का भी डर नहीं होता और समय की अवधि होती है, क्योंकि योनि में सकोचन की जाकि न होने के कारण योनि से बाहर आने में ही अधिक समय लगता है। साधारणतया बालक के जन्म के पश्चात् दूसरे दिन निकल तक गर्भाशय में और से संबोध नहीं होते और यों को भी पीढ़ी भी मालूम होती। इस समय में संहरण का कार्य लारी रहता है और उसके साथ साथ अपरा पृथक्करण का भी कार्य घटता है। अपरा जब पूर्णतया पृथक हो जाती है, तब एकाथ संबोध से वह गर्भाशय के बाहर योनि में निकाल दी जाती है। यह कार्य प्रायः पदहच्चीत मिनट में हो जाता है। परंतु इसके लिए अधिक से अधिक एक से रवा छटा अतिथा की जाती है। यदि इस समय में अपरा योनि में न आ जाय तो समझना चाहिए कि गर्भाशय या अपरा में कुछ दोष है, जिससे अपरा का पृथक्करण स्वभाव से नहीं हो रहा है और कृत्रिम उपायों की आवश्यकता है।

योनिगत अपरा के लकड़—गर्भाशय को क्षोदक अपरा जब योनि में आती है, तब कुछ लड्ज और परिवर्तन होते हैं जिनको देखने से या प्रतीत करने से अपरा के योनि में जाने की सूचना मिलती है। धृटा सबा घों का जो समय अतिथा गया है तब तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। ये पाँच लकड़ होते हैं—(१) नाभिनाडी अ पृष्ठ लदी हो जाती है—बालक के जन्म के पश्चात् नाडीच्छेदन के समय नाडी पर दो बधन लगाये जाते हैं। इक नाभि से दो तीन लड्ज पर और दूसरा योनिद्वार के बाहर। पश्चात् नाडी नाभिनवन के पास काट दी जाती है। दूसरे बन्धन का उपयोग जैसे यमल के रक्तस्राव को शोकने के लिए होता है, वैसे ही अपरावर्तण जानने के लिए होता है। जब अपरा गर्भाशय से योनि में आती है, रवा योनिद्वार के बाहर की नाभिनाडी अधिक लदी हो जाती है और इसका ज्ञान योनिद्वारसमीक्षर्वं बन्धन योनिद्वार से अधिक दूर दिखाई देने पर हो जाता है। (२) गर्भाशय ऊपर की ओर नाभि के पास लड्ज है—बालक का जन्म होते ही गर्भाशय का ऊपर का द्वारा समाप्ति से कुछ ऊपर और नाभि से कुछ नीचे होता है। जब अपरा गर्भाशय से निकलकर योनि में आती है, तब गर्भाशय अपरा के ऊपर चढ़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय उदर-शुद्धा में दुखुँकें हो जाता है और नाभि तक वा उससे कुछ अधिक ऊपर सक पुरुता है। (३) नाभि के पास उपर—भोगिगुहा से गर्भाशय ऊपर चढ़ने के कारण नाभि के पास उदरपाची में कुछ उमर दिखाई देने लगता है। (४) गर्भाशय की स्थिता वर्ष होती है—भोगिगुहा में अपरा के साथ जब गर्भाशय रहता है, तब वह जारी और से देता

हुआ रहने के कारण हाथ से हिलाने पर इधर-उधर बहुत कम हिल सकता है। परन्तु जब घड अपराविरहित होकर उदरगुहा में बहता है, सब हाथ से उम्रको दायें-यांत्रे हिला सकते हैं। (५) गर्भाशय को लांचने से नादों स्थीती नादों जाने—जब तक अपरा गर्भाशय में होती है, तब तक गर्भाशय को ऊपर भी और धीर्घी जाती है। धीर्घीते समय योनि के बाहर की जाई पर ध्यान देने से इस बात का पता लग जाता है। इन लकड़ों के ऊपर ध्यान देने से अपरा गर्भाशय से अलग होकर योनि में आ रही है या नहीं, इसका ज्ञान ही जाता है।

योनियावस्था को ध्यवस्था—बालक का जन्म होने पर एक तरफ बालक की परिचय शुरू होती है और दूसरी तरफ प्रसूता की परिचय वारी रहती है। बालक की परिचय का विचार यों ११वें सूत्र में किया जा सकता है। इस सूत्र में सूतिहा की शूलीयावस्था की परिचय का विचार किया गया है। शूलीयावस्था में प्रसूता उत्तानासन में ही रखती जाती है। यही आसन इस व्यवस्था के लिए सुविधाजनक बहता है। मारतवर्ष में शूलीयावस्था में भी यही आसन प्रसन्न किया जाता है। इसलिए शूलीयावस्था में व्यामन-परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो होमोपाथायिक उपचार द्वितीयावस्था में पारिवर्कासन प्रसन्न करते हैं, वे होमोपाथीयावस्था में स्थिर से ही को उत्तानासन में रहते हैं। बालक का जन्म होने पर एक हाथ धी के उदरपाचीर पर नाभि के पास इस तरह खड़ा दिखाया जाता है कि कनिहिंक नीचे की ओर ही, तंगड़ा ऊपर हो और हपेही भगास्थि की ओर हो। इस तरह हाथ इसने से गर्भाशय का सब हाल मारन ले जाता है, यदि आवश्यक हो तो गर्भाशय को इलके पीड़न से उत्तेजित कर सकते हैं और अपरा के नीचे आने का पता लग जाता है। इसके सिवा गर्भाशय पर हाथ इसने से भीतर दूसरा गर्भ ही लो उसका भी ज्ञान हो जाता है।

जब अपरा योनि में आ जाती है, तब उसको निन्म तीन प्रतिवर्यों से निकाल सकते हैं—(१) निष्पीडन (Expression)—इसमें उदरपाचीर पर से गर्भाशय पकड़ा जाता है और योंचे साथ नीचे की ओर दिखाया जाता है। इस पीड़न से नाभि से धोन एक ऊपर करने से द्वारा पकड़ जाता है। (२) नाडी से धोना—भाभिनाडी का जब द्विसा बाहर रहता है, उसके पकड़वर लींगने (Fractioin) से अपरा बाहर चली जाती है। अपरा गर्भाशय में ही रहने पर इस पदार्थ के प्रयोग करने से कभी कभी गर्भाशय लटाना (Invagination) ही जाता है। यह पृष्ठ गर्भाशय उपचार है। इसलिए नाडी की धीर्घीते से पृष्ठ अपरा योनि में आ गई है, इसका दीक दीक ज्ञान लड्जों के द्वारा कर लेना चाहिए। (३) धातु से निरालता (Mucopurification)—इसमें व्याप्त किया हुआ हाथ योनि में प्रविष्ट करने वाली से अपरा बाहर निकाली जाती है। ये सीरों पदार्थीयावस्था यथार्थ युग्मावद हैं।

भाकुरेंद्रीक कर्त्तव्यनिष्ठासन की विधाय—इस सूत्र में जो विधिर्दीय बन्धन होते हैं, उनके भलवा चक्र में निन्म

विधियाँ अधिक मिलती हैं—एनामन्यतमा खी दक्षिणेन पाणिना नाभेष्परिष्टाद्वयन्तिपीड्य सव्येन प्रष्ठत उपसंग्रह तो सुनिर्भूति निर्भुत्यात् । अथास्याः पाण्ड्या श्रोणीमाकोट्येत् । इत्यादि । वामभरोक्त अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में भी ये ही विधियाँ बतलाई गई हैं । इनके ऊपर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट होती है कि जहाँ तक हो सके, अपरा का पतन स्वभाव के ऊपर ही छोड़ा जाता है । अगर उससे काम न हो तो स्वभाव को सहायता करने वाले वाहरो हृलाज किये जाते हैं और उनसे न बने तो अन्त में हाथ से निकालने का काम किया जाता है । चरकसंहिता में हस्तापहरण की विधि नहीं मिलती । हाथ से जब दर्स्ती निकालने में अपरा और जरायु के हिस्से भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का ढर रहता है । इनके अलावा अगर हाथ की सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो हाथ के साथ पूरोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश गर्भाशय में होकर प्रसूति रोग उत्पन्न होने की संभावना रहती है । इसलिए आधुनिक काल में वाहरी उपायों के द्वारा ही अपरापातन का कार्य, जहाँ तक हो सके, किया जाता है । जब हनसे कार्य नहीं बनता, तब हाथों से निकालने की कोशिश की जाती है । जायुर्वेद की उपर्युक्त विधियों के क्रम में अपरापातन का यही तत्व दिखाई देता है । ये विधियाँ अपरापातन में किस प्रकार सहायता करती हैं, इसका कुछ विचार यहाँ पर किया जाता है ।

(१) केववेष्टियांगुल्या कण्ठं प्रसृजेत्—चरकसंहिता में तथा अष्टांगहृदय में वेणी का अग्र (वालवेणी) या वेणी कण्ठप्रमार्जन के लिए प्रयुक्त की गई है । केववेष्टियांगुलि या वेणी से कण्ठ या तालु को छूने से (Tickling the fauces) गले में सुरुसुराहट वा गुदगुदी उत्पन्न होती है । इसका परिणाम कण्ठरासनी (Glossopharyngeal) नाड़ी के द्वारा सुपुन्नाशीर्पंगत वस्तनकेन्द्र (Vomiting centre) के ऊपर होकर तदद्वारा वस्तन की किया होती है । वस्तन किया में वक्षोदरगुहामध्यस्थ महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) का तथा उदरप्राचीरपेशियों का संकोच होता है । इससे उदरगत अंगों पर दवाव पड़ता है । अर्थात् गर्भाशय पर भी दवाव पड़ता है । इस दवाव से गर्भाशय में संकोच पैदा होकर अपरापृथक्करण में सहायता होती है । (२) लांगली प्रयोग—लांगली के गुणधर्म पीछे १० वें सूत्र के अन्त में दिये हुए हैं । लांगली में गर्भाशय में संकोच पैदा करने की शक्ति है । अर्थात् लांगली गर्भाशयसंकोचक (Eccentric, oxytocic) है । इसका गुण शरीर पर चांदने से, लेप करने से या पीने से प्रकट होता है । इसका प्रलेप यहाँ पर केवल हाथ पैर के तलों पर करने के लिए लिखा है । अष्टांगसंग्रह में नाभिप्रदेश पर करने के लिए भी लिखा है—लांगलीमूलकलकेन वा पाणिसुरं चालिम्पेत् । लांगली का कल्क उदर पर लगाने से जब तक कल्क गीला है, तब तक वह अपनी शीतलता के कारण शर्माशय में संकोच पैदा कर सकता है । इससे अपरापातन में सहायता होती है । इसके सिवा यह ठंडा कल्क प्रसवोत्तर रक्तस्राव रोकने के लिए भी उपयोगी हो सकता है । डा० निकोलस प्रसव के पश्चात् अपरापातन के लिए ढंडे पानी में भिगोया हुआ

तौलिया उदर पर रखने लिए लिखते हैं—I lay a towel, four fold, winging out of cold water on the abdomen. This assists in the contraction of the uterus, helps to throw off the placenta, if still adherent, and do expel it, and is a safeguard against haemorrhage. *Esooteric Anthropology.* लांगलीकल्कप्रलेप में ढंडे पानी के सब गुण ही सकते हैं और इनके अलावा लांगली का विशेष गुण भी होता है । (३) वस्ति या आस्थापन—वस्ति देने से मलाशय में संकोच पैदा होता है और मलाशय तथा गर्भाशय के संवर्णित होने के कारण उनमें भी संकोच पैदा होकर अपरापातन में सहायता होती है । चरक में इसके संवंध में लिखा है—तदास्थापनमस्याः सह वातमूत्रपुरीपैनिर्भृत्यपरामासक्तो वायो रेवप्रतिलोमगत्वात् । अपरां हि वावमूत्रपुरीपाण्यन्यानि चान्तर्वहिर्भागानि सञ्जन्ति । (४) नाभेष्परिष्टाद्वलवदुपपीड्य—यह उपपीडन आधुनिक निप्पिटन (Expression) नामक उपाय के साथ मिलता है । अगर अपरा गर्भाशय में ही हो तो गर्भाशय का ऊपर का भाग एक या दो हाथों में पकड़कर निचोड़ना, जिससे अपरा नीचे योनि में चली जाय । पश्चात् गर्भाशय को पीछे और नीचे की ओर दबाना जिससे वह योनि के बाहर निकल जाय । (५) हस्तेनापहरणम्—यह अनितम उपाय है । उपर्युक्त वायु और भीतरी उपायों से अगर अपरा न निकल पड़े तो नाखून कटवाकर और हाथों को तैल या धूत से चुपड़कर यह कर्म किया जाता है । इस कर्म में हाथों की सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए, वरना पूरोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश होकर मक्कलविद्धि, प्रसूतिजवर उत्पन्न होता है । प्रथम हाथों को साहुन से साफ धोकर पश्चात् संकन्ध्यपव (लायसोल) के धोल से निर्दोष करना चाहिए । यदि विशेषित रवइ के मोजे हाथ पर चढ़ाये जायें तो और भी अच्छा है । योनि में हस्तप्रवेश करने से पूर्व योनिद्वार को भी संकन्ध्यपव के धोल से साफ धोना चाहिए । पश्चात् पाँचों अंगुलियाँ मिलाकर शंकु की तरह बनाया हुआ हाथ योनि में से गर्भाशय में प्रविष्ट किया जाता है । तदनन्तर अंगुलियों को आगे पीछे करके धीरे धीरे सारी अपरा गर्भाशय से पृथक् की जाती है । इस समय दूसरा हाथ उदरप्राचीर पर गर्भाशय के ऊपर रक्खा जाता है । इससे गर्भाशय स्थिर होता है और अपरा को पृथक् करने में सहायता होती है । पृथक् हुई अपरा हथेली पर लेकर बाहर निकाली जाती है । दूसरी बार हाथ को भीतर प्रविष्ट करके अपरा के अगर कुछ अंश भीतर रहे हों तो वे निकाले जाते हैं । इसके बाद आधे से एक प्रतिशत संकन्ध्यपव का उत्तरवस्ति गर्भाशय में दिया जाता है । गर्भाशय में हाथ प्रविष्ट करते समय नाड़ी के अनुरोध से प्रवेश करना चाहिए—स्निग्धेन वा कृत्तनखेन पाणिना नालानुसारतोऽपद्वरेत् । (अष्टांगसंग्रह) । अथवा वैद्योपदेशेन काचित् पाणिना स्नेहाभ्यक्तेन कृत्तनखेन वहि:प्रलभ्वमपरानालमनुमारयन्ती ऊशना तामपरामन्त्रपद्वरेत् । (इन्दु) । नालानुसारतः इस शब्दप्रयोग की खबरी निम्न अग्रेजी वचन से ध्यान में आ जायगी—The other hand is inserted into the vagina and follows the cord

up into the uterus to the placenta. Ten teachers' Midwifery हाय भीतर प्रविष्ट करने के पश्चात् अगर अपरा कहीं पर योनी सी पृथक् हुई हो सो तो वहीं से पृथक् करने का काम प्रारम्भ करना उचित है। इससे आसानी होती है। अगर फहीं पर भी पृथक् न हुई हो सो उपर किनारे से पृथक् करना चाहिए। अगर अपरा बहुत ही घालग्न हो (Adherent) तो उसको ढकड़े ढकड़े बनाकर निकालना चाहिए। स्वास्थयिक तौर से निकल आने पर या कृत्रिम तौर से निकालने पर यह देखना आवश्यक है कि अपरा या जरायु का कोई ढकड़ा गर्भांशयद्वारा से योनि में तो नहीं लटक रहा है। यदि लटक रहा हो तो उसको झंगियों से एकदब्ब या चिमटी से पकड़कर भीरे से निकालना चाहिए। गर्भांशय के भीतर रहे हुए ढकड़े की अपेक्षा गर्भांशय के मुख से लटकता हुआ ढकड़ा अधिक भयावह होता है, क्योंकि उसके हाता सीढ़ी की तरह योनिगत जीवान आसानी से गर्भांशय के भीतर पहुंच सकते हैं।

अपरा या परीक्षण—अपरा के बाहर निकल आने पर उसको एक याली में रखकर भली भाँति देखना चाहिए। अपरा का गर्भांशय की ओर का भाग सुरक्षा होता है। झंगियोंके उसमें कहीं दम्भार होते हैं। ये छल (Cotyledons) कहलाते हैं। अपरा परीक्षण में इन छलों के ऊपर ध्यान देना चाहिए। कभी कभी एकाध छल भीतर रह सकता है। जरायु के बारे में उनके चिन्ह देखने चाहिए। जरायु में एक ही हिंदू होता है, जिसमें से गर्भ बाहर निकलता है। कभी कभी अन्य स्थान में भी जरायु फट जाने से किन्तु हो सकता है। यदि दूसरा छेद मिल जाय तो फटे हुए भाग आपस में मिलाकर देखना चाहिए कि वह केवल विद्युत है या उसका कुछ हिस्सा भीतर रह गया है। अपरा का कोई हिस्सा भीतर रहा हो तो उसको निकालना आवश्यक है, परन्तु अगर जरायु का घोड़ा—सा अंडा भीतर रहा हो और गर्भांशयमुख से नीचे योनि में लटकता हो तो उसको निकालने की आवश्यकता नहीं है। वे ढकड़े प्रसक्षणित के साथ निकल आते हैं।

अपरा निकल आने के बाद इसे भरे हुए कपड़ों को हटाकर योनिद्वार, चूतङ्ग तथा आसपास के भाग को स्वच्छ शानी और काढ़े से पॉउला चाहिए। आतुरिक काल में इसके लिए संकल्पय (लायसोल) का थोल श्रुतुकरते हैं। जननेनिद्रय तथा आसपास की सफाई करने के बाद जननेनिद्रय का निरीणण विद्युरोंके लिए करना चाहिए और यदि दरार हो सो उनको टॉक लगाना चाहिए। पश्चात् जननेनिद्रय पर कौपीन की तरह स्वच्छ कपड़े की भोटी पट्टी नाम से लेकर चूतङ्ग तक उदरपट की सहायता से बाँधनी चाहिए। जननेनिद्रय की पट्टी प्रसवशोणित को सोलने के लिए और अग्रवयचतया छोड़े के कपड़ों की खारी न होने के लिए योग्यता देनी चाहिए। गर्भांशय से गर्भ निकल जाने के बाद उदरपट में शून्यता, रिक्तता उत्तर होती है और उदर आपीर की वेसियाँ गर्भांशदि के तनाब के कारण बुर्बल और सिंचिल हो जाती हैं। इसलिए उदर को सहारा देना आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा गर्भांशय के

ऊपर कुछ दवाव की आवश्यकता होती है। ये कार्य उदर पर कम के पट्टी योंचने से होते हैं। यदि छी का उदर अधिक भोटा और उपर हो सो पट्टी के नामे नामि पर वस्त्र की भोटी तह रखना उचित है—जबेदुर महाइन्द्रन बास्ता; दया दस्ता न बायुशरै विकृतिमुलादयश्वनवायात्मा। (चरक)। प्राणवामात्रामायाद्य शून्य साक्ष प्रसादिवा। न्यूना शयान। सवाल ऐसे सुधिष्ठित कुचिणा ॥ शीघ्रेद्युद्युर गम्भेषण प्रदृष्टये। महाइन्द्रपट्टेन कुचिणार्थं च वैष्टेत्। तेनोदर स्वस्थान माति वायुश शाम्यति ॥ (काशयपरीहिता, सूतिकोपकमीया-ध्याय)। सूतिका के साथ सर्वथ रखने वाला हर एक वस्त्र अदुष्ट होना चाहिए। इसमें भी जो वस्त्र जननेनिद्रय के ऊपर रखना जाता है, वह विरोप करके अदुष्ट होना आवश्यक है।

जननेनिद्रय के ऊपर की पट्टी प्रारम्भिक कुछ दिनों में दिन में कई बार बदलनी पड़ती है क्योंकि ज्ञाव अधिक रहता है। इस प्रसवशोणित ज्ञाव के संवेद में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह ज्ञाव बहुत जल्दी दूरित हो जाता है तथा ग्रन के साथ इसका संवेद होने से ग्रन भी जल्दी दूरित होता है। इसलिए ज्ञाव तक ज्ञाव हो रहा है, तब तक असूता अपने हाथों का संवेद जननेनिद्रय के साथ न करे, तथा दाईं जननेनिद्रय की सफाई करने से पूर्व बालक की परिचर्या समाप्त करे, क्योंकि प्रसवशोणित का संसर्ग नवजात बालक की नामि या नामिनादी पर होने में उसमें पाक होने का दर रहता है। जब पूर्व ही दाईं दोनों का काम करती है, तब इस नियम का पालन करना जरूरी है। जब आयुरेद के अनुसार प्रत्येक काम के लिए स्वतन्त्र छी होती है, तब पहले और पीछे का स्वाल नहीं उठता।

प्रजातायाश्च नार्या रुद्धशरीरोरायास्त शैर्हरविशो-धितं रत्नं धायुना तद्वशगतनातिसंदृद्धं नामेत्यः पार्शवयोर्वस्तौ वास्तिशिरित्वा भर्न्यत्वं करोति; ततत्वं नामियस्युद्यरश्वलानि भवन्ति, सूचीभिरित्वं निस्तु-धते भिघते दीर्घत इव च पक्षाशयः, समन्तादाध्मा-नम्नुदृ भूतसङ्ग्यं भवतीति मक्षिलत्ताण्म् ॥ २१ ॥

(महाकृष्ण—) महूल हुई (जल पुर) रुद्ध शरीर की छी का (पिपल्यादि) तीक्ष्ण योग्यियों से अविशेषित, गर्भांशयात् वायु से रोका हुआ रक्त नामि के नींदों पासों में, बस्ति (देश) में अथवा बस्ति विर में ग्रीष्म पौदा करता है। उससे नामि, बस्ति और उदर में शुल होता है, पक्षाशय सूचियों से तुम रहा है, भेदित या विदीं हो रहा है (ऐसी पीढ़ी होती है), उदर में चांदों और आध्यान होता है और मूत्र कम जाता है, वह महाकृष्ण है ॥ २१ ॥

वक्षवृद्ध—हवशरीर—शरीर की कृत्तव्य गर्भांशदिजन्म धायुश्च, रक्तवृद्ध इत्यादि कौरणों से होती है। अर्थात् संगर्भावस्था और प्रसव के कारण प्रत्येक प्रसूता छी के शरीर में कृत्तव्य हो दी जाती है। वीचीरविशोधितम्—धीउ १५वे सूत्र में प्रसवशोणित शूद्धि के लिए पिपली विप्लवीमूलादि काल्पन देने के लिए बताया है। इसको न देने से एक अविशेषित रहता है। प्रसवशोणित छी शूद्धि उसका ठीक ज्ञाव होने में है। उसका ठीक ज्ञाव न होने से वह अविशेषित रहता है। पिपली विप्लवी धीका धी होता है और न देने से नहीं होता।

वायुना वदेशगतेन—गर्भाशयगत वायु अर्थात् अपान वायु । मयूलनक्षणम्—प्रजनातायाः प्रजननशोषिवस्तं नितशूलं गप्ताः । (ढल्हण) । ज्ञननशोषित वही है, जिसका वर्णन पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसवशोषित (Loohin) करके किया गया है । मक्खि को उत्तराची (After pains) कहते हैं । मक्खल के कहाँ कारण हो सकते हैं । साधारणतया प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में जोरदार संकोच नहीं होते, परन्तु धीरे धीरे संहरण (२०वें सूत्र का वक्तव्य देशो) होता रहता है । कभी विलम्बी प्रसव, कष्टप्रसव या अन्य कारण से गर्भाशय कुछ प्रशुष्प (Irritated) हो जाता है और प्रसव के पश्चात् भी कुछ काल तक जोर से संकुचित होता रहता है । इस संकोच के समय शूल होता है । कभी कभी अपरा और जायु के कुछ दृढ़े गर्भाशय में रह जाते हैं । उनको निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उससे शूल होता है । कभी कभी गर्भाशय की कमज़ोरी से संहरण ठीक नहीं होता और रक्त का घाव कुछ अधिक होता है । यह रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है और उनकी गाँ^३ बनती है । इनको निकालने के लिए उत्तेज्ज्वर हुए संकोच से शूल होता है । संकेप में कभी प्रशोभ के कारण, कभी अपराजायु शेष रहने के कारण, कभी भीतर रक्त जम जाने के कारण और कभी कोई ठीक कारण मालूम न होते हुए भी प्रसव के बाद गर्भाशय में जो संकोच होते हैं, उनसे मक्खि होता है । वास्तव में आवी और मक्खि में शारीरिक कार्य की हाइ से कोई फर्क नहीं है । जो फर्क है वह कारण और काल की हाइ से है । आवी गर्भ को निकालने के लिए होती है, मक्खि गर्भ-जनित कुछ शेष दोष निकालने के लिए होता है; आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है और मक्खि गर्भजन्म के पश्चात् होता है । इस काल-कारण की हाइ से आवी को प्रसवपूर्व गर्भनिःसारक वेदना और मक्खि को प्रसवोत्तर गर्भदोष-निःसारक वेदना कह सकते हैं । इसी का संकेप करके आवी के लिए जैसे प्रसववेदना कहते हैं, वैसे ही मक्खल के लिए प्रसवोत्तर वेदना कहना चाहिए । अंग्रेजी में मक्खल को ऐसा ही (After pains) कहते हैं । प्रसवोत्तर वेदना गर्भाशय के संकोच के कारण जैसी होती है, वैसे ही आन्तरगत वायु (आधामान) और मूत्रसंग के कारण होती है । इसको मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना (False after pains) कहते हैं । उदरगुहा से गर्भ निकल जाने पर उदर में शून्यता और रिक्तता आ जाती है तथा योनिद्वार के आस-पास के भाग पर प्रसव के समय काफी दबाव और आघात होने के कारण मूत्रद्वार और मलद्वार के सुपिरियोग (Sphincters) संकुचित रहते हैं, जिसके कारण मल और मूत्र का उत्सर्ग नहीं होता—आनाहाधामपने चोभे वर्चोमूत्र-यहानपि । (काश्यपसंहिता) । प्रसवोत्तर वेदना और मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना में निम्न भेद होते हैं—(१) मिथ्या वेदना आन्त्रंगत वायु या मूत्रसंग के कारण और वास्तविक वेदना गर्भाशयसंकोच के कारण होती है । (२) मिथ्या वेदना अनियमित समय पर और वास्तविक वेदना नियत समय पर होती है । (३) मिथ्या वेदना के समय गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता; वास्त-

विक वेदना के समय कड़ा मालूम होता है । (४) वस्त्रे को दूध पिलाते समय वास्तविक वेदना अधिक हो जाती है या उस समय न होती हो तो शुरु होती है । मिथ्या वेदना पर वालक के स्तनपान का कोई परिणाम नहीं होता । (५) मलसूत्र-द्वारा करने से या अन्य उपायों द्वारा मलसूत्र निकालने से मिथ्या वेदना कम हो जाती है या बंद होती है । वास्तविक के ऊपर कोई परिणाम नहीं होता ।

अटांगसंग्रह में 'मक्खल' का उल्लेख 'मर्कल' नाम से किया गया है ।

तत्र (सर्पिया सुखोप्येन लवणचूर्णेन वा) वीरतर्वादिसिद्धं जलसूपकादिप्रतीवापं पाययेत्, यव-ज्ञारचूर्णं वा पिष्पल्यादिकायेन, पिष्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिकाथं वा पञ्चकोललाप्रतावापं पृथक्पण्यादिकाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टेन, पुराणगुहां वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुसुरुमित्रं खादेत्, अच्छं वा पिनेदरिष्टमिति ॥ २२ ॥

(मण्डलचिकित्सा—) उसमें वीरतर्वादि (गण की ओपधियों से) सिद्ध फ्राय ऊपकादि (गण की ओपधियों) का प्रचेप देकर (मन्दोप्त्र धृत से या नमक के चूर्ण से) पिलावे, अथवा पिष्पल्यादिकाय यवज्ञार चूर्ण के साथ, अथवा सुरामण्ड के साथ पिष्पल्यादि चूर्ण, अथवा वर्णादि फ्राय पञ्चकोल और पूला के चूर्ण का प्रचेप देकर, अथवा पृथक्पण्यादि फ्राय देवदारु और काली मिरच के साथ (पिलावे), अथवा त्रिकटु, चतुर्जात और धनिया इनसे मिश्र पुराना गुड खावे, अथवा केवल अरिष्ट-सेवन करे ॥ २२ ॥

वक्तव्य—वीरतर्वादिगण, ऊपकादिगण, पिष्पल्यादिगण, वर्णादिगण इनकी ओपधियों का विवरण सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय (३८वें) अध्याय में किया गया है । अच्छं वा पिनेदरिष्ट—अच्छं केवलम् । अरिष्टमयारिष्टादिकम् । (ढल्हण) । यदि गर्भाशयगत रक्तदोष के कारण शूल होता है, उस दोष को गर्भाशय के पीठन से निकालने की कोशिश करनी चाहिए । शूल वायु के कारण होता है, इसलिए उदर पर नाभि के आस-पास गरम पानी से सेकना चाहिए, मलाशय में तथा शोनि में वर्तित देना चाहिए और यदि कोषशुद्धि न हो तो विरेचन द्वारा कोषशुद्धि करनी चाहिए । इससे प्रायः मक्खि शूल दूर हो जाता है । अगर शूल कम न हो तो आजकल फेनासिटिन, पुस्त्रिन, मार्फिया इत्यादि वेदनाहार ओपधियों का उपयोग किया जाता है ।

सूतिका-परिचर्या का विवरण यहाँ पर समाप्त होता है । इसके बाद फिर से वालकोपचर्या प्रारंभ होती है ।

अथ वाले ज्ञौमपरिवृतं ज्ञौमः ज्ञास्त्रुतायां श-यायां शाययेत्, पालुवदरोनिम्बपूरुषपकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत् मूर्ध्म चास्याहरहस्तेलपिचुमव-चारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोऽन्धर्षैः, रक्षोग्रानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसूजेत्, तिलातसीसर्वपक-णांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चार्मि प्रज्वालयेत्, ग्रणितोपासनीयं चावेष्टेत् ॥ २३ ॥

(रक्षाकर्म—) ज्ञान के पश्चात् वालक को ज्ञौम के

बल में छपेटकर औम का वज्र जिस पर दिल्ला हुआ हो, ऐसे विद्युतों से पर सुलाये, पील, धैर, नीम और फालसे की शालाओं से से पंसा करे; उसके सिर पर भ्रतिदिन तैल का फाहा रखें और उसे रक्षाम धूम से धूपित किया करे और उसके हाथ पैर तिल और ग्रीवा में रक्षण दृश्य बांधे और थालक के अंचार में तिल अतसी और सतसों को घरें दे; धामकागार में जमि जलाये और भगितोपासनीय (अव्यायोक्त विधि) को काम में लाये ॥

ऐसे नियम स्थापित किये जैंगना योग्य कुण्डली: सुदृढ़तामुग्धमुग्ध-
दंशाइ दावशारी वा। अनुपत्तप्रदानमहसुलाशी रुद्धिमीतवादिवमन्त्र-
पालविशदमनुरक्षयद्वानस्पूर्णे च तदेवम् वायम्। भाषणक्षायद्व-
देवविद्य तदत्मभवकाल शान्ति जुहुयात्, वस्त्रव्यवर्णं कुमारस्त तथा
सुनिवादाः। (चतुर्क)

अब यहाँ पर यालक से संवेदित कुछ विद्यों का विचार किया जायगा—(१) कुमारागार—चौकसहिता में थालक के लिए स्वतन्त्र गृह बनाने के लिए लिखा है—वास्तुविद्या-उशलः प्रशंसित रस्मतमस्तक निवार प्रवाहैदैवी दृढ़भगवत्त्वापदं पशुरदिग्मूपिष्ठविना द्विविक्तसलिलोल्लक्ष्मूरुवर्चं स्थानरामनग्नुभिं महानस्तमृद्ग्राव यथुरुद्युषनासनास्तरणसंवन्न कुर्याद्। तथा सुविदितरधाविधानलिमगलोमप्राविश्च शुद्धिवृद्धिवातुरज्ञन-सूर्यम्। सुधुत और अर्णगढ़दय में कुमारागार स्वतन्त्र नहीं दिया है, परन्तु अटोगसंग्रह में चारक के अनुसार स्वतन्त्र दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्र कुमारागार आवश्यक है या नहीं है, और यदि आवश्यक हो सो किस परिस्थिति में आवश्यक होता है। जम्म के पश्चात् भी, यद्यपि गर्भावस्था के समान नहीं, माता और बालक का चिन्ह सम्बन्ध होता है कि योग्यिक थालक का पोषण माता के दूष पर ही हुआ वरला है। इसलिए जहाँ पर और जब तक थालक माता का ही दूष भीता होता है वहाँ पर और तब तक थालक के लिए माता के राखन से स्वतन्त्र रखन न आवश्यक है, न उचित है। जहाँ पर और जब से थालक का पोषण माता के दूष पर नहीं होता, वहाँ पर और तब से थालक का राखन माता से अभिन्न रखने में न कोई सुविधा है, न अधिकांश है। इसलिए जहाँ पर माता स्वयं वस्त्रे को दूष पिलाती है तथा उसकी देख-माल करती है, वहाँ पर कुमारागार की कोई आवश्यकता नहीं है, सूतिकागार में ही कुमार के लिए आवश्यक प्रदर्शन करने से काम हो जाता है। परन्तु जहाँ पर माता बालक को दूष नहीं पिला सकती (जैसे, रात माता), अथवा थालक को दूष पिलाता नहीं चाहती (जैसे, परी, अमीर या राजपुरुष की द्वी अप्या आमुनिक कालीन पाकायों का अन्यायुक्तरण करने वाली द्वी, जो दूषे को पिलाता एक वस्त्रपृष्ठ का बाने पर्याप्त से अपेक्षा धीयता बनाने सकती ही पुष्टा को बाने पर्याप्त से अपेक्षा धीयता बनाने सकती है) और इस परिस्थिति के कारण जहाँ पर थालक के लिए गति इसी गई है, या करन का दूष पिला जा रहा है वहाँ पर सूतिकागार और कुमारागार एक रखना ही आवश्यक है। उपरी हो, वहाँ पर बालक रहे वहाँ पर थालक के लिए आवश्यक रख बांधों का प्रवृत्त द्वीना चाहिये। जैसे कि उपर चारक के रखन में बताया गया है। २ कुमारागार के संरक्षण में त्रुप अवरण वापे वापे एक के विषय में सूतिकागार के साप के देहाया गया है। बालक के बख दायादि—जाह के देह वृक्ष, निर्मल, शुद्ध, शुल्क और सुपीड़ होने वाहिये और उसकी शम्पा शुद्ध, लकड़ वा रिशू से विहित तथा यदि मध्यर हों तो मध्यरात्री से दुष होनी चाहिये—वस्त्रपृष्ठामुद्रणामुद्रण व जाह। सुविधोंसामने वर्णित गृहीन गृहीन व शम्पामुद्रणामुद्रण व रंगोंत्रितामिं च ॥ वर्णानीर्यामिं ॥ उद्वेष्टारामादरामादि व कुमार वृक्षामुद्रण

मुग्धपीनि रुपः । द्वैस्त्रलज्जनुमिठि शूद्रवुरीणोरनुदानि न दर्यानि न्युः, असति संभेदप्रथम्येणां गत्वेदेव न चुप्रसाक्षितोष्टाभागानि शूपूषितानि शुद्धयुक्ताशुपुचोणं पच्छेतुः ॥ उपगानि पुनर्वासना शब्दनास्तरप्रावरदानां च यदसामान्येऽपित्तुगुण्यनुचाचोरवाचयस्थागोत्तोमीविद्विषापद्वापाशोकरेहीत्तर्पनिर्मालानि शूद्धनुज्ञनि रुपः । (चरक) । चरक का कथन है कि जो वय मल्मूलादि से दूषित हो जाते हैं, उनको बंजात करना चाहिए । यदि यह न हो सके तो उनको अस्थ्री तरह धोकर और सुखाकर तथा धूपित करके काम में लाना चाहिए ।

ततो दशमेऽहनि मानापितरौ कृतमद्वलकोतुकौ स्वस्तिवाचनं हृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ॥ २४ ॥

(नामकरणविधि—) तदनन्तर दसवेदि दिन माता-पिता मंगलोल्लव विधि यहुः पुण्याद्वाचन करके अपने को अभीष्ट अवयवा नक्षत्र नाम रखें ॥ २४ ॥

वक्तव्य—दशमेऽहनि—प्रसूता के लिए दस रोज तक अशोच रहता है, इसलिए 'श्यारहवें दिन' पूर्ण दसका अर्थ करना चाहिए । चरकसंहिता में 'दशमे ताइनि' पाठ के बदले 'दशम्या निर्यातायान्' ऐसा भी पाठमेद मिलता है । यह नामकरणविधि दसवेदि, या वारहवें दिन में और उन दिनों में न हो सकी तो आगे शुभ सुहृत्त पर किसी दिन की जाती है—नामधेयं दशम्यां तु दादश्यां वास्य कारवेद् । पुण्ये तिथे शुद्धते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ (मनुस्मृति २-३०) । इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—प्रधवा 'प्रार्शीवै तु व्यतिकान्ते नामकमं विधीयते' इति शहत्वचनाद् दशमेऽहन्यतीते एकादशाद् इति त्यास्येयम् ॥ प्रसूति के बाद माने गये इस अशोच को जननाशोच या सूतक कहते हैं । यह अशोच प्रसवशोणित ज्ञाव के लिए रक्षा गया है जैसे आर्तवसाव के लिए अशोच होता है उसी प्रकार का यह अशोच है और जैसे आर्तवशोणितज्ञाव की औसत अवधि तीन दिन की होने से उसका अशोच तीन दिन माना जाता है, वैसे ही प्रसवशोणितज्ञाव की औसत अवधि दस रोज की होती है, इसलिए जननाशोच दस रोज का माना जाता है—पित्रोत्तु सूतकं मातुस्तदसुर्दर्शनाद् भ्रुवन् । (याज्ञवल्यस्मृति ३-१६) । इस पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—सूतक जननान्मित्तमस्पृश्यत्वलकणमाशीचं पित्रोत्तापित्रोत्तेव न सर्वेषां सपिण्डानाम् । वच्चास्पृश्यत्वं मातुत्रुत्वं दशाहपयेन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुवः । तदसुदर्शनात् । वस्त्वा: संविधितेनानास्त्रो दर्शनात् । अतएव वसिष्ठः—नाशीचं पित्रे तुंसः संसर्गं चेत्र गच्छति । रजसत्राशुचि शेषं तत्त्वं पुंसि न विधते ॥ जेलेट अपनी पुस्तक में लिखते हैं—These figures show an average duration (of lochia) of 8 $\frac{1}{2}$ days. Manual of Midwifery.

अशोच मानने की कारणपरंपरा इस प्रकार की है—जैसे, आर्तवशोणित से शरीर शुद्ध होता है (३ अध्याय के ९ सूत्र के वक्तव्य को देखो), इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त भी अस्पृश्य मानी जाती है, वैसे ही प्रसवशोणित से योनिगर्भाशय की शुद्धि (Cleansing) होती है, इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त भी अस्पृश्य मानी जाती है। दा० निकोलस लिखते हैं—

A cleansing discharge, called lochia, is kept up for ten or twelve days after delivery in the common practice. *Erotetic Anthroponology*. इसकी औसत अवधि नी या दस दिन की है, अर्थात् शुद्धि स्थियों में यह ज्ञाव अधिक दिनों तक जारी रहता है । यदि प्रसवशोणित ज्ञाव पर अशोच के दिन निश्चित किये जायेंगे तो प्रत्येक दिनी में जननाशोच की अवधि भिन्न भिन्न होगी और अवधार में अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होगा । अतः अवधार के लिए दस दिन का अशोच औसत ज्ञाव दिनों पर निश्चित किया गया है, जैसे आर्तव का तीन दिनों का अशोच औसत ज्ञाव दिनों पर निश्चित किया गया है—गागा शुद्धयेद्यांतेत्येद्य संव्यवहारयोग्यवामाकर् (विज्ञानेश्वर) । जननांगलकौतुकी स्वस्तिवाचनं हृत्वा—कौतुक का अर्थ उत्सव है । चरकसंहिता में इसका वर्णन निज्ञ प्रकार से किया गया है—इसमें त्वदिन सपुत्रा भी सर्वगच्छीपर्यांत्संपर्पतोभीश्वर लावा तप्तप्रतशुचिवस्त्रं परियाय पवित्रेतद्वुविचित्रभूषणवती च संस्कृत गङ्गालन्तुचित्वामन्वयित्वा य देवतां वित्तिनः शुद्धवाससोऽव्यक्तिश्वरामाहारान् स्विति वाचित्वा तुमारमद्वावानां च वाससीं संचये प्राकूर्धिरस्मुदक्षिरसं वा संवेद्य देवतापूर्वं दिजातिभ्यः प्रणामति ॥ नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रं वा—दो नाम रखें जाते हैं, एक अपनी हृद्धा के अनुसार और दूसरा नाशनिक याने जिस नक्षत्र पर चालक का जन्म होता है, उस नक्षत्र की जो देवता होती है उसका नाम । नामकरण के कई नियम होते हैं—जैसे प्रारम्भ में अमुक अचर मध्य में अमुक, अन्त में अमुक अचर होने चाहिए । पुरुषों के नाम दो या चार अहर के, भी के तीन अहर के, आकृण हो तो शर्म, द्वित्रिय हो तो वर्तमान अर्थात्—प्रापवदापन्तरस्थमभिन्नानात् द्वयाचरं चतुर्वर्षां वा । शुग्मानि त्वेवं पुंसान् । आयुजानि सीणान् । (आश्वलायन गृह्यसूत्र) । मंगलवं ग्रादायस्य स्यात्प्रियस्य वलान्वितम् । वैश्यस्य धनसंयुक्तं शद्रस्य तु जुगुप्तिनम् ॥ शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राशो रक्षासमन्वितम् । वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ भीणं द्वाषोधमक्रूरं विष्पर्थार्थ मनोहरम् । मंगलवं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादभिन्नानवत् ॥ (मनुस्मृति २-३१-३३) । शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्त्मेति चत्रसंयुतम् । शुग्मानि नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्योः ॥ (विष्णुपुराण) ।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतामचपलामलोलुपामक्षशामस्थूलां प्रसन्नक्षोरामलम्भौष्ठीमलम्भोद्वस्तनीमःयज्ञामध्यसनिनों जोचद्वत्सां दोऽधीं चतसलामकुद्रकमिणों कुले जातामतो भूयिषुश्च गुणैरन्वितां शयामामारोग्यवल्वृद्धये वालस्य ॥ २५ ॥

(धात्री के गुण—) तदनन्तर वर्णनुसार मध्यमशरीर की, मध्यम आयु की, नीरोग, सुशील, शान्तस्वभाव की, जो लोभी न हो, जो न पतली हो न भोटी हो, जिसका दूध प्रसन्न हो, जिसके होठ लम्बे न हों, जिसके स्तन न बहुत लम्बे हों न छोटे (पीन) हों, अव्यंग, व्यसनों से विरहित, जिसके अपत्य जिन्दे हों, बहुत दूध वाली, प्यार करने वाली, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल में पैदा हुई, इसलिए अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा

रयामा धारी को बालक के आरोग्य और शठ की घटिके लिए नियुक्त करे ॥ २५ ॥

वक्ष्य-—रयावर्णम्—धार्मण के लिए भ्राह्मण जाति की, उप्रिय के लिए उप्रिय जाति की इत्यादि । मध्यमप्रमाणा—जिसके पारी में इर्मा धात की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमता हो । इसका सम्बन्ध अधिकतर पारी के जो आठ दोष चारक्संहिता में बताये गये हैं, उनसे है—भ्रिन्दापेशानिहस्तक्षीतिमा धार्मोमा चारित्वाण्यक्षाति गीरक्षातिश्वत्वातिश्वत्वातिश्वत्वरेति । (सूत्र, धार्मनिन्दीयाप्याय) । ये दोष जिसके पारी में न हों, ऐसी । मध्यमवरपा—जो न सरणी हो, न एषा हो । इसके सम्बन्ध में दार्याही बहते हैं—तरसी इत्यादत्तना । ऐसे न सहने इदा रुच्य धाता न पुष्टिषु ॥ अनोन्तु—छोलुप का अर्थ यथापि छोभी होता है तथापि यहाँ पर उसका सर्वध अधिकतर खाप ऐसों के साथ समझना चाहिए । जो धारी खाप ऐसों में लोभी होनी उससे विमादान, अध्ययन, समाजन तथा बालक के लिए अपर्युद्धयों का सेवन इत्याहि आहारदोष होते हैं और उसका दूष स्वारप होगा । इसलिए धारी खाप—ये द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए । दोषी—यदुचीरा । “यामा इदामा हि प्रादय भ्रुत्पीरा भवति । (दद्दण) । इदामा के लक्ष्य—दीउकारे मवेदुष्या धीभे च मुखशीला । दृष्टिचनवर्णिणा सा खी इदामेति कीर्तिं ॥

बीड़ामा—जिस खी को बच्चे होकर मरते हैं उस खी को कोई माता धरने बालक को धारी रखने के लिए वैयाप नहीं होती है । माता की हाई से यह भावना का प्रन होता है । वैष की हाई से भी भूतवस्ता धारी योग्य नहीं होती वैषोंकि बालक की सूखु का कारण उसका या उसके दूष का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये वर्षे को भी दूषित कर सकता है । माता के दूष का सम्बन्ध बालक की आयुर्वृद्धि के साथ बढ़ता है, इसलिए जीवद्रस्ता धारी के बालक की उच्च करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धारी रखने वाले बालक की होती है । इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं । देवानामीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवाही हों, उसी देश में रहने वाली । देवशिमनता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है । जो आहार धारी के लिए साम्य होता है, वह बालक के लिए साम्य नहीं होता । इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है । इसलिए समानदेवता धारी होनी चाहिए । कुलोन्मारा—उच्चारा च । बालक की परिचर्याएं करने में कुशल । धारी बालक की परिचर्याएं भी होती है । बालक रुग्न होने पर खान-पानादि का प्रबन्ध उसी को करना पड़ता है । इसलिए उसमें परिचर्याएं गुण जो उच्चारक्षता, वह भी होना चाहिए—उच्चारक्षता दायरमनुग्राम भवति । शीघ्र वैष चित्त चुक्षोऽपि युव परिचर्ये जने ॥ (चरक स० ६) । अनुग्रन्थिता—बालक का स्वभाव चित्तविद्वा हो सकता है, स्वरूप विहृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा स्वारप हो सकता है, अतीतार प्रवाहिकादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ क्षेत्र होते हुए भी जिसको बालक के सम्बन्ध में धृणा ऐदा नहीं होती, ऐसी । शुभि

मग्निविदेशियो—ये दोनों गुण यथापि एक—से माटूम पहते हैं तथापि एक नहीं है । बहुतेरे नौकर जहाँ पर बाम करते हैं, वहाँ पर यत्र की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुमान सकाराई का इत्यान रहते हैं, परन्तु जब घर के बाहर जाते हैं तब सकाराई के ब्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोलों के साथ मिलते हैं । इसलिए धारी में स्वर्य स्वर्व रहने का और अस्वर्वता से दूर रहने का गुण होना चाहिए । स्तनसंग्रहेश—उत्तेष स्तनसंपद—नारायणी नारायणा बननिक्षावनिदेशी गुच्छार्पतत्वे गुच्छप्रपानी वेति । (चरक) । युक्तिपलस्त्री—युक्तुचूची । ‘With well shaped nipples’ युक्तप्रानी—जिनको ऐसे में बालक को आसानी हो । धार्मदाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—दद्दाचारिणा—निविदुषदोगा । (इन्दु) । वर्दिनैपुणा (अहगदच) । इस शब्द से कहूँ अर्थ निकल जाते हैं धारी गोलवर्ती, अध्यला, कुलेजाता इत्यादि गुणसप्त दोती है, अपांत् यद अपार्यामिक मैसुन नहीं कर सकती तथ एकते बाली हो से उपरुक्त गुणों से युक्त भी नहीं मान जाती है । ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैसुन या पुल्ल समागम घर्यं किया गया है, तब यद समस सकते हैं वि यद विवाहित और जीवद्रव्यका छी भी होनी चाहिए । ऐसे दी अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है । पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की समावना होती है और गर्भवती छी का दूष बालक के लिए विकारी होता है । इसलिए मैसुन का निषेध जब तक छी बालक को पिण्डाती है, तब तक आवश्यक है । धारी गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परन्तु दूसरी धारी रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धारी का दूष बालक के लिए कुछ काल तक असाम्य होने के कारण उसी से भी बालक गीराह यद सकता है । इसलिए दूष पिण्डों के समय में धारी को ब्रह्मचर्यं प्रत से रहना वितानं आवश्यक है । धारी की आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रायेक बालक के लिए धारी की आवश्यकता नहीं होती । माता के समान बालक को निरपेच च्याप करने वाला, बालक की रुक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला सरार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है वैषोंकि बालक गर्भवत्या में माता के खून से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् खून से पैदा हुए दूष से पुष्ट होता है—प्रत्येक यजु त्रुष्णवाचानि नायते । वस्मात् प्रियरो मातु प्रिया यजु त्रुष्णवाचानि ॥ (रायायण २-४७) । माति भाषुसाग्रामा धाया नारित मातृसम्मानगति । नासि मातृसम्म वाल नालित भाषुसाग्रामा प्रिया ॥ मातृतामे सनाप्तवमानादत्व विषये । समर्व बाल्यमर्वं वा कृष्ण वारायक्षु तथा रुद्धवेदं हुत माता नाम्य पैषाण विषानत ॥ (महाभारत, रायायणपर्व २१६) । कुमुरो जायेत् कृविदपि कुमारा न भवति । (धारकार्याचार्य) । यह वर्णन काल्य या पुराण मही है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है । जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की हाई से सर्वतोम स्वाच दूष है और वह भी माता का दूष है, इस बाल का सप्त निरेष भायुषेद् वे अस्तत प्राचीन काल में किया है—मातृदेव विषेद् रुच्य तपर देहदृदये । (धारागहदय) । प्राशास्य देशों में माता के दूष का महाय

अब मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellet's Midwifery*. जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरौं की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)।

डा० निकोलस कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में हो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि वह दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह प्रजोत्पादन करने योग्य नहीं है—Every mother ought to nurse her own child, if she is fit to do it, and no woman is fit to have a child who is not fit to nurse it. *Esoteric Anthropology*. परन्तु कई बार ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती हैं कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई बार प्रसूति ज्वर से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के पश्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से बालक के पालन-पोषण में औरौं को खड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करती पड़ती हैं। इसलिए वचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निर्दर्शन माना जाता है—वालत्वं च मृता माता, वृद्धत्वं च मृताः सुताः। यीदनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम्॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्वे या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दैर्घ्य, अपचीं, राजयस्मा, धूकरोग, हृद्रोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीड़ित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्योदय—स्तनप्रकोप, स्तनविद्धि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है।

(४) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय ऐसा था कि बालक को पिलाना असम्भवता मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सम्भवता परम-कोटी मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे-पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयतुक्ति होकर हस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—टैन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में खड़ी मामिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-

feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumph of science will enable a race to survive in the struggle for existence if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery*. (५) राजघराने और असीरी खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बहप्पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, मुक्खर्ये हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को अखरती है। इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के बारे में कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनैच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्यत्याग के बारे में कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि द्वारा द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातृरेत्र पिवेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्याभावायुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयश्छार्णं गव्यं वा तदगुणं पिवेत्॥ (अद्यांगहृदय)। आयुनिक काल में भी ये दोनों प्रवन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रखती जाती है, वह धात्री कहलाती है। रजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, हसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदित बच्चे यथै तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम्। (रसुवंश ३-२५)। कुमारा: कृत्वंस्त्वारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः। आनन्देनाग्रजेनैव समं वृद्धिरेति पितुः॥ (रसुवंश १०-७८)। वाभ-दाचार्याद्वात्री को स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में 'नर्स' (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाभ-दाचार्याद्वालक के लिए ही धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकांश गोज धात्री वीमार है।

रथमा धारी के बालक के आरोग्य और वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥ २५ ॥

वस्त्रय—यथावैर्ग—प्राणक के लिए आण जाति की, चत्रिय के लिए चत्रिय जाति की इत्यादि । मन्यमप्रमाणा—जिसके बाहर में विसी शात की अधिकता या अप्रत्यान न होकर मध्यमता हो । इसका सम्बन्ध अधिकतर बाहरी के जो आद दोष चक्रसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—अनिदार्थशानिहस्तवशानिलोमा वालोमा, चातिकृष्णायावि-गौरक्षातिश्लक्षातिकृष्णवेति । (सूत्र, खटीनिन्दितीयायाय) । ये दोष जिसके बाहरी में न हों, ऐसी । मध्यमवस्था—जो न तरुणी हो, न उद्धा हो । इसके सम्बन्ध में दाहवाही कहते हैं—नस्ती स्पादतस्ता । वलेशं न सहने इदा तन्यं चास्या न पुष्टिष्ठ ॥ अलोका—लोकुप का अर्थ यथापि छोभी होता है तथापि यहाँ पर उसका संबंध अधिकतर खाद्य पेयों के साथ समझना चाहिए । जो धारी खाद्य पेयों में लोभी होनी उनसे विषमाशन, अध्यशन, समशन तथा बालक के लिए अप्रत्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदेष्ट होते और उसका दूष खराब होगा । इसलिए धारी खाद्य-पेय द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए । लोभी—वदुचीरा । दयामा—इवामा हि प्रायशः प्रचुरुचीरा भवति । (दस्त्रण) । दयामा के लक्षण—दीक्षकाले मनेदुष्टा शीघ्रे च सुखशीला । उसका चन्द्रणीमा सा रुपी इवामेति कीतिना ॥

बीद्रहस्ता—जिस छी को वृच्छे होकर मरते हैं उस छी को बोई माता अपने बालक को धारी रहने के लिए देयर नहीं होती । माता की इष्टि से यह भावना वा प्रश्न होता है । वैद्य की इष्टि से भी गृहवत्ता धारी योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की सुखु का कारण उसका या उसके दूष का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये वृच्छे को भी दूषित कर सकता है । माता के दूष का संगठन बालक की आयुर्धिके के साथ वदलता है, इसलिए जीवहृता धारी के बालक की उच्च कीरद उत्तमी ही होनी चाहिए, जितनी कि धारी रहने वाले बालक की होती है । इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं । देशानीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली । देशभिन्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है । जो आहार धारी के लिए साम्य होता है, वह बालक के लिए साम्य नहीं होता । इससे बालक की तकलीफ होने की संभावना होती है । इसलिए समानदेशगा धारी होनी चाहिए । कुशलोपचारा—उपचारा । बालक की परिचर्या करने में कुशल । धारी बालक की परिचरिका भी होती है । बालक खण्ड होने पर खान-पानादि का प्रश्न उसी को करना पड़ता है । इसलिए उसमें परिचरिका गुण जो उपचारशता, यह भी होना चाहिए—उपचारशता दावस्थमुत्तरात्म वरय । शीच चेति चतुर्भुजोऽप्य युजः परिचरे जने ॥ (धरक सू० ३) । अनुगुप्तिवा—बालक का स्वभाव चित्तिवा हो सकता है, स्वरूप विकृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतिसार ग्राहित कादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसके बालक के सम्बन्ध में पृणा पैदा नहीं होती, ऐसी । शुचि,

भुचिदेविणी—ये दोनों गुण यथापि एक-से मालूम वरते हैं तथापि एक नहीं हैं । बहुतेरे नौकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर पर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का रखने रखते हैं, परन्तु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के क्षयाल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्तों के साथ मिलते हैं । इसलिए धारी में स्वरूप स्वच्छ रहने का और अस्वच्छता से दूर रहने का गुण होना चाहिए । स्वनसम्पुद्वा—नवेष्य स्वनसम्पद्—नावर्धी नावितम्बा-वनिकृशात्वनिधीनी ऊक्षपिण्डकी मुद्रणानी चेति । (धरक) । युक्षपिण्डकी—गुक्कुचूकी । 'With well shaped nipples.' गुणप्राणी—जिनको पीने में बालक को आसानी हो । वामग्राताचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—बद्धानारिणा—निवृपुत्तेषणा । (इन्दु) । वर्जिनेमेतुना । (अस्त्रदत्त) । इस शब्द से कई अर्थ निकल आते हैं । धारी शीलवती, अचपला, कुलेजाता इत्यादि गुणसम्बन्ध होती है, अर्थात् वह अधार्मिक मैतृन नहीं कर सकती तथा करने वाली हो सो उपर्युक्त गुणों से युक्त भी नहीं मानी जाती है । ऐसी व्यवस्था में जब इसके लिए मैतृन या पुरुष-समागम वर्ज्य किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि वह विवाहित और जीवदार्पणका छी भी होनी चाहिए । ऐसी छी भी अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है । पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती छी का दूष बालक के लिए विकारी होता है । इसलिए मैतृन का निवेष्य जब तक छी बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है । धारी गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परन्तु दूसरी धारी रहने में कठिनाई होती है और दूसरी धारी का दूष बालक के लिए कुछ काळ तक असाम्य होने के कारण उसी से भी बालक वीमार पद सकता है । इसलिए दूष धिलाने के समय में धारी को व्रद्धाचर्य वत से रहना नितान्त आवश्यक है । धारी की आवश्यका—प्रस्तुत के लिए या प्रायेक बालक के लिए धारी की आवश्यकता नहीं होती । माता के समान बालक को निवेष्य प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक को पोषण करने वाला सासार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भवत्य में माता के खल से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् जून से पैदा हुए दूष से पुष्ट होता है—प्रग्रस्त्रयग्नं पुनो द्रव्याद्याभिनायते । दस्माद् प्रियवरो मातुः ॥ प्रिया वृत् तु वान्यवः ॥ (रामायण २०-०७) । नारित मातृसम्बन्ध नारित मातृसम्बन्ध गतिः । नारित मातृसम्बन्ध ब्रात् नारित मातृसम्बन्ध प्रिया ॥ मातृसम्बन्ध सनाध्यवर्मनावन्प विषयै । समर्व वाऽसमर्व वा इयं वारयक्षम् वृथ । रक्षतेर द्वृष्ट मातृ वान्यवः पोषा विशालाः ॥ (महाभारत, वानितिपर्यं २६०) । कुपुरो जागृत् क्षितिरपि कुमाना न भवति । (शक्ताचार्य) । यह दण्डन कान्ध या पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है । जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की इष्टि से सर्वोत्तम स्वास्थ्य है और वह भी माता का दूष है, हस बाल का स्वप्न निर्देश आयुर्वेद ने अस्त्र ग्राहित काल में किया है—मातुरेव प्रियेष्व रुद्धं तद्वर देवदृढये । (शत्रौगहदय) । पाश्चात्य देशों में माता का दूष का महाव

जब मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellie's Midwifery*. जो बालक माता के दूध पर बहते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। ढाँ निकोलस कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति न हो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि

दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह आपादन करने योग्य नहीं है—Every mother is fit to nurse her own child, if she is fit to do and no woman is fit to have a child who is fit to nurse it. *Esoteric Anthropology*. परन्तु वार ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये वस्ताएँ निम्न हैं—(१) माता की गृह्यता—कई वार प्रसूति र से माता की गृह्यता बालक के जन्म के कुछ दिनों के शाद होती है। जन्म होते ही माता की गृह्यता होने से बालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करती पड़ती है। इसलिए वचनपन में माता की गृह्यता होना बालक के पूर्णपाप का निर्दर्शन माना जाता है—बालत्वं च मृता माता, वृद्धत्वं च मृता: सुना:। यौवनं च मृता भार्या पातकं किमपः पात्॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्वल्य, अपचीं, राजयच्चा, घृकरोग, हृदोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीड़ित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्धि, स्तन्य की खरावी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई वार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराव होने के कारण बालक खराव होता जाता है और खराव हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी गृह्यता हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाशार्थ्यों का अन्धानुकरण—पाशार्थ्य देशों में एक समय

ऐसा था कि बालक को पिलाना असम्भवा मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिदा करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सम्भवा परम-कोटी मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाशार्थ्य ठंग पर लिखे-पढ़े पुरुष पाशार्थ्य प्रत्ययनेयद्विदि होकर इस पद्धति की प्रतीक्षा। करने लगे और स्थिरों इसका अनुकरण करने लगे। इस रिवाज के ऊपर—ऐन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में बड़ी सामिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-

feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumph of science will enable a race to survive in the struggle for existence if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery*. (५) राजघराने और अमीरी खानदान—यहाँ की स्थिरों प्रायः वच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बढ़पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, मुश्वरी हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्थिरों को अखरती है। इसलिए वे वच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करते।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उच्चति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्यत्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेपि पिवेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यामुभे कार्यं तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयशङ्कां गव्यं वा तदगुणं पिवेत्॥ (अष्टांगहृदय)। आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रबन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देवमाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्षी जाती है, वह धात्री कहलाती है। राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदित वचो यदौ तदीभामवलम्ब्य चांगुलिम्। (रघुवंश ३-२५)। कुमारः इति संस्कारात्मे धात्रीस्तन्यपायिनः। आनन्दे-नायजेनैव समं वृथिरे पितुः॥ (रघुवंश १०-७८)। वाम्भ-दाचार्य इसी की स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से हन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाम्भ-दाचार्य बालक के लिए ही धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकाधं रोज धात्री वीमार हो

जाय या आगन्तु कारण से उसको कहों जाना आवश्यक हो जाय तो वहाँ पर पृक ही धारी है वहाँ पर शालक तकलीक होगी, दो होने से किसी प्रकार की तकलीक नहीं हो सकती, जैसे जाहां पर रेल की ढाल लाइन होती है वहाँ पर पृक लाइन खालाब होने से आगे जाने में शक्ति नहीं होती या गाड़ी या जाहाज या विमान के दो गन्न (एन्जीन) होने पर एकलखाल होने से गाड़ी वद नहीं होती। माता दूध के अभाव में एवंतुणविशिष्ट धारी का दूध मिल जाता है तो वह दूध सोलहाँ आने माता के दूध का काम कर सकता है। इसलिए खालक की दृष्टि से माता के अभाव में शक्ति रखना यही प्रशस्ततर मार्ग है। प्रश्न केवल उपर्युक्त गुणविशिष्ट धारी मिलने का है। आचीन काल में थोड़े पैसे में उस प्रकार की धारी मिलना बहुत कठिन नहीं था हसलिए धारी रखने का रिवाज अधिक था। आयुनिक काल में इस प्रकार की धारी अधिक पैसा खर्च करने पर भी मुश्किल से मिल सकती है। इसलिए धारी रखने का रिवाज इस समय बहुत कम हो गया है। इसका और एक कारण है। आचीन काल में कृत्रिम दुधधान (Artificial feeding) की जो दूसरी विधि है, उसमें कई कठिनाईयाँ थीं। आयुनिक काल में विज्ञान की सहायता मिलने के कारण कृत्रिम दुधधान एक सरल, सस्ती और सघ के लिए सुगम विधि हो गई है। इस विधि का

तनोर्धृस्तनी करालं कुर्यात् लम्बस्तनी ना
स्मिकामवेव लादप्रिता मग्नस्मापादयेत् ॥ ३६ ॥

(स्तनदोष के परिणाम—) इनमें उच्चतरी (धात्री दूषक को) कराल करती है। लंबवस्त्री (धात्री दूषक को) पिलाते समय लाने लेवे स्त्रीों से बालक के नाक मिल को आच्छादित करके मृगु उत्पन्न करती है ॥ २६ ॥

परम्परा—प्रतीक—विशिष्ट या भयानक। स्तन ऊँचे
होने के कारण दूध पीते समय बालक को ऊँचा देखना
पड़ता है। इस अस्यास से उसकी हृषि सदी के लिए वैसी
ही हो जाती है। आगे अटागसप्ह का श्लोक देखें।
हाराणचन्द्रं करालं से दनुर् या विकृत दौर्वीं का समाप्त
है—उत्र वायु मध्ये अवस्थनी वरात् ह्यानाम्या दन्तमूलात्युने
त्रुमीरेणादुकृदद्वन्मिस्त्युः । 'वायुलो द्वन्मो' इत्यर्थ ॥ इन दौर्वीं
का परिणाम अटागसप्ह में लिखा है—त्रिनोऽतिक्रमप्रतिक्रम
कुरुत्वा दूर्वीं विशुभूषं । उच्छ्रापयेषान् लारोऽपित्तनी जीवित
प्रतिक्रम । (पृष्ठ १)

ततः प्रशस्ताया तिष्ठे शिरस्नातमदृतवास-
समुद्दृमुर्यं रिषुमुपवेश्य धात्री प्राइमुर्यीमुपवेश्य
दक्षिणं स्तनं धीतमोपत्परिच्छुतमिभिरन्ध्यं मग्नेण
देव यज्ञोत्ते ॥ ३५ ॥

‘धर्मः सागरस्तुम्य स्तनयोः दीर्घाद्विषः ।
— त्रिलोकान्ते विश्वासां विश्वासां त्रिलोकान्ते ॥ ३७ ॥

भवन्तु सुभग नित्य यासूर्य चलदृद्य ॥ २८ ॥
पयोऽमृतसं पीरभा शुभारस्ते शुभानने ।

(पाती—तनपातविधि—) तदनस्तर प्रशास्त नियि
पर पाती को एवं भिन्नु वैदाक शिर के ऊर से महालाये

१०८ विजयनगर शहर के बाहर से नदी पाया गया।

हुए और स्वच्छ नद्ये धूष पहवाये हुए चालक को (धारी की गोद में) उत्तराभिमुख चैढ़ाकर धोये हुए (और दवाकर) किंविद् दूध निकाले हुए देखिण रतन को हृत मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके रिटावे ॥२७॥ हे शुभगे ! चालक की बलसूदिके लिए चारों समुद्र तेरे सतों में निरन्तर चीरवाहक हो ॥२८॥ हे शुभानने ! जैसे असृत प्राप्तन करके देव दीर्घायु को प्राप्त हुए, वैसे ही असृत रूप विषादे तथा वैष्णव विष्णुर्गुरु को प्राप्त करे ॥२९॥

वक्तव्य—उत्तर—उपदेश गुणातुक प्राप्त करने के बाद। धारी—बालक के समान धारी को भी उस दिन स्नान, शुभवय व परिधान और ऐन्ड्रूथार्डि ओपरियों का धारण करना पड़ता है—प्रय धारी स्नानानुसिंहा निकटमहत बासा सुमना प्रजातापनीयों विरसा विज्ञाणा रखादि। (धारागत्तंप्रह)। दरिण स्तनम्—प्रथम दरिण स्तन और पश्चात् वाम स्तन रिलाते। धीतम्—दूध रिलाते से पहले स्तन को धोने की पद्धति बहुत अच्छी है। दूध धोने के बाद कुछ दूध चूचक से याहर निकलता है और वही पर सूख जाता है। कभी कभी वह खराब भी हो सकता है। अगर स्तन न धोये जाय तो पहले का सूखा हुआ या खराब हुआ दूध प्रथम बालक के मुख में घला जायगा। इससे बालक को कभी कभी तकलीफ हो सकती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के पहले स्तनों को धोकर साफ करना प्रशस्त है। १८८८रित्रितम्—स्तनचूचक में दुष्प्राणी नालियों का अच्छिम भाग होता है। चूचकाम खाय द्वाने से यह खराबी कुछ मर्यादा तक भीतर जा सकती है। यदि दवाकर थोड़ा-सा दूध निकाला जाय तो उसी दूध से उन नालियों की सफाई हो जाती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के समय जरा-सा दूध निकालकर फीले बालक को इसनपान कराना, यह प्रशस्त नियम है। आगे ११वें सूच में परिष्कृत न करने का फल देताया है।

**अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्
व्याधिचरमं भवति ॥ ३० ॥**

(अनियत धात्रीदोष) इस प्रकार न किया जाय तो अनेक स्थान्योपयोग के लासाम्य से प्यारि उत्पत्ति होती है ॥ ६० ॥

पत्तश्य—मोरप्रयाणा—धारी न रखके अनेक सियों के दूध का उपयोग बरने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर कुछ लोगों का यह कथन है कि धारी हमेशा एक ही होमी चाहिए। चरक, सुधूत और अहोगांसग्रह में एक ही धारी के लिए हित्ता है। परतु लट्टागांद्धर्व में ही धारी रखने के लिए लिता है—लत्यव्याधिकुमे वार्षे तत्सप्तदि वरत्ते। लट्टागांद्धर्व भ्रय चरक, सुधूत, लट्टागांसग्रह के पीछे का है, हस्तमे संरेह नहीं है। इस भ्रय में चरक सुधूतादि दोनों से कई नई नई बातें मिलती हैं। ये सब बातें वायव्यतावार्यी ने बहुत सोचन्मानकर लिती हैं, इसमें कोई संरेह नहीं। इस भ्रय में कोई भी यात आयुर्वेद के तातों के विवर नहीं हो सकती। ये प्रायिकों का तिरेष असाक्षय पर ही किया जा रहा है। कविराज वायव्यतीभृत्याकाय अपने कुमारतन्त्र भी इष्टिष्ठी में लिखते हैं—साथा अनिवार्ये नानात् वासने। कुमारतन्त्र व्याख्यितवै। असाक्षये तु परादिरुद् दक्षं पाची उच्च,

हृदये तु 'स्तन्यधाव्यादुभे कार्ये' इति यत् धात्रीद्वयमुक्तं तदनियत-धान्या वहनिष्टकारिवा नुभवद्विरस्माभिर्नाद्रियते । इसलिए यहाँ पर सात्य का थोड़ा विचार किया जाता है । सात्य शब्द की व्याख्या चरक में निम्न प्रकार से की गई है— सात्यं नाम तत् यथात्मन्युपशेत् । सात्यं नाम तत्, यत्सात्येनोपसेवमानमुपशेते । (विमान ८) । संक्षेप में सात्य अभ्यास-सात्य है । यदि प्रारंभ से ही दो धात्री रखकर प्रतिदिन दोनों का दूध पिलाया जाय तो बालक के लिए दोनों स्तन्य सात्य हो जायेंगे । इसमें किसी प्रकार की अनिष्टता मालूम नहीं होती । एक धात्री होने में ही कुछ कठिनता हो सकती है । इसका विवरण पीछे २५वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि बालक के लिए धात्री नियत होना आवश्यक है चाहे एक हो, चाहे दो हों । दीच दीच में धात्री बदलना ठीक नहीं है । इससे बालक में रोग उत्पन्न होने की संभावना होती है क्योंकि प्रथेक धात्री का दूध कुछ रोज तक असात्य रहता है । सात्यसेवन एकाएक छोड़ने से और असात्यसेवन एकाएक करने से असात्यज रोग उत्पन्न होते हैं—असात्यज हि रोगः स्युः सहसा त्यागशीलनात् । (अष्टांगहृदय, सूत्र ३) ।

अपरिस्तुते अप्यतिस्तव्यस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्तोतसः शिशोः कासध्वासवमीप्रादुर्भाविः । तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥ ३१ ॥

(अपरिस्तुत स्तन्यसेवन के दोष—) परिस्तुत न करने पर भी देरे से इकट्ठा हुए दूध से परिपूर्ण स्तन के पान से स्तोतस् के भर जाने के कारण बालक को धास, कास और वमन होता है । इसलिए इस प्रकार की धात्रियों का स्तन्य न पिलावे ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अपरिस्तुते—इसका विवरण पीछे २५वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । उत्सुहितस्तोतसः—ऊर्ध्वपूरितस्तोतस इत्यर्थः । उत्सुहितस्तोतस इति पाठे तु ऊर्ध्वं स्तुहितमुद्दीर्णं लोतो यस्येनि समाप्तः । (डलहण) । उत्सुहितं परिरुप्तं परिपूर्णमिलेतत् । (हाराणचन्द्र) । अपि—इससे पीछे के सूत्र के साथ संबंध जोड़ देया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि धात्री नेयत होने पर स्तनपान करने से पूर्व परिस्तुत न करने पर मी रोगोपचित्त होती है । एवंविधानाम्—अनियत धात्रियों का और अपरिस्तुत स्तनों का दूध ।

क्रोधशोकावात्सह्यादिभिश्च ख्यियाः स्तन्यनाशो भवति । अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्यकल-शुनमत्स्यकशैरुकश्यकाटकविसविदारिकन्दमघुकश-तावरीनलिकालावृकालशकप्रभृतीनि विद्ययात् ॥ ३२ ॥

(स्तन्यनाश के कारण और उसकी चिकित्सा—) क्रोध, शोक, (बालक के प्रति) प्रेम न होना इत्यादि से स्तन्य का नाश होता है । (उपर्युक्त कारणों से स्तन्यनाश हो जाय) तब (उसमें) मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके जी, गेहूँ, साँठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर, तिलकल्क, लशुन, मछुली, कसेल, सिंघाड़ा, कमलकंद, विदारीकन्द, मुलहटी, शतावरी, नाढ़ीशाक, कहूँ, कालशाक इत्यादि का सेवन करावे ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—स्तन्यनाश—स्तन्यात् दूध का क्षम्भ होना

या पूर्णतया बंद होना । स्तन्यनाश के मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) मानसिक स्थिति—यह कारण सब से महत्व का है । मनःस्थिति के दो विभाग कर सकते हैं । प्रथम विभाग वह है, जिसमें विशेष घटनाओं से मन थोड़े काल के लिए अस्वस्थ हो जाता है । जैसे—क्रोध, शोक, भय, विपाद, मात्सर्य, काम, द्वेष इत्यादिः याने घर में किसी की मृत्यु का दृश्य देखकर विषण्ण होना, आसेट की मृत्यु की वार्ता सुनकर शोकाकुल होना, भयानक वार्ता सुनकर भयभीत होना इत्यादि । भयादि से युक्त मन की स्थिति प्रायः किसी न किसी वाय घटना पर निर्भर होती है और उस घटना के पश्चात् जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे मनःस्थिति भी धीरे धीरे ठीक हो जाती है । संक्षेप में, प्रथम विभाग अनैच्छिक कारणों का होता है और उससे होने वाला स्तन्यनाश स्थायी नहीं होता । द्वितीय विभाग में वाय घटनाओं का कुछ भी संबंध न होकर आन्तरिक भावनाओं और विचारों का संबंध होता है । जैसे, अवात्सल्य, बालक को दूध पिलाने की अनिञ्चा या आत्मविश्वास का अभाव, कृत्रिम हुबधपान और कृत्रिम दुर्धों के फायदों के भक्षकदार विज्ञापनों और पुस्तकों को पढ़कर बालसंवर्धन की वही सर्वोत्तम पद्धति है, इस प्रकार की विचारसरणि पक्षी करना, स्तनपान करना यह एक असभ्य जातियों की प्रथा है; ऐसी भावना करना ये सब उदाहरण द्वितीय विभाग में आते हैं । इनका परिणाम मन पर स्थायी होता है, क्योंकि अवात्सल्यादि कुछ भावनाएँ स्वाभाविक होती हैं और कुछ लिखने पद्धते के पश्चात् किये हुए विचार के फल होते हैं । इसलिए इनके कारण जो स्तन्यनाश होता है, वह स्थायी स्वरूप का होता है । इस मानसिक स्थिति के संबंध में देन दीचर के प्रसूतितन्त्र में बहुत सुन्दर विवरण किया है—In the majority of cases failure to nurse is due to the psychological or nervous factor. Experience has proved that nearly every woman willing to do so can suckle her baby. The least hopeful case is that of the woman with little maternal instinct. They have no desire to make a success of what they regard as a needless tax on their liberty. Her mother tells her she was brought up on the bottle, and her friends and relatives have advised this or that patent food; Her nurse has ordered a full bottle-feeding equipment in anticipation of the expected, and the moment the birth of her baby is announced she is flooded at every post with samples and advertisements from the patent food-mongers in which she reads such glowing accounts of how babie's lives have been saved by this substitute and that substitute, that it is not remarkable she should accept it as almost inevitable that her child should be reared artificially. Want of confidence in her own powers is a poor attitude.

of mind in which to start nursing. घसलता, प्रेम हृत्यादि से स्तनों में दूध हैने उत्पन्न होता है। (१) इम विषय का विवार निदानस्थान के दृम्ये अभ्याय के २१ वें सूत्र में दया उसके बद्धम् (४४ इ३) में किया गया है। (२) शारीरिक लिङ्ग—हसका और स्तन्य का बहुत कम सम्भव है। देखने में बद्धवेर छियों मन में बसलता है जो के कारण उन्हें बालक के भली भाँति दूध पिणा सकती है। कई बार राजपत्रास से पीड़ित छियों में भी काफी दूध निकलता है और स्वस्थ्य की इष्टि से उनको बचे को पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो कई मेरी मेरी मन्दूरुस्त छियों मन में प्रेम न होने के कारण या आतुरिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण हुत्याकृत होती है। हसका अभ्याय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्वस्थ्य साकाह होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (३) अहार—स्तन्य का उपादान कारण आहार है, शारीर और मन सहायक कारण है—रसनादे मनुर पश्चात्तरनिन्द्र। कृष्णदेव इन्हीं प्राप्य स्तन्य इत्यमिहेदते॥ (निदान १०)। आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की रासा बहुत होती है, इमलिंग आहार में दया उसके बलाता जल की रीता कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रश्नान कारणों के बलाता स्तन्यवत्ता के निज्ञ और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विहृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्युषि, चूकुक प्रदीप इत्यादि। (५) स्तनबूख में कमजोरी—आयुर्वेद में शुक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १२-२३)। कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक्र का उत्तम प्रवर्तक चवान जी का सग होता है—प्रवर्तनी की शुक्रत। (शास्त्रीय)। वार्षीकरणस्थ्य च वैयं यो या प्रसिद्धिः। (चरक)। स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ्य सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या लुकाम, विरीगतालु (Cleft palate) इत्यादि से पीड़ित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। अगर यह कमजोरी शुरू से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्यवत्ता में होता है। अद्यासंग्रह में स्तन्यनाद के निज्ञ कारण बताये हैं—हृदावानन्द्यनवेद शोकदानिग्म स्तन्यनादः।

स्तन्यनाद दो चिकित्सा—निदानपरिवर्तन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर सहिता में जिस परम्परा में स्तन्यवत्ता का विचार प्रकृत दूध है, उसको देखतर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ्य होते हुए स्तन्यनाद क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसी करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिवेदत है। इस इष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यवत्ताचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्रोग्निचिकित्सा में होगा। बता स्तन्यवत्ताचिकित्सा की इष्टि से विचार करने वेष्य केवल यों ही कारण हो, प्रथम और दूसरी, और चिकित्सा में भी इसी का हो परमन्तर लिया गया है। (१) सौमनस्त्वस्त्राद—दूसरे प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्त्व की उत्पत्ति करने में द्वोघयतोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम मानव उत्पन्न करना, कृत्रिम दुर्घटनावालक के लिय हानिकृत होता है, माता का स्तनपान वही बालक ही दृढ़ि का स्वामानिक, सरल, सारांश और सर्वोर्तम उपाय है, और आगर द्वी दिल से चाहे तो बालक के लिय वितरना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में आप से आप से आप उत्पन्न होता है। इस बात का आमविचास स्थी के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कथनाओं के अनुसार छियों गर्भंवारण और स्तनपान से बालकप्रोपण अवता करन्व सम्भवी थी (प्रदनार्द विव ८४। अनु ९-१६), तथा कृत्रिम दुर्घटनाव और कृत्रिम दूध इवका प्रोपेणा (प्रचार) करने वाले कुडमोगा (अध्यायापारी) भी नहीं थे, विसके कारण उत्पुक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन काल में नहीं था। परन्तु कालपरिवर्तन के साथ छियों में कृत्रिम दुर्घटनाव के साधनमें जो विचार रुद हो गये हैं, उनकी दूर करने का प्रयत्न सैमनस्य उत्पादन में ही था जाता है। (२) अहार—हसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे अपतर्पण, दूध, मासरस, मधुली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुरामल उत्पन्नमूलिषु खाद्य पदार्थ इत्यादि से सुक शरीर को हुत्या करने वाले भोजन (यीषु १० वें सूत्र के वक्षय में प्रसूता का आहार देते) का सेवन—त्रावनननि तु मधुनि सीतुवल्लनि, ग्राम्यानुरोद्धशनि च शाकाल्मर्दसानि द्रवमुरु न्यवज्ञमूदिष्ठशशाता औपानवदासवय । (चरक)। योगनादा न्यमानादा दस्ता और विशुद्धता। उसका चोपत्रनने प्रयत्न विवरण ॥ मुरुराम्बानानानि द्रावापि लवनानि च। नद्यनि सीतुवल्लनि राक दिलार्पकादृप्ते ॥ वराहादिशोर्प्त मातानि च रसो हिं । लग्नानां पाण्डूना सेवन यदन मुनद् ॥ (दोषाद्वाध) मदयोद्धानामायासानां च वर्जनम् ॥ (कारयस-सहिता, चीरोत्पर्यथाद)। दूसरे विभाग में स्तन्यवर्धक (Galactagogues) ओषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंधारा, विदारीकन्द, शतावरी, एजरम्बूल, कार्पसूल, मूमिकृष्णाप्त इत्यादि का सेवन—दीरिक्षीदूषद, वीरद-चालूर्पित्तुविद्युत्तामिनि द्रवमुरुक्षुशुद्धन्देत्तद्युक्तवागादाया च चालूर्प । (चरक)। पूनिहामानदूरत्य दोषरिहस्य या रसद् । विरेत्त शहर त्याग द्वारा दृढ़ विकर्ते ॥ द्वावरोद्दीर्पिणी यी त्यन्द विवरिनी। बनेवर्तदेहदानां मूल हीवीकैष वा। विराकिन्द्र द्वया विद्या स्तन्यवर्धनम् । (योगरात्रावर)। सैषैष में स्वस्थ प्रसूता में चीतावता हो सो सैमनस्य उत्पन्न करना और योष्ट दृढ़ आहार देना ये ही दो सुख उपाय हैं—The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of large quantities of fluid, small quantities of alcohol and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूतिका के

धन्यवद के साथ की जाती है। पीढ़ि १७ में दूध के वक्तव्य में चूतिका की परिचय जो यथार्थ गई है, उसके अनुसार भी व्यवहार करना चाहिए। इससे दूध न बढ़े तो स्तन्य-जनक लोषियों का उपयोग कर सकते हैं। यद्य प्रभूता में या उसके स्तानों में या बालक में कोई दीमारी हो जाती है, तब उसकी चिकित्सा भी करनी चाहिए।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीचेत्, तच्चेच्छीतलम्-
मलं ततु शहावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छ-
त्यफेनितमतन्मनोत्पत्तेऽप्यसीदति घा तच्छुद्ध-
मिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो
घलवृद्धिश्च भवति ॥ ३३ ॥

(शुद्ध स्तन्य की परीक्षा—) उसके दूध की परीक्षा जल में करे। यदि यह ठण्डा, निर्मल, पतला, घाझ के समान (शेत) वर्ण का हो, जल में ढालने पर एक हो जाय, फेनाविहित, तत्पुरिहित हो, (जन में) न तैरता हो या न दूधना हो तो उसको शुद्ध समझना चाहिए। इस (प्रकार के शुद्ध दूध) से बालक का जारोग्य, शरीर की घटीती और घल की घुड़ि होती है॥ ३३ ॥

वक्तव्य—इस दूध में विशुद्ध स्तन्य की घटी सरल परीक्षणविधि बतलाइ गई है। विशुद्ध और सराव दूध की परीक्षणविधि और लक्षण पहले भी निम्न प्रकार से बताये गये हैं—यदि घोरामुदके शिखमेहीभवनि पाण्युरु । नपुरं चाविर्यं न प्रसन्नं तदिनिरिय ॥ (निदान ११) । अनिष्टान्तमस्तु च विनर्यं विरसं च यत् । वर्ज्यं सलवर्यं घोरं यद्य विप्रथितं भवेत् ॥ (सूत्र ४४) । विशुद्ध दूध की प्रतिक्रिया किंचित् ज्ञारीय, वर्ण किंचित् पीला, गुरुता १०१०-१०४०, स्पाद मीठा होता है और उसमें किसी तरह की गन्ध नहीं होती है। दूध की सरावी प्रायः जीवाणुओं के कारण होती है। ये जीवाणु दूध में विविध अम्ल उत्पन्न करते हैं, जिनकी उपस्थिति से दूध की प्रतिक्रिया अम्ल होकर घट विप्रथित हो (फट) जाता है। उसमें उदापन पैदा होता है और स्थृती वृ भी जाती है। एकीभावं गच्छति—आगर दूध विशुद्ध हो तो पानी के साथ मिलाने पर पानी दूध में और दूध पानी में इस तरह घेमाल्स मिल जाता है कि मिवण में कहीं दूध अधिक और कहीं पानी अधिक इस प्रकार का व्यैषम्य नहीं मिल सकता। सराव दूध पानी के साथ मिलाने पर उसका तलछट चन जाता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध दूध लिंग घदायों का एक ऐसा स्वभाविक घोल (Natural emulsion of fats) है कि उसमें प्रभूजिन (ग्रोटीन), लक्षण, शर्करा आदि द्रव्य एकरूप से (Uniformly) फैले हुए रहते हैं और यह एकरूपता पानी में मिलाने पर भी न नहीं होती। सराव दूध में अनुर्गत द्रव्यों की एकरूपता न ए होती है और पानी में मिलाने पर यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। नोस्कुवते न सोदित—दूध की गुरुता पानी से अधिक है। परन्तु यहाँ पर उल्लंबन या अवसाद से गुरुता का कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक दूध प्राकृतिक अवस्था में होता है, तब तक पानी में मिलाया हुआ दूध इस प्रकार मिश्रित होता है कि इसके स्वरूप में कोई फक्त नहीं पड़ता, केवल इसको अधिक पानी का दूध कह सकते हैं। अर्थात् वह न

उपर तैरता है, न नीचे बैठता है। दूध विशुद्ध होने पर उसका कुछ अंश तरी में बैठता है और कुछ उपर तैरता है। संसेप में, यह ग्राव्यप्रयोग 'एकीभावं गच्छति' इसके वर्ण को ग्रिङ्ग प्रकार से प्रदर्शित करता है। तेन कुमारया-रोगप्रित्यादि—बालक का स्वास्थ्य, शरीर की घटीती और घलवृद्धि सराव दूध से कदाचित् नहीं हो सकती; हृस्यमें कोई सन्देह नहीं है। शुद्ध दूध से ही ये कार्य हो सकते हैं; हृस्यमें भी सन्देह नहीं होता। परन्तु शुद्ध दूध से ये कार्य होने चाहिए, यह कोई वावश्यक नहीं है। दूध के भीतर कई सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिनका ज्ञान इस प्रकार के भौतिक या आनुनिक रासायनिक परीक्षणों द्वारा नहीं उगता और परीक्षण करने पर विशुद्ध साल्सम हुए दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य और वर्धन ठीक नहीं होता। स्वास्थ्य और वर्धन साल्स्य द्रव्यों के सेवन से होता है। एक विशुद्ध दूध साल्स्य और दूसरा वासाल्स्य हो सकता है। शरीरसंवर्धन की दृष्टि से विशुद्ध और साल्स्य दूध की आवश्यकता है। व्यावहारिक दृष्टि से वही दूध विशुद्ध कहा जा सकता है, जिससे बालक का स्वास्थ्य और शरीरोपचय ठीक होता है। काश्यपसीहित में इसी व्यावहारिक दृष्टि से शुद्ध शीर की व्यास्था दी गई है—अन्याहनवलाजायुरोगो वर्पते सगम् । शिशुपात्रोनापतिः शुद्धीरस्य लक्षणम् ॥ (शीरोत्पत्य-प्याय) । अधिक विचार करने पर व्यावहारिक चिकित्सक दूध की शुद्धता के ऊपर अधिक ध्यान न देकर बालक के ऊपर दूध के परिणामों पर ही अधिक ध्यान देता है। रावर्ट हचीसन बालक के रोगों के अपने व्यालायानों में काश्यपसुनि के समान अपना अनुभव देताते हैं—I should advise, you, however, to fix your attention on the child's weight; and so long as this goes up satisfactorily not to pay too much attention to supposed evidences that the milk disagrees. Failure to gain weight, indeed, is the only justification for weaning. Attempt to correlate any particular form of indigestion with some special fault in the composition of breast milk is apt to prove disappointing. When I first began out-patient work I used to make a practice of analyzing the mother's milk in cases of dyspepsia in breast-fed infants, but I gave it up, as I found that game is not worth the candle. Lectures on diseases of children. हृसलिंध धात्री के दूध की विशुद्धता देखकर निश्चित न होना चाहिए, परन्तु बालक के स्वास्थ्य और तोल पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहे तो विशुद्ध स्तन्य और संपूर्ण गुणों से युक्त धात्री होने पर भी उसका दूध बन्द करना चाहिए।

न च शुद्धितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्यातुर्गर्भिणीच्चरितातिदीणातिस्थूलविद्यमक्तविरुद्धादारतपितायाः
स्तन्यं पाययेत्; नाजीरणैषव्यं च धात्रं, दोषैषधमलानां
तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥ ३४ ॥

of mind is which to start nursing बस्तुता, प्रेम हृष्यादि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय पर विवरण निदानस्थान के बृंशबंध अभ्याप हे २। वे सूक्ष्म में स्थान उसके वक्षम्य (षष्ठि ३५) में दिया गया है। (३) शारीरिक स्थिति—इसका और स्तन्य का बहुत कम सम्बन्ध है। देखने में कमज़ोर दिर्घ्य मन में बस्तुता होने के कारण अपने बालक की भली भाँति दूध पिला सकती है। कई पार राज्यसमा से पीड़ित दियों में भी काती दूध निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को पिलाना मना करना पस्ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो कई भोटी भोटी तनुदूस्त दियाँ मन में प्रेम न होने के कारण या आयुर्विक विवाहों से परिपूर्ण हो जाने के कारण हुग्यादि होती हैं। इसका अभिन्नाश्रय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्वास्थ्य खाराब होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (४) आहार—स्तन्य का उपादान कारण आहार है, शरीर और मन सहायक कारण है—रसग्राहो मधुर पक्षादारनिमित्तज्ञ। कृलदेह, स्तनों प्राप्य स्तन्य हृष्यादिपीति॥ (निदान १०)। आहार अपर्याप्त और अतुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इसलिए आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन सीन प्रथान कारणों के अलावा स्तन्यालपता के निज और दो कारण हो सकते हैं—(५) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्युषि, चूतकं प्रकोप हृष्यादि। (६) स्तनचूत में कमज़ोरी—आयुर्वेद में शुक के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १९-२३)। कई यातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक का उत्तम भवर्तक जलान छी का साग होता है—प्रवर्तनी छी गुरुत्व। (शाह्न्धर)। शारीरकरणमन्य च द्वेष छी या प्रदर्शिणी। (चरक)। स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमज़ोर होता है या जुकाम, विदीपीताल (Cleft palate) हृष्यादि से पीड़ित होता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। लगर यह कमज़ोरी शुक से ही हीरी तो उसका परिणाम स्तन्यालपता में होता है। अष्टाग्रामीप्रह में स्तन्यनाश के निज्ञ कारण बताये हैं—सूक्ष्मप्राप्तानकर्त्तव्योद्योग्यकामादिभि स्तन्यनाश।

स्तन्यनाश की चिकित्सा—निदानपरिवर्जन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर संहिता में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उससे देखकर यह अतुराम करना अतुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्यनाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसी करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चीथे और पौच्छवे करणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार मी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्रोग्नचिकित्सा में होगा। अत स्तन्यनाश-चिकित्सा की इसे विचार करने योग्य केवल वो ही

कारण हो, प्रथम और नृतीय, और चिकित्सा में भी इन्हीं का हो परामर्श लिया गया है। (१) सौमनस्यनुसार्थ—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोधन्दोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममता उत्पन्न करना, कृत्रिम दुर्घटना बालक के लिए हानिकर होता है, माता का स्तनपान यही बालक की शुद्धि का स्वामिकावृक्ष, सरल, सरता और सर्वोत्तम उपाय है, और अगर यही दिल से जाहे तो बालक के लिए जितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में भाष्य से आप से आप उत्पन्न होता है। इस बात का आत्मविकाश यही के मन में उत्पन्न करना हृष्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार दियाँ गम्भीरात्मा और स्तनपान से बालकपोषण अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रवर्णव लिय सुधा। मतु १-१), तथा कृत्रिम दुर्घटना और कृत्रिम दूध इनका ग्रोपेणा (प्रचार) करने वाले कुदमोगर (अव्याधापारी) भी नहीं थे, जिसके कारण उपर्युक्त भक्त का उपदेश करने का कारण प्राचीन काल में नहीं था। परन्तु काल परिवर्तन के साथ दियों में कृत्रिम दुर्घटना के सदर्थन में यो विचार रुद हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रथम सौमनस्य उत्पादन में ही था जाता है। (२) आहार—इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे, अपतर्पण, उत्तन, क्षारं ये शारीरिकीयकर भोजन छोड़कर जी, गहे, चावल, दूध, मांसरस, मद्दली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुराल लवण्यभूषित खाद्य एवं दूषक हृष्यादि से युक्त शरीर को शुद्ध करने वाले भोजन (पीछे १७ में सूक्ष्म के बकलव में प्रस्तुत का आहार देखो) का सेवन—दीर्घजननिति तु मध्यानि सौधार्यव्याप्ति, मध्यान्यूदीवति च शाकान्यमार्तानि द्रवस्तुरा स्तलवरणभूषिताशाहार चीरानमयात्मक । (चरक)। शोणाङ्गा न्यमानादा यस्या चौर विनुद्वयति । वस्या चौरप्रज्वलने प्रयोग विनुद्वय ॥ मधुराण्यमध्यानानि द्रवाणि तदवानि च । सीधुवर्ध्यानि शाक दिवार्धादृष्टे ॥ रवाहिद्विषार्थं मार्तार्ता च रसो हित । लगुनानां पराण्डूना सेवन यस्य तुषार् । (वोधव) मध्यान्यानामायासानीं च वर्जन् ॥ (कारणप-सहिता, चीरोत्पर्यधाय)। दूसरे विभाग में स्तन्यवर्धक (Galactagogues) कोषिष्ठियों का विचार आता है। जैसे, सिथादा, विदारीकन्द, शतावरी, तुण्डिमूल, कार्यसूल, मूमिंकम्बाण्ड, हृष्यादि का सेवन—दीर्घजीवीप्रथा, वीरण-पिण्डातितुजानिदादम्बुद्धकाशुद्धक्षमूलकामायार्णं च पानम् । (चरक)। भूमिहृषाम्भूतस्तुत्य चौरपिण्ड्य च रत्नम् । विवेत गवर्त तस्या हीर बड़ु विवर्ते ॥ वदावरीक्षीरविना योगा स्त य विवर्तनी । यनकापास्तेन्दूर्णा मूल योगीकृते वा । विदारीकन्द तुरया विनेश्वा त्वयवर्तनम् । (योगावाक)। संजेप में स्वस्थ प्रस्तुत में शीरलपता होते तो सौमनस्य उत्पन्न करना और येष्ट बृहण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of large quantities of fluid, small quantities of alcohol, and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूक्षिका के

सकता है। भिष्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता। इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'अनियमित मात्राहार' आघुर्निक परिमापा के अनुसार असंतुलित (Unbalanced diet) कह सकते हैं। आहारस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है। पात्यास्तु धात्री से उपमाता और माता दोनों का वोध होता है—भावी स्थानप्रमाणात् । (असरकोष)। अपिना जनन्यपि धात्री। माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—पुनर्धनों पुनर्गर्भमोजस्तत्य प्रधानति । अष्टम स्थान गमो जातः प्राणेविशुद्धते ॥ (चान्द्रवल्क्यस्मृति ३-८२)। यहाँ पर यद्यपि सदर्भे के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सम्बन्ध विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। वहै मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक व्ययं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शारीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्या, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs), और अनेन्द्रियक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यक्षदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ।

मुद्दुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३७ ॥

निमोलिताक्षं मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत् ।

वस्तिन्द्र्ये मूत्रसङ्घान्तो रुजा तृष्णति मूर्च्छिति ॥ ३८ ॥

विष्मत्रसङ्घवृष्ट्यच्छ्रुद्याधिमनान्त्रकृजनः ।

कोष्ठ दोषान विजानोयात् सर्ववस्थांश्च रुद्नैः ॥ ३९ ॥

(बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) बालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को बारबार छूता है और (उस अंग को) स्पृश करने पर रोता है ॥ ३७ ॥ मस्तिपक के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और धिर को धारण नहीं करता। वस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृष्णयुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥ ३८ ॥ सलावतेष, मूत्रान् वरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुहगुह शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, रेता समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥ ३९ ॥

वक्ष्य—प्राणप्रत्ययगदेश—शारीर में कहीं भी जब कुछ गहवद होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक वैशिष्यों में सकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, उत्तरी सिकुड़ जाती है और मनुष्य आँख के कपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शारीरका के लिए

आवश्यक होते हैं। शारीरका के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यंत वडे जीव में दिखाई देता है। इसमें दुद्धि का या मस्तिपक के उच्च केन्द्रों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् ये कर्म अनेन्द्रियक होते हैं। इनकी प्रतिवेप कर्म (Reflex actions) कहते हैं। बालक कितना भी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। इसलिए अगर बालक बार बार कहीं पर छूता हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है। शारीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। त्यश्यमाने च रोदिति—जहाँ पर बालक बार बार छूता है, वहाँ पर स्पृश करने पर या जरा सा दबाने पर बालक रोता है क्योंकि दबाने से पीड़ा बढ़ती है। शारीरगत अस्थि पीड़ियों को सालग्रह कराने का मार्ग वर्षों में रुदन होता है। वहाँ मनुष्य में ग्रायः रुदन नहीं होता, परन्तु पीड़िन के समय उसके चौहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पृश करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनाच्छमता या पीड़नाच्छमता (Tenderness) कहते हैं—स्पृशं च न ज्ञाते तत्र रुजुमुपलवयेत् । (अष्टांगसंग्रह)। अन्यस्पृशं च न सहते । (इन्द्रु)। यत्र च स्पृशनाच्छमः, तत्र विशाद्ग्रुम् । (अष्टांगद्वय, उत्तर २)। इस तरह शारीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह विना स्पृश के होती रहती है। इस लक्षण को वेदना (Pain) कहते हैं, और दूसरे प्रकार में छूने पर प्रकट होती है। इसको पीड़नाच्छमता कहते हैं। सूर्धस्थे—इसका सम्बन्ध 'रोग' के साथ है, याने सूर्धस्थ रोग का विशेषण है। यहाँ पर सूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बन्द करना और शिर को धारण न करना। इसके और भी लक्षण होते हैं—अवकृजन याने धीरे धीरे असंबद्ध बोलना या मुख से आवाज करना। (Low-muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep)। शिरो न धारयेत्—इससे सिर धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है। यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे—सकता है—सिर के एक तरफ गिरने से या सिर के काँपने से। आगे काशयपसंहिता का विशेषण सम्बन्ध का रूपोक देखो। वास्तवस्थ—भारास्थ के आसपास के विकार में—मूत्रसंग्रहमूर्च्छासदिग्रीवीकणाद्विषयक—हस्तप्रदस्तमभिजीभवनकेशलवैर्वस्तीयुषेच्च। (अष्टांगसंग्रह)। कोष्ठ—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में 'स्थानान्यामार्गनपक्षान् मूत्रस्य रुधिरस्य च । इदुण्डुकः कुफकुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥' इस व्यापक अथ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल 'स्थानान्यामार्गनपक्षान्' इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ से कोष्ठशब्द का उपयोग 'मूत्रुकोष्ठकूरकोष्ठ' हून शब्दों में होता है—'मूत्रुकोष्ठकूरात्रेण स्निग्धत्यच्छ्रोपसेवया ।' स्त्रियाति, कूरकोष्ठसुत्परात्रेण मानवः ॥ (चरक, सूत्र १३)। सर्वत्रांश्च रोदनैः—सर्वत्र च त्वभावातिरिक्तरोदनेत् मुखविकृणेन तत्र ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। रोदन से त्वभावातिरिक्तरोदन समझना चाहिए। त्वभावातिरिक्त रोदन का अभिग्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्थ में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर। कुछ बालक त्वभाव से ही न रोने

पात्र्यास्तु गुरुभिर्मौज्येयिषमंदीपलस्तथा ।

दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥ ३५ ॥
मिथगाहारयिदारिष्यो हस्तो वालादयः क्षिर्याः ।

मिथ्याहारायहारस्या दुष्टा वातादिया खयाः ।
क्षीराद्विषोऽप्येति विशेषं

द्वूपयान्त पथस्तन शारारा व्याधयः शिशोः ।
भवग्नि कुशलस्ताम्ब मिष्पक् सम्यग्विभाषयेत् ॥१॥

(स्तन्दृशुण के कारण और उसके पछ—) भूत लगी हुई, शोकपीडित, यकी हुई, जिसके द्वारा के द्वेषों में (तथा पातुओं में) विकार उत्पन्न हुआ है ऐसी, गर्भवती, उत्तर सुक, अतिरुद्धि, अतिरुद्धूल, विश्वजनक और विश्व आहार सेवन की हुई की का दृष्ट वस्त्रे को न पिलावे। (वैसे ही) दोप, औपचार्य और खाये हुए दृष्ट की लीला वेगोपरिषि के द्वारा से (प्रथम सेवन कराई हुई) औपरिषि का प्रचन शब्द तक न हो जाय, तब तक दूध म पिलावे ॥ १५ ॥ यहाँ परश्रोक्त है— गरिष्ठ, विषम और दोषोत्पादक आहारों से यात्री के द्वारा में दोष प्रकृष्टित होते हैं, जिससे दृष्ट भी दृष्टित होता है ॥ १६ ॥ भिष्या आहार और विहार करने वाली स्त्री के दृष्टित वातादि द्वारा दृष्ट को दृष्टित करते हैं, जिससे बालक में शारीरिक अव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। कुशल वैष्ण इनको (निम्न पद्धति से) भली भाँति जान से ॥ १७ ॥

‘वक्तव्य—यहाँ पर सत्त्वदृष्टिं के कारण ‘बलेलाये गये हैं। इन कारणों से दूध के शोभूजिनादि के संगठन में फँक होता है, स्तन शरीरगत चीजों को उसमें करने वाली प्राक्षियों होने के कारण शरीररात्रि विष थीर और जीवाणुओं का सत्त्व के साथ उसमें हो सकता है तथा शोभूजिनादि की अन्तर्गत रचना में फँक हो सकता है। प्रलयक अवश्या में बद्य विष फँक होते हैं, इनका ज्ञान होना आज की स्थिति में भी कठिन है; परन्तु फँक होते हैं, इस बात को सभी भानते हैं। जैसे, माता को अफीम देने से बालक पर अफीम का परिणाम होता है, माता को पूरणी का तेल देने से वस्त्रे को पतले दस्त होते हैं। माता को हींग, प्याज, छट्टून देने से सत्त्व में इनकी गन्ध आ जाती है, माता को पारा, सखिया इत्यादि जीवधियाँ देने से सत्त्व में इनका अंडा मिल जाता है इत्यादि। माता कंतर विस्तरता (*Loxostoma* या *सीक्युल्युस्ट्रिटा* *Sicylisciaemata*) से पीछित हो तो दूध में विष या जीवाणु मिल सकते हैं। मातिक धर्म के समय यी के शरीर में एक प्रकार का विष होता है, (२ अध्याय के ४७वें श्लोक का अनुवाद देखें) जिसका भी असरों काहे के साथ होता है और

वक्तव्य देता) उसका भा उत्तरा दूध के साथ हाता ह और उस समय का दूध पीने से बालक की मृगति कुछ लम्हाएँ भी हो जाती है। इसी कारण से स्वतंपनेकाल में अधिकारदंपत् (१० प्र० ८०) दियों में अतारत्व दिलाई देता है (पीढ़ी १५वीं सूत्र के वक्तव्य में 'लान्दरदानाप' की विविध देता)। बालक की लास्य-रक्षा की होते से नितार्ग

(विवेनस : इष्टांगदृश्य) इष्टांगदृश्य का समावेश होता है। ये किस प्रकार से स्तनयदोष उपचार करते हैं, इसका एक ठीक जवाब नहीं दे सकते, परन्तु इनके वारण अन्तर्वाची प्राणियों के साथी में कुछ न्यूनविकास या विप्राळक (प्राणियों के लिए उपयोग के लिए लोक का व्यवहार) होता है। अमेरिका में कुछ लोक का व्यवहार

Nervous impressions of a marked character have a decided and immediate effect upon the milk. An infant who takes the breast under these circumstances may show signs of acute indigestion, such as vomiting and the presence of undigested food in the stools, or there may be, in addition, great prostration, toxic symptoms, and even convulsions. ; *Jellies - Midwives* :—
(२) शारीरिक कारणों में पुथा, तैया, खकावट, अतिव्याणिता, अतिव्याहृता, उवर, सद्या अन्य, शारीरिक विकार आते हैं। इन अवस्थाओं में स्तन्य का द्वाभाविक होना संभव है। इसके लिए अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है। मनोधृणा—इसका समावेश शारीरिक कारणों में ही करना अचित है। गमेंपारणा होने से स्तन्य की राशि सद्या दृढ़त ब्लेन तथा अन्य पदार्थों की मात्रा कम हो जाती है वज्रीकी वीजग्राहिय के कार्यसंलग्नम और अपरा से श्रावेस्ट-रीन नामक द्रव्य उत्पन्न होकर (तीसरे अव्यय के १५वें श्लोक का, ३५वें स्त्र का) और १०वें अव्यय के ११वें श्लोक का अव्यय (देखें) वह पार्श्विका ग्रन्थि के अंतर्गत से उत्पन्न होने वाले स्तन्यप्रवर्तक को बनाकरता है। गर्भिणी का दूध दीने से बालक में पारिग्राहिक रोग उत्पन्न होता है—प्राची दुमारो ग्रन्थिः द्विः श्रावः प्रियवृद्धिः कामाऽप्रस्तुद् षष्ठ्युद्गाराऽस्यांविहितम् । युग्मये नैष्वृद्धया तु गाङ्गाः परि-ग्रन्थिम् ॥ (अष्टांगसंहद) ॥ पारिग्राहिक कोई खास रोग

के अनेक कारण हैं, उनमें सभीभिन्नदुरबाला एक है।
(३) भावारविद्या—इसमें, विषमाहार, विद्युतधार, विश्वदाहर और मिथ्याहार हृत्यादि आहारितिक कारणों का विचार होता है। विषमाहार वह है जिसमें समय असमय न्यूनतिक आहार सेवन किया जाता है—इदू स्वेच्छाते वा विषय विषमाहार। विद्युत भव्य वह है, जो अति पर अधिक घट गया हो। Over-cooked; किया जिराका सेवन करने पर असाधारण, ऐसे में विद्युत उत्पन्न होता है—विद्युतिव्यवस्थामध्ये कुर्बान वा एक दूसरा इदू दाढ़ च। जलवैद्य वाक ग्रन्थि उत्परित ह। जैसे, खटनी, अचार, गरम मसाला कुकुर स्वाद, मिर्च हृत्यादि। विश्वदाहर घट है जिसमें पूक ही समय में, विरोधी कार्य करने वाले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। यह विरोध स्वयंग का, माया का, वीर्य का किया अन्य प्रकार का (सुधस्वान, अध्ययन ५० वेसो) होते

सकता है। मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का अचित प्रमाण नहीं होता। इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'अनियमित मात्राहार' आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार असंतुलित (Unbalanced diet) कह सकते हैं। आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराच रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराची में होना स्वाभाविक है। धात्र्यात्म-धात्री से उपमाता और माता दोनों का दोष होता है—धात्री स्वादुपगानांपि । (अमरकोश)। अपिना जनन्यपि धात्री । माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—पुनर्भव्यात् पुनर्भव्यमोजत्तरत्य प्रधारति । अष्टमे गात्यदो गमो जातः प्राणैविद्युत्यते ॥ (याज्ञवल्यस्मृति ६-८२)। यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह क्यन भाता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सन्ध्या विमावेत्—वच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। यदे मनुष्य की अपेक्षा वालकों में रोगपरीकरण में अधिक कठिनाई होती है, व्याँकि वालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शारीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्या, स्वदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैचित्रक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अहंप्रत्यक्षदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ।

मुर्दुःस्पृशति तं म्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३७ ॥

निमोलिनाक्षं मर्धस्ये शिरो रोगे न धारणेत् ।

वस्तिस्ये मूत्रसङ्करान्तो रुजा तुष्यति मूर्च्छति ॥ ३८ ॥

यिष्मूत्रसङ्क्रैष्वर्ण्यच्छ्रद्धाध्मनान्त्रकृजनैः ।

कोष्ठे दोपान् विजानोयात् सर्ववस्थांश्च रंदनैः ॥ ३९ ॥

(वालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) वालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को वारचार छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥ ३७ ॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें चंद्र किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता। चस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तुपायुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥ ३८ ॥ मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुदगुद शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा-समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥ ३९ ॥

वक्ष्यत्य—अग्रप्रत्यगदेशे—शारीर में कहीं भी जब कुछ गड़वाल होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक पेशियों में संकेच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज़ प्रविष्ट होने से पलक चंद्र होते हैं, पुतली सिंकुड़ जाती है और मंसुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शारीररक्षा के लिए

आवश्यक होते हैं। शारीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण क्षत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यंत बढ़े जोध में दिखाई देता है। इसमें तुष्टि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् ये कर्म अनैचित्रक होते हैं। इनकी प्रतिरूप कर्म (Reflex actions) कहते हैं। वालक कितना भी छोटा प्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। इसलिए अगर वालक बार बार कहाँ पर छूता हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित खंगों में पीड़ा है। शारीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। स्पर्शमाने च रोदित—जहाँ पर वालक बार बार छूता है, वहाँ पर स्पर्श करने पर या जरा सा दबाने पर वालक रोता है क्योंकि दबाने से पीड़ा बढ़ती है। शारीरगत भास्य पीड़ा को मालूम करने का मार्ग वच्चों में रुदन होता है। वहे मनुष्य में प्रायः रुदन नहीं होता, परन्तु पीड़िन के समय उसके चेहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्श करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनामृतमा या पीड़नामृतमा (Tenderness) कहते हैं—पैदां च न चमते तत्र रजुप-लक्ष्येत्। (अष्टांगसंग्रह)। भन्यस्थानं च न सहते। (हन्तु)। यत्र च स्पर्शनामृतः, तत्र विशद्ग्रजम्। (अष्टांगहृदय, उत्तर २)। इस तरह शारीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह विना स्पर्श के होती रहती है। इस लक्षण को देवना (Pain) कहते हैं और, दूसरे प्रकार में दूजे पर प्रकट होती है। इसका पीड़नामृतमा कहते हैं। सूर्धस्थे—इसका सम्बन्ध 'रोगे' के साथ है, याने मूर्धस्य रोग का विशेषण है। यहाँ पर मूर्धस्य रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बन्द करना और शिर को धारण न करना। इसके और भी लक्षण होते हैं—अवरूजन याने धीरे धीरे असंबद्ध बोलना या मुख से आवाज करना (Low muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep)। शिरो न धारयेत—इससे सिर धारण करने का असामर्थ्य-प्रकट होता है। यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—सिर के एक तरफ गिरने से या सिर के कॉप्ने से। आगे काशपसंहिता का शिरोरोग सम्बन्ध का श्लोक देखो। नातरथ्य—भागास्थ के आसन्पास, के विकार में—मूत्रसंगृन्मूर्च्छावासादिनीवाणसङ्क्षी-हस्तपादस्तम्भकुव्यामनकेशलु तनैवर्ती गुणे च। (अष्टांगसंग्रह)। कोष्ठे—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में। 'स्थानान्यामारिनपक्वान् मूत्रस्य रुधिरस्य च। हुदुण्डकः फुक्फुसश कोष्ठ इत्यभिधीयते'। इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल 'स्थानान्यामारिनपक्वानाम्' इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ से कोष्ठशब्द का उपयोग 'स्फुदकोष्ठकूकोष्ठ' इन शब्दों में होता है—'स्फुदकोष्ठकृत्रावेण-स्त्रियस्त्वच्छोपसेवया। दिनायति कृत्वा देने तत्र सप्तरात्रेण मानवः ॥ (चरक, सूत्र १५)। सर्वत्रस्थांश्च, रोदनैः—सर्वत्र च, स्वभावातिरिक्तोदानेन् मुराविकूणः—नेन च। (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। रोदन से स्वभावातिरिक्तं रोदन समझना चाहिए। स्वभावातिरिक्त रोदन का अभिप्राय यह है कि वालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर। कुछ वालक स्वभाव से ही न रोने

में तैलपिण्ड रखने का विवाज है। पीछे २३वाँ सूत्र देखो। वचन में जब तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मरित्तकगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अतीसार, अनुवद वसन तथा अन्य चीज़ों विकारों में तालु में निझता (Depression) भी जाती है। आगे तालुकटक देखो। तालु की निझता एक गमीरतादर्शक लक्षण होता है। अतिवक्तव्यता (Frick's Rickets आगे १२वें स्तोक के वक्तव्य में देखो) नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। वहे रोगियों में नाड़ी की चीज़ता का जो मतलब होता है वही मतलब वस्त्रों में तालु की निझता का होता है। मरित्तकवरण शोथ (Measuring up) मरित्तकाकुद (Tumour) इत्यादि मरित्तक के विकारों में तालु रानाव से तुक्र और कुछ बड़त होती है। सचेत में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात बालक की चीज़ता या स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है। मरुतुलुग्राहयत—तालु का पात बालक के अतीसार, प्रवाहिका, वसन इत्यादि शरीररोत जलाश का नाश करने वाले विकारों में होता है शरीररोत जल की कमी का परिणाम मरित्तकसुपुस्त्राजल (Cerebro-spiroal fluid) की कमी में होता है। वह जल मरित्तक के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मरित्तक का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं लगता, परन्तु पृथ्वीतालुप्रदेश में हड्डी न होने से। वह निझ हो जाता है। सचेत में गंगतुलुग्राहय से 'मरुतुलुग्राहय' समझना चाहिये। बाद—तालुनिझता का अन्तरिक कारण मरित्तकजलशय है और बाद कारण बायु है। बायु से बाद बायु (वातावरण Atmosphere और दीरीरात बायु दोनों का बोय होता है (चरक का वातकलाकृतीय अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाद बायु ही कारण है। हमारे शरीर पर बाद बायु का बहुत मारी दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण उतना शान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ पोलापन या निवात (Vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर बाहर की बात दबाती है। पृथ्वीसहस्र में जब कुरुपुस भीतर से विदरुपुस पाणी हो जाता है, तब बाहर की बायु का दबाव यहाँ से पृथ्वीन्तरीय स्थान भीतर खेंसे हुए दिलाई है देखे हैं तथा बालक (हसली) के ऊपर और जीव गंडे बन जाते हैं। मरित्तकजलशय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाया बायु के दबाव से तालु दब आती है। बायावरण के पश्चात मरित्तकजलशय होने पर भी इस प्रकार की निघता भर्दो होती बद्दी कि दबने लायक रूपान ज्योपी में नहीं होता। दृष्टेन्युक्तय—जिन समय तालुपात दोता है, वह समय रोगी की स्थिति वही होती है जिसे—शरीर की कुशलता, चीज़ता, परिषयों का विलिप्तिलापन और कमेल और नदर भीतर पर्ये हुए दृष्टवामी इत्यादि। शरीररोत जलाश का नाश जिन दोगों

में अधिक होता है, उन दोगों में तालुपात होता है। अर्थात् जलाश की पूर्ण बरसे के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मात्र होती है। मधुरके शून्य-मधुरगण में बलकारक, जीवनीय विवरणीय (सूधत्यान के इन्हें अध्याय का २४वाँ सूत्र देखो) होती है। गान्धार ब्रह्म—शीतल जल का प्रयोग दीन, चीज़ बालक को होशियार करने के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है। इसका उत्थोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है। परिनामापिता नाभि सहजा हृषिङ्गस्थिताप। मारुत्तन्धैः प्रशमयेत् स्नेहस्त्रेदोपतानै ॥ ४५ ॥

। (नाभितुष्ठिदि) बायु के बारण पूछी हुई पीढ़ी युक्त त्रुष्ठित नामक नाभि को बायुनाशक स्पेद, इनहे और उपतान हो से शान्त करे ॥ ४६ ॥

। वस्थ्य—नाहीकलपन की विधि 'पीछे ११वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में भली भावि वर्णन की गई है। उस समय सूत्र, कैंचि), वज्र इत्यादि की सफाई में लापराही करने से गंगतुलुक नाड़ी दूरित होती है। कभी कभी यह दोष नाड़ी के द्वारा बहर और रक्त में प्रवेश करके कामला, जर, घमन, प्रवाहिका और चीवायुग्रमयता उत्पन्न करके बालक का नाश करता है। इसलिए, नाहीकलपन के सब साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिए। परन्तु प्राय दोष हन्ती दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है और नाभिपाक (Omphalitis) उत्पन्न होता है। नाभितुष्ठिदि उत्पन्न होने से एवं प्राय नाभिपाक होता है। इसलिए चरक और आर्टिगसेन्ह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया गया है—उदय, वैषामि पृथ्वेत ती लोग्नपुष्किप्रद्युम्नदार इदिकलत्तिदेन तैतीनाम्बज्ञात एवदेव तैलैशनां चूलनाद पृथ्वेत। (चरक, शा० १०) । नाभि का पाक होने से नाभि अधिक कमजोर होती है। इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रवासा (निदान १३-१४) और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उद्वरगत भार वड जाने से आन्त का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि घ्यावित होती है। इस अवस्था को नाभित अन्तर्मृदि (Umbilical hernia) कहते हैं। दिना नाभिपाक के भी मलावरोधादि कारण अधक बाल तक जारी रहें तो वह विकार हो जाता है यद्योऽकि नाभि का इयां उदयाचीर क अम्य स्थानों की अपेक्षा स्वामावत कमजोर रहता है। चरकसहित में नाभि के चार विकार दिये हैं—प्रस्त्रयदृप्ते हि नाभ्या आयाम याया मोत्तु ग्रन्तिपिण्डिनिमित्तिविभिन्नावापित्तो मयरू। इस के ऊपर चक्रपाणिदृप्त लिखते हैं—प्रायामो देव्यं प्रायामो विस्तार, साम्यामुत्तिविना आयाम यायामो विद्वा, दीपीनस शुद्धेन्दृप्तः। विश्विता, परिमालयुगा, विनिर्मिता अन्तोद्यूला गतविनामा। विश्विता तु मुदुमुदुविनामी। मुदुमुदुविनामि नाभीपातालवापित्ते तथा याम चायामचायामोत्तिविद्वादिकलत्तिप्रवारक से दोयो तु य स उत्तमित्यरात्रै दद। ये चार विकार वस्त्रत में चार वस्त्रत विनाम होकर एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नाभित आन्तमृदि। मुमुक्षु की त्रुष्ठि चरक की आयामस्थायामो त्रुष्ठिवा है। विश्विता में नाभि हमेशा ६ लिए उभरी

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय वालक रोता है या भल व्याग करता है, उस समय उद्दरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है। वाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए पूली हुई रहती है। इस नाभि में छुदान्त्र का कुछ हिस्सा आता है। वालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का शायाम व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की सोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है। योदरवदोपनाहने—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहों बहले लेपं दस्तों नर्मदिभिरुद्धरण अधिष्ठुत्त्वयगस्य वर्णनम् । (चक्रपाणिदल, चरक, सूत्र ० १४)। आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाह को नाभिपट (Umbilical belt) कह सकते हैं। हृसके वालावा मलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए।

उत्तरं पाके तु गत्ताना पित्तभीं कारयेत् क्रियाम् ॥ ४७ ॥ ३३
रसाञ्जनं चिशेषण पात्तालेपनयोर्हितम् ॥ ४७ ॥ ३३

(गुदपाक—) वालकों के गुदपाक (नामक रोग) में वित्तनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषतः रसोत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥ ३३

वक्तव्य—गदपात—छुद्रोगनिदान (श्वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुद करके वालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और इच्छण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुद और गुदपाक में क्यों भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निश्च कारणों से ये दोनों रोग एक मालम होते हैं—(१) दोनों रोग वालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वांगमटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तव्य चिकित्सा होती है, वैसी पित्तव्य चिकित्सा गुदकुद में भी होती है—नवं च पित्तव्यजिज्ज्यते गुदकुदं। (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिपूतन चिकित्सा की ओषधियों में रसाजन भी एक है—योनवृत्तिकलारसज्जनिपाचनम्। पीतं घृनं नायवति कृच्छ्रमायपुननाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन दब्यों में रसाजन विशेषतः हितकर होता है, इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्थ से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग वालकों का होने के कारण यहाँ पर वालकों के रोगों में संलेप में उसका सुन्न वर्ताया गया है। रसाजन—दारहरिदा के काथ से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है।

वालकों के रोग—वालयनवरथा में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संलेप में दिया जाता है—(१) महापद्म—विसर्पस्तु शिशोः प्राणानाशनो वस्तिशीर्पजः। पैद्यवर्णो महापद्मनाशा दोषवृत्ती ज्वरः। शोषाभ्यां हृदयं व्यायाति हृदयाद्वादुर्द्रव्यं वृजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसके नवजात विसर्प (Erysipelas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरथ शोष ऐदा करता है। इसी उपद्रव

से यह रोग ग्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश दृतज विसर्प में (निदान ३०) होता है। (२) दन्तशब्द—रुदाशिनो वातिकरय चालयत्वनितः सिरोः। इन्वाश्रयः प्रसुमस्य दन्तैः शब्दान् करोत्वतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महाव रोग नहीं है। केंचुवे के कारण कद्द वार यह लक्षण हुआ करता है। (३) तालुकट्टा—तालुमासे कफः कुद्दः कुरते तालुक्ष प्रकार् । तेन तालुप्रदेशस्य निश्चावा मूर्धिन जायते ॥ तालुपातः स्तन द्रेपः कृच्छ्राव पानं शकुद्र द्रवं । उड़क्षिकण्ठाभ्यरुदा शीवादुभरता वसिः ॥ (अष्टांगसंग्रह)। तालुकण्टक पुकः प्रकार का मुखवापक (Stomatitis) है। वालकों की दृष्टि से दृश्यो यश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसंक—स्तन्ये प्रिदोपमिलने दुर्गन्ध्याम जलोपसर्द । विवेदमन्द्रं विच्छिद्यं फेलिं चोपवेशयते ॥ शब्दानाव्यधावर्णं मूर्धं पीतं सिंतं घनम् । व्यरारोचकरुद्धर्दिशुकोदारविजृभिकाः ॥ अष्टांगभजोऽप्सविषेपः कूजन्ते वैपथूर्मसः । ग्राणात्तिसुलुपाकाया जायेन्द्रेन्द्रपिति तं गदम् । जीरालालसकमिथाहुररथ्यं चातिदारयम् ॥ (अष्टांगहृदय)। द्वीरालालसक दूध की खरावी से होने वाली वर्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शज्ज—स्तन्ये ल्युदस्थृते रौति चोतानशावभज्यते । उदरस्तव्यता शैलं सुखस्वेदश्च शलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। वर्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में बायु (गैस) ऐदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तव्यता (कठिनता) भी जाती है। (६) च शीर्षकन्—कपातोऽपवेदे दृष्टे गर्भस्थस्यापि जायने । संवरणो नीरजः शोफस्त विद्यादुपशोर्पकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७)। उपर्यीपक को शीर्षशोर्णवुद्द (Cephal haematoma), कहते हैं। यह शोफापार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तज्वाव होने से होता है। (७) उल्वकम्—गर्भाभ्यस्तामवमनात श्वसणः कण्ठगस्य वा । संपर्काद दृष्टे दृष्टे मार्गानावृण्ते रसः ॥ बद्धस्मिन्मोर्द्वैर्गोवालोऽभिभृते । हृदयाच्चपक्षासकासञ्ज्ञित्वरातिभिः । उल्वक सहनं व्याधिमन्त्रपूर्णं च न वैदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्वक को शोषवीय आज्ञेप (Infanile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मास्तुक की विकृति होती है, जो कट प्रस्त्रि के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आज्ञेप प्रायः जन्म के पश्चात दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचुर्नसुमुविष्मूत्रः कामलार्तितः । उभयन्न निरस्ताहो नायनिनरुषिरस्यह ॥ (कोशयेपसंहिता, वेदनाध्याय)। वालकों में कामला (निश्च कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय वालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कणों की सख्ता स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कणों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (अ) पित्तवाहिनी—मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वारा में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (अ) तामिनाडी

में तैलपिचु रखने का रियाव है। पीछे शेषों सूत्र देखो। उच्चर में जब तक ताउ बन्द नहीं होती, उच्च तक उत्तरी शिथि तः स बालक के साधारण इवास्थ का, मस्तिकगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अटीमार, अनुबद्ध घमन तथा अन्य दीर्घिता-जनक गीय विकारों में तालु में निष्टता Depression) आ जाती है। आगे तालुगांठ दरतो। तालु की निष्टता एक गमीरात्मक लड्डा होता है। अस्थियकता (फैक्ट Burkets आते ५२५ फॉट के एकाश में देखो)

गमक रोग में ताँड़ की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। वहे रोगियों में नाई की चीणता का जो मतलब होता है, वही मतलब वर्षों में तालु की निष्टता का होता है। मस्तिकावरण दोष (Measuring us) मस्तिकार्युद (Tumour) इत्यादि मस्तिक के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ उच्च दीर्घी है। संघेर में, तालुपात या तालु की अन्य शिथि एक लड्डा है, जिससे बालक की विहृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात बालक की दीर्घिता या स्वास्थ दैन्य का निर्दर्शक है। मस्तुगुणपात—तालु का पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, घमन इत्यादि वारीरोत जलोन का नाश दरते वाले विकारों में होता है वारीरोत जल की कमी का परिणाम मस्तिक्सुपुण्ड्रजड़ (Cerebro-synapsal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिक के वारों और उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिक का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इत्यका वता नहीं थागता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से। वह निर हो जाता है। संघेर में 'मस्तुगुणपात' से 'मस्तुगुणलड्ड' रमझना चाहिए। वायु—सातुनिङ्गत का आत्मिक कारण मस्तिकजलदृश्य है और वायु कारण वायु है। वायु से शाया वायु (वातावरण Atmosphere और शारीरत वायु दोप दोनों का दोष होता है (चरक का आत्मकालीन अन्याय सूत्र १५)। तालु के पात में वायु वायु ही कारण है। हमारे शरीर पर वायु वायु का बहुत भी दुष्कार होने द्वारा पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दुष्कार होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण या वायु का वायु का वायु वायु ही कारण है। वायु के वायु का वायु वायु ही दुष्कार पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दुष्कार होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण या वायु का वायु का वायु वायु ही कारण है। मस्तिकजलदृश्य में वायु पुरुषों में जब वायु भीतर से विवरतुक पोला हो जाता है, तब वाहर की वायु भीतर से विवरतुक पोला हो जाता है, तब वाहर की वायु की दूवाय पड़ने से पर्याकारी श्यान भीतर चौंके हुए के दूवाय पड़ने से तथा वायु (हसली) के ऊर और जांचे विलादि होते हैं तथा वायु (हसली) के ऊर और जांचे गडे बन जाते हैं। मस्तिकजलदृश्य में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण वायु वायु के दूवाय से तालु हुय जाती है। वाहावायरा के प्रकार मस्तिकजलदृश्य होने पर भी इस प्रकार जीवन नहीं होती यहोंके दोषोंके द्वारा एक रूपाय लोपियी में नहीं होता। एक उच्चतुल्यता—विष समय साकुप्रत होता है, वस समय रोगी की शिथि वही जोपरीप होती है। जैसे—दारी ही लुशता, चींता, पशियों का

में अधिक होता है, उन रोगों में सालुपात होता है। अर्थात् जाँच की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वास्थ से ही अधिक प्यास माना होती है। मुझे 'गृष्म—मसुराग में बलकारक, जीवनीय ओवरपिर्यो (सुव्रथान के ४२३ अन्याय का ३४वाँ सूत्र देखा) होती है। (गृष्म बन्द—शीतल जल का प्रयोग दीन, दीन बालक को होतियार करने के लिए, उसको होता पर छाने के लिए होता है। इसका उपयोग अधिकतर अंधिं पर, ये ही पर किया जाता है।

दातेनामापातिन नामि सहजा त्रिपिंडसंहितात् ।

माहतम्भः प्रदामयेत् स्तेहस्वेदोपनाहनोऽ ॥ ४६ ॥

(नाभितुण्ड—) वायु के कारण वूली हुई रीढ़ा-युक्त मुटिद नामक नामि का वायुसारक स्वेद स्नेह और उपयन से दान्त करे ॥ ४६ ॥

१ वक्ष्यत्वं—तालीवृक्षपत्र की विधि 'सीधे ३३वं सूत्र में तथा उसके बहुव्याप्त में भीती भावित व्यग्र की गई है। उस समय सूत्र, कंची, बढ़व हत्यादि की सकारी में लापत्तावाही करने से ध्रुणुक नाई दूपित होती है। कभी कभी यह दोप नाई के द्वारा यहू, और उस में प्रवेश करके बासला, ऊर, घमन, प्रवाहिका और वीचालुगयता उत्पन्न करके ऊर, घमन, प्रवाहिका और वीचालुगयता उत्पन्न करने के सब बालक का नाश करता है। इत्यलिपि नाभीकरन के सब सारांश उत्पन्न द्युत काम में लाने चाहिए। परन्तु प्रायः दोप सारांश उत्पन्न द्युत काम में लाने चाहिए। इतनों दूर तक न लैकर नामि तक समित रहता है और नाभितुण्ड (Omphalitus) उत्पन्न होता है। नाभितुण्ड उत्पन्न होने से पूर्व याप नाभिपक्ष होता है। इसलिपि ऊर के अलागेस्त्रमध्य में अथेम नाभितुण्ड का डल्लेल किया गया है—इसके विवरण विषय पर देखें। १ गृष्माहुपिण्डित्युदारहतिरुपिण्डेन तैलेनाम्ब्रयात् व्याहोवेत तैलीवानां चूल्नाव चूल्नेवत् । (चरक, शास्त्र, १०)। नामि का पाक होने से नामि अधिक कमज़ोर होती है। इस वस्त्रोरी के साथ यहि बालक में मठावरोध निष्ठदप्रकारा (निदान १३-५) और रोदनाविध्य पर विकार हो से उदरगत भार बढ़ जाने से आमत्र का कुछ हिस्सा नामि के छिप में से बाहर आने लगता है और नामि प्यासित होती है। इस अवस्था के नामित आन्तर्मृदि Umbilical hernia के कमज़ोर होते हैं। दिवा नाभितुण्ड के १ भी मठावरोधादि कारण अधिक काह तक जारी रहे हो यह विकार हो जाता है क्योंकि नामि का श्यान उदरगत भार के अन्य स्थानों की जारी रखनावत कमज़ोर होता है। चरकसंहिता में नामि के चार विकार दिये हैं—अमम्बदृशेन विन व वा आशावद—मोरुण्डानापद्मित्यविनामितिविनिग्रामपेण्यो, भयग्र । ११ ऊर चरकागिदत्य लिखते हैं—अवायो दैव्य अव विलार, वायामुरुदित्य आवायाम्यायमोरुण्डात्, दैव्यम् युतेवत् । विनिग्राम परिमण्डलसुवा विनामित अम्बोद्य मन्यविनिता। विनिग्राम ही मदुमूदुदित्यमी । मुरुहवस्त्रा माहीपाण्डित्युपिण्डेन तथा वासे चायाम्यायमोरुण्डित्य दिविवरपुण्ड्राको दोपो गुप्त स उपचरित्यव दैव्यम् देव चरक विकार वायाम्य वायाम्य विकार न हो यक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नामित आन्तर्मृदि । सुमूत्र की तुण्डि चरक की आयाम्यायम्

हुई नहीं होती; परंतु जिस समय वालक रोता है या भल व्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है। वालकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में बुद्धांत्र का कुछ हिस्सा खाता है। वालक की आमुर्हृदि के साथ नाभि का आयाम व्यायाम नहीं यदता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई यदती है, जिसके कारण यह चिकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है। सेव्स्वेदोपनाहनी—गालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहों बहले लेप दर्शा निर्माणितरूप व्याप्तियुक्तस्वरूपगत्यः वंथनम् ॥ (चक्रपणिदत्त, चरक, सूत्र० १४) ॥ आयुर्निक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिष्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके अलावा मालाघोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए।

गुदपाके त्र वालानां पितन्दीं कारयेत् कियाम् ॥ ४७ ॥
स्त्राञ्जनं विशेषणं पानालेपनयोर्हितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक—) वालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पितनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषणः स्त्रोतं धीने के और आलेपन के लिए हितक होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—गुदपाक—घुदरोगनिवान् (६३० लाध्याय) में अहिष्टन या गुदकुद करके वालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और लच्छन और कहीं पर नहीं भिलते। इसलिए गुदकुद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालम होते हैं—(१) दोनों रोग वालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वाम्पदाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिष्टन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पितन्त्र चिकित्सा होती है, वैसी पितन्त्र चिकित्सा गुदकुन्द में भी होती है—मर्व च पितन्त्रुणित्यस्यते गुदकुन्द (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिष्टन चिकित्सा की ओपथियों में रसोजन भी एक है—टोल्पिनिपतलारससंबन्धिपाचनम्। पाने घूंन नाभयति कृन्दामायोपनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०) ॥ इन द्वयों में रसोजन विशेषणः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ हितीय श्लोकार्थ से किया गया है। (५) अहिष्टन की चिकित्सा आगे चिकित्सास्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग वालकों का होने के कारण यहाँ पर वालकों के रोगों में संलेप में उसका सूत्र बताया गया है। रसोजन—दारहरिदा के कारण से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है।

वालकों के रोग—वाल्याचर्या में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संलेप में दिया जाता है—(१) महापद्म—विसप्तस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्जिः ॥ पवस्तीर्जी महापद्मनामा दोपवेगोऽक्षवः ॥ शोखाम्भान्त्य दृष्ट्याति हृदयाद्वायुद्व्रिजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ॥ यहाँ विसर्प है। इसकी नवजात विसर्प (Bryosipileas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ ग्रायः नाभिः से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदराचरण शोथ पैदा करता है। इसी उपद्रव

से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश हृतज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—स्त्राणिनो वातिकर्य चालयत्यनिलः सिराः। इन्वान्नायाः प्रसुतस्य दन्तैः श्वान् वरोत्यतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महत्व का रोग नहीं है। केंचुचे के कारण कहीं यार यह लच्छन हुआ करता है। (३) ताङ्कुण्टक—ताङ्मुण्डे ककः कुदुः कुरुते ताङ्मुण्डे क्ष्वान् ॥ तेन ताङ्मुण्टदेवस्य निन्नाता मूर्धिन् जायते ॥ ताङ्मुण्डातः स्तन-द्रेपः कृच्छ्राव पानं शक्त द्रवयन् ॥ नृदक्तिकाठास्यरुजा वीवादुष्वरता वसिः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ॥ ताङ्कुण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। वालकों की दृष्टि से हृसको थथा (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये विन्देपलिने दुर्बन्ध्यानं जलोपार्थ ॥ विवृद्धमन्द्ये विन्देपलिने चोपदेशयोः ॥ शङ्खगानांच्याधार्य भूवृत्ते भूवृत्ते भूवृत्ते भूवृत्ते ॥ व्यरोधालसकमिथ्याहुर्वर्यं व्याकिदृश्यम् ॥ (अष्टांगहृदय) ॥ क्षीरालसक दूध की खरावी से होने वाली वच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea), है। (५) श्ल—स्तनं श्लस्यते रीति चोत्तान्थावद्भृते ॥ उदरस्त्वधता शैवं सुखवद्धता ज्ञानिनः ॥ (काशयपसंहिता, वेदनाध्याय) ॥ वच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करता है और उसी से उदरस्त्वधता (क्षिटिनता) आ जाती है। (६) वृशीर्वकम्—कपाले पद्मे दृष्टे गर्भस्त्वयापि जायने ॥ सवर्णो नीरजः शोफस्त विद्यादुपशीर्वकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७) ॥ उपशीर्वक को शीर्वशोणार्दुर्द (Cephal haematoma), कहते हैं। यह शोफाराश्व कपाल पर होता है और कपाल तथा वच्चों के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्वकम्—गम्भीभूम्भसामवसनात श्वर्मणः कण्ठगस्य वा ॥ सपकाद दृष्टे दुष्टे मार्गानावृणुते रसः ॥ वद्यस्तिन्तो मुण्डोद्री-गैंडोलोइभृत्ये ॥ हृदोगात्तेपवासकास्त्वद्विजरादिभिः ॥ उल्वक सहज व्याधिमन्त्रपूर्णं च न वदेव ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) ॥ उल्वक को शोधावीय आवेष (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तक की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दृवाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आवेष प्रायः जन्म के पश्चात दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हपते दो हपते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतवर्ज्ञनालमुखविष्मृतः कामलार्थितः ॥ उम्भयन्त्र निरुत्साही न्यायिनरुधिरस्त्वः ॥ (काशयपसंहिता, वेदनाध्याय) ॥ वालकों में कामला निन्दा कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय वालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कणों की सख्त्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कणों के नाया के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (ब) पित्तवाहिनी—मुखरोय—कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वारा में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (द) नाभिनाडी

वाले होते हैं। इनके बारे में जरा-सा। मी रोमा संदेहस्त्रद्द
होता है। कुछ बालक स्वभाव से अधिक रोने वाले होते हैं।
इनके बारे में जब ये उससे अधिक रोपेंगे, तब संदेह होगा।
मुखविकल्प न—मुखभाष्य (Facial expression) के फर्क
से। चेहरा शरीर का आदर्श होता है, जिसमें शारीरिक और
मानविक विकारों का प्रतिविम्ब मिलता है। शरीर या मन
में जरा-सी उत्तर-पुण्य दोनों से उसका पता लेहरे से लग
जाता है। सर्वस्थानीय—इसके पहले जो दोष धर्ण किये
गये थे, वे एकदेशीय थे। जैसे—शिरोगत, बस्तिगत, उदर-
गत इत्यादि। इसमें एकदेशीयता न होकर सर्वाङ्गतता
या सर्वशरीरव्यापकता होती है। अथोर्द संबंधस्य होयों
से पेसे रोगों का बोध होता है कि जिनमें दोष किसी एक
स्थान में सीमित है, ऐसा नहीं बताया जा सकता है। जैसे,
नदर, सर्वाङ्गवात, पाण्डु इत्यादि। सूक्ष्यस्थान के २३वें
अध्याय का ३२वा सूत्र देखो। अर्थात् इसका अभिप्राय यह
है कि बच्चे बालक स्वभाव से अधिक रोने वाले, उसके बेहदे
में कुछ फर्क पड़ जाय और स्थानिक विहृति के लियाँ कहीं
पर न दिखाई दें तो यह समझना चाहिए कि बालक उन
जैसे सर्वाङ्गीरोग से पीड़ित हुआ है।

इन इलोकों में जो बालक थोलना नहीं जानते या अपने विचार प्रकट करना नहीं समझते, उन बालकों के रोगों का मिदान छाणों और चिह्नों को देसकर कैसा करना चाहिए? इसका विवरण किया गया है। इस प्रकार का विवरण लक्षण-इद्य और अधारांशग्रह (उचर २) में भी मिलता है, परन्तु ये क्षेत्र विवरण बहुत संवेप में हैं। कार्यप्रसंहिता में इस महाव के विवरण का विवरण अधिक विस्तार से दिया गया है। अत बदसका कुछ उपयोगी ओरा नीचे दिया जाता है—गलतनाम बदसा विविधा देखेना। मादुभूता कथ कैसे जानीयाहृदया देता?। इव प्रथे भवामाप बदसो लोरकृष्णप। श्रोत्राव वेदनान्तस्त्वे वारपैरोलदेवन।। शूरा शिर रसनदवि विनीष्टवित चतुरी भरकृजपरविमानस्त्वन्य शिरोहर्व।। धौं शूद्रवि इस्ताम्या शिरो अस्त्रमे चूडम्। भरत्योरेकास्त्रवैयानीयालक्ष्यं वेदनाम्। लतालतवरमत्यर्थं इनदेवरात्मदता। पीनमुद्रिति दीर नाहाम् इवाची मुखामधे।। ललाज्ञावोर्हवकर्त्तनिं कपोले शयभूष्यं यथा द्वृक्षर्व विवृत्व च जानीयादविभिक्षाम्। मुदुनमत्तेऽद्वज्ञानं दृश्यते दासते मुदु। धारीमात्यैरेकस्त्राद् इन्द्रने नारदनि भन्दति।। प्राणादोपालवैर्यं सलाद्यावित्तवाता। अहर्च धारदो दीप्त व्यर्ते खु पूर्वेनाना।। स्वन युद्धने रीति चोजावाचाव भन्दते। उदरत्वच्चता दैत्य मुखदेवद्य शूलिन।। स्वन पितृत चाहयन न च एष्टि रोरिति। मुखीद्वातुसोपेष्टुर्देवतस्तुश्चादर्ति। रोमरौद्रात्मर्य भूक्षणे च देना।। मूरक्कले दद्योष्ट्रे वस्ति शूलिति पाणिना।। शयारातिमूल भूलक्षते च देनाता प्रउत रोरिति चामस श्वादप्रीयम्।। इष्टिमुकुता लोको शोक्षान्त्राभूतकाव।। धूतस्य योतित्पन्ते चतुरो बहुतामये।। धूत त्वाहानि भद्रने रोटीच्छकि मर्देनम्। मुक्तवृद्वर्दित विचाप्त्याकाम प्रदर्तते।। सुशाये शूस्मान शूस्मान च शूये। इन सबों सत्त्वोऽमात्मीयां दृष्टिरात्मद्। लाभी सम्भवत शोष जोतिति मर्यादन्ति।। पाणुरुद्धीरिनसादद्य रक्षुष्माचिकृतो पोषक्षुष्माचिकृतम् श्वामनार्दित। उमद्व निरसारो नामिति इवरहृद्।। मुदुम्बेनोच्चरमिति धोता धीता इन तु व

झरवो नाहिके चासू लकाठ चामितुल्पते ॥ झोडीस्तमोख लकड़
पीनसे दोति कडलो ॥ डरोपाटे लेवै ख्यालिनगुलुरासंप्रिवद् ॥
स्वरबहुचरपरो गातो न शेते दु बदा नियि ॥ रक्षिन्दुविनाश
विदाच अनुदारिवन् ॥ (वेदानाम्याय) ।

तेषु च यथामिहितं सूच्यत्वेनीयमौषव भारता
क्षीरपस्य क्षीरसर्पिणा धान्याश्च विदध्यात्, क्षीरा
आदस्यात्मनि धात्र्याश्च, अश्वादस्य कपयादोनात्म
न्नेव तु धात्र्या ॥ ४० ॥

(क्षेत्रपिण्डशान की पद्धति—) उन रोगों में सूखे तीसरा देवयाहित और यथोक्त क्षेत्रपिण्ड मायाजुसार दूध पीने वाले बालक को दूध और घृत के साथ और घासी (या माटा) को (दुरुधादि के सिंवा) सेवन करावे। दूध और असाने वाले बालक (के रोगों में उस) को तथा घासी (या माटा) को। असाने सेवन करने वाले बालक (के रोगों में उस) को ही दै, पाचारी की न दे ॥ ४० ॥

तत्र मासादृर्घं सीरपायाहुलिपर्वदयग्रह(ए)सं
मितामौयवमाका विद्ययात्, कोलास्थिसमितां कलक
मात्रा शीराजादाय, कोलसमितामाजादायेति ॥ ४ ॥

(ओपरिं मात्रा का बालक के लिए प्रमाण—) प्रक.
मास से उत्तर के दूध पीने वाले बालक के लिए थंगुलि के
दो पोरों में जितनी ओपरिं रह सके, उतनी है । दूध और
अच्छ साने वाले बालक के लिए वेर की गुरुटी के समान
कल्प (या चूर्ण) की मात्रा और अच्छ साने वाले बालक के
लिए वेर के चारवर (ओपरिं की मात्रा है) ॥ ११ ॥

वृक्ष वर्ष के बाहर ही इसे लाना चाहिए। यह दोनों वर्षों में उष्णीय तथा अमरीकी भारतीय वर्षों में लाना चाहिए। यह दोनों वर्षों में उष्णीय तथा अमरीकी भारतीय वर्षों में लाना चाहिए। यह दोनों वर्षों में उष्णीय तथा अमरीकी भारतीय वर्षों में लाना चाहिए।

इन्होंने को औषधियाँ हमेशा द्रव या लेह के स्पू में
देनी चाहिए। ऐसी या कहक वी हाइड के साथ मिलाकर
चटाना चाहिए। गोली या वटिक्स (Pills and tablets)
वर्ष्णों को कहापि न देनी चाहिए। माता या धारीयों
को औषधि देने की कठपता भी ठीक है क्योंकि इनसे
सेवन की दुई औषधि स्तरों से दूध के साथ उत्सर्जित
होती है। वर्ष्णों को असीम या असीमयुक्त औषधि न देना
ही उचित है क्योंकि उनके ऊपर असीम का बिनेश
असर बहुत जल्दी दिता है।

येषा गदानां ये योगा प्रपञ्चमते उगदक्षरा ।

तेपु तकलकसलिती पाययेत शिशुं स्तनी ॥ ४२ ॥
 (स्तनलेप से क्षोधप्रशमन करने का मार्ग—) जिन रोगों
 के जो रोगिनिवाहक योग कहे जायेंगे, उन रोगों में उन योगों
 के वर्ण ऐसा किये ४२ स्तन बालक को लिखाये ॥ ४२ ॥

क कदम से छिप किये हुए स्तन बालू का प्रतीप न हो ॥
एक द्वे श्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ।
— उल्लिखितस्याग्राम्याः ॥ ५३ ॥

स्तन्यपायादृत सापरतरम्भा यथायतः ॥ ८२ ॥
 (ज्वर में शुद्धप्रयोग—) दूध धीने काले बालक के

लिए, वातज, पित्तज और कफज ज्वर में क्रमशः एक, दो और तीन दिन पृत (कापान) अहितकर होता है। सीधाकाद तथा अस्त्राद चालकों के लिए दौसा उचित मालद्वय हो, दैसा करे ॥ ४३ ॥

धर्मात् वर्तमानं च भूत्यसंहिता में ज्वरचिकित्सा के लिप्त
प्रारंभ में उन्नन और पश्चात् सर्पिष्पान की विधि वर्तलाई गई है—यौषे रुदैर्नन्त्येषां जांगलैर्वा रसैंदितेः । इशार्दंतावदश्नीयाहवधं
ज्वराशान्त्ये ॥ अत ऊर्ध्व कक्षे गन्दे वातस्तितोत्तरे ज्वरे । परिष्पैषु
दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽग्निग्रन्थम् ॥ निर्देशाद्यमपि शात्वा कफोत्तरग्र-
द्वितम् ॥ न सिः पाययेद्दैतः कपायैश्वसुपानरेत् । (चिकित्सा ३) ।
इस विधि का उपयोग तीनों प्रकार के वाल्कों में किस
प्रकार करना चाहिए, इसका विवरण् ॥ इस श्लोक में है—
स्त्रीरप वाल्कों के लिए नियम स्पष्ट है । इवराम्यां यथार्थतः—
इसका अभिप्राय यह है कि स्त्रीराजाद् और अज्ञाद् वाल्कों
के लिए वातज्वर के लिए एक दिन से अधिक, पित्तज्वर
के लिए दो दिन से अधिक और कफज्वर के लिए तीन
दिन से अधिक जितने दिन उचित समझे, उतने दिन उनको
धी न दे, उसके पश्चात् दे । यथार्थतः इति निवृत्यपरपायो-
यमर्थशब्दो यथा मशकार्थो ध्रुम इति । तथा च अर्थम्—‘निर्देशाद्यम-
पि शात्वा कफोत्तरमलंघितम् । न सिः पाययेद्’ इत्युक्तं ज्वर-
प्रतिषेध वद्यमाणं च प्रतिषेधमनविकल्प्य इवराम्यामशादस्त्रीराजान-
दश्यान्तु सर्पिदिर्हितमुपदिशेदित्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । इवराम्यां
स्त्रीराजादशादराम्यां, यथार्थतः यथाप्रयोजनतः, हिंतं सर्पिरित्यर्थः ।
(दलहण) ।

न च त्रृष्णाभयादत्र पाययेत् शिशुं स्तनौ ।

(ज्वर में स्तनपान—) ज्वर में शृणा के भय से शिशु को स्तन न पिलावे।

वक्तव्य—ज्वर के प्रारम्भ में लंघन करने की या कराने की विधि होती है—जरे लंघनप्रयादादुपटिष्ठम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। पिछले श्लोक में ज्वर में सर्पिण्यान की विधि वर्ताई गई है। इस श्लोकार्थ में लंघन की विधि पर्याय से वर्ताई गई है। तृष्णामयाद्—स्तन्यतृष्णामयाद्, अस्याहार-भयादित्यर्थः। स्वस्यावस्था में वालक जितना दूध पीता है, उतना ही दूध वह ज्वरितवस्था में भी पी सकता है क्योंकि स्तनों के साथ मुख का संबंध होने पर दूध पीना हृतनी ही बात उस समय वह समझता है। ऐसी अवस्था में अगर उसको नित्य के समान स्तनपान कराया जाय तो अजीर्ण होने का ढर रहता है। इसलिए ज्वर के प्रारंभिक दिनों में स्तनपान न कराना ही प्रशस्त मार्ग है। परन्तु लंघन के हृत दिनों में वालक को उवाला हुआ पानी, जैसे कि औरों को दिया जाता है, देना चाहिए—नृव्यते—सलिलं चोषणं दद्यादाकरज्वरे। दीपनं पाचनं चैव व्वरप्रमुखयं हि तत्। चोत्सां शोधनं वल्यं रुचिवेदकरं शिवम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। लहूनालिकाले एव अवस्थाविशेषे देवं जलमाह—नृव्यत इत्यादि (चक्रपणिदत्त)। शिशु को पानी देने में आपत्ति न करनी चाहिए।

(चक्रपाणिदत्त) । शिष्य को पानी देने में आपत्ति न करने चाहिए । पानी किस प्रकार का देना चाहिए, इसके संबंध में कार्यपालिता में लिखा है—उप्योदकं शिशोः । रक्तपित्तामयता त्यजत्वा प्रायो वातकफातमके । रोगे शिषुर्वा धात्री वा गुरुर्वाणी वौषणी पिवेत् । कच्छिद्रेवविशेषेण तपशीतं हितं बहु ॥ (पानीयगुणविद्याय) । यदि व्यक्ति स्वस्थ हो, तो उचित विशेषायाम् ।

पर कुछ दिनों तक लंघन सह सहता है। यदि बालक दुर्बल हो तो उसके लिये लंघन कराना टीक नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'न' का शर्ध थल्प करके उसको थोड़ा स्तन-पान कराना चाहिए। बालक के लंघन के संबंध में रायर्ड हचीसन का निम्न वचन महत्व का है— Babies will stand the complete withdrawal of all nourishment for two or three, or even more days without any disadvantage, and, indeed, often with great benefit, provided always that you fulfil two conditions. The first of these is that child is kept warm. And the second condition is that water must on no account be withheld. That may take the form of boiled water. *Lectures on diseases of children*, इसके ऊपर द्वारायचन्द्र लिखते हैं—न जैति प्रतिषेषोऽयग्नीर्णशङ्कयेति गम्यते, अतो यावदासावाशङ्का बुद्धिमपितृष्ठिता वावदल्पसर्वं पाययेदेव, उपस्थितयाच्च तस्यामाशङ्कायां नामयाऽन्तरात्म्वरा यथास्वीपरिषिद्धं जलमेव पाययेदित्युपदिश्नन्याचार्याः॥ आगे ५० वें स्लोक के वक्तव्य में 'लंघनात्' देखो।

विरेकवास्तवमनान्युते कुर्योच्च नात्ययात् ॥ ४४ ॥

(विरेचनादि के उपयोग का निर्देश—) आत्यधिक अवस्था के अलावा विरेचन, यस्ति और वमन न कराना चाहिए ॥ ४४ ॥

बद्धव्य—अत्यधारो—अत्यन्त आवश्यकता जिसमें हो,
ऐसी अवस्था या व्याधि। वालकों में इनका पूर्ण निपेक्ष
नहीं होता। वालकों के रोगों की चिकित्सा के कुछ तत्त्व,
जो अष्टांगसंग्रह में दिये हैं, नीचे दिये जाते हैं—ज एव दोपा
दूर्याथ उत्तराधा व्याधयथ यत्। अतस्तदेव भैपद्यं सात्रा तत्त्व
कनीयसी ॥ सौकुमार्यालिपकायत्तात्सर्वान्नामुपसेवनात् ॥ सिंगा-
एव सदा बाला धृत्वक्षीरनिपेक्षवणात् । सधस्तान् वसनं तस्मात्पायन-
येन्मतिमान् शुद्ध ॥ स्वन्यत्य तुम्ह सं वसयेत् चौक्षीरात्रेविनिम् ।
पीतवन्तं तनुं पेयामन्नादं धृत्वसंयुताम् ॥ वस्ति साध्ये विरेकेण
मर्शेन प्रविमशनम् । युञ्ज्याद्विरेचनादीस्तु धात्र्या एव यथेदिवान् ॥
(अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) ।

अब इसके बाद वाल्कों के कुछ रोग वर्णन किये जाते हैं—
मस्तुलुक्त्याद्यस्य वायुस्तालवस्थि नामयेत् ।
तस्य तद्वैश्यज्ञक्या स्पीण्डिभ्रष्टैः शब्दा ।

तस्य तुड्डम्बयुतस्य सापमनुरकः इतम् ।
पानम्यज्ञनयोर्यज्ञं शीताम्बवेजनं वधा ॥ ४५ ॥

(बाल्पात्र—) मस्तिष्क के घाय के कारण वाय जिन

(राजुनाथ) नजुक्त के दूष के कारण वायु जिस (शिशु) की ताल (प्रदेश) की हड्डी को दबाता है, उस वृपा और दीनता से युक्त वालक को मधुरगण की ओषधियों से सिद्ध घी का पान और अभ्यंग कराना चाहिए और उन्हें जल से उसको उद्भेजित करना चाहिए ॥ ४५ ॥

वक्त्रन्ध—ग्रावरेश नामवत्—मस्तक की खोपड़ी में
दो तालुएँ होती हैं—पूर्व (Anterior fontanelle) और
पश्चिम (Posterior fontanelle)। इनमें पीछे की तालु
जन्म के पश्चात शीघ्र बन्द हो जाती है। पूर्वतालु स्वस्थ बालक
में देह साल की उम्र में बन्द हो जाती है। अर्थात् देह साल
हिक हाङ्ग प्रक्रिया में ही नार्थी होती है। बालक के द्वितीय वयस्ति

में तैलपिण्डि रखने का विवाज है। पीछे २३वाँ सूत्र देखो वचन में बन तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्थानस्थ का, मस्तिष्कपर विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रेवाइटिका, अतीसार, अनुवृद्ध घमन संथा अन्य श्रीणित जनक तीव्र विकारों में तालु में निःस्त्रा Depression भी जाती है। आगे तालुकंठ देखो। तालु की निःस्त्रा एक गमीरतादर्शक लघुण होता है। अस्थिवक्रत (इफ Rickets लागे १२वें श्लोक के वक्तव्य में देखो)

नामक रोग में तातु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। यह रोटियों में नाशी की शीणता का जो भतलव होता है वही भतलव खचों में तातु की निहता का होता है मस्तिष्कवरण सोय (Meningitis) मस्तिष्कादुंड (Tumour-इक्यादि मस्तिष्क के विकारों में तातु तनाव से थुक और कुछ उड़त होती है। सधेप में, सालुपात या तातु की अन्य स्थिति पक्के लड्ज है, जिससे बालक की विहृत का कुछ पथा चल जाता है। तातुपात बालक की शीणता या स्वास्थ्य दैन्य का निर्दर्शक है। मस्तुर्गशयाव-तातु का पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, बमन इत्यरित शारीरगत जलीय का नाश करने वाले विकारों में होता है। शारीरगत जल की दमी का परिणाम मस्तिष्कसुखावल (Cerebro-spinal fluid) की दमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के घारों और उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी दमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्यानों पर कठिन हाइर्डो होने से इसका पता नहीं लगता, परन्तु घृंतालुपदेश में हाई न होने से वह निझ हो जाता है। सधेप में रात्यार्गत्य से "मस्तुर्गशयाव" समझना चाहिए। वात-तातुनिहता का अन्तर्दिक कारण मस्तिष्कजलबय है और बायां कारण यातु है। तातु से शाया वातु (बायांकरण *Atmosphere* और शारीरगत यातु दोनों का बोध होता है) (चरक का यातकलाकलीय प्रचारय सूत्र १५)। तातु के पात में बाया वातु ही दारण है। हमरे शरीर पर बाया वातु का बहुत भीतर दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उठाना ही दबाव होने के कारण दबाव पड़ता है, ही के समान कठिन बायांकरण होने के कारण उसका जान हमें नहीं होता। शरीर में जर्जों पर कुछ बाहर की यातु दराती है। तुरुस्तशय में जब तुरुस्त भीतर से रिकर्युक देटा हा आता है, तब बाहर की वातु दबाव पहने से पर्यावानतारीय रूपान भीतर धैर्ये हुए लालाते हैं तथा अलूक (हस्ती) के ऊपर और नीचे लालाते हैं बद जाते हैं। मस्तिष्कजलबय में बालकों की हातु में हाई न होने के कारण बाया वातु के दबाव से तातु दब लगती है। बायांकरण के बाया मस्तिष्कजलबय होने पर इस बढ़ाव की निहता नहीं होती बर्तीक दबने कारण बाया वात स्पैष्टी में रही होता। तुरुस्त-मुखबय-जिन समय बायुतान होता है, तब नमस्ते रोगी की दिपति वही सोचती रहती है। जैसे-शारीरकी इकाता, चीणता, परियों का अकिनारण, जिने क्षेत्र भी उद्ध भीतर धैर्ये हुए रुक्षाती हुआ रहती है। शरीरगत बड़ीयों का आता जिन दोनों

में अधिक होता है, उन रोगों में लालूपात होता है। अर्थात् जलेश की पूर्ति करने के लिए यानक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मादम होती है। मधुरके ग्रन्थ-मधुरग्रन्थ में बलकारक, जीवनीय औषधियों (सूखरसान के छहवें अन्धाय का २४वाँ सूख देखा) होती है। दीपामृत-बल-जीतल जल का प्रयोग दीर्घ, धीरण यानक को होशियर करने के लिए, उसके होश पर लाने के लिए होता है। इसका उपयोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है।

पतिनाध्मापिता नाभि सहजां दृष्टिसंश्वितार ।
माहतच्छैः प्रशामयेत् स्नेहस्त्रेदोपनाहनो ॥ ४६ ॥

(नाभिरुद्धि) 'वायु के कारण पूली हुई, पीड़ा-युक्त रुद्धि नामक भावि को 'धारुनाशक खेद', 'स्लेष' और उपनाह से शान्त करे ॥ ४३ ॥'

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय वालक रोता है या मल व्याग करता है, उस समय उदरगत भार घटने के कारण पूलती है। वाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में चुच्छांत्र का कुछ हिस्सा आता है। वालक की आयुर्वेदिके साथ नाभि का शायाम व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई घटती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे धाप ठीक हो जाता है। खोरखेदोषनाहीन—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाह वहतं लेपं दद्धा त्रिमिदिभादृत्य त्यापित्युत्त्यांगस्य वंथनम् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र १४)। आधुनिक वरिभाषों के अनुसार नाभि के उपनाह को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके धातावा भलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए। (३) नाभिपट्ट विशेषण उपनाह वंथनम् ॥ (४) गुडपाके तथा लालाना पिनझों कारणेत् कियाम् ॥ (५) रसाञ्जन विशेषण पानलेपनयोहितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक) वालकों के गुदपाक (नामक रोग) में वित्तनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषतः रसोत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—नामपाक—घुद्रोरगनिदान । (श्व॑ अथाय) में अहिपृतन या गुदकुट करके वालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और उच्चण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुट और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालम होते हैं—(१) दोनों रोग वालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वामभट्टाचार्य अद्यांगहृदय और संग्रह में अहिपृतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तव्य चिकित्सा होती है—नवं च पित्तव्यगिन्युरस्तो गुदकुटक (अद्यांगसंग्रह)। (४) अहिपृतन चिकित्सा की ओपधियों में रसाञ्जन भी एक है—योनपत्रत्रिफलारसाजनविपाचनम्। पीम धृत नाश्रयति कवचम् वृत्तनम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन द्वच्यों में रसाञ्जन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय शोकार्ध से किया गया है। (५) अहिपृतन की चिकित्सा आगे चिकित्सा स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग वालकों का होने के कारण यहाँ पर वालकों के रोगों में सचेष में उसका सूत्र वर्ताया गया है। रसाञ्जन—दारहरिदा के काथ से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है।

वालकों के रोग—वाल्यावस्या में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर सचेष में दिया जाता है—(१) महापचं—विसर्पतु शिशों प्राणनाशनो वस्तिशोर्पंजः। पवधर्णो महापचनामा दोषव्यो द्रवदः। शोखाभ्यो दृश्योति हृदयादा चुर्व व्रेत् ॥ (अद्यांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसको नवजात विसर्प (Erysipelas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाढी डें से उदरगुहा में प्रवेश करके उदराचरण शोध पैदा करता है। इसी उपद्रव

से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश चतुर्ज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—रूद्वाशिनो वातिवात्य चालयत्पनिलः सिराः। इन्वास्या: प्रसुपस्य दन्तैः शृद्वान् वरोत्यवः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेषण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महत्व का रोग नहीं है। केंचुचे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है। (३) ताकुणाट्क—ताकुमासौंस कफः कृदः कुदते ताकुम् प्रकारात् । तेन ताकुमप्रदेशस्य निन्द्रावा मूर्धिन् जायते ॥ ताकुपातः स्तनदेपः कृच्याय पानं शकुद्रवर्स् । ताकुमिकाणास्यरुजा शीघ्रादुर्धरता वर्तमः ॥ (अद्यांगसंग्रह)। ताकुमकण्टक पूकः प्रकार का सुखपाक (Stomatitis) है। वालकों की दृष्टि से इसको थथा (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तनन्ये प्रिदोपमलिने दुर्गन्धयामं जलोपमम् । विद्धदेवच्छङ्गं विच्छिन्नं केनिलं चोपेवशते ॥ शकुनानव्यधारण्य मूर्ध॑ पीतं सिरं स्थनम् । ज्वरारोचकतृद्विदुषुप्तोद्विविन्मिकाः ॥ अप्यमङ्गोऽज्ञविवेषः कूजनं वेष्पुर्मः । धायाचिसुखपाकाया वायन्तेऽन्येऽपि तं गदम् । क्षीरालसकमिभ्यादुर्त्ययं चातिदारुणम् ॥ (अद्यांगहृदय)। त्वारालसक दूध की खारानी से होने वाली वच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शूल—स्तनन्ये ल्युद्यस्यते रौति चोत्तानथावभज्यते । उदरस्त्वयता शैव्य सुदूरवेदश्च शलिनः ॥ (काशयपसंहिता, वेदनाध्याय)। वच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्त्वयता (कठिनता) आ जाती है। (६) उशीर्वक्त्वं—कपाले पैदा हो गर्भस्यत्यापि जायते । सवर्णो नीरुः शोफस्त विद्युदपशीर्पकम् ॥ (अद्यांगसंग्रह, उत्तर २७)। उपशीर्पक को शीर्पदोणार्खुदं (Cephal haematoma), कहते हैं। यह शोफपार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा व्यक्ति के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्वक्त्वं—गर्भमभ्यसामवमनात क्षमणः कण्ठार्थ्यता । संपर्काद हृदये दुष्टे मार्गानावणुते रसः ॥ वद्यसुष्टिन्तो मुण्डोद्रौ गैर्यांलोऽभिभृते । हृदोगाक्षेपकशासकासच्च दिवरांदिभिः । उल्वक्त्वं उल्वज्वायाधिमन्त्रुरूपं च न वदते ॥ (अद्यांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्वक्त्वं को शोशाचाय आचेप (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दवाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आचेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हप्ते दो हप्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतव्युत्त्वान्वयुविष्णूः कामलादितः । उभयन्त्रं निरुत्साधो नाथिनरसिरूपः ॥ (काशयपसंहिता, वेदनाध्याय)। वालकों में कामला निःश्वास कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय वालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कर्णों की सम्बन्धी स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कर्णों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (ब) पित्तवाहिनी-मुखयोथ—कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वारा में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (द) जामिनाढी

के दूषित होने से—नाड़ी कारण में सफाई का व्याप न रखने से कभी कभी पूर्णगत जीवाणु उसमें प्रवेश करके बसी के द्वारा सीधे यहूत में प्रवेश करते हैं। यह कामला व्यसाध्य होती है। इसमें जर भी होता है। (५) सदब्यग्न—कभी कभी चिकित्साहिनियों की टीक धूधि न होने से कामला होती है। यह रोग भी व्यसाध्य होता है। (६) सदब्यग्न हिंगबन्द—मातापिता फिर्ग 'पीड़ित होने पर यह रोग बालक में भी चला जाता है। उसको सहज फिर्ग (Congenital syphilis) कहते हैं। इसके कारण भी कभी कभी कामला होती है। इसमें बालक में सहज फिर्ग के अन्य लक्षण दिखाई देते हैं। (७) कुलज कामला (Familial Jaundice)—इसमें जानवान में कई बालक कामला से पीड़ित होते हैं। इसका कारण माता की तियामयता (Toxaemia) मानी जाती है। यह रोग जन्म के पश्चात् कुछ घंटों में प्रारम्भ होता है और कुछ दिनों में बालक की मृत्यु हो जाती है। (८) फक या अचिकवता (Rickets)—इसका वर्णन आगे १२ वें श्वेत के वक्षभूत के अन्त में किया गया है।

‘क्षीरहारय संपिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामां-सीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाद्वादीपिष्पलोहरिद्वा। कुपुसैव्यधसिद्धम् क्षीरज्ञादाय मधुकवचापिष्पलीचिं प्रक्रियफलासिद्धम्, अग्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतग रमद्रदावरमिचमधुकविङ्गद्रावाद्विग्राहीसिद्धम्, तेनारोग्यवलम्बेयार्थुपि रिशोर्भवनित ॥ भन ॥ - - ।

(स्वास्थ्यवक्ष शृत—) दूध पीने वाले बालक को सिद्धार्थक (गौरसर्वं), वचा, जटामाली, धीरकाकोडी, लपामार्ग, शतावरी, अनन्तमूल, माझी, पिष्पली, हल्दी, कुछ और सैन्धव इनसे सिद्ध किया हुआ पूर्ण रिकावे। दूध और अज्ज खाने वाले को मुलहीठी, वचा, पिष्पली, चिक्रक और त्रिलोडा से सिद्ध (पूर्ण रिकावे)। अध्यसेवन करने वाले को दोनों पद्ममूल, चीर, तगर, देवदार, काढी मरिच, मुलहीठी, वायविडग, मुनवका और दो प्रकार की माझी इनसे सिद्ध (पूर्ण रिकावे)। इस (माझी के अनुसार वायाए युए विशिष्ट शृत के सेवन) से बालक के स्वास्थ्य, बल, खुदी और भाषा (की धूधि) होती है। ॥ ४८ ॥

धूमध्य—द्विपञ्चनू—दसमूल, लुपुपमूल और शुद्धपश्चमूल। द्विपञ्चो—काढी और मन्दूकरण, अथवा ‘मागा’ मादी नाम शाकबैति द्विपञ्चो। (दारानगचन्द्र)।

यालुं तुनर्गाम्यसुख्यं गृह्णोयात्, न वैत तर्जयेत्, सहसा न प्रतिवेष्येद्वित्रासमयात्, सहसा नाप धूरेद्वित्येष्टा धातादिविधातभयात्, नोपेष्येत् कोञ्जयमयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत् प्रियशत्तरजिज्ञासुः; पघमनमिहत्तमनास्त्वयिभवधैते नित्यमुद्ग्रस्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनास्य भवति। धातातपविद्युत्प्रभा पादपलतायुम्यागाननिष्ठस्यानप्रहृच्छायादिभ्यो तुर्म-होपसंगतश्च धात रक्षेत् ॥ ४९ ॥

माझीचू चिक्रजेद्वालं नाकारो विषमे न च।

नोपमामालवर्येतु रजोमोदेषेतु च ॥ ५० ॥

(पिष्पलान—) बालक को (हमेता) विसेसे

उसके शरीर को सुख हो, उस तरह से रहते। उसको लिंगके नहीं। दर उत्पन्न होने के दर से उसे अचानक न जागावे। धातादि (धोयों) का प्रकोप होने के दर से उसे अचानक (दूररे के पास से) न लौंच के अथवा ढौंचा भी न उदाले। कुबहा होने के दर से उसे (जलवी) न लैठावे और (बालक के स्वास्थ्य का) नाश करने की धूखा न करने वाला प्रतिदिन सैकड़ों ग्रियकर धातों से उसका अनुनय करे। इस प्रकार (बालक के साथ बरताव रखने से) वह लप्रतिदृश्वचित्त रहकर दिन प्रति दिन धूधि को प्राप्त होता है और उच्छृंख सवासपञ्च, स्वस्थ साथा प्रसरणमन भी होता है। बालक को जोर से बहने वाली वायु (आंशी), (कढ़ी) धूप, विग्नी की चमक, वृक्ष, छता, शृंगार, (कृप, गडे इत्यादि) गहरे स्थान, माझों की लाया तथा दुख माझों के उपरसर्ग से बचावे। ॥ ५१ ॥ बालक को मंडी जगह पर, आकाश में, ऊंची नीची जगह पर, धूप, धौंची, वर्चा, धूल, खुझी, पानी (इनसे युक्त स्थानों में) न लोडे। ॥ ५२ ॥ बक्षध्य—गामधुग—बालक के शरीर के अंग प्राप्तया बहुत ही कोमल और कमजोर होते हैं। अत बालक को पकड़ते समय या उठाते समय बद्रदस्ती, कदाई या लापरवाही करने से उसकी हड्डियाँ टूट सकती हैं, जोक विरलेपित हो सकते हैं, ये शियां विद्यर्ण हो सकती हैं और नादियाँ शातित (Paralysed) हो सकती हैं। इसी के परिणाम स्वरूप में आगे चलकर हड्डियों का पय (Bone T. B.) या अग्राभाव (लेसे, Musculo spinal nerve paralysis) होता है। कई बार भासातंडे मोष में बालक को उसके पक धाप को पकड़कर उठाती हैं या लंबीकर ले जाती हैं। बालक के ऊपर क्रोध करने की यह प्रदृशि बरतावक है। इससे कभी कभी उपर्युक्त विकार उपलभ्य होकर बालक की जिन्दायी लंबात हो सकती है। माता या बालक के पालन के लिए रखने हुए किसी मनुष्य के लिए यह कर्म अनुचित है। इस प्रकार का बरताव अधिकर अज्ञान के कारण किया जाता है। माता को अगर इसका परिणाम बताया जाय तो उससे ऐसा निष्ठ बरताव नहीं होगा। नौकरों से इस प्रकार का बरताव अज्ञान की अपेक्षा अवालस्थ और लापरवाही के कारण होता है। उन्हें माता के समान पक बार बतलाये से काम नहीं हो सकता के साथ कराई, से काम लेना पड़ता है। ॥ ५३ ॥ तजयेत्—जब बालक बहुत रोता है या खाता नहीं अन्य प्रकार से दिक करता है, तब उसको युप करने के लिए भूतप्रेतिविशाचादि के नाम का या चोर, दाह, व्याघ, रि इत्यादि का डू दिलाना यह एक यहूत साधारण व्यवह अत्यधि प्राचीन काल से अत तक दिखाई होता है। परंतु इस प्रकार न करना चाहिये—न इत्य विशासनं साधु। दस तत्स्वीरं रसयुग्माने वायव्र विषेतामगच्छति राधप्रिशान् पूतनाधानी नामनवधाना कुमारस्य विशासनार्था नामधारण यत्वा द्वारा। (चरक, शा० १०)। विशासमयात्, वायावि विशासमयाद—इनका अधितार्थ निः तप्त तप्त पर निर्मत है मनुष्य और मनुष्यतेर प्राणियों में एक बात को लोडक सभी वातों में समता होती है और यह बात है शाम—बाहरनिद्राप्रभावमेधुन य सामान्यतेषु रपुभिन्नताम्। शाम-

तेपामधिको विशेषो ज्ञानेन दीनाः पशुभिः समानाः ॥ पशुओं में भी कुछ ज्ञान होता है, और उसकी विशेषता यह है कि वह जन्म के समय में भी होता है और उतना ही मृत्यु तक रहता है। मनुष्य में जन्म के समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता और मृत्यु के समय तक उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। अर्थात् जन्म के समय मनुष्य और पशु की तुलना की जाय तो पशु कहीं दर्जे मनुष्य से अधिक ज्ञानी होता है परंतु उसके पश्चात् देखा जाय तो पशु पशु ही रहता है और मनुष्य मनुष्य ही जाता है। इसका कारण यह है कि पशुओं का ज्ञान सहज और मनुष्यों का विकास नशील होता है। इस ज्ञान का स्थान मस्तिष्क के सब से ऊपर के हिस्से (Cortex of the brain) में होता है। इस भाग में कई नालियाँ और कई उभार होते हैं, जिनमें ज्ञानप्राप्ति के अनेक केन्द्र और उन केन्द्रों को जोड़ने वाले तार होते हैं। शारीरिक हाइ से विचार किया जाय तो मनुष्येतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में यही मस्तिष्क का भाग अधिक होता है। मनुष्यों में यही मस्तिष्क का भाग अधिक होता है। संपूर्ण शरीर के कार्यों का नियन्त्रण मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्कगत केन्द्रों और तस्वीरित तारों के कार्यों का विकास वाल्य परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार इत्यादि पर निर्भर होता है। वचन में अगर किसी वात के लिए डर पैदा किया जाय तो आगे चलकर उस वात का डर निकल जाने पर भी उसमें दरपोक्खृत्ति, चितवैकृत्य उत्पन्न होता है। संत्रैप में वचन में वालक के साथ कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए, जिससे कि उसके कोमल अविकसित मस्तिष्क पर अचानक जोर से प्रतिक्रिया हो। मस्तिष्क के ऊपर प्रतिक्रिया होने के साधन पंचज्ञानद्रियाँ हैं। हनके अर्थों में अचानक तीव्र भेद उत्पन्न होने से वालक के मस्तिष्क के ऊपर दुरा असर होता है और वह स्थायी बन जाता है। इसलिए, वालक को अचानक जगाना, ऊपर फेंकना, नीचे गिराना, भास्वर रूपों को दिखाना, इत्यादि कर्म न करने चाहिए। इनसे वालक के मस्तिष्क के विकास में कुछ खराढ़ी हो जाती है। नोपवेशयेत् कौञ्जभयात्— वालक का पृष्ठवंश जब तक काफी मजबूत नहीं हुआ है, तब तक उसको जबर्दस्ती बैठाना उचित नहीं है। पृष्ठवंश कमजोर होने पर बैठाने से वह वक्त हो जाता है। यह एक उपलक्षण समझकर चलाने के बारे में भी इस सूत्र का उपयोग कर सकते हैं। जैसे, जब तक वालक के पैरों में शक्ति नहीं आती, तब तक उसको जबर्दस्ती पैरों पर न चलाना चाहिए, वरना तलुवे सपाट (Flat foot) होने का डर रहता है। अद्यांगसंग्रह में पाँचवें महीने में वालक को बैठाने के लिए लिखा है—प्रभ्रमे मासि पुष्टेऽद्धि धरण्यासुपेशयेत्। स्वाहेति मन्त्रेणानेन प्रत्यर्हं च ततः परम्। सांश्रयं सावलम्बं च कटधारीन् मर्येदन्॥ (उत्तर १)। वालक को बैठाने के नियम निम्न होते हैं। वालक को प्रतिदिन थोड़ी देर बैठाया जाय, रोगी वालक को न बैठाया जाय, अकेला न बैठाया जाय, बैठाने का स्थान मुद्रास्तरणादि से दूर हो, उसके आस-पास शस्त्रोयाग्नि इत्यादि न हो इत्यादि। काश्यपसंहिता में इसका बहुत उत्तम वर्णन

दिया है। वहाँ पर पाँचवें के बदले छठे महीने में उपवेशन-विधि करने के लिए लिखा है—पष्टे मासि पुष्ट्यादेऽभ्यर्थ्य देवताः, द्विजांश्च भोजनेन संतर्थं दक्षिणाभिः स्वस्ति वात्य च, गृहमये वालुमये वा शुची देशे गोमयेनाद्विद्य चतुर्दशतमावं स्थिण्डल-मुपलिष्य मण्डलं चतुर्क्षं वा…………ततस्त मण्डलमध्ये तथैव लातमलद्वयमहतवाससं कुमारं प्राद्यमुख्यापेशयेन्मृदृतम्। सोपान-श्रयास्तरणोपेतायां भूमी प्रतिदिनमध्यासार्थं सङ्कुपियेदिति। तत्र इलोकाः—उपलिसे शुची देशे शस्त्रोयाग्निवज्जने। उपविष्टं सकृदैनं न चिरात्स्थापेद् दुष्पुः। त्वं मित्रं कटिदीर्घत्वं पृष्ठभक्षः धमो ज्वरः। विष्णवानिलसंरोधाध्यानं चात्युपवैश्यानात्। आमीनस्यतिवालस्य सततं भूमिसेवनात्। आसनान्येव दुःखानि निर्वातं गात्रभेदनम्। नैर्धीताज्जराज्ञात्वर्वं वेदना ज्वरसंभवः। ततो न वृद्धिर्वालस्य कठोराज्ञात्वमेव च। तस्मापांतिनिर्वै नैत्रो न च रोगितः। उपवेशयो भवेद्वातो नापुण्याहकृतादिकः॥ (जातकमोत्तराध्याय)। अजिधांसुः—स्वास्थ्यमजिधांसुः। वालक के स्वास्थ्य का नाश न करने की हृच्छा रखने वाला। हिंसा या धात का संवेद्य वालक की मृत्यु के साथ नहीं है। यह आलंकारिक शब्द है। इसका अभिग्राय यह है कि जो उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार वालक के साथ वर्ताव नहीं करता, वह वालक के स्वास्थ्य का नाश करता है याने एक दृष्टि से वह वालक की हिंसा करने वाला होता है। जैसे कि—पृष्ठक्षयाच्च नारीणमशस्त्रवध उच्यते। ‘अजिधांसुः’ यह माता का, धात्री का या वालक के लिए रक्ते हुए नौकर का विशेषण है— अजिधांसुरिति अहन्तुमिच्छुः सन् वालयादक इति शेषः। (हलहण)। इसी को कुमारधार कहते हैं—अभियुक्तः सदाचारो नातिश्वलो न लोलुपः। कुमारधारः कर्त्यव्यत्त्राद्यो वालचित्तवित्॥ अधामिकं दुरावारः रथूलो विकटगामिनम्। करोति लोलुपो वालं घस्मरत्वेन रोगिणम्॥ (अद्यांगसंग्रह)। इसमें ‘त्रिवायो वालचित्तवित्’ यह विशेषण बहुत महत्व का है। इसका अभिग्राय यह है कि कुमारधार वालस्वभाव को जानने वाला हो और उसके साथ इस प्रकार का वरताव करे कि वालक के मन पर चांट न पहुँच जाय। साथ ही साथ उस वरताव से वालक को कोई बुरी आदत न लग जाय और कोई दुरी आदत (असाम्य) हो तो धीरे धीरे छूट जाय। यही तत्त्व ‘नित्यं चैनमनुवर्तेत् प्रियशतैरजिधाऽतः’ इस सुश्रुत के वचन में और निम्न चरक के वचन में पर्याय से बताया गया है— अरोगे त्वरोगवृत्तमातिष्ठेदेशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः, कमेणा-सात्याति परिवर्त्योपयुक्तानः सर्वाण्यहितानि वर्तयेत्॥ (चरक, शा० ८)। दुर्योगपर्संगतश्च—स्कन्दादि वालकों के जो नवग्रह होते हैं, उनके उपसर्ग से। स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दाप्रस्मार एव च। शुक्री रेती चैव पूतना चान्यपूताना॥ पूतना शीतानामा च तथैव मुखमण्डिका। नवमो नैगमेषपश्च यः पितॄग्रहसंशितः॥ (उत्तर ७)। इनका उपसर्ग होने के कारण—धात्रामात्रोः प्राक्प्रदिवाप-चाराच्छ्वाचप्रश्नात् मङ्गलाचारहीनान्। व्रतान् हृष्टांस्त्रजितान् तादितान् वा पूजादेहोऽस्त्विरेते कुमारान्॥ (उत्तर २७)। शूलिनेति नियुक्तास्ते बलिपूजा भक्तिक्षिणेः। क्रदान् भीतान् विमनसः शून्यस्थानेकारिणः॥ वालान् कश्मलधात्रीकान् संघातादु रुदो-शुचीन्। अक्षोल्यविदालादिरूपैर्यस्त्वादभुतैः॥ सन्त्रासयनः शयितान् कदाच्छिजायतोऽपि वा। प्रायः पूर्वम् गृहन्ति ग्रह-

विद्वद्भारिणः ॥ (अर्थांगसंग्रह, उत्तर ३) । अर्थात् स्कन्दादि शुभ्रोहोपसर्गं से बालक की रक्षा करने का मार्ग इन श्लोकों में वर्णन की हुई शूचनाओं के अनुसार बालक का पालन है । शूचनागार—इसका निपेष इसलिए किया गया है कि शूचनागार में बालक को रखने से स्फूदादि माहों का उपर्युक्त हो जाता है । नाशुब्दी—बालक जहाँ पर रखवा जाय या जहाँ पर खेले, वह भूमि वैसी होनी चाहिए; इसके सम्बन्ध में अर्थांगसंग्रह में लिखा है—जीडाभूमिः समा कार्या निश्चलो-पनश्चार्थ । वैषोपालकागमोऽपि: सित्त्वा निमोदेकेन वा ॥ जीडा-भूमि पर कङ्कड़, पत्थर इत्यादि पदार्थ होने पर उनको बालक को खोट लग सकती है या बालक उठाके उनको मुख में ढाल सकता है । इसलिए भूमि इनसे विरहित होनी चाहिए । भूलियुक भूमि होने से बालक का शरीर और कपड़े द्वारा ही जाया करते हैं तथा मिट्टी साने का भी डर होता है । ओपार्थिद्वयों के पानी से भूमि सिक करने पर ये दोष दूर हो जाते हैं । नाकार्य—जैव स्थान अथवा जहाँ पर कुछ भी आधार न हो, ऐसा स्थान—सोपाव्यासरलोपेत्यां भूमि उपविशेषित । (कार्यपसंहिता) । सुश्रुत में जिनका उल्लेख नहीं है, उन बातों का जब विचार किया जाता है । जीडनक-वर्च्छा के लिलौने के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—जीडनकनि लहु कुमारेण विविधाणि योवन्दनद्विरसामणि चागुरुणि चालीशामाणि चानास्यप्रवेशीनि चापालाराणि चाविकाशनानि शु: (शारीर ८) । अनीश्चाय गवाशारित्वल्लभयवता फलम् । (अर्थांगसंग्रह, उत्तर १) । अर्थांगसंग्रह में बालक के पालन में निम्न श्रीकार्य मिलता है—खवानात् परस्परार्थं पलदेहयनात् तम् । दत्तप्रापात् मुखादिवृष्टवस्त्रपननम् । (इन्दु) । अनेक लोगों की सोते समय मुख पर वस्त्र लोटकर सोने की आदात होती है । यह आदात लहुन द्वारा है क्योंकि इससे शासं-प्रथास के लिए इस्तेज द्वारा नहीं मिल सकती । यहे आदमी में इस आदात से अधिक तुकसान होने का डर नहीं रहता, क्योंकि इस घुटते ही नींद में भी वह सुख के ऊपर के कपड़े को दूर कर सकता है । वस्त्रों में मुख पर वस्त्र गिरने पर इस घुटके मरने का डर रहता है क्योंकि ये स्वयं वस्त्र को दूर करने में असमर्प होते हैं । इसलिए जग्मतावस्था में बालक के मुख पर वस्त्र गिर जाय तो उसको खट से दूर करना चाहिए तथा निद्रितावस्था में उसके मुख पर वस्त्र कहावायि भी न ढालना चाहिए । जाग्रतावस्था की अपेक्षा निद्रितावस्था में मुखाद्वादन में अधिक पतरा होता है । क्योंकि बालक के निद्रित होने के कारण बहुत देर तक उसके तरफ लोहे नहीं देखना भीर निद्रितावस्था में बालक निश्चल होने के कारण जाग्यावोष्ठ होने की सम्भावना होती है । इसका विवेष निर्देश करने का कारण यह है कि मरुद्युओं या मरिञ्चियों से बचाने के लिए कई माताएं बालक निद्रित होने पर उसको पूर्णतया बढ़ा से जाग्रादित करती हैं । मरुद्यादि से बचाने का उसमां माझाही है, बालक को पूर्णतया बढ़ा से जाग्रादादन करना नहीं है । परस्पराणि—पर से उम लोगों का दोष होता है, जो बालक के वस्त्र के नामाक होते हैं पाले लियाएं । इसमें शालकर्षी भीर भौंहों का नामापेता कर सकते हैं । बालकर्षी लोगों के

सर्वं से नज़र लगने का डर रहता है । नज़र लगने की घटना पर किसी का विश्वास हो या न हो, यह घटना होती है, इसमें मन्देव नहीं । जिनका विश्वास नहीं, वे दूसी तरह से उस घटना का अर्थ करने की कोशिश करते हैं । बालक का नौकर या धात्री फिर प्रकार के होने साधारण, इसका विवरण पीछे बहुत कुछ हो सकता है । इस प्रकार के स्वास्थ्य और उच्चम आचार के लक्ष्य नौकर नहीं हो सकते । इनके सर्वं से बालकों में सुजली, धात्रन इत्यादि अनेक त्वचा के रोग, अँखों के रोग, ज़र्ज़े, लैर्ख, कृमि इत्यादि उच्चद्रव्य तथा गुहांगों के (Venereal) रोग हो जाते हैं । इसलिए किसी अशात् मनुष्य के पास बालक को न देना चाहिए । लविताद—लंघन से यहाँ अपर्याण या हीन मात्रा भोजन अधिग्रहत है । बालक में उत्तिष्ठाति के अलावा धातुलुद्धि लहु होती है । इसलिए उसको सन्तर्पण या धूपण करना चाहिए—इत्येवं द्विवारालत्वद्वादश् । (अर्थांगसंग्रह, सूत्र ४४) । अर्थात् बालक पूर्ण होता है । स्वस्याधस्या में उसको पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक अल्प देना चाहिए । जब बालक रोग पीड़ित हो जाता है, तब अपर्याण या लहुन की आवश्यकता होती है । उस समय लहुन कराने में कोई आपत्ति नहीं (पीछे ४५ वें प्रथम स्लोकार्थ का वर्तम्य देखो) है, परन्तु उसकी उपयोगिता देखन लहुन करना चाहिए—इन्द्रालु मृदु लहुपेत । युक्त्या वा देशकालादित्तत्वानुभावेत् । (अर्थांगसंग्रह, सूत्र ४४) ।

सोरसाम्यतया दीर्घार्जं गद्यमधारि या ।

दधादास्तन्यपर्यासेर्यालान्त धीदय मात्रया ॥ ५१ ॥

(स्तन्यामावै देने योग्य दूष—) (माता का या धात्री का स्तन्य न मिलने पर बालकों को) स्तन्य साराय होने के कारण वक्ती की अपायी गी का दूष दृष्ट्यपर्यासें तक मात्रा के अनुसार देवे ॥ ५१ ॥

कृष्ण—हूस शोक में माता का या धात्री का दूष न मिलने पर विसका दूष बालक को देना चाहिए, इसका निदेश किया है । बाग्मटाचार्य के इस विधय के संबन्ध में निम्न शोक लिखते हैं—सन्नामावै पदादानं गच्छ वा लहुण विदेव । (उत्तर १) । यह साकार्यं सुश्रुत शोक के उत्तरार्थ के साथ पोषणा एवं करके करने के निष्पादन (Artificial feeding) के विवरण संस्कृत में वर्णन करने वाला एक सुन्दर शोक अनुता है—१८-प्राप्ते वस्त्रदायां गच्छ वा लहुण विदेव । (उत्तर १) । दधादास्तन्यपर्यासेर्यालान्त धीदय मात्रया ॥ धीरसाम्यतया—धीरसाम्य के दीर्घ कारण याताये जाते हैं—(१) मधुर विचिद्वनं दीर्घ धिक्ष वस्त्र सर मृदु । संस्काराण्यां विचिद्वनं दीर्घ धिक्ष वस्त्र सर मृदु । (२) विचिद्वनं दीर्घ धिक्ष वस्त्र सर मृदु । (३) विचिद्वनं दीर्घ धिक्ष वस्त्र सर मृदु । (४) विचिद्वनं दीर्घ धिक्ष वस्त्र सर मृदु ।

मविवारि साम्यान् । (वचपाणिदृश) । जटिसाम्य हो सहज साम्य कह सकते हैं । इन कारणों का जरा विचार से विवरण दिया जाता है । प्राणियों में स्तनयुक्त मायियों का (Mammals) एक वस्त्र भाती विभाग है । इस विभाग के प्राणियों का फोका वस्त्र में साम्य याने दूष से होता है । मनुष्याद्वयि सासान प्राणियों में से है, इसलिए दूष मनुष्यों के लिए जातिगम्य है याने जन्म में ही विकर

होता है। सात्य वस्तु वह हो सकती है, जिसका संगठन शरीर के संगठन के साथ मिलता है। दूध एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका संगठन शारीरसंगठन के साथ पूर्णतया मिल जाता है (सूत्रस्थान ४५ के ४६ वें सूत्र का वक्तव्य तथा ४६ के ५२४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), इसलिए दूध सात्य है। परन्तु केवल संगठन से सात्यता का विचार पूरा नहीं हो सकता, उस वस्तु की भौतिक स्थिति का और पचनीयता का भी सवाल आता है। जैसे, लड्डू और रोटी जवानी में सात्य होने पर बालक के लिए सात्य नहीं हो सकते (सूत्रस्थान ४६ के ४९४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), क्योंकि इनका रासायनिक संगठन ठीक होने पर भी बालक न इनको सेवन कर सकता है, न हजम कर सकता है। दूध पानी के समान पतला होने के कारण प्रथम दिन का बालक तक उसको सेवन कर सकता है तथा तद्वत् प्रोभूजिनादि अवयव इस कदर सूक्ष्म कणों के रूप में उसमें मिले हुए होते हैं कि उनके पाचन में बालक के पचनसंस्थान को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती है। इसलिए दूध सब दृष्टि से विचार करने पर भी सात्य होता है। आजं गव्यमयापि वा—आयुर्वेद में अष्टविध दूध (सूत्र ४५ का ४७ वाँ श्लोक देखो) पीने के काम के लिए योग्य बताया गया है। आयुर्विक काल में गधी के दूध का समावेश इसी में कर सकते हैं। इस तरह नवविध दूध हो जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में गधा गुण ग्रहण के लिए योग्य—अविश्वानं वहेऽप्तं शोतोप्तं न च विन्दति। सप्तन्तोषस्तथा नित्यं श्रीणि शिक्षेत गर्दभात् ॥ (चाणक्य) —मानने पर भी मंदवृद्धि और अधिकित्रात् के कारण दुष्प्रग्रहण के लिए योग्य नहीं माना गया था। अतः पीने के दूध में गधी के दूध का समावेश नहीं माना गया है। प्रलेपादि में इसका उपयोग किया जाता है (सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ४७ वें श्लोक के वक्तव्य में ढलहण का वचन देखो)। इसमें संदेह नहीं कि गधी के दूध का संगठन स्त्री के दूध के साथ औरौं की अपेक्षा अधिक मिलता है (सूत्र ४५ के ४९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अष्टविध दुर्घटों में गौ, भैंस और बकरी का दूध सब को मिल सकता है। इनमें भैंस का दूध अत्यन्त गरिष्ठ होने के कारण बालक के लिए अयोग्य है। इसलिए गौ का और बकरी का ही दूध होने योग्य रह गया। आस्तन्यपर्याप्तेः—यावत् स्तन्यस्य पुनः पर्याप्तिः परि सप्तन्तोषात् प्राप्तिर्भवति, अथवा यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता तावदित्यर्थः (ढलहण)। स्तन्यभाव के मुख्य दो कारण होते हैं—नित्य और नैमित्तिक। नित्य में माता की मृत्यु प्रधान है। इसके सिवा काम्य और निषिद्ध भी दो नित्य के प्रकार होते हैं। जब माता स्वस्थ होने पर भी बालक को पिलाना नहीं चाहती, तब वह काम्य परन्तु नित्य स्तन्यभाव हो जाता है। जब माता राजयस्मा, कुष्ठ, फिरंग इत्यादि शरीरक्षयकर रोगों से पीड़ित होती है, तब स्तन्यपान का निषेध होता है। इसका निषिद्ध और नित्य स्तन्यभाव कह सकते हैं। जब माता बालक को पिलाती है, परन्तु वीच में लंबन, उपचास, ज्वर या अन्य विकारों से पीड़ित होने के कारण नहीं पिला सकती, तब उस स्तन्यभाव को नैमित्तिक कहते हैं। ढलहणवचन के प्रथमार्थ में इस नैमित्तिक स्तन्यभाव

की दृष्टि से अर्थ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी निमित्त से माता का स्तन्य बंद हो जाय, तब उस समय बच्चे को गौ या बकरी का दूध पिलावे और जब स्तन्य पूर्ववत् आने लगे, तब वाहर का दूध देना बंद किया जाय। अभाव में अल्पता (Deficiency) का भी समावेश होता है। अगर माता का दूध पर्याप्त न हो तो कमी की पूर्ति गौ या बकरी के दूध से (Mixed breast and bottle feeding) की जाय। इस बीच में दूध बढ़ाने की कोशिश करने पर अगर दूध बढ़ जाय तो गौ का दूध बंद कर सकते हैं। अगर दूध न बढ़ा तो यही मिश्र दुष्प्रयापन की परम्परा स्तन्यपानयन (Weaning) तक जारी रखती जाय। यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता यावत् स्तन्यपानस्योपगोगिता, आवश्यकता वा। माता बालक को कब तक स्तन्यपान करवे, यह एक बड़ा महत्व का प्रश्न है। इस प्रश्न का विचार माता और बालक दोनों की ओर से करना चाहिए। अगर दोनों स्वस्थ हों तो इस प्रश्न का विचार निम्न प्रकार से करना चाहिए। दूध जिन्दगी भर का आहार नहीं है। बाल्यावस्था में एक काल तक वह पूर्णहार होता है। उसके पश्चात् कुछ काल तक वह आंशिकाहार होता है और उसके पश्चात् वह गौणहार होता है। बाल्यावस्था में अन्नसेवन न करने का कारण पचनसंस्थान का अन्न सेवन और पचन करने का असामर्थ्य है। यह असामर्थ्य अधिकतर दाँतों के न होने से होता है। जब दाँत आने लगते हैं, तब धोरे धोरे बालक को अन्न का कुछ अंश दिया जाता है और दूध की राशि कम की जाती है—प्रथेन जातदर्शनं क्रमशःनयेत् स्तनात्। पूर्वोक्तं योजयेत् क्षीरमन्त्रे च लघु वृहणम्। भजेयथा यथा चावं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। इसका साधारण काल नौ महीने का होता है। स्तन्य के द्वारा बालक माता के शरीर का शोषण करता है। जब तक माता स्वस्थ होती है, तब तक ढुङ्गण आहार-विहार से इस शोषण की पूर्ति की जाती है, परन्तु जब माता अस्वस्थ हो जाती है, तब वह पर्याप्त मात्रा में आहार सेवन नहीं कर सकती तथा स्तन्यशोषण के कारण उसका स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। इसलिए यदि माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो कुछ पहले स्तनपान बंद करना उचित है। इसका औसतकाल छः महीने का समक्ष सकते हैं। जब बालक अस्वस्थ रहता है, तब उसके लिए बाहरी दूध की अपेक्षा माता का दूध अधिक हितकर होता है। इसलिए बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ पीछे स्तनत्याग करना उचित है। इसका औसतकाल एक साल का होता है। संत्वेष में बालक की आयु नौ महीने की होने पर उसको स्तनपान से दूर करना चाहिए। अगर इस के पहले से माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो बालक नौ महीने का होने से पूर्व उसको दूर करना उचित है। अगर स्तनत्याग करने के समय बालक का स्वास्थ्य खराब हो जाय तो उस समय स्तनत्याग न करके उसका स्वास्थ्य अच्छा होने के बाद स्तनत्याग करना चाहिए। एक बरस की उन्ने के पश्चात् स्तनपान जारी रखना किसी हालत में ठीक नहीं है क्योंकि उस आयु में बालक को कुछ अकल आने लगती है, जिसके कारण स्तनपान उसके लिए ज्ञाधानिवारण का उपाय न

रहकर एक च्यासन बन जाता है और उसके बाद उसको स्तनपान से निवृत्त थरने में कठिनाई होती है। आयुर्वेद में स्तनस्थाग का जो काल दिया है, वैसा ही काल प्राशार्थ व्याख्यिकित्सक व्याते हैं—A child should be weaned at nine months. Weaning should be gradual. Ten Teacher's Midwifery. Wean at a year old, or as soon as a child has teeth enough to make a good beginning at mastication. Esoteric Anthropology इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे के भूत के चर्चय में किया गया है। मात्रा—जब तक वालक माता का या भाग्री का दूध पीता है, तब तक मात्रा का उतना सवाल नहीं उठता, परन्तु जब गौ का दूध दिया जाता है, तब मात्रा का अधिक रखल रखना पड़ता है। मात्रा का विचार दो प्रकार से करना पड़ता है—प्रत्येक समय की मात्रा और दिन-नात की मात्रा। प्रत्येक समय की मात्रा जटर की समाई के बराबर या उससे कुछ कम होने चाहिए। वालक के जटर की समाई प्रथम दिन एक थास (दाई तोल), दो सहाह पर दो औंस, एक महीने पर दाई औंस, तीन महीने पर साड़े चार औंस, चौथे महीने पर पाँच औंस, पाँचवें महीने पर साड़े पाँच औंस, छठे महीने पर छ औंस, सातवें महीने पर साठ द थास, बाढ़वें महीने पर सात औंस, नौवें महीने पर साड़े सात औंस, दसवें महीने पर छाड़ औंस, बयारहवें महीने पर साड़े थास औंस, और बारहवें महीने पर नी औंस होती है। अर्थात् प्रत्येक समय आयु के अनुसार इतना दूध वालक को पिलाया जा सकता है। इससे अधिक व्यापि भी न पिलाना चाहिए। दिन रात पिलाने का साधारण नियम यह है कि प्रथम महीने में प्रत्येक दो दो घंटे के बाद और कुल पान दस, दूसरे और तीसरे महीने में दो दो दो घंटे के बाद और कुल पान (Feeds)। आठ, चौथे और पाँचवें महीने में प्रत्येक तीन फीन घंटे के बाद और कुल पान सात, छठे और सातवें महीने में प्रत्येक साड़े तान घंटे के बाद और कुल पान छ, और इसके बाद प्रत्येक चौथे घंटे के बाद और कुछ पान पाँच दिये जाय। यह साधारण नियम व्याप्त गया है। वालक की पचनशक्ति, शक्ति और उपचय देखकर इसमें न्यूनाधिकता धरनी चाहिए।

इन्य के अन्त में विसरा दूध दिया जाय—यहाँ पर गौ वा या घटरी का दूध देने के लिए कहा है। आयुर्वेद में गौ का दूध सर्वेषां माता गया है—गोवीष्ट घीरणा धूतप्रसन्। (चरक, सत्र २५)। गव्य लीर्ण खेत्रम्। (सुश्रुत, सूत्र ४८)। १८ छ ११८८८८४४। (अष्टोगद्वय, अष्टोगत्रय)। इसलिए व्यापि वामप्रद तथा सुधुत में गौ के दूध के पहले बकरी के दूध वा उड़ेस आया है तथापि यह प्राथान्य बयानार्थ न होकर घनांशुरोद्यार्थ है। स्तन्यामात्र में प्रथम गौ का ही दूध देना चाहिए। अगर गौ का दूध न मिल सके या दिक्षिता के करण उसके प्राप्त न कर सके तो बकरी का दूध प्रयोग में दा सकते हैं। इसके अलावा यह वालक की पचनशक्ति लीज होती है तथा अतीमात्र प्रयोगादि उपचय दोते हैं; तब गौ के दूध की अरेशा

बकरी का दूध पायदेमन्द होता है। ऐसी कोई कठिनाई या आवश्यकता न हो सो हमेशा गौ का ही दूध वालक को देना चाहिए। प्राशार्थ देंसों में भी वालक के लिए गौ के दूध का ही उपयोग किया जाता है।

इस दिस प्रकार से दिया जाय—माता के दूध का मुकाबला अन्य किसी दूध से नहीं हो सकता क्योंकि घट स्वभाव से वालक के लिए ही उत्पन्न किया गया है तथा वालक की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पन्न दिस प्रतिदिन और मासानुगमिक फँक होता जाता है। यह कथन प्रत्येक जाति के स्तन्य प्राणि के लिए लागू है। इसलिए एक जाति के स्तन्य प्राणी का दूध दूसरी जाति के स्तन्य प्राणी के लिए पूर्णतया सुधारिक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न होती हैं। तथापि सब जातियों के प्राणियों का दूध वच्चों के पोषण के लिए ही उत्पन्न किया गया है, यह बात सब जातियों के दूधों की सामान्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है और इसी सामान्यता के आधार पर मातृतन्त्राभाव दूसरे जाति के प्राणी का दूध उपयोग में लाया जाता है। गौ का दूध तमाम सत्तार भर में वालक के लिए प्रयुक्त होता है। भारतवर्ष में तो गौ माता ही मानी जाती है। अब सवाल यह है कि गौ का दूध वालक को किस तरह से दिया जाय? इसका उत्तर बाम्पटा—धार्य देते हैं—नद्युग्य विवेद। तद्युग्म—प्राचीन और अर्वाची काल के अनुसार इसके भिन्न भिन्न धर्य कर सकते हैं—(प्राचीन काल के अनुसार वामप्रदार्थ्य के श्लोकार्थ का स्पष्ट करण निः प्रकार से कर सकते हैं—मातृतन्त्राभाव गव्यमा वा दूध दृश्यम् (मातृतन्त्रगव्य) भवत्वत्स विवेद। माता दूध न मिलने पर उसके दूध के समान गुण का गौ का व्यक्ति का दूध सेवन किया जाय। अर्थात् प्राचीन कव्य के अनुसार गौ का दूध गुण की हाइ से माता के दूध समान होता है। वच्चों को देते समय उसमें कोई परिवर्त करने की आवश्यकता नहीं होती (Whole milk undulated and unaltered) यही इसका मतलब अनुनिक क्षयक क्षयक अनुसार निर्भलता है। वामप्रदार्थ्य इस दूध में शुद्धता ओपियों का उपयोग करने लिए कहते हैं—नद्युग्म वपद्यक्षय विवेद। यूनै तिद्व दृश्यम् विवेद॥ (उच्च १)। ततुण का धर्य श्लोकार्थ नि प्रकार से कहते हैं—लीस्त-यामाव दृश्यमिति पूर्वोक्तर्य दृस्तव्य सर्वेषामारादिग्मुणे। तद्युग्म। (इन्दु)। स्तन्यस्त्वाम सति द्वाग पयो गव्य वा द्यागदुल्यगुप्य विवेद। द्यागसमानगुण गव्य व्याप्त द्यात्याव। हर्वेत्यरादि। (अर्थाद्वत्)। इसमें अरुदा का अर्थ बिलुक गलत है, उसका विचार करने का कारण नहीं है। इन्दु के कहने का तात्पर्य यह है कि माता के उत्पन्न दूध के जो छाप एवं दूध में वर्णन किये गये हैं उन छापों से युक्त पाने अद्यतिं दूध। इस प्रकार का अर्थ यह जो अर्थ दिया है उससे विरोधी नहीं है। (२) अर्वाचीन कव्यपना के अनुसार उक्त श्लोकार्थ का स्पष्टीकरण निः प्रकार से कर सकते हैं—नद्युग्म-यामवे ग-न्यमात्र वा दूध दृश्यम् इस विवेद। अनुनिक काल में स्तन्यामात्र की उत्पत्ति होने पर भिन्न भिन्न प्राणियों के दूधों का भी व्युत्पन्न होने लगा। इससे मादम दूआ कि यथापि दूध का सामान्य संग्रहण एवं

होता है तथापि उसके उपादानों की मात्रा प्रत्येक प्राणी के दूध में भिन्न भिन्न (ज्ञीरवर्ग में संगठन की तालिका देखो) हुआ करती है और यह अवयवमात्राभिन्नता प्रत्येक जाति के प्राणी की आवश्यकताएँ विभिन्न होने के कारण रखी गई हैं । अगर एक जाति के प्राणी का दूध दूसरी जाति के वालक के लिए उपयोग में लाना हो तो इस भिन्नता को दूर करना चाहिए, यही इससे अर्थ निकलता है । इसलिए अन्य प्राणियों का दूध वालक को देते समय उसमें इस तरह परिवर्तन किये जाते हैं कि उसके अवयवों की मात्रा स्थि-दूध के समान हो जाय । प्रस्तुत गौ के दूध का ही विचार करना है । इसलिए यहाँ पर स्थी के और गौ के दूध के भेद प्रथम वर्णन किये जाते हैं ।

गौ के और माता के दूध में भेद—(१) माता का दूध वालक को शरीरताप (Body temperature) पर मिलता है, जिसके कारण उनको गरम करने में या ठंडा करने में वालक की शक्ति खर्च नहीं होती । गौ का या अन्य प्राणी का दूध इस प्रकार नहीं मिलता । (२) माता का दूध, बाय जगत् का संबंध न होकर, सीधा वालक के शरीर में चला जाता है । गौ का दूध हवा, पात्र, हाथ इत्यादि से बहुत देर तक संबंधित रहता है । इसलिए माता का दूध अदूषित स्थिति में वालक को मिलता है; गौ का इस प्रकार नहीं मिल सकता । यही कारण है कि माता का दूध जीवाणुरहित और गौ का दूध जीवाणुयुक्त रहता है । (३) माता के शरीर में अनेक रोगों के लिए जो ज्ञमता होती है, उसका भी कुछ अंश स्तन्य के द्वारा वालक को मिलता है । गौ के दूध से इस प्रकार का लाभ नहीं होता । (४) माता का दूध वालक के शरीर में स्वाभाविक स्थिति में जाता है । उसमें कोई कृत्रिम परिवर्तन नहीं होता । इसलिए उसकी पौष्टिकता अप्रतिहत रहती है । गौ का दूध स्वाभाविक स्थिति में नहीं मिलता । इसलिए उसकी पौष्टिकता कुछ घटिया होती है । (५) माता के दूध की अपेक्षा गौ के दूध में कुल प्रोभूजिनों की राशि दुगुनी होती है । इसके सिवा माता के दूध में दुर्घशुक्रि (ल्याक्टाल्यूमिन) की राशि गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी होती है और किलाटी (क्यासिनोजन) की राशि केवल ऊ होती है । प्रोभूजिनों के प्रकारों की राशि का यह भेद पचन की दृष्टि से विशेष महत्व का है । किलाटी (क्यासिनोजन) पचन में कठिन होती है और वही गौ के दूध में अधिक रहती है और दुर्घशुक्रि (ल्याक्टाल्यूमिन) पचन में हल्की रहती है और वही कम रहती है । (६) दुर्घशकर्करा की राशि माता के दूध में गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी के करीब होती है । इसलिए माता का दूध गौ के दूध की अपेक्षा अधिक मीठा होता है और वालक भी उसको गौ के दूध की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है । (७) माता के दूध की प्रतिक्रिया ज्ञारीय और गौ के दूध की अम्ल होती है । (८) स्नेह की राशि यद्यपि दोनों में एक-सी होती है तथापि माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सुखमतर 'कांगों के रूप में दूध में फैला रहता है । इस कारण माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सुपाच्य और 'सुशोष्य रहता है । (९) माता के दूध में खनिज द्रव्य की राशि गौ

के दूध की अपेक्षा कम रहती है । आधुनिक खोज से सिद्ध हुए माता और गौ के दूध के ये भेद देखकर 'मातुरेव पिवेत स्तन्यं तत्परं देहवृद्ये' (अष्टांगहृदय, उत्तर १) इस वाग्भटा-चार्य के वचन की यथार्थता और अपने ही दूध से वालक के पोषण की माता की कर्तव्यता स्पष्ट हो जाती है । परन्तु जब विवश होकर गौ का दूध देना पड़ता है, तब उपर्युक्त भेदरूप दोषों को जहाँ तक हो सके दूर करके देने की कोशिश करनी चाहिए । गौ के दूध में कुछ दोष ऐसे होते हैं कि जो मुश्किल से दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रथम चार भेद । कुछ ऐसे होते हैं कि जो अधिकांश दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रोभूजिनादि की राशि । कृत्रिम दूध में गौ के दूध के ये दोष हटाकर उसको माता के दूध के समान (तदगुण) करने की कोशिश की जाती है ।

तदगुण करने की विधियाँ—(१) जलमिश्रण (Dilution)—गौ के दूध में प्रोभूजिनों की राशि दुगुनी होती है । उसको दरावर करने के लिए दूध के साथ उत्तना ही उचाल हुआ जल मिलाया जाता है । इससे प्रोभूजिनों की राशि स्तन्य के समान होती है, परन्तु स्नेह और शर्करा भी कम हो जाती है । इसके लिए दूध में मलाई और चीनी मिलाई जाती है । शर्करा के लिए दुग्धशर्करा हो तो उत्तम है; न हो तो मासूली चीनी ३ और स दूध के लिए एक चाय का चमच भर मिलाई जाती है । मलाई भी इसी प्रमाण में मिलाई जाती है । कुछ लोग दूध में मलाई मिलाने 'की अपेक्षा दूध पिलाने के बाद मछली का तेल आधी मात्रा में देना पसन्द करते हैं । (२) गौ का दूध आमाशय में मा के दूध की अपेक्षा अधिक कठिन रूप में जम जाता है । इसको दूर करने के लिए दूध के साथ ज्ञारातु निम्बवीय (Sodium citrate) एक और कोण्डे एक ग्रेन के प्रमाण में मिलाया जाता है । इसके अलावा चूने का पानी, जौ का यूप, चावल का पानी इत्यादि अन्य द्रव्य भी मिलाये जाते हैं, परन्तु सब से उत्तम ज्ञारातु निम्बवीय है । (३) माता के दूध में जीवाणु नहीं होते, गौ के दूध में बहुत होते हैं । उनका नाश करना आवश्यक होता है । यह कार्य दूध उचालने से होता है । अधिक देर तक उचालना ठीक नहीं है । एक उचाल देकर दूध को उत्तरना चाहिए । अधिक देर तक दूध उचालने से उसकी पौष्टिकता कम होकर गरिष्ठता बढ़ती है । घरेलू कामों के लिए यह विधि उत्तम है । इसके अलावा भाप के द्वारा जीवाणुनाशन, पाश्चरीकरण (Pasteurisation १६०° फै० पर २० तक गरम करना) इनका भी उपयोग किया जाता है । इनमें उचालने की विधि सरल और अधिक विश्वसनीय है ।

क्या गौ का दूध तदगुण करना आवश्यक है?—कितनी भी कोशिशें क्यों न की जायें, गौ का दूध माता के दूध के समान कदाचि नहीं हो सकता । परन्तु उपर्युक्त विधियों का उपयोग करने से वह कुछ कुछ माता के दूध के समान हो जाता है । अब सवाल यह उठता है कि क्या इस प्रकार का परिवर्तन करना आवश्यक है? तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इसका उत्तर पच में ही देना पड़ता है । इसलिए कुछ लोग इस प्रकार का कृत्रिम दूध देना पसन्द करते हैं । कुछ लोगों का यह भत है कि इस प्रकार का फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं

है। धारियर में गो का भी दूध है और पैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, यदिक फायदा यह होता है कि वच्चे को इस्त सुखकर आता है। पेरफॉर किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होती है। गो के दूध का यह दस्तावर गुण घरक, सुखुत, वागमट हन प्रत्यों में नहीं मिलता, परन्तु काशयपर्यंतित। में विशेष रूप से मिलता है—जीवाशास्त्रियमलाइरेटेवित तद् पवः। एवमात्र वरणादुक गव्ह द्वीर रसायनम्। एव वैशेषिकगुणो गोधीरस्य प्रकीर्तिः॥ (जीवाशास्त्रियमलाइरेटेवित)। परन्तु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दोषता की इष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोण्य दूध देना ही उचित है। धारोण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सुन्दरस्थान के खूब वें अध्याय के ६३ वें श्लोक के वक्तव्य में दिया गया है। धारोण न मिल सके तो दूध को एक उवाल देकर लेना चाहिए।

स्वीरेप में स्तन्याशाव होने पर गो का धारोण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पवः है। यदि धारोण दूध न मिल सके तो दूध को उवालकर देना उचित है। यदि समर्पण दूध सुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और योदी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार मीनों में देना ठीक है। उसके बाद समर्पण दूध दे सकते हैं। आखुवेंद में समर्पण दूध देने का ही रिवाज है। केवल लघुवायमूल या शालिपौर्णी शूलिपौर्णी के साथ वह उवाला जाना है और उसमें योदी चीनी भी मिलाई जाती है—स्तन्याशावे पयशद्वयं गव्ह वा तद्गुणं विवेद्। हस्तेन पञ्चमूल रिवरया वा मित्रादुर्गम्॥ (अष्टांगहृदय)। आज कल बद्धों को दूध पिलाने के लिए कूपी और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जहर है, परन्तु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो हनसे बालक की लाम की अपवा अधिक उक्सान होने का दर रहता है। अत दूध पिलाने के बाद गरम पानी से हनको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा कूपी और चूसनी दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपाय विन्दयन् प्राणी शापमधिपि विनवेत्।

परमासं चैनमन्नं प्राशयेत्प्राप्ति हितं च ॥ ५२ ॥

(अष्टांगशास्त्रियम्) छठे मीनों में उसको हल्का और हितकर अध्याशावन कराये ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—पीढ़े ११ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा रुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन मीनों की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—वर्तुर्भु यत्किंवारादिक्षिकंद पुरोगमान्। मासे निष्कामयेद् देवान् नमस्तर्तु द्वलकृत्पृष्ठ्॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १ ॥)। अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्तन्याशाव के वक्तव्य आता है। वर्तुर्भु मासि वनव्य यिशीनिकमण्य गृष्णाद्। वष्टेऽप्ताशावन माति, यदेष्व महले कुने ॥ (मुतुरमुति, २-३४)। गृष्णसूत्रों में यह श्लोक स्तन्याशाव की विधि वर्णन की है—पृष्ठ मास्त्रप्राशनम्। दायमुतुरमन्नं प्राप्तवेत्। प्र प्रतातार तारिष कर्त्त नो चेति दिपदे चतुर्पदे ॥

पह मास में अध्याशावन की विधि का अर्थ यह

नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट बह दिया जाय। भग्न से यहाँ पर भवय और भोज्य पदार्थ समझने चाहिए। इन्द्रूपर्माणवाद में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के लीलत में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का मारम्भ एवं विश्वामयविधि से, अध्याशावन का मारम्भ अध्याशावनविधि से, हजारमत करने का प्रारम्भ चौड़कर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, खीं और पुरुष का पति पत्नी के नाम रहने का विवाहविधि से, छीं-तुरंतसमागम का गर्भावनविधि से हृत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य द्वाया जाय, वह विशिष्ट कार्य द्वाया सुहृत्तं पर मन्त्रों के हारा किया जाय और उसके पश्चात् अवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वारूप्यरूप रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को धीगणेश से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पराये जाते हैं, वैसे ही अध्याशावनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसके तमाम भवय भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अध्याशावन में शक्ति से पचनस्तंशयन की शक्ति अभियोग है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—पश्चेऽप्ताशावन मासि कमात्वं प्रयोगवेद्। पचनस्तंशयन की शक्ति पाचक रसों पर और दौर्तों पर निर्भार होती है। अज्ञ के लिए दौर्तों की आवश्यकता होती है जब तक दौर्त नहीं होते, तब तक अज्ञ देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक दिना चाहते हैं क्षम की निगल लेता है। अस्त्वेवन और दौर्तों का अनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए दौर्तोंनेदि के प्रारम्भ में अध्याशावनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी दौर्तों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अज्ञ की राय द्वायै जाती है। इसी दृष्टि से ऊपर के वाम्भट के बचन में 'क्रमात्' दाढ़ प्रयुक्त किया गया है। काशयपसंहिता में छुटे मीनों में फलप्राशन करने के लिए, दशर्म मीनों में अध्याशावन के लिए और बारहवें मीनों के बाद वास्तविक अज्ञ देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (पृष्ठ) मासि विविधाना कर्माना प्रायम विषयतुविषेद्। तदि दन्तनात्रस्याशावन दद्यने वा मासि प्रयत्नेऽइनि। उत्तरायोर्ध्वं द्वादशामासिकत्वायामभिलक्षोऽल्पशब्दामानि दद्यादिति। शालीना विष्णार्णा वा पुराणाना विशेषतः। तद्गुलीनेसुखेमृदृ वालिते सापिता द्रव्या ॥ संस्नेहलवया लैदा बालाना तुष्टिकर्त्ता । गोप्यमाना तथा नूर्तु वयाना वाद्विं साम्यत्वं ॥ यदान्वर दद्यन्वर वा देवाप्तिरलवात्तिवद्। यदा ना ज्ञापिता पद्येद् तदैन सात्यं भाद्रायेद् ॥ (जातकम्नोत्तराभ्याद्य)। बालक को अज्ञ देने में शीघ्रता कापायि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हाति है। देर में अज्ञ देने में हाजिन नहीं है विक्षि कापाया होता है—विराक्षिवैवालायोऽत दानो नायुषमस्तुते । (अष्टांगसंग्रह)। काशयपसंहिता में अस्त्वेवन की जो साल मर की मर्यादा बताई गई है, वह ऐसु सक्तस्तरा 'चीदा' (सूत्रस्थान १५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र के वक्तव्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहीकाकार तथा अष्टांगसंग्रह कार अध्याशावन का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'प्रयेन जातदद्यनम्' इस श्लोक की टीका में इन्दु लिखते

हैं—अथ वर्षदन्ततं जातदशनं वालं क्रमशः स्तनादपनयेत् । काश्यपसंहिताकार की वच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है । फलों से वालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो वचपन के शारीरधृष्टिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं ।

अज्ञप्राशन, दन्तोद्भव और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है । हसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भव का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है । स्तनापनयन (Weaning—) इसके काल का विचार पीछे १५वें श्लोक के वर्क्षब्य में किया गया है । स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अज्ञप्राशन या गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए । आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगत-दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः । नामुनवन्ति पुनर्भवमप्रकल्प्या भवन्ति हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अद्यांगा संग्रह में वराये हैं—कुर्यादपरतं न स्नेहसंकान्त्या स्तनलेपनैः । वीभत्सैर्यावकासेकृत्विमक्षतदर्शनैः ॥ स्नेहसंकान्ति का मतलब यह है कि वालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना । इसी काम के लिए यह श्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमउजमधुक-मधुताजसितोपलैः । अपस्तन्यस्य संयोज्यः श्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ स्तन्यापनयन तथा अज्ञसेवन या गोदुरधसेवन से अगर वालक में अज्ञ की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निम्न ध्रुवधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—शीपो वाल-विलैलाश्चरालाजसकुम्भः । संशाही धातकीपुष्पशर्करालाज-तर्पणैः ॥ (अद्यांगसंश्रह) ।

दन्तोद्भव (Dentition—) तत्त्व विवाहित स्थिरों के जीवन में सगभावस्था और प्रसूति जैसी महत्व की घटनाएँ हैं, वैसी वाल्यावस्था में दन्तोद्भव की घटना होती है । ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी शैनी चाहिए । परन्तु प्रायः इनका सम्बोधन विकारी घटनाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभूमि विडालानां वर्हिणां च शिखोद्भूमे । दन्तोद्भेदे च वालानां न हि किञ्चित् दूषते ॥ (अद्यांगसंश्रह) । इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं । अनेक वालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है । इसलिए दन्तोद्भव के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है । जिस वालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं । भूत्यों को दाँत दो बार आते हैं । जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त या अस्यायी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं । जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु से होता है और दाँह वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल क्षते

हैं—इन्तोद्भेदश्च दीर्घसुषोऽप्तमान्मासात् परतो वा प्रवर्तते । इतरेषां तु चतुर्थांश् । तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहैतू । तदा च तयोरसम्पूर्णवीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्यमायथातु-त्वाच्च पुनरस्थानम् । पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छठे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं । इनकी संख्या वर्त्तीस होती है । दाँतों के लिए 'द्विं' शब्द प्रयुक्त होता है । परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से वारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और वीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है । अतः बारह सकृज्जात और वीस द्विं होते हैं—इह खलू नृणां द्वाविशदन्ताः, तत्रायै सकृज्जाताः त्वल्ददन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय) । यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत माल्कूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए । ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाँहें (Molars) हैं । मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisor), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं । हस तरह प्रत्येक हनु के एक पह पर्ण में पाँच करके कुल बीस दाँत चर्वणमें निकलते हैं । पुनर्दन्तों में ये वीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पह में तीन चर्वणक (दाँहें) करके बारह दाँहें अधिक होती हैं । नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम	प्रथमदन्तकाल	नाम	पुनर्दन्तकाल
नीचे के अन्तःकर्तनक	६-९	प्रथम चर्वणक	६ वर्ष
मास तक		मास तक	
ऊपर के चरों कर्तनक	८-१०	कर्तनक	७-८ वर्ष
मास तक		पूर्व चर्वणक	९-१० वर्ष
नीचे के वाद्य कर्तनक	१२-१४	भेदक	११-१२ वर्ष
'मास तक		मास तक	
आगले चार पूर्व चर्वणक	१२-१४	द्वितीय चर्वणक	१२-१३ वर्ष
मास तक		तृतीय चर्वणक	१७-२५ वर्ष
मेदक	१६-२०	मास तक	
पिछले पूर्व चर्वणक	२०-२४		
मास तक			

यह साधारण काल है । हसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के वालक के ६ दाँत, देह वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और दाँह वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिए । छठे साल में चार दाँहें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है । साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं । आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता नियिच्यन्ते तावत्स्वहः-धृद्धिद्यन्ते । यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सब उद्धिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरस्थिद्यन्ते । तत्र मध्ये द्वाकुत्तरौ राजदन्त-संज्ञी भवतः, तौ पवित्रौ, वस्मात्ताम्भ्यां खण्डे न वाद्यमर्हति अपवित्रो हि सः । तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वसुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता

है। वालिर में गौ का सी दूध है और दैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, वलिक फायदा यह होता है कि वर्षे को दस्त सुलबर आता है। पेरेकार किये हुए दूध से मलायोरप की दिकायत प्राप्त होता है। गौ के दूध का यह दस्तावर गुण चरक, सुखुत, वायरल इन प्रम्यों में नहीं मिलता, परन्तु कार्यपलहित में विशेष रूप से मिलता है—भौजामानिभवलादिरेवति तत् पदः। एतमाद वरणादुक गौ की ओर रायनम्। एव वैशेषिकगुणो गोवीरस्य प्रकोरिति ॥ (चीरगुणविशेषाद्याय)। परन्तु इसमें दूध की निर्दीर्घता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दीर्घता की इष्ट से यदि ही सके तो वालक को धारोण दूध देना ही उचित है। धारोण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूक्ष्मपान के खण्ड में अध्याय के १३ वें स्तोक के वक्तव्य में किया गया है। धारोण न मिल सके तो दूध को पृक उवाल देकर लेना चाहिये।

संतोष में स्थन्याभाव होने पर गौ का धारोण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पद है। यदि धारोण दूध न मिल सके तो दूध को उवालकर देना उचित है। यदि सम्पूर्ण दूध सुविधिक न हो तो तिहाई पानी और योदी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना चीक है। उसके बाद सम्पूर्ण दूध दे सकते हैं। आयुर्वेद में सम्पूर्ण दूध देने का ही विवाज है। केवल लुटुरभूल या शालिणी पृक्षिणी के साथ वह उवाला जाता है और उसमें योदी चीनी भी मिलाई जाती है—स्थन्यामै पृक्षिणागव्य वा तदुत्तुर्पितेऽ। हस्तेन पद्मलैन विरया वा तिग्नुरम्॥ (अष्टांगदृष्टय)। आज कल वर्षों को दूध पिलाने के लिए कूपी और चूसनी (Tests) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जहर है, परन्तु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे वालक को लाल की अवैश्य अधिक नुकसान होने का दर रहता है। अतः दूध पिलाने के बाद धरम पानी से हनको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा कूपी और चूसनी दूषित होकर विशेष रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उत्तम विवर्यन् प्राप्तो ध्यायमपि विनत्येऽ।

परमासं चेनमध्ये प्राशयेत्तु द्वित च ॥ ५२ ॥

(अध्यापाशवविधि)—घुड़ महीने में उसको हृलका और हितकर अध्यापाशन कराये ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—पीछे १५ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रस्तुतवस्या की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और वालक के देवदत्तन से की जाती है—जुर्ये दमिलानारादिक्षकद पुरोगमयै । मासे निष्कमयेऽ देवान् नमस्त्वं त्वत्कृदम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर० १ ॥)। अष्टांगसंग्रह में यह स्तोक स्थन्या भाव के पश्चात् आता है। जुर्ये मासि करत्वं विशेषिकमण्य गृहात् । घुडेगप्राशन माति, यदृष्ट मासे कुते ॥ (मुख्यसूत्र, २-३४)। गृहाश्वानों में पठ मास में अध्यापाशन की विधि वर्णन की है—नृष्ट मासवप्राशनम् । दर्पिमपुष्टमन्नं प्राप्तेऽपि । अध्यापाशन का मन्त्र—मन्त्र नेत्रस्य नो देनानीरुप्य तुभिष्य । प्र प्रसानार तारिक कर्त्त नो पेति दिप्ते चतुष्पदे ॥

पठ मास में अध्यापाशन की विधि का अर्थ यह

नहीं है कि उस दिन से वालक को भरपेट अथ दिया जाय। अन्न से यहाँ पर भवय और भोज्य पदार्थ संस्कारे चाहिए। हिन्दूधर्मरात्र में जो विशेष संस्कार है, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए वानाये गये हैं। जैसे, घर के पाहर आने का प्रारम्भ अध्यापाशनविधि से, हायामत करने का प्रारम्भ चौकर्मविधि से, विद्याम्यास का उपनयनविधि से, दूरी और पुरुष का पति-पत्नी के बाते रहने का विवाहविधि से, दूरी-पुरुषमायाम का गर्भाधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुम्ह सुहूतं पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् अवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वागतम्य रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् वालक को श्रीगोदाम से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ाये पर तमाम शाश्वत पाये जाते हैं, वैसे ही अध्यापाशनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भवय भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याम्यास में शक्ति से महिन्द्रक की शक्ति और अध्यापाशन में शक्ति से पवनसंसरयन की शक्ति, अधिग्रेत्र है। हस्तलिङ्ग अष्टांगसंग्रह में लिखा है—वैद्यकाप्राशन मासि क्रमात्मक प्रयोगवैदेत् । पचनसंसरयन की शक्ति पावक रसों पर और दौर्तों पर निर्भार होती है। अज्ञ के लिए दौर्तों की अवश्यकता होती है जब तक दौर्त नहीं होते, तब तक अज्ञ देना हानिकारक होता है क्योंकि वालक बिना चवाये अज्ञ की निगल लेता है। अस्तेवन और दौर्तों का धनिष्ठ सम्बन्ध है। हस्तलिङ्ग दन्तोद्देश के प्रारम्भ में अध्यापाशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी दौर्तों की शृंखला होती जाती है, वैसी वैसी अज्ञ की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से अज्ञ के वालमृत के वचन में 'क्रमात् शब्द प्रयुक्त किया गया है। अतः दूषितप्रसंहिता में छुपे महीने में कलप्राशन कराने के लिए, दार्यों महीने में अध्यापाशन के लिए धीरे वालहर्वं महीने के बाद वास्तविक अज्ञ देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (पठे) मासि विविधाना फलाना प्राप्तन निष्काश्वतुष्टिदेव । तदिव दन्तनात्मसंप्राशन दशमे वा मासि प्रशेषोऽप्तिनि । उत्तरायोर्वै द्वादशामातिवर्यान्नमित्रिलोपौदशप्रथमाविद दशादिति । शालीना शविधाना वा तुराणाना निषेदत् । वैद्युतेन्दुष्टैषुद्दृच्छालिते सापित्रा द्रवा । स्तेनेहलवया ऐसा वालाना पुष्टिपूर्णम् । गोद्युर्माणां दृष्ट्य चूर्णं वालाना वाद्यि साम्यवत् ॥ एतद्वाद इत्यन्तर वा देशविलम्बात्मतिव । वदा वा चूर्णिन पश्चेत् तदेन साम्यमाप्तेत् ॥ (जातुकर्मसंसाराद्याय)। वालक की अज्ञ देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हानि है। देव में अज्ञ देने में हानि नहीं है विशेष फायदा होता है—विराजितेवालोऽत वालो नातुरेन्द्रमृदुते । (अष्टांग संग्रह)। काश्यपसंहिता में अस्तेवन की जो साल भर की मर्यादा बताई गई है, वह 'तेतु संसरयन धीरसा' (सूक्ष्मायन ३५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र के वक्तव्य में अध्यापाशन का वास्तविक काल एक वर्ष की ही मात्र है। 'अपैन जातिदशनम् इस स्तोक की दीक्षा में हिन्दु लिखते

शारीरस्थानम्।

ध्याः १०]

—अथ वर्षदन्तरं जातदनानं वालं क्रामः तनावपनयेत् । अथ स्वास्थ्यपर्संहिताकार की वच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है । फलों से वालकों को सुपात्र रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो वचपन के शारीरस्थिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं ।

अग्रप्रापान, दन्तोद्देश और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है । इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्देश का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रृत संहिता में नहीं किया गया है । स्तनापनयन (Menses—)

के काल का विचार पीछे १५वें श्लोक के वर्क्षय में किया गया है । स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना चेत नहीं है और उसी के साथ साय क्रम से लक्ष्मप्रापान । गौ के दूध का सेवन करना चाहिए । आयुर्वेद का यह क्रम सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष, क्रम से लौर और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना । चाहिए—क्रमेणपरगद-दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः । नाञ्चुनिति पुनर्भवप्रभक्ष्या भवति हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांगा संग्रह में वर्तये हैं—तुर्यादपत्वनं स्नेहसंक्रान्त्या स्नेहान्तेः । वीभत्यैर्याकासेक्षित्रिस्त्रवदशेनः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का भूतलव यह है कि वालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना । इसी क्राम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुक-गृह्णाजितोपलैः । अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिक्षः ॥

न्यापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुरध्वसेवन से अगर छक्र में अस्त्री की भन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो नम्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—रीपनो वाल-विलैलाशर्वरालाजसकृमिः । संग्राही धातव्रीपुष्पशर्वरालाज-तर्पणैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दन्तोद्देश (Dentition—) तथा विवाहित द्वियों के जीवन में सागर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्व की घटनाएँ हैं, वैसों वाल्यावस्था में दन्तोद्देश की घटना होती है । ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिए । परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घटनाएँ में किया जाता है—स्तोद्देश सर्वरोगायतनम् । पृष्ठमङ्ग द्यालाना विहिणा च दिलोद्देशे । दन्तोद्देश च वालाना न होनेविषय ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य शीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खाराव करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं । अनेक वालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खाराव रहता ही है । इसलिए दन्तोद्देश के संबंध में इसका कारण की कथना हो सकती है । जिस वालक का स्वास्थ्य श्री होता है, उसको दाँत निकलने के समय भारा सी भी ल्लीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रखे हैं । मनुष्यों को दाँत, दो वार आते हैं । जो रहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त या अस्यायी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं । जो दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्वायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २०

से होती है उसकी लक्षणीय का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु अपविनोदि से होता है जिस दौरे विविध क्रियाएँ की जाती हैं ।

है—दन्तोद्देश दोषदुर्बोलतान्वयद् रसो च प्रददेऽ। द्वात्रात्स्विन्द्रियै द्वीतीयद्वेष्टै । दद च द्वरेषां तु चुम्हंदै । द्वात्रात्स्विन्द्रियै द्वीतीयद्वेष्टै । दद च द्वोदत्स्वैर्वैत्ताद् द्वात्रात्स्विन्द्रियै द्वीतीयद्वेष्टै । उन्द्रेन्तों दी द्वरेषां च शरन्म इति सात से होता है और २५वें साल तक है दूसरे निकट आते हैं । इनकी संख्या बड़ी है दीर्घ दिनों के लिए इन्द्रेन्तों का दाँत यह श्रुत ग्रुप्त होता है । परन्तु यह श्रुत ग्रुप्त द्वारा लिए ग्रुप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उन्द्रेन्तों में से दाँत दीर्घ दैर्घ्य एक ही दाँत द्वारा होते हैं और दीर्घ दैर्घ्यों का पुनर्जन्म होता है । लक्षण यह स्फुटाव वैसे रूप से द्विज होते हैं—इस लक्षण स्फुटाव विविद व्यवहारः स्फुटद्वाव भवन्ति, अतः देह द्विजः । (क्रमवर्तनसंदर्भम्, दन्तजन्मनिकाच्चायाः) । यहाँ पर क्षम्य द्वारा गलत स्फुट दन्तजन्म होता है, इसके द्वारा द्वादश होता चाहिए । ये द्वादश स्फुटमन्त्रात् दाँत दाँत (Molars) हैं । सुखमन्मय के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक मेदक (Canines) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं । इस तरह प्रत्येक हनु के एक पत्र में पाँच दरके कुठ वीस दाँत वचपन में निकलते हैं । पुनर्दन्तों में ये वीस दाँत इनके अलावा हनु के प्रत्येक पत्र में तीन चर्वणक (दाँत) कहके दोहरे दाँत अधिक होती हैं । नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल द्विया लाता है—

नाम	प्रथमदन्तकाल	नाम	पुनर्दन्तकाल
नीचे के अन्वक्तव्यनक	६-९	प्रथम चर्वणक	६ वर्ष
मास तक		मास तक	
ऊपर के चारे कर्तनक	८-१०	कर्तनक	८-९ वर्ष
मास तक		मास तक	
नीचे के वाल्य कर्तनक	१२-१४	पूर्व चर्वणक	१-१० वर्ष
'मास तक		'मास तक	
आगते चार पूर्व चर्वणक	१२-१४	मेदक	११-१२ वर्ष
मास तक		मेदक	
मेदक	१६-२०	पूर्व चर्वणक	१२-१३ वर्ष
मास तक		पूर्व चर्वणक	
पिछले पूर्व चर्वणक	२०-२४	तीव्रीय चर्वणक	१७-२५ वर्ष
मास तक		मास तक	

यह साधारण काल है । इसमें न्यूनाधिकता या संकरी है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत देव वर्ष के द्विशु के १२ दाँत, दो वर्ष के द्विशु के १६ दाँत और छार्ड वर्ष के द्विशु के २० दाँत होने चाहिए । छठे से में चार दाँत निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है । साधारणतया नीचे के जबडे के पहले निकलते हैं और पश्चात वे दाँत ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म निकलते हैं । आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का प्रथम दन्त उत्पत्ति माना गया है और उसके दाँतों का प्रथम दन्त निषिद्धन्ते तात्पर्य दियता है—यावस्त्वेव च मासिषु जातस्य सत उद्दिद्यन्ते यायिष्यते । यावस्त्वेव च मासिषु जातस्य सत उद्दिद्यन्ते च वयेषु पतिवाः पुनर्दन्तिर्वायन्ते । तत्र मध्ये द्वादुत्तरी मंडी यवदत्, वी पवित्री, तस्मात्ताम्भा खड़े न अपविनोदि से हैं । तत्र सद्वत्तजन्म च, पूर्वसुत्तरदन्त

है। शान्ति में गी का भी दूध है और दैसा (Whole milk) ही दूध देने में वोइं आपत्ति नहीं होती, यद्यकि कायदा पर होता है कि वर्षे को दम सुन्दर आता है। वेस्टर्न किंवा दूध दूध से मानवरोप की रिहायदान शाया होती है। गी के दूध का यह दस्तावर गुण चारक, भुजल, वामट इन अन्यों में बहुत मिक्का, परन्तु कारबद्धमिता में विवेच स्पष्ट से मिलता है—चैरमाप्रायिमध्यादिरेखदति दृष्ट एवं। एकमात्र वरदातुक गी योर रक्षावन्। दृष्ट वैशिकिन्युदो गोवीतस्म प्रदर्शिण ॥ (भीसुग्विवेशाभ्याम्)। परन्तु इसमें दूध की निर्देशन पर ध्यान देना चाहिए। निर्देशन की ही से पर्याप्त हो सके तो बालक को घारोला दूध देना ही उचित है। घारोला दूध ऐसे लेना चाहिए, इसका विचार सूखप्राप्ति के रूप में अध्याप्ति के ११ वें सुकृत के वक्तव्य में किया गया है। घारोला न मिल सके तो दूध के एक उपाय देवर उस चाहिए।

महार म सन्नामाप होने पर गो का घायल दृष्टि
मिल सके तो देना उत्तम पड़े हैं। यदि घायल दृष्टि
म मिल सके तो दृष्टि को उत्तराधिकार देना उपिषत् है।
एह सर्वां दृष्टि मुशाफिह ज हो तो तिहाई पानी और
पांची चाँची मिलाधर दे सकते हैं। इनेह करके जनसिंह दृष्टि
प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना दीक है। उपके बाद
सर्वां दृष्टि दे सकते हैं। आगुवें में सर्वां दृष्टि देने का हो
रितार है। बैठक द्युप्राप्तम् या लालितां दृष्टिपानी के साथ
बहु दशाना जाना है और उसमें घोड़ी चाँची भी मिलाई
जानी है—भृक्षणों दरद-गंग वर्ष वा शुक्ला विनेद। हरेन
प्रसुतेन विवरण वा शिव्युग्र (अग्राहण)। आज कल
इस्तों को दृष्टि लिया जानी और चूपनी (Toupe)।
का उपयोग किया जाना है। हरमें दृष्टि लिये में दृष्टि गविता
जहर है, जानु यदि उनकी गर्दाई की ओर घ्याव न रिया
जाय तो हमें बाल डा बाल डी भारता अधिक मुख्याल
होने का इरहाना है। बाल दृष्टि लियाने के बाह एम लानी है
इस्तों गाल डाके इमान लाहिप। अपाया घोड़ी और चूपनी
दृष्टि हारव विविष ऐग उत्तर इसको दे—ग ३ (कन्दिरन्
को द्युप्राप्ति विनेद)।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक समिति का प्रबन्ध

(असाधारित्य—) या दृष्टि में उपरोक्त इत्यका श्री
गिरह असाधारित्य होता है ॥ ५३ ॥

परम-दीने ११ में यूप के बाराव में दृष्ट बाहर
का दृश्य है जो लागू-विधाया की अर्थात् नीति दीने की
दृष्टि है और एक भवतावधी वास्तविक सत्ता और वस्तव
के दृश्यम में एक वासी है—यहै लागू-विधाया का
दृश्यावधी, जो विश्वास देता विश्वास का विश्वास है
(विश्वास वासी)। लागू-विधाया में दृष्ट दृश्यम
भवता वासी है। यहै कि एक विश्वास विश्वास
दृश्यम विश्वास का विश्वास है (विश्वास
वासी)। यूपादीन वासी विश्वास की विश्वास
वासी है—विश्वास का विश्वास है। यूपादीन
विश्वास का विश्वास है—विश्वास का विश्वास है।

संस्कृत विद्यालय की विज्ञप्ति अंग्रेजी

है—अथ वर्षदन्तरं जातदशनं वालं क्रमशः स्तनापनयेत् । काश्यपसंहिताकार की वच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है । फलों से बालकों को सुपात्र्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो बचपन के शरीरधृदिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं ।

क्षमप्राशन, दन्तोद्देश और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है । इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्देश का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है । स्तनापनयन (Weaning)—इसके काल का विचार पीछे १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अक्षमप्राशन या गौ के दूध का सेवन करना चाहिए । आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणपगतदोषाः क्रमेणोपगता गुणाः । नान्युवन्ति पुनर्भवमप्रकाम्या भवन्ति हि ॥ (घरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांगा संग्रह में चतावे हैं—कुर्यादपस्तनं स्नेहसंकान्त्या रत्नलेपनैः । वीभत्सैर्वावकासेकुविमक्षतदशनैः ॥ स्नेहसंकान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना । इसी क्रम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुकमधुलानसिनोपलैः । अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ स्तन्यापनयन तथा अक्षसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अन्नी की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निन्न औपधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—रीपनो वालविनैतार्याकरालाजस्तुभिः । संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाजतपैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दन्तोद्देश (Dentition)—तरुण विवाहित छियों के जीवन में सर्वावस्था और प्रसूति जैसी महसूब की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्देश की घटना होती है । ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिए । परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घटनाओं में किया जाता है—दन्तोद्देश चर्वरोगायतनम् । पृष्ठभूमि विदालानां वर्हिणां च शिखोद्दमे । दन्तोद्देश च बालानां न हि किञ्चित् दूते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं । अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है । इसलिए दन्तोद्देश के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है । जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय जरा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं । मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं । जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त या अस्तमी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं । जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु से होता है और दौर्दृष्टि की आयु तक वे पूरे निकल आते

हैं—दन्तोद्देश दीर्घमुषोऽप्तमासाद् परतो वा प्रवर्तते । इतरेषा तु चतुर्थादि । तत्रादिमज्जानी दन्तोपत्तिहेतू । तदा च तयोरसम्पूर्णदीर्घत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्यमाणधातुत्वाच्च पुनरुत्थानम् । पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छ्युटे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं । इनकी संख्या चत्तीस होती है । दाँतों के लिए 'दिज' शब्द प्रयुक्त होता है । परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और वीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है । अतः बारह सकृज्ञात और बीस द्विज होते हैं—इह खण्ड नुणां द्वाविशदन्ताः, तत्रायौ सकृज्ञाताः स्वरूपदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय) । यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए । ये द्वादश सकृज्ञात दाँत दाँड़े (Molars) हैं । सुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisor), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं । इस तरह प्रत्येक हनु के एक पत्र में पाँच करके कुल चीस दाँत बचपन में निकलते हैं । पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पत्र में तीन चर्वणक (दाँड़े) करके बारह दाँड़े अधिक होती हैं । नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम नीचे के अन्तःकर्तनक	प्रथमदन्तकाल ६-९	नाम प्रथम चर्वणक ६ वर्ष
ऊपर के चारों कर्तनक	८-१०	मास तक
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२-१४	मास तक
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२-१४	मास तक
मेदक	१६-२०	मास तक
पिछले पूर्व चर्वणक	२०-२४	मास तक
		द्वितीय चर्वणक १२-१३ वर्ष
		तृतीय चर्वणक १७-२५ वर्ष

यह साधारण काल है । इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, देव वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और दार्दी वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिए । छठे साल में चार दाँड़े निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है । साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं । आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावस्त्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्दिधत्ते तावस्त्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्दिधन्ते । तत्र मध्ये द्वादुत्तरौ राजदन्त-संज्ञौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताम्यां खण्डे न श्राद्धमहिति अपित्रो हि सः । तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विलदन्तजन्म च, हीनदन्तनाता च, अधिकदन्तनाता च, करालदन्तनाता

न, विर्णवन्तवा च, स्फुटिदन्तवा चामङ्गल्या भवति ॥ पूर्णता, समर्था, घनता, चुप्तवा, क्लिप्पता, क्लिप्पता निर्मलता, निरामयता, किंचित्तुरोक्तदा, दस्तक्षयनामां च समग्र रक्ता लिप्पता शृद्धनस्थिरमूलता चेति दन्तसम्पुद्धते ॥ (काशयपसहिता)। राजदन्त स्थब्द का प्रयोग चरक में भी मिलता है। इससे Upper central incisors का बोध होता है। ये दाँत सामने विशेषतया प्रकट रहने के कारण हम्ही के ऊपर दन्तरूपिक भी शोभा निर्भर होती है। इसलिए राजदन्त (दन्तानो राजा) कहलाते हैं।

दन्तोद्देव की प्रक्रिया—दाँतों की उत्पत्ति दन्तबींगों (Special dental germs) से होती है। ये बीज प्रथेक जबके में प्रथम दाँतों के लिए दस और पुनर्दाँतों के लिए सोलह होते हैं। प्रथम दाँतों के बीज आगे और पुनर्दाँतों के पीछे होते हैं। दन्तबीज की कल्पना अट्टीगंसप्रदृश में स्पष्ट रूप में मिलती है—न पुनर्ननोत्पत्तिर्लालिपतिनान तदपिण्डानगनामात्तुजीञ्जात् । (उत्तर २)। वदिधाने दन्ताविधाने गतो यो दन्तोपको धातुसंदैव बीज तथ्य नाशात् । (इन्द्र)। हृस बीज से उत्पत्ति काल पर दाँत उत्पत्त होकर मसूरी को छेदकर जबके से बाहर आते हैं। इसी को दन्तोद्देव कहते हैं। बालक का स्वास्थ्य ईक न होने पर मसूरी को छेदकर जब दाँत बाहर आते हैं तब ज्वर, चिकित्सापन, रोदन, चिकित्साद्वारा पतले दस्त, निद्रानाश, मूत्री, कर्णशूल, खांसी इत्यादि अनेक व्यपद्धत उत्पत्त होते हैं। दाँत जब बाहर आते लगते हैं, तब मसूरी में सरसराहट भी होती है जिसके कारण बालक हर एक बीज को मसूरी से काढ़ना चाहता है। यह एक स्थानाविक कार्य है, जो दाँतों के बाहर आते में सहायता करता है। इसलिए दाँत निकलना प्रारम्भ होने पर व्यपद्धते को कभी कभी एकाध चीज ऐसी देनी चाहिए, जिसमें दाँतों का उपयोग आवश्यक होता है। इससे दाँत जबदो निकल आते हैं और मसूरी होते हैं—तो ही भातू, कलकमेल व्यपद्धताने यदा दन्तात्मनप्रवर्षये तदास्य किंचित्तुरेषेनोचोरोदन्तमासासपृष्ठनादकहीं जायते । तदेन च ये या कृष्णस्य चूकुल इत्यनें यथादात्मते तदास्यमानदत्यति । मारुतशास्त्र दन्तमूलूपू मृद्धनि । ततः स कानुविद्वृद्धिरित्यमज्जितिः सर्वतो विसर्जन सर्व वित्तेन चातूर् मनोऽप्त दृवयन् विधिवायोदिनानुपदावानभिनवर्तयति ॥

दाँतों का स्फुटन अस्थि के समान होता है (पूर्वों अस्थिय के २२वें सूत्र का व्यक्ति देखो)। इसलिए आयुर्वेद में दाँत अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिरेतु अस्थि ही माना गया है—नारियमज्जानो दन्तोपचितृत् । (अट्टीगंसप्रदृश) और अस्थियों के साथ दाँतों के रोग भी जातये गये हैं—प्रथिवयेत्विषयूल दन्तसम्भ्रहो रोग च । अस्थिय के २२वें सूत्र का व्यक्ति देखो)। (सूत्र १२)। दाँतों को अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिरेतु अस्थि ही माना गया है—नारियमज्जानो दन्तोपचितृत् । (अट्टीगंसप्रदृश) और अस्थियों के साथ दाँतों के रोग भी जातये गये हैं—प्रथिवयेत्विषयूल दन्तसम्भ्रहो रोग च । अस्थिय के २२वें सूत्र का व्यक्ति देखो)। (सूत्र १२)। दाँतों को अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिरेतु अस्थि ही माना गया है—नारियमज्जानो दन्तोपचितृत् । (अट्टीगंसप्रदृश) और अस्थियों के लिए चूता (Cicatrix) और जीव-दृश्य ही (सूत्र १३-१४ के वर्तन में जीवदृश्य देखो) ही आवश्यकता होती है। आहार में दोनों उपरियन रहने से हड्डियों और दाँतों की कृदि ईक होती है। एक दा-

दोनों की कमी होने से फक्क या अस्थिवक्रता (Rickets) अस्थियस्तुता (Osteomalacia), कुमिदन्त (Dent caries) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। अस्थिवक्रता व्यक्त कर रोग है। इसमें चूने की कमी से या जीवदृश्य ही द कमी से चूने का साम्बन्धिकरण ईक न होने से हड्डियों और दाँत ईक नहीं बनते, जिससे हड्डियों मृदु होती हैं और दाँत देर में निकलते हैं तथा याराव होते हैं। हड्डिय मृदु होने के कारण शरीर के द्वाव से वक हो जाती है यह ब्रह्मा हाथपैद की हड्डियों में और पसाठियों में अधिक विवर्ण होती है। अस्थिय या दन्त के रोगों में, इसलिए, दूष अण्डा, फल, साग-सब्जी, मदुली का लेल, सूर्यफ्रक्क इत्यादि चूता और जीवदृश्य ही इनसे उपक आहार-विहा रखने से सफलता मिलती है। एक कथा है—यह व्यक्ते का पक रोग है, जो काशयपसहिता में कुछ विस्तार से वर्णन (फ़ाक्चिकिस्ताप्याय) किया गया है। व्यक्त सुक्षितादि अन्य उपलक्ष्य प्रयोगों में इसका नाम तक नहीं मिलता। इसके कारण और लक्षण निचे दिये जाते हैं—वातः स उत्तरात् (पात्र) पादाभ्यां यो न गच्छन। स एक इति विवेषन्य वद्यामि लक्षणम् । सुरुचिपित्तचाहृत्वदेशर्वशीर्ष-मुखः । पीनादो इवित्तागद्व इत्यमानसिरिपित्तर । प्रस्तावनापर-कायश नित्यवृत्तीपृष्ठृत । नित्यवृत्तापरादो या पाण्याशु-गमोद्दिव वा । दोवस्यामन्देचेष्व गदावद् परिभूतः । मचिका-कृमिरीठानो गम्यस्यासपृष्ठुलुक् । विशीर्णहृषोरो य स्त्रभृतोमा मध्याभ्याः । दुर्गंधी मालनं त्रोधी विशिक्षिति दायन्यन् ॥ फ़क का सुख लक्षण यह बताया गया है कि जिस समय बालक को छलना फिरना चाहिए, उस समय वह चल फिर नहीं सकता। इस लक्षण को छलनासामर्थ्य (Inability to walk) कहते हैं। छलने का असामर्थ्य दो प्रकार का होता है—एक छलने किरने का कायं मूलु होने के बाद और दूसरा छलना फिरना चूकुल होने के पहले। यहाँ पर एक वर्ष की जा मर्यादा बतलाई है, उससे यह असामर्थ्य दूसरे प्रकार का मान्यम होता है। इस असामर्थ्य के तीन कारण रावट हचीसन देते हैं—अस्थिवक्रता (Rickets), अंगायात (Paroxysm) और कुमिदीनता (Mentally defective)। एक रोग तीनों में से एक होना चाहिए। अब अन्य लक्षणों का विचार किया जाता है। मध्यः दृश्योतु—यहों के उद्धरणिके मुलय हो कारण होते हैं—अस्थियस्तुता और उदरपृथक (Tabes mesenterica)। शिरोऽङ्गि के भी दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और जलशीर्ण (Hydrocephalus)। नित्यवृत्तीपृष्ठृत—बार बार मलयाग करने वाला प्रवाहिका (Diarrhoea) युक्त। यह लक्षण उपर्युक्त रोगों में से अस्थिवक्रता और आन्त्रदय में होता है। बीमी—चिह्निका (Irreducible)। यह लक्षण अन्य रोगों की आपेक्षा अस्थिवक्रता में ही मिलता है। अस्ति दायन्य—दमगेती, धाती ही विहृति, खांसी इनके कारण अस्थिवक्रता में सौंस दायन्यी यह लक्षण अधिक मिलता है। संपेत में प्रधान लक्षण तथा अन्य लक्षणों का विचार करने पर एक आयुर्वेदिक अस्थिवक्रता (Rickets) मान्यम होता है। परंतु यह दाँतों रोग शीघ्रता से पहले जाय तो दोनों ही एकता अद्वैत्यान में भर्ती आती। इसका कारण यह है कि अस्थि-

वक्रता के वर्णन में अधिक जोर शारीरिक विकृतियों के ऊपर दिया जाता है और फक्क के वर्णन में शारीरिक कार्य की विकृतियों के ऊपर दिया गया है ।

फक्क के कारण—धात्री क्षेत्रिकदुष्प्रभा तु फक्कदुष्प्रथेति संशिता । तत्क्षीरपो वहुव्याधिः काश्यात् फक्कत्वमाप्नुयात् ॥ क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसंभवम् । फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तम्—॥ (काश्यप-संहिता) । अस्थिवक्रता का सुख्य कारण जीवद्रव्य ढी की कमी है । इसके सिवा चूने की कमी, स्नेह और प्रोभूजिनों की, पिष्ठमय पदार्थों की अधिकता ये भी आहार के दोष इसके कारण माने जाते हैं । पाश्चात्य ग्रंथों में यह लिखा जाता है कि अस्थिवक्रता रोग कृत्रिम दुर्धपान करने वाले वालकों में होता है, स्तन्यपान करने वालों में नहीं होता । यह कथन ठीक नहीं है । जिस प्रकार का सदोष आहार वालक में अस्थिवक्रता रोग उत्पन्न कर सकता है, वही आहार माता का स्तन्यपान करने वाले वालक में माता के हारा वही रोग उत्पन्न कर सकता है । इसी दृष्टि से अगर देखा जाय तो सदोष स्तन्यपान फक्क का कारण हो सकता है और भारतवर्ष में कृत्रिम दुर्धपान की अपेक्षा सदोष स्तन्यपान इस रोग का अधिक महत्व का कारण होता है । इस रोग का सुख्य कारण जो जीवद्रव्य ढी—चह जैसे खाद्य द्रव्यों से शरीर को मिलता है वैसा ही सूर्य की किरणों का शरीर की त्वचा पर कार्य होने पर शरीर में ही उत्पन्न होता है । भारतवर्ष सूर्य-प्रकाश वाला और उषण देश है । मनुष्यों की त्वचा भारतवर्ष में सूर्यकिरणों के लिए प्रतिदिन न्यूनाधिक समय तक अनाधित रहा करती है । ग्रंथियों में इतनी अनाधित नहीं हो सकती, यह बात सत्य है । इसलिए उनके शारीर में जीवद्रव्य ढी की कुछ कमी हो सकती है । यूरोप के शीत और अतिशीत प्रदेशों में जहाँ पर सूर्यप्रकाश की कमी होती है और मनुष्य हमेशा चाल्छादित रहते हैं, वहाँ पर जीवद्रव्य ढी की कमी भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है । इसलिए यूरोप के देशों में इस रोग का स्वरूप जितना तीव्र और प्रस्फुट होता है, उतना भारतवर्ष में कदापि नहीं हो सकता; इस बात को जख्ल ध्यान में रखना चाहिए । पाश्चात्य ग्रंथोक्त अस्थिवक्रता के लक्षणों से फक्क के लक्षण पूर्णतया न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें उपर्युक्त कारण बहुत महत्व का है ।

सम्प्राप्ति और लक्षण—जीवद्रव्य ढी की कमी सं चूना, भास्वर (फास्फरस) तथा हड्डी के लिए आवश्यक अन्य खनिनों का शोपण और सात्त्विकरण ठीक न होकर वे खनिज हड्डियों में भली भाँति संचित नहीं होते, जिससे अस्थियाँ मृदु रहती हैं और उनकी हृद्दि ठीक नहीं होती । इसका परिणाम यह होता है कि जिन हड्डियों के ऊपर दबाव पड़ता है, वे हड्डियाँ टेढ़ी हो जाया करती हैं । जैसे, हाथ-पैर की हड्डियाँ, छाती की पसलियाँ दृश्यादि । यह लक्षण पाश्चात्य ग्रंथों में विशेष रूप से वर्णित होता है परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह लक्षण रोग की तीव्रता का निर्दर्शक है, जो भारतवर्ष में बहुत ही कम देखने में आता है । फक्क के लक्षणों में अस्थियों की वक्रता का निर्देश न होने का यही कारण हो सकता है । इस लक्षण के अतिरिक्त शेष सब लक्षण फक्क के चौर्थे में दिलेते हैं । लिङ्गस्त्रियों में यह लक्षण का अस्थिवक्रता का अनुसार विद्यमान है ।

वे निम्न लक्षण हैं । स्वस्थ वालक में पूर्वतालु १८-२४ वें महीने तक पूर्णतया बंद हो जाती है और दाँत ६-८ वें महीने में निकलने लगते हैं । फक्क या अस्थिवक्रता से पीड़ित होने पर दोनों में देरी हो जाती है और जो हड्डियाँ या दाँत बनते हैं, वे कमज़ोर और खराब होते हैं ।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात् ; प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गभ्यो रद्या वाला भवन्ति ॥५३॥

(ग्रहोपसर्गप्रतिपेध का उपाय—) वालक की रक्षा करने वाला हमेशा (ग्रहों के) उपसर्ग के भय से अवरोध के भीतर रहे, (क्योंकि) ग्रहों के उपद्रवों से वालकों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती है ॥ ५३ ॥

• वक्तव्य—अवरोधरत—अवरोध का अर्थ अन्तःपुर या या मकान का अहाता होता है । समय असमय वालक को बाहर ले जाने के संबंध में यह निर्देश है । तीसरे महीने के बाद वालक को मकान के बाहर ले जाने में वैसी आपत्ति नहीं होती । पिछले सूत्र के वक्तव्य का प्रारंभ देखो ।

अथ कुमार उद्दिजते त्रस्यति रोदिति नप्रसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्रानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति ज़म्मते झुचौ विचिपत्यूध्यं निरीक्षते केनमुद्गमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दोनार्त-स्वरो निशि जागर्ति दुर्वल्लो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छु-न्दरिमत्खुणगन्धो यथा पुरा धात्याः स्तन्यमभिलवति तथा नाभिलवतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टप्रलक्षणसुकं, विस्तरेणोक्ते वद्यामः ॥ ५४ ॥

(ग्रहोपसृष्ट सामान्य लक्षण—) वालक उद्विश होता है, डरता है, रोता है, बेहोश होता है, धात्री को तथा अपने को नखों से खरोंचता है और दाँतों से काटता है, दाँतों को कटकटाता है, आवाज़ करता है, जम्माई लेता है, भौंहों को चढ़ाता है, ऊपर देखता है, (सुख से) क्षाग निकालता है, दाँतों से ओठों को काटने वाला, (देखने में) क्रूर, पतले और आँखयुक्त दस्त होने वाला, दीन और आर्तस्वर वाला, रात को जागता है, दुर्वल मुरझाये हुए अंग का, मछली छुब्बन्दर और खटमल की गन्ध का, जैसे (ग्रहों का उपसर्ग होने से) पहले धात्री का दूध चाहता था वैसे नहीं चाहता है । ये ग्रहोपसर्ग के सामान्य लक्षण हैं । उत्तरतन्त्र (के सत्तार्द्दसवें अध्याय) में विस्तारपूर्वक होंगे ॥५४॥

शक्तिमन्तं धैनं ज्ञात्वा यथावण विद्यां ग्राहयेत् ॥५५॥

(अध्यापनविधि—) उसको शक्तिमान् समक्षकर वर्ण के अनुसार विद्या पढ़ावे ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—शक्तिमन्तम्—विद्याग्रहणशक्तिमन्तम् । कौटिलीय अर्थशास्त्र में चौलकर्म के पश्चात् याने चौथे वर्ष से अङ्ग और अचार पढ़ाने के लिए लिखा है—वृत्तचीकर्मा लिपि संख्यानं चोपयुजीत । (१-१) । रसुवेश में भी विद्याभ्यास के प्रारंभ का यही काल बतलाया है—स वृत्तचूलश्लकाकपचौरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः । लिपेण्यथावद् ग्रहोपेन बाद्मयं नदीमुखेन रसमुद्माविशत ॥ (३-२८) । यह लिपिलंख्या की शिक्षा वास्तव में विद्या नहीं कही जा सकती । वास्तविक विद्या का प्रारंभ उपनयन के पश्चात् धैनतय है । MADE WITH LOVE BY Avinash Shrivastava

प्रतिप का राहरहवे और वैरय का आहवे वर्ष में होना है, परतु यदि कुमार अधिक शक्तिमान् (अर्थात् वर्णनुसार शक्ति का स्वरूप भिन्न भिन्न होता है) हो तो आकाश का पौर्ववर्ष में, चत्रिप का छठ वर्ष में, और वैरय का आठवे वर्ष में उपनयन किया जा सकता है—गर्भादेश्वरे कुबृत आकाशस्योदयायनन् । गणदेवदत्ते राशे गर्भात् दादृये विद् । ब्रह्मचर्सवामस्य वार्षं विप्रस्य पद्मे । राशे वलायितं पाते देवस्यै हार्षिनोऽप्त्वे ॥ (मनुस्खति २-३६, ३०) । इसके साथ साथ यह भी घायन में रखना चाहिए कि उपनयन के पूर्व वेद को छोड़कर अन्य विद्याओं को पढ़ा सकते हैं—तो च मगवता वालीविना वाकीर्वं वसुरू परिगृहा रोपितो परितिष्ठी च वृत्तीकर्त्तव्योशे तदोक्तीवृद्धं मित्रादित्तो विद्या सावानेन परिनिष्ठिताः । समन्वन्तरं च गर्भादेश्वरे वर्षं चारेण वर्तनेनपीयं गुह्या प्रयोविषयमध्यापितो ॥ (उत्तरामपरित २) । ददावत्तं—आकाशलक्षणी, राजन्यो दण्डनीविष, वैश्वे वार्षायिति । (इत्यहु) । श्री—मार्गर्य जुर्वेदालयवी । वार्ता—कृषिग्राहुपात्ये वाणिज्या च वार्ता । वर्णार्थी वृद्धम् । अर्थात् वार्तायाम् । नदानदी दण्डनालाम् ॥ (कौटिलीय अर्थसाक्ष १-२, ३, ४) प्रत्येक वर्ष के लिए यह खो एक विद्या बताई गई है, यह मुहुर्विद्या करके रखाई गई है । इसके अतिरिक्त उभार्दि विषयों का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए । इसलिए धरक और आकाशगंगामह में वालक की विद्या के संबंध में निम्न प्रकार से संबंधिती वर्णन मिलता है—एवमेन कुमारभादीनप्रस्तर्वेष्टीर्वैतीत्यात् गमनाद्यात्मालदेष् । (चरक) । शक्तिनन्द यथाकर्त्त्वामध्या पदेचत् । अनुविष्टाद् सदा येन वर्णय विनयाय च । वर्ण नैदिय दुष्टाभैर्विष्टे यैवानाम् ॥ (वर्णागत्तम्भृत)

अथास्मै पञ्चविश्वतिवर्षाय द्वादशवर्षो पर्वीमा वहेत् पित्र्यधर्मर्थकामप्रजाः प्राप्त्यर्तीति ॥ ५६ ॥
 (विवाह—) विद्या समाप्त कर उक्तने के पश्चात् पर्वतीर्थ की उम्ब वाले आतक को बारह साल की पर्वी मदान करे, विसरे कि वह पित्र्य, घर्म, अर्थ, काम और प्रजा की प्राप्त हो जाय ॥ ५६ ॥

वर्णय—पञ्चविश्वतिवर्ष—इससे निश्चित आयु मानने की अपारपक्तता नहीं है । उत्तरों की विवाह की आयु विद्याम्यास के कल्पनेर होती है । यह स्थिति प्राचीन काल में भी और आधुनिक काल में भी है । विद्याम्यास का काल विद्याओं की संख्या और उक्ति की तुलामत के अनुसार व्युत्पन्निक होता है । इसलिए पर्वतीर्थ वर्ष से केवल वीक्षण प्राप्ति का सोध होना चाहिए । ऊपर चारक का वचन होता । अर्थात् चंगर में विवाह की आयु २१ साल की बतलाई है—पुमानेविष्टिवर्षं कर्त्ता द्वादशवर्षेवीमाम् वदेष्व ॥ पर्वतीर्थ से अधिक भी आयु ही सकती है—विद्यादेवेतत्तो हया द्वादशवर्षीर् ॥ (मनु ९-१४) । द्वादशवर्षं—प्राचीन काल में दिवों के विवाह की वह सापारन आयु है । दिवों के विवाह की आयु में बहुत फर्क नहीं होता था, क्योंकि आर्थर्वदान के पूर्व वनका विवाह करना वह चामिल विषय था । कभी कभी बादर साल से कम उम्र में भी दिवों का विवाह होता था—द्वादशवर्षी वा उसे लोक्य सत्तर ॥ (मनुस्खति ९-१४) । द्वादश वर्ष विषद् के

लिए योग्य काल होने पर भी समाधान के लिए योग्य काल नहीं होता है । व्यागे के स्त्रीक देखो । पित्र्यधर्मप्रकाशमध्या—विवृतित कर्म प्रिय आद्वानादि, अर्थं द्विष्टविवित वदानुदानादि, अर्थं हुवर्यादि, कामं हृत्यु स्तेतु विवैषिनिद्यामातुरूपत्वं प्रकृति, प्रजा पुत्रार्थदय ॥ (इत्यह) । काम और प्रजा स्त्री के विना नहीं मिल सकती, यह स्पष्ट है । आद्वा, वज्र आदि धार्मिक कर्मों में भी की आवश्यकता होती है । उसके विना वे कर्म नहीं कर सकते । इसलिए स्त्री सहस्रमध्यारिणी बहलाती है । अर्थ के संबंध में बुद्ध शक्ति उपस्थित हो सकती है । भी प्रयत्न पैसा कमाती नहीं है परतु पति से कमाये हुए पैसे भी रक्षा करती है—प्रयत्न स्थपते नैना अर्थे चैव नियोजेत । शोवे धर्मेन्द्रजपतर्यं च परिणामात्मपैषणे ॥ (मनुस्खति १-११) । प्राप्तार्थ का दीक व्यथ करना, यह भी अर्थमाप्ति का एक साधन है—Money saved is money earned

बगले स्त्रीके साथ स्था सुध्रस्थान के इसवें अध्याय के १४वें स्त्रीके साथ अगर इस सूत्र का समन्वय करना हो सो ‘पञ्चविश्वतिवर्षं’ के बदले अणोगसंप्रह के अनुसार ‘पञ्चविश्वतिवर्षं’ रेसा पाठ होना चाहिए, अथवा ‘द्वादशवर्षं’ के बदले ‘पैदवर्षी’ रेसा पाठ होना चाहिए । परतु दूसरा एक ग्राचीन कल्पना के अनुसार थीक नहीं हो सकता इसलिए प्रथम पाठमें ही सुनिक्त है ।

ऊनयोद्वादवर्षायामप्राप्तः पञ्चविश्वतिम् ।

यथाधर्ते पुमान गर्भं कुदिस्यस्यः स विषद्यते ॥ ५७ ॥
 जातो धा न चिरं जोवेज्जीवेदा दुर्वेलिद्य ॥

तस्मादत्यन्त्यालायां गर्भाद्यान न कारयेत् ॥ ५८ ॥

(प्रयत्न गर्भाधानकाल—) सोलह साल से कम उम्र (भी भी) में पर्वतीर्थ की प्राप्त न हुआ पुल यदि गर्भ का विद्यान करे तो वह (गर्भ) कुवि में ही मर जाता है ॥ ५९ ॥ या जन्म ले ली देर तक मही जीता, या दुर्बल हिन्दियुक्त जीता है । इसलिए अस्त्यन्त वाला में गर्भ का विद्यान करे ॥ ६० ॥

बचन्य—इस विषय का विवरण सुध्रस्थान के १५ वें अध्याय के १४ वें स्त्रीके वचन्य में किया गया है । आद्वर्वद का यह सिद्धान्त है कि, यदि एक पुरुष हो जावे जी, सोलह साल के एक्से मनुष्यसारीर स्वस्य प्रजा उत्पादन करने में असमर्थ होता है—तो द्वादशवर्षं विद्यामुक्तये प्रमदत । (कारपत सिद्धिता जातिसूत्रीय शारीराभ्याप) । इसका कारण यह है कि इस व्यापु में तथा इसके पूर्ण भी-उत्तरों के शोणित द्वाक अपरिपक्त होते हैं । अर्थात् अपरिपक्त भी-जीवे से उत्तर उत्पादन करने में असमर्थ होता है, वैसे ही अपरिपक्त द्वाकमाणित वक्त्तम प्रजा उत्पादन करने में असमर्थ होता है । कुविल—यह कोई आवश्यक नहीं है कि यहाँ पर विद्याएँ द्वारा विद्यान हो जायें । बाल्यावस्था में गर्भाद्यान करने से बया हो सकता है, इसका दिव्यदूर्वा कुपित इत्यादि से किया जाया है । मनुस्खनालायां—सोलह साल की भी वाला बहलाती है—ग्रीष्मे ग्रीष्मे तारो वारदर्शने दोहरा । (पोतारकार) । इसलिए सोलह साल से द्वितीय आयु कम होती है, यह अस्त्यन्त वाला भी होती है, उससे ।

अनिरुद्धायां दार्ढरोगिण्यामन्येन धा विषारेणोप

सुष्टुपायां गर्भाधानं तैव कुर्वते । पुरुषस्याद्येवं विधस्य
त एव दोषाः संभवन्ति ॥ ५६ ॥

(गर्भाधान के लिप अयोग्य—) अतिवृद्धा, दीर्घकाल
से रोगपीडित या अन्य विकार से उपसृष्ट स्त्री में गर्भाधान
न करे । इस प्रकार के पुरुष (से भी गर्भाधान कराने) के
वही दोष होते हैं ॥ ५६ ॥

वक्तव्य—अतिवृद्धा—अतिवृद्धाचारिणी । प्रौढ कुमारी,
विवाह के समय जिसकी आयु बहुत अधिक हो, ऐसी ।
बड़ी स्त्री ऐसा इसका अर्थ नहीं है । पुरुष के संवंध में मात्र
इसका अर्थ बड़ा पुरुष ऐसा है । इसका कारण यह है कि
गर्भाधान करने की योग्यता की आयुर्मर्यादा पुरुषों में
निश्चित नहीं होती, परंतु स्त्रियों में गर्भग्रहण करने की आयु
निश्चित होती है । उसके पश्चात् तरुण पुरुष भी स्त्री में गर्भ
का आधान नहीं कर सकता । त एव दोषाः—कुलित्यथः स
विषयते इत्यादि । विशेष विवरण के लिए २ अध्याय के इधरें श्लोक
के वक्तव्य में 'स्त्री पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल' देखें ।

तत्र पूर्वोक्तेः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशय-
कटीवृह्णाणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः
परिपेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनोयश्युतक्षीरपा-
नैष्ठ; गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीर-
मुत्पलादिसिद्धं पाययेत्; प्रस्त्रसमाने सदाहपार्थ-
पृष्ठशूलस्वर्णदरानाहमुत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं
चोपक्रामति गर्भे कोषे संरम्भः; तत्र स्त्रियस्त्रीताः
क्रियाः; वेदनायां महासदाच्छुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्रा-
कण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराकौद्रमिश्रं पाय-
येत्, मूत्रसङ्गे दर्मादिसिद्धम्; आनाहे हिङ्गसौवर्चल-
लशुनवचासिद्धम्; अत्यर्थं स्त्रिति रक्ते कोषाः-
गारिकागारमृतिपिण्डसमज्ञावातकीकुसुमनवमालिका-
गैरिकसर्जरसरसाज्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथा-
लाभं न्यग्रोवादित्वक्रूपवालकलं वा पयसा पाय-
येत्, उत्पलादिकलं वा कशेश्वरज्ञाटकशालूक-
कलं वा श्रुतेन पयसा, उदुव्वरफलौदककन्दकाथेन
वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिण्डं, न्यग्रोवादित्वरस-
परिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्; अथा-
द्वषशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमधिष्ठापयस्या-
सिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाशमन्तकशतावरीपयस्या-
सिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, वृहतीद्युयोतपल-
शतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवं क्षिप्रमु-
पक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्वाप्यायते; व्यव-
स्थिते च गर्भे गव्येनोङ्गमधुरशूलसिद्धेन पयसा
भोजयेत्; अतीते लवणस्नेहवज्जर्यभिर्यवागूभिरुद्धा-
लकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो
मासा गर्भस्य तावन्त्यहानिः वस्त्रयुदरशूलेषु पुराण-
गुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा ॥ ६० ॥

(गर्भपात की चिकित्सा—) पूर्वोक्त कारणों से गर्भ
निरन्तरे लगे तो गर्भाशय, कटी, वड्चन, वस्ति (इन स्थानों)

में पीड़ा और (योनि से) रक्तज्ञाव होता है । उस समय
शीतल परिपेक, अवगाहन तथा प्रलेपों से (वात्य) और
जीवनीय ओषधियों से सिद्ध शीरपान से (वाभ्यन्तरीय)
चिकित्सा करे । गर्भ का स्फुरण होने पर उसको शान्त
करने के लिए उत्पलादिसिद्ध जीर वार वार पिलावे ।
गर्भज्ञाव के समय दाहयुक्त पाश्चों और पीठ में शूल, योनि
से रक्तज्ञाव, आध्मान और मूत्रावरोध होता है । गर्भ के
एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते समय कोषे में खलबली
मचती है । उसके लिए स्त्रिय और शीत चिकित्सा करनी
चाहिए । वेदना होने पर मापणों, मुद्रणों, मुलहठी,
गोखरू, इनसे सिद्ध दूध खाँड और मधु मिलाकर
पिलावे । मूत्रावरोध में दर्मादि (वृणपञ्चमूल) सिद्ध
(दूध पिलावे) । आनाह में हींग, सौवर्चल लवण, लशुन
और वचा से सिद्ध (दूध) पिलावे । अत्यधिक रक्तज्ञाव
होने पर कोषागारिका (नामक कीड़ी) के घर की मिट्टी,
मजिष्ठा, धाय के फूल, वनमलिलका के फूल, गेहू, राल,
रसांजन इनमें से जितने द्व्य मिल सके उनका चूर्ण
मधु के साथ चटावे; अथवा न्यग्रोवादिद्युत्तों की त्वचा
और कोंपल के कल्क के दूध के साथ पिलावे; अथवा शालि-
धान्य के पिट को शंकरा और मधु से मधुर किये हुए
गूलर के फल के और (कमल आदि) जलकन्द के काथ
के साथ पिलावे; अथवा न्यग्रोवादिद्युत्तों के स्वरस में
मिगोये हुए कपड़े को योनि में धारण करावे । रक्तज्ञाव के
विना पीड़ा होने पर मुलहठी, देवदारू, मंजिष्ठा और
क्षीरकाकोली इनसे सिद्ध दूध पिलावे; अथवा पापाणमेद,
शतावरी, क्षीरकाकोली से सिद्ध अथवा विदारिगन्धादिगण
से सिद्ध दूध पिलावे; अथवा छोटी और बड़ी कटेरी,
नीलोत्पल, शतावरी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और
मुलहठी से सिद्ध दूध पिलावे; इस प्रकार तुरन्त चिकित्सित
स्त्री की वेदनाएँ नष्ट होती हैं और गर्भ भी वृद्धि को प्राप्त
होता है । गर्भ व्यवस्थित रहने पर कच्चे गूलर के फल से
साधित गोदुग्ध के साथ भोजन करावे । यदि गर्भ गिर
जाय तो पाचनीय द्रव्यों से संस्कृत नमक और धूत से
विरहित उद्धालक आदि (जंगली कुधान्य) की यवागुओं
से जितने महीने का गर्भ गिरा हो, उतने दिन चिकित्सा
करे; वस्तिदेश तथा उदर में शूल हो तो दीपनीय द्रव्यों
से पुराना गुड खिलावे अथवा अरिष्ट पिलावे ॥ ६० ॥

वक्तव्य—पूर्वोक्तेः कारणैः पतिष्यति गर्भे—मूढगर्भ
निदान के दूसरे स्त्र में, दसवें श्लोक में और इस अध्याय
के दूसरे स्त्र में वतलाये हुए कारणों से गर्भपात होने पर ।
प्रस्त्रसमाने गर्भे—Inevitable abortion. कोषे संरम्भः—
आमपच्यमानपकाशयादौ क्षोभः । (ढलहण) । पेट में खलबली
मचना या अत्यन्त वैचैना मालस्म होना । श्रीदाका: कन्दा:—
कसेश्वरालूकनदीमापकादयः । (ढलहण) । पयस्या—अर्क-
पुष्णी । (ढलहण) । व्यवस्थिते—स्थिरोभूते । अतीते—पतित
इत्यर्थः । दीपनीयसंयुक्तम्—पश्चकोलचूर्णसंयुक्तम् । अरिष्टम्—
अमयारिधादिकम् । गर्भश्वायायते—तन्त्रान्तरे चोपविष्टकास्योऽयं
गर्भः कथितः । (ढलहण) । उपविष्टक का स्वरूप निम्न

प्रकार से वर्णन किया है—तब दस्ता वादाचिक्षात्मवपरि-
सामाजिकी व इट्टवे सतन व गम्भीरात्मिकाण्डपरिहीयमान
व सुरक्षि न व कुचिक्षिप्ते हुएविष्कृतिस्थानचढ़ते ॥
(अष्टांगसंग्रह) । उपविष्टक का स्वरूप व्यावहारिक परि-
भाषा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं । जैसे, एक स्थान
से दूसरे स्थान को जाने वाला गम्भीर यकायट के काण
बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद
करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को
पहुँचता है, वैसे ही घृदि रूप प्रवास करने वाला गम्भीर
बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविष्टि) याने घृदि
रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता
है याने घृदि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को
पहुँच जाता है । सर्वेष में उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ
काल तक बैठने वाला गम्भीर—गम्भीरप्रवासनुपविष्टि ॥
(अष्टांगसंग्रह, शान् ४) ।

इस सूत्र में गम्भीराव (Abortion) या गम्भीरात (Muc-
carr agn) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है ।
गम्भीराव और गम्भीरात ये दो शब्द बाल के अनुसार गम्भीर के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूडगमैतिदान वै अध्याय के ११वें क्षाक का वक्तव्य देखो) होते हैं । परंतु व्यवहार में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं । गम्भीरात के दो
मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पान (Pus)—यह पीड़ा गम्भीराय के आकृत्यन से उत्पन्न होती है और आकृत्यन की
तीव्रातीवता पर पीड़ा की तीव्रातीवता निभर होती है ।
सूत्र म वेदना, शुल, सरमम, आनाह, भूत्यसर इत्यादि जो
लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या
परिणाम हैं । (२) नक्षाव (Uterine haemorrhage)—
यानि से रक्तस्राव होना यह गम्भीरात का महत्व का लक्षण है । रक्त का खाच ऊकाएँ और अधिक रक्ति में या धूरे
धूरे और अधिक रक्ति में हो सकता है । प्राय यह रक्तस्राव
थोड़ी याही देर के बाद यार बार (Recurring) हुआ करता है ।
गम्भीराय की अन्तर्काल से गम्भीर अपरा पृथक होने
के कारण रक्तस्राव हुआ करता है । इन दो लक्षणों के
अलावा और दो लक्षण मिल सकते हैं । वे इनके परिणाम-
स्वरूप में होते हैं । इनमें प्रथम ही निपात (Nipat)—
यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता है । दूसरा लक्षण ही गम्भीरायमुखिविस्तृति (Dilation of the cervix) । यह लक्षण गम्भीरायस्थोच के कारण
उत्पन्न होता है । रक्तस्राव का ही निर्देश ऊपर सूत्र में
रक्तदूरी, अस्थदूर करके किया गया है । ये दोनों लक्षण
जब किसी द्वी में, जिसमें गम्भीराय के निश्चित लक्षण
मिलते हैं, मिल जायें तो गम्भीरात की आशंका करके उसके
अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ।

गम्भीरात कई प्रकार का होता है । जब पीड़ा और रक्त
दूरी होने पर भी गम्भीराय से गम्भीराय में रक्तक घृदि
कर सकता है, तब उसको परिहार्य (Treated) गम्भीरात
कहते हैं । एक विद्रोहप्रकारान्वाय लक्षण गम्भीरायद्वे
व्यशक्ति व गम्भीर । उपविष्टक गम्भीर ये सब शब्द परिहार्य गम्भीर
पात के हैं । जब गम्भीर और अपरा गम्भीराय से अधिक पृथक्
होती है, रक्तस्राव और पीड़ा अधिक होती है, गम्भीराय का

मुख काफी विषृत हो जाता है और यह चिकित्सा करने पर
भी पुनर्वायन के आशा नहीं की जा सकती
तब उसको अपरिहार्य (Inevitabile) गम्भीरात कहते हैं । जब
गम्भीर सूत्र में 'प्रवसमाने' करके किया गया है । तब
गम्भीर सूत्र में 'बनाने' करके किया गया है । जब उसको सूत्र में
हस्तक्षण कहते हैं । हस्तक्षण उल्लेख सूत्र में 'बनाने' करके किया
गया है । जब गम्भीर या अपरा का कुछ हिस्सा गम्भीराय में रहता
है, तब उसको अपूरा (Incompleta) गम्भीरात कहते हैं ।

मध्यासाधना—चरक का मत है कि प्रथम तीन मर्दीने
के गम्भीर आजातसार होने के कारण प्राय ये गम्भीराय में स्थिर
नहीं हो सकते, हृतके पश्चात ही सकते हैं—ना चेदपचारद
द्वयोंजितु या मारेयु पुष्प पद्मवेदस्त्वा गम्भीरस्वतानि विचाद ।
प्रजातसारो दि तपित्र वर्णे भवति गम्भीर ॥ (शारीर ८) ।
स्वातरणतया परिहार्य गम्भीरात का परिहार चिकित्सा से
होता है । अपरिहार्य गम्भीरात का परिहार नहीं होता ।
चिकित्सा—गम्भीरात के लक्षण मालदम होते ही सूतों को विसर्गे
पर आत्मसे रखना चाहिए । स्वान् यान्, मण्—मूर्द्विसर्वन
इत्यादि के लिए उठाना बैठना, कुन्यना इत्यादि करने लक्ष्य
करने चाहिए—याने तांत्र युद्योगितिरस्त्रैणस्वीकारवत
तपित्रक प्रविदपस्तेति । क्षोधयोग्यासाधन्यवायव्यायामेभ्यशामित
तेष, सौम्यासित्येना व्याधिमिनोनुहृत्यागित्यासीउ ॥ (चरक) ।
तीव्र विरेचन या वस्ति न देना चाहिए । ये स्वस्थ द्वी में
भी गम्भीरात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गम्भीरात से वीडित
है, उसमें निक्षिति से गम्भीर का नाश कर देंगे । खाने के लिए
दूध जैवा हल्का आहार दिया जाय । परिहार्य गम्भीरात में
इसी से प्राय कार्य हो जाता है । रक्तस्राव और पीड़ाहरण
की सूक्ष्म थोथिधियाँ दे सकते हैं । पीड़ाहरण के लिए
प्राय रक्तस्राव द्वारा अक्षीम या मारिया (नृ ग्रेन लव्ह ड्राफ्ट)
या ओमाइडम देते हैं । रक्तस्राव रोकने के लिए अगांठ,
हैड्रोस्टिम, हीमोस्टारिक सीरम इत्यादि थोथिधियाँ देते हैं ।
इसके अलावा योनि में टेष्ट (Test) रखने का भी प्रयत्न
होता है । ऊपर के सूत्र में 'प्रकावद देन्या शारेत् देलो'
अपरिहार्य गम्भीरात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और
गम्भीर बाहर नहीं निकलता या असूयन निकलता है, तब गम्भीराय
को दवाकर (Expressing) या अकुलि या ताल्यन्त्र
(Uro-10) को गम्भीरात में प्रविष्ट करके गम्भीर को निकालने
की कोशिश की जाती है । गम्भीर यिर जाने पर सूतिका के
समान उसकी चिकित्सा करे । परित गम्भीर की चिकित्सा
अष्टागहद्य में निन प्रकार से बतलाई है—नमै निपन्ति
ये एष मध्य रामत्रये विष । गम्भीरप्रविष्टुदग्धमतिविमर्याय
त लक्ष्या पद्ममूलैरु रुपा वैया तत् पितृत् । वैयामदया वल्लै
सापितों पाद्यानीनिकै ॥ विलादिप्रद्वयवाये तिलोहलकलुहु ।
मासतुर्यदिनान्येवे पैयादि पितृते क्रम ॥ (शारीर २) । अथ
इष्टोपेतिवदनायम्—इसमें अ का अथ ईप्त या अमावस्या
सकता है । गम्भीरात में पीड़ा होती है परन्तु यह बहुत तीव्र
नहीं होती । इसके साथ प्राय रक्तस्राव होता है । जब
रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अधिक
होती है, तब विहीर्यायाय गम्भीरात । I opured extra
uterine pregnancy) का भी व्यान रक्तस्राव चाहिए । इसके
लिए शास्त्रकम के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है ।

वहिंगर्भं गर्भावस्था के लिए ४ अध्याय के ४ सूत्र के वक्तव्य में
‘संस्कृते नार्तदेवं’ की टिप्पणी देखो ।

वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः,
सोऽतिकालमवतिष्ठभानो व्यापद्यते, तां मृदुना
स्नेहादिक्षेषोपचरेत्, उत्कोशरससंसिद्धामनलय-
स्तेहां यवागू पाययेत्, मापतिलविलवशलादुसिद्धान्
वा कुलमापान् भक्षयेन्मधुमाधीकं चातुर्पित्रेत्
सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्य-
मुद्रखलं सुस्लेनाभिहन्याद्विषये वा यानासने सेवेत;
वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुञ्जि न
पूर्यति मन्दं स्पन्दते च, तं वृंहशीयैः पयोभिर्मास-
रसेश्वोपचरेत् शुक्रशोणितं चायुनाऽभिप्रपञ्चमव-
क्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यद्वच्छ्रुयोप-
शान्तं नैगमेषापहृतमिति भापन्ते, तमेव कदाचित्
प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत्
तीकारः ॥ ६१ ॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के
पद्वर से पीडित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है।
ह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर
जाता है। (इस लीन गर्भ में) चीं की मृदु स्नेहादि से
चिकित्सा करे, उक्तोश (कुररी—पचिविशेष) के मांसरस
ते साधित यवागू पर्याप्त चौह से युक्त पिलावे, अथवा
उड्ड तिल तथा बेल के शलादु से साधित कुलमाप-
सेखावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माधीक
पीते। अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया
ऊखल में धान्य ढालकर कूटे, अथवा चिपम वाहन या
आसन पर वैठे। वात से पीडित होने पर भी गर्भ सूख
जाता है। वह माता की कुञ्जि को पूर्णतया तर्ही व्यापता
और धीरे धीरे हल्चल करता है। उस(की माता) को
पुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे। वायु से
पीडित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवकान्ति होने
पर उदर को फुला देता है। वह कदाचित् अचानक शान्त
होने पर नैगमेषापहृत कहलाता है। वही कदाचित् धीरे
धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है। यहाँ पर
लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः— इसको लीनगर्भ कहते हैं—
यस्या: पुनर्वातोपस्थित्योत्तिसि लीनो गर्भः प्रस्तुतो न स्पन्दते तं
लीनमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह)। माधीकन्—महुवे का या
द्राक्षा का मध्य। कालातीतस्थायिनि गर्भे—गर्भाशय में गर्भ के
रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें
सूत्र के वक्तव्य में किया गया है; उस काल के पश्चात्।
सुस्लेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच
पैदा करने के लिए होते हैं। पीछे ७ वें सूत्र के वक्तव्य में
अन्तिम भाग देखो। कुञ्जि न पूर्यति—मासानुमासिक
घृद्धि के अनुसार कुञ्जि की जितनी घृद्धि होनी चाहिए,
उतनी घृद्धि नहीं होती है। नागोदर—इसी को उपशुष्कक
भी कहते हैं—उपशुष्कक नागोदर च। (अष्टांगसंग्रह)।
तं गर्भमुषुषकनागोदरशब्दाभ्यामाचक्ते। (इन्दु)। नैगमेष-

प्रहत—नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के बाद
कुछ काल तक गर्भघृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी घृद्धि
स्त जाती है और गर्भ सूखने लगता है। जो लोग
भूत-पिण्डाच के ऊपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को
नैगमेषापहृत कहते हैं। वास्तव में वातविकृति का यह
एक परिणाम है।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्कक या नागोदर या
नैगमेषापहृत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं।
आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए
निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ
मृतगर्भ (Interventricular death of the foetus) या मांस-
गर्भ (Carneous mole) के समान मालझ होते हैं। इनमें
लीनगर्भ कौन है और उपशुष्कक कौन है? कहना कठिन
है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के
अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं।
इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exception-
al cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained
for months, the so called ‘missed abortion’. Ten-
Teacher’s Midwifery. नागोदर को Carneous mole
कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वद्यामः ॥ ६२ ॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकि-
त्साक्रम) कहेंगे ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओपधियाँ गर्भस्वावप्रतिये-
धक होती हैं। अतः जिनमें गर्भस्वाव की प्रवृत्ति होती है,
उनमें इसका उपयोग करना उचित है।

मधुकं शाकवीजं च पयस्या सुरदारु च ।

अशमन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताप्रवज्ञी शतावरी ॥ ६३ ॥

वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा ।

अनन्ता सारिवा रास्ता पद्मा मधुकमेव च ॥ ६४ ॥

वृहत्यौ काशमरी चापि चीरिण्युङ्गास्त्रव्यो वृत्तम् ।

पृथ्विपर्णी वला शिश्रु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥ ६५ ॥

शुद्धाटकं विसं द्राक्षा करीरु मधुकं सिता ।

वत्सेते सप्तयोगाः स्युरधर्शलोकसमापनाः ।

यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्वावे पयोयुताः ॥ ६६ ॥

कपितथृहतीविलवपटोलेकुनिदिग्धिका ।

मूलानि चीरसिद्धानि पाययेद् भिपगष्टमे ॥ ६७ ॥

नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवा: पिवेत् ।

चीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्यादशमे हितम् ॥ ६८ ॥

सर्वारा चा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च ।

एवमात्यायते गर्भस्तीव्रा रुक्तोपशाम्यति ॥ ६९ ॥

(मासानुमासिक ओपधिकम—) (१) मुलहठी, सागवान का वीज, चीरकाकोली और देवदारु। (२) पायाणमेद, काले तिल, मजिष्ठा, शतावरी ॥ ६३ ॥ (३) वृक्षादनी (वृंदा), चीरकाकोली, लता (गुहची अथवा प्रियंका) और अनन्तमूल, कृष्णासारिवा, रास्ता, पद्मा और मुलहठी ॥ ६४ ॥ (४) अनन्तमूल, कृष्णासारिवा, रास्ता, पद्मा और मुलहठी ॥ ६५ ॥ (५) छोटी और बड़ी वृहती,

प्रकार से वर्णन किया है—तब यद्यपि कादाचिलसंतरपरिभासांवली च दूरयेते सतत च यथोः प्राप्तात्परिमाणादपरिहीयमानं च खुरनि, न च उचितिविवर्धते तमुपविष्टकमित्याचरते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । उपविष्टक का स्वरूप अ्यावद्वारिक परिभाषा में निम्न प्रकार से चता सकते हैं । जैसे, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य यकावट के कारण वीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बद करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को पूँपता है, वैसे ही वृद्धि स्व प्रवास करने वाला गर्भ वीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविष्टिया) याने वृद्धि स्व प्रवास बद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को पूँच जाता है । सर्वे में उपविष्टक का अर्थ वीच में कुछ काल तक बैठने वाला गर्भ—जो वृद्धिमान्त्रिक नुपविष्टि ॥ (अष्टांगसंग्रह, शा० ४) ।

इस स्त्र में गर्भमाव (Abortion) या गर्भपात (Miscarriage) के लक्षण और विकिसा वर्णन की गई है । गर्भमाव और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुभाव गर्भ के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूढगर्भनिदान व्यं अध्याय के ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं । परंतु अववाह में दोनों पर्यायलुप्त से ही प्रयुक्त होते हैं । गर्भपात के दो मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीड़ा (Pain)—यह पीड़ा गर्भमाव के आड़चन से उत्पन्न होती है और आकृत्यन की तीव्रताविका पर पीड़ा की तीव्रताविका निर्भर होती है । सूत्र में बैदाना, गुल, सरम, आनाह, सूत्रसंग हृत्यादि जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या परिणाम हैं । (२) नक्षाव (Uterine haemorrhage)—योनि से रक्तसान होना यह गर्भपात का महत्त्व वा लक्षण है । रक्त का साव एकाधिक और अधिक राशि में या घृणे घृणे और अल्प राशि में ही सकता है । आय यद रक्तसाव थोड़ी थोड़ी देर के बाद बार बार (Recurring) हुआ करता है । गर्भमाव की अन्तर्भूता से गर्भ और अपरा एकूण होने के कारण रक्तसाव हुआ करता है । इन दो लक्षणों के अलावा और दूर लक्षण मिल सकते हैं । वे निम्न परिणामस्वरूप में होते हैं । इनमें प्रथम है निपात (villation)—यह लक्षण अधिक रक्तसाव होने के कारण उत्पन्न होता है । दूसरा लक्षण है गर्भमावयुक्तिवस्तुति (Ullata 100 of ११८ ४११) । यह लक्षण गर्भमावस्कोष के कारण उत्पन्न होता है । रक्तसाव का ही निर्देश ऊपर स्त्र में रक्तदूर्दान, असूद्वार करके किया गया है । ये दोनों लक्षण अब दिसी थीं मैं, जिसमें गर्भमावराण के निश्चित लक्षण मिलते हैं, मिल जायेंगे तो गर्भपात की आधारिक करके उसके अनुसार विकिसा करनी चाहिए ।

गर्भपात कई प्रकार का होता है । अब पीड़ा और रक्तदूर्दान होने पर भी यह गर्भविकिसा से गर्भमाव में रहकर वृद्धि कर सकता है, तब उसको परिहाय (Tuberculosis) गर्भपात कहते हैं । एवं यह गुप्तजननादा उदाराने होने गर्भमावदाने, अमरण्डीय या गर्भ । उपविष्टक गर्भ में रक्त शब्द परिहाय गर्भ पात के हैं । जब गर्भ और अपरा गर्भमाव से अधिक पृथक होती है, रक्तमाव और दोनों अधिक होती है, गर्भमाव का

मुख काफी विवृत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर भी पुनर्श गर्भ के आप्यायन की आशा नहीं की जा सकत तब उसके अपरिहाय (Incurable) गर्भपात कहते हैं । इसका उल्लेख स्त्र में 'प्रक्षंतमाने' करके किया गया है । जब गर्भ पूर्णतया निर जाता है, तब उसके पूर्ण (Complete) गर्भपात कहते हैं । इसका उल्लेख स्त्र में 'मनोते' वरके किया गया है । जब गर्भ या अपरा का कुछ हिस्मा गर्भमाव में रहता है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात कहते हैं ।

साधारणाभ्यां—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने के गर्भ अजातसार होने के कारण प्राय वे गर्भमाव में स्त्रिय नहीं हो सकते, इसके पश्चात हो सकते हैं—प्रथम चैत्रवाराद इत्येतिपु वा मारुतु पुष्प पौद्येतास्या गर्भं स्वात्यवाति विद्यत् । नजातसारो द्वि तस्मिन् जाते भवति गर्भः ॥ (शारीर ६) । साधारणतया परिहायं गर्भपात का परिहार चिकित्सा से होता है । अपरिहायं गर्भपात का परिहार नहीं होता । चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालम होते ही सी को विस्तरे पर आराम से रखना चाहिए । सान्-पान, मल-सूत्रविसर्जन इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुन्धना, हृत्यादि कई वर्ष बन्द करने चाहिए—यथन तावनमुद्युक्तिविरास्तरणसतीर्णमिवदन-विदिरस्क प्रतिवशस्वेति । क्रोधशोकादाशस्वयावध्यायामेभ्यशामिर-केद, सीम्यामिदैवैना कथामिर्मनेद्वृक्तामिलासीपी ॥ (चरक) । तीव्र विरेचन या बस्ति न देना चाहिए । ये स्वरूप यीं में भी गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीड़ित है, उसमें निश्चिति से गर्भ का नाश कर देंगे । साने के लिए दूध वैता हुल्का आहार दिया जाय । परिहायं गर्भपात में इसी से प्राय कार्य हो जाता है । रक्ताचाव और पीड़ाहरण की सूक्ष्मोक्त धोपथियां दे सकते हैं । पीड़ाहरण के लिए पाश्चात्य वैतक में अक्षम या मार्किया (३ प्रेत वस्त्रा द्वारा) या ग्रोमाइडम देते हैं । रक्ताचाव रोकने के लिए अग्नं, हैड्रोस्टिम, हीमोस्टारिक सीरम इत्यादि धोपथियां देते हैं । इसके अलावा योनि में टेप्ट (Tinct) रखने का भी प्रयत्न होता है । ऊपर के स्त्र में 'रक्ताचाव योन्या भारयेद' देते । अपरिहायं गर्भपात में जब रक्ताचाव अधिक होता है और गर्भ बाहर नहीं निलंबित है, तब गर्भ-द्वारा के द्वारा कर (Expres sing) या अहूलि या तालपन्न (Uterus) को गर्भीयमें प्रविष्ट करके गर्भ भी निकालने की विशिष्टा की जाती है । गर्भ गिर जाने पर स्त्रिका के समान उसकी विकिसा करे । परित गर्भ की चिकित्सा अष्टांगहृदय में निम्न प्रकार से बतलाई है—प्रथम निपाति द्वीप्त स्थ सामादेन पिवेद । गर्भमाविगुप्तयमनिवारयम् च ॥ सुमुका पश्चमैन रुद्धा पेया दृष्टि रिवेद । पेयामध्यान वस्त्रे लायिता पाश्चायनिके ॥ वित्तादिप्रदर्शके तिलोदातवन्तुष्टै । मासाल्यविद्वान्येवं पेयादिः परिषेऽप्तम् ॥ (शारीर २) । यथा-इत्येतिपैदेवनायाम्—इसमें अ वा अप्तं एप्तं या अभाव हो सकता है । गर्भपात में पीड़ा होती है परन्तु यद बहुत सीध नहीं होती । इसके साथ याय रक्ताचाव होता है । यद रक्ताचाव कम होता है या नहीं होता तथा पेदना अत्यधिक होती है, तब अदिवायीशयं गर्भपात (Hoploured extra uterine pregnancy) का भी व्याप्त रखना चाहिए । इसके लिए रक्तदूर्दान के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है ।

वहिनैर्भ गर्भावस्था के लिए इ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में
‘संतुल्यते नारंयेन’ की टिप्पणी देती है।

यातोपद्रवगृहीतत्वात् न्नोतसां लीयते गर्भः;
सोऽतिकालमवतिष्ठानो व्याप्त्यते, तां मृदुना
स्तेहादिक्मेणोपचरेत्, उक्तोशरससंसिद्धामनलय-
स्तेहां यवाग्रं पाययेत्, मायतिलवित्वशलादुसिद्धान्
वा कुलमापान् भक्तयेन्मधुमधीकं चानुपिवेत्
सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्य-
मुदूख्यलं सुसलेनाभिहन्याद्विप्रमे वा यानासने सेवेतः
वाताभिषप्त एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न
पूर्यति मन्दं स्पन्दते च, तं धूहणीयैः पयोभिर्मास-
रसेष्वोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रप्नामव-
क्रान्तजीवमाध्यापयत्युदरं, तं कदाचिद्वच्छ्योप-
शान्तं नैगमेपापहृतमिति भापन्ते, तमेव कदाचित्
प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत्
प्रतीकारः ॥ ६१ ॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) लीनों के वात के
उपद्रव से पीटित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है।
वह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ भर
जाता है। (इस लीन गर्भ में) जी की सूदु स्नेहादि से
चिकित्सा करे, उक्तोदा (कुररी—पसिविशेष) के मांसरस से
साधित यवाग्रं पर्याप्त चौह से युक्त पिलावे, अथवा
उद्दृत तिल तथा वेल के शलादु से साधित कुलमाप
सिलावे और पश्चात् लात दिन तक नमुस्तह माधीक
पीवे। अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया
जर्खल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विपम वाहन या
आसन पर बैठें। वात से पीटित होने पर भी गर्भ सूख
जाता है। वह माता की कुक्षि को पूर्णतया तर्हीं व्यापता
और धीरे धीरे हल्चल करता है। उस(की माता) को
त्रुटिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे। वायु से
पीटित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवकान्ति होने
पर उदर को फुला देता है। वह कदाचित् अचानक शान्त
होने पर नैगमेपापहृत कहलाता है। वही कदाचित् धीरे
धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है। यद्याँ पर
लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः— इसको लीनगर्भ कहते हैं—
यस्या पुनर्वातोपसृष्टोत्तिं लीनो गर्भः प्रस्तो न स्पन्दते तं
लीनमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह)। नाधीकम्—महुवे का या
द्राष्टा का मध्य। कालातीतस्थायिनि गर्भे—गर्भाशय में गर्भ के
रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के २५वें
सूत्र के वक्तव्य में किया गया है; उस काल के पश्चात् ।
सुसलेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच
पैदा करने के लिए होते हैं। पीछे ७ वें सूत्र के वक्तव्य में
अन्तिम भाग देखें। कुक्षि न पूर्यति—मासानुमासिक
धृद्धि के अनुसार कुक्षि की जितनी धृद्धि होनी चाहिए,
उतनी धृद्धि नहीं होती है। नागोदर—इसी को उपशुष्क
भी कहते हैं—उपशुष्ककं नागोदरं च। (अष्टांगसंग्रह)।
तं गर्भसुपशुष्ककनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते। (हन्दु)। नैगमेपा-

षक—नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के बाद
कुछ काल तक गर्भहृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी पृष्ठि
रुक्त जाती है और गर्भ सूखने लगता है। जो लोग
भूत-पिण्डाच के उपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को
नैगमेपापहृत कहते हैं। वास्तव में वातचिकृति का यह
एक परिणाम है।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्क या नागोदर या
नैगमेपापहृत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं।
भाषुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यथापि इनके लिए
निश्चित पर्याय देना सुशिक्षण है तथापि ये गर्भाशयस्थ
मृतगर्भ (Infant-dead death of the foetus) या मांस-
गर्भ (Carnous us mole) के समान मालूम होते हैं। इनमें
लीनगर्भ कौन है और उपशुष्क कौन है? कहना कठिन
है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के
अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं।
इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional
cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained
for months, the so called 'missed abortion'. Ten Teachers' s Midwifery. नागोदर को Carnous mole
कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वद्यामः ॥ ६२ ॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकि-
त्साक्रम) कहेंगे ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओपधियाँ गर्भस्नावप्रतिषेधक होती हैं। अतः जिनमें गर्भस्नाव की प्रवृत्ति होती है,
उनमें इसका उपयोग करना उचित है।

मधुकं शाकचीजं च पर्यस्या सुरदारु च ।

अशमन्तकस्तिताः कुण्णास्ताभ्रवह्नी शतावरी ॥६३॥

वृक्षादनी पर्यस्या च लता सोत्पलसारिवा ।

अनन्ता सारिवा रास्ता पद्मा मधुकमेव च ॥ ६४ ॥

वृहत्यौ काशमरी चापि जीरियुक्तास्त्रवो धृतम् ।

पृथिष्ठणी वला शिश्रु श्वदंप्रात् मधुपणिका ॥६५॥

शुद्धाटकं विलं द्राक्ता करेसु मधुकं सिता ।

वस्त्सैते सप्तयोगाः स्युरधर्षलोकसमापनाः ।

यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्नावे पयोयुताः ॥६६॥

कपित्थयृहतीविलवपटोलेकुनिदिग्धिका ।

मूलानि जीरसिद्धानि पाययेद् भिषगाष्टमे ॥६७॥

नवमे मधुकानन्तपयस्यासारिवा: पिवेत् ।

जीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्यादशमे हितम् ॥६८॥

सर्वीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च ।

एवमाप्यायते गर्भस्तीवा रुक्मीपशास्यति ॥६९॥

(मासानुमासिक ओपधिक्रम—) (१) सुलहरी,
सागवान का बीज, जीरकाकोली और देवदारु। (२)
पापाणभेद, काले तिल, मञ्जिला, शतावरी ॥६३॥ (३)
धृतादनी (वृंदा), जीरकाकोली, लता (गुहूची अथवा
मियज्जु) और अनन्तमूल। (४) अनन्तमूल, कुण्णासारिवा,
रास्ता, पद्मा और मुलहरी ॥६४॥ (५) जीरी और वडी वृहती,

गर्भाती, चीरी पूर्णों के अद्वार सथा धाठ और थी । (६) पृथिव्याणि, बला, शोभोगन गोवस्त्र, मधुरपिण्डा ॥६१॥ (७) सिंघादा, वित (कमलमूल), मुनका (दाला), करेल, मुलहटी और खोड़। हे सुश्रुत ! आपे श्लोक में समाप्त होने वाले ये सात योग वस से (सततो महीनों में) गर्भधाय में दूध के साथ प्रयुक्त करावे ॥६२॥ आठवें महीने में दैय कैष, थकी कटी, पेल, पटाल, ईज, थोटी कटी इनकी जड़ी से साधित चीर पिलावे ॥६३॥ नौवें महीने में मुलहटी, अनन्तमूल, चीरकाकोली और कृष्णारिवा (इनसे साधित दूध) को धीवे । दसवें महीने में सोठ सथा चीरकाकोली से साधित दूध हितवर होता है ॥६४॥ अथवा सोठ, मुलहटी और देवदार दूध के साथ हितवर होता है । इर प्रकार मासानुमासिक प्रयोग से गर्भ की धृदि होती है और सीध पीड़ा शान्त होती है ॥६५॥

चक्रय—परस्या—अर्कतुषी । यदो तु परस्या चीरविदारी चीरकाकोली वा बृते । (दलहण) । अद्गत्रक—कोविदार-सद्गोड़मप्रथ अमलोटक इति लोके । (दलहण) । 'आपटा' महाराट् भाषा में । यसलपत्रक । (अर्कदण्ड) । ताघवही—रामदर्शी, मजिकामारे । (दलहण) । लव—प्रियमु । (दलहण) । गृष्णप्रियमु । गौरतारित्यन्ते । (अर्कदण्ड) । युहची । (हाराणचन्द्र) । उत्तलसारिवा—अनन्तमूल वा कृष्णारिवा । (अर्णुदण्ड) । अनन्ता—दूर्वा । (हन्तु) । पदा—पद्मचारिणी, भागीपरे । (दलहण) । पयोगुण—इन जीवधियों का चूर्ण, या कहक दूध के साथ दे सकते हैं किंवा दूध में इनको साधित करके वह दूध दे सकते हैं । मधुपणी—मधुवदिता । (दलहण) । जीवन्ती । (हन्तु) । युहची । (हाराणचन्द्र) ।

निवृत्तप्रसवायास्तु तु नुनः पद्म्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वे प्रसवयमानाया नार्या: कुमारोऽल्पप्रयुक्तिः ॥६०॥

निष्ठृतप्रसवायास्तु तु नुनः पद्म्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वे प्रसवयमानाया नार्या: कुमारोऽल्पप्रयुक्तिः ॥६०॥

चक्रय—माता और बालक के स्वास्थ्य की इष्टि से दो गर्भधारणाओं के दीर्घ में दुख अन्तर होना अवश्यक है । इस अन्तर की अवधितम मर्यादा का विचार पीछे १५ वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथून' की टिप्पणी में और २ अध्याय के ४५वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । इस सूत्र में इस अन्तर की अधिकतम मर्यादा बताई जाती है । इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक गर्भधारणा के चू साल के पश्चात् यदि दूसरी गर्भधारणा हो तो जो बालक जन्म लेता है, वह अवस्थायु होता है । अवस्थायु का अर्थ अवश्यक, दुर्बल (Of low vitality) है । दुर्बलता के कारण वह थोड़ी उच्च में मर भी सकता है, परतु यह कोई अवश्यक वात नहीं है । इसका कारण यह है कि यह उचित काल में एक के बाद एक गर्भधारणा होती जाती है, तर गर्भाती अपने कर्म में मुरब्बी हो जाता है, याने उत्तरोत्तर होने वाले बालक अधिकाधिक बढ़ावान् होते हैं । Repeated pregnancies tend to cause an increase in the weight and length of the foetuses. Such increase in weight occurs with greater regularity the longer are the intervals between each successive pregnancy. Jellie's Midwifery जैसे दो

प्रसवों का अन्तर अव्यन्त कम होने से बालक कमज़े होता है, वैसे ही दो प्रसवों के दीर्घ का अन्तर अधिक है से बालक कमज़ेर रहता है वर्षोंकि अधिक काल बीतने गर्भाती एवं दूधवद् सिंहुद जाता है । इससे समाप्त होने विष्ट एक इष्टान्त दिया जा सकता है । जैसे, कोई लिलाय जो हमेशा सेलता रहता है, फार्म (Form) में रहता है वर्षोंकि काल काल तक येल छोड़ देने पर फार्म में नहीं (Of Form) रहता है, वैसे ही अधिक काल तक गर्भधारण म होने से गर्भाती अउट आक फार्म हो जाता है । इ अधिक काल की मर्यादा आकुयद में छ साल की बढ़ गई है । इसमें कुछ कुछ घटा-दर्दी हो सकती है परन्तु या पर जो ताप बताया गया है, वह लिलकुछ ठीक है द्वाराणचन्द्र इस सूत्र का अर्थ निझा प्रकार से करते हैं—
सीणा हि पश्चाति व वै आर्तव धृष्ण याति इतुपदिग् । अवार्त चेत् कर्त्यादिवादारुणप्रसर्वुद्यानाविदेशादिक यात् तः प्रवत्तते तद्विव वटप्रजात्याप एव प्रसवमानायास्त्वा प्रवीत्वल वीर्यवेन उग्गारोऽल्पायुमर्यादीत्यैविमिदुच्यते निवृत्तेनि निवृत्तप्रसवाया अतीतप्रजात्याद्यांत्याप वर्षेभ्य कल्प प्रसव मानाया अतुमृत्वेन प्रसव कुर्वत्वा इत्यर्थं । इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः ५० वर्ष की आयु में सी निवृत्तात्मा अतपूर्व निवृत्तप्रसवा भी हो जाती है, परतु यदि अहारादि के कारण आतंक ५० से अधिक काल तक आरी रहे तो उसको प्रजा भी हो सकती है । ५५ साल के बाद उत्पत्ति हुई प्रजा निवैल या अवस्थायु होती है । हाराणचन्द्र का यह मत निम्न कारण से ठीक नहीं मान्य होता । (१) जिस सिलसिले में यह सूत्र आया है, उसके अनुमान निवृत्तप्रसवा का अर्थ निवृत्तात्मा करना ठीक नहीं है । इस अध्याय में प्रथमगर्भ सी की प्रसूति और उसकी परिचर्या वर्णन (यीते १५ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) की गई है । उसी सी के सर्वथ में ये श्लोक हैं । अर्थात् प्रथम बालक के बाद दूसरा बालक वैसा ही स्वर्थ और दीर्घायु होने के लिए दोनों में कितना अन्तर उचित है, इस विषय का विवरण इस सूत्र में किया गया है । सोलह वा अठाहूस साल की उम्र से क्षयन साल की उम्र में एकाएक कुछ पहने की न कोई अवश्यकता है, न प्रशस्तता मालूम होती है । (२) प्रचयन साल की उम्र के बाद आतंकदर्दन जारी रहकर प्रजोत्पत्ति होना यह संभवनीय घटना नहीं मालूम होती । उम्र प्रदेशों में आतंकनिवृत्ति की मर्यादा बदलने की अपेक्षा प्राय घट जाती है—The menstrual cycle comes to a final end at the menopause or climacteric at an average age of forty-five or rather earlier among the inhabitants of hot climates. Introduction to sexual physiology by Marshall (३) क्षयन साल के बाद होने वाले बालक अवस्थायु और क्षयन के पूर्व होने वाला दीर्घायु इस प्रकार का फैल युक्तिसत्त नहीं मालूम होता । अतएव इसमें कुछ तथ्य हो सी क्षयन के पूर्व और पश्चात् होने वाले दोनों बालक अवस्थायु होंगे वर्षोंकि अतु (मीसम) के अन्त में मुर्दों को आने वाले फल हवेना आकार में छोटे, विरम, कृमि से उपद्रव हुआ करते हैं ।

अथ गर्भिणी व्याघ्रयुत्पत्तावत्यये छ्रुद्येन्मधुरा-
म्लेनाज्ञोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनोयं च मृदु-
विद्युतदग्नपानयोः, अक्षीयच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं
गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाभ्य किया यथोयोगं
विदधोत मृदुप्रायाः ॥ ७१ ॥

(गर्भिणी-चिकित्सा के लिए कुछ मार्गदर्शक सूचनाएँ—)
तीव्र व्याधि उत्पन्न होने पर गर्भिणी को मधुर और अमल
जल के साथ (मिलाए हुए ओप्टिक से) यान कराये तथा
धनुलोमन भी करावे । मृदुसंदामनीय भी अलवान के
साथ दे । मृदुवीर्य, मधुरभूयिष्ठ और गर्भ को हानि न
करने वाला जल सेवन करावे । इसी प्रकार गर्भ को
हानि न करने वाली और इल्की कियाएँ करावे ॥ ७१ ॥

भवन्ति चात्र—

सौवर्णं छुकुतं चूर्णं कुरुतं मधु घृतं वचा ।
मत्स्याद्वकः शशपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥ ७२ ॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा ।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दर्वा घृतं मधु ॥ ७३ ॥

कुमाराणां घपुर्मेघावलवुद्धिविवर्धनाः ॥ ७४ ॥
इति तु ध्रुतसंहितानां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याप्तयेण शारीरं
नाम दशमोऽस्यायः ॥ १० ॥

(वाल्मुद्धिवर्धक योग—) अच्छी तरह से तैगार किया
हुआ सोने का चूर्ण, रुष, मधु, धी और वचा । भस्याद्वक
(ग्राही), शशपुष्पी, मधु, धी और सुवर्णचूर्ण ॥ ७२ ॥
अर्कपुष्पी (पवस्या), मधु, धी, सुवर्णचूर्ण और वचा ।
सुवर्णचूर्ण, कैडर्य (कट्टफल, पर्वतनिम्ब), खेतदूर्वा, धी
और मधु ॥ ७३ ॥ चार श्लोकाध्यों में वताये हुए ये चार प्राशा.
(लेह) वाल्कों के शारीर, सेधा (ग्रहणशक्ति), शक्ति, वुद्धि को
बढ़ाने वाले हैं (इनमें से किसी एक योग को प्रयुक्त करे) ॥ ७४ ॥

महाराष्ट्रप्रदेशे ये राजुरीप्राग्ननिमिना ।
घाणेकरउपादेन काशीनेत्रनिवासिना ॥
श्रीतोविन्दस्य पुरेण भास्करेण सुधीसदा ।
वैष्णके प्राच्यपाशात्ये लानावैषापिपारिणा ॥
आयुर्वेदं तु निर्मल्य पाथात्ये वैष्णकं तथा ।
आयुर्वेदोपनीतानि शासाण्यन्यानिवीस्य च ॥
नानातन्त्रविहीनानां भिषजां चाल्यमेषसाम् ।
घावाणां चोपकाराय यथानामतधागुणा ॥
आयुर्वेदरस्याद्या दीपिका लिखिता च या ।
इयताऽवधिना तस्याः शारीरं च समाप्तते ॥

इति मास्तरशर्मणा गोविदात्मजेन विरचितायामायुवेदरस्यादीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां गर्भिणीव्याकरणं शारीरं

नाम दशमोऽस्यायः समाप्तः ॥

॥ श्रीः ॥

सुश्रुतसंहितायाः संस्कृत-हिन्दी-शब्दालुक्रमणिका

अ

अधि	६६	अन्नवह सोतस्	२५७, २३०	अभ्यंग प्रसव द्वितीयावस्था में योनिका	२४४
अचुक	१४६	अपतर्पणचिकित्सा प्रसूताकी	२५७	" प्रसूतावस्था में	२५७
अच्छिकोप की रचना	१५४	अपची में सिरावेध	२०८	" स्त्रीका स्तन्यनाश में	२७२
अण्डा गर्भिणी के लिए	१३२	अपतानक (घनुवात भी देखो)	१४६	अमध्यस्थधर्मी	८
अतिमैथुन, रक्तप्रदर का कारण	२६	" प्रसूति के पश्चात्	२६०	अयुक्त राजस गर्भ	९२
" रक्तशुक का कारण	१९	अपत्य के गुण	३५	अयोनिगमन	४९
अतिनिद्रा की चिकित्सा	१२८	अपरा, व्युत्पत्ति	१०९, ११०	अरतिमान स्वप्न	२७५
अतिवाहिक शरीर	६४	" बनावट और कार्य	६३, ६४, ११०	अरलि	२०४
अतिविद्धा सिरा	२११	" गर्भाशय में स्थान	१६४	अरिष्ट, प्रकृतिपरिवर्तन रूप	१३४
अत्युदीर्णी सिरा	३११	" अन्तस्त्वाच	७६, ९३	अर्श, गर्भिणी में	६१
अधर गुद	१८२	" यमलों में	४२, ४३	अर्थसंग्रह व्यय में खी का	
अधिपति सिरा	१९६, २००	" पतन की प्रक्रिया प्रसव में	२६१	उत्तरदायित्व	२६०
अधिपति मम	१८७, १८८, १९२	अपरा, निष्कासन का सिद्धान्त	२६१	अलाद्य	२१३, २१४
अधिचर्म	१०१	" की विधियाँ	२६२	अलिङ्ग	८
अधिदैवत	५	" योनिगत के लक्षण	२६२	अलंकाराव्युत्पत्ति	३१
अधिभूत	९	" परीच्छा, पतन के पश्चात्	२६४	अल्पशुक्रता	११
अध्यवसाय	३, १६	" अंदा का गर्भाशय में रहना		अल्पशुक्राणुता	१६
अध्यात्म	९	असूद्र का हेतु	२६	अवदूजन	२७५
अध्यापनकाल, बालक का	२८९	" अंश का गर्भाशय में रहना		अवहु	१८७
अनपत्या वन्ध्या	२२६	मक्कल का हेतु	२६६	अवलेखन	३०
अनस्थिगभोव्यत्ति हेतु	५०	" अंश का गर्भाशय में रहना		अवकान्ति गर्भ की	५७
अनस्थि गर्भ, अर्थ	९२	प्रसूतिज्वर का हेतु	२९९	अवभासिनी त्वचा	१००
अनादि	८	अपरा जन्मावस्था, प्रसव की	२३८	अवस्थिति गर्भ की गर्भाशय में	१६५
अनांतर्व, हेतु और प्रकार	२८, २९, ८२	अपलाप	१८३, १८४, १८५, १९२	अव्यक्त सृष्टिसंभव हेतु	१
" काल	२५	" सिरा	१६८	" का स्वरूप	२
अनुरितविद्वासिरा	२११	अपसंघुति गर्भाशय की	२६	" का अष्टरूप	२
अनुलोमन की विधियाँ गर्भको	२४५	अपस्तम्भ	१८३, १८४, १८५	" में पुरुष का समावेश चक्र में	६
अनृतुकाल	२५	"	१९२, १९८	" से सृष्टियुत्पत्ति का क्रम	२
" गर्भधारण प्रतिवन्धक	६०	अपस्मार में सिरावेध	२०६, २१०	अव्यक्तावस्था गर्भ की	३८, ७८
अनेन्त्रता	४०	अपविद्वा सिरा	२११	अव्यध्या सिराएँ	१६८, २००
अनेकवीजात्मक अपत्य	४२	अपांग	१८७, १८८, १९३, २००, २१०	अशुक्राणुता	१९
" की विशेषताएँ	४२	" सिरा	१९९	अद्वोक्युत, अरिष्ट असूद्र में	२८
अन्तस्त्वक	१०१	अपान (शास में)	१५	अशित अन्न	१०५
अन्तःपुष्प	१९, २०, ७२	अपान चायु के कर्म	४२, ५४, ७६	अस्मरी का शख्कर्म	१८३
अन्तेऽभित्ता सिरा	२११	अपाश्रय	२३१	अश्ववाहिनी धमनी	१२१६
अन्तराधिविकारीगर्भ	५३	अपस्तुता सिरा	२११	अट्टविध दूध	२८३
अन्न	२४	अपज्ञाता में गर्भाशय	१६४	अष्ट रूप अव्यक्त का	२
" चतुर्विध	१०५	अफीमनियेध बालक में	२७६	अष्टविध मैयुन	३०
" पचनकाल	१०५	अभ्यंग निद्रानाश में	१२८	अष्टांगों का विभाजन, सुश्रुत में	१६७
अप्तप्रायाशनविधि बालक की	२८६	" त्वचा से शोपण	२२१	अष्टीलागत गूत्रमार्ग	१०६
" काल	२५६, २८६	" योनि का गर्भिणी में	२३४	" रसत्वाच मैथुनप्रारंभ में	४१
" मन्त्र	२८६	" प्रसव प्रथमावस्था में	२४२	" " शुक्र में	२०
३८ सु० सं०				असात्मज रोग और उनका हेतु	२७१

सुश्रव संहिता

२

अस्या	११७	आत्मिक	२०२	आत्मवधमनी	२२१, २२१
अस्याक	११७	आत्मजीवी	९३	आत्मवध घोटम्	२२६, २३०
अस्यद्वय निहिति	२५, २२९	आत्मलिङ्गता	८८	आत्मव काल	२८, ७६
" के हेतु	२६, २७	आत्मा के पर्याय	६२-६३	" और गम्भ का सम्बन्ध	७७
" में वाराणि दोष युक्त रक्त के		(जीव और पुरुष भी देखो)		आत्मवप्रवृत्तिचक्रकाल	२५, ४५, २१२
छडण	२६	" चेतन्य कारण	६, ६३, १२०	आत्मवदर्शन यीवनारम्भसूचक	५३
" के छडण	२७	" के छडण	१५, १२१	" और वीजोत्सर्ग का सम्बन्ध	७३
" संग्रासि	२६, २२६	" आत्मा का निवासस्थान	१२०, १२२	" वारीत्युद्दिक्त	५३
" असाध्य छडण	२७	" मृत शरीर में अमाव	१५, ६२, १०९	" ठीक न होना अत्यास्थदर्शक	५३
" विकिसा	२७	" का परिणाम १५, १६, ८८, १२०, १५०		" का गम्भप्रारण प्रतिवधन में	
अस्यिसंख्या मतमतान्तर	१४६	" का ज्ञान इन्द्रियाधीन १२५, १२२		उपयोग ६०, ५३, ५८	
" आपुनिक सद्या से		" के विविध अर्थ	१३३	" रागत और नैमित्तिक २८	
भिज्ञता के हेतु	१४७	आदिवल्पपृष्ठ रोग	६७	" स्वरूप २४, ५३	
" गणना में यद का		आदिवल्पपृष्ठि (कुलप्रपृष्ठि देखो)		कातंवदर्शन के प्रकार	८८
दिवार १४७, १६९		आधिदैविक पद	६	" गमिणी और प्रसूता में	
" दातारों की	१५०	आधिमोत्तिक पद	६	स्वामाविक १८	
" घट की	१५८	आध्यात्मिक पद	६	" का कोषक २६	
" निर और ग्रीवा की	१५१	आनन्द्य द्वारा का	८	" गमिणी में होने की उत्पत्ति	
" तुलनात्मक कोषक १२०, १५१		आनन्द के प्रकार और कार्य १०५, १०८		१०१, २११	
अस्यि के प्रकार और उनके		१०६, १४०, १४२, २२०		" प्रसवतिथिनिर्णय में उपयोग ७३	
रूपान १५१, १५२		२२५, २८८		" विकिसा २६	
" का संगठन	१५३	" की उम्माई	१४४	आतंवदाहुर्य का अर्थ १७, ६८	
" की सूचम रचना	१५३	" में अध्यपचन का काल	१०६	आतंवदय २६	
" के साथ दन्तगणना और	१५३	" मृत शरीर रथा के लिप		आतंव द्वारा का छडण २४, ५३	
" " तद्यास्थि गणना की		निकालने की आवश्यकता १६८		आलस्य ११९	
सुकायुक्ता १२४		आत्मवृद्धि, नाभिगत बालक में हेतु १४, १५८		आलिंगन, रसदाँसुख का एक प्रकार ४०	
अस्यिकार्य १५४		आप का छडण १२		आलोचक पित के प्रकार १०१	
" मर्म, सब्दा	१०३	" के गुण १७		आवर्त १००, १११, ११२, ११३	
" " नाम	१०४	" के शारीरगत अवयव १७		आवी ३३८, ३३९, ३४३	
अस्यिविकासकेन्द्र	१०३	आपराग १६६		" वास्तविक और मिथ्या में मेद २१६	
अस्यिमुद्दुता, हेतु	२३३, २८८	आपादाय अथ का आधार २२०, २१५		" और मदहू में मेद २६६	
अस्यिवक्ता (फल देखो)	१५३, २८८	" अपकार का आधार १४३		आवृतातर्व १८	
अस्यिवक्ता १४६, १५८		" की मर्दाई १४३		आशय १४२-१४४	
अस्यिवस्ति (संघ देखो)		" और हृदयकासवन्य १२०, १३०, १५४		आसन, मैतुन के लिप ४४, ४५	
आहोपतन १०१		" पूर्णता का द्विकार्य पर परिणाम १३०, १३३, १३४		" भोजनोत्तर आराम के लिप ११६	
अहृद्वार	३	" पर आधार का २२४		" प्रसव प्रयामावस्था में १४४	
" से इन्द्रियों की उत्पत्ति	३, १३	" की समाई शिशुवानुसार २४४		" " हितीवासस्था में १४४	
आ		आपु, प्रजेयादन के लिप योग्य ३८, ७५		" " दृष्टियावस्था में १४५	
आकाश के शारीरगत छडण	१२	२१०		आसन उल्लुकादि का गमिणी में निरेष ५३	
" " गुण १०		" विद्वाद के लिप ११०		" शिशु के लिप २८१	
" " व्यवय १०		" दुमोहरणी की इटि से १३१		आसनप्रसवाके छडण १३८-१४०	
" का दात्य संग्रहन रेहिदो में ११५		" के अनुसार निदा ध्यान १११		आसीन भ्रष्टियित १११	
आपेक्ष ११०, १५०, ११८		" नाशनिदा में ११५		आसुकाय के छडण ११५	
" संयाति ११०		" विचार सून्यसोरेन में ११९		आसेय रूपीत १४४	
" में मित्रादेव १०१, १०२		आसाम, शारीरिक प्रसूता के लिप ११४, १४८		" की उत्पत्ति १४	
" से यजु १००		" मानसिक गमिणी के लिप १४४, १४५		" का आसुक विषयति में रसायन १५	
आत्मन १३		" प्रसूता के लिप १४५		आस्यिप्रथा, पारमार्थिक ११, १३	
आत्मपूर्ण १०४		आतंव याद का अर्थ और कारण १३, १३१		" आपुदेवि ११	
आग्निमय १०१, १००, १०१, १११		आतंव ये अर्थ (सोगित भी देखो) १०, १०			
आपुपरीदा ११०		११, १३, १३४			

संस्कृत-हिन्दी-शब्दानुक्रमणिका

३

भावार, गर्भिणी का	८६, २६२, २६४	उद्धर का अनधन प्रसूता में	२६४	प्रसूताल के पश्चात् गर्भाधारणा की संभावना	७२
” प्रसूता का	२५५, २५७, २५८	उद्धकवह स्त्रीतस्	२२५, २२०	प्रसूतमती की धर्या	२६
” धालक का प्रथम तीन दिन में	२४६,	उद्धकधरा श्वचा	१००	” की गृहकर्म के लिए अपविनश्चा ३०	
” ” उसके पश्चात्	२८२-२८६	उद्धक्षित्	२८	” की शूद्धि	३०
” ” उचर में	२७७	उदावर्त योनि	११९, ११२	” के लक्षण	७४
” का स्तन्य पर परिणाम	२७२,	उहीष्यता	९६	प्रसूतस्ताता छी में प्रयम पतिदर्शन का	
” का गर्भालिंग पर परिणाम	२७४, २७५	उद्धर्तन के गुण	१२८	महस्व	६१
” का गर्भाधारण पर परिणाम	६७	उद्देष्टन	१२९	” कामवासनाधृद्धि	७५
” मात्राधिक्य हृदय पर परिणाम	१८४,	उन्मेष	११६	प्रतिविकाय के लक्षण	१३७
” सार्विक	२३२	उन्माद	६०	ए	
” विदाही	२३३, २७४	” प्रसवोत्तर	२६०	एक गर्भयन्यता	२६६
” ” का नियेध प्रसूतमती में	३०	” में सिरावेध	२०९	एक वीजात्मक युग्म	४२
” मात्रावत् का लक्षण	१७७, १८४, २३२	उपदंश	६४	” की विशेषताएँ	४२
” का सन्तान पर परिणाम	५०	उपनयनविधि	३०४	” गर्भों से संयुक्त	
” गर्भविकृति का कारण	५२	उपनयनकाल वर्णनुसार	२६०	राजस की उत्पत्ति	९२
” का धारीर वर्णोत्पत्ति में सवन्ध	४०	उपनाह, व्याख्या	२७९	ओ	
इ		उपमात्	२६६	ओकसात्म्य	१२७, २६०
हिन्दिय उत्पत्ति	२, ६	उपचिटक गर्भ	२११	ओजस्यान	११४
” मौतिकत्व	१६	उपवेशनविधि, वालक की	२८१	ओजवाहिनी	११४, २१५
” के विषय	४, ५, १३	उपशय	२६०	ओटो शान्त की उपत्ति	६७
” के धर्थ	१३	उपशीर्षक	२७९	ओपधिचिकित्सा की विशेषता	२०७
” आत्मा के ज्ञान के साधन	१२५, २२२	उपशुष्क गर्भ	२१६	ओपधिप्रधानपद्धति, वालकों में	२७६
हिन्द्रवस्ति	१७९, १८०, १८१, १८२	उपसर्ग, जीवाणु का मर्मस्थान में	१७७	ओपधिमात्रा का प्रमाण	२७६
हि		प्राणहारक	१७७	ओपधियग्रोग में काल का महस्व	२६०
ईर्ष्यक क्षीव	४४	” ” नाभिनाही में	२४९, २७८	आ	
” उपपत्ति	४६	” ” गर्भाशय में प्रसूतिज्वर		औदृककन्द	२५१
” का कामुक विप्रकृति में स्थान	४६	का हेतु	१५१	औदृकभाव	२
ईश्वर	१०	उपस्नेहन	१४४	औदृयगर्भावस्था	५९
ईश्वरवादी	११	उपस्थ	८	औपनासिका सिरा	१९९, २००
उ		” के विषय	८	औपरिटक	४६
उच्छ्वास	६४	उरफलक	१५	और्वाग्रिकाण	१८१
उष्टुक	१४२, १८८	उररङ्गत	१२५, १८४	अंगप्रत्ययनिर्वृत्ति के नियम	९८
उत्कान्ति	१७	उल्लुखलसन्धि	१५५, १५८	अंगप्रछेदन के निर्देश	११०
उल्कुकासन गर्भिणी में नियेध	८३	उल्लव	२४६	अंगप्रत्ययविज्ञान	१, १३८
उत्कलेश	१२४	उल्लवक रोग	२७५	” स्थूल और सूक्ष्म	१७१
” युक्त विकार	१३०	ऊरमम	१७६, १८१, १९२	” का शश्यतन्त्रमें महस्व	१६७
उत्क्षेप	१८७, १८८, १९२, १९४, २००	ऊर्जी सिरा	१९८, २००	अन्तःपुष्प	१९, २०, २१
उत्तुषिङ्का	२७८	ऋण, तीन	३१	अन्तःस्त्रावी ग्रंथियाँ	४७, ७६, ११६, १४२
उत्तरावी	२६५	” मोचन के मार्ग	३१	” ” गर्भलिंगोत्पत्ति	
उत्तानाशन प्रसव में	२४१, २४४	” मोचन सत्युत्र का लक्षण	३७	” में संवन्धन	५०, ७०
उत्तरवस्ति	२२	ऋतुचर्या का सिद्धान्त	३६	” कामुकविकृति में संवेद	४९, ५०
उत्तर गुद	१८२	ऋतुकाल २५, २७, २८, ३६, ६०, ७१, ७२		अस्तुवाही स्त्रीतस्	२२५
उदरवृद्धि गर्भिणी में	८०, २४७	” में गर्भाशयगत परिवर्तन	७२, ७५,	अंस	१८५, १९२
उदरवृद्धि लक्षण में	२८८	” ” ८६, १०६, १६४	८६, १०६, १६४	अंसफलक	१४६, १८५, १८७, १९२
उदर के सर्म	१८२	” में सहवास का फल	३३, ७२	क	
” की अवेष्य सिराम्	१८५	ऋतुकाल में सहवास योग्य दिन १६, १४			

कटीकतमा	१०५, १०६, १०७	कामला में सिरावेद्य	२०२, २१०	कृष्णमध्यसन, की पदतिर्थी
" मिरा	१०८	" में इक नेत्रता	२२७	कृमिदन्त, शालकों में, कारण
कण्ठादी	१०९	" यादकों में, हेतु	२४३, २८०	कृष्णमण्डल की रचना
" रथना	११२	काय, प्रकृतिरेखों		कृष्णवे हनुमानद के कारण
कण्ठप्रयाजेन्द्रिय अपराधातनाम्	२६३	काष्ठि, तरणास्थिदेखों		केश, धर्ष
कण्ठरा	१५, १४४, १४५, १५१	काष्ठ्य, गर्भिणी में स्तनों का	७४	" धृष्टि गर्भावस्था में
कण्ठरा, दिवितरका और चतुर्थितरका की	१५१	" स्तनों का अन्य हेतु	७५	" " की धृष्टि शारीर स्वस्थ नियन्त्र
कनपटी	१५८	" गर्भिणी में लगीं का	८०	केताका
कन्योपति की उपस्थितियाँ १३, १५, १६, १७		काल (जगलारण)	१०, ११	प्राचीर की बनावट और उसने
कपालस्थित्याँ	१५१	कालबाही	११	रक्तध्वन
कपर्महृति	१३२	कालपरीका रोगी की	२५०	" की अधिकता और त्रिक विभाग में
" के छड़ग	१५४	किंवित सप्राप्ति गर्भिणी के	४०	यहूत्तीर्हामात
कपम्बन	१९५	" पूर्णगर्भवस्थासूचक	४१	" मृत्युगत
कपूरह निरा, संख्या	१९६	" चिकित्सा	२१४	" की सोटाई
" प्रागृत और विहृनकाम्	१९६	किंविति गुण	२८५	लम्बाई और चेत्राभ
कपामा	५७	कुकर्मों से परापृत करने के विविध		क्लेप्त
करण	१२८	साधन	४१	कोय के हेतु, सून शराब में
कर्ग, शाशुली की रथना	१८४	उदुन्दर	१४५, ३०६, १९२	प्रतिवन्धक उपाय
" की अरेय मिरारेय	३१९, ३००	कुचिला, रक्तध्वन में	२६	क्रोसस्पिष्ठि
" रेग में मिरारेय	३०१	कुमिला सिरा	२११	क्रोक (सारणी) सोल्पद्वयन का
कर्मेत व्याधि	५२, ५३	कुट्टाकामलेह	२८	सोल्पायुज्वलेश्वरी
कर्मियाक	५३, ८८	कुट्टिता निरा	१११	" एकीकरण का
कर्मेन्द्रिय	५	कुन्दन	१०	आर्यादूर्वति का
" के विषय	८	कुमारपात्र के गुण	२१६, २१८	सप्तवालतिविद्युतं
कर्मन(ल) भवत्या गम्भी की	५५	कुमारागार	२१६, २१८	गर्भिणीचिह्नों का
कर्मा, व्यवरूप और संक्षया १०३, १००, १०१		कुम्भीक	५६	त्वचास्तर दुर्लभता का
" अप्य और वाद	१०३, १००	" की उपस्थिति	१०	इन्द्र अर्पणांठ
" प्रदात	१०२	कुम्भकृष्णि, शरीरकों में	३१	वयानुवर नार्यानिदं
कर्मा	१३	" वद्याव्यग्या में	४२	अतिवेद्यव्याकुलामङ्क
" हार्षणी का वयव्यग्य अपराधात्म		कामुक विद्युतिमें रथन	४१, ४०	संविधेयों का दुर्लभामङ्क
में	३११	कामुकृष्णि, शरीरकों में	३१	पौरीत्यव्याकुलामङ्क
" सेवन लाल पर शिशुरामों में	२०३	" कालानीति प्रसर में	११२, १११	मायानुभासित गम्भैर्दिव्यं
कार्याल	१६०	मृति की बनावट में	११२, १११	भस्त्राभवित गम्भैर्दिव्यं
कार्यालय की	१२५	के पाइ	१५	गर्भीरीयं विद्युतं
काय, व्याधा	११०	के रोग	१११, ४५, ५०	सर्वों का
कायाप्रदाना	४८	किंवितिग का महाव विवाह में	१११	व्यवेष्य निरा
कायाकृद्वय	४१, ५१	कुट्टे, उपर्युक्त रथन	१०१	जर्जरं निरा संख्या का
कायाकृतिना	४८	कुट्टेमें गुण	१११	प्रदातियों का, गालों का
कायामान्त्र, गर्भेयामा में भावरहरणा	५१, ५५	" नानिवर्क्षितमें	२४२	दमोलेहा
कायामान्त्र का वय देशा, गर्भिणी में ८०		ईत्ता निरा	१११	दोह, १०२, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७
कायामुता का वय देशा, वर्द्धन्यम् ११, १२		इच्छमें	१०१, १००, १०१, १११	दोहा
" क्षुप्राया की की	५१	इच्छमें	१०१, १००, १०१, १११	दोहा, वार्षक में जारी होने में
कायामुति	५८	इच्छमें	१११	दोहाराप्रदान
" क्षुप्रदान	५५	इच्छादिव्य ११३, ११४, ११५, ११६, ११७	११	दोहार दान के लिए
" क्षुप्रदान	५५	इच्छादिव्य	११४	दोहार्यम् "
" क्षुप्रदान	५५	इच्छम दुर्यात	११४, ११५	इम
" क्षुप्रदान	५५	" विविध	११४, ११५	दोहारे प्रदान (प्रदानम् इम्)
" क्षुप्रदान	१११	इच्छमप्रदान, वर्द्धन्यमान्त्रोपमि १११	११५	- मात्रकी भद्र

चित्तन का मनचाही सन्तानोत्पत्ति में उपयोग		४६	जातिसमरता के हेतु	५०, ५६	तत्त्वचतुर्विशिति का आधिभूतादि धैविघ्य ६	
" का गर्भवर्ण पर परिणाम		४१	जात्यन्धता, संप्राप्ति	४०	" का अचेतनत्व ६	
" का ध्वजोद्धार्य में कार्य		४०	जानु	१४६, १८०, १६२	तन्मात्राएँ ४	
" मन का विषय		४६	जाल	१४६	तन्मात्राओं से भूतोत्पत्ति ४	
सुन्धन, स्पर्शसुख का पृक प्रकार -		४७	जालधरा सिरा	१६७, २००	तन्द्रा १२८	
चूने का महस्त गर्भिणी में		२३२	जिद्धा की अवैध सिराएँ	१९८, २००	" और निद्रा में भेद १३८	
चेतनत्व, आत्मा का		६	" रोगों में सिरावैध	२०६	" संप्राप्ति १२८	
" . के लक्षण		१६, ११४	" की सीवनी	१४५	तप का सामर्थ्य १७२	
" का स्थानहृदय १११, ११४, १२०		१११	जीव (आत्मा) के पर्याय	६२, ६३, ६४	तपश्च १७२	
चैत्र		२३१	" गर्भाशय में पहुँचने का कारण	६४	तम का पंगुल्व ६	
चौलकर्म		२८६	" का परिमाण	८५	तस्णास्थि १५२, १५४	
	छ		" की गर्भोत्पत्ति में धावरशक्ता	६४	" के प्रकार १५२	
छागदुर्घ		२८४	" का अर्थ दार्शनिक धौर वैष्णकीय	६४, ६५	" की सूक्ष्म रचना १५५	
छाती के भर्म		१८२, १८४, १८५	जीवतिक्ति 'ए' 'वी' गर्भिणी के आहार		" अस्थि के साथ गिनने की	
" के सिरावैध रोगानुसार		२०६	में आवश्यक	२३२	युक्तायुक्ता १९३	
" की अवैध्य सिराएँ		१९८	जीवतिक्ति 'टी' अस्थि चनने के लिए		तलहृदय १५८, १७६, १८०, १८१, १९२	
" के आधातजन्य रोग		१८४-१८५	आवश्यक	१५३, २३२	१९४	
" की अस्थियाँ		१४८, १४९	जीवतिक्ति 'टी' के दामाव से होने वाले		तलहृदयगत रक्तस्राव की चिकित्सा १९९	
ऐदन, अंग का, निर्देश		११०	रोग	२८८, २८९	तामस गुण २	
	ज		जीवतिक्ति, संग्रह यकृत में	१४१	" मन १७	
जंघा		१८०	जीवाणुमयता समर्धातजनित	१७१	" दुष्टि ६, १६	
जंघापिणिका		१८०	" प्रसुतिज्वर में	२५१	तामसी निद्रा (सन्यास भी देखो) ११८	
जंघा में कालापन, गर्भिणी में		८०	" नाढीकलपनजनित २४६, २७८		तामस प्रकृति के प्रकार ११९	
जन्मरूप पेशीसंख्या		१६०	जीवशोणित, लच्छण	२९	तालु (कपाल) पूर्व धौर पश्चिम २७७	
" भर्म		१७४, १८६	जंभा	१२९	" अस्थिभवन काकाल २७७, २८८	
" सिरासंख्या		१९९	" में सुखाच्छादन की आवश्य-		" की स्थिति धालक रोगदर्शक २७८	
" अवैध्य सिरा		१९८	कता	१२९	" पात रोगों का लक्षण २७७	
" सिरावैधन रोगानुसार		२०६	" से हनुसन्धिविश्लेष	१२९	" " संप्राप्ति २७८	
जननाशोच का सिद्धान्त और काल		२६७	" का प्रसव प्रथमावस्था में		" का अभ्यंग धालकों में २६६, २७८	
जन्मवटप्रवृत्ति, लैक्जिक विपर्यास में		४९, ५०	उपयोग	२४२	तालु (गला) तृपा से संवन्ध २२६	
जन्मान्धता		४०	ज्वर (धालक का) में धृतप्रयोग	२७७	" प्रमार्जन धालक में २४६	
जरण		१०५	" "	२७७	तालुकण्ठ	२७१
जरायु, अर्थ		६४, ११०	" प्रसूति	२५८	तालवद्धता हृदय की ११५, १६२	
" परीक्षण प्रसवोन्तर		२६४	" स्तन्य	२५१	" अनैविष्टक पेशियों का गुण १६२	
" शेष, मक्क्ष देतु		२६५	ज्ञान	९६	तिर्यग्योनि १५	
" के साथ धालक का जन्म		२४०, २४६	" चक्ष	१३१-१३२	तिर्यग्योनि में पुरुपसंचरण अधर्म से १५	
" चिदारण, प्रसव के समय		२४०	" मनुष्यों की विशेषता	२८०	तिर्यग्योनिगमन (कामुकविप्रकृति) ४८	
जल, उष्ण के गुण		२७७	" चक्ष के द्वारा अदरश वस्तुओं का		तिर्यग्विद्वा सिरा २११	
जलरक्ता गर्भिणी में		८१	दर्शन	१७२	तुच्छसेवनी सन्धि १५७	
जलशीर्ष		२८८	" वर्धन में शास्त्र और प्रत्यञ्ज दोनों		तुच्छो, रक्तनिर्हरण के लिए २१३, २१४	
जलोदरसंप्राप्ति		२२५	का सहस्र	१६७	तुल्यगोत्र विवाह के गुणदोष १७	
जलोदर में शब्द कर्म		२०७, २०९		तुण्डुकिं (पूलिका) ५०, ७०		
" " का स्थान		१००	ट	तृतीयक ज्वर में सिरावैध - २०९		
जलौका प्रयोग निर्देश		२०९, २१४	टेंडुआ, रचना	१५२	तृपासंप्राप्ति २२१, २२६	
जाङ्गल देश		२४४	त	तेज का लच्छण (महाभूत) १२		
जातकर्म धालक का		२४६, २५०	तत्कालमृत्यु के कारण	१७६	तेज के गुण १७	
जातिसाल्य, दूध का		२४२	तत्वचतुर्विशिति	४	तेज (शरीरगत) के अर्थ १५८	
			तत्वचतुर्विशिति गणना में चरक का भेद ४		तेजस्वलन, मैयुन में १८८	

गर्भायानविधि का सार्वार्थ	२८६	गर्भिणी व्याकरण अध्याय	२४०-२५५	गुदमैकुन द्विलिङ्गियों में	१
गर्भायान, प्रथम के लिये योग्य वय	३८, ४८, ११०	गर्भिणी लक्षण	७०-८२	गुदयोनि काव	१
" अस्यन्त बाला में निरेष	२११	" निदानसंहायक सारिणी	१०	गुहक	१४१, १४२, १५०, २०८
गर्भायानक में सिरावेष	२०१, २०२	" में अनातंत्र्य	२८, ३८, १३०, २२६	गृधस्ती	१२
गर्भविकासित शारीर अभ्याय	५७	" में अत्तरवदर्शन	२८, ३८, ११, ११०	" में सिरावेष	२०४, २०
गर्भवस्था, गर्भिणी देखा		" में योनिगत परिवर्तन	८८, ८९	गृहनिकमणविधि थालक की	२८
" औदृढ़	६६	" में हृदयस्पन्दन	८८	गोमूष्टगुण	२
" वीजकोपस्थ	६६	" में गर्भहृलपन्दन	८९	" नटातंत्र में	२
" नालिकागत	६०	" में कामवासना की कमी	७८	गोदुष्ट की सर्वथेष्टता	२८
" की अधिष्ठि	७३	" में स्तनगम परिवर्तन	८९, १४३	" शालक को देने की विधि	२८
गर्भवस्था का स्थान उद्दरश्युहा में १६३, १६४	१६३, १६४	" में पचनसंस्थानगत परिवर्तन	११	" और माता के दूध में भेद	२८
" का स्वरूप	१४४, १६३, १६४	" में शारीर का कार्य	८०	" माता के दूध के समान करने की विधि	२८
" की पेशियाँ	१६३	" में तदवृष्टि	८०, १६४	" परिवर्तित के दोष	३८
" के शुकुकालीन परिवर्तन	७३, ७३, ७६, १०३, १६४	" में गर्भायान्त्रिक	८१, १६४, २३७	" का विरेचक गुण	२८
" की विधि मैसुरुन के समय	१६४	" में गर्भायान का आकृत्यन	८१	" अपरिवर्तित देने का देहु	३८
" में फक्क वयानुसार	१६३, १६५	" में जानिगत परिवर्तन	८१	गोथा गुण	८
" में गर्भ वा लागमन	१०	" स्वस्थृत और सामान्य परि-		गोशीर्षवचन्दन	२४
" के गर्भ में जीव प्रेश का हेतु	१४४	चर्या	८१-८४, २३०-२३३	गौरव	१३०
" की विधि	१६५	" में व्यायाम के नियम	८२	गौरी सिरा	१४५
" के प्रदर्शक रोग	२७	" में व्यायामनिरेष का हेतु	८२	ग्रहेपत्तर, थालक का प्रतिपेष और उद्धरण	१४८
" का आकृत्यन, गर्भिणी में	८४	" में व्यायाम के नियम	८३	ग्रहणी	११४
" पुष्टि, मासानुमासिक	८१, १३७	" में विहिनिकमण के नियम	१३१	ग्रीवा के मर्म	११८
" " " घोड़क	१६५		१३३	" की अवेष्य सिराएँ	१५०, २००
" " प्रयवकालनिर्णय में	८१	" में वैगाविकारण के नियम	८४	" की हृद्योर्धा	१४१
" " गर्भमृद्दिदर्शक	८१	" में विकिस्तोपयोगी नियम	८४, ११५	" की सन्धिर्धाँ	१५५
गर्भायानवगत रक्षावाच, असाधर में	२६	" का आहार	८१, १२३	" की पेशियाँ	१५०
" " गर्भायान में ११५		" का मासानुमासिक आहार	१२३	ग्रीष्म, दिवाहृत के लिये योग्य	११८
" " रोधक ओरधियाँ	८८, १२३	" में स्वदृशता के नियम	११२, १२३	ग्लानि	११०
" अपरिषष, अनातंत्र्य हेतु	२६	गर्भिणी का सोने का स्थान	१३१	घोरपड	८
" की अपयोग्यता	२६	" की सृष्टिकारात्मवेशविधि	१३५	घोप अर्थ	११४
" की स्वस्थृति	२६	" की मानसिक विधि के नियम	१३५	घोपशरा घमनी	११६
" दयनेत्रि की प्रक्रिया और		८४-८८, १२३			
गर्भि	१५४	" के दूध का थालक पर परिणाम	१२६	घासु के लीन प्रकार	१०१, १०२
परिवर्तन प्राप्तोपर	११८	दासोद्रक, अधिकता गर्भायाना दूरीर्थ में	११६	घासुपैद विधायात्मक वित्त	१०१
स्थानापृष्ठि का हेतु	१६५	" का आप्रवास में	१२०	घासुविशितताय, सोनपदर्शन के	४
" " की गर्भासि	१६५	गलगण्ड	१००	घासुवशति संशयागता में चारक सूखा	
" " अग्नातर का हेतु	१०	" में सिरावेष	१०८	का भेद	४
" " वयस्याना का हेतु	१२५	गोदोनी	१२०, १२५	घासुपैद उठ में सिरावेष	१०१
" संत १०, ११, ११४, ११५		गोपवृक्षायादण	११०	घासून, प्रकार और दवायां	१३
" हेतु, प्रकार और		गुणात्मिकामवादी	११	घासुचू	१०१, १०२
विकिस्ता	१३५	गुणात्मुक्तों के	११	घासुप्रदूर का प्रयोग, ग्याकिटा	
आगि या तुम्ही	१४५	गुणविद्यार	११, १०	के लीर पर	१११
संदर्भ	१११	गुरु मर्म	१०२	विकिस्ता का उद्देश्य	११, १०४
मुग, प्रमाणूर्व रूप में	११४	" शारीर का गृह	१०३	" औषधि और धातु की दिवेषता	१०४
" " अद्यत में	११४	गुरुराक	१०४	" में दूषात्मक का दायेता ११, ११	
" " गर्भेन में	११५	गुरुरुक, गुरुरुक	१०५	" में त्रिगुणात्मुग्रार भूतान का	
" और गर्भेन का स्थानप्य १११, १४३, १५१		गुरुमेपुन	१०५	उपचोय	१५

चिन्तन का मनचाही सन्तानोत्पत्ति में उपयोग	४६	जातिस्मरता के हेतु	५६, ५६	तत्त्वचतुर्विशिति का आधिभूतादि वैविध्य ६
” का गर्भवर्ण पर परिणाम	४९	जात्यन्धता, संप्राप्ति	४०	” का अचेतनत्व ६
” का ध्वलोच्छ्रूप में कार्य	४०	जानु	१४६, १८०, १६२	तन्मात्रापूँ ४
” मन का विषय	४६	जाल	१४५	तन्मात्राओं से भ्रूत्रपत्ति ४
चुम्बन, स्पर्शसुख का एक प्रकार - घूटे का महस्व गर्भिणी में	४७	जालधरा सिरा	१६७, २००	तन्द्रा १२८
घूटे का महस्व गर्भिणी में उपतन्त्व, आत्मा का	६	जिद्धा की अवैध्य सिराएँ	१९८, २००	” और निद्रा में भेद १३८
” के लक्षण	१६, ११४	” रोगों में सिरावेध	२०६	” संप्राप्ति १२८
” का स्थानहृदय १११, ११४, १२०	२३१	” की सीधनी	१४५	तप का सामर्थ्य १७२
चैत्य	२३१	जीव (आत्मा) के पर्यांय	६३, ६३, ६४	तपश्चञ्ज १७२
चौलकर्म	२८८	” गर्भाशय में पहुँचने का कारण	६४	तम का पंगुत्व ३
	छ	” का परिमाण	८९	तस्मास्ति १५८, १५४
छागडुरुध	२८८	” की गमोत्पत्ति में आवश्यकता	६४	” के प्रकार १५२
छाती के मर्म	१८३, १८४, १८८	” का अर्थ दार्शनिक और वैद्यकीय	६४, ६५	” की सुधम रचना १५३
” के सिरावेध रोगानुसार	२०६	जीवितिक्षि ‘ए’ ‘वी’ गर्भिणी के आहार		” अस्ति के साथ गिनने की युक्तियुक्तता १५३
” की अवैध्य गिराएँ	१९८	में आवश्यक	२३२	तलहृदय १५८, १७४, १८०, १८१, १९२
” के आधातजन्य रोग	१८४-१८५	जीवितिक्षि ‘ढी’ अस्ति बनने के लिए		१८८
” की अस्तियाँ	१४८, १४९	आवश्यक	१५२, २३२	तलहृदयगत रक्तस्राव की चिकित्सा १८९
छेदन, अंग का, निर्दश	१६०	जीवितिक्षि ‘ढी’ के अभाव से होने वाले		तामस गुण २
	ज	रोग	२८८, २८९	” मन १७
जंघा	१८०	जीवितिक्षि, संग्रह यकृत में	१४१	” दुष्क्रि ३, १६
जंघा पिण्डिका	१८०	जीवाणुमयता भर्माधातजनित	१७७	तामसी निद्रा (संन्यास भी देखो) ११८
जंघा में कालापन, गर्भिणी में	८०	” प्रसूतिज्वर में	२५९	तामस प्रकृति के प्रकार ११९
जन्मरूर्व पेशीसंख्या	१६०	” नाडीकल्पनजनित २४६, २७८		तालु (कणाल) पूर्व और पश्चिम १३८
” मर्म	१७४, १८६	जीवशोणित, लक्षण	२९	” अस्तिभवन काकाल २७७, २८९
” सिरासंख्या	१९५	जूम्भा	१२९	” की स्थिति वालक रोगदर्शक २७८
” अवैध्य सिरा	१९८	” में सुखाच्छादन की आवश्य- कता	१२९	” पात रोगों का लक्षण २७९
” सिरावेधन रोगानुसार	२०१	” से हनुसन्धिविश्लेष	१२९	” संप्राप्ति २७९
जननाशौच का सिद्धान्त और काल	२६७	” का प्रसव प्रथमावस्था में		” का अभ्यंग वालकों में २६६, २७८
जन्मवलप्रवृत्ति, लैंगिक विपर्यास में	४८, ५०	उपयोग	२४२	तालु (गला) तृपा से संबन्ध २२६
जन्मान्धता	४०	ज्वर (वालक का) में धृतप्रयोग	२७७	” प्रमार्जन वालक में २४६
जरण	१०६	” ” स्तनपान	२७७	तालुकण्टक २७९
जरायु, अर्थ	६४, ११०	” ” जलसेवन	२७७	तालुवद्धता हृदय की ११९, १६२
” परीक्षण प्रसवोत्तर	२६४	” प्रसूति	२४८	” अनैच्छिक पेशियों का गुण १६२
” शैय, मक्कह हेतु	२६५	” स्तन्य	२८८	तिर्यग्योनि १५
” के साथ वालक का जन्म	२४०, २४६	ज्ञान	१६	तिर्यग्योनि में पुरुषसंचरण अधर्म से १९
” विदारण, प्रसव के समय	२४०	” चक्षु	१७१-१७२	तिर्यग्योनिगमन (कामुकविप्रकृति) ४८
जल, उष्ण के गुण	२७७	” मनुष्यों की विशेषता	२८०	तिर्यग्विद्वा सिरा २११
जलरक्ता गर्भिणी में	८१	” चक्षु के द्वारा अहश्य वस्तुओं का दर्शन	१७२	तुच्छसेवनी सन्धि ११७
जलशीर्ष	२८८	” वर्धन में शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों का क्षम्भ	१६७	तुम्बो, रक्तनिर्हरण के लिए २१३, २१४
जलोदरसंप्राप्ति	२२९			तुल्यगोत्र विवाह के गुणदोष १७
जलोदर में शस्त्र कर्म	२०७, २०९	ट		तृणपुत्रिक (पूलिका) ५०, ७०
” ” का स्थान	१००	टेंटुआ, रचना	१९२	दृतीयक ज्वर में सिरावेध २०९
जलौका प्रयोग निर्देश	२०१, २१४	त		दृपासंप्राप्ति २२६, २२६
जाङ्गल देश	२५४	तत्कालमृत्यु के कारण	१७६	तेज का लक्षण (महाभूत) १२
जातकर्म वालक का	२४६, २५०	तत्वचतुर्विशिति	४	तेज के गुण १७
जातिसाल्य, दूध का	२८२	तत्वचतुर्विशिति गणना में चरक का भेद ४		तेजस्वलन, मैथुन में ५८

कटीक्टस्तण	१८५, १८६, १८७	कामला में सिरावेष	२०२, २१०	हृत्रिमध्यसन, की पद्मतिर्यो	१७५	
" सिरा	१८८	" में रक्त नेत्रना	२१७	कृमिदन्त, यालकों में, कारण	१८६	
वषट्ठनाडी	१८६	" यालकों में, हेतु	२१८, २८०	कृष्णमपदठ की रचना	१८०	
" रचना	१८२	वराय, प्रकृतिदेशो		केतुये इन्ताशद के कारण	१८१	
कण्ठप्रसार्जनविधि अपरापातनार्थ	२६३	वारिय, तरणाहितदेशो		केश, अर्थ	१८१	
कण्ठरा	१५, १४४, १४०, १५१	वार्ष्य, गर्भिणी में स्तनों का	७१	" शृङ्खि गर्भावस्था में	१८०	
कण्ठरा, द्विविस्तका और घटुपित्रका की	१५१	" स्तनों का अन्य हेतु	७१	" " की शृङ्खि शरीर स्वास्थ्य निरोग	१८१	
	१५१	" गर्भिणी में अंगों का	८०	केशिका	१०३, ११३, २२६	
कनपटी	१८८	काल (जागाकारण)	१०, ११	" प्राचींर की बनावट और उससे		
कन्योत्पत्ति की उपपत्तिर्यो	३३, ६६, ८१, ७७	कालबाढ़ी	११	रक्तदेश	१७५	
कपालारिथ्यो	१५१	कालपरीचा रोगी की	२१०	" की अधिकता और विरक विभाग में २०६		
कफप्रकृति	१३२	किंविस संप्राप्ति गर्भिणी में	८०	यृष्टतम्भीहायत	२२६	
" के रुचण	१३४	" पूर्वार्थावस्थासूचक	८१	" मौसिगत	२२७	
कफस्थान	१९८	" चिकित्सा	२१४	" की मोटाई	१९४	
कफवद्ध मिरा, संख्या	१९९	किलाटि गुण	२८५	लम्बाई और चेत्रफल	२०६	
" " प्राकृत और विकृतकार्य	१९६	कुकर्मों से परायृत करने के विविध		कैवल्य	७	
कथामत	५६	साधन	४१	कोथ के हेतु, मृत शरीर में	१००	
करण	१२८	कुकुन्दर	१५५, १५६, १५७	" प्रतिव्रन्धक उपाय "	१०१	
कर्ण, शकुली की रचना	१४४	कुचिला, रक्तशय में	२१	कोरसनिधि	१२६	
" की अवेष्य सिराएँ	१५९, २००	कुद्यिता सिरा	२११	" के प्रकार	१५७	
" रोग में सिरावेष	३०६	कुटजाकावलेद	२८	कोषक (सारणी) सोल्यदर्शन का	१०	
कर्मज व्याधि	५२, ५६	कुहिता सिरा	२११	" साल्यातुर्वेमेददर्शक	१८	
कर्मविषाक	६३, ८८	कुनस	३०	" पंचीकरण का	१८	
कर्मेन्द्रिय	३	कुमाराधार के गुण	२८१	" आर्तिकादर्शन का	२६	
" के विषय	३	कुमाराधार	२४६, २६६	" ग्रस्वकालतिरिधर्शक	७३, ७४	
कलन(ल) अवस्था याम की	८५	कुम्भीक	४४	" गर्भिणीचिह्नों का	६०	
कला, स्वरूप और सहया १०३, १०५, १०६	१०३	" की उपपत्ति	४७	" ल्वचास्तर तुलना का	१०२	
" अर्थ और वाद	१०६, १०७	" कामुक विप्रकृति में स्थान	४७	" कला अवधर्शक	१०५	
" प्रकार	१०३	कुलप्रथुषि, शारीरवण में	३१	" व्यानुसार नाईगितिर्दर्शक	११५	
कल्प	२३	" वृहप्रत्यय में	४२	" अरियसंत्यातुलनामक	१५०	
" लगाली का उपयोग अपरापातन में	२६२	" कामुक विप्रकृति में	४१, ४०	" सन्धियों का तुलनामक	१८८	
" लेपन स्तन पर विशुरोगों में	२७६	" कालातीत प्रसव में	५२	" पेशीसंत्यातुलनामक	१६०	
काकालक	१६०	" प्रकृति की बनावट में १३२, १३०	१३२	" मासातुमासिक गर्भद्विदर्शक	१६५	
काकवध्या सी	२२९	" के वाहक	६५	" अस्वामाविक गर्भस्थितिदर्शक	१६९	
काम, अवारया	२१०	" के रोग	३५, ४५, ६०	" गर्भार्थिर्यातिर्दर्शक	१५६	
कामजडाता	४८	कुलपरीकृष्ण का महाव विवाह में	१०	" मर्मों का	१९३	
कामकटिवर्ण	४७, ४१	कुष्ठ, उपर्युक्त स्थान	१०१	" अवेष्य सिरावर्णों का	२००	
कामकुरिता	४८	कुष्ठतैल के गुण	१११	" जागृत्वं सिरा संख्या का	११६	
कामशान्ति, गर्भधारणा में आवश्यकता	६१, ८८	" नाभिनाईवधन में	१११	" धमनियों का, जातसों का	१३०	
		कुणिता सिरा	२११	" दत्तोज्जेद का	२०७	
कामोक्तस्तण	१८८	कुर्चिमर्म	१०१, १८०, १८१, १९२	कोष, १०५, ११४, १२०, १४४, १८३, २४५	११४	
कामवासना का कम होना, गर्भिणी में अ		कुर्चिशिरमर्म	१०१, १८०, १८१, १९२	कोषाग	१२०, २२७	
कामातुरता का शरीर पर परिणाम ७५, ७६		कुर्ची	१११	कौद्य, यालक में जल्दी बैठाने से	२८१	
" अस्तुकाता सी में	७१	कुर्पेर	१४६, १८१	कौशरकायलक्षण	१३७	
कामोक्तस्तण	४८	कुर्पैरूड, कपाल	१४८	क्रीड़नक यालक के लिए	२८२	
कामुकविप्रकृति	४८	कुकाटिका १८६, १८७, १८८, १९१, २००	क्रीडाभूमि "	२८२	हम	१२६
" के प्रकार और उदाहरण ४८, ४९		कुच्छात्रंत्र	२४, ११४	हीव के प्रकार (नयुम्क भी देखा) ४४,		
" के हेतु	४८, ९०	कुत्रिम दुष्प्रयान	२००, २८२	४४, ४८		
कामदुधारय	२८	" की विधि	१८४, २८८	" सशुक और अशुक	४४, ४८	
कामला के प्रकार	२०६	कुत्रिमसंसन, नवजातशासावरोध में २४३				

पर्वतव्य के कारण ८०, ८१, ७०, ११२, २२८	गर्भ, अनेक होने के हेतु ४३	गर्भ बालातीत की चिकित्सा २३६
छोड़, वर्धनिर्णय ११४	" ", " की संग्राहि ४४	" की स्थिति गर्भाशय में १६६
ए किरण, यमलनिर्णय में ६८	" " प्रमाण ४५	" का दिन नीचे रहने के हेतु १६
सामता, गर्भधारणा के लिए ३०	" पा शुक्र हीना ४६	" की अस्याभाविक स्थिति का १६५
" पुयोरवत्ति में ३०, ६७	" हृदयदीन होने का हेतु ४८	कोष्टक १६५
" नभिणी में ८१	" में भलाभाव का हेतु ५३	" की अवस्थिति १६५
सिप्रमर्म १८१, १८०, १८८, १९२	" भृंग भेद के हेतु ६६-७१	" निष्ठमणर्तिप्रस्फ में १६६, १६७
" का सद्याप्राणहरव्य १८५, १८९	" रोदनाभाव "	" शिर, प्रसवकाल में १६६, १६७
" वेधचिकित्सा १८६	" नेत्रधिकारोप्यतिंतु ४०	" पोषण का विवरण ३७, ९३
झीणात्मेव, दृष्टिकोश और चिकित्सा २९	" का गर्भाशय में पहुँचने का काल ४५	" चलनस्वन ८६
चीर, शुद्ध का लक्षण २७३	" का व्यक्तिप्रयम भास ८२-८३	" जीवन शमता का मास ११
" जनक उपाय और लोपधि २७२	" द्वितीय ८४-८५	" स्पन्दनप्रतीति भासता को ८०
" साम्य के हेतु २८२	" दृतीय ८६	" द्वीद्वय का सम्बन्ध ८६
हीरालसक २७१	" दृथुर्य ८७	गर्भधारण काल ७०, ७१ गर्भाधान भी ८६
क्षीरी पृष्ठ १०४, २५०	" पद्म ८८	" की सामग्री ८६, १६
वालक स्तनोदक में २५०	" पष्ट ९०	" के लिए अनेक समागम की ६०, ६२
न्त्र, आन्व वेदो ८२	गर्भ का स्वरूप समस मास में ६०	" की आवश्यकता की ६०
, दर्पनशास्त्रगत व्याख्या २, ६२	" अष्टम ९०	" अयोध्या श्रीपुरुष २६१
श्रीशतीर के लिए ६७, २७२	" नवम १०, ११	" के लिए श्री की इच्छा ६१
ज २, ६२	" आठवें मास में न यचने का हेतु १०	" श्री की मनस्त्विति ६१
के पर्याय ६३	" के प्रशासादिकर्म भासता के अधीन ५४	" पुस्तक की ६२
र	गर्भात्पत्त्वन्दन, संस्था ८१	गर्भधारणा के लिए योग्य आसन ६२
उकोरसन्धि १५७	" सर्गमार्विद्यादर्शक ८६	" श्री-कामशान्ति की आवश्यकता ६१
दित अज्ञ १०५	" गर्भांगतिसूचक ८७	" प्रतिवन्धक काल ६०
खलीने, वालक के २८२	" गर्भासनसूचक ८९	" में आर्तवदर्शन की अनावश्यकता ७५
अस (दूष) ७९, २६१	" गर्भस्तास्थ और लिङ सूचक ८६	" दो में अल्पतम कालमर्यादा ११, २५६
ग	" शुगमसूचक ८८	" अधिक २६४
धि के गुण २८३	" गर्भांगतिसूचक ८९	गर्भपात (धाव) २६, ८१, २९२
धि के दूष का उपयोग २८३	" का आभाव गर्भस्तुसूचक ८१	" कारक, जीवदूष वी का आभाव २३२
न्य का स्थान ध्वजोच्चाय में ४६	गर्भ का रक्तसंवर्धन ६४, ९५	" कारक कर्म ८२, ८३, २३३
" के अनुसार शियों के भेद ४६	" के भासादि उत्तरण ९६	" के प्रकार २९२
प्रथव धमती २१९	" की गति ८१, १६६, १६७	" के लक्षण २९२
गरमाना, जानवरों में ३०	" के आसन ८१	" की चिकित्सा २६१, २९२
गर्भ, व्याख्या १७, १९, ६२, ६४, १२९	" लिंगसूचक उत्तरण ८१, ९७	" साध्यासाध्यता २९२
" अवक्रान्ति ३, ६७	" लिंगसूचक विवरण ६६, ६६, ६७	" द्विर्गमीर्भासाय २६६
" की सामान्य प्रक्रिया ११७, १२९	" लिंगोत्पत्ति में वीर्य का स्थान ६६	" मासानुमासिक प्रतिपथक २६२
" में जीव की आवश्यकता ६४	" लिंगोत्पत्ति में आत्मव का स्थान ६७	चिकित्सा २२६
" का स्थान ६५	" लिंगोत्पत्ति में शारीर स्वास्थ्य का स्थान ६७	गर्भसाधी व्यन्धयता २२६
" ग्रथमांग उत्पत्ति के मतमतान्तर ६५	" लिंगोत्पत्ति में समागमकाल का स्थान ६७, ७७	गर्भसाध (पात), असुरदर का हेतु २६
" " में धन्वन्तरिमत ९६	" लिंगोत्पत्ति में जीवीज की पक्का-पक्कता ६८	गर्भविषयमयता में सिरावेष २०२
" के विविध अंगों की उत्पत्ति ११०, १११, ११७	" लिंगोत्पत्ति में दैविक उपायों का स्थान ६८	गर्भव्याकरण शारीर अध्याय १६-१३८
" के हेतु १२०, १२१	" लिंगोत्पत्ति में अन्तःस्वावी ग्रन्थियों-का स्थान ७०, ७१	गर्भवक्तान्ति शारीर अध्याय ५७-६८
संभव की सामग्री ३६, ९६	" अन्तस्थृत के लक्षण ११४	गर्भसंरग ३४४
च्यत्क और अच्यत्कावस्था ३५, ७०, ७८	" कालातीत की भर्यादा ११४	गर्भ पर परिणाम, मैथुन का ८२, ८३
गौरकृष्णादिवर्णोत्पत्ति हेतु ३६, ४०	" की स्थिति का ३३, ३४, ८४, ८७, २३३	" साता की मानसिक ८२, ८३
में अन्तःस्वावी उत्पत्ति होने के हेतु २२	" की स्थिति का ३३, ३४, ८४, ८७, २३३	" माता के आहार का २३२
विकृताकारी होने के हेतु ३४, ४६,		
" विकृताकार के प्रकार ५२, ५३		
५२, ५३		

गर्भांशानविधि का स्थापन्य	२८६	गर्भिणी व्याकरण अध्याय	२३०-२४५	गुदमैयुन द्विलिङ्गियों में	१८
गर्भांशान, प्रथम के लिए योग्य वय	३८, ४८, १००	गर्भिणी लक्षण	७०-८८	गुदयोनि क्षाव	११
" अरथमत आटा में नियोग	३२१	" निवासनसहायक सारिणी	९०	गुरुक	१४८, १४९, १५०, १०३
गर्भांशनामक में मिरारेष	२०१, १०२	" में अमातौर्य	२८, ४८, ११०, २२१	गृहस्ती	१२०
गर्भविकान्ति शारीर अध्याय	१७	" में अतांतदर्शन	२८, ४८, ११, ११०	" में सिरावेष	२०४, २०६
गर्भांशया, गर्भिणी देखा		" में योनिगत परिवर्तन	८८, ८९	गृहनिष्ठमनविधि थालक की	२८१
" औदृष्ट	८६	" में हृदयस्पन्दन	८८	गोभूतगुण	१८
" वीजक्षयस्य	८६	" में गर्भांशस्पन्दन	८९	" नमातौर्य में	१८
" नालिकागत	६०	" में कामवासना की कमी	७८	गोदुष्ट की सर्वंयेता	२४८
" और अवधि	८५	" में हृतनगल परिवर्तन	४९, १४३	" यालक को देने की विधि	२४९
गर्भांशय का स्थान उद्धरणुदा में	१४३, १६१	" में पचनस्त्रयानगत परिवर्तन	७९	" और माता के दूध में भेद	२४८
" का स्वरूप	१४३, १६३, १६४	" में शारीर का कार्य	८०	" माता के दूध के समान करने	
" की पेशियाँ	१६२	" में उद्दरपृष्ठि	८०, १३७	की विधि	२४९
" के अतुलीन परिवर्तन	७३, ७४, ७६, १०४, १६४	" में गर्भांशपृष्ठि	८१, १६४, २१७	" परिवर्तित के दोष	२४८
" की स्थिति मैयुन के समय	८८	" में गर्भांशय का आकृत्व	८१	" का विरेचक गुण	२४६
" में फंक वयानुमार	१४३, १६५	" में नामिगत परिवर्तन	८१	" अपरिवर्तित देने का हेतु	२४८
" में गर्भ का आगमन	६०	" स्वरथयुक्त और सामान्य परि-		गोथा गुण	८८
" के गर्भ में जीव प्रवेश का हेतु	८४	चर्याँ	८२-८४, २३०-२३३	गोरीपीचन्दन	२४४
" की स्थिति	१६५	" में व्यायाय के नियम	८२	गौरव	१३०
के प्रद्रव कारक रोग	२७	" में व्यायायनियेष का हेतु	८२	गौरी सिरा	११७
का आकृत्व, गर्भिणी में	८१	" में व्यायायाम के नियम	८३	ग्राहपतर्ग, यालक का प्रतिपेष और लक्षण	२४९
चुदि, मासानुमासिक	८१, १३७	" में व्यायायनियेष के नियम	८३३	ग्रहणी	२४८
" " कोष्टक	१६६	" में यानावरोहण के नियम	८४	श्रीवा के भर्म	१८६
" प्रस्वकालनिर्णय में	८१	" में वेगविधारण के नियम	८४	" की अवेष्य सिरापै	१९८, २००
" गर्भवृद्धिदर्शक	८१	" में विकितसोपयोगी नियम	८४, १९४	" की हड्डियाँ	१४६
गर्भांशयगत रक्तालाच, असाधार में	२६	का आहार	८४, १३२	" की सन्धियाँ	१५६
" " गर्भांशय में	१९२	का मासानुमासिक आहार	१३२	" की पेशियाँ	१६०
" " रोधक औषधियाँ	१८,	" में व्यायायता के नियम	१३२, १३३	श्रीम, दिवास्वप्न के लिए योग्य	१२८
१३२		गर्भिणी का सोने का स्थान	१३१	ख्लानि	१३०
अपरिषफ्ट, अनातौर्य हेतु	२६	" की सूतिकागामप्रवेशविधि	१३५	घोरपद	८८
की लपवृद्धि	८६	" की मानसिक स्थिति के नियम	१३५	घोर अर्थ	१११
की स्वरकृति	८६	" के दूध का वालक पर परिणाम	१३६	घोपकरा घमनी	१११
इवस्त्रृति वी प्रक्रिया और		गर्भोदक, अधिकता गर्भवस्या पूर्वीय में		च	
राति	१४४	" का स्वाद प्रसव में	१३६	चम्पु के तीन प्रकार	१७१, १७२
परिवर्तन प्रमवोत्तर	२१५	" में सिरावेष	१००	चम्पुवैरोपिक आलोचक पित्त	१७१
स्थानापवृत्ति का हेतु	१३५	गवोदी	२१०, २१८,	चतुर्विशतितात्व, सांकेतदर्शन के	४
" की सम्प्राप्ति	१६५	गर्भवक्यालङ्घण	१३७	चतुर्विशति तत्त्वगणना में घरक सुश्रूत	
" असूखर का हेतु	२१	गुणपरिणामवाली	११	का भेद	४
" बन्धन्याता का हेतु	२२९	गुणागुण अंगों के	८८	चतुर्युक्त ऊर में सिरावेष	२०९
संग २१४, २४४, २४५		गुणविकास	११, १७	चन्दन, प्रकार और उपयोग	२३
" हेतु, प्रकार और		गुदम	१८२	चम्पुचम्पु	१५१, १०२
विकिसा	१४५	" शारीर का मूल	१८३	गर्भप्रच्छद का प्रयोग, न्याकिन्द्रा	
श्रान्ति या सुस्ती	१४५	गुदपात्र	२०६	के तीन पर	२४१
सहरण	१६१	गुदकुम्द, गुदकुम्दक	१७१	चिकित्सा का उद्देश्य	१२, २०७
सुख, प्रसववृद्ध रूप में	१४८	गुदमैयुन	१७	" औषधि और शाद की विशेषता	१०७
" प्रसव में	१४४			" में भूतज्ञान का उपयोग	११, १२
" गर्भपात में	१९२			" में विगुणानुसार भूतज्ञान का	
" और स्थान का सम्बन्ध ७१, १४३, २५१				उपयोग	१८

चित्रिणी सी	४६	जातिस्मरता के ऐतु	५५, ५६	तत्त्वचतुर्विशेषति का धार्घभूतादि त्रैविध्य ६
चिन्तन का मनचाही सन्तानोत्पत्ति		जात्यन्धता, संप्राप्ति	४०	" का अचेतनत्व ६
में उपयोग	५१	जातु	१४६, १८०, ११२	तन्मात्राएँ ४
" का गर्भवर्ण पर परिणाम	४०	जाल	१४५	तन्मात्राओं से भूतोत्पत्ति ४
" का ध्वजोद्धार्य में कार्य	४६	जालधरा सिरा	१६७, २००	तन्द्रा १२८
" मन का विषय	५	जिहा की अवेध्य सिराएँ	१९८, २००	" और निद्रा में भेद १३८
चुम्बन, स्पर्शसुख का एक प्रकार -	४७	" रोगों में सिरावेध	२०६	" संप्राप्ति १२८
चूने का महस्व गर्भिणी में	२३२	" की सीवनी	१४५	तप का सामर्थ्य १७२
चेतनत्व, आत्मा का	६	जीव (आत्मा) के पर्याय	६२, ६३, ६४	तपश्चतु १७२
" के लक्षण	१६, ११४	" गर्भाशय में पूँचने का कारण	६४	तम का पंगुत्व ६
" का स्थानहृदय १११, ११४, १२०		" का परिमाण	८९	तलगास्थि ११८
चैत्य	२३१	" की गर्भोत्पत्ति में आवश्यकता	६४	" के प्रकार ११२
चौलकर्म	२८६	" का अर्थ दार्शनिक और वैद्यकीय		" की सूक्ष्म रचना ११२
	छ		६४, ६५	" अस्थि के साथ गिनने की युक्तायुक्तता ११३
छागदुर्ग	२८४	जीवतिक्ति 'ए' 'वी' गर्भिणी के आहार		तलहृदय १५८, १७६, १८०, १८१, १९२ १८६
छाती के मर्म	१८३, १८४, १८८	में आवश्यक	२३२	तलहृदयगत रक्तस्राव की चिकित्सा १८९
" के सिरावेध रोगानुसार	२०६	जीवतिक्ति 'ढी' अस्थि घनने के लिए		तामस गुण २
" की अवेध्य सिराएँ	१९८	आवश्यक	१५३, २३२	" मन १७
" के आघातजन्य रोग	१८४-१८५	जीवतिक्ति 'ढी' के अभाव से होने वाले		" तुष्टि ६, १६
" की अस्थियाँ	१४८, १४९	रोग	२८८, २८९	तामसी निद्रा (संन्यास भी देखो) ११८
छेदन, अंग का, निर्दश	११०	जीवतिक्ति, संमह यकृत में	१४१	तामस प्रकृति के प्रकार ११९
	ज	जीवाणुमयता समर्थातजनित	१७७	तालु (कपाल) पूर्व और पश्चिम १३८
जंघा	१८०	" प्रसूतिज्वर में	२६९	" अस्थिभवन का काल २७७, २८९
जंघा में कालापन, गर्भिणी में	८०	" नाढीकल्पनजनित २४६, २७८		" की स्थिति वालक रोगदर्शक २७८
जन्मवृद्धपेशीसंख्या	१६०	जीवशोणित, लक्षण	२६	" पात रोगों का लक्षण २७७
" मर्म	१७४, १८६	जूँभा	१२९	" " संप्राप्ति २७८
" सिरासंख्या	१९५	" में मुखाच्छादन की आवश्य-		" का अभ्यंग वालकों में २६६, २७८
" अवेध्य सिरा	१९८	कता	१२९	तालु (गला) तृपा से संबन्ध २२६
" सिरावेधन रोगानुसार	२०६	" से हनुसन्धिविश्लेष	१२९	" प्रमार्जन वालक में २४६
जननाशौच का सिद्धान्त और काल	२६७	" का प्रसव प्रथमावस्था में		तालुकण्टक २७९
जन्मवृद्धपेशीसंख्या में	४९, ५०	उपयोग	२४२	तालवद्धता हृदय की ११५, १६२
जन्मान्धता	४०	जवर (वालक का) में घृतप्रयोग	२७७	" अनैच्छिक पेशियों का गुण १६२
जरण	१०९	" "	२७७	तिर्यग्योनि १५
जरायु, अर्थ	९४, ११०	स्तनपान	२७७	तिर्यग्योनि में पुरुषसंचरण अधर्म से १५
" परीक्षण प्रसवोत्तर	२६४	" जलसेवन	२७७	तिर्यग्योनिगमन (कामुकविप्रकृति) ४८
" शेष, मक्कल हेतु	२६५	प्रसूति	२४८	तिर्यग्विद्वा सिरा २११
" के साथ वालक का जन्म २४०, २४६		स्तन्य	२११	तुज्जसेवनी सन्धि १५७
" विदारण, प्रसव के समय	२४०	ज्ञान	१५६	तुम्हो, रक्तनिर्हरण के लिए २१३, २१४
जल, उष्ण के गुण	२७७	" चक्षु	१५१-१५२	तुल्यगोत्र विवाह के गुणदोष ३७
जलरक्ता गर्भिणी में	८१	" मनुष्यों की विशेषता	२८०	तुल्यगोत्रिक (पूलिका) ५०, ७०
जलशीर्ष	२८८	" चक्षु के द्वारा अदृश्य वस्तुओं का		दूतीयक ज्वर में सिरावेध २०९
जलोदरसंप्राप्ति	२२८	दर्शन	१७२	तुषासंप्राप्ति २२६, २२८
जलोदर में शाय्य कर्म	२०७, २०९	" वर्धन में शाय्य और प्रत्यक्ष दोनों		तेज का लक्षण (महाभूत) १२
" " का स्थान	१००	का सहज	१६७	तेज के गुण १७
जलौका प्रयोग निर्देश	२०१, २१४	ट		तेज (शरीरगत) के अर्थ ५८
जाङ्गल देवा	२५४	टेंटुआ, रचना	१९२	तेजेस्वलन, मैथुन में ५८
जातकर्म वालक का	२४६, २५०	त		६८
जातिसाम्प्रय, दूध का	२८२	तत्कालमृत्यु के कारण	१७६	
		तत्वचतुर्विशेषति	४	
		तत्त्वचतुर्विशेषति गणना में चरक का मेद ४		

मुम्भुत सहिता

सेवेदीरण, मैयुन में	१८४	हिन्दू ईश्वरामदर्शन के लिए आव-	प्रभानी का अर्थ	११३, २१०, २२२
तैलपिण्डिरण, योनि में	२१४	रथकर्ता	" का कार्य और इच्छा	१०३, ११८
तैलपिण्डिरण, वालु पर बालक में	२१५	दुष्ट	" १९१	११९, १२१
ग्रन्थी विद्या	२१०	दुष्प्रशान्त हृदिग्र	" स्वरूप श्रीर ईश्वर	२११, २२२
ग्रिक	१४६, १४८, २३३	" हृदिग्र मात्रा और काल	" माहात्म्य	२२२
ग्रिगुणमध्यता ईश्वरी की	१, १२३	दुर्विज्ञा भिरा	धर्मना का ईश्वर से सम्बन्ध	११३, २१६
" में तरतम भेद का मिळान	१	दुष्टप्रधन (सिरामेष) नाम और लड़ाग	" भिरा से वृथक्कर	२१५, २१६
" पुराण (आमा) की १, १२३	१२३	" न होने के उपाय	" का नामिभवन और उसकी	
ग्रिगुणों के कार्य	१२३	" का कारण वैष्ण	" उपरोक्ते	२१८
विद्योर, आखुवेद की नीति	२१०	दूष की जातिसाम्यदा	" स्वन्दन की उपरानि	२१६, २१९
" दारीरात्र और प्रहृतिगत कामेद	२१६	" गौ का, (गोउतुब देखो)	" स्वन्दन मध्येत्तावस्था का	
" का सर्वंगरी में परिभ्रमण	११६, ११७	" गौ का, घारोण की प्रेहता	" दर्शक	११८, २२३
त्रिमर्म शरीर के	१११	" विलाने के उपकरण और उनकी	" संस्था	२१८
त्रिवृक्षरा	१८	स्वच्छता	" के विभाग	२१९
स्वच्छ क्षय करने	११-१०३	" मात्रा का, (स्वन्य देखो)	" दृष्ट्वाके कार्य	२१९
" के स्तर, चरक और सुश्रुत मन	१००,	" मात्रा का, बालकवृद्धि के लिए	" अध्येतामी के कार्य	२२०
१००	१०२	सर्वथेष्ठ	" तिरंगामी के कार्य	२२१
" का वर्ण	११	" मात्रा और गौ के भेद	" का अर्थ तर्वं करने से अनुवस्था	
" की मोटाई	१०१	" मात्रा का न मिठाने के कारण	प्रस्थ	२११
" के स्तरों का आयुर्विक विवरण	१००,	दायोनि ईश्वर	गम	२१२
१०१	१०१	ईश्वर के प्रकार	दर्शन	२१०
" के स्तरों का तुलनात्मक केंद्र	१०१	ईश्वरी की स्थिता और अर्थ	प्रादुषय के कारण	२०
" की औदितिशेषा का शक्ति	२२१	देश (रोगी) परिवार की विधि	" वस्त्र वाह	२१
" की स्वच्छता करने की विधि		दैवयोनि	चारी, व्यास्ता और अर्थ	११४, ११५
नवजात बालक में	२१०	दैवयोनि में सुख का संचरण घर्म से	" इत्यने का विवाह राजवासने में	२११
द		दैविक उपाय, गर्भलग्नोत्तर्में महाव	" की वादवरक्ता	२११
देवेश (जलेश देव्य)	२२१	दोष, विद्युत तथा वात, पित्त,	" के गुण	२१३, २१४
दन्त, इच्छा और सम्बन्ध	१-३, २०७	कफ भी देशी	" दो रखने का मत और उसकी	
" अस्ति के साथ गिनने की		" देहव्यापिन्द	युक्तायुक्ता	२१
सुक्ष्मायुक्ता	११३, २३८	" के अनुमान प्रहृतिमेद	पूर रक्षण	२१६
" के प्रकार	२०७	" दारीरात्रों और प्रहृतिगतों	पूर्व बद्धादि का बालक के	२१६
" वीव	२०८	का भेद	" अस्तुगाह का	२१६
सर्व और दोष	२०८	" वाहक सिराओं के उच्च	प्रति	१६
" शब्द रोग	२०९	दैवद, पर्याय	योक्ता सिरा	२११
" बालक के वदानुमार सम्बन्ध	२०९	" और गर्भ का संबन्ध	प्रुद्यम, गर्भाशय का	२११
दान्तेष्ठेद	२०५, २०६, २०८	" पूर्ण का महाव	प्रवद्यमा के हेतु	२११
" का वैष्ण	२०७	" के अनुपर अवद्युत	प्रदेवद्याय	११५
" की प्रतिक्षेपा	२०८	" की उपरति	" में शिरनगत परिवर्तन	११५
" के उद्देश	२०८	दैदिनी	" की प्रक्रिया	१११
" और अक्षसेवन का संबन्ध	२०६,	दिव्य (दन्त)	" में रूप	१११
२०७	२०७, २०८	द्विपंचमूल	" में रूप	१११
दार्ढ के गुण (घात्री भी देखो)	२४३, २६०	दिवाली	" में रूप	१११
दांत, (दन्त देखो)		दिल्ली	" में रूप	१११
दिवास्त्रप, विविन्दिरेष	११२, १२०	द्विल्ली	" में रूप	१११
दिवास्त्रप का अवधास से निर्दोषण	१२०	घ	" में रूप	१११
दिवास्त्रप के लिये शाय्य	१२८	घनुर्दात, कारण	" में रूप	१११
दिवास्त्रपैमुनिनिरेष	१३४	घमनी व्यापरण अप्याय	" में रूप	१११
दिव्य ईश्वर	१०२	" व्युत्पत्ति	" में रूप	१११
		११३, ११६, १२२	" दीक न होने से मैयुन	
			का वैष्णव	१११
			" न	
			नल काने का महाव, स्वच्छना में	२४१
			नल, निरन्तर ईश्वर	१३१

नयुसक, अर्थ (होम भी देगो)	४५, ६९,	निद्रा, शरीरधारक	११७, ११८, १२४	परस्परानुग्रहता सहाभूतों की	५७
	७०	" उचित सेवन से चिरायुपल १२४, १५७		परिचारक के गुण	२६८
" के कारण	५०, ६९, ७०, ७१, ११३	" शरीर के लिए आवश्यक	१२४	परिणाम	१०, ११
" के प्रकार	४४, ४५, ४६, ९१, ६९	" की पृष्ठि अभ्यास से	११९	परिणामवादी	११
" राघव	६९	" के प्रकार	११७, ११८,	परिशुद्धका सिरा	२११
नरपण्डि	४५, ४७, ४८	" तामसी या पाप्ता	११८, ११९	परोपनीयी गर्भ	५३
नलकास्ति	१५२, १५३	" पापज	११८	पलट	२३४
नवजात नेत्राभिल्पन्द	२४६	" घोकरिकी	११९	पलाशाशृत	२१
" वालक के रोने का कारण	२४७	" की उत्पत्तिर्यों	१२३, १२४	पसलियों	१४०, १५०
नवजात श्वासावरोध	२४७	और भोजन का संबंध	१२६	पशुओं में घृणपत्त्वता	४२
" विसर्प	१७१	निद्रा का रथान गर्भिणी में	२३१	पशुकाय लक्षण	१३८
नष्टशुक्राणुता	१६	" में सुख बनातुत करने का नियेध २८२		पादशोफ गर्भिणी में	८१
नष्टार्तव	२८	" और तन्द्रा में भेद	१२८	पाददाह, पादरुप्त	२०८
" कारण और प्रकार	२८	" नाश के कारण	११८, १२७	पापकर्म रोगोत्पत्ति में	५२, ५३, ५६
नस्य की ओषधियाँ पुंसवन में	५६	" की चिकित्सा	१२७	पारिगार्भिक	२५६, २७४
नागोद्वार गर्भ	२१३	" " के कारण प्रसूता में	२५६	पारावत गुण	१३७
नाभिवचनचरघसन	११२	" अधिक की चिकित्सा	१२८	पार्थ की अवेद्य सिराएँ	१९८
नाभि	११२, २१५	" के अनुकूल साधन	१२८	पार्श्वसन्धि	१८५-१८६ १६२,
" अर्थ	११२, २००	निमेष	१६	पार्थगुल में सिरावेध	२०९
" गर्भिणी में	८१	नियति	१०, ११	पार्थानन प्रसव में	२४४
" गर्भ	१८२; १८५	निरिन्द्रिय सृष्टि	३	पार्णि	१८०
" सिरा और धमनी का मूल		निशास	२४	पाश्चरीकरण	२८५
माननेका हेतु	१९३, १९४, २१५	नीला गर्भ	१८६, १९२	पिचु	२३
" गत स्तिराधमनीचक	१९५	,, सिरा	१९७	" गर्भिणी में योनि के अभ्यंगार्थ २३४	
" " बान्द्रवृद्धि वालक में	२७८	नेत्र की अवेद्य सिराएँ	१६९, २००,	पिचुट्टिन	२३९, १४८
" की अवेद्य सिरा	२००, २१५	" रोग में सिरावेध	२०९	पित्तिता सिरा	२११
" गर्भ में शरीरवृद्धि का मूल	९५,	" की उत्पत्ति गर्भ के	४०	पिण्डिका नाभिरोग	२७८
	१३१	नेत्रशृण की आवश्यकता नवजात में २३६		पिण्डिका जंवा	१८०
" विकार वालक में	२४९, २७८	नैगमेषपाद्धत गर्भ	२९३	पित्त्यसुत्र	९९, ६५
नाभि जीवी गर्भ	५२	प		पित्त के स्थान	१९५
नाभितुण्डी	२४९, २७८	पक्षाशय	१४२, १४३	" वह सिरासंख्या	१९६
" पाक	२४९, २७८	पचाधात	१८२, २१८	" " के प्राकृत और विकृत	
" नाढी, रचना	९३, ९४	" में सिरावेध	२०१, २१०, २१४	कर्म	१९६
" क्लपनविधि	२४८, २४९	पचियों की कामपरायणता	१३७	" की उत्पत्ति यकृत में	१४१
" विभाग उदर का	१८३	पचन परिभासा और काल	१०५	" धरा कला	१०५, १०८, २२०
नामकणिविधि वालक की	२६७	पचनसंस्थान के विकार, गर्भिणी में ७९		पित्तप्रकृति लक्षण	१३३, १३४
" के नियम वर्णानुसार	२६७	पंचकर्म	२१३	पित्ताशय	११४, १४१, १४२, १६८
नारीपण्डि	४५, ४७, ४८, ५१	" के पश्चात् नियिद्ध कर्म	२१२	पिप्पल्यादिचूर्ण, प्रसवशोणित-	
नासा	११४	पंचांग के पाँच अङ्ग	२३५	शुद्धीय	२५२, २५३
" की अवेद्य सिरा	११९	पंचीकरण	१२, १७	पिपासा जलोदूर में	२२६
" का गन्धप्रदेश	१८८	" कोष्ठक	१८	पीट का गर्भ	८५
नासायोनिकृती	४४	पट्ट वन्धन प्रसूता में	२६४	पीठ के गर्भ	१८५, १८६
नास्तिक्य पारमार्थिक	५३	पतिदेवत	३१	" की अवेद्य सिराएँ	११८, २००
" वैद्यकीय	५३	पत्ती धर्मार्थ कामों में आवश्यक	२९०	" में रोगानुसार सिरावेध	२०९
नितम्य	१८५, १८६, १९२	पश्चिनी लड़ी	४६	पीड़नाश्वमता और पीड़ा	१७५
निद्रा, स्वाभाविक	११९	पनमोटी कार्य प्रवस में	२४०	पीत अच	१०६
" " का उचित काल	११८	परमात्मा	६३	पीयूप	७९, २११
" वय और व्यवसायानुसार काल	१२९, १२६	परस्परकोरसन्धि	१६७	पुत्र की निरुक्ति	३९, ६९
३६ सु. सं०	११९			" का अर्थ	५०
				" और स की व्याख्या	६६

पुरुष के व्याप	३१	पुंसवन का व्यौचित्य	६९, ७१	प्रहृति के राजस प्रकार	१२७, १
" से आन	३२	पुंसी टिणी	८०	" के तादस प्रकार	१
" कामेष्टि यज, पुरुषीयायिति	३३	पूर्णशुक्रता	२०	" के और दार्शन के दोषों का	
" " पशाद् कर्म	३४	पूर्वजन्म कर्म का पुरजन्म से सम्बन्ध	२१, १७, ६५, ६१, ९८	पृथग्वल	१
पुरुषेष्टि समदिन सहवास से	३५, ७७	" यमलोचिति से सम्बन्ध	७४	" ज्ञान का चिकित्सा में महाव	१
" के लिए पुरुषवर्षिति	३६	" दौड़ेद से सम्बन्ध	८८	प्रहृतिवादी	
" " वायोकरण	३८, ४३	पृथिवी (भूमध्यत) के उद्गग	१२	प्रहृति विहृति	
पुनर्जुना विद्वा सिरा	२१	" के गुण	१०	" " दार्शनिक व्यरिष्ठ रूप	१
पुनर्जन्म	४५, ८१	पृथुल खातु	१११	प्रस्तुत रक्तमोषण में स्थान	२०१, २१
पुरुषमक्त	३४०	पृथासन प्रसव में	२४१	प्रजनन, वर्णमोचन का धेड़ साधन	१
पुरीयश्चरा कटा	१०८, ११८	पृथिवी की अस्तित्वा	११९	प्रतर समिति	१४
पुरीयवद् चोतस	२२८, २३०	पृष्ठ की अवैष्य तिरारे	११८	प्रतिलोम गर्भे क्षुलोम करने के	
पुरुष (आमा) निरूक्ति		" प्रस्त्रा वालक में	२८३	उपाय	२१
(आमा भी देहो)	७, १३	देशी, लर्य और स्वस्त्र	१११, ११३	प्रत्यक्ष	११
" का अधिष्ठान प्रहृति	१, २	" के आकार	११२	प्रतीयापरा रक्तसंचय	२१
" का स्वरूप	८, २४	" के कार्य	११३	प्रत्यावर्तन कर्म	२४
" का चेतनत्व	६, ६१, १२०	" की सूक्ष्म रचना	११२	" उनित हन्दे	१४
" का घटुल	८	" ऐच्छिक	११२	" स्त्रबता	१३
" की मध्यस्थता	६	" अनैतिक, स्थान धौर विदोषता	११३	" सद्गम	१२
" के गुण	१४, १२०	" सूक्ष्मा, शारीरगत	११०, १११	" का विवारण	१२
" का नियन्त्र	१५	" " तुलनात्मक कोडक	११०	प्रायेक मर्म निर्देश शारीर अध्याय	१०१
" का परिसामग	१४, १०, १३१	" स्त्रियों की विदेष	११२	प्रत्येक दारीर के	१३
" का संयुग्म	८, १२३	" योनि रामर्याद्य की	११२	प्रदूर बुत्स्ति	१७, २२
" का प्रहृति में समावेश	६	" स्त्रियों की	११३	प्रदर्शन, प्रदर्शनक	८
" और प्रहृति का सम्बन्ध	७	" " पुरुष में स्त्रीविशिष्ट के प्रतिनिधि	११३	प्रदर्शनीयता का सुकिविषयांत	४
" " सापर्यम् वैष्यम्	८, ९	पैशाच काग्यदण्ड	११४	प्रयत्न	१
" के पर्याय नाम	१२	पैशिङ्का प्रस्त्र्य का स्थान कामुक		प्रलय	११८, १५
" का अनेक योनिमात्र १५५६, १२०३		विदर्यसों में	५९	प्रवाहिका वालक की	२७
" का शुक्रशोणित संयोग में अवतरण	१६, १९, ६२, ६४	" " गर्भ लिंगेष्टि में	८०, ८०	प्रवाहण	२४३, १४१
" सुख-दुख का शारा	४३	" प्रनिय का स्थान स्तन्योत्तिमि में	२५१	प्रवृत्ति	८, १
" की कम्पक्त भोगाने की आवश्यकता	२६, ६२	प्रदाह की राशि शुक्रिकाशुष में	२१६	प्रशास, धर्म	११
" का दृष्ट शारीर में अभाव	११, १३१	प्रहृति (अव्यक्त, भी देखो) १२, ५६, ११		प्रस्तरपर्यामि प्रहृति	१
पुरुष (स्त्री) छोतसो का समुदाय २२४		" और पुरुष का सापर्यम् वैष्यम् ८, ९		प्रस्तवकर औषधियाँ	१४१
पुरुष (नर) सुप्रब्रतिनिर्णय के लिए		" के पुरुषार्थ प्राप्ति का कारण		प्रसव, दो में स्वास्थ्यकर अन्तर	
योग्यादेवता	३८, २१०	मीमांसा	*	अद्वत्तम	११
" प्रब्रतेष्टान के लिए योग्य यथ	३८, २१०	प्रहृति (स्थामाव मनुष्य का) अर्थ	११	" " अधिकात्म	२११
" " में भीव स्वरूप	१०	" उत्पत्ति, संस्था और प्रकार	१११, ११२	" उपयोगी सामग्री	२३५
" " मनस्यति	१२	" में दोषाशक्ताका नियम	१११	प्रसवकालनिर्णय कोडक	१०१-१५
" और भी में अन्तर	१८	" का शारीर के लिए अव्याधित्व	१११	" में आर्तवाइशन का उपयोग	११
पुरुषकर मार्य	२०	" भी विश्वाता	११४	" में गर्भ इन्द्रन का उपयोग	८
पुरुषायित आसन मैथुन में	२१	प्रहृति वालिक के छड़ण	११३	" में रामायान वृद्धि का उपयोग	१
पुरुष	२१	" वैतिक "	११३	" की गूमायित गर्यारा ११, १२	
पुरुषानुग वृत्ती	२८	" लैमिक "	११४	प्रसवरूप लधुण	२४४
पुरुषविषयि	२८	" मिष्ठ "	११४	प्रसवप्रोपयोगी खियों के गुण	१४१
" प्रवसामी भी में	२१	" परिवर्तन विश्वाषण	११४	प्रसवलक्षण प्रयोगावस्था के	१४३
" का काट	२८	" के मैतिक प्रकार	११५	" द्विविषयावस्था के	१४४
" में भास्यादि सेवन की अवधि	२१	" के सारिंशक प्रकार	११५, ११५	" तुलीयावस्था के	१४०

प्रसव की अवस्थाएँ	२३८	प्राण (शरीर के)	६६,१३४,१६४	यालक, जातकर्म	२४६
प्रसव पूर्वी तथा उत्तर जल	२४०	" मर्मों में अवस्थान	११०	" नाडीकलपनविधि	२४७,२४९
प्रसव प्रथमावस्था के कर्म	२४०	प्राणवायु, रक्तशुद्धिकर	१११,११२,२२५	" स्नानविधि	२५०
" द्वितीयावस्था के कर्म	२४६	प्राणवह स्रोतस्	२२४,२२५,२३०	" का गृह	२६६
" प्रथमावस्था की अवस्था	२४२	प्राणायतन शरीर के	१२०	" के वय	२६६
" द्वितीयावस्था की "	२४४	प्रारब्ध	८३	" की रक्षा	२८२
" " के वैदिक मन्त्र	२४५	प्रेतरत्व कार्य	१३८	" रक्षाकर्म	२६५
" तृतीयावस्था के "	२६२	श्रीहा	१४१	" के लिए मधुसर्पिंश्राशनविधि	
प्रसववेदना	२३६,२४४	" के कार्य	१०८,१४२	२४६, २५०	
" और प्रवाहण का संबन्ध२४३, २४४		" रक्त का भाण्डार	१०४,१४२	" नामकरणविधि	२६७
" और मक्कल का सम्बन्ध	२६५	" घृद्वि में सिरावेध	२०८	" प्रकाशदर्शनविधि	२३६
प्रसव में गर्भ निष्कर्मणीति	१६५,१६६	फ		" में विकृतिज्ञापक पद्धति	२७५,२७६
प्रसवोत्तर रक्तज्ञाव, अपरा जर्वर्दस्ती		फक	२७८,२८०,२८८	" ओपिग्रादानपद्धति	२७६
निकालने से २६२		" के हेतु	२८६	" ओपिधिमात्रा प्रमाण	२७६
" साहस प्रसव में २४४		" संप्राप्ति और लच्छण	२८७	" के लिए अकीम या गोली का	
" वेदना	२६६	फड़काव गर्भिणी में	८०	निषेध	२७६
" वास्तविक और मिथ्या		फणा भर्म	१८७,१८८,१९२	" विरेचनादि प्रदान की पद्धति	२७७
में भेद	२६७	फलवाहिनी (वीजवाहिनी देखो) २३,२२९		" में विविध अंगों की विकृति के	
प्रसवशोणित आव की अवधि	२६७	फुफ्फुस	१११,१४२,२२९	लक्षण	२७५,१७६
प्रसवशोणित	२५६,२५८,२६४	" रक्तशुद्धि का स्थान	११२	" के रोग	२७६,२८०,२८७-२८८
" से शरीरशुद्धि	२६७	फेकड़ा, फुफ्फुस देखो		" का गृहनिष्करण काल	२८६
" शुद्धि के लिए पिप्पलद्यादि		व		" पालन के सामान्य नियम	२८०
चूर्ण	२५८	वल्लाभ, परिभाषा	२१३	" वित्तासननिषेध हेतु	२८०
प्रसवकालीन उपद्रव	२४४	वल्लतैल, प्रसूता के लिए अभ्यङ्गार्थ २५७		" उपवेदन विधि और काल	२८१
प्रसवोन्माद	३६०	" नवजात वालक के अभ्यङ्गार्थ २५०		" अप्राप्तासन विधि और काल	२८६
प्रसूता, पर्स्तिर्या और स्वस्थघृत २५२-२५७		वस्ति (मूत्राशय)	१४३,१८३,२२०	२८६,१८७	
" देवभेदानुसार	२१४	" भेदनकर्म	१८३	" का अध्यापन काल	२८९,२९०
" का आराम	२५४	" मूत्ररोगों का अधिकान	२२७	" में चलनासामर्थ्य के हेतु	२८८
" का आहार	२५५	" मूत्रवह स्तोतरों का मूल	२२७	" में उदरवृद्धि के हेतु	२८९
के आहार में देवकुलसात्य		विभाग उदर का	१८३	" कृत्रिम दुर्घटान की विधि २८४-२८६	
का विचार	२५५	वरितकर्म, निषेध गर्भावस्था के प्रथम		" " की मात्रा	
का मानसिक आराम और निद्रा २५६		सात मास में	८४	वयानुसार २८४	
के लिए अभ्यङ्ग	२५७	" का उपयोग आठवें महीने में	२४४	" में लंघन के नियम	२७७,२८८
उदरवृद्धन	२६४	" ग्रस्य के समय	२३८	" की तीन अवस्थाएँ	२७६
स्वस्थघृत का सूत्र	२५७	" ग्रस्य प्रथमावस्थामें २४२		" का नीकर	२८१
के लिए मैथुन सेवनकाल	२५६	" अपरानिष्कासन में २६६		" की फ्रीटामूर्मि	२८२
दश रोज तक अशुद्ध मानने		" गुण और कायचिकित्सा में		" के खिलौने	२८२
का हेतु	२६७	प्राधान्य	१९३	" के ग्रह, नामसंख्या	२८१
में पूर्व स्वाध्य प्राप्त करने की		वहिनिष्करण के नियम गर्भिणी में		" ग्रहोपर्यग के सामान्य लच्छण	२८१
अवधि	२५६	२३५,२३६		" " के हेतु	२८१
प्रसूतावस्था की अवधि	२५३	" वालक के २८६,२८७		" " का प्रतिषेध	२८१
का अन्त वेदर्दर्शन से	२८६	" " प्रसूता के २८६		" को फल देने की पद्धति	२८६
में नष्टार्त्त्व	२८	वहिः पुष्प	१९,२०,७२	" के स्तनापयन का विचार २८४,२८७	
" का मादृत्य	१०	वद्रपत्यता	८२	" में दन्तोद्भेद	२४६,२४७
के रोग	२५६	" का प्रमाण	४२	" के लिए शुद्धिवर्धक लैह	२४५
प्रसूतिज्वर, (सूतिकाज्वर देखो)		" में धार्युर्मर्यादा	४६	वाला ग्री व्याग्ना	२१०
प्रस्थ का प्रमाण सिरावेध में	२०७	" के हेतु	४३	" श्री में गर्भाधान निषेध	२१०
प्राण	१६	" उपषत्ति	४३	वाहु के मर्म	१८१
प्राण के स्थान	१२०			" में सिरावेध रोगानुसार	२०८
				" में सिरावेध	२०४

सुभ आत्मजीवी गर्भ	५३	रक्तकणों का कार्य	१३६	रुचक	११३, १५८
योग धर्य	१४०	रक्तगुरुमल्लधण	६२, ८०-८२	रुपदर्शन अंगोच्छाय में	३१
योगवाही स्रोतस्	१४०	" प्रदहेतु	२७	रुपवह धमनी	२१
योनिविभाग सृष्टि का	१४५, १४८	रक्तशुक्रता, अतिव्यवाय से	११	रोगी परीक्षण की विधि	२६१
योनि (हीकी) रचना और पैदियाँ	१४३	" शृणाधात से	१३८	रोदन वालरोगविज्ञान में	२४३
" का स्वरूप	१४४	रक्तप्रदर (अस्त्रदर देखो)	११	रोमकूप	२११
" की स्थिति शुक्रस्वलुन		रक्ताशय	१४२	" का स्थैर्य	१३१
के समय	१४४	रक्ताकर्म, वालक का	२६४, २६६	रोहिणी लवचा	११, १०५
" से शुक्र का शोषण	१४२	रक्तोद्ध धूप	२६६	रोहिणी सिरा	१४५
" शुरुण और स्वन्दन ७८, ८१		" ओपथियाँ	२६६	रोमावर्त	१८८
" की स्थिति गर्भावस्था में ८१, ८२		रज (गुण) का प्रवर्तकत्व	३		
" प्रसव के समय २४४		रज, आर्तव देखो		ल	
" में तैलपिण्डिशारण गर्भिणी के २१४		रज कृच्छ	१५४	लसमणा	१५१
योनिचुम्बन	४७	रजस्वला की गृहकर्मयोग्यता	३०	लघुनचिकित्सा	२४८
योनिङ्ग्रहा	२५१	" शुद्धि	३०	" के नियम वालक में	२८२
योन्याप्ति	२४४	" गमन का फल	१४३, १४४	लडाट	१३९
	८	रजोदर्शनकाल	७६	" की अवैध सिराएँ	१११, २००
रक्त, उपरित्स्थान १०४, १०५, २२६		" गर्भिणी और प्रसुता में	१६६	लस्याद्विनी	१४३
" शरीर का मूल और प्राण ११४, २०७		रजोनिष्ठुचि, काल और परिवर्तन ७६, ७७,		लस्यातिका	१७७
स्वतन्त्रदोष ११७, २१३			२१४	लांगली, गर्भाशयस्तकोचक २४४, २६३	
का शायतनन्त्र में प्राप्तान्य ३१३		रजेविष	३१	लायसोल योनिप्रबालनार्थ प्रसव में २३७,	२४४
की शुद्धि छुपकुस में ११३, २१३		" का वालक पर परिणाम ३१, २७४		लिंगपरिवर्तनकाल गर्भ में	३५, ७१
" गर्भ के माता के हारा २५		रत्नांशी में व्यक्त	१४१	लिंगा, लिंगप्राप्ताता	८
स्नाव के प्रकार	१५३	रम (हिन्दियार्थ) शिशनोत्पान में	४६	लिंगशरीर	१०, १५, ६३, ६४
" गृहु का कारण	१०७	रसकूलया	२२०	" का प्रमाण	६४
" लक्षण	१५४	रसप्रपा	२२०	लिंगशायक लक्षण गर्भिणी में	१७
" चिकित्सा	१५०	रसस्वदहन	११६	लिंगमेदोयादक हेतु, गम में	६६-७३
" रसायक ओपथियाँ	२८	रसवाहिनी	११२	लिंग सूत्र	६६
रक्तधृत्य में व्यक्त सेवन	२८, १४४	रसवह धमनी	१११	लीढ़ अस्त्र	१०९
" की ओपथियाँ	२८	" सिरा	११४	लीनगर्भ	२११
रक्तस्वदहन गर्भस्थ	१३	रस का स्थान और अर्थ	१४३, १२०	लेहप्राशन विधि नवजात वालक में २४४	
" जन्मोत्तर १११, ११६, १०२		रसकपूर का घोल, गुण	२३४-२४४	" के निर्देश	२४१
" दो विभाग	२३६	रसाज्जन, स्तोत	२७७	" बनाने की विधि और लाभ	२१२
" के साथ त्रिदोर्यों का सचरण २११, २३३		राघस (विकृतगर्भ) और उनके		" लुदिपर्थक	२६४
रक्तधारा काला	१००, १०३, १०१	प्रकार	६२, ५३, ६१	लोगिकविदर्दसि व्याख्या	४८
रक्तवह स्थान के अन्त	२०६	राजसकाय लक्षण	१२७	" के सोदाहरण प्रकार	४१
" सिरासंरक्षण	१५५	राजदम्भ	२८८	" के हेतु	४९, ९०
" प्राकृत कार्य	११६	राजस गुण	२	लोकायतिक	११
" विकृत कार्य	११५	" बुद्धि	३	लोम	११
" स्रोतस्	२५६, २३०	" मन	१६	" शुद्धि गर्भिणी में	८०
रजोनिपीडायिक्य में सिरावेष २०१, २१४		" प्रकृति के प्रकार	११०	लोह रक्तधृत्य में	२८, ३१
" अन्त शावी प्रनियाँ	२७	रान्ता	७०	लोहितार्थ मर्म	१०१, १४१, १४२
" गर्भिणी में	८८	रात्रि, निदा का उचित काल ११८, ११९		" सिरा	१९८
" के हेतु	१५४	" जागरण निरेप	१२१, १२२	लोहितपूर्ण कोषला	२००, १८७
रक्तमोत्तर का प्रमाण निरावेष में २०३, २०८		" " के लिप दिवास्वप्न का		लंडिचारी	४
" के स्थानानुसार शब्द ३-२१४		नियम	१२३	यद्यनाभिन्न व्यसन	११२
" योग्य रोगों का वर्णन २१४		" " से होने वाले विकार	१२६	यद्यग्नसुरगा	१८१
" अत्यधिक के लक्षण	२०७	" " का अस्यास से		बड़ी या वक्षपथ वर्णीय	४४
रक्त, महिलाक्षियहित का हेतु	२१८	" निदोपचय	१२०		
रक्तगन्ध या दर्यन, मूर्द्धा का हेतु	२०३	" " के लिये योग्य	११८		

प्राचीन	प्रा.
वन्ध्य	११, ४५
वन्ध्यता (पुरुषों में) व्याख्या	११, २२६
" के हेतु १६, ३०, ६०, ६२, १८१	
" स्त्रियों में हेतु	६१, २२९
" के प्रकार स्त्रियों में	२२९
वपा	१०४, २२७
वपावहन	१०४, २२७
वद्यस्य लर्य	२०३
वर्ण, शरीर के	३९
" उत्पत्ति की उपपत्ति	३९
" पर व्यवसाय का परिग्राम	४१
" का व्याचा नें स्थान	१०२
" में कर्क होने के हेतु	४०
वल्यास्ति	१८२
वसा	१०४
वाचवह सिरा	१८८
वाजीकरण योग	२२
" का हेतु सुपुत्रप्राप्ति	३५, ६७
वाजीकरण का श्रेष्ठ साधन टत्त्वम् स्त्री	८८६
वातदोष का स्थान	१५९
" का शरीरणत कार्य	२१७
" " का विवरण	११६
" " २१७, २१९	
वातवह सिरासंस्था	१९५
" प्राकृत और विकृत	
कार्य	१३५, १६६
" धमनियाँ	२१८
वात (महानूत) के गुण	१७
" के लक्षण	१२
" का शरीर पर भार	२७८
वातप्रकृति	१३२
वातान्त्र	१४२
वातिक पंड	५२, ६२
वातिक पीड़ायुक्त रोग, निद्रानाश हेतु	१२३
वातोरस, छाती पर आवात से	१४४
वातस्य कायथर्जग	१२८
वादस्तुतुप्त सन्ति	१५३
वाल्ग्राक्य लक्षण	१२७
वार्ता (कालुक विप्रकृति)	२८, ५०
वार्ताविद्या	२६०
वाहन का लर्य	१२६
वाहिनीप्रेरक कल्प	२०६
" " वात	१३०, १७७
विकृत	४, ५६
विकृति दार्शनिक लक्षण संस्कृता	५
विष्टुप्रकृति नामापद्धति	१२८
विष्टुप्रकृति नामिरोग	२७८
विश्वास लक्षण	८६
विट्यनर्म	१०६, १८१, १८८, १२८
" सिरा	१८८, २००
विवराहर	२७८
विवाही द्रव्य	२३२, २३४
विवृता सिरा	२६१
विवृषि चिकित्सा	२०३
विषुर	१९८, १९२, १९८, २००
विनामिका रोग	२७८
विरुद्धाहर	२७८
विवाहकाल	२६०
विविक्ता	१३
विवित्सान्तर	२४२
विदेश (दार्शनिक)	४, ६
विवाची में सिरावंघ	२०४
विवाहर	२७४
विषमज्वर, प्रकार और उसमें सिरावंघ	२०१
विषाद के परिग्राम	२४८
विष्णुपदास्तुत	१११, २२३
विसर्प उत्पत्ति स्थान	१०२
वीर्य लर्य	१३४
वृक्ष	११३
" के कायु	११२, २२७
" कार्य ज्ञानाभाव के हेतु	११३
वृद्धावस्था, शरीर पर पस्त्याम्	१६९
वृष का लर्य	१२७
वृषग	११२
" कार्यज्ञान का हेतु	११२
" का अन्तःक्षात्र	४३
" वृद्धि में वैवन का स्थान	२०१
वृषगसीकर्त्ता	१४६
वैदेवत, वैदेवता	४४, २३२
वैदेवत, वैदेवता	१४९
वैदेवताहर लोपविद्याँ	२६५
वैदेवता व्यव्याप्ति	१११, १०३, १०२
वैदान्तस्त्र शारीरिक क्लैने का हेतु	१
वैपिता सिरा	१११
वैदिकमन्त्र, प्रसवसमय के	२४५
" स्त्रनपानविदि के	२४०
" जन्मप्रादानविदि के	२८६
" मधुप्रादानविदि के	२५०
वैद्यगृह	२४५
वैद्यकीय व्यवसाय के लिए योग्यता	१७२
वैज्ञावी निद्रा	११३
व्यंग सहज	३८
व्यवसाय लर्य	८
व्याकरण, लर्य	१२१
व्यापिताल्य	२६०
व्याप्ति संस्कृता	२४८
व्याप्ति नामिरोग	१२८
व्याप्तिग्रन्थि लिंगावस्था	५०
व्याप्तिग्रन्थि लिंगावस्था में	४६
व्याप्तिग्रन्थि लिंगावस्था में	२९७
व्यंग संस्कृत	१८८, १८८, १९२
दांतसन्धिसिरा	१९९
दांतवर्त	१९६, १९७
दांतिनी नीं	४६
दाढ़वह घमनी	२१९
दाढ़वहीनी सिरा	१६९
दारीर लर्य	१२९
दारीरसंस्था व्याकरण अन्धाय १३८-१३९	
दारीर के पदंग	१३९
" प्रत्यंग	१३९
" द्वार	१४१
" की अस्तियाँ	१२६-१२८
" पंसियाँ	१६०-१६१
" सन्वियाँ	१६५-१६८
" रक्षाहिनियों के प्रकार १०३, ११३	
" के प्राग	८५, ११०
" की सिराएँ	१२३
अवेष्टसिराएँ	२००
" गन्धानुसार लियों के प्रकार	२६
" के कम	१३२, १९३
शस्त्रपत्रन्त्र की विशेषता	२०३
शब्दियता	८८
शब्द का स्थान व्यवस्थाय में	४३
शाङ्कन्तकाय लक्षण	१३७
शात्रा (शरीर की)	१२९
" सन्विसंस्था	१२६
" अस्तिसंस्था	१२६
" जायुसंस्था	१६८
" पंसिसंस्था	१६०
" के सम	१७१-१८२
" समों का परीक्षण	१८८
" " गोंगत्व	१८८
" की अवेष्ट सिराएँ	१८८, २००
" की विशेषवैदनविदि	२०४
" की सिराएँ	२०८
शात्राविकारी गर्व	९३
शान्ता देवी, जातिस्मरता का ददाहरण	९६
शारीरस्यान	१, १३८, १७३
शारीरिकचूब	६
शाह्व स्तर लवचाका	१००
शाह्वहुदि	५४
शिर ग्राधान्य के हेतु	१२१
" में जन का स्थान	१२२
" की हड्डियाँ	१६०
" के सम	१८७
" की अवेष्टसिराएँ	१९९
" के सिरावेष्टन की पद्धति	२०३

शिर सेवनी

सिरा, सिरा देखो

विरोगति गर्भ की

विरोधयन के गुण

विरोधग्रहण प्रसव में गर्भ का

विरोधितेचन पद्धकमें

विरोधितेहुए वालक में

विवरनन्न

विष को पश्याई

” के विकार नपुसकता के हेतु

” का उत्पादन, घ्वजोच्छाय देखो

” गर्भधारणा में

शीर्यंदीन गर्भ का

शीर्योंविकारी गर्भ

शुर्पिण्डिद्वय का

शुक्रसोणितशुद्धि अध्याय

शुक्र, छियों का

शुक्र, पर्यावरणम्

” दोष

” ” चिकित्सा

” ” के हेतु

” में रक्त

” का सर्वान्

” का शुद्ध स्वरूप

” की मधुरता

” की रान्ध

” का कार्य

” का यानि से शोणण

” सेवन के गुण

” ” आसेक्ट में

” बाहुल्य का तुमोत्पादन में स्थान

” की सौगत्या

” इच्छन कालीन आरतियाँ

” की गर्भाशय में प्रवेश की युक्ति

” और शोणित के लंगन का स्थान

” प्रशिया

शुक्रधारा कला

शुक्रशणीली, शुक्रादिनी

शुक्रवय नारी, आपात का फल

शुक्रप्रोत

शुक्रवय होतास

” घमनी

शुक्रवय

” हेतु

शुक्राणु, वीर्य का मुक्त जींग

” शुभ रचना

” संस्का शुक्राय में

” उत्पत्तिश्याम

” का गोत्तमरथ

१४६

शुक्राणु, का संस्कारवहृत्व

” वीजवाहिनी में सजीव रहने

का काल

का दी दीव से सयोगस्थान

और जीव का अयोद

पर योनिसाव का परिणाम

शुक्राशय

शुभ वस्त्र के गुण

शुक्रवर्म

शुपरिलालु

शूल वालक में

श्य (सींग) रक्तमालण में

श्याङ्गाटक

शोफ, शिश देखो

” सेवनी

” इत्यम्

” छ्वेद वैच्य का हेतु

शोणित (आतंव), अर्थ और भेद

” चाव के दोष

” की चिकित्सा

” का शुद्ध स्वरूप

” का यर्ण

” की गन्ध

” का स्थान

” की रसिया

” की अवधि

” की युक्ति

” के अनुपायी उच्चण

” से धारितशुद्धि

” की आगेवता

” के समय में गर्भाशय की

स्थिति

” और वीजविषक का

वैध

शोणितदीन के उपयोग

” के प्रशात् कामटृदि

शोणितश्यामा में ११, २८, ३०

शोणितप्रशृतिचक्रवाल

” का अवदन्ध गर्भाशय में

” की उपयोग

शोणितकर्ध (रक्त) योग

शोणितोत्स

शोय के पर्यवर्तन

शोकनिपेष गर्भिणी में

शमान

श्यामा दी के गुण

श्यामोगता

६६

वीजवाहिनी में सजीव रहने

का दी

सयोगस्थान

” पर योनिसाव

शुक्राशय

शैवामध्य

अद्वाविवात गर्भ विकृतिमें

शोणिचक

” की अवेष्य सिरा

स्लेप कफ

स्लेपाशय

स्लेपामध्य

शसन के प्रकार

शासनचूड़

शासावरोध नवजात

शतकणों का उत्पत्तिश्याम

”

पठागशारीर

पठ (लौटी और नपुसक भी देखो)

पाठक

पण्डिता के कारण १०, ६४, ५१, ११३, १५१

पोदशास्त्रारों का अर्थ

स

संकल्प

सखिया रक्षकशय में

सरगर्भावस्था, गर्भिणी देखो

संज्ञावह स्तोत्र

सल्लार्यावद

संयोगीत गर्भों के लक्षण

सल्लागुण

” का वंगुल

संतप्तंश्चिकित्सा

संनिध्यावाहया

” गति के अनुसार प्रकार और

उनके स्थान १०४, १५४

चल

अचल

इच्छा

संख्या

रक्षना के अनुसार प्रकार १५४, ११०

” की विधि गतिर्या

” का तुलनात्मक काष्ठक

सन्पिन्दर्म, नाम और संख्या

सन्पिन्दलेप्ता

सन्धिविलेप या भन

” हनु का बूझा से

सन्येश अर्थ

सन्यास व्याध्या

” समाप्ति

” उद्यन

” युक रोग

समाली, समर्हिता

समिति अर्थ

समुक्षासानविधि, नद्यात आसाव-

रोप में

१४६

१५०

१५२

१५३

१५४

१५५

१५६

१५७

१५८

१५९

१६०

१६१

१६२

१६३

१६४

१६५

१६६

१६७

१६८

१६९

१७०

१७१

१७२

१७३

१७४

१७५

१७६

१७७

१७८

१७९

१८०

१८१

१८२

१८३

१८४

१८५

१८६

१८७

१८८

१८९

१९०

१९१

१९२

१९३

१९४

संघीडित गर्भ	४४	सिरामर्म, नाम और संख्या १७३, १८२	सूतिकाज्वर, व्याख्या ३५८
संयुक्तराज्ञस गर्भ	५६	” स्थित अंग १८२	” के हेतु २५१ २५८ २५६
सर्पकाय	१३७	सिराव्यधविधि शारीर अध्याय २०१-२१६	” की विकृतियाँ २५९, २६०
” का स्वभाव	१३७	सिरावेध, विधि २०२, २०३, २१०	” के लक्षण २५६
” दंश में सिरावेध २०१, २०२, २१०		” का स्वस्थावस्था में निषेध २०३	” के उपद्रव २६०
सर्पिष्पान ज्वर में	२७७	” में वन्धन की विधियाँ २०२-२०५	” की प्रतिषेधक चिकित्सा २६०
सर्वगन्ध	२५०	” के शस्त्र २०३	” की असाध्यता के हेतु २३६, २५५,
सर्वभूतचिन्ताशारीर अध्याय	१-१८	” ” पातन का प्रमाण २०५	३५७
संब्यूहन प्रणाली	१८१	” ” योग्य काल २०६	सृष्टि, भौतिक अव्यक्त से उत्पत्ति २
संस्कार, अर्थ	२८६	” ” के लिए अयोग्य काल २०३	” के दो भेद ३
संस्कारवाही	४७, ५०	” ” योग्यरोग २१४	” के आदि कारण १०, ११
संस्कारवाहिता	४७, ५०	” ” योग्य आसन २०३	” सेन्द्रिय ५
सहधर्मचारिणी	२९०,	” ” स्थान २१०	सेतुधमनी, सेतु सिरा ९६
सांख्यदर्शन	१, ४	” ” योग्य सिरा २१०	सेन्द्रिय सृष्टि ६
” घृज्ञ १०		” ” विविध रोगों के स्थान २०८-२१०	सेवनी २३०
” से आयुर्वेद का भेद १०, १३, १४, १६		” ” निपिद्ध रोगी २०१	सोम ६६
” में पंचीकरण का अभाव १८		” ” निपिद्धों में वेध प्रयोजन २०२	सोने का चाटन वालक में २५०, २५२
सात्त्विक गुण १६, ३९		” ” निषेध का हेतु २०१	सौगन्धिक हींद ४४
” प्रकृति के प्रकार १३६, १३७		” ” योग्यविकार २०१, २०२, २१०	” की उपपत्ति ४४
” आहार २३२		” में स्नेहन से लाभ २०२	स्तन, स्थान और रचना १४३
” मन १६		” में रक्त मोक्षण का प्रमाण २०७	” के परिवर्तन यीवन में १६२
” बुद्धि ३		” में प्रथम दुष्टरक्त का स्वाव २०५	” ” गर्भिणी में ७९
सात्त्विकरण ९९		” में दीक रक्त न वहने के हेतु २०५	” और गर्भाशय का संबंध ५६, १४६
सात्त्वय २१९, २२२		” में पुनवधन का काल २०६	” पर आघात के परिणाम २२८
” ओक ११७, २६०		” में दोष संशोध रखने का महारूप २०७	” प्रदेश १३९
” जाति २८२		” में सदोष रक्त को निर्दोष करने के उपाय २०७, २१२	” युक्त प्राणियों के वृद्धों का पोषण ३८२
साधर्म्य वैधर्म्य, प्रकृति पुरुष का ८		” के पश्चात् कर्म २०८	” द्वारा शारीरिक दोषों का उत्सर्ग १७४
साम मैथुनकालीन ६३		” के निपिद्ध कर्म २१३	स्तनपान, प्रथम कराने का दिन २५२
सामुद्रसन्धि ११७		” का शल्यतन्त्र में प्राधान्य २ २१३	” प्रथमदिन बराने से लाभ २५२
सारणियाँ कोष्ठक देखो		सीगेल की उपपत्ति कन्यापुत्रात्पत्ति की ६८	” न कराने के कारण २६९
साहस प्रसव २३४		सीमन्त १४६, १८८, १६२, १९९, २००	स्तनपान विधि २७०
सिरावर्णविभक्ति अध्याय १९३-२००		सीवन के लिए स्नायु १४८	स्तनदंपत् २६८
सिरा, अर्थ १०५, १८३, १९३, २१६		सीवनी १४९, १९७	स्तनदोष के परिणाम २७०
” प्राचीर की रचना १५४		सूक्ष्म शरीर ६४	स्तनलेप से दोषपथिदानपद्धति २७६
” का हृदय से संबंध ११३		सूचीमुखी १६४	स्तनापयन का काल २५६, २८३, २८७
” और धमनी का पृथक्कर २१५, २१६		सूतक २६६	” के उपाय २८७
” संख्या, स्वरूप और मूल १६३		सूतिका, व्याख्या ३४	स्तनायनक मोदक २८७
” दोषवहों की संख्या १९५		” का चृह २३५, २३६	स्तनमूल १८४, १६२, २०६
” ” के कार्य १९६		” परिचर्च्या और स्वस्थृत्य २५२-२५७	स्तनरोहित १८४, १९२, २०३
” के लक्षण १९७		” अवस्था की अवधि २५३	” सिरा १९८
” का सर्वदोषवहूव १६६		” के लिए आराम २५४	स्तन्य, प्रसूति के बाद उत्पत्ति का काल २८०
” की चंचलता २१२		” का आहार २४५	” प्रवर्तन की उपपत्ति २९०
” अद्यता के हेतु २०१		” का भानसिक आराम और निद्रा २५६	” की उत्पत्ति २७२
” कुटिलता के हेतु २११		” का मैथुनसेवन का काल २५६	” का संगठन ग्रारभिक २५१
” ” गर्भिणी में ८१		” का अभ्यंग और व्यायाम २५७	” शुद्ध की परीक्षा २७३
” चतुर्विधि १७८		” के चौयठ रोग २५८	” नाश या अभाव के कारण २७३, २७८
” गत रक्त का विभजन २०६		” में स्तन्योत्पत्ति काल २५०	” सूतिकागार प्रवेशविधि गर्भाणी की २३६
” अवेद्य लंग प्रत्यंतों की १९७, २००			२८३
” सुविद्धा लक्षण २०९			

स्तन्य, नारा की चिकित्सा	२७२
" वर्धक आहार और औषधियाँ	२७२
" परमानेत्रिक स्थिति का परिणाम	२७४
" दूपजग्दृत	२७३, २७४
" के अमाव में व्यवस्था	२८६, २८८
" " किसका दूध दिया जाया	२८४
" और शुम की सुडना	२७२
" अरणिक्षुत सेवन करने का	
परिणाम	२८१
स्तन्यघटावर, हेतुलक्षण	२९१
स्तन्यधात्री (धात्री देखो)	२६८, २६९
स्तन्यवह धमनी	२१६
" खातर	२१८
स्तन्याशय	१९३
स्तन्यधाता, हेतु और प्रकार	१७८
" लक्षण	१८८, १९१
" आमासायान्नायात से	२२१
" गुद के आधात से	१८८
" शातप्रदेवाधात से	१८८
खी, प्रजोत्पादन योग्यायोग्यता ३',	२९०
" प्रजोत्पादन योग्य घय	३८, २९०
" का कर्तव्य प्रजनन	२५२
" और उत्तर में अन्तर	३८
" के दो प्रसरों में अन्तर	३९
" में यौवनपदार्पण के लक्षण	७४
" पुरुष में शुक्रवर्तक	२७८
" की इच्छा गर्भाधारणार्थ	६१
" की मन रिप्टि "	६१
" की कामासन्ति "	६१
" पुरुष निर्णय में लिङ्ग सूच	६६
" का शुक्र	४१, ४३
" कर भाग	५०
खीवीज, आतंक, शोणित भी दखो	४६
"	४१, ६६, २८८
" का दृक्ष के साथ सयोग स्थान	९९, १५
" की गति	६६
" निवृत्ति	७०, २५४
" का गर्भलिंगोत्पत्ति में स्थान	६८
खीपुसलिंगी	७०
स्थपती	१८९, १८८, ११३, २००
स्फूलान्त्र कार्य, (आन्व देखो)	
हिप्पित गर्भ की	१६६
स्नान, गर्भिणी में	२३३
" प्रसवपूर्व	१८१, २८२
" प्रसूतावस्था में	२५६
) नवजात बालक में	२५०
" द्रिन रक्तला में	६०
" " मधुमा में	१८८
स्नायु, भय	९६, १८८, १५६, २१०

स्नायु, संख्या	१४८
" प्रकार और उनके स्थान	१५८, १२९
" कार्य	१५९, १६१
" का महाव	१६०
" विद्वालक्षण	१६१
" मर्म, नाम और संख्या	१७१
" और नारी का समय	२२२
स्नेह, चतुर्विधि	१०४
स्नेहन स्नेहन से लाभ	२०८, २१२
" गर्भिणी में	८४
स्पन्दन, घमनी का लक्षण	२१६
" जीवितावस्था का लक्षण	१२३
स्पर्श सुख मैथुन में	८८
स्पर्श का अर्थ	२११
स्पसान	२५१
स्मृति	१६
शोषण, निहति	१२१, १३१, २११
" योग्यादी	१२०
" मनोवादी	१२३
" विहमुख	१४४
" " संख्या	१४४
" सजावद	११८
" व्यास्था	१३०
" विद्	२३०
" संख्या	१२४
" अर्थ और लक्षण	१२४
" प्राणवह	२२४, २१६
" अवजाह	२२५, २१०
" उद्वक्तव्य	२२६, २१०
" उत्तरवह	२२६, २१०
" रक्तवह	२२६
" मेदोवह	२२७, २१०
" मासवह	२२७, २१०
" मूत्रवह	२२८, २१०
" पुरीपवह	२२८, २१०
" शुक्रवह	२२८, २१०
" आतंकवह	२२८, २१०
" स्तन्यवह	२२८, २१०
स्वच्छता की अवश्यकता गर्भिणी में २३३	
" " " प्रसूता में २१७, २१९	
" " " नालचेतन में २४६	
" " " प्रसाविका में २४१, २४२	
स्वप्न की उपचिति	१२४
स्वभाव	१०, ११, १८, ११०
" रात्रि निदा का हेतु	१५३
" शरीर सखिवेश का हेतु १४८, १५१, ११०	
" नितेता निरन्तरधृति का हेतु १३१	
" इटिम्प्रसूतिरिता का हेतु १३१	
" स्तनपान काल में अनातंक का हेतु १३१, २०४	
स्वभाव गर्भ के सिर के घल जन्म लेने में १५०, १५६, १५७	
" प्रसवोत्तर स्तन्यप्रवर्तन में २५०, १११	
स्वभाव, प्रसूति देखो	
स्वधावदादी	११
स्वस्त्रवृत्ति, गर्भादाय की	२३, २५४
स्वस्थूल, गर्भिणी का २८२-८८, २११-२१३	
" प्रसूता का	२५२-२८७
" बालक का	२८०-२८८
स्वास्थ्यरक्षक धूत बालक का	१८०
सेदू और रोमपृष्ठ का सम्बन्ध	१२१
इ	
हयेली के रक्तावाह की चिकित्सा	११०
हनुसंबिधि विलेप जूम्सा से	१२४
हनु की अवैधि सिराएँ	१८८, २००
हस्तमेघुन	४८
हस्तसिरावेधनविधि	२०४, २०८
हस्तिनी रुदी	४६
हविष्य अर्थ	३०
हिङ्कार मैथुन के	१३
हिजाब	६४
हिरण्य युष्मी	२४६,
हृदय, शरीर में स्थान	८६, ११३
" की सर्वदादृ	१२४
" का वर्णन शरीरिक	११५, १२१
" रस का स्थान	१५३, २००
" शोज का स्थान	११३, ११४
" प्राण का स्थान	११३
" आत्मा और मन का स्थान	१२०, २२२
" वैतन्य का स्थान ११४, १२०, १०६	
" का वास्तविक अर्थ १२०-१२२	
" का सकोच विकास स्वातन्त्र्य	२१०
" की गति व्यासुरात	११४, ११८
" पर व्यायामादिका परिणाम	११६
" रक्तावाह नहीं	१४३
" और आमासाय का संबंध	१५०
" प्राणवाही लोतसों का गुरु १४४	
" रसवाही लोतसों का गुरु २२५, २२६	
" सिराओं का गुरु १४४, २१५	
हृदयावरण, रक्ता और कार्य	११६
हृदयप्रसदन गर्भावस्था में ८०, ११५	
हृदयहीन गर्भ	४४, ९२
हृदय के हेतु १०६, १४०, २२४, २२६	
हृदय अर्थ	१३४
हृदय आहार	१३४
हृदय का चिकित्सा	८१

ENGLISH INDEX

A

Abdominal pregnancy 49

Abduction 147

Abortion, Cause of uterine

haemorrhage 26, 292

" Symptoms of 292

" Threatened 292

" inevitable 292

" Complete 292

" incomplete 292

" missed 292

" Prognosis of 292

" Treatment of 291

" Prop haxis of 292

Adduction 147

Adductor canal 151

Adrenalin in heartfailure 114

Aerobes 170

Aerola (Mamma) 173

" Primary 79

" Secondary 79

After pains 264

" false 264

After waters 280

Agenetic period 60

Age for marriage 290

" " education 259

" " procreation 35

Ala of the ileum 156, 192

Albinism 40

Alexandrina Samona 56

Alimentary Canal 95

Amenorrhoea 25, 29, 75

" Primary 25

" Secondary 52

" Physiological 25

Amnion 98

Amphiarthrosis 145

Amphiarthrodia 147

Amputation 190

Anarobes 170

Anaemia, Cause of

amenorrhoea 29

Anomalies of development 49, 52

" etiology 52

Anatomy 1, 125, 165, 172, 217

" Divisions of 171

Androgyny 70

Androgynoid 70

Aneurism 210

Anidians 52

Ano-coccygeal raphe 146

Anophthalmos 80

Anorchism 68

Anus 148, 152, 192

" imperforate 95

Aorta 206, 221, 230

Aortic regurgitation 176

Apex of lung 111

Aponeurosis 149

" palmer 151, 192

Appendix 142

Appendicitis 142

Apoplexy 77

Arbitrator 137

Arterioles 197, 206

Arthrodia 147

Articulations 145-146

Artificial feeding 270, 272

" " details of 272-276

Artery 103, 112, 123, 193

" angular 199

" anterior tympanic 196

" axillary 151, 192, 196

" brachial 192, 196

" Carotid 199, 195, 156, 157

" Central retinal 219

" Coelio 220, 230

" Colic 221

" Common iliac 156

" first dorsal-

metatarsal 150

" femoral 191, 195, 200

" gluteal 195

" intercostal 195, 219, 230

" internal auditory 219, 230

" internal mammary 195

" " pudendal 156

" " maxillary 195, 19, 230

" inferior mesenteric 219, 230

" Lacrymal 219, 230

" Laryngeal 219, 230

Artery Lateral planter 150

" " thoracic 195

" Lingual 156, 219, 220

" metacarpal 150

Artery mammary 216, 220

" middle meningeal 156

" nutrient 144

" occipital 195

" ovarian 229, 229, 220

" peroneal 150

" Phrenic 219, 220

" posterior auricular 156, 195

" tibial 156

" profunda linguae 195

" pulmonary 226

" renal 220, 221, 220

" Spermatic 221, 220

" sublingual 220, 220

" subscapular 156, 197, 200

" Superficial occipital 195

" temporal 156, 195

" Superior mesenteric 220

" Thyroid 156

" Supra orbital 195

" Testicular 221, 220

" transverse cervical 156

" ulnar 156

" uterine 76, 221, 220

" zygomatico-temporal 195

Ascending Colon 142

Aspermia 19

Asphyxia neonatorum 247

Assimilation, sign of life 99

Asthenia 129

Ascites, Causes of 224

" Tapping 200, 207

Atlas 142

Atmosphere, pressure on body 276

Atresia of the cervix 229

Atrophy, disuse 20

" overstimulation 20

Atrophic paralysis 156

Attitude of the foetus 166

INDEX

Atlanto-occipital joint	193	Blood vessels	193, 194, 224	Cardiac orifice of the	
Auditory osicles	148	„ menstrual	24	stomach	120, 125
„ tube	149	Blood-pressure, effect of		„ Rhythm myogenic	114
Auricle heart	124	mental conditions on	146	Carcneous mole	292
Antilytic fermenta	160	„ increase in		Carotid arteries	112, 120
Autonomous nervous System	129, 130, 206	pregnancy	96	Carpal bones	124, 126, 241, 242
Auto parasite	42	„ mechanism of	206	Cartilago	120, 122
Auto sexuality	125	„ venesection in	220	„ structure of	142
Auto site	42	Bones, number in body	124	„ part of framework	143
„ double	42	„ classes of	142, 151	Castrate	69
Axial rotation	149	„ structure of	142	Caul, born with a	215
Axillary vessels	121, 123	Histology of	143	Cavernous sinus	125, 127
Azoospermia	19	Table of	140	Cellulitis	212, 216
„ Varieties of	20	Bone marrow	100, 142	Centre of gravity, effect on	
B		Bottle feeding	226, 232	foetal presentation	125
Bacillary vein	122	Brachial plexus	121, 122	Cephal haematoma	210
Ball and socket joint	149	„ artery	112	Cerebro-spinal fluid	206
Bandage in venesection	208	Braxton Hick's sign	59	„ nerves	220
Bath warm, before labour	212	Brain	120, 122, 216	Cerebellum	120
„ for the new born	240	„ causes of anaemia of		Cervix uteri	128
Bartholinian glands	81	Breathlessness	224	„ imperforate	29
Bearing down efforts in		Breast feeding, importance		„ laceration of	223
labour	213, 214	of	225	Cervical Canal	228
Bestiality	42	Breast milk, tests for	202	„ vertebrae	241
Biceps muscle	120, 122	„ and Cow milk	204	Character	122
Bicycling cause of		Bronchii	124, 125, 224	„ Varieties of	126, 127
menorrhagia	25	„ structure of	248	Chest injuries of	127
Birth control	50	Broncho-pneumonia,		Chlorosis	46
Bisexuals	12, 42	venesection in	201	Choice of mate	27
Bi-sexual phase of the foetus	82	Bryce-Tucker's ovum	54	Chordae	127
Black water fever	125	O		Chorion	98
Bladder injury	222	Cadaveric changes	120	Chorio-ovarian space	92
„ „ ruptura of	122	„ lividity	120	Chorea	20
„ gall	122	Calcaneus	124	Chromosomes	49, 50, 64
Blastula	54	Calcium, result of deficiency		„ sex	52
Blood corpuscles	122	in pregnancy	222	Ciliary muscle	122
„ circulation	122	Calf muscles	120, 122	Circumduction	120
„ „ Portal	226	Canal adductor	122	Clavicle	122
„ „ greater	226	„ alimentary	92	Cleft palate	12, 222
„ „ lesser	226	„ inguinal, testes in	50	Clitoris	12, 122
„ formation, places of	109	„ „ effect of trauma	121	Climacteric	122, 222
„ „ cells of	102	„ „ vital part	121, 122	Climate, in colour	20
„ distribution,		Canthus	122	Coccyx	124, 125, 242
mechanism of	206	Capillary	103, 123, 124, 205	Cocicum	123, 220
„ oxygenated	112	„ 222, 224, 226		Coitus, Phenomenon of	49
„ quantity in		Canals of the joint	104	„ Danger of	46
Venesection	206	Carbohydrate	121	„ Posture in	52
„ reservoirs of	120, 122	Carbon monoxide poisoning	202	„ during pregnancy	52
		Cardiac centre	120	„ puerperium	242
				Colostrum	124, 241

Colic, infantile	251	Death, from haemorrhage	183	Dysparunia	229
Colon	182, 220	Dentition	257	Dyspnea	229, 234
Coma	219, 233	" symptoms of	252	Dysopsia	220
" as a complication	225	" table of	253	E	
Common integument	200	" physiology of	252	Ecblolies	255
Complete abortion	232	Dental Caries	252	Eclampsia	201
Compression of the brain	203, 225	Dental germs	252	Endoderm	229
Congestion	27	Depression	220	Ejaculatory duct	206
Congenital malformations	28	Dermis	101	Elbow joint	141, 192
" etiology	42	Detoxifying function of		Emaciation in pregnancy	51
Condyle	147	liver	121	Embolism in the brain	229
Condylom joint	145	Detumescence	45	Embryo, definition	40, 129
Concussion	183, 185	Developmental errors	45	" indifferent stage of	24
Convulsions	127, 128, 201	Diastole of the heart	116	Embryology	1, 24, 47
" infantile	279	Diaphragm	111, 121, 158, 228	Emotion, cause of monor-	
Contracted pelvis	210	Diarthrosis	144, 242	rhea	28
Corrosive Sublimate	228, 228	Dichotomy	22	Empyema, result of trauma	154
Corpus luteum	62, 65, 209	Diet	28	Enarthrosis	147, 242
Corpora Spongiosa	24	" in infancy	256	Enamel of Tooth	243
" Cavernosa	24	" in pregnancy	262	Encephalitis lethargica	126
Coronal Suture	125	" in puerperium	22, 244, 246	Endocrine glands	29, 121
Cornoid process	129	" effect on the sex of the		Endometritis	27, 229
Cord Spinal	200	child	67	" putrid	249
" Spermatic	151, 197	" conception	20	Ensiform Cartilage	51
" umbilical	98	" on milk	251, 252	Entoderm	229
" " management of	242	Dilatation of the stomach		Epididymis	112
Cow's milk and breast milk	254	" os uteri	120, 122	Epidermis	101, 102
Cramps	107, 129	" of heart	126	Epiphysis	242
Crowning of the head	282	Diphysis	142	Epistrophitis	240
Crypts of Lieber kuhn	105	Dislocations	146	Erection, in women, pro-	
Cryptomenorrhoea	25	" of lower jaw	129	cess of	42
Cubital fossa	151, 192	Displacements of the uterus	27	" of penis, process of	84
Cannilingus	27		244	" physiology of	46-48
Cycle of menstruation	228	Dissection	125, 127	Ergot	25
" " theory of	72	" method of	162-171	Erogenic zones	47
Cyanosis	210, 226	" importance to		Eroticism	48
Osterna Chyli	220	surgeon	167	Erysipelas	102, 177
Oystitis	249	Divine vision or eye	172	" neonatorum	279
Cystotomy, Lateral	122	Doom's day	44	Erythroblast	104
D		Dorsal position in labour		Ether, medium of sound	
Danoing, Cause of			281, 284	waves	219
monorrhoea	26	Drive	226	Ethmoid bone	240,
Decidua, parts of	98, 110	Drowsiness	128	Eugenics, principle of	26, 39
Dentine	142	Ductus arteriosus	94	Eunuchs	69
Death, signs of	114, 170	" deferens	225, 220	Eunuchoid gigantism	69
" causes of sudden		" venosus	98	Evolution	17
	176, 177	Ducts	228	Expression of the placenta	262
" delayed	177	Duodenum	220	Extrauterine pregnancy ru-	
		Dysmenorrhoea	28, 288	ture of	291

INDEX

Exhibitionism	xc	Postes, malpresentation of	Gastritis	xi
Eye, naked	xxi	" viability of	Genital ridge	1
" divine	xvi	" intra uterine death of	Genetic period	1
" scientific	xvi		Genes of sexcells	1
P			Gestation period	4
Fallopian tube	xx,xxi,xxx,xxii	" effect of mother's	Gigantism gonochord	1
" place of fertilization	xx	mental condition on	Ginglymes joint	14
Facial expression in infant		" effect of repeated	Ginglymoarthrodial joint	14
diseases	xvi	pregnancies on	Glabella	15
False after pains	xxv,xxvi	sex determination	Glenoid cavity	15
" labour pains	xxv	Postal circulation	Glosteal region	xxv,xxvi
Painting fit	xxv	" heart sounds	Gomphosis	14
Fascia	xxx,xxiv	" membranes	Gravity, effect on circulation	xxv
" deep	xvi	" " rupture in labour	" Centres of, in the foetus	xxv
" temporal	xvi	" ovoid	Graf Von Spee ovum	xxi
Fasting in infants	xvi	" " length of	Orlodging of teeth in children	
Fat, varieties in body	xvi	" development in different		xvi
Fertilization	xx	months	Gymnastics, cause of	
Feeding, artificial	xxv,xxvi	Fontanelle, anterior	menorrhoea	xx
" " mixed	xxv	" " oiling in infants	Gynandry	xxi
Fellatio	xx,xxi	" Condition in	Gynandroid	xxi
Female inverta	xc	diseases	H	
Femur	xxv,xxvi	" posterior	Habit in relation to nature	xxv
Femoral artery	xxv,xxvi	" time of clitoris	" Sleep	xxv
" vein	xxv,xxvi	Foramen ovale	Hair, growth in pregnancy	xx
" triangle	xxv	Forehead	Hair, follicles	xxv
Fertilism	xx,xxi	Forewaters	Hammatio	xx
Fertilization of ovum	xx,xxi,xxii	Forcipressure	Hematoma, retroplacental	xxv
" " place of	xx	Forssa, cubital	Hemophilia	xx
Fibrous tissue	xx,xxi	Poster mother	Hemostatics, uterine	xx,xxii
Fibula	xxv,xxvi	Fracture dislocation	Hemospermia	xx
Fibroids uteri cause of		Framework of the body	Hemoptysis	xxv,xxvi
menorrhoea	-x	Freaks of nature	Hemothorax	xxv
" " cause of vaginal		Frenum linguae	Hemorrhage, indication for	
colouration	xv	Fright, cause of menorrhoea	amputation	xxv
Fibrosis uteri	xx	Fright, effect on foetus	" from Scalp	xxv
Flat bones	xxv,xxvi	" effect on breast milk	" Volar and planter	
" foot	xxv	Fragilitas ossium	" arch	xxv
Flowers (Senses)	xx	Frontal bone	" eterine	xxv
Foetus, definition of	xxv	" Suture	" symptoms of	xxv
" Compressus	xx	" Sinus	" varieties of	xxv
" papryaceous	xx	Fundas uteri	" post-partum	xxv
" attitude of	xxv	G	Heart	xx,xxii
" bisexual phase of	xx	Gall bladder	" condition during rest	
" development of	xx,xxv	Galactogogues	and work	xxv
" place of blood		Gastritis	" Anatomy of	xxv,xxvi,xxvii
formation in	xvi	Gastric region	" failure	xxv
" presentation of	xx,xxv		" surface marking	xxv
" position of	xx,xxv			

Heart failure adrenalin in	114	Impotence, Causes of	40	Joints, movements of	145
" " Causes of	176	Inbreeding, defects of	27	" structure of	145
Heart disease, Venesection in	210	Incomplete abortion	292	" Tibiofibular	250
Heart burn	120	Indifferent stage of embryo	24	" talo-crural	150
Heat stroke	129	" nature	137	" table of	145
Hegar's Sign of Conception	52	Inevitable abortion	292	" varieties of	144, 146
Hemiplegia	152	Infection	177	" wrist	151
Hermaphroditism	85, 70	Inferior nasal conchae	150	Jolting contraindicated in	
Hermaphrodites	70	Inflammation	127, 202	pregnancy	53
" true and pseudo	70	Infantilism in impotence	45	Jugular vein	157
Hernia, umbilical causes of	275	Infant feeding	269	K	
Heredity	44, 45, 64	Infantile colic	279	Kidney	112, 227
" in character	232, 234	" diarrhoea	279	" pelvis of	112
" colour	39	" convulsions	279	Kleitman on sleep	123
" Sexual perversion	49	Infantile paralysis	260	Kneejoint	150, 192
" in marriage	37	" uterus	229	Knowledge, importance of 'prac-	
Hereditary diseases	44, 27, 60	Inguinal Canal	94, 151, 192	tical and theoretical	167
Hinge joint	146	Insanity	30	Kuffer'cells	109
Hip bone	149	" puerperal	260	L	
Hip joint	147	Insomnia	119	Labour stages of	235
Homo sexuality	45	" Causes of	127	Labour duration of the stages	
Homo sexual	45	" treatment of	127, 128	of	235
" female	51	Intermetacarpal space	151	" position in	241
Hormones	61, 71, 219	Intermetatarsal	150	" , during 1st stage	242
" Sexual	40	Inter phalangeal joints	147	" , during 2nd stage	244
" diagnosis based on	97	Inter osseus ligaments	144	" , , 3rd stage	242
Humerous	145, 140	Intervertebral fibrocarti-		" preparations for 234-236	
Hunting, cause of menorrhoea	26	lages	149	" premonitory stage of 237	
Hydrocephalus	266	Intestines	104, 105, 109, 112	" first stage	235
Hydraemia	51	" number	140	" , , management of	242
Hydrastis	25	" length of	144	" 2nd stage	243
Hygiene of pregnancy		" function of large	109, 112	" , , management of	244
	52-54, 221, 223	Inverts male and female	45	" 3rd stage	240
" Conception	61	Inversion sexual	45	" , , management of	242
" puerperum	252, 257	Involution of the uterus	26, 258	" purgative in	242
Hymen imperforate	25	Involuntary actions	196	" pituitrin in	239
Hypo-pituitrism	50	" muscles	162	" methods of finding	
Hypothalamus	128	Iris, structure of	80, 162	date of	73, 50, 51
I		Irritability, sign of life	99	" precipitate	238
Ides of menstrual cycle	60	Ischium	145	" bearing down efforts	
Ilio costals	145	Ischial tuberosity	156	" during	242
Ileum	145	Jaundice, obstructive	202	" rupture of membranes	
" ala of	156, 192	" Toxic	203, 210	in	239
Iliac spines	156	" in infants	259	" pains	235, 239
Imperforate anus	95	" familial	279	" , , false	239
" Hymen	29	Joints, ankle	147, 150, 192	" difference between?	
Impotent	84, 46, 61	" allanto-occipital	152	two	239
" conditional	47	" elbow	151, 192	" crowning of the head	
" Varieties of	88, 84	" knee	150, 192	in	243

INDEX

Ladour contraction of the accessory muscles in	282	Ligament Talo calcaneal	131, 132	Massage, during 1st Stage of labour	28
" exhausted uterus during, cause and treatment	284	„ ulnar	252	„ „ 2nd Stage of labour	28
" lightening	220	Ligamentum venosum	282	„ „ lapour	28
" lying in room	124, 222	Lightening in labour	220	„ „ puerperum	28
" mechanism in vertex		Linea nigra	26	Mastoid bone	24
presentation	229, 280	„ gravidarum	21	Mate, importance of healthy	31
" safety-valve action	284	„ albicans	21	Maternity homes	22
" show	225	Liver, anatomy	282	Maxilla	240, 241
" pelvic floor in	142	„ functions of	102, 121	Meconium, meaning of	41
Labyrinth disease cause of vertigo	210	„ Symptoms of rupture of	220	Medulla oblongata	199, 200
Lacerations of perineum	219	„ use in anaemia	26, 271	Melanin, pigment of skin	29
" Cervix uteri	221	Lochia	242, 247	„ place in skin layers	101
Lacertus fibrosus	208	„ duration of	147	Melancholia, cause of amenorrhoea	26
Lacrimal bone	240	Longissimus muscle	126	Membrane	103, 104
Lactiferous ducts	162, 242	Lotion for vaginal wash	22	„ Chorion	202, 206, 207
Langour	220	„ in labour	225, 232	„ mucous	103, 105
Larynx	156	Longings of pregnancy	69, 127	„ „ of intestines	105, 109
Laryngitis	201, 210	Lungs	111, 226	„ „ vesiculae seminales	
Lateral position in labour	221, 222	„ Apex of	111	„ balls	105
Law of causation	55	Lunate bone	174	„ synovial	105, 106
" dominance	65	Lymph	224	„ serous	105, 106
" polarity of uterus	222	Lymphatics	226, 230	„ foetal	26, 44, 120
Lethargy	226	Lymphatic vessels	193, 210	„ „ bag of	28
Leprosy, earliest skin lesions	100	Lysol in labour	225, 228	„ „ rupture in	
Life, signs of	95, 112	M		labour	229
" tripod of	146	Mac Kintosh, use in labour	221	meningocele	42
Ligament	22, 242, 243	Madness	20	Meno pause, time of	75, 228
Ligament structure of	243	Malar bone	145	„ changes at the time of	75
" broad	122, 125	Male inverta	25	Menorrhagia, Definition	26
„ calcaneofibular	120	Mal presentation of the foot	22, 224	„ etiology	26, 27
„ carpometacarpal	121, 122	Malpighian layer	201, 202	„ Symptoms	26
„ collateral	121	Mammas, anatomy	123	„ treatment	26
„ coraco humeral	124	„ development in puberty	122	Menses	19, 20, 25, 226, 229
„ deltoid	120	„ changes during pregnancy	26	„ age of onset	76, 77
„ glenohumerol	122	„ areola of	22, 224	„ characters of blood	25, 26
„ inter carpal	122, 123	„ rudimentary	123	„ period of flow	25
„ intertarsal	123	Mammary region	122	„ clinical features of	25
„ interosseous	124	Mammals, infant feeding in	252	„ uterine changes	
" lateral	122	Mandible bone	240, 242	during	22, 24, 249
„ long planter	120, 122	Manubrium Sterni	229	„ Synonyms of	26
„ Radio carpal	122	Marasmus	272	„ cyclical theory of	242
„ Radial	122	Marrow, bone, place, of	242	„ concealed	25
„ round	121	„ Composition of	102	„ absence during pregnancy	65, 66
Suspensory, mamma	264	Marrow, Red and yellow	102		
		Massage, effect of	226, 229		

INDEX

Menses Continuation	25,27	Morning sickness	16	Nature, ex character	259
" sexual ardour after	16	" duration of pregnancy	17	Naevi (ex umbilicus also)	224
" prostate, ex		Molars	22	Nasicular bone	252
" menorrhagia		Mother's impressions, ex		Neon coprinia	22
" cessation of, ex		mental impressions		Neuro philia	22
" monoprenia		" milk, importance of	252	Neck vessels	222
" painful, ex dys		" " tests for	252	Netro Acrotis	212
" menorrhagia		" " and cow's milk	252	deep peritoneal	252
" absence ex		Multi para, value of quick-		Gluteal	222
" amenorrhoea		ing in	25	Glossopharyngeal 222,223	
" In menses	25	" increase of weight of		Hypoglossal 222,223	
Menstruation, see menses		foetus in	25	Internal pudendal 252	
Menstrual blood, see menses		" relation between		Inferior laryngeal 222	
" life	25	uterine spica and		Laryngeal 222	
" cyclo	22,22,223	foetus in	162	Lacrimal 222	
" Toxin	22	" condition of cat os		Lingual 222	
Meningitis	125,210	before labour	222	Lateral plantar 250	
Mental Condition in		Muscle	125,150,151	median 222	
pregnancy	22,22,222	" forms of	222	Medial plantar 250	
condition in puerperium	225,222	" number of	150,152	olfactory 222,223	
condition effect on milk	22:	" properties of	222	optic 222	
" " foetus	22,22,223	" varieties of	151,152	sciatic 222	
" " necessity for Sleep	220	Biceps	252	suprascapular 222	
Mercury chloride, contra in		Gastricemius	250	saphenous 222	
dication for use in labour	222	Plantaris	250	Tibial 250	
Metochism	22	Quadriceps femoris	250	vestibular 220	
Metodorm	222	soleus	250	Vagus 220	
Metabolism	22	Temporal	125,122	Nervous system autonomous 222	
Meta carpal bones	125,120	Musculo Trapezius	150,152	diseases, pathogenesis	
Meta tarsal bone	125,120	" calf	150,152	of soma 212,212	
Metopic Suture	122	" clillary	152	Neotor stage of foetus 20	
Metrorrhagia,	22	" corpora spongiosa	24	Neuralgia 222	
" causes of	22,22	" cavernosa	24	Nouritis 222	
Midwife, qualifications of	221	Diaphragm 121,122,		Nipple 222	
Milk fever	242	" Longissimus	124	Nymphomania 22	
Missed abortion	222	" pectoralis major 124,123		Nyria 22	
Mixo scropia	22	" skeletal	122	O	
Monstros	22,22	" sphinctor	140,142	Occipital bone 240,242	
" cardiac	22,22	" spinalis	124	Oestrus 20	
" varieties of single	22	Musculospinal paralysis	220	Oestrin 22,22,222	
" double	22	Musculus uvulae	120	Oesophagus 224,222	
" etiology	22	Myoma uteri cause, of mon-		Ointment, absorption through	
Monstro city	22	oorrhoea	22	skin 222	
Montgomery' follicles in		N		Olecranon 222	
pregnancy	22	Nasal bones	240,242	Olfactory region 222	
" "		" arch	125,122	Oligomenorrhoea 22	
" "		Nature, dominance of	20,22,22	Oligo spermia 22	
" "		" froaks of	22	Oligozoospermia 22	
" "				Omentum 202,202,222	

Omphalostite	42	Papillae of the skin	101	Pituitary, in connection with	
Omphalitis	252	Papillary layer of the skin	101	lactation	246, 251
Ophoritis	249	Parasthesia sexualis	82	Pivot joint	140
Operculum	222	Parodoxia	14	Placenta, formation and	
Ophthalmia neonatorum	218	Parietal bone	140, 141	structure of	13, 48, 120
Orgasm	51, 52	Pasteurisation of milk	204	," secretion of	69, 78
," effect on ovulation	51, 52	Patela	125, 140, 141	," in twins	72, 73
," uterus	45	Pavlov on Sleep	122	," functions of	47
," complications of	45	Pectoralis major	154, 155	," place of attachment	
Os innominatum	125, 141	Pelvis	141	in uterus	142
," calcis	240	," contracted	220	," retention of part cause	
Ossification of bones	142, 242	P. vio cellulitis in rupture	122	of menorrhagia	23
Osteomalacia	41, 232, 252	of bladder	122	," delivery of	250
Os uteri	125, 141	Pelvic cellulitis in puerperal	241	," methods of removal	
," pinhole	122	infection	241	251-252	
," dilatation of, during	222, 223	Penis	141	," symptoms of in lower	
labour	222, 223	," erection of, physiology	141-142	uterine segment	252
Otto Schoners' theory of	sex determination	Perineum, strain in squatting	141	Placenta, examination of	
Ovary	25, 24, 25, 26, 27, 24, 25, 25	on	141	after removal	252
Ovulation	141	," lacerations of, in	221	Plantaris muscle	140
," time	141, 142	labour	221	Planter arch, wounds of	149
Ovum	14, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 25	," in labour	221	," treatment	140
," fertilization of	40, 41, 141	Peritoneum	107, 142	Plexus, brachial	142, 143
," Segmentation of	141	Peritonitis	142, 244	," hypogastric	220
," Bryce Teachers	141	Pericardium, function of	112	," inferior mesenteric	220
Ovarian tumour, mammary	changes in	Pernicious anaemia, coma in	141	," renal	220
," cyst, linea gravidae	141	,"	141	," Sacral	142
in	141	,"	141	," Spermatic	222
," Pregnancy	42	," use of liver in	141	Plethora, indication for	
Oxygen	112	Permeability of vessels	141	venesection	202
Oxygenated blood	112	Phalanges	125, 140, 142	Pleurisy dry	203
Oxytocics	222	Philosophy Indian,	141	," with effusion, result	
P		Speciality of	141	of chest injury	148
Pad Vaginal, use in vaginal		Phlebotomy	210	Pneumonia	203
diseases	22	Photo phobia in infants	222	," result of chest injury	148
," use in pregnancy	22	Physiology	1, 210	,"	148
Paldophilia	141	Pica	14, 24	Indication for	
Paints	221	Pigment of the skin	21	venesection	
Pallor	20	," of the iris	20	141	
Palpitations in pregnancy	141	Pigmentation in pregnancy	20	Pneumothorax, result of	
Palatine bone	140, 141	,"	20	chest injury	148, 149
Palmer arch	141	Pinna of the ear	141	," Indication for	
," difficult haemorrhage	140	Itoltrin in labour	221	venesection	
," treatment of haemorr-		," in asphyxia neonatorum	221	Polarity, law of	
haage	140		221	141	
," spongirosis	141, 142	Pituitary, in sexual disorders	21	Polypus uterine cause of	
Pancreas	141, 142		21	menorrhagia	20

Semen absorption from vagina	42	Sleeplessness, causes of	120	Stomach, relations between heart and	120, 125, 126
" feminine	4?	" treatment	120, 125	Stratum compactum	4?
Septum	120	Snake poisoning, venesection		" spongiosum	4?
Septicaemia	120	in	20, 210	" Granulosum	120, 121
" puerperal	240	Sockets of teeth	120	" Incisum	120, 121
Sex chromosomes	58	Sodium	120	Stria gravidum	51
" glands and hormones	120, 120	Soleus	120	Striped muscles	122
" determination, theories	58, 57	Spacing between two children	120	Stupor	122
" change of, theories	58, 59	Spermatic cord	121, 122	Stypticin	122
Sex probable symptoms to determine	96	Spermatoza	120, 121	Subinvolution of uterus after abortion	12
Sexcells, meeting place of	42	" characters of	121	Subcutaneous tissue	100, 102, 103
Sexual aberrations	120, 120	" place of origin	122	" , fat de posit in	102
" perversions	120	" effect of vaginal secretion on	121	Succus entericus	120
" perverts	120	Sphenoid bone,	120, 120	Sudden death, causes	120
" inversions	120, 120	Sphincter muscles	120, 122	Supra renal gland	120
" frigidity	120	" vaginæ	122	Suppuration	120
" impulse, effects of	120	Spine	120, 121	Surgeon, importance of dissection to	120
" " more after menses	120	" of the scapula	122	Surgical shock	120
" " waning, sign of pregnancy	120	Spinalis muscle	120	Sutures, cranial	120, 120
" Excitement, effects of	120	Spleen	120	Sutura serrata	120
" gratification for fecundation	120	" functions of	120	" harmonia	120
" excess, cause of meno	120	" reservoir of blood	100, 120	" squamosa	120
Rrhagia	20	Splanchnic area	120	synovial membrane	104, 105, 120
" relations in pregnancy	120	Spongylotissue of bone	120	" fluid	104, 105, 120
Sheaths	120	Sprau	120, 120	Synovitis	120
Shock, causes	120	Spray	120	Syncope, causes of	120, 120
" varieties and symptoms		Squatting, contraindicated		" , symptoms of	120
Tons	120, 120	in pregnancy	120	Systole of heart	120
Shoulder joint	120, 120	Squamosal suture	120	Syphilis congenital, cause of jaundice in the new born	120
Show in labour	120	Stages of labour	120	T	
Siegel on sex determination	120	Status lymphaticus	120	Table of Sankhya Darshan	120
Signs of life	120, 120	Stejskel on function of skin	120	" sankhyayurveda difference	120
" death	120, 120	Sternum	120	" Panchikaran	120
Sinusoids	120	Sternal notch	120	" amenorrhœa	120
Sinus, frontal	120	Sterile	120, 120	" obstetrics	120, 120
" cavernous	120, 120	Sterility	120	" of signs of pregnancy	120
" intercavernous	120, 120	" ducto injury to Sperms		" of cutaneous layers	120
" confluence of	120	tie cord	120	" of Kalas	120, 120
Sixlets	120	" in women	120	" of pulse rate according to age	120
Skeleton	120	" one child	120	" of the number of bones	120, 120
Skeletal muscles	120	" absolute	120	" of joints	120
Skin diseases of	120	Still born	120, 120		
" layers of	120, 120	Still birth	120		
Skull	120	Stirrige	120		
Sleep, theories of	120, 120	Stomach, region of	120		
Sleeplessness	120	" flatulence in	120		
		" dilatation of	120, 120		

Table of number of muscles	150	Teratism	42	Twins, multifilar	22
„ monthly foetal development	151	Teratodolphians	42	„ diagnosis of	22,23
„ of abnormal foetal attitudes	152	Teratodomes	42	Tympanum	156
„ showing relative frequency of Vertex and pelvic presentation at different months	153	Terato encephalions	42	U	
„ of Marmas	153	Terato pagians	42	Ulna	142
„ Veins contraindicated for venesection	210	Testes, Testicles	122	Ulnar artery	151
veins above clavicles	205	„ descent in the inguinal canal	20	Umbilicus	123,152,153,154
arteries	220	Test tube babies	22	Umbilical artery	121,154
scrotas	222	Tellinus	160,170	„ vein	121,154
dentition	223	„ in puerperium	220	„ belt	203
hes mecentaria	223	Thirst	224	„ region	229
cello corporles	224	„ theory of	225	„ hernia	97,205
clue	225	Thoracic vertebra	222	Umbilical cord, structure of	92
impooing, use in pregnancy	226	„ Duct	220,221	„ coiling of	92
nasal bones	226 228,229	Throbbing, Vaginal	42	„ management of	226
arsus	240	Thrush	262	„ removal of pla-	
teeth, structure and composition of	240	Threatened abortion	292	cata by trac-	
„ milk and permanent	250	Thymus	22	tion on	263
„ physiology of the development	250	Thyroid	22	Urea	48
Compliment	121-122	Tibia	172,174	Uremin	123,201,210
„ Lymphatic	122	Torensis Herophilia	152,192	Urinary bladder	142,192
„ nervous	122	Tourniquet	220	„ rupture of	152,153
„ Sanguine	122	Toxaemia, puerperal	243	Uretors	112,220,224,225
„ unchanging character of	122	Traction of the cord	252	Urobra	106
„ Various types of	126-127	Transmigration of soul	42	„ prostatic portion of	106
„ importance of		Trapezius	156,192	Uterus	142,158
in treatment	125	Trachno	140	„ double	110
„ effect on heart's action	126	„ structure of	142	„ infantijo	229
Temperature, effect on heart	116	Transverse colon	172	„ cochlearo	229
Temporal bone	140,141,152	Trauma on the host, diseases		„ exhausted	246
„ fascia	192	resulting from	142	„ in virgin	162
„ Suture	182	Traumatic shock	172	„ in pregnancy	164,229
„ muscle	192	Tripod of life	176	„ in orgasm	46
Temples	155,192	Triplet see also 'twins'	42,22	„ in menses	54,56,109
Tendons	96,144,249,270	Trophoblast	12,14,15,239	„ fundus of	60,92,162
„ of Biceps	192	Trochanter greater	156	„ sinking of, before	
„ Quadriceps	192	Tubulos somi infiri	112	„ delivery	237
Tenderness	274	„ lactofori	222,230	„ involution of	26,262,264
Tents	292	Tubercles of vertebrae	172	„ Sub involution of	26
		Tuberculosis, pulmonary	158	„ fibrosis of	27
		Tumescence	42	„ retraction of	261
		Tumour, ovarian	52	„ Prolapse of	244
		Twins	42	„ arteries of	76,92
		„ causation	42	„ blood vesools of	226
		„ Varieties	42	„ displacements of	26,164,229
		„ in equal developement of	42	Uterine arterios	76,92
		„ percentage	42	„ tubes	162,164
		„ uniovular	42,22	„ inertia	228,244
				„ haemorrhage	260,292

INDEX

Uterine or, dilatation of before delivery	225, 229, 230	Venection, indications and contra indications for 201	Vessels, superficial temporal 144, 216
" fibroids	250	" process of 203, 210, 212	" spermatic 200
V Vaginal canal	262, 268	" time for 202	" supraorbital 200
" pulsation	262, 268	" common veins for 205, 210	" zygomatic tempo-
" throbbing	262	" quantity of blood in 208	ral 225, 226
" secretion	262	" accidents in 211	
Vaginismus	229	" importance of, in sur-	Visibility of foetus 22
Vaginitis	229	gery 212	Villi placental 22
Valves of heart	124	Ventricle of the heart 224	" of membranes 220
Valvular disease	67	Ventilation in labour room 226	Vision divine 222
Varicose veins	221	Vernix caseosa 25, 240	" scientific 222
" " in pregnancy	251	Vertebra 240	Vital functions 224
Vasomotor nerves	205	Vertebral column 240	Vital parts 202
" paroxysm	210	Vertigo 240	" " table of 222, 223
" instability	205	Vertex presentation 25, 150	Vitamins 228, 229
" centre	205	" " genesis of 246	" D 243, 265
Vasa deferens	205	Vesicula seminalis 205	Voluntary muscles 222
Vein 103, 112, 193, 200, 201		Vessels, lymphatic 222	" actions 222
" Angular	22	" blood, Axillary 200	Volar arch, wounds of 249
" Axillary	222	" Angular 200	Vomer 240, 242
" Radial	222, 223	" Anterior tibial 200	Voyeurism 22
" cephalic	222, 223	" Brachial 200	W W
" Facial	222	" common iliac 222	Walking inability in infants,
" Femoral	222, 223, 200	" deep lingual 200	causes of 222
Vein Frontal 240, 229, 200, 210		" Gluteal 200	Weaning, time of 223, 224
" Gluteal	222	" Femoral 222	Wetnurse,
" Internal maxillary 222		" Internal mammary 222	" qualifications for 222
" Jugular 220, 229, 200, 220		" Inferior epigastric 222, 200	" indications for keeping 222
" median cubital 208, 225		" Internal maxillary 200	Whartonian gelly 22
" occipital 222, 223		" Lateral thoraco 222	Wheezing 226
" posterior auricular 220, 222		" of the neck 222, 200	Woman 226
" saphenous 220, 200, 202		" occipital 200	Wolfian b.
" supra orbital 222, 220		" posterior auricular 222, 200	Wrist joint
" superficial temporal 222		" subcapular 222, 222	Xiphoid process Z
" " dorsal of penis 202			Zones erogenous
" Varicose in pregnancy	251		Zona peluroida
			Zygomatic bone



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!

